ॐ

परमात्मने नमः

श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन साहित्य स्मृति संचय, पुष्प नं.

समयसार सिद्धि

भाग-११

परम पूज्य श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा रचित
परमागम श्री समयसार पर
परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के
उन्नीसवीं बार के धारावाहिक शब्दशः प्रवचन
(गाथा ३९० से ४१५ तथा कलश २३२ से २६३ एवं
परिशिष्ट तथा शक्ति क्रमांक १ से ११ तक)
प्रवचन क्रमांक ४४१ से ४८७

: हिन्दी अनुवाद :

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820

: सह-प्रकाशक :

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250
फोन : 02846-244334

प्रथम संस्करण : 1000 प्रतियाँ

ISBN No. :

न्यौछावर राशि : 20 रुपये मात्र

प्राप्ति स्थान :

1. **श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,**
   सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250, फोन : 02846-244334
2. **श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
   302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट),
   मुम्बई-400056, फोन (022) 26130820 Email - vitragva@vsnl.com
3. **श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट (मंगलायतन)**
   अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 (उ.प्र.)
4. **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,**
   ए-4, बापूनगर, जयपुर, राजस्थान-302015, फोन : (0141) 2707458
5. **पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट,**
   कहान नगर, लाम रोड, देवलाली-422401, फोन : (0253) 2491044
6. **श्री परमागम प्रकाशन समिति**
   श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट, सिद्धक्षेत्र, सोनागिरजी, दतिया (म.प्र.)
7. **श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान आध्यात्मिक ट्रस्ट**
   योगी निकेतन प्लाट, 'स्वरुचि' सवाणी होलनी शेरीमां, निर्मला कोन्वेन्ट रोड
   राजकोट-360007 फोन : (0281) 2477728, मो. 09374100508

टाईप-सेटिंग : **विवेक कम्प्यूटर्स,** अलीगढ़

मुद्रक :

प्रकाशकीय

मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

महाविदेहक्षेत्र में विराजमान त्रिलोकनाथ वीतराग-सर्वज्ञ परम देवादिदेव श्री सीमन्धर भगवान की दिव्यदेशना का अपूर्व संचय करके भरतक्षेत्र में लानेवाले, सीमन्धर लघुनन्दन, ज्ञान साम्राज्य के सम्राट, भरतक्षेत्र के कलिकालसर्वज्ञ, शुद्धात्मा में निरन्तर केलि करनेवाले, चलते-फिरते सिद्ध - ऐसे आचार्यश्री कुन्दकुन्ददेव हुए, जो संवत् 49 में सदेह महाविदेहक्षेत्र में गये और आठ दिन वहाँ रहे थे। महाविदेहक्षेत्र में त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव के श्रीमुख से प्रवाहित श्रुतामृतरूपी ज्ञानसरिता का तथा श्रुतकेवलियों के साथ हुई आध्यात्मिक सूक्ष्म चर्चाओं का अमूल्य भण्डार लेकर भरतक्षेत्र में पधारकर पंच परमागम आदि आध्यात्मिक शास्त्रों की रचना की। उनमें से एक श्री समयसारजी, द्वितीय श्रुतस्कन्ध का सर्वोत्कृष्ट अध्यात्म शास्त्र है। जिसमें श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने 415 मार्मिक गाथाओं की रचना की है। यह शास्त्र सूक्ष्म दृष्टिप्रधान ग्रन्थाधिराज है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य के पश्चात् एक हजार वर्ष बाद अध्यात्म के प्रवाह की परिपाटी में इस अध्यात्म के अमूल्य खजाने के गहन रहस्य को स्वानुभवगत करके श्री कुन्दकुन्ददेव के ज्ञानहृदय को खोलनेवाले श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेव ने सिद्धपद-साधक मुनिसम्पदा को आत्मसात करके, निजस्वरूप के अलौकिक अनुभव से, सिद्धान्त शिरोमणि शास्त्र समयसार की 415 गाथाओं की टीका करने का सौभाग्य प्राप्त किया है। उन्होंने श्रीसमयसारजी में निहित सूक्ष्म और गम्भीर रहस्य को, अपूर्व शैली से आत्मख्याति नामक टीका बनाकर, स्पष्ट किया है; साथ ही 278 मंगल कलश तथा परिशिष्ट की रचना भी की है।

इस शास्त्र का भावार्थ जयपुर निवासी सूक्ष्म ज्ञानोपयोगी पण्डित श्री जयचन्दजी छाबड़ा ने किया है।

वर्तमान इस काल में मोक्षमार्ग प्राय: लुप्त हो गया था, सर्वत्र मिथ्यात्व का घोर अन्धकार छाया हुआ था, जैनदर्शन के मूलभूत सिद्धान्त का अभ्यास छूट गया था, परमागम विद्यमान होने पर भी उनके गूढ़ रहस्यों को समझानेवाला कोई नहीं था - ऐसे विषम काल में जैनशासन के गगन

मण्डल में एक महाप्रतापी वीर पुरुष, अध्यात्ममूर्ति, अध्यात्मदृष्टा, आत्मज्ञ सन्त, अध्यात्म युगपुरुष, निष्कारण करुणाशील, भवोदधि तारणहार, भावी तीर्थाधिनाथ परमपूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजीस्वामी का उदय हुआ। जिन्होंने इन आचार्यों के ज्ञानहृदय में संचित गूढ़ रहस्यों को अपने ज्ञान–वैभव द्वारा रसपान करके आचार्यों की महा सूक्ष्म गाथाओं में विद्यमान अर्थ गाम्भीर्य को स्वयं के ज्ञान प्रवाह द्वारा सरल सुगम भाषा में चरम सीमा तक मूर्तिवन्त किया।

मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान के घोर तिमिर को नष्ट करने के लिए एक तेजस्वी अध्यात्म दीपक का स्वर्णमय उदय हुआ, जिसने अपनी दिव्यामृत चैतन्य रसीली वाणी द्वारा अध्यात्म सिन्धु के अस्खलित सातिशय शुद्ध प्रवाह को आगे बढ़ाया। आपश्री जैनदर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों को अति स्पष्टरूप से, अति दृढ़तापूर्वक भवताप विनाशक और परम शान्ति प्रदायक प्रवचन गंगा द्वारा फैलाते रहे; विरोधियों के विरोध का भी, जंगल में विचरते केशरी सिंह की तरह, अध्यात्म के केशरी सिंह बनकर निडररूप से, तथापि निष्कारण करुणावन्त भाव से झेलते रहे। विरोधियों को भी 'भगवान आत्मा' है – ऐसी दृष्टि से देखकर जगत् के जीवों के समक्ष अध्यात्म के सूक्ष्म न्यायों को प्रकाशित करते रहे।

श्री समयसारजी शास्त्र, पूज्य गुरुदेवश्री के कर–कमल में विक्रम संवत् 1978 के फाल्गुन माह में आया था। इस समयसारजी शास्त्र के हाथ में आते ही कुशल झवेरी की पारखी नजर समयसार के सूक्ष्म भावों पर पड़ी और सहज ही अन्तर की गहराई में से भावनाशील कोमल हृदय बोल उठा – 'अरे! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।' अनादि का अप्रतिबुद्ध जीव प्रतिबुद्ध कैसे हो? – उसका सम्पूर्ण रहस्य और शुद्धात्मा का सम्पूर्ण वैभव इस परमागम में भरा है।

इस शास्त्र का रहस्य वास्तव में तो अध्यात्म युगपुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के हाथ में यह शास्त्र आने के पश्चात् ही चरम सीमा से प्रकाशित और प्रदर्शित हुआ है। पैंतालीस वर्ष तक स्वर्णपुरी / सोनगढ़ में अध्यात्म की मूसलधार वर्षा हुई है जो सर्व विदित है। पूज्य गुरुदेवश्री ने विक्रम संवत् 1978 से 1991 – इस तरह तेरह वर्षों तक गूढ़ मन्थन करके जिनवाणी का सम्पूर्ण निचोड़ इस शास्त्र में से ढूँढ़ निकाला और फरमाया है कि —

- समयसार तो द्वितीय श्रुतस्कन्ध का सर्वोत्कृष्ट / सर्वोच्च आगमों का भी आगम है।
- समयसार तो सिद्धान्त शिरोमणि, अद्वितीय अजोड़ चक्षु और अन्धे की आँख है।
- समयसार तो संसार विष–वृक्ष को छेदने का अमोघ शस्त्र है।
- समयसार तो कुन्दकुन्दाचार्य से कोई ऐसा शास्त्र बन गया; जगत् का भाग्य कि ऐसी चीज भरतक्षेत्र में रह गयी। धन्य काल!

- समयसार की प्रत्येक गाथा और आत्मख्याति टीका ने आत्मा को अन्दर से डुला दिया है। समयसार की आत्मख्याति जैसी टीका दिगम्बर में भी दूसरी किसी शास्त्र में नहीं है। इसके एक-एक पद में इतनी गम्भीरता (कि) खोलते-खोलते पार न आये - ऐसी बात अन्दर है।
- समयसार तो सत्य का उद्‌घाटक है! भारत का महारत्न है!! समयसार.... जिसके थोड़े शब्दों में भावों की अद्‌भुत और अगाध गम्भीरता भरी है!
- समयसार तो भरतक्षेत्र का प्रवचन का सर्वोत्कृष्ट बादशाह है, यह सार शास्त्र कहलाता है।
- समयसार तो जगत् का भाग्य.... समयसाररूपी भेंट जगत् को दिया, स्वीकार नाथ! अब स्वीकार! भेंट भी दे वह भी नहीं स्वीकारे?
- समयसार तो वैराग्य प्रेरक परमात्मस्वरूप को बतलानेवाली वीतरागी वीणा है।
- समयसार में तो अमृतचन्द्राचार्य ने अकेला अमृत बहाया है, अमृत बरसाया है।
- समयसार एक बार सुनकर ऐसा नहीं मान लेना कि हमने सुना है, ऐसा नहीं बापू! यह तो प्र... वचनसार है अर्थात् आत्मसार है, बारम्बार सुनना।
- समयसार भरतक्षेत्र की अन्तिम में अन्तिम और उत्कृष्टतम सत् को प्रसिद्ध करनेवाली चीज है। भरतक्षेत्र में साक्षात् केवलज्ञान सूर्य है। समयसार ने केवली का विरह भुलाया है।
- समयसार की मूलभूत एक-एक गाथा में गजब गम्भीरता! पार न पड़े ऐसी चीज है। एक-एक गाथा में हीरा-मोती जड़े हैं।
- समयसार में तो सिद्ध की भनकार सुनायी देती है। यह तो शाश्वत् अस्तित्व की दृष्टि करानेवाला परम हितार्थ शास्त्र है। समयसार तो साक्षात् परमात्मा की दिव्यध्वनि / तीन लोक के नाथ की यह दिव्यध्वनि है।

ऐसे अपूर्व समयसार में से पूज्य गुरुदेवश्री ने अपने निज समयसाररूपी शुद्धात्मा का अनुभव करके फरमाया कि आत्मा आनन्द का पर्वत है; ज्ञायक तो मीठा समुद्र / आनन्द का गंज और सुख का समुद्र है। न्यायों का न्यायाधीश है, धर्म का धोध ऐसा धर्मी है, ध्रुव प्रवाह है, ज्ञान की धारा है, तीन लोक का नाथ चैतन्यवृक्ष-अमृत फल है, वास्तविक वस्तु है। सदा विकल्प से विराम ही ऐसी निर्विकल्प जिसकी महिमा है - ऐसा ध्रुवधाम ध्रुव की धखती धगश है। भगवान आत्मा चिन्तामणि रत्न, कल्पवृक्ष और कामधेनु है, चैतन्य चमत्कारी वस्तु है, अनन्त गुणों का गोदाम, शक्तियों का संग्रहालय और स्वभाव का सागर है।

सनातन दिगम्बर मुनियों ने परमात्मा की वाणी का प्रवाह जीवन्त रखा है। जैनधर्म सम्प्रदाय–बाड़ा–गच्छ नहीं; अपितु वस्तु के स्वरूप को जैनधर्म कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री ने शास्त्र का अर्थ करने की जो पाँच प्रकार की पद्धति — शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ, और भावार्थ है, उसे अपनाकर कहाँ, किस अपेक्षा से कथन किया जाता है – उसका यथार्थ ज्ञान अपने को–मुमुक्षु समुदाय को कराया है। इस प्रवचन गंगा से बहुत से आत्मार्थी अपने निजस्वरूप को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करते हैं, बहुत से स्वरूप के निकट आये हैं और इस वाणी के भाव ग्रहण करके बहुत से आत्मार्थी अवश्य आत्मदर्शन को प्राप्त होंगे ही – यह सुनिश्चित है।

पूज्य गुरुदेवश्री समयसार में फरमाते हैं कि समयसार दो जगह है – एक अपना शुद्धात्मा है वह समयसार है और दूसरा उत्कृष्ट निमित्तरूप समयसारजी शास्त्र है। इस शास्त्र में अपना निज समयसाररूपी शुद्धात्मा बतलाया गया है। प्रत्येक गाथा का अर्थ करते हुए पूज्य गुरुदेवश्री ऐसे भावविभोर हो जाते हैं कि उसमें से निकलना उन्हें सुहाता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री फरमाते हैं कि पंचम काल के अन्त तक जो कोई जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करेगा, उसे यह वीतराग की वाणी निमित्त होगी, यह सीधी सीमन्धर भगवान की वाणी है, इसमें एक अक्षर फिरे तो सब फिर जायेगा।

पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन, अपने वचनामृत में पूज्य गुरुदेवश्री के सम्बन्ध में फरमाती हैं कि पूज्य गुरुदेवश्री का द्रव्य तो अलौकिक और मंगल है; उनका श्रुतज्ञान और वाणी आश्चर्यकारक है। आपश्री मंगलमूर्ति, भवोदधि तारणहार और महिमावन्त गुणों से भरपूर हैं। उन्होंने चारों ओर से मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उनका अपार उपकार है, वह कैसे भूला जाये? पूज्य गुरुदेवश्री को तीर्थंकर जैसा उदय वर्तता है। पूज्य गुरुदेवश्री ने अन्तर से मार्ग प्राप्त किया, दूसरों को मार्ग बतलाया; इसलिए उनकी महिमा आज तो गायी जाती है परन्तु हजारों वर्षों तक गायी जाएगी।

पूज्य निहालचन्दजी सोगानी, जिनको पूज्य गुरुदेवश्री का एक ही प्रवचन सुनते हुए भव के अभावरूप सम्यग्दर्शन की प्राप्ति सोनगढ़ / स्वर्णपुरी में हुई – वे फरमाते हैं कि पूज्य गुरुदेव के एक घण्टे के प्रवचन में पूरी–पूरी बात आ जाती है। सभी बात का स्पष्टीकरण पूज्य गुरुदेवश्री ने तैयार करके दिया है; इस कारण कोई बात का विचार नहीं करना पड़ता, वरना तो साधक हो तो भी सब तैयारी करनी पड़ती है।

पूज्य गुरुदेवश्री ने सभा में समयसार उन्नीस बार पढ़ा और एकान्त में तो सैंकड़ों बार पढ़ा है, तो उन्हें इसमें कितना माल दिखता होगा! कभी डेढ़ वर्ष, कभी दो वर्ष, कभी ढाई वर्ष; इस

प्रकार उन्नीस बार पैंतालीस वर्षों में सार्वजनिक पढ़ा है। ये प्रवचन पूज्य गुरुदेवश्री की पैंतालीस वर्ष की सोनगढ़ / स्वर्णपुरी में हुई साधना के निचोड़रूप मक्खन है। जैसे-जैसे ज्ञानी की ज्ञानस्थिरता वृद्धिगत होती जाती है, वैसे-वैसे एक ही गाथा पर बारम्बार प्रवचन किये जायें तो भी नये-नये भाव आते हैं; इसलिए प्रस्तुत प्रवचन प्रकाशित किये जा रहे हैं।

इस समयसार सिद्धि, भाग-11, ग्रन्थ में अपूर्व, अनुपम श्री समयसारजी शास्त्र के सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार की गाथा 390 से 415 तक, और इनमें समागत कलश 233 से 263 तथा परिशिष्ट एवं शक्ति क्रमांक 1 से 11 पर पूज्य गुरुदेवश्री के उन्नीसवीं बार के धारावाही प्रवचन नम्बर 441 से 487 प्रकाशित किये जा रहे हैं।

प्रवचन-प्रकाशन से पूर्व सम्पूर्ण प्रवचनों को सी.डी. से शब्दश: लिख लिया जाता है; तत्पश्चात् आवश्यकतानुसार वाक्य पूर्ति हेतु कोष्ठक भरा जाता है। प्रकाशन से पूर्व फिर से मिलान किया जाता है। गुजराती भाषा में इस कार्य में श्री चेतनभाई मेहता, राजकोट का उल्लेखनीय सहयोग रहा है।

सम्पूर्ण प्रवचनों को हिन्दी भाषा में व्यवस्थितरूप से प्रस्तुत करने का कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियाँ (राजस्थान) ने किया है। तदर्थ संस्था सभी सहयोगियों का सहृदय आभार व्यक्त करती है।

ग्रन्थ के मूल अंश को बोल्ड टाईप में दिया गया है।

प्रस्तुत प्रवचन — ग्रन्थ के टाईप सेटिंग के लिए श्री विवेककुमार पाल, विवेक कम्प्यूटर्स, अलीगढ़ तथा ग्रन्थ के सुन्दर मुद्रण कार्य के लिए श्री दिनेश जैन, देशना कम्प्यूटर, जयपुर के प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

अन्तत: समयसारस्वरूप निज शुद्धात्मा के आश्रयपूर्वक सभी जीव परम शान्ति को प्राप्त हों - इसी भावना के साथ.....

निवेदक

ट्रस्टीगण, श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई

एवं

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़

श्री समयसारजी-स्तुति

(हरिगीत)

संसारी जीवनां भावमरणो टाळवा करुणा करी,
सरिता वहावी सुधा तणी प्रभु वीर! ते संजीवनी;
शोषाती देखी सरितने करुणाभीना हृदये करी,
मुनिकुंद संजीवनी समयप्राभृत तणे भाजन भरी।

(अनुष्टुप)

कुन्दकुन्द रच्युं शास्त्र, साथिया अमृते पूर्या,
ग्रंथाधिराज! तारामां भावो ब्रह्मांडना भर्या।

(शिखरिणी)

अहो! वाणी तारी प्रशमरस-भावे नीतरती,
मुमुक्षुने पाती अमृतरस अंजलि भरी भरी;
अनादिनी मूर्छा विष तणी त्वराथी ऊतरती,
विभावेथी थंभी स्वरूप भणी दोड़े परिणति।

(शार्दूलविक्रीड़ित)

तुं छे निश्चयग्रंथ भंग सघळा व्यवहारना भेदवा,
तुं प्रज्ञाछीणी ज्ञान ने उदयनी संधि सहु छेदवा;
साथीसाधकनो, तुं भानु जगनो, संदेश महावीरनो,
विसामो भवक्लांतना हृदयनो, तुं पंथ मुक्ति तणो।

(वसंततिलका)

सुण्ये तने रसनिबंध शिथिल थाय,
जाण्ये तने हृदय ज्ञानी तणां जणाय;
तुं रुचतां जगतनी रुचि आळसे सौ,
तुं रीझतां सकलज्ञायकदेव रीझे।

(अनुष्टुप)

बनावुं पत्र कुंदननां, रत्नोना अक्षरो लखी;
तथापि कुंदसूत्रोनां अंकाये मूल्य ना कदी।

श्री सद्‌गुरुदेव-स्तुति

(हरिगीत)

संसारसागर तारवा जिनवाणी छे नौका भली,
ज्ञानी सुकानी मळ्या विना ए नाव पण तारे नहीं;
आ काळमां शुद्धात्मज्ञानी सुकानी बहु बहु दोह्यलो,
मुज पुण्यराशि फळ्यो अहो! गुरु कहान तुं नाविक मळ्यो।

(अनुष्टुप)

अहो! भक्त चिदात्माना, सीमंधर-वीर-कुंदना।
बाह्यांतर विभवो तारा, तारे नाव मुमुक्षुनां।

(शिखरिणी)

सदा दृष्टि तारी विमळ निज चैतन्य नीरखे,
अने ज्ञप्तिमांही दरव-गुण-पर्याय विलसे;
निजालंबीभावे परिणति स्वरूपे जई भळे,
निमित्तो वहेवारो चिद्‌घन विषे कांई न मळे।

(शार्दूलविक्रीडित)

हैयु 'सत सत, ज्ञान ज्ञान' धबके ने वज्रवाणी छूटे,
जे वज्रे सुमुमुक्षु सत्त्व झळके; परद्रव्य नातो तूटे;
- रागद्वेष रुचे न, जंप न वळे भावेंद्रिमां-अंशमां,
टंकोत्कीर्ण अकंप ज्ञान महिमा हृदये रहे सर्वदा।

(वसंततिलका)

नित्ये सुधाझरण चंद्र! तने नमुं हुं,
करुणा अकारण समुद्र! तने नमुं हुं;
हे ज्ञानपोषक सुमेघ! तने नमुं हुं,
आ दासना जीवनशिल्पी! तने नमुं हुं।

(स्रग्धरा)

ऊंडी ऊंडी, ऊंडेथी सुखनिधि सतना वायु नित्ये वहंती,
वाणी चिन्मूर्ति! तारी उर-अनुभवना सूक्ष्म भावे भरेली;
भावो ऊंडा विचारी, अभिनव महिमा चित्तमां लावी लावी,
खोयेलुं रत्न पामुं, - मनरथ मननो; पूरजो शक्तिशाळी!

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 - ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के ह्रार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने

से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक - इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है ? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न ? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको नि:शंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अत: अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का श्रावक हूँ।** सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अत: भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल **'श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर'** का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से

मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर, पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में

कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा

पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।
6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।
7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।
8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।
9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।
10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

अनुक्रमणिका

प्रवचन नं.	तारीख	गाथा/कलश नं.	पृष्ठ क्रं.
४४१	२३-०७-१९८०	कलश-२३२, २३३	००१
४४२	२४-०७-१९८०	गाथा-३९० से ४०४, कलश-२३३, २३४	०१६
४४३	२५-०७-१९८०	गाथा-३९० से ४०४	०४१
४४४	२७-०७-१९८०	गाथा-३९० से ४०४	०५४
४४५	२८-०७-१९८०	गाथा-३९० से ४०४	०६७
४४६	२९-०७-१९८०	गाथा-३९० से ४०४	०८०
४४७	३०-०७-१९८०	गाथा-३९० से ४०४	०९२
४४८	३१-०७-१९८०	कलश - २३५	१०५
४४९	०१-०८-१९८०	कलश - २३६, २३७	१२०
४५०	०३-०८-१९८०	गाथा-४०५ से ४०७, कलश - २३७	१३५
४५१	०४-०८-१९८०	गाथा-४०५ से ४०७	१५१
४५२	०५-०८-१९८०	गाथा-४०८ से ४१०, कलश - २३८	१६६
४५३	०६-०८-१९८०	गाथा-४११ से ४१२, कलश - २३९	१८५
४५४	०७-०८-१९८०	गाथा-४१२	२०२
४५५	०७-०९-१९८०	गाथा-४१२, कलश-२३९	२१७
४५६	०८-०९-१९८०	गाथा-४१२	२३१
४५७	०९-०९-१९८०	कलश - २४०, २४१	२४४
४५८	१०-०९-१९८०	गाथा-४१३, कलश - २४२	२६०
४५९	११-०९-१९८०	गाथा-४१४, कलश - २४३	२७५
४६०	१२-०९-१९८०	गाथा-४१५, कलश - २४४	२९१
४६१	१३-०९-१९८०	गाथा-४१५	३०८
४६२	१४-०९-१९८०	कलश - २४६	३२२
४६३	१५-०९-१९८०	कलश - २४६	३३६

४६४	१६-०९-१९८०	कलश - २४६, २४७	३५१
४६५	१७-०९-१९८०	परिशिष्ट	३७३
४६६	१८-०९-१९८०	परिशिष्ट	३८८
४६७	१९-०९-१९८०	परिशिष्ट	४००
४६८	२०-०९-१९८०	परिशिष्ट	४१४
४६९	२१-०९-१९८०	परिशिष्ट	४२८
४७०	२२-०९-१९८०	परिशिष्ट	४४३
४७१	२३-०९-१९८०	परिशिष्ट, कलश -२४८, २४९, २५०	४५९
४७२	२४-०९-१९८०	कलश -२५१-२५२	४८०
४७३	२५-०९-१९८०	कलश -२५३-२५४	४९६
४७४	२६-०९-१९८०	कलश -२५३-२५४	५०५
४७५	२७-०९-१९८०	कलश -२५५, २५६, २५७	५२१
४७६	२८-०९-१९८०	कलश -२५८, २५९, २६०	५४१
४७७	२९-०९-१९८०	कलश -२६०, २६१	५५९
४७८	३०-०९-१९८०	कलश -२६१, २६२, २६३	५७६
४७९	०४-१०-१९८०	कलश -२६३	५९४
४८०	०५-१०-१९८०	परिशिष्ट	६११
४८१	०६-१०-१९८०	परिशिष्ट	६२५
४८२	०७-१०-१९८०	शक्ति १, २, ३	६३९
४८३	०७-१०-१९८०	शक्ति ३, ४, ५	६५२
४८४	०८-१०-१९८०	शक्ति ६, ७	६६६
४८५	०९-१०-१९८०	शक्ति ६, ७, ८	६८०
४८६	०९-१०-१९८०	शक्ति ९, १०	६९४
४८७	०६-११-१९८०	शक्ति ११	७०४

ॐ

श्री परमात्मने नमः

श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत श्री समयसार परमागम पर

अध्यात्मयुगपुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन

समयसार सिद्धि

(भाग - ११)

—९—

सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार

प्रवचन नं. ४४१, श्लोक-२३२, २३३, बुधवार, आषाढ़ शुक्ल ११
दिनांक - २३-०७-१९८०

समयसार, २३२ (कलश का) भावार्थ। २३२ कलश है न? कलश। **ज्ञानचेतना की भावना का फल यह है कि...** क्या कहते हैं? आत्मा में तीन प्रकार की एकाग्रता (होती है)। एकाग्रता। (१) कर्मचेतना; (२) कर्मफलचेतना; (३) ज्ञानचेतना। कर्मचेतना, वह राग और द्वेष, कषाय जो अग्नि है, उसमें एकाग्रता (हो), वह कर्मचेतना है। दूसरी कर्मफलचेतना। राग-द्वेष का फल दु:ख है, उसका फल भोगना, वह कर्मफलचेतना। यह दो संसार के कारण हैं। आहाहा! तीसरी ज्ञानचेतना। यह पुण्य-पाप के भाव होते हैं, इन्हें छोड़कर अन्दर आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, उस ज्ञान की चेतना अर्थात् एकाग्रता, ज्ञान का अनुभव (करना), उसे यहाँ ज्ञानचेतना कहते हैं।

इस **ज्ञानचेतना की भावना का फल...** अपना स्वरूप शुद्धचैतन्य पूर्ण आनन्द है, पूर्ण बल, पूर्ण शान्ति, पूर्ण स्वभाव से भरपूर प्रभु की एकाग्रता की भावना से क्या फल

होता है, आहाहा! वह कहते हैं। **उस भावना से जीव अत्यन्त तृप्त रहता है...** एक तो यह कि पुण्य और पाप कर्मचेतना और उसका फल दु:ख, उसको छोड़कर ज्ञानचेतना आत्मा में ज्ञानस्वरूप आत्मा का वेदन करना, उससे आत्मा तृप्त होता है। आहाहा! भाषा तो सादी है परन्तु भाव कठिन है, भाई! आहाहा!

ज्ञानचेतना की भावना का फल अर्थात् चैतन्यस्वरूप जो भगवान आत्मा, पुण्य-पाप और काम-क्रोध और कर्म से भिन्न ऐसे आत्मा की अन्दर एकाग्रता, यह ज्ञान शब्द से आत्मा की अन्तर एकाग्रता (होना), उसकी भावना के फल में, भावना शब्द से एकाग्रता। आहाहा! यह ज्ञानस्वभाव आत्मा त्रिकाल, त्रिकाल अतीन्द्रिय आनन्द, अतीन्द्रिय बल, अतीन्द्रिय शान्ति आदि अनन्त-अनन्त अतीन्द्रिय अनन्त गुण का समुद्र भरा है। आहाहा! उसमें एकाग्रता (होना); विकार की एकाग्रता छोड़कर चैतन्य की एकाग्रता का फल वर्तमान शान्ति—तृप्ति है। कर्मचेतना और कर्मफलचेतना में वर्तमान अग्नि—दु:ख है, वह दु:ख है। आहाहा! परन्तु दु:ख लगता कहाँ है? यह पैसा एक दिन के पाँच-पाँच हजार, दस-दस हजार पैदा हो, उसमें प्रसन्न होना, यह कहते हैं अग्नि सुलगती है, ऐसा कहते हैं। कषाय है। कषाय अर्थात् कृष। कृष अर्थात् संसार; आय अर्थात् लाभ। जिसमें कषाय का लाभ संसार में भटकने का लाभ (हो)। आहाहा! पूरे दिन यह किया और यह किया और यह छोड़ा और इसे करूँ, ऐसी जो अन्दर कर्मचेतना दु:खरूप दशा है, उसे छोड़कर आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा की एकाग्रता की भावना का फल, उसकी एकाग्रता का फल वर्तमान शान्ति, वर्तमान तृप्ति है। आहाहा! कर्मचेतना और कर्मफलचेतना वर्तमान दु:खरूप है और भविष्य में दु:ख के अवतार में भटकना (वह है)। आहाहा! ऐसा है।

यह (ज्ञान) चेतना, वह धर्म है। आत्मा ज्ञानस्वरूप भगवान में चेतना अर्थात् एकाग्र होना, वह धर्म है। उसका नाम धर्म कहते हैं। उस धर्म का फल वर्तमान तृप्ति है। आहाहा! है? **उस भावना से जीव अत्यन्त तृप्त रहता है...** आहाहा! इस भावना से आत्मा वर्तमान में ही तृप्त रहता है, भविष्य में रहेगा, वह दूसरी बात, परन्तु वर्तमान में ही तृप्त रहता है। आहाहा!

और संसार में यह कर्मचेतना—पुण्य-पाप के राग को करूँ, यह रखूँ और यह छोड़ूँ

और यह लूँ तथा यह दूँ—ऐसे जो विकार की चेतना, वह वर्तमान अतृप्त अर्थात् दु:ख है। आहाहा! वह वर्तमान ही दु:ख है। इस ज्ञानचेतना में वर्तमान में तृप्त है। आहाहा! भाषा तो सादी है परन्तु भाव बहुत ऊँचे हैं। लोग धर्म... धर्म.. करते हैं (परन्तु) धर्म कहाँ होता है ? धर्मी ऐसा जो भगवान, अन्तरधर्म का धारक ऐसे आत्मा में एकाग्रता (होना), उसका नाम धर्म है, उसका नाम ज्ञानचेतना है। उसका फल वर्तमान तृप्ति, शान्ति की तृप्ति है। आहाहा! इस पैसे में तो पाँच-पच्चीस लाख मिले हों तो पचास करना, पचास वाले (को) करोड़ करना, आहाहा! ऐसी अतृप्ति और दु:ख का समुद्र है। इस आत्मा को कर्मचेतना और कर्मफलचेतना का ही पूरी दुनिया का वेदन है। वह दु:खी... दु:खी प्राणी है। आहाहा! यह ज्ञानचेतना—अपने स्वरूप में एकाग्रता (होने पर) उसमें तृप्ति है, शान्ति है, आनन्द है। आहाहा! वह धर्म है। धर्म कोई दया पालना और व्रत पालना वह कोई धर्म नहीं, वह तो विकल्प / राग है। वह कर्मचेतना है। आहाहा!

उसका (—ज्ञानचेतना का) फल वर्तमान में तृप्त रहता है। **अन्य तृष्णा नहीं रहती,...** अपना स्वरूप ज्ञानचेतना—ज्ञान में एकाग्रता रहने से दूसरी ओर अपनी शान्ति के समक्ष दूसरे तृष्णा के विकल्प नहीं रहते, राग नहीं रहता। आहाहा! **और भविष्य में केवलज्ञान उत्पन्न करके...** आहाहा! लाईन तो दो-सवा दो है। धर्म और अधर्म दोनों के फल की दोनों बात आ जाती है। आहाहा!

आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर, अनन्त बल का धनी प्रभु, वह जब अपनी चीज़ में आता है, जब अपने घर में आता है, पुण्य और पाप के भाव कर्मचेतना, वह तो परघर है, वह निजघर नहीं। आहाहा! यह धन्धा और व्यापार पूरे दिन कषाय की होली सुलगती होती है। यह तो परघर है। 'परघर भ्रमत अनेक नाम धराये, अब हम कबहूँ न निजघर आये, अब हम कबहूँ न निजघर आये, परघर भ्रमत अनेक नाम धराये।' यह सेठिया है और यह पैसेवाला है और यह इज्जतवाला है और बहुत कमाई है और बहत कारखाने हैं, ऐसे धूल के नाम धराये। आहाहा! परन्तु यह धर्मी है और इसे आनन्द है और ज्ञान है तथा इसे शान्ति है, यह इसने कभी नहीं किया। आहाहा!

यह कहते हैं **भविष्य में केवलज्ञान उत्पन्न करके समस्त कर्मों से रहित**

मोक्ष–अवस्था को प्राप्त होता है। इस ज्ञानचेतना की भावना का परिणाम अर्थात् फल, उसका सार। आहाहा! उसमें किसी का करना होता नहीं। अपने में भी पुण्य-पाप का करना होता नहीं, तो दूसरे का कर सकता है, यह तो है कहाँ? आहाहा! रात्रि में भाई नहीं थे? ठीक नहीं था। रात्रि में मैंने अन्त में बात रखी थी। शक्कर की डली है न? शक्कर की। इसमें तो एक-एक रजकण इकट्ठे चिपट गये हैं न? अन्त में शक्कर का दृष्टान्त दिया था। आहाहा! उसमें भी अनन्त परमाणु हैं। एक परमाणु में दूसरे परमाणु का अभाव है। आहाहा! तो भगवान! जब उसमें एक शक्कर में भी ऐसा गट्ठा लगे तो भी उसके परमाणु भिन्न रहते हैं तो यह प्रभु देह में दिखने पर भी देह से भिन्न है। आहाहा! बाबूभाई! यह शक्कर ऐसे पिण्ड लगे, परन्तु एक-एक परमाणु भिन्न है। एक परमाणु दूसरे परमाणु के साथ जुड़ा नहीं है। आहाहा! अन्तिम दृष्टान्त कहा था। लोगों को चमक लगती है। शक्कर की डली है। तुम्हारे में क्या कहते हैं? डली—गट्ठा। उसमें एक-एक रजकण भिन्न है। एक-एक रजकण दूसरे रजकण को छुआ नहीं है, स्पर्शा नहीं है। आहाहा! प्रभु के मार्ग की बात तो दुनिया से अलग है। दुनिया में वीतराग की एक बात आयी नहीं। आहाहा! तीन लोक का नाथ तीर्थंकरदेव परमात्मा...! आहाहा!

गुड़ की एक डली लो तो भी कोई एक रजकण दूसरे रजकण के साथ चिपटा नहीं है। आहाहा! ऐसा जब वह चीज़ ऐसी है तो प्रभु! तू इस शरीर में है तो शरीर के साथ चिपटा नहीं है। आहाहा! अरे! अन्दर पुण्य और पाप के भाव / राग होता है, वह मैल है। उसके साथ निर्मलानन्द प्रभु, प्रभु तो निर्मलानन्द अन्दर आत्मा है, वह मल के साथ मिला नहीं, मल के साथ मिलता नहीं। मल के साथ मिलता नहीं। ओहोहो! गजब बात है! ऐसा मार्ग... आहाहा! ऐसा तो कठिन पड़े, सुनना मुश्किल पड़े। आहाहा!

मुमुक्षु : इन दो परमाणु के बीच दूरी कितनी?

पूज्य गुरुदेवश्री : अत्यन्त अभाव। एक-एक परमाणु के बीच अत्यन्त अभाव है। यह प्रभु जो यहाँ है, वह कर्म और कार्मणशरीर, तैजसशरीर और औदारिक तीन शरीर और पुण्य तथा पाप को स्पर्शा नहीं। अन्दर भगवान भिन्न है। आहाहा! परमाणु भी जब एक दूसरे परमाणु के साथ एक नहीं होते... आहाहा! तो प्रभु चैतन्यस्वरूप शरीरप्रमाण प्रकाशक

पदार्थ, शरीरप्रमाण प्रकाशक होने पर भी शरीर के साथ एकमेक नहीं है। आहाहा! वीतराग, वीतराग का मार्ग कहीं नहीं है। यथार्थ वस्तु का स्वरूप जिन्होंने कहा, वे परमात्मा वीतराग हैं। आहाहा! तीन लोक के नाथ वीतराग! जिन्होंने तीन लोक जान-देख लिये। उनके प्रमाण रहा होने पर भी शरीर के साथ और कर्म के साथ आत्मा कभी एक हुआ ही नहीं। आहाहा! अत्यन्त भिन्न है। यह मिट्टी है, प्रभु तो चैतन्य अरूपी हैं, यह तो रूपी है। रूपी अर्थात् रंग, गन्ध, रस और स्पर्श यह चीज उसमें है। आत्मा में रंग, गन्ध, स्पर्श का अभाव है। आहाहा! जिसमें दो में भाव का भी अभाव है। क्षेत्र भी एक जगह रहा होने पर भी क्षेत्र से भिन्न है। आहाहा! कर्म का क्षेत्र और आत्मा का क्षेत्र दोनों का (क्षेत्र) भिन्न है। आहाहा! ऐसा प्रभु का मार्ग है। अरे! जैन में जन्मे, उसे मिलता नहीं, सुनने को मिलता नहीं, वह कब अन्तर में जाए? आहाहा! चौरासी लाख की योनि में, बापू! कुचलकर अनन्त बार मर गया है। कुचलकर मर गया है। दुःखी.. दुःखी.. कुचला गया है, पुण्य-पाप के भाव में कुचला गया है। आहाहा! अत्यन्त भिन्न चीज़ है, उसे यहाँ कर्मचेतना कहते हैं।

कर्मचेतना से भगवान ज्ञानचेतना भिन्न है। आहाहा! ज्ञानचेतना की भावना में वर्तमान तृप्ति रहती है। आहाहा! ऐसा कहा न? और तृष्णा नहीं होती। आनन्द की तृप्ति रहती है और तृष्णा नहीं रहती। तृष्णा रहे, वहाँ शान्ति नहीं और शान्ति रहे, वहाँ तृष्णा नहीं। आहाहा! यह तृष्णा नहीं रहती। एक तो वर्तमान तृप्ति रहती है, तृष्णा नहीं रहती और भविष्य में केवलज्ञान उत्पन्न होता है। आहाहा! थोड़े शब्द में भी (कितना भरा है)! २३२ (श्लोक पूरा हुआ)।

कलश - २३३

'पूर्वोक्त रीति से कर्मचेतना और कर्मफलचेतना के त्याग की भावना करके अज्ञानचेतना के प्रलय को प्रगटतया नचाकर, अपने स्वभाव को पूर्ण करके, ज्ञानचेतना को नचाते हुए ज्ञानीजन सदाकाल आनन्दरूप रहो'-इस उपदेश का दर्शक काव्य कहते हैं-

(स्रग्धरा)

अत्यन्तं भावयित्वा विरतिमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च,
प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञानसञ्चेतनायाः।
पूर्णं कृत्वा स्वभावं स्वरसपरिगतं ज्ञानसञ्चेतनां स्वां,
सानन्दं नाटयन्तः प्रशम-रस-मितः सर्व-कालं पिबन्तु।।२३३।।

श्लोकार्थ : [अविरतं कर्मणः तत्फलात् च विरतिम् अत्यंत भावयित्वा] ज्ञानी जन, अविरतपने से कर्म से और कर्मफल से विरति को अत्यन्त भा कर, (अर्थात् कर्म और कर्मफल के प्रति अत्यन्त विरक्त भाव को निरन्तर भा कर), [अखिल-अज्ञान-संचेतनायाः प्रलयनम् प्रस्पष्टं नाटयित्वा] (इस भाँति) समस्त अज्ञानचेतना के नाश को स्पष्टतया नचाकर, [स्व-रस-परिगतं स्वभावं पूर्णं कृत्वा] निजरस से प्राप्त अपने स्वभाव को पूर्ण करके, [स्वां ज्ञानसञ्चेतनां सानन्दं नाटयन्तः इतः सर्व-कालं प्रशमरसम् पिबन्तु] अपनी ज्ञानचेतना को आनन्दपूर्वक नचाते हुए अब से सदाकाल प्रशमरस को पिओ अर्थात् कर्म के अभावरूप आत्मिकरस को-अमृतरस को-अभी से लेकर अनन्त काल तक पिओ। (इस प्रकार ज्ञानीजनों को प्रेरणा की है)।

भावार्थ : पहले तो त्रिकाल सम्बन्धी कर्म के कर्तृत्वरूप कर्मचेतना के त्याग की भावना (४९ भंगपूर्वक) कराई। और फिर १४८ कर्म प्रकृतियों के उदयरूप कर्मफल के त्याग की भावना कराई। इस प्रकार अज्ञानचेतना का प्रलय कराकर ज्ञानचेतना में प्रवृत्त होने का उपदेश दिया है। यह ज्ञानचेतना सदा आनन्दरूप अपने स्वभाव की अनुभवरूप है। ज्ञानीजन सदा उसका उपभोग करो-ऐसा श्रीगुरुओं का उपदेश है।।२३३।।

कलश-२३३ पर प्रवचन

पूर्वोक्त रीति से... पूर्व-उक्त। उक्त अर्थात् कहा। पूर्व में कही गयी रीति से **कर्मचेतना और कर्मफलचेतना के त्याग की भावना करके...** पुण्य-पाप को करना और उसे भोगना। कर्मफलचेतना अरूपी विकारी पर्याय है। अरूपी विकारी पर्याय है। उसमें कोई रूप नहीं। कर्मचेतना और कर्मफलचेतना में कोई वर्ण, गन्ध, रूप नहीं है। आहाहा! वह तो अरूपी है परन्तु विकृत है। शुभ और अशुभभाव अरूपी है, प्रभु! तू अरूपी है न, प्रभु! तेरा विकृत भाव है, वह अरूपी है। वह अरूपी विकृत और आत्मा अरूपी अविकृत (दोनों अरूपी हैं), तथापि दोनों का मिलान नहीं है। आहाहा! न्याय समझ में आता है? आहाहा! तो बाहर की चीज़ के साथ तो कहाँ सम्बन्ध है? प्रभु! अरे रे! ऐसी बात सुनने को मिलती नहीं। वह सुने कब? विचार कब करे? अन्दर में उतरे कब? और भव का अभाव करे कब? आहाहा! ऐसी की ऐसी जिन्दगी हार जाता है। आहाहा!

पूर्वोक्त रीति से... पूर्व-उक्त अर्थात् पूर्व में कहा, उस पद्धति से। **कर्मचेतना...** पुण्य-पाप के भाव को अनुभव करना। **और कर्मफलचेतना...** उसके दुःख का वेदन। उसके **त्याग की भावना करके...** आहाहा! कर्मचेतना में तो व्यवहाररत्नत्रय भी आया। आहाहा! व्यवहाररत्नत्रय कर्मचेतना में आया। उसका भी त्याग करके। आहाहा! **त्याग की भावना करके अज्ञानचेतना के प्रलय को प्रगटतया नचाकर,...** यह दोनों अज्ञानचेतना है। शुभ और अशुभभाव, वह कर्मचेतना और उसका अनुभव, सुख-दुःख की कल्पना, वह भी उसका जाल, दुःख है। आहाहा! उसका त्याग करके। वे दोनों अज्ञानचेतना हैं। आहाहा! शुभ और अशुभभाव दोनों अज्ञानचेतना हैं।

जब शुभभाव अज्ञानचेतना है तो शुभभाव से आत्मा को कुछ लाभ होगा, यह किस प्रकार बने, प्रभु? तेरी चीज़ तो अन्दर पड़ी है न, प्रभु! अनन्त बल सम्पन्न, एक क्षण में तोड़कर केवलज्ञान ले, इतनी ताकत है। एक क्षण, एक समय। क्षण तो अभी असंख्य समय का होता है। आहाहा! एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में एक समय में आत्मा अज्ञानचेतना का नाश करके ज्ञानचेतना केवलज्ञान प्रगट कर सकता है। आहाहा! ऐसे

बलिया के महत्ता की खबर नहीं होती और जिसमें कुछ मल-धूल है... आहाहा! उसका माहात्म्य अन्दर से हटता नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : पुद्गल के साथ इसे इतनी गाढ़ प्रीति कैसे हो गयी?

पूज्य गुरुदेवश्री : अज्ञान के कारण। प्रीति! दूसरा क्या? अज्ञान है। वस्तु जानने में आयी नहीं कि मैं तो आनन्द हूँ। अपनी चीज़ आनन्द है, वह ख्याल में आयी नहीं तो उसका ख्याल कहीं अन्यत्र तो रुकेगा। तो इससे विरुद्ध पुण्य-पाप में रुका है। पुण्य-पाप में रुक गया है। आहाहा! यह तो अलग प्रकार का है, भाई! आहाहा! वीतराग के एक-एक वाक्य में बहुत रहस्य भरा है। आहाहा! यह कहीं कथा-वार्ता नहीं है। यह कहीं ऐरे-गैरे की वार्ता नहीं है। यह तो तीन लोक का नाथ अन्दर पूर्ण प्रगट हुए विराजमान हैं, वे तेरे तीन लोक के नाथ की बात करते हैं। आहाहा!

कहते हैं कि अज्ञानचेतना का त्याग करके। आहाहा! है? **अज्ञानचेतना के प्रलय को प्रगटतया नचाकर,...** आहाहा! अज्ञानचेतना के प्रलय को प्रगट रीति से। प्रलय अर्थात् नाश। प्र—विशेष, लय (अर्थात्) नाश। आहाहा! अब ऐसी बात! लोग कहते हैं, भाई! हमें धर्म करना है। परन्तु यह धर्म है। आहाहा! बापू! दूसरा धर्म नहीं है। आहाहा! इस अज्ञानचेतना का नाश। शरीर, कर्म का नाश भी नहीं। आहाहा! ये पुण्य और पाप के भाव जो कर्मचेतना दुःखरूप, उसका वेदन भी दुःखरूप, उस अज्ञान चेतना का नाश। कर्म का नाश नहीं, वह परद्रव्य है। परद्रव्य का नाश परद्रव्य के कारण उसके कारण से (होता है)। कर्म की अवस्था बदलकर अकर्म अवस्था होती है, वह उसके कारण से होती है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, इस अज्ञानचेतना के... आहाहा! **प्रलय को प्रगटतया नचाकर,...** प्रगटरूप से आत्मा के भान द्वारा उस विकारी अज्ञानचेतना को प्रगटरूप से नचाकर अर्थात् नाश करके। उसका नाश कर दे, आहाहा! बाकी सब किया, प्रभु! अभिमान! सब किया क्या? अभिमान। कुछ किया नहीं, एक रजकण भी इसने बदला नहीं। परन्तु सब किया, सबका अभिमान किया। आहाहा! गजब बात है। सुनने को मिलना मुश्किल पड़ता है। यह तो कहे, लोगों को ऐसा करो, दया करो, वस्त्र दो, कपड़े दो, दुःखी को ऐसा करो। बापू! यह अनन्त बार किया। प्रभु! ऐसा भव नहीं मिलेगा। इस भव के बाद कहाँ जाएगा? और

वहाँ क्या होगा ? और उसके पश्चात् भी भव कैसा मिलेगा ? आहाहा ! उसके बदले तू ऐसा कहे कि अभी नहीं, अभी तो यह करने दो। अभी नहीं, इसके बाद अभी कब आयेगा ? अभी नहीं, अभी नहीं, इसके बाद कब आयेगा ? पहले कब आयेगा ? अभी नहीं का अर्थ बाद में। बाद में तो अभी नहीं। आहाहा ! अरे रे ! इसने विचार भी कहाँ किया है ? मैं कहाँ हूँ ? और मुझे क्या है ? मैं दु:खी हूँ या सुखी हूँ ? और दु:खी हूँ तो क्यों दु:खी हूँ और वह दु:ख मिटे तो सुख हो, वह (सुख) कहाँ से आयेगा ? वह क्या चीज़ है ? आहाहा ! ऐसी बातें हैं।

कहते हैं कि उस **अज्ञानचेतना के प्रलय को प्रगटतया नचाकर,....** आहाहा ! भगवान आनन्दस्वरूप प्रभु है, उसके सन्मुख देख। इससे उससे विमुख ऐसी अज्ञानचेतना का प्रलय अर्थात् नाश होगा और ज्ञानचेतना प्रगट होगी। आहाहा ! **अपने स्वभाव को पूर्ण करके,...** उस अज्ञानचेतना का प्रगटरूप से नाश होकर **अपने स्वभाव को पूर्ण करके,...** प्रभु ! शक्तिरूप से जो पूर्ण है, शक्तिरूप से तो भगवान ही आत्मा है,... आहाहा ! सभी आत्मा परमात्मा ही है। स्वभाव और उसकी शक्ति, उसका सामर्थ्य, उसकी सत्ता का सत्त्व, उसकी सत्ता के अस्तित्व का सत्त्व परमेश्वर ही है। आहाहा ! कैसे जँचे ? नीम के नीचे निकले और पीली नीम और निंबोली देखे तो... वहाँ अटक गया। नीम की और निंबोली की पक्की पीली लटकती हो और निकला हो वहाँ (रुक जाए)। आहाहा ! यहाँ अन्दर अनन्त आनन्द लटकता है, प्रभु ! आहाहा ! अनन्त-अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ उछल जाता है, उछलता है परन्तु दृष्टि करे तो उछले, नहीं तो बेचारा ढंक गया है। आहाहा ! अब ऐसा उपदेश।

अपने स्वभाव को पूर्ण करके, ज्ञानचेतना को नचाते हुए... अपने में ज्ञानस्वरूप का परिणमन करके यह पुण्य-पाप के कर्म और कर्मफलचेतना का नाश करके, अपने ज्ञानस्वरूप को नचाकर—परिणमाकर... आहाहा ! **ज्ञानीजन...** धर्मी आत्माओं **सदाकाल आनन्दरूप रहो...** आहाहा ! प्रभु ! तू आनन्दस्वरूप रह। यह पुण्य और पाप के भाव, नाथ ! तुझे खबर नहीं। आनन्द देखा नहीं, आनन्द कैसा है, उसकी खबर नहीं; इसलिए यह पुण्य-पाप और दु:ख है, वह इसे भासित नहीं होता। हमें तो मजा है, ठीक है। आहाहा !

एक कहता था। कहा न ? क्या कहलाता है ? पोपटभाई चूड़गर। चूड़गर के एक

भाई थे। नानालालभाई, व्याख्यान चलता था और ऐसा बोले, हमारे रिश्तेदार सुखी हैं। भाई! सुखी की व्याख्या क्या? पैसा करोड़ रुपये हों, इसलिए सुखी है? आहाहा! लोगों को बाहर की इतनी पड़ी है कि बाहर से अन्दर भिन्न अन्तर आत्मा प्रभु कितना और कैसा और कैसे तथा क्या है उसमें? अरे रे! उसके विचार भी नहीं, उसकी ओर झुकाव नहीं। भगवान प्रसिद्धि में पड़कर बाहर आया है। आहाहा! मनुष्यरूप से तो इसे आत्मा बाहर प्रगट हो सकता है। आहाहा! दूसरे भवों में तो बेचारे को भान भी नहीं होता। सूअर के और कुत्ते के भव में शरीर वह मैं। शरीर को बस! खिलाओ, पिलाओ और निश्चिन्तता से सोये, कुत्ता सोवे। आहाहा! अरे! भगवान अन्दर आत्मा है, उसकी खबर नहीं होती। आहाहा! इसी प्रकार यह मनुष्यपना मिला, उसे भी खबर नहीं होती तो तब उसमें और इसमें अन्तर क्या पड़ा? आहाहा!

यहाँ कहते हैं,... आहाहा! अज्ञान अर्थात् पुण्य-पाप के अनुभव का नाश करके, प्रभु! तू तेरी ज्ञानचेतना को नचा अर्थात् परिणमन कर, अर्थात् उसका वेदन कर और सुखी हो। आहाहा! सदाकाल आनन्दरूप रह। आहाहा! कोई विरोधी है ही नहीं, कोई शत्रु है ही नहीं; सब भगवान है। सब शरीर में प्रभु विराजता है। विकार है, वह एक समय की पर्याय में भिन्न रह गया। आहाहा! ऐसा परमात्मपना पाकर आनन्द में रहे, ऐसा कहते हैं। आहाहा! है? **आनन्दरूप रहो—इस उपदेश का दर्शक काव्य कहते हैं—** लो, २३३।

अत्यन्तं भावयित्वा विरतिमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च,
प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञानसञ्चेतनायाः।
पूर्णं कृत्वा स्वभावं स्वरसपरिगतं ज्ञानसञ्चेतनां स्वां,
सानन्दं नाटयन्तः प्रशम-रस-मितः सर्व-कालं पिबन्तु।।२३३।।

आहाहा! यह एक व्यक्ति को नहीं कहते। आहाहा! प्रभु! पूरा जगत यह करो न, प्रभु! करनेयोग्य तो यह है। यह तो यह रखना है और उड़ जाएगा और भटकने चला जाएगा। कहीं भव धारण करके कौवे, कुत्ते, सूअर, बिच्छू और सर्प के भव, वापस पाप करके नरक में जाना। आहाहा!

श्लोकार्थ : 'अविरतं कर्मणः तत्फलात् च विरतिम् अत्यंत भावयित्वा' ज्ञानी जन, अविरतपने से... आहाहा! अन्तर पड़े बिना। धर्मात्मा—धर्मी अन्तर अविरत—

निरन्तर... निरन्तर... आत्मा की ओर ढ़लो। आहाहा! पूरी दुनिया के ओर के झुकाव में, तीर्थंकर तीन लोक के नाथ के ऊपर भी नजर पड़ने पर प्रभु! तुझे राग होगा। आहाहा! तेरे अतिरिक्त पूर्ण सभी चीज़ें जितनी हों, उन्हें देखने से राग होगा। तू ऐसा मानेगा कि हम यह धर्म करते हैं, भगवान के दर्शन किये और भगवान में बड़े लाखों रुपये खर्च किये और ऐसे यात्रा निकाली और अमुक किया और अमुक किया... बापू! यह सब शुभभाव है, वह पुण्य है, राग है, दुःख है, जहर है। आहाहा! अर र! यह कैसे बैठे ? अभी यहाँ स्त्री, पुत्र प्रिय लगते हों, उसे भगवान के प्रति प्रेम को जहर कहना! आहाहा! जहर है। अपने द्रव्य के अतिरिक्त परद्रव्य तीन लोक के नाथ केवली तीर्थंकर प्रभु ऐसा कहते हैं कि तू मेरे सन्मुख देखेगा तो, प्रभु! तुझे दुर्गति होगी, आहाहा! तुझे राग होगा। राग से तेरी गति बिगड़ जाएगी। आहाहा! यह कौन कहता है ? वीतराग के अतिरिक्त कोई नहीं कहता। तू हमारे सन्मुख देखेगा तो तुझे राग होगा और दुःखी होगा। आहाहा!

मुमुक्षु : नमूना देखे बिना अन्दर किस प्रकार जाया जाए ?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसे देखना नहीं। देखना इसे है। उसे देखने का ज्ञान कर तो वहाँ अभी विकल्प है। अरे! वह तो एक ओर रहा। मैं ज्ञायक... ज्ञायक... ज्ञायक... ज्ञायक वह भी एक राग और विकल्प और दुःख है। '....' ऐसा है। आहाहा! ऐसी बात है। इसलिए सोनगढ़वाले को ऐसा कहे न, एकान्त है... एकान्त है। इनकी पुस्तकें मन्दिर में रखी हो तो निकाल डालो। प्रभु! तुझे खबर नहीं, यह बात सुनी नहीं, भाई! प्रभु! तेरी बात हमें खबर नहीं ? आहाहा! तू क्या कहता है और किस अपेक्षा से कहता है और क्या अर्थ किस प्रकार करता है, यह खबर नहीं ? आहाहा! इसकी एक खबर नहीं की, यह कहते हैं। देखो!

ज्ञानी जन,... धर्मी उसे कहते हैं... आहाहा! अथवा आचार्य मुनिराज ऐसा कहते हैं, हे धर्मी! **अविरतपने से कर्म से...** इन पुण्य-पाप के कर्म से अविरत। निरन्तररूप से इनसे विरति कर। आहाहा! अविरत। आहाहा! उनमें विरतपना रहने दे, अविरत हो। आहाहा! व्रत, राग के व्रत में विरत, इसमें अविरत हो। यहाँ तो अविरत में विशेष डालेंगे। विरत का अभाव, ऐसा नहीं डालना। अविरत अर्थात् निरन्तर। आहाहा!

हे धर्मीजीव! मुनिराज सम्बोधन करते हैं। हे ज्ञानी! अविरतरूप से। आहाहा! समय गँवाये बिना आत्मा की ओर जुड़ जा। आहाहा! **कर्म से और कर्मफल से विरति**

को अत्यन्त भा कर,... प्रभु निरन्तर। आहाहा! अन्तर पड़े बिना, कर्मचेतना अर्थात् राग-द्वेष का फल, उसकी विरति को अत्यन्त पाकर। उसकी निवृत्ति को अत्यन्त पाकर। आहाहा!

यहाँ एक जवान २० वर्ष का लड़का दो महीने का विवाहित मर गया हो तो निरन्तर खटक रहा ही करती है। आहाहा! अब कहाँ लड़के का आत्मा, कहाँ तेरा आत्मा, कहाँ उसकी बहू का आत्मा... भिन्न-भिन्न। किसी को कुछ (सम्बन्ध नहीं है)। सब भिन्न-भिन्न अपने भाव को करते और भोगते हैं। तथापि बीस-बीस वर्ष तक, यह मेरा पुत्र, यह बीस वर्ष का मर गया, यह मर गया। यह जागृत हुआ, वहाँ तीन लोक का नाथ अन्दर है। आहाहा! वह तो बीस वर्ष का हुआ, यह तो अनादि का है। आहाहा! इसे स्मरण कर न प्रभु! और उसको भूल जा। आहाहा!

पुण्य और पाप की कर्मचेतना और कर्मफलचेतना, प्रभु! उसे भूल जा। अविरतरूप से भूल जा, आहाहा! निरन्तररूप से भूल जा। आहाहा! है? **विरति को अत्यन्त भा कर,...** अविरतरूप से, निरन्तररूप से विरति। वहाँ विरति ली है। आहाहा! अविरत अर्थात् निरन्तररूप से। विरतिरूप से अर्थात् उसे निरन्तररूप से पृथक् भा, पृथक् भावना रख। आहाहा! यहाँ निवृत्ति नहीं होती। पुत्र, पैसा, स्त्री, घर में जब निवृत्त होकर बैठे तब... बहुत वर्ष पहले की (संवत्) १९८४ की बात है। राणपुर (में) चातुर्मास था। (उपाश्रय के) सामने वोरा की गली है, लोटिया वोरा। राणपुर का उपासरा। एक पुरानी खाट ढेढ भरता था। वह खाट भरे न? काथी से पुराना भरता था। दोपहर में साढ़े ग्यारह हुए, वहाँ खाने का समय हुआ और स्त्री लेकर आयी। .... और लड़का, तीनों खाते थे तो मानो चक्रवर्ती बैठे हों इस प्रकार से। मानो... ओहोहो! १९८४ की बात है। राणपुर में उपाश्रय के पास बाहर बैठे थे, काम करते थे। गली के सामने। आहाहा! परन्तु तीनों व्यक्ति... दोने में छाछ लाये होंगे और रोटियाँ। तीनों इकट्ठे होकर छाछ-रोटियाँ खाते होंगे। एक लड़का था, स्त्री थी। आहाहा! अरे रे! यह क्या है? कहाँ है? इसका फल क्या आयेगा? उसका विचार कब किया है? आहाहा! वर्तमान यह सब अनुकूलता... धूल की! धूल की अनुकूलता। पैसा और यह सब धूल है न! आहाहा! उसमें यह कहते हैं, तू यह सब छोड़ दे न!

(कर्म और कर्मफल के प्रति अत्यन्त विरक्त भाव को निरन्तर भा कर),... आहाहा! यहाँ दो घड़ी, चार घड़ी समय मिले वहाँ निरन्तर भाव। आहाहा! **(कर्म और कर्मफल के प्रति अत्यन्त विरक्त भाव को निरन्तर भा कर), 'अखिल-अज्ञान-संचेतनाया: प्रलयनम्' समस्त अज्ञानचेतना के...** पुण्य और पापभाव... आहाहा! हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग, काम, क्रोध पाप (भाव)। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा पुण्य (भाव)। आहाहा! दोनों अज्ञानचेतना। आहाहा! उस **अज्ञानचेतना के नाश को स्पष्टतया नचाकर,...** स्पष्ट प्रत्यक्ष तेरा आत्मा तुझे हो जाए, ऐसा नचा—ऐसी परिणति कर। आहाहा! तेरा आत्मा प्रत्यक्ष हो जाए। आहाहा! यहाँ तो (ऐसा कहा है), **अज्ञानचेतना के नाश को स्पष्टतया नचाकर,...** परन्तु इसका अर्थ यह हुआ। स्पष्टरूप से उसका नाश हो जाए तो यहाँ भगवान स्पष्ट हो जाए। आहाहा!

अरे! आत्मा की बात पड़ी रही। मूल बात भगवान आत्मा अनन्त गुण का धनी, जिसके गुण की संख्या का पार नहीं होता और वह गुण भी अनन्त संख्या के शक्ति के दलवाली, ऐसी अनन्त शक्ति के दलवाली एक शक्ति, ऐसी अनन्त शक्ति का धनी प्रभु स्वयं अन्दर है। अरे! उसके सामने देखने का समय नहीं और पर के सन्मुख देखने में से एक सेकेण्ड भी विमुख होना नहीं। आहाहा! ऐसा उपदेश।

'अखिल-अज्ञान-संचेतनाया:' पुण्य, दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध, यह सब अज्ञानचेतना है। इसमें ज्ञान नहीं है। दया, दान, भक्ति, व्रत, तप और काम, क्रोध, मान, माया, लोभ में जानपने का अंश नहीं है, वे तो अन्ध हैं। अन्ध हैं, इसलिए वे अजीव हैं। आहाहा! उस अजीव का नाश कर। **समस्त अज्ञानचेतना के नाश को स्पष्टतया नचाकर, निजरस से प्राप्त अपने स्वभाव को...** अन्दर भगवान आत्मा वस्तु है न, प्रभु! आत्मा है न, नाथ! तुझमें क्या नहीं? कोई वस्तु हो, उसका स्वभाव होता है या नहीं? वस्तु कायम नित्य रहती है। नित्य रहे और वह स्वभाव बिना खाली रहे? आहाहा! स्वभाव से भरपूर तू नित्य प्रभु है, वहाँ जा न! आहाहा!

निजरस से प्राप्त अपने स्वभाव को पूर्ण करके,... इस अज्ञान, पुण्य-पाप का नाश करके आत्मा की पवित्र ज्ञानचेतना पूर्ण प्रगट कर। आहाहा! भाषा तो बहुत संक्षिप्त परन्तु... आहाहा! कर्म नाश कर और शरीर नाश कर, ऐसी बात नहीं ली है। और स्त्री, पुत्र

हैं, उनका नाश कर... वे तो पृथक् ही पड़े हैं, कुछ स्पर्श भी नहीं किया, तेरे पास आये नहीं और तेरे हैं ही नहीं। तू उनमें नहीं और वे तुझमें नहीं। आहाहा! यह तो तेरी पर्याय में अज्ञानचेतना है... आहाहा! पुण्य और पाप के भाव, हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग, वासना के धन्धा और दया, दान, व्रत, भक्ति दोनों अज्ञान हैं। आहाहा! उस अज्ञानचेतना के नाश को स्पष्टरूप से नचाकर निजरस से प्राप्त। भगवान आत्मा अन्दर आनन्दरस से प्राप्त है। यह पुण्य-पाप के भाव तो दु:खरूप है। आहाहा! इसे दु:ख कहाँ लगता है? पुण्यभाव में दु:ख लगता है। पाप में तो कहाँ लगता है? पाप में (दु:ख) लगता नहीं। मैं दु:खी हूँ, (ऐसा इसे लगता नहीं)। पुण्य में तो दु:ख भासे कहाँ से? आहाहा!

यह शुभ-अशुभभाव, पुण्य-पापभाव, इस दु:खरूप का नाश करके **निजरस से प्राप्त अपने स्वभाव को पूर्ण करके,...** आनन्द के रस को प्रगट करके पूर्ण कर। यह ज्ञानरस है, वह अज्ञानरस है। उसका नाश करके, नाश होनेयोग्य है। प्रभु कायम रहने के योग्य है। उस नित्यानन्द के नाथ को जगा और अपने स्वभाव को पूर्ण कर। आहाहा! भाषा सादी है परन्तु बात बहुत ऊँची है। आहाहा! धन्धे के रस के आगे ऐसी बात का रस भी मुश्किल पड़ता है। आहाहा! अन्दर इसकी मिठास आना... आहाहा! पुण्य और पाप का, अज्ञान का नाश कर और निजरस, आत्मानन्द रस में रह, उसमें आ, उसे प्राप्त करके स्वभाव को पूर्ण कर। आहाहा! तेरा स्वभाव भगवान है। प्रभु! तू परमात्मा है। आहाहा! उस परमात्मा के सन्मुख देख और यह राग और पुण्य-पाप, दया, दान वह अज्ञान है। वह तेरी चीज़ से विरुद्ध है। तू ज्ञानस्वरूप है, वे अज्ञानस्वरूप हैं। आहाहा! ऐसी बात सुनना मुश्किल (पड़ती है)। आहाहा! करने का यह है। समय चला जाता है। आहाहा!

कितनी बात की है! आहाहा! मीठी आनन्द जैसी! **निजरस से प्राप्त अपने स्वभाव को पूर्ण करके,** आहाहा! **अपनी ज्ञानचेतना को आनन्दपूर्वक नचाते हुए...** आहाहा! अपनी ज्ञानचेतना अर्थात् ज्ञान का अनुभव। ज्ञानस्वभाव का अनुभव, वह ज्ञानचेतना। राग का अनुभव, वह कर्मचेतना। राग के फल का-दु:ख का भोगना, वह कर्मफलचेतना है। ये दोनों अज्ञान हैं, दोनों को छोड़ दे और आत्मा अन्दर आनन्दरस है, उस ज्ञान के रस में आ जा। आहाहा! **अपनी ज्ञानचेतना को आनन्दपूर्वक नचाते हुए अब से सदाकाल प्रशमरस को पिओ...** आहाहा! कोई अंक बाँधा नहीं कि इतने जीव

और इतने... आहाहा! प्रभु! तुम आत्मा भगवान हो न! तुम्हारी ज्ञानचेतना पीओ न! रागचेतना, पुण्य और पाप जल गयी हुई... आहाहा! उसमें अनादि से जल गया, प्रभु! आहाहा!

आनन्दपूर्वक नचाते हुए अब से सदाकाल प्रशमरस को पिओ... जब से पूर्ण आनन्द प्रगट हुआ, तब से अनन्त काल तक रहेगा। आहाहा! **अर्थात् कर्म के अभावरूप आत्मिकरस को–अमृतरस को–अभी से लेकर...** जब से शुरु हुई, तब से। **अनन्त काल तक पिओ।** आहाहा! मुनिराज ने भाषा भी बहुत मीठी प्रयोग की है! आहाहा! उस आनन्द को पीओ न, प्रभु! राग और द्वेष पीते हो, प्रभु! वह तुम दुःख का अनुभव करते हो। तुम्हारे में नहीं, उसे ही अनुभव करते हो। पूरा (प्रभु) पड़ा है, उसकी ओर तो देखते नहीं। आहाहा! ऐसा सुनने को कहीं मिलता नहीं। आहाहा! बाहर में... हो.. हा... यह करो और यह करो... और यह करो... यह करो... कर्ताबुद्धि। आहाहा!

(इस प्रकार ज्ञानीजनों को प्रेरणा की है)। इस प्रकार धर्मीजीव को मुनिराज ने (प्रेरणा की है)। यह तो अमृतचन्द्राचार्य ने प्रेरणा की है। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४४२, श्लोक-२३३, २३४, गाथा-३९० से ४०४ गुरुवार, आषाढ़ शुक्ल १२
दिनांक - २४-०७-१९८०

२३३ कलश का भावार्थ। **पहले तो त्रिकाल सम्बन्धी...** त्रिकाल अर्थात् भूतकाल... उसके ४९ भंग कहे, वर्तमान में ४९ भंग, भविष्य में ४९ भंग। तीन बार आया न? **त्रिकाल सम्बन्धी कर्म के कर्तृत्वरूप...** रागादि शुभराग हो या अशुभराग हो, वह मेरा कर्तव्य नहीं। चारित्र का अधिकार है न? सम्यग्दर्शनसहित चारित्र का अधिकार है। मैं राग को करूँगा नहीं, वर्तमान में करता नहीं; भूतकाल में किया, उसे मिथ्या करता हूँ और भविष्य में करूँगा नहीं। इस प्रकार त्रिकाल सम्बन्धी **कर्म के कर्तृत्वरूप कर्मचेतना...** राग की चेतना। भगवान आत्मा स्वभाव से विरुद्ध। भूतकाल, भविष्य और वर्तमान तीनों में राग का कर्ता ४९ भंग से नहीं करूँ, ऐसा आया। आहाहा!

यह चारित्र अधिकार है। (कर्मचेतना के) **त्याग की भावना (४९ भंगपूर्वक) कराई। और फिर १४८ कर्म प्रकृतियों के उदयरूप कर्मफल के त्याग की भावना कराई।** मैं भूतकाल, वर्तमान, भविष्य में राग का कर्ता नहीं, मैं तो आत्मा हूँ—ऐसा जिसे ज्ञान हुआ, उसकी यहाँ बात चलती है। जिसे ऐसा ज्ञान हुआ कि मैं आत्मा ज्ञान, आनन्द हूँ तो भूतकाल में भी मैंने रागादि किये हों, वे निष्फल होओ, वर्तमान में भी करूँगा नहीं, भविष्य में भी करूँगा नहीं। आहाहा! यह चारित्र!

तीन काल सम्बन्धी राग, द्वेष, विषयवासना आदि ४९ भंग से करूँगा नहीं, ऐसे १४८ कर्मप्रकृति पूर्व में बाँधी हुई, उसके त्याग की भावना करायी। वह कर्म का उदय आवे, उस भाव का भोक्ता मैं नहीं। आहाहा! मैं तो अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा मुझे मिला, मैं उसका अनुभव करूँगा। आहाहा! यह चारित्र की व्याख्या।

समकिती को रागादि होते हैं, परिणमन की अपेक्षा से कर्ता भी है, वेदन की अपेक्षा से भोक्ता भी है (परन्तु) दृष्टि में वे मेरे हैं, ऐसा नहीं मानता। सम्यग्दृष्टि दृष्टि में वे मेरे हैं, ऐसा नहीं मानता। चारित्र में तो उनसे अधिक है। वह मेरा कर्तव्य भी नहीं और उन्हें भोगने का मेरा भाव भी नहीं। आहाहा!

इस प्रकार अज्ञानचेतना का प्रलय कराकर... आहाहा! तीन काल में करना

और भूतकाल में कर्म हुआ, उसका फल मैं करूँगा नहीं, इस प्रकार अज्ञानचेतना का प्रलय कराकर। राग करना, वह भी सब अज्ञानचेतना है। क्योंकि राग में ज्ञानस्वभाव का भान नहीं है। राग अन्धकारस्वरूप है। आहाहा! चाहे तो पुण्यभाव हो या पापभाव हो, उसमें ज्ञान नहीं है। उसमें ज्ञान का अभाव है। उस **अज्ञानचेतना का प्रलय कराकर...** नाश कराकर **ज्ञानचेतना में प्रवृत्त होने का...** ज्ञानचेतना अर्थात्? अपना स्वरूप जो ज्ञान और आनन्द है, अपने आनन्द का वेदन करना, इसका नाम ज्ञानचेतना है। इसका नाम धर्म की शुरुआत है। पूर्ण आनन्द को भोगनेवाला मैं—यह चारित्र। आहाहा!

धर्म की शुरुआत कहाँ से होती है? मैं आनन्द हूँ, मैं ज्ञान हूँ, मैं शान्त-कषाय से रहित शान्त हूँ—ऐसा जो रागरहित अनुभव; राग है परन्तु उससे रहित अनुभव (हो), उसमें जो प्रतीति होती है, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। पश्चात् उस प्रतीति उपरान्त अस्थिरता के राग का त्याग करके विशेष आनन्द को भोगना, वह चारित्र है। आहाहा! यहाँ तो (अज्ञानी के मत में) चारित्र अर्थात् बाहर की क्रिया की तो हो गया चारित्र।

यहाँ कहते हैं कि अज्ञानचेतना का नाश कराकर **ज्ञानचेतना में प्रवृत्त होने का...** भगवान! तू ज्ञान और आनन्द है न! यह पहले आया न? पीओ, अनन्त काल पर्यन्त पीओ। ऊपर आ गया। आहाहा! भविष्य में अनन्त काल... यदि राग का कर्ता और राग का भोक्ता हुआ तो भविष्य में अनन्त काल राग का भोगना होगा, जब तक नाश नहीं करे, तब तक। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं, उसका नाश करो और ज्ञानचेतना कराकर। इस प्रकार **ज्ञानचेतना में प्रवृत्त होने का उपदेश दिया है।** उपदेश किया है।

भगवान! तुझे शान्ति चाहिए, तुझे सुख चाहिए तो अन्दर में प्रवर्त। आत्मा आनन्दस्वरूप है, ज्ञानस्वरूप है, उसमें तेरी प्रवृत्ति कर। राग और द्वेष की प्रवृत्ति दुःखरूप है। चाहे तो शुभराग हो तो भी दुःखरूप है। आहाहा! शरीर, वाणी, मन पर है, उसकी बात यहाँ है ही नहीं, परन्तु अपने परिणाम में करना और भोगना, उसका त्याग कराया और ज्ञानचेतना में प्रवर्तने का उपदेश किया।

यह ज्ञानचेतना सदा आनन्दरूप... ज्ञानचेतना अर्थात्? अपना जो स्वरूप—ज्ञानस्वरूप है, उसका वेदन, शान्ति और आनन्द का वेदन होना, उसका नाम ज्ञानचेतना है। अशान्ति का और विकार का वेदन होना, वह कर्मचेतना है। उस कर्मचेतना का त्याग

कराकर ज्ञानचेतना में प्रवर्तने का उपदेश किया। आहाहा! अभी दर्शन की शुद्धि कठिन पड़े, उसमें यह चारित्र। **यह ज्ञानचेतना सदा आनन्दरूप अपने स्वभाव की अनुभवरूप है।** ज्ञानचेतना उसे कहते हैं कि अपने अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव, उस अतीन्द्रिय आनन्द के स्वभाव का वेदन होना, उसे यहाँ ज्ञानचेतना कहते हैं। आहाहा! ज्ञान अर्थात् आत्मा।

पूरा आत्मा ज्ञानस्वरूप ही कहने में आया है। उसका श्रद्धा-ज्ञान करके राग के कण का कर्तापना-भोक्तापना छोड़ दे, तो तुझे ज्ञानचेतना उग्र होगी। ज्ञानचेतना उग्र हो, उसका नाम चारित्र है। आहाहा! **ज्ञानीजन सदा उसका उपभोग करो...** हे धर्मी! आहाहा! हे ज्ञानी! तुम्हारी चीज़ को भोगने का तुम करो। राग, वह तुम्हारी चीज़ नहीं है। पुण्य और पाप तथा उनका फल, वह तुम्हारी चीज़ नहीं है। तुम्हारी चीज़ तो ज्ञान-आनन्द है, उसका उपभोग करो। ओहोहो! इसका नाम चारित्र। पंच महाव्रत पालन करो, पाँच समिति करो, यह बात यहाँ नहीं की है।

ज्ञानस्वरूप भगवान में जो अतीन्द्रिय आनन्द है, उस ज्ञान, अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करे, उसका नाम चारित्र है। आहाहा! यहाँ तो जरा वस्त्र बदल डाले और स्त्री, पुत्र छोड़कर बैठे तो (मानते हैं कि) त्यागी हो गये, चारित्र हो गया। भाई! चारित्र अलौकिक बात है। चारित्र आनन्ददायक है, चारित्र ज्ञान का आनन्द है। अचारित्र ज्ञान का दुःख है। अन्दर में जितना अचारित्र है, (वह दुःखदायक है)। अन्दर की बात है, पर के साथ सम्बन्ध नहीं है। परिणाम के साथ सम्बन्ध है। अज्ञानरूपी परिणाम है, वह दुःख का वेदन है और ज्ञानगुण के परिणाम, वह आनन्द का वेदन है। परवस्तु का वेदन करना तो है ही नहीं। आहाहा! तो क्या इस घड़ी-वड़ी का किया वह? घड़ी का यह करो और यह करो, यह करो। इन्हें और हीरा का, माणेक का (काम है)।

आत्मा अपने परिणाम के अतिरिक्त कुछ नहीं कर सकता—यह सिद्धान्त है। वह परिणाम शुभ, अशुभ, अज्ञान, ज्ञान के होते हैं। ज्ञान परिणाम, अज्ञान परिणाम। ज्ञान परिणाम होने पर भी जरा शुभाशुभ परिणाम भी होते हैं। अज्ञान परिणाम में तो अकेले शुभाशुभ परिणाम (होते हैं)। आहाहा! और जब चारित्र होता है, तब अकेले ज्ञान परिणाम (होते हैं)। आनन्द... आनन्द... आनन्द... आनन्द... आनन्द... जो अस्थिरता का राग है, उसका भी वहाँ त्याग है और अतीन्द्रिय ज्ञान, आनन्द (का वेदन है)। आहाहा! अतीन्द्रिय ज्ञान

और आनन्द मैं, और वह ज्ञान और आनन्द त्रिकाल ध्रुव है। त्रिकाल ध्रुव की दृष्टि करने से वर्तमान में उसका अनुभव होता है। अनुभव होता है, वह पर्याय है। आहाहा! और उसे छोड़कर परसन्मुख का लक्ष्य करके अज्ञानचेतना में राग और द्वेष का करना तथा भोगना होता है। पर का करने और भोगने के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! आत्मा के अतिरिक्त और आत्मा के अज्ञान और ज्ञान परिणाम के अतिरिक्त, आत्मा के ज्ञान और अज्ञान के परिणाम के अतिरिक्त, आत्मा पर का तो कुछ करता नहीं। शरीर, वाणी, मन, कर्म, धन्धा-व्यापार कौन करता होगा? पशु करता होगा? मानता है कि मैं करता हूँ, मान्यता के भाव का कर्ता है, चीज़ के भाव का कर्ता नहीं। आहाहा! भारी मार्ग, भाई!

ज्ञानीजन सदा उसका उपभोग करो-ऐसा श्रीगुरुओं का उपदेश है। आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य आदि सन्तों का यह उपदेश है कि तुम्हारे आनन्द को भोगो। प्रभु! तू दुःखी है। चार गति में अनुकूल या प्रतिकूल संयोग (मिले), वह तेरी चीज़ नहीं और उनमें तू ममता करे तो तू दुःखी होगा। आहाहा! तेरी चीज़ के अतिरिक्त जो बाहर की चीज़ है, अरे! राग-द्वेष के परिणाम हैं, वे भी तेरी चीज़ से भिन्न हैं और भिन्न को अपना मानना, वह महादुःख है। आहाहा! दुःख लगता नहीं न! आहाहा! धीर होकर देखे कि यह वह आत्मा है क्या? और यह क्या होता है? परिणाम में, हों! बाहर में होता है, वह उसके कारण से (होता है)। धन्धा-व्यापार आदि, स्त्री आदि, पुत्र आदि वह क्रिया जड़ की, पर की पर में होती है। उसे आत्मा नहीं कर सकता। मानता है, माने कि मैं करता हूँ, यह मान्यता उसके परिणाम में है। उसका कर्ता और उसका भोक्ता। आहाहा!

तीन काल का कर्ता-भोक्तापना छोड़कर, भूतकाल की प्रकृति का फल को भोगना छोड़कर। चारित्र का अधिकार है न? अतीन्द्रिय आनन्द का भोगना कर। आहाहा! कहाँ ले जाना है इन्हें! यह तो मुर्दा है, इसमें चेतन नहीं। यह हड्डियाँ, चमड़े में चेतन नहीं। चेतन तो हड्डियाँ, चमड़े से अन्दर भिन्न है। चेतन हड्डियाँ, चमड़ी को स्पर्शा ही नहीं। आहाहा! पर्याय में परवस्तु की मान्यता की विपरीत श्रद्धा या यह वस्तु मेरी नहीं, ऐसी सुल्टी श्रद्धा, वह श्रद्धा इसकी पर्याय में स्पर्श करती है। वह पर्याय में स्पर्श करती है। बाकी परचीज़ तो इसकी पर्याय को कभी छुई नहीं, स्पर्शी नहीं। आहाहा! यहाँ श्रीगुरुओं का ऐसा उपदेश है।

कलश - २३४

यह सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार है, इसलिए ज्ञान को कर्तृत्वभोक्तृत्व से भिन्न बताया; अब आगे की गाथाओं में अन्य द्रव्य और अन्य द्रव्यों के भावों से ज्ञान को भिन्न बतायेंगे। पहले उन गाथाओं का सूचक काव्य कहते हैं–

(वंशस्थ)

इतः पदार्थप्रथनावगुण्ठनाद् विना कृतेरेकमनाकुलज्ज्वलत्।
समस्तवस्तुव्यतिरेकनिश्चयाद्विवेचितं ज्ञानमिहावतिष्ठते ।।२३४।।

श्लोकार्थ : [इतः इह] यहाँ से अब (इस सर्वविशुद्धान अधिकार में आगे की गाथाओं में यह कहते हैं कि–) [समस्त–वस्तु–व्यतिरेक–निश्चयात् विवेचितं ज्ञानम्] समस्त वस्तुओं के भिन्नत्व के निश्चय द्वारा पृथक् किया गया ज्ञान, [पदार्थ–प्रथन–अवगुण्ठनात् कृतेः विना] पदार्थ के विस्तार के साथ गुथित होने से (–अनेक पदार्थों के साथ, ज्ञेय–ज्ञान सम्बन्ध के कारण; एक जैसा दिखाई देने से) उत्पन्न होनेवाली (अनेक प्रकार की) क्रिया, उनसे रहित [एकम् अनाकुलं ज्वलत्] एक ज्ञानक्रियामात्र, अनाकुल (–सर्व आकुलता से रहित) और दैदीप्यमान होता हुआ, [अवतिष्ठते] निश्चल रहता है।

भावार्थ : आगामी गाथाओं में ज्ञान को स्पष्टतया सर्व वस्तुओं से भिन्न बतलाते हैं।।२३४।।

कलश-२३४ पर प्रवचन

यह सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार है, इसलिए ज्ञान को कर्तृत्वभोक्तृत्व से भिन्न बताया; अब आगे की गाथाओं में... यह तो कर्ता–भोक्ता का निषेध किया। अब **अन्य द्रव्य और अन्य द्रव्यों के भावों से ज्ञान को भिन्न बतायेंगे।** आहाहा! अन्य द्रव्य और अन्य द्रव्य के भाव। तेरा द्रव्य और तेरा भाव, उससे अन्य द्रव्य और अन्य द्रव्य के भाव भिन्न हैं। आहाहा! है? **अन्य द्रव्य और अन्य द्रव्यों के भावों से ज्ञान को भिन्न बतायेंगे। पहले उन गाथाओं का सूचक काव्य कहते हैं–** काव्य।

इतः पदार्थप्रथनावगुण्ठनाद् विना कृतेरेकमनाकुलज्ज्वलत्।
समस्तवस्तुव्यतिरेकनिश्चयाद्विवेचितं ज्ञानमिहावतिष्ठते।।२३४।।

नीचे श्लोकार्थ :- **यहाँ से अब (इस सर्वविशुद्धान अधिकार में आगे की गाथाओं में यह कहते हैं कि-) समस्त वस्तुओं के भिन्नत्व के निश्चय द्वारा...** सभी परद्रव्य और परद्रव्य के भाव। आहाहा! स्त्री और पुत्र, लक्ष्मी और मकान, इज्जत और बेइज्जती, आहाहा! सब चीज़ पर है। इस **निश्चय द्वारा पृथक् किया गया ज्ञान, 'पदार्थ-प्रथन-अवगुण्ठनात् कृतेः विना'** परपदार्थ के साथ सम्बन्धरहित, परपदार्थ के साथ एकत्व सम्बन्धरहित। आहाहा! **पदार्थ के विस्तार के साथ गुथित होने से...** मानो परपदार्थ में गुंथ गया हो, ऐसा मानता है। आहाहा! आत्मा को यह हाथ और यह शरीर मानो एक हो गया हो, ऐसे स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, पैसा-लक्ष्मी, मकान, वस्त्र मानो वह मेरी चीज़ है, मैं और वे एक हो गये हैं। आहाहा!

(-अनेक पदार्थों के साथ, ज्ञेय-ज्ञान सम्बन्ध के कारण;...) आत्मा मात्र जाननेवाला है और पर ज्ञात होनेयोग्य है, इतने सम्बन्ध के कारण से, **(एक जैसा दिखाई देने से)...** मानों मेरा है, ऐसा दिखता है। जाननेवाले को तो वे जाननेयोग्य हैं। परचीज़, शरीर, वाणी, मन, पुण्य-पाप और उसके फल स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब-परिवार, लक्ष्मी, इज्जत-कीर्ति... आत्मा ज्ञान है और वे ज्ञेय हैं, इतना सम्बन्ध है। आहाहा! इस ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध के अतिरिक्त... है? **(ज्ञेय-ज्ञान सम्बन्ध के कारण; एक जैसा दिखाई देने से)...** आहाहा! यों भी अपने कहा जाता है न? भाई-भाई इकट्ठे रहें, भाई! भाई भिन्न पड़ें, ऐसा भी कहते हैं। आहाहा! मकान बनाते हैं, तब से उसके लक्ष्य में रहता है। ऐसे मेरा माने। मकान बनावे, उसमें बरण्डा होता है न? ओसरी। ओसरी को क्या कहते हैं? (बरण्डा)। पाँच भाई होवें तो दो-दो स्तम्भ लगावे। एक भाग इसकी ओर तथा एक भाग इसकी ओर। पहले से ऐसे बनावे। आहाहा! है या नहीं? पहले से मेरा मानकर भिन्न करने का भाव है। दो-दो खम्भे रखते हैं। थांभली को क्या कहते हैं? खम्भा। एक साथ दो रखे। दो खम्भों के बीच रास्ता हो। इस ओर बाँधे तो इसकी ओर तथा इस ओर बाँधे तो इसकी ओर। आहाहा! होवे भाई चार... बाबूभाई! है या नहीं ऐसा? आहाहा! पहले से ऐसा आता है,

परन्तु अन्दर से छूटता नहीं। पहले से ऐसा बनावे। क्योंकि अपने भिन्न होंगे तो यहाँ इस ओर का बरण्डा वहाँ जाएगा, इस ओर का बरण्डा अपना। इस ओर का खम्भा उसका और इस ओर का खम्भा अपना। दो खम्भे साथ में डालते हैं। दो-दो खम्भे साथ में डालते हैं। आहाहा! यह डालते ही विचार करते हैं कि हमें इससे भिन्न होना होगा तो इस ओर यह रहेगा और इस ओर (हम रहेंगे)...। हरिभाई! करते हैं या नहीं?

मुमुक्षु : बाद में विवाद न हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह और हरिभाई ने ठीक कहा। पहले से ही ऐसा मानते हैं कि हमें भिन्न करना है। ऐसे सगे भाई हों। अभी तो छोटा भाई जन्मा हो, लो न! और दो-पाँच-छह भाई हों। बराण्डे में दो-दो खम्भे डाले, आहाहा! दो-दो खम्भे डाले। तब से वह जानता है कि आपने भिन्न रहना है, परन्तु अन्दर से ऐसा मानता है कि यह चीज़ ही मेरी नहीं है। मैं तो अकेला रहता हूँ और अकेला चला जाऊँगा। वहाँ ही मैं तो अकेला रहता हूँ। आहाहा! किसी के साथ मुझे सम्बन्ध नहीं है।

(ज्ञेय-ज्ञान सम्बन्ध के कारण; एक जैसा दिखाई देने से)... एक जैसा दिखने से। वह ज्ञात होनेयोग्य है, यह जाननेवाला है। दिखने से। एक जैसा दिखता है। मंजिल बनावे, चार-चार माले की मंजिल बनावे, ऐसे समान रखे, इस ओर का भाग ऐसा, इस ओर का भाग ऐसा। आहाहा! **(एक जैसा दिखाई देने से) उत्पन्न होनेवाली (अनेक प्रकार की) क्रिया उनसे रहित... 'एकम् अनाकुलं ज्वलत्'** आहाहा! एक ज्ञानक्रियावान प्रभु। तेरी क्रिया तो ज्ञान की है। यह (बाहर की) क्रिया तो तेरी नहीं परन्तु राग की क्रिया तेरी नहीं। आहाहा! **एक ज्ञानक्रियामात्र, अनाकुल (-सर्व आकुलता से रहित) और दैदीप्यमान होता हुआ,...** आहाहा! सर्व से भिन्न होकर। भिन्न है ही, मान्यता में अन्तर है। सर्व से भिन्न ही है।

यह तो तीसरी गाथा में कहा न? एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता, कभी स्पर्श ही नहीं करता। आहाहा! समयसार तीसरी गाथा। समझ में आया? तीसरी गाथा देखो! बीच में है। टीका की पाँचवीं लाईन। **कैसे हैं वे सर्व पदार्थ? अपने द्रव्य में अन्तर्मग्न रहनेवाले अपने अनन्त धर्म के चक्र को (समूह को) चुम्बन करते हैं...**

है छठवीं लाईन ? तीसरी गाथा। टीका की छठवीं लाईन, टीका की छठवीं पंक्ति। आहाहा! सर्व पदार्थ **अपने द्रव्य में...** परमाणु और आत्मा आदि प्रत्येक पदार्थ।

एक शक्कर की डली ऐसी दिखाई दे तो भी उसमें परमाणु-परमाणु भिन्न है। एक परमाणु दूसरे परमाणु को स्पर्श नहीं करता। शक्कर को स्पर्श नहीं करता। शक्कर, शक्कर। एक साथ सब इकट्ठे हो जायें। एक रजकण दूसरे रजकण के साथ कभी आया नहीं। आहाहा! शक्कर में भी अनन्त परमाणु स्कन्ध में अपनी-अपनी पर्याय के कारण से परिणमन करते हैं। दूसरे परमाणु की पर्याय को एक परमाणु छूता नहीं। आहाहा! गजब बात है।

तेल.. तेल। ऐसे मानो एकरस दिखाई दे परन्तु अन्दर का एक परमाणु दूसरे परमाणु को छूता नहीं। आहाहा! ऐसे युवकों ने ऐसा कभी सुना नहीं हो। सुना था कभी ? आहाहा! तेल की धार। यह पानी। परन्तु पानी की एक बूँद में रजकण-रजकण भिन्न है। एक रजकण दूसरे रजकण को स्पर्शा नहीं। आहाहा! ऐसी बात है। कपड़ा। इस कपड़े में एक रजकण दूसरे रजकण को स्पर्शा नहीं। ... कपड़े को बनाया न ? आहाहा!

यहाँ (तीसरी गाथा में) यह कहते हैं, **जितने पदार्थ हैं, वे सब निश्चय से एकत्वनिश्चय को प्राप्त होने से ही सुन्दरता पाते हैं क्योंकि अन्य प्रकार से उनमें सर्वसंकर आदि दोष आ पड़ते हैं। कैसे हैं वे सर्व पदार्थ? अपने द्रव्य में अन्तर्मग्न रहनेवाले अपने अनन्त धर्मों के चक्र को (समूह को) चुम्बन करते हैं-स्पर्श करते हैं, तथापि परस्पर एक-दूसरे को स्पर्श नहीं करते,...** आहाहा! **अत्यन्त निकट एकक्षेत्रावगाहरूप से रहते हैं...** एक क्षेत्र में इकट्ठे रहते हैं। **तथापि जो सदाकाल अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते,...** आहाहा! इन एक-दो लाईनों में तो... (यदि) इकट्ठे न हों तो यह कपड़ा कैसे हो ? इकट्ठे न हो तो यह चश्मा कैसे हो ? इकट्ठे न हों तो पैर भी कैसे हो ? प्रत्येक परमाणु भिन्न है। इस स्कन्ध में भी एक-एक परमाणु अपनी पर्याय से परिणम रहा है, दूसरे की पर्याय को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! आत्मा को तो वह छूता ही नहीं, परन्तु उसका एक-एक परमाणु दूसरे परमाणु को छूता नहीं। आहाहा! यह तीसरी गाथा माल है। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं, **एक ज्ञानक्रियामात्र, अनाकुल...** ज्ञानक्रियामात्र। आहाहा! एक ज्ञानक्रियामात्र। परद्रव्य को तो (छूता) नहीं परन्तु राग को भी स्पर्श नहीं करता। एक ज्ञानक्रियामात्र। आत्मा ज्ञानस्वरूप है तो ज्ञान की परिणतिमात्र। आहाहा! भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप है तो उसकी ज्ञान की परिणति—अवस्थामात्र। है? **ज्ञानक्रियामात्र, अनाकुल (–सर्व आकुलता से रहित) और दैदीप्यमान होता हुआ, निश्चल रहता है।** प्रत्येक पदार्थ अपना स्वभाव जो शक्ति है, गुण और पर्याय जो स्वभाव है, आहाहा! उसमें सब रहते हैं। एक परमाणु दूसरे (परमाणु) को स्पर्श नहीं करता। निश्चल रहता है।

भावार्थ : आगामी गाथाओं में ज्ञान को स्पष्टतया सर्व वस्तुओं से भिन्न बतलाते हैं।

गाथा - ३९०-४०४

सत्थं णाणं ण हवदि जम्हा सत्थं ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा बेंति।।३९०।।
सद्दो णाणं ण हवदि जम्हा सद्दो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सद्दं जिणा बेंति।।३९१।।
रूवं णाणं ण हवदि जम्हा रूवं ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं रूवं जिणा बेंति।।३९२।।
वण्णो णाणं ण हवदि जम्हा वण्णो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं वण्णं जिणा बेंति।।३९३।।
गंधो णाणं ण हवदि जम्हा गंधो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं गंधं जिणा बेंति।।३९४।।
ण रसो दु हवदि णाणं जम्हा दु रसो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं रसं च अण्णं जिणा बेंति।।३९५।।
फासो ण हवदि णाणं जम्हा फासो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं फासं जिणा बेंति।।३९६।।
कम्मं णाणं ण हवदि जम्हा कम्मं ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं कम्मं जिणा बेंति।।३९७।।
धम्मो णाणं ण हवदि जम्हा धम्मो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं धम्मं जिणा बेंति।।३९८।।
णाण-मधम्मो ण हवदि जम्हाधम्मो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्ण-मधम्मं जिणा बेंति।।३९९।।
कालो णाणं ण हवदि जम्हा कालो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं कालं जिणा बेंति।।४००।।

आयासं पि ण णाणं जम्हायासं ण याणदे किंचि।
तम्हायासं अण्णं अण्णं णाणं जिणा बेंति ।।४०१।।
णज्झवसाणं णाणं अज्झवसाणं अचेदणं जम्हा।
तम्हा अण्णं णाणं अज्झवसाणं तहा अण्णं ।।४०२।।
जम्हा जाणदि णिच्चं तम्हा जीवो दु जाणगो णाणी।
णाणं च जाणयादो अव्वदिरित्तं मुणेयव्वं ।।४०३।।
णाणं सम्मादिट्ठिं दु संजमं सुत्त-मंग-पुव्वगयं।
धम्माधम्मं च तहा पव्वज्जं अब्भुवंति बुहा ।।४०४।।

शास्त्रं ज्ञानं न भवति यस्माच्छास्त्रं न जानाति किञ्चित्।
तस्मा-दन्यज्ज्ञान-मन्यच्छास्त्रं जिना ब्रुवन्ति ।।३९०।।
शब्दो ज्ञानं न भवति यस्माच्छब्दो न जानाति किञ्चित्।
तस्मा-दन्यज्ज्ञान-मन्यं शब्दं जिना ब्रुवन्ति ।।३९१।।
रूपं ज्ञानं न भवति यस्माद्रूपं न जानाति किञ्चित्।
तस्मा-दन्यज्ज्ञान-मन्यद्रूपं जिना ब्रुवन्ति ।।३९२।।
वर्णो ज्ञानं न भवति यस्माद्वर्णो न जानाति किञ्चित्।
तस्मा-दन्यज्ज्ञान-मन्यं वर्णं जिना ब्रुवन्ति ।।३९३।।
गन्धो ज्ञानं न भवति यस्माद्गन्धो न जानाति किञ्चित्।
तस्मा-दन्यज्ज्ञान-मन्यं गन्धं जिना ब्रुवन्ति ।।३९४।।
न रसस्तु भवति ज्ञानं यस्मात्तु रसो न जानाति किञ्चित्।
तस्मा-दन्यज्ज्ञानं रसं चान्यं जिना ब्रुवन्ति ।।३९५।।
स्पर्शो न भवति ज्ञानं यस्मात्स्पर्शो न जानाति किञ्चित्।
तस्मा-दन्यज्ज्ञान-मन्यं स्पर्शं जिना ब्रुवन्ति ।।३९६।।
कर्म ज्ञानं न भवति यस्मात्कर्म न जानाति किञ्चित्।
तस्मा-दन्यज्ज्ञान-मन्यत्कर्म जिना ब्रुवन्ति ।।३९७।।
धर्मो ज्ञानं न भवति यस्माद्धर्मो न जानाति किञ्चित्।
तस्मा-दन्यज्ज्ञान-मन्यं धर्मं जिना ब्रुवन्ति ।।३९८।।

ज्ञानमधर्मो न भवति यस्माद्धर्मो न जानाति किञ्चित्।
तस्मा-दन्यज्ज्ञान-मन्य-मधर्मं जिना ब्रुवन्ति।।३९९।।
कालो ज्ञानं न भवति यस्मात्कालो न जानाति किञ्चित्।
तस्मा-दन्यज्ज्ञान-मन्यं कालं जिना ब्रुवन्ति।।४००।।
आकाशमपि न ज्ञानं यस्मादाकाशं न जानाति किञ्चित्।
तस्मा-दाकाश-मन्य-दन्यज्ज्ञानं जिना ब्रुवन्ति।।४०१।।
नाध्यवसानं ज्ञान-मध्यवसान-मचेतनं यस्मात्।
तस्मा-दन्यज्ज्ञान-मध्यवसानं तथान्यत्।।४०२।।
यस्माज्जानाति नित्यं तस्माज्जीवस्तु ज्ञायको ज्ञानी।
ज्ञानं च ज्ञायका-दव्यतिरिक्तं ज्ञातव्यम्।।४०३।।
ज्ञानं सम्यग्दृष्टिं तु संयमं सूत्रमङ्ग-पूर्व-गतम्।
धर्माधर्मं च तथा प्रव्रज्या-मभ्युपयान्ति बुधाः।।४०४।।

न श्रुतं ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानश्रुतयोर्व्यतिरेकः। न शब्दो ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानशब्द- योर्व्यतिरेकः। न रूपं ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानरूपयोर्व्यतिरेकः। न वर्णो ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानवर्णयोर्व्यतिरेकः। न गन्धो ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानगन्धयोर्व्यतिरेकः।

न रसो ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानरसयोर्व्यतिरेकः। न स्पर्शो ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानस्पर्शयोर्व्यतिरेकः। न कर्म ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानकर्मणोर्व्यतिरेकः।

न धर्मो ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानधर्मयोर्व्यतिरेकः। नाधर्मो ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानाधर्मयोर्व्यतिरेकः।

न कालो ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानकालयोर्व्यतिरेकः। नाकाशं ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानाकाशयोर्व्यतिरेकः। नाध्यवसानं ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानाध्यवसानयोर्व्यतिरेकः।

इत्येवं ज्ञानस्य सर्वैरेव परद्रव्यैः सह व्यतिरेको निश्चयसाधितो द्रष्टव्यः। अथ जीव एवैको ज्ञानं, चेतनत्वात्; ततो ज्ञानजीवयोरेवाव्यतिरेकः।

न च जीवस्य स्वयं ज्ञानत्वात्ततो व्यतिरेकः कश्चनापि शङ्कनीयः। एवं तु सति ज्ञानमेव सम्यग्दृष्टिः, ज्ञानमेव संयमः, ज्ञानमेवाङ्गपूर्वरूपं सूत्रं, ज्ञानमेव धर्माधर्मौ, ज्ञानमेव प्रव्रज्येति ज्ञानस्य जीवपर्यायैरपि सहाव्यतिरेको निश्चयसाधितो द्रष्टव्यः।

अथैवं सर्वपरद्रव्यव्यतिरेकेण सर्वदर्शनादिजीवस्वभावाव्यतिरेकेण वा अतिव्याप्तिमव्याप्तिं च परिहरमाणमनादिविभ्रममूलं धर्माधर्मरूपं परसमयमुद्वम्य स्वयमेव प्रव्रज्यारूपमापद्य दर्शनज्ञानचारित्र- स्थितिरूपं स्वसमयमवाप्य मोक्षमार्गमात्मन्येव परिणतं कृत्वा समवाप्तसम्पूर्णविज्ञानघनस्वभावं हानो-पादानशून्यं साक्षात्समयसारभूतं परमार्थरूपं शुद्धं ज्ञानमेकमवस्थितं द्रष्टव्यम् ।।३९०-४०४।।

अब, इसी अर्थ की गाथाएँ कहते हैं-

रे! शास्त्र है नहिं ज्ञान क्योंकि शास्त्र कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु शास्त्र अन्य प्रभू कहे।।३९०।।
रे! शब्द है नहिं ज्ञान, क्योंकि शब्द कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु शब्द अन्य प्रभू कहे।।३९१।।
रे! रूप है नहिं ज्ञान, क्योंकि रूप कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु रूप अन्य प्रभू कहे।।३९२।।
रे! वर्ण है नहिं ज्ञान, क्योंकि वर्ण कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु वर्ण अन्य प्रभू कहे।।३९३।।
रे! गन्ध है नहिं ज्ञान, क्योंकि गन्ध कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु गन्ध अन्य प्रभू कहे।।३९४।।
रे! रस नहीं है ज्ञान, क्योंकि रस जु कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु अन्य रस-जिनवर कहे।।३९५।।
रे! स्पर्श है नहिं ज्ञान, क्योंकि स्पर्श कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु स्पर्श अन्य प्रभू कहे।।३९६।।
रे! कर्म है नहिं ज्ञान, क्योंकि कर्म कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु कर्म अन्य जिनवर कहे।।३९७।।
रे! धर्म नहिं है ज्ञान, क्योंकि धर्म कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु धर्म अन्य जिनवर कहे।।३९८।।
नहिं है अधर्म जु ज्ञान, क्योंकि अधर्म कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य अधर्म अन्य जिनवर कहे।।३९९।।

रे! काल है नहिं ज्ञान, क्योंकि काल कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु काल अन्य प्रभू कहे।।४००।।

आकाश है नहिं ज्ञान, क्योंकि आकाश कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से आकाश अन्य रु ज्ञान अन्य प्रभू कहे।।४०१।।

रे! ज्ञान अध्यवसान नहिं, क्योंकि अचेतन रूप है।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु अन्य अध्यवसान है।।४०२।।

रे! सर्वदा जाने हि इससे जीव ज्ञायक ज्ञानि है।
अरु ज्ञान है ज्ञायक से अव्यतिरिक्त यों ज्ञातव्य है।।४०३।

सम्यक्त्व, अरु संयम, तथा पूर्वांगगत सब सूत्र जो।
धर्माधरम, दीक्षा सबहि, बुध पुरुष माने ज्ञान को।।४०४।।

गाथार्थ : [शास्त्रं] शास्त्र [ज्ञानं न भवति] ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [शास्त्रं किंचित् न जानाति] शास्त्र कुछ जानता नहीं है (-वह जड़ है), [तस्मात्] इसलिए [ज्ञानम् अन्यत्] ज्ञान अन्य है, [शास्त्रं अन्यत्] शास्त्र अन्य है- [जिना: ब्रुवन्ति] ऐसा जिनदेव कहते हैं।

[शब्द: ज्ञानं न भवति] शब्द ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [शब्द: किंचित् न जानाति] शब्द कुछ जानता नहीं है, [तस्मात्] इसलिए [ज्ञानं अन्यत्] ज्ञान अन्य है, [शब्दं अन्यं] शब्द अन्य है- [जिना: ब्रुवन्ति] ऐसा जिनदेव कहते हैं।

[रूपं ज्ञानं न भवति] रूप ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [रूपं किंचित् न जानाति] रूप कुछ जानता नहीं है, [तस्मात्] इसलिए [ज्ञानम् अन्यत्] ज्ञान अन्य है, [रूपं अन्यत्] रूप अन्य है- [जिना: ब्रुवन्ति] ऐसा जिनदेव कहते है।

[वर्ण: ज्ञानं न भवति] वर्ण ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [वर्ण: किंचित् न जानाति] वर्ण कुछ जानता नहीं है, [तस्मात्] इसलिए [ज्ञानम् अन्यत्] ज्ञान अन्य है, [वर्णं अन्यं] वर्ण अन्य है- [जिना: ब्रुवन्ति] ऐसा जिनदेव कहते हैं।

[गंध: ज्ञानं न भवन्ति] गन्ध ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [गंध: किंचित् न जानाति] गन्ध कुछ जानती नहीं है, [तस्मात्] इसलिए [ज्ञानम् अन्यत्] ज्ञान अन्य है, [गंधं अन्यं] गन्ध अन्य है- [जिना: ब्रुवन्ति] ऐसा जिनदेव कहते हैं।

[रस: तु ज्ञानं न भवति] रस ज्ञान नहीं है [यस्मात् तु] क्योंकि [रस: किंचित् न जानाति] रस कुछ जानता नहीं है, [तस्मात्] इसलिए [ज्ञानं अन्यत्] ज्ञान अन्य है [रसं च अन्यं] और रस अन्य है– [जिना: ब्रुवन्ति] ऐसा जिनदेव कहते हैं।

[स्पर्श: ज्ञानं न भवति] स्पर्श ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [स्पर्श: किंचित् न जानाति] स्पर्श कुछ जानता नहीं है, [तस्मात्] इसलिए [ज्ञानम् अन्यत्] ज्ञान अन्य है, [स्पर्शं अन्यं] स्पर्श अन्य है– [जिना: ब्रुवन्ति] ऐसा जिनदेव कहते हैं।

[कर्म ज्ञानं न भवति] कर्म ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [कर्म किंचित् न जानाति] कर्म कुछ जानता नहीं है [तस्मात्] इसलिए [ज्ञानम् अन्यत्] ज्ञान अन्य है, [कर्म अन्यत्] कर्म अन्य है– [जिना: ब्रुवन्ति] ऐसा जिनदेव कहते हैं।

[धर्म: ज्ञानं न भवति] धर्म (अर्थात् धर्मास्तिकाय) ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [धर्म: किंचित् न जानाति] धर्म कुछ जानता नहीं है, [तस्मात्] इसलिए [ज्ञानम् अन्यत्] ज्ञान अन्य है, [धर्म अन्यं] धर्म अन्य है– [जिना: ब्रुवन्ति] ऐसा जिनदेव कहते हैं।

[अधर्म: ज्ञानं न भवति] अधर्म (अर्थात् अधर्मास्तिकाय) ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [अधर्म: किंचित् न जानाति] अधर्म कुछ जानता नहीं है, [तस्मात्] इसलिए [ज्ञानम् अन्यत्] ज्ञान अन्य है, [अधर्मं अन्यम्] अधर्म अन्य है– [जिना: ब्रुवन्ति] ऐसा जिनदेव कहते हैं।

[काल: ज्ञानं न भवति] काल ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [काल: किंचित् न जानाति] काल कुछ जानता नहीं है, [तस्मात्] इसलिए [ज्ञानम् अन्यत्] ज्ञान अन्य है, [कालं अनयं] काल अन्य है– [जिना: ब्रुवन्ति] ऐसा जिनदेव कहते हैं।

[आकाशम् अपि ज्ञानं न] आकाश भी ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [आकाशं किंचित् न जानाति] आकाश कुछ जानता नहीं है, [तस्मात्] इसलिए [ज्ञानं अन्यत्] ज्ञान अन्य है, [आकाशम् अन्यत्] आकाश अन्य है– [जिना: ब्रुवन्ति] ऐसा जिनदेव कहते हैं।

[अध्यवसानं ज्ञानम् न] अध्यवसान ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [अध्यवसान् अचेतनं] अध्यवसान अचेतन है, [तस्मात्] इसलिए [ज्ञानम् अन्यत्] ज्ञान अन्य है [तथा अध्यवसानं अन्यत्] तथा अध्यवसान अन्य है (–ऐसा जिनवरदेव कहते हैं)।

[यस्मात्] क्योंकि [नित्यं जानाति] (जीव) निरन्तर जानता है [तस्मात्] इसलिए

[ज्ञायक: जीव: तु] ज्ञायक ऐसा जीव [ज्ञानी] ज्ञानी (–ज्ञानवाला, ज्ञानस्वरूप) है, [ज्ञानं च] और ज्ञान [ज्ञायकात् अव्यतिरिक्तं] ज्ञायक से अव्यतिरिक्त है ('अभिन्न' है, जुदा नहीं) [ज्ञातव्यम्] ऐसा जानना चाहिए।

[बुधा:] बुध पुरुष (अर्थात् ज्ञानी जन) [ज्ञानं] ज्ञान को ही [सम्यग्दृष्टिं तु] सम्यग्दृष्टि, [संयमं] (ज्ञान को ही) संयम, [अंगपूर्वगतम् सूत्रम्] अंगपूर्वगत सूत्र, [धर्माधर्मं च] और धर्म–अधर्म (पुण्य–पाप) [तथा प्रव्रज्याम्] तथा दीक्षा [अभ्युपयांति] मानते हैं।

टीका : श्रुत (अर्थात् वचनात्मक द्रव्यश्रुत) ज्ञान नहीं है, क्योंकि श्रुत अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और श्रुत के व्यतिरेक (अर्थात् भिन्नता) है। शब्द ज्ञान नहीं है, क्योंकि शब्द (पुद्गलद्रव्य की पर्याय है), अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और शब्द के व्यतिरेक (अर्थात् भेद) है। रूप ज्ञान नहीं है, क्योंकि रूप (पुद्गलद्रव्य का गुण है), अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और रूप के व्यतिरेक है (अर्थात् दोनों भिन्न हैं)। वर्ण ज्ञान नहीं है, क्योंकि वर्ण (पुद्गलद्रव्य का गुण है,) अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और वर्ण के व्यतिरेक है (अर्थात् ज्ञान अन्य है, वर्ण अन्य है)। गन्ध ज्ञान नहीं है, क्योंकि गन्ध (पुद्गलद्रव्य का गुण है,) अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और गन्ध के व्यतिरेक (–भेद, भिन्नता) है। रस ज्ञान नहीं है, क्योंकि रस (पुद्गलद्रव्य का गुण है,) अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और रस के व्यतिरेक है। स्पर्श ज्ञान नहीं है, क्योंकि स्पर्श (पुद्गलद्रव्य का गुण है,) अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और स्पर्श के व्यतिरेक है। कर्म ज्ञान नहीं है, क्योंकि कर्म अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और कर्म के व्यतिरेक है। धर्म (–धर्मद्रव्य) ज्ञान नहीं है, क्योंकि धर्म अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और धर्म के व्यतिरेक है। अधर्म (–अधर्मद्रव्य) ज्ञान नहीं है, क्योंकि अधर्म अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और अधर्म के व्यतिरेक है। काल (–कालद्रव्य) ज्ञान नहीं है, क्योंकि काल अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और काल के व्यतिरेक है। आकाश (–आकाशद्रव्य) ज्ञान नहीं है, क्योंकि आकाश अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और आकाश के व्यतिरेक है। अध्यवसान ज्ञान नहीं है, क्योंकि अध्यवसान अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और (कर्मोदय की प्रवृत्तिरूप) अध्यवसान के व्यतिरेक है। इस प्रकार यों ज्ञान का समस्त परद्रव्यों के साथ व्यतिरेक निश्चय साधित देखना चाहिए (अर्थात् निश्चय से सिद्ध हुआ समझना–अनुभव करना चाहिए)।

अब, जीव ही एक ज्ञान है, क्योंकि जीव चेतन है; इसलिए ज्ञान के और जीव के अव्यतिरेक (–अभेद) है। और ज्ञान का जीव के साथ व्यतिरेक किञ्चितमात्र भी शंका करनेयोग्य नहीं है (अर्थात् ज्ञान की जीव से भिन्नता होगी, ऐसी जरा भी शंका करनेयोग्य नहीं है), क्योंकि जीव स्वयं ही ज्ञान है। ऐसा (ज्ञान जीव से अभिन्न) होने से, ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है, ज्ञान ही संयम है, ज्ञान ही अंगपूर्वरूप सूत्र है, ज्ञान ही धर्म–अधर्म (अर्थात् पुण्य–पाप) है, ज्ञान ही प्रव्रज्या (–दीक्षा, निश्चयचारित्र) है–इस प्रकार ज्ञान का जीवपर्यायों के साथ भी अव्यतिरेक निश्चयसाधित देखना (अर्थात् निश्चय द्वारा सिद्ध हुआ समझना–अनुभव करना) चाहिए।

अब, इस प्रकार सर्व परद्रव्यों के साथ व्यतिरेक के द्वारा और सर्व दर्शनादि जीवस्वभावों के साथ अव्यतिरेक के द्वारा अतिव्याप्ति को और अव्याप्ति को दूर करता हुआ, अनादि विभ्रम जिसका मूल है, ऐसे धर्म–अधर्मरूप (पुण्य–पापरूप, शुभ–अशुभरूप,) परसमय को दूर करके, स्वयं ही प्रव्रज्यारूप को प्राप्त करके (अर्थात् स्वयं ही निश्चयचारित्ररूप दीक्षाभाव को प्राप्त करके), दर्शन–ज्ञान–चारित्र में स्थितिरूप स्वसमय को प्राप्त करके, मोक्षमार्ग को अपने में ही परिणत करके, जिसने सम्पूर्ण विज्ञानघनस्वभाव को प्राप्त किया है ऐसा, त्यागग्रहण से रहित, साक्षात् समयसारभूत, परमार्थरूप शुद्धज्ञान एक अवस्थित (–निश्चल) देखना (अर्थात् प्रत्यक्ष स्वसंवेदन से अनुभव करना) चाहिए।

भावार्थ : यहाँ ज्ञान को समस्त परद्रव्यों से भिन्न और अपनी पर्यायों से अभिन्न बताया है, इसलिए अतिव्याप्ति और अव्याप्ति नामक लक्षण दोष दूर हो गये। आत्मा का लक्षण उपयोग है, और उपयोग में ज्ञान प्रधान है; वह (ज्ञान) अन्य अचेतन द्रव्यों में नहीं है; इसलिए वह अतिव्याप्तिवाला नहीं है, और अपनी सर्व अवस्थाओं में है; इसलिए अव्याप्तिवाला नहीं है। इस प्रकार ज्ञानलक्षण कहने से अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष नहीं आते।

यहाँ ज्ञान को ही प्रधान करके आत्मा का अधिकार है, क्योंकि ज्ञानलक्षण से ही आत्मा सर्व परद्रव्यों से भिन्न अनुभवगोचर होता है। यद्यपि आत्मा में अनन्त धर्म हैं, तथापि उनमें से कितने ही तो छद्मस्थ के अनुभवगोचर ही नहीं हैं। उन धर्मों के कहने से छद्मस्थ ज्ञानी आत्मा को कैसे पहिचान सकता है? और कितने ही धर्म अनुभवगोचर हैं,

परन्तु उनमें से कितने ही तो–अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व आदि तो–अन्य द्रव्यों के साथ सामान्य अर्थात् समान ही हैं; इसलिए उनके कहने से पृथक् आत्मा नहीं जाना जा सकता और कितने ही (धर्म) परद्रव्य के निमित्त से हुए हैं, उन्हें कहने से परमार्थभूत आत्मा का शुद्ध स्वरूप कैसे जाना जा सकता है? इसलिए ज्ञान के कहने से ही छद्मस्थ ज्ञानी आत्मा को पहिचान सकता है।

यहाँ ज्ञान को आत्मा का लक्षण कहा है इतना ही नहीं, किन्तु ज्ञान को ही आत्मा कहा है; क्योंकि अभेदविवक्षा में गुणगुणी का अभेद होने से, ज्ञान है सो ही आत्मा है। अभेदविवक्षा में चाहे ज्ञान कहो या आत्मा–कोई विरोध नहीं है; इसलिए यहाँ ज्ञान कहने से आत्मा ही समझना चाहिए।

टीका में अन्त में यह कहा गया है कि–जो, अपने में अनादि अज्ञान से होनेवाली शुभाशुभ उपयोगरूप परसमय की प्रवृत्ति को दूर करके, सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र में प्रवृत्तिरूप स्वसमय को प्राप्त करके, उस स्वसमयरूप परिणमनरूप मोक्षमार्ग में अपने को परिणमित करके, जो सम्पूर्ण विज्ञानघनस्वभाव को प्राप्त हुआ है, और जिसमें कोई त्याग–ग्रहण नहीं है, ऐसे साक्षात्, समयसारस्वरूप, परमार्थभूत, निश्चल रहा हुआ, शुद्ध, पूर्ण ज्ञान को (पूर्ण आत्मद्रव्य को) देखना चाहिए। यहाँ 'देखना' तीन प्रकार से समझना चाहिए। (१) शुद्धनय का ज्ञान करके पूर्ण ज्ञान का श्रद्धान करना, सो प्रथम प्रकार का देखना है। वह अविरत आदि अवस्था में भी होता है। (२) ज्ञान–श्रद्धान होने के बाद बाह्य सर्व परिग्रह का त्याग करके उसका (–पूर्ण ज्ञान का) अभ्यास करना, उपयोग को ज्ञान में ही स्थिर करना, जैसा शुद्धनय से अपने स्वरूप को सिद्ध समान जाना–श्रद्धान किया था, वैसा ही ध्यान में लेकर चित्त को एकाग्र–स्थिर करना, और पुनः–पुनः उसी का अभ्यास करना, सो दूसरे प्रकार का देखना है; इस प्रकार का देखना अप्रमत्तदशा में होता है। जहाँ तक उस प्रकार के अभ्यास से केवलज्ञान उत्पन्न न हो, वहाँ तक ऐसा अभ्यास निरन्तर रहता है। यह, देखने का दूसरा प्रकार हुआ। यहाँ तक तो पूर्ण ज्ञान का शुद्धनय के आश्रय से परोक्ष देखना है। और (३) जब केवलज्ञान उत्पन्न होता है, तब साक्षात् देखना है, सो यह तीसरे प्रकार का देखना है। उस स्थिति में ज्ञान सर्व विभावों से रहित होता हुआ सबका ज्ञाता–दृष्टा है, इसलिए यह तीसरे प्रकार का देखना पूर्ण ज्ञान का प्रत्यक्ष देखना है।

गाथा- ३९०-४०४ पर प्रवचन

भाई ! गाथा बोलो ।

सत्थं णाणं ण हवदि जम्हा सत्थं ण याणदे किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा बेंति ।।३९०।।
सद्दो णाणं ण हवदि जम्हा सद्दो ण याणदे किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सद्दं जिणा बेंति ।।३९१।।
रूवं णाणं ण हवदि जम्हा रूवं ण याणदे किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं रूवं जिणा बेंति ।।३९२।।
वण्णो णाणं ण हवदि जम्हा वण्णो ण याणदे किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं वण्णं जिणा बेंति ।।३९३।।
गंधो णाणं ण हवदि जम्हा गंधो ण याणदे किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं गंधं जिणा बेंति ।।३९४।।
ण रसो दु हवदि णाणं जम्हा दु रसो ण याणदे किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं रसं च अण्णं जिणा बेंति ।।३९५।।
फासो ण हवदि णाणं जम्हा फासो ण याणदे किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं फासं जिणा बेंति ।।३९६।।
कम्मं णाणं ण हवदि जम्हा कम्मं ण याणदे किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं कम्मं जिणा बेंति ।।३९७।।
धम्मो णाणं ण हवदि जम्हा धम्मो ण याणदे किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं धम्मं जिणा बेंति ।।३९८।।
णाण-मधम्मो ण हवदि जम्हाधम्मो ण याणदे किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्ण-मधम्मं जिणा बेंति ।।३९९।।
कालो णाणं ण हवदि जम्हा कालो ण याणदे किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं कालं जिणा बेंति ।।४००।।

आयासं पि ण णाणं जम्हायासं ण याणदे किंचि।
तम्हायासं अण्णं अण्णं णाणं जिणा बेंति।।४०१।।
णज्झवसाणं णाणं अज्झवसाणं अचेदणं जम्हा।
तम्हा अण्णं णाणं अज्झवसाणं तहा अण्णं।।४०२।।
जम्हा जाणदि णिच्चं तम्हा जीवो दु जाणगो णाणी।
णाणं च जाणयादो अव्वदिरित्तं मुणेयव्वं।।४०३।।
णाणं सम्मादिट्ठिं दु संजमं सुत्त-मंग-पुव्वगयं।
धम्माधम्मं च तहा पव्वज्जं अब्भुवंति बुहा।।४०४।।

रे! शास्त्र है नहिं ज्ञान क्योंकि शास्त्र कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु शास्त्र अन्य प्रभू कहे।।३९०।।
रे! शब्द है नहिं ज्ञान, क्योंकि शब्द कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु शब्द अन्य प्रभू कहे।।३९१।।
रे! रूप है नहिं ज्ञान, क्योंकि रूप कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु रूप अन्य प्रभू कहे।।३९२।।
रे! वर्ण है नहिं ज्ञान, क्योंकि वर्ण कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु वर्ण अन्य प्रभू कहे।।३९३।।
रे! गन्ध है नहिं ज्ञान, क्योंकि गन्ध कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु गन्ध अन्य प्रभू कहे।।३९४।।
रे! रस नहीं है ज्ञान, क्योंकि रस जु कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु अन्य रस-जिनवर कहे।।३९५।।
रे! स्पर्श है नहिं ज्ञान, क्योंकि स्पर्श कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु स्पर्श अन्य प्रभू कहे।।३९६।।
रे! कर्म है नहिं ज्ञान, क्योंकि कर्म कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु कर्म अन्य जिनवर कहे।।३९७।।
रे! धर्म नहिं है ज्ञान, क्योंकि धर्म कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु धर्म अन्य जिनवर कहे।।३९८।।

नहिं है अधर्म जु ज्ञान, क्योंकि अधर्म कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य अधर्म अन्य जिनवर कहे।।३९९।।
रे! काल है नहिं ज्ञान, क्योंकि काल कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु काल अन्य प्रभू कहे।।४००।।
आकाश है नहिं ज्ञान, क्योंकि आकाश कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से आकाश अन्य रु ज्ञान अन्य प्रभू कहे।।४०१।।
रे! ज्ञान अध्यवसान नहिं, क्योंकि अचेतन रूप है।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु अन्य अध्यवसान है।।४०२।।
रे! सर्वदा जाने हि इससे जीव ज्ञायक ज्ञानि है।
अरु ज्ञान है ज्ञायक से अव्यतिरिक्त यों ज्ञातव्य है।।४०३।
सम्यक्त्व, अरु संयम, तथा पूर्वांगगत सब सूत्र जो।
धर्माधरम, दीक्षा सबहि, बुध पुरुष माने ज्ञान को।।४०४।।

आहाहा! एक साथ बहुत गाथायें हैं।

टीका – श्रुत (अर्थात् वचनात्मक द्रव्यश्रुत)... यह वचनात्मक द्रव्यश्रुत। आहाहा! वह **ज्ञान नहीं है,...** यह वाणी ज्ञान नहीं है। आहाहा! क्योंकि यह वाणी **अचेतन है;** (आहाहा!) **इसलिए ज्ञान के और श्रुत के व्यतिरेक (अर्थात् भिन्नता) है।** आहाहा! किंचित् भी एक नहीं है। वाणी और ज्ञान किंचित् भी एक नहीं है। कथंचित् एक नहीं और कथंचित् एक, ऐसा नहीं है। कुछ नहीं, ऐसा आया न? दूसरे में आया। आहाहा!

शब्द ज्ञान नहीं है,... पहले शब्द द्रव्यश्रुत लिया। (यहाँ) अकेले शब्द बोलते हैं, वह शब्द ज्ञान नहीं है। **क्योंकि शब्द (पुद्गलद्रव्य की पर्याय है), अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और शब्द के व्यतिरेक (अर्थात् भेद) है।** अत्यन्त भेद है। आहाहा! छूते नहीं, ज्ञान को शब्द स्पर्श नहीं करते। यह शब्द आता है, वह कान को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! और अन्दर जो ज्ञान की पर्याय होती है, वह शब्द से नहीं होती, सुनने से नहीं होती। आहाहा!

मुमुक्षु : शब्दब्रह्म परब्रह्म का संकेत करता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ नहीं करता, कुछ सम्बन्ध नहीं। बताते हैं, वह तो निमित्त है। निमित्त है अर्थात् कुछ वस्तु नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : वाचक-वाच्य का सम्बन्ध है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वाचक-वाच्य का सम्बन्ध है परन्तु भिन्न-भिन्न चीज़ है। वाचक भिन्न है, वाच्य भिन्न है। वाचक को वाच्य स्पर्श नहीं करता और वाच्य वाचक को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! यहाँ कहा न? यह तो हिन्दी है, इसलिए बहु शब्द नहीं हैं। कुछ नहीं, कुछ नहीं, (ऐसा आता है)। एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, छूते नहीं, स्पर्शते नहीं। आहाहा! गजब बात है।

शब्द से (ज्ञान) भिन्न है। शब्द में दो बातें लीं। एक द्रव्यश्रुत—शास्त्र लिया, एक (साधारण) शब्द लिया। वह शास्त्र कुछ नहीं जानता। शास्त्र के शब्द हैं न? **श्रुत ज्ञान नहीं है, क्योंकि श्रुत अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और श्रुत के व्यतिरेक (अर्थात् भिन्नता) है।** अत्यन्त भिन्नता है। आहाहा! द्रव्यश्रुत और ज्ञान। आत्मा के ज्ञानगुण की पर्याय और यह द्रव्यश्रुत जड़ की पर्याय, दोनों छूते नहीं, दोनों स्पर्श नहीं करते। एक पर्याय दूसरी पर्याय में प्रवेश नहीं करती। आहाहा! ऐसी बात है। **शब्द ज्ञान नहीं है, क्योंकि शब्द (पुद्गलद्रव्य की पर्याय है), अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और शब्द के व्यतिरेक (अर्थात् भेद) है।**

रूप ज्ञान नहीं है,... कहो, इस शरीर का जो रूप है या कोई भी वर्ण, गन्धवाली चीज़ है, वर्णवाली चीज़ रंग है, उसे और ज्ञान को कुछ सम्बन्ध नहीं है। रंग को जाने। वह ज्ञेय है और यह ज्ञान है, परन्तु जानता है, वह भी अपनी ज्ञान की पर्याय को जानता है। आहाहा! शब्द को नहीं। समझ में आया? रूप को नहीं। रूप को जानता है। ज्ञान है, वह ज्ञेयरूप से जानता है, इतना व्यवहार यहाँ सिद्ध करना है। रूप कुछ जानता नहीं। शब्दश्रुत का एक अक्षर कुछ जानता नहीं। आहाहा! इन पुस्तकों की बड़ी अलमारियाँ भरी हों, वे कुछ नहीं जानती। आहाहा! मानो शास्त्र में से ज्ञान आता होगा। सुनते हुए इसे ऐसा हो जाता है। सुनने से उसमें से ज्ञान आता है, (ऐसा लगता है)। ज्ञान कहाँ से आता है? प्रभु! ज्ञान तो जिसमें हो, उसमें से आता है या (न हो उसमें से आता है)? शब्द में ज्ञान है? शब्द में ज्ञान है तो ज्ञान हाँ से आवे? ज्ञान तो यहाँ है, यहाँ से ज्ञान आता है। आहाहा!

मुमुक्षु : आप उपदेश देते हो और हम सुनते हैं और हमें ज्ञान होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब व्यवहार की बातें। यह सब व्यवहार के कथन हैं। उसका ज्ञान होता है, जैसे शब्द आते हैं, वैसा ज्ञान होता है, उस ज्ञान को शब्द स्पर्श नहीं करते, ज्ञान शब्द को स्पर्श नहीं करता, किंचित् स्पर्श नहीं करता, जरा भी स्पर्श नहीं करता। आहाहा! गजब बात है।

रस... रस। रस है न? वर्ण आया। वर्ण... वर्ण। **वर्ण ज्ञान नहीं है,...** रंग ज्ञान नहीं है। **क्योंकि वर्ण (रंग) (पुद्‌गलद्रव्य का गुण है,) अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और वर्ण के (रंग के) व्यतिरेक है...** अत्यन्त भिन्न है। आहाहा!

मुमुक्षु : सोलह भगवान कंचन वर्ण थे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह व्यवहार से कहा है। भगवान स्वर्ण के वर्ण के हैं, ऐसा है ही नहीं। भगवान तो अपने वर्ण में अवर्ण थे। यह तो दुनिया को बताते हैं। व्यवहारप्रधान कथन बहुत आते हैं परन्तु उनका अर्थ ऐसा करे तो ऐसा है नहीं। आहाहा! सोलह तीर्थंकर स्वर्ण वर्ण के हैं। तीर्थंकर स्वर्ण वर्ण है? शरीर का वर्ण भी यह ज्ञान जानता है परन्तु उसे स्पर्श नहीं करता।

भगवान का रूप इन्द्र एक हजार नेत्र से देखता है। आता है या नहीं? भगवान का जन्म हुआ। इतना सुन्दर रूप कि एक हजार नेत्र से देखता है। तथापि नेत्र, रूप को स्पर्श नहीं करते। आहाहा! दुनिया से उल्टा। आहाहा! आत्मा अत्यन्त भिन्न है। अभव्य हो, भले मोक्ष न जाए परन्तु पर के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। वह तो अपनी योग्यता से अभव्य है। आहाहा!

गन्ध ज्ञान नहीं है,... इस फूल में गन्ध आयी, वह गन्ध सूँघे तो कहते हैं कि (उसे ज्ञान स्पर्श नहीं करता)।

मुमुक्षु : भावलिंगी मुनि हो, उनके शरीर में गन्ध हो तो सबको बहुत सुन्दर लगे।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल है। निश्चय से उसे देखता ही नहीं। आहाहा! ज्ञान पररूप को निश्चय से देखता ही नहीं; स्पर्श तो कहाँ से करे? आहाहा! व्यवहार से कहने में आता है कि उसे जानता है। बाकी तो अपनी पर्याय को ही जानता है। आहाहा! इतना अन्तर है।

गन्ध। गन्ध अलग है। पुद्गल गन्ध अलग है। ज्ञान और गन्ध अलग है। **रस ज्ञान नहीं है, क्योंकि रस (पुद्गलद्रव्य का गुण है,)**... आहाहा! मैसूर का रस, मिश्री का रस, वह रस ज्ञान से भिन्न है। यह जीभ उस रस को स्पर्श नहीं करती, जीभ शक्कर को चूसती नहीं। चूसती नहीं, स्पर्श नहीं करती। आहाहा! प्रत्येक परमाणु प्रत्येक काल में अपने क्रमबद्ध परिणाम से, अपने स्वभाव से परिणमता है, दूसरे के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! **इसलिए ज्ञान के और गन्ध के व्यतिरेक है।**

स्पर्श ज्ञान नहीं है,... आहाहा! शरीर का स्पर्श दूसरा नहीं कर सकता। आहाहा! शरीर का स्पर्श दूसरा जीव करता है, ऐसा मानता है, वह झूठ है। स्पर्श और ज्ञान अत्यन्त भिन्न है। ज्ञान शब्द से (आशय है) आत्मा। आत्मा अत्यन्त भिन्न है, स्पर्श आदि भिन्न है। स्पर्श से कुछ भी छूता नहीं करता। ज्ञान कुछ भी, किंचित् भी पर को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! स्त्री के शरीर को, पुरुष का शरीर कभी छूता नहीं, कभी स्पर्श करता नहीं। आहाहा! ऐसी बात। अन्यमति तो कितने ही तो पागलपन कहे। आहाहा! प्रत्यक्ष होता है, (ऐसा) कहते हैं।

स्पर्श (पुद्गलद्रव्य का गुण है,)... भगवान तो ज्ञान है। ज्ञेय पुद्गल तो अचेतन है। **इसलिए ज्ञान के और स्पर्श के व्यतिरेक है।** आहाहा! अधिक तो पहले श्रुत का डाला। द्रव्यश्रुत को ज्ञान स्पर्श नहीं करता। आहाहा! और द्रव्यश्रुत में तो बातें... कहते हैं कि उसे स्पर्श नहीं करता। आहाहा! सुनने से ज्ञान होता है। बालक हो तो सुनने से खबर पड़ती है न? पहले तो खबर न हो। फिर यह माँ है, पिता है, यह सुनते-सुनते उसे ज्ञान होता है न? उसका ज्ञान खिले, तब ख्याल आता है, उसे (सुनने के) कारण नहीं। पहले बालक को खबर नहीं कि यह मेरी माँ है या यह मेरा पिता है। बाद में बड़ा हो, (तब कहे कि) यह तेरी माँ है, ऐसा बोल। फिर अभी मम्मी कहते हैं। 'बा' शब्द तो पुरानी भाषा है। मम्मी इसका शब्द है न? प और म सब होंठ से बोला जाता है, बा यह कण्ठ का (शब्द) है। बा... इतना कहना पड़े। फिर कहे कि यह मेरी मम्मी है। मम्मी। परन्तु मम्मी तेरी है नहीं। पिता को पप्पा कहे। होंठ से बोलने की (पद्धति है)। उसे पप्पा कहे, पप्पा-बप्पा है नहीं। ऐसी बात है।

मुमुक्षु : एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ सम्बन्ध नहीं है। तत्त्व है या नहीं? है तो स्व से है, पर से नहीं। वास्तव में तो एक परमाणु में अनन्त द्रव्य की नास्ति का नास्ति धर्म है, परन्तु वह नास्ति का धर्म अन्दर अस्तिरूप है। आहाहा! पर का अभाव स्वभाव है, परन्तु अपने में तो वह भाव स्वभाव से है। आहाहा! एक परमाणु दूसरे परमाणु को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! यह बात जगत को कठिन पड़ती है। समय हुआ...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४४३, गाथा-३९० से ४०४ शुक्रवार, आषाढ़ शुक्ल १३
दिनांक - २५-०७-१९८०

समयसार। अन्य द्रव्य से भिन्न तो कहते आये हैं। अब नाम कहते हैं। वैसे तो तीसरी गाथा में पहले आ गया कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। ओहोहो! मिश्री की डली है, उसमें रजकण भिन्न किस प्रकार रहते होंगे? उसमें भिन्न ही है। एक जगह, वह भी उनकी जगह में नहीं, क्षेत्र भी भिन्न है। उस शक्कर के परमाणु जो हैं, उनका द्रव्य भी वहाँ भिन्न है, क्षेत्र भिन्न है, काल भिन्न है, भाव भिन्न है। आहाहा! एक शक्कर की डली में मानो एकमेक हो गये हों, तथापि एक रजकण दूसरे रजकण को कभी छूते नहीं, स्पर्श नहीं करते। आहाहा! यहाँ अपने आ गया है, श्रुत अपने फिर से लेते हैं।

श्रुत... श्रुत। वचनामृत वीतराग की वाणी द्रव्यश्रुत, वह ज्ञान नहीं है तथा उससे ज्ञान नहीं होता। उसमें ज्ञान नहीं तो उससे ज्ञान हो किस प्रकार? आहाहा! द्रव्यश्रुत वीतराग की वाणी। इसलिए शब्दों को और द्रव्यश्रुत को भिन्न किया है। साधारण जो शब्द हैं, वे द्रव्यश्रुत में नहीं मिलते। द्रव्यश्रुत जो वीतराग की वाणी... आहाहा! वाणी का भी एक-एक अक्षर अनन्त परमाणु से है, वह प्रत्येक परमाणु भिन्न-भिन्न अपना काम करता है। यह बात...

यह शब्द है, वह अनन्त परमाणु का पिण्ड है। एक परमाणु दूसरे परमाणु को स्पर्श नहीं करता। पहले श्रुत लिया है। पहले सीधे श्रुत लिया है। दूसरी बात छोड़कर पहले श्रुत लिया है। कोई ऐसा जाने की यह भगवान की वाणी सुने और वाणी के कारण ज्ञान हो, तो पहले श्रुत लिया है। आहाहा! बारह अंग की वाणी, चौदह पूर्व की (वाणी), वह वाणी वाणी की पर्याय से परिणमती है। वह श्रुत, ज्ञान नहीं है। वह श्रुत—द्रव्यश्रुत जो है, वचनामृत-वचनामृत, जो वचनस्वरूप है, वह जड़ है। वह ज्ञान नहीं है। क्योंकि श्रुत अचेतन है। आहाहा! वाणी श्रुत, पृष्ठ उसे चाहे जितना बहुमान दो... वे लोग तारणस्वामी में मूर्ति नहीं, इसलिए शास्त्र को बहुत मान देते हैं। चैत्यवन्दन। परन्तु वह शब्द है, द्रव्यश्रुत तो शब्द है। आहाहा!

मुमुक्षु : उसे शब्दब्रह्म की उपमा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : चाहे जिसकी उपमा हो, है अचेतन। इसलिए पहला बोल

लिया। एकदम कठिन पड़े। वाणी, वह वाणी तो दूसरे श्लोक में आ गया। निमित्त से वाणी है तो वीतराग की, जड़, परन्तु व्यवहार से वह वन्दन के योग्य है, व्यवहार से वह पूज्य है। पूज्य भी व्यवहार से। आहाहा! वीतराग की वाणी, वह भी ज्ञान नहीं। क्योंकि श्रुत अचेतन है। वह तो अचेतन जड़ है। आहाहा! उस जड़ के कारण ज्ञान को और श्रुत को व्यतिरेक है। ज्ञान और श्रुत दोनों अत्यन्त भिन्न हैं। आहाहा! गजब बात! वीतराग की बात समझना। सत्य बात मिथ्या नहीं हो सकती।

अब यहाँ सुनते हैं। घर बैठे यह नहीं था, यहाँ बैठकर यह ज्ञान होता है। दुकान में बैठे थे, तब यह था? यह नया (ज्ञान) होता है। तब यह शब्द से होता है या नहीं? शब्द कान में पड़े, तब जो शब्द में कहना है, वैसा ज्ञान वहाँ होता है। आहाहा! देव अरिहन्त हैं, ऐसा बोले। देव अरिहन्त हैं, ऐसा यहाँ ज्ञान हुआ। आहाहा! देव अरिहन्त हैं, यह द्रव्यश्रुत है, वह कहीं ज्ञान नहीं है। अरिहन्त द्रव्य है, वह ज्ञान नहीं है। आहाहा! उनका ज्ञान है, (वह) उनमें रहा। दूसरे को ज्ञान करावे, ऐसी वह चीज़ नहीं है। आहाहा! यह तो बात, गजब बात है।

द्रव्यश्रुत वचनात्मक है। वचनात्मक। श्रुत, ज्ञान नहीं है। आहाहा! क्योंकि श्रुत अचेतन है। आहाहा! मुनि बेधड़क कहते हैं। बनाते हैं, जिज्ञासु जीवों के लिये बनाते हैं, तथापि कहते हैं, पहला-पहला यह बोल लिया है। ऐसे १३ बोल हैं। तेरह में पहला यह लिया है। तू स्वतन्त्र है, प्रभु! तेरे ज्ञान के लिये शब्द के निमित्त की अपेक्षा नहीं है। आहाहा! तेरे ज्ञान को प्रगट करने के लिये शब्द की निमित्त की अपेक्षा नहीं है। निमित्त से होता नहीं। घर में बैठे यह (ज्ञान) कहाँ था? यहाँ इस शब्द का ज्ञान होता है तो शब्द से होता है या नहीं?

मुमुक्षु : प्रभु की वाणी को वागेश्वरी कहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वागेश्वरी न? परन्तु वागेश्वरी का अर्थ क्या? वाक् ईश्वर। वाघेश्वरी नहीं, वाघेश्वरी नहीं। वाकेश्वरी... वागेश्वरी। वाणी की ईश्वरता... आहाहा! शब्द में भी अन्तर है। सब विचार पहले आ गये हैं। लोग वाघेश्वरी... वाघेश्वरी कहते हैं। इसलिए वह सरस्वती वाघ के ऊपर बैठती है न? इसलिए वे ऐसा कहते हैं कि वाघेश्वरी वाणी। वह वाघेश्वरी नहीं। वाकेश्वरी। जगत की वाणी में उसकी ईश्वरता—महत्ता है।

आहाहा! जगत के जितने श्रुत हैं, उन सब श्रुत में वीतराग की वाणी मुख्य है, तथापि वह अचेतन है। और वह अचेतन दूसरे के कान में पड़े और वहाँ अचेतन से ज्ञान उपजे, ऐसा नहीं है। आहाहा!

एक ओर कहते हैं कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। तो फिर यह वाणी उसे स्पर्श करती है, ऐसा कहो तो वह मिथ्या पड़ा। वाणी इसे स्पर्श नहीं करती। आहाहा! सुननेवाले को सुनने के काल में जो ज्ञान की पर्याय होती है, वह स्वतन्त्र होती है, वह गुण के कारण होती है, उसमें गुण है, उसमें से होती है; वाणी से नहीं होती। ओहोहो! वाणी और पुस्तक को फिर शृंगारित करना और उसे रंग देना... यह सब व्यवहार की बातें हैं। आहाहा! रंग तो यहाँ अन्दर देना है। ज्ञान को ज्ञान का रंग चढ़ाना है। आहाहा! वह पर से नहीं। सुनने से हुआ, ऐसा भी नहीं। आहाहा! आचार्यों को कुछ पड़ी है ? कि ऐसा कहेंगे तो उपकार नहीं मानेंगे। ऐसा कहेंगे तो, मुझसे समझ में आयेगा—ऐसा उपकार नहीं मानेंगे। इस बात की दरकार नहीं है। बहुत होशियार होता है कि मैंने तुमको ऐसा कहा था न ? मैंने तुम्हें समझाया था न ? मुझसे समझा न ? मेरा उपकार मान। आहाहा! यह सब भ्रमणा है। आहाहा!

मुमुक्षु : देशनालब्धि, वह भ्रमणा ?

पूज्य गुरुदेवश्री : देशनालब्धि जड़ है। देशनालब्धि से यहाँ ज्ञान नहीं होता। देशनालब्धि से जो कुछ ज्ञान होता है, उस काल में भी स्वयं से होता है, देशनालब्धि से नहीं। और वह भी ज्ञान जो होता है, उस ज्ञान से समकित होता नहीं। क्या कहा ? देशनालब्धि जो कान में पड़े, उसमें जो ज्ञान होता है, उस ज्ञान के कारण समकित नहीं होता। आहाहा! और वह ज्ञान शब्द के कारण हुआ नहीं। आहाहा! वीतराग का मार्ग... उन्हें कुछ पड़ी है कि हम तुम्हे यह समझाते हैं, इसलिए उपकार मानना। बात करे। वह तो उपकार में बोले। उसमें आ गया न ? उपकार नहीं भूले। क्योंकि मोक्ष का कारण शब्दज्ञान है—सुबोध ज्ञान। ज्ञान। ज्ञान का कारण शास्त्र। शास्त्र का कारण आप्तपुरुष—धर्मात्मा पुरुष। आहाहा! इसलिए उनका उपकार नहीं भूले। ऐसी भी वाणी आवे परन्तु वह सब व्यवहार है। आहाहा! है, व्यवहार नहीं—ऐसा नहीं। जो स्वयं से समझता है, उसमें वह निमित्त है, उसका उपकार माने परन्तु वह सब व्यवहार है। आहाहा! वीतराग की वाणी...

एक ओर बड़े मन्दिर बनवाना और कहे कि मन्दिर के कारण ज्ञान नहीं होता। आहाहा!

मुमुक्षु : शास्त्र छपवाना और (कहे कि) इनसे ज्ञान नहीं होता।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं होता। कौन छपावे? ऐसी बात है। वाणी में बहुत गम्भीरता है, वाणी में गूढ़ता भरी है।

वचनात्मक श्रुतज्ञान नहीं। वचनस्वरूप है, उसमें ज्ञान कहाँ आया? आहाहा! इसलिए वह श्रुत अचेतन है। इसलिए ज्ञान को और श्रुत को व्यतिरेक—भिन्नता है। भिन्नता कही। द्रव्यश्रुत कान में पड़ता है और यहाँ ज्ञान की पर्याय होती है, उस पर्याय को और द्रव्यश्रुत को भिन्नता है। भले वह ज्ञान स्वसन्मुख ढले बिना सम्यक् न हो। आहाहा! सुना हुआ ज्ञान, वह अभी पराश्रय है। वह व्यवहार ज्ञान है, परमार्थ नहीं, परन्तु उस ज्ञान में यह वाणी है, वह निमित्त कही जाती है। वाणी से ज्ञान होता है, (ऐसा कहा जाता है)। आहाहा! जगत से पूरा उल्टा है। आहाहा!

कहीं कान में पड़े बिना इसे खबर भी क्या पड़े? कि यह आत्मा, यह ज्ञान, यह आनन्द। यह सब बातें व्यवहार है। आहाहा! वीतराग की दिव्यध्वनि। 'ॐकार ध्वनि सुनि अर्थ गणधर विचारे, ॐकार ध्वनि सुनि अर्थ गणधर विचारे, रचि आगम उपदेश भविक जीव संशय निवारे'

श्रोता : वह स्वयं से ही निवारे।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! स्वयं से ही निवारे। आहाहा! अरे रे! ऐसी बातें कठिन बहुत, बापू! निश्चय और व्यवहार के झगड़े, झगड़े बड़े। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं व्यतिरेक—अत्यन्त भिन्न। यह ज्ञान और वचनात्मक द्रव्यश्रुत अत्यन्त भिन्न है। भिन्न, भिन्न को स्पर्श नहीं करता और भिन्न, भिन्न का कुछ करे, यह बात तीन काल में नहीं होती। आहाहा! उसी प्रकार शब्द। यह तो पहले वाणी ली। पश्चात् यह सब शब्द। ये दूसरे बोल बोले न? यहाँ आओ, भाई! यहाँ आओ। इसे इतना ज्ञान हुआ न? यहाँ आओ, उस ओर जाओ, आगे जाओ, यहाँ बिछाओ। यह शब्द हुए, उनका इसे ज्ञान हुआ न? वह कहीं द्रव्यश्रुत नहीं, वह कहीं द्रव्यश्रुत नहीं। आहाहा! अमुक को बुलाओ, भाई! वह समझा, अमुक को बुलाओ, ऐसा समझा परन्तु बुलाओ की भाषा से वह समझा

है, ऐसा नहीं है। आहाहा! भगवान की वाणी, यह भगवान साक्षात् प्रतिमा है, उन्हें देखकर उनका ज्ञान होता है, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! इससे कहीं कोई मूर्ति और मन्दिर उड़ा दे, ऐसा भी नहीं है। वह मूर्ति होती है, प्रतिमा होती है, मूर्ति होती है, व्यवहार होता है। आहाहा!

वास्तव में तो अनादि काल से अनन्त तीर्थंकर होते आये हैं और असंख्य प्रतिमायें स्वर्ग में हैं, अनादि की असंख्य प्रतिमायें स्वर्ग में हैं। बाकी बावन जिनालय। अष्टाह्निका चलती है न? १०८-१०८ प्रतिमा एक-एक मन्दिर में। शाश्वत् रत्न की (प्रतिमा)! और ऐसे देखो तो अभी बोलेगी, ऐसा लगता है। ऐसी प्रतिमायें। परन्तु उस प्रतिमा को देखने से जो ज्ञान हुआ, वह प्रतिमा के कारण नहीं। आहाहा! इतना बड़ा अन्तर।

मुमुक्षु : निमित्त के ऊपर का लक्ष्य उठा देने की बात है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : अपने में ही आने की, यहाँ एक ही बात है। निमित्त का ज्ञान करनेयोग्य है। निमित्त नहीं, ऐसा नहीं। ज्ञान करनेयोग्य है। दूसरी चीज़ है, ऐसा ज्ञान करनेयोग्य है परन्तु दूसरी चीज़ के कारण यहाँ कुछ भी छुआ, स्पर्शा, कुछ हुआ, यह बात जरा भी नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

वास्तव में तारणस्वामीवालों को जिनप्रतिमा, मन्दिर नहीं तो न्याय से विरुद्ध है। यहाँ तो वास्तव में कहे (तो) अकेली पुस्तकें माने। जैन मूर्ति, जिन मन्दिर, जैन प्रतिमा, वह बिल्कुल नहीं, (ऐसा माने तो वह) जैन मार्ग नहीं। तथा उनसे होता है, (ऐसा माने वह) जैन मार्ग नहीं। आहाहा! यहाँ कुछ पन्थ नहीं, यहाँ कुछ पक्ष नहीं, यह तो वस्तु का जैसा स्वरूप है, वैसा भगवान ने जाना, वैसा वर्णन किया है। आहाहा!

दुनिया के शब्द, उस समय 'आम' ऐसा शब्द (कान में) पड़ा तो सामनेवाले को आम का ज्ञान हुआ। तो आम का हुआ या गाँव का हुआ? तो आम के शब्द से हुआ या किससे हुआ? आहाहा! जिसमें हो, उसमें से आवे। तो ज्ञान ज्ञान में है, वहाँ से आवे। वह ज्ञान कहीं शब्द में नहीं है कि वहाँ से आवे। आहाहा! ऐसा सब समझना। समझे बिना ऊपर-ऊपर से पड़े हो। मूर्तिवाले (ऐसा माने कि) मानो मूर्ति से कल्याण हो जाएगा। मूर्ति उत्थापित कर दी। स्थानकवासी ने (मूर्ति) उत्थापित कर दी। तारणस्वामी ने मन्दिर रखा ही नहीं। न्याय से विरुद्ध है। मन्दिर नहीं, वह न्याय से विरुद्ध है। मन्दिर से धर्म होता है, यह न्याय से विरुद्ध है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

अकेले सूत्र को मानना और तीर्थंकर की प्रतिमा और तीर्थंकर का मन्दिर नहीं मानना, वह वस्तु के धर्म का पन्थ ही नहीं है, वह जैन पन्थ ही नहीं है। आहाहा! कौन किसे कहे? कहे तो उसे जँचे किस प्रकार? कितने ही वर्ष से मूर्ति बिना चलाते आये हों। मूर्ति होती है, शाश्वत् प्रतिमायें हैं। वे ऊपर स्वर्ग में हैं। ऐसे तिरछे आकार से नन्दीश्वर द्वीप में हैं। आहाहा! अधोलोक में हैं। भवनपति, व्यन्तर आदि में है। तथा मनुष्य का अमुक भाग ऐसे अधोलोक में चला गया है। क्या कहलाता है वह? आठ-आठ बोल का आवे न? आठ-आठ क्षेत्र। महाविदेह। आठ ऐसे, आठ ऐसे। नाम भूल गये। वह आठ, एक आठ, भरतक्षेत्र में एक आठ। प्रत्येक में तीर्थंकर हैं न, विजय, लो विजयगिरी। यह भूल गये थे। शास्त्र के शब्द याद आवे। उस विजय में भरत का एक भाग ऐसे (नीचे) नीचे अधो में चला गया है। वहाँ भी प्रतिमा है, वहाँ भी मोक्ष जाते हैं, केवल (ज्ञान) पाकर मोक्ष जाते हैं। अधो अर्थात् कहीं वह नरक नहीं है, क्षेत्र का अंश है। आहाहा! एक विजय, ऐसे सहज अनादि से गहरी उतर गयी है। आहाहा!

मुमुक्षु : विद्याधरों की श्रेणी कहलाती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : विद्याधर की नहीं। मनुष्य की सबके साथ की कहलाती है। विद्याधर की नहीं। वह तो यह जैसा है, सब है, वैसा वह है। मात्र ऐसे नीचे चली गयी है इतना। विद्याधर की नहीं। जैसे यह मनुष्य हैं, वैसे वे हैं, उसमें कुछ अन्तर नहीं है। मात्र वह जमीन सहज नीचे ऐसे चली गयी है, इतना कहना है। इतना कहा, इसलिए उसमें से कुछ नवीनता निकलती है कि नवीन प्रकार के लोग वहाँ हैं, ऐसा कुछ नहीं। आहाहा! यह तो जैसे यहाँ लोग हैं, वैसे वहाँ हैं। यहाँ तो दूसरा कहना था कि अधोलोक में जो नीचे चला गया है, वहाँ भी केवली होते हैं, मुनि हैं, साधु हैं। आहाहा! यह क्षेत्र है। यह जैसे सीधा है, ऐसा वह है। उसके ऊपर कुछ ढक्कन है, ऐसा कुछ नहीं। उसी प्रकार वहाँ नरक की स्थिति नजदीक में आ गयी, ऐसा भी नहीं। आहाहा! ऐसी बातें।

यहाँ तो कहना है कि वहाँ होवे तो भी उस जमीन को उसका शरीर स्पर्श नहीं करता। आहाहा! कि ऊँचे मेरुपर्वत पर मुनि ध्यान करने जाते हैं। है न वन? कैसा? नन्दन। नन्दन वन में मुनि ध्यान करने जाते हैं। उस क्षेत्र को छूता ही नहीं, वन को छूता ही नहीं। आहाहा! वीतराग की एक-एक बात अलौकिक है। लोगों ने वर्तमान में उसे लौकिकरूप

दे दिया है। यह तो अलौकिक बातें! तीन लोक के नाथ तीर्थंकर! आहाहा! एक आत्मा तीन काल को जाने और उसमें फिर तीर्थंकर। अर्थात् पुण्य में पूरे। तीन काल को जाने, ऐसे तो केवली भी होते हैं, तथापि इतना पुण्य नहीं होता। तीर्थंकर तो पुण्य में भी पूरे, उनका शरीर, उनकी वाणी, उनका दिखाव। आहाहा! तथापि उससे दूसरे को लाभ होता है, ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। आहाहा! व्यवहारनय है न? उस नय से कथन से कहा जाता है। बाकी उससे होता है, (ऐसा नहीं है)। एक-दूसरे में अत्यन्त अभाव है। आहाहा! इसमें विवाद (करे)। एक कहे कि मूर्ति होती है और एक कहे कि नहीं होती। ऐसा विवाद (करे)। अरे! प्रभु! प्रभु का विरह पड़ा और ऐसे सब विवाद चले। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, वस्तु होती है। असंख्य प्रतिमायें अनादि की हैं। तीन काल में तीन काल की प्रतिमाओं का विरह नहीं होता, तीन काल में तीन काल को जाननेवाले का विरह नहीं होता। आहाहा! यह तो सब वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि द्रव्यश्रुत का शब्द... आहाहा! भगवान के पास बैठकर गणधर सुनते हैं, इसलिए उस शब्द से वहाँ उन्हें ज्ञान होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी बात। वीतराग की बात कहीं सूक्ष्म नहीं? बापू! आहाहा! और शब्द। भगवान की, मुनि की वाणी तो सूत्र कहलाता है और यह साधारण शब्द एक-दूसरे बोले। उन शब्द से सामनेवाले को ज्ञान नहीं होता। ऐ... बेन! पानी लाना। यह पानी लाना, ऐसा कहा; इसलिए इससे उसे पानी लाने का ज्ञान हुआ, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! गजब बातें हैं। यह थोड़ा सा फिर से लिया।

मुमुक्षु : बहरा हो तो उल्टा समझे?

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! एक-एक द्रव्य की एक-एक समय की पर्याय स्वयं से होती है, इतना सिद्ध करे तो उसे पर के ऊपर का लक्ष्य छूट जाए। भले लक्ष्य हो, सुने, पढ़े, सब करे, उससे ज्ञान हो, ऐसा भी कहने में आवे। आहाहा! परन्तु वह सब व्यवहार से कहने में आता है। आहाहा! इसका भी विवाद उठता है। यह शास्त्र में से लिखा है कि आगम पढ़े तो उसे ज्ञान होता है। यहाँ इनकार करते हैं। एक सिद्धान्त रखकर वापस दूसरी जगह मिथ्या सिद्ध करे?

शब्द ज्ञान नहीं है, क्योंकि शब्द (पुद्गलद्रव्य की पर्याय है),... यह शब्द

है, वह तो पुद्गल जड़ की पर्याय है और उस पर्यायरहित पुद्गल होता नहीं। और सामने भी सुननेवाला (भी) पर्याय बिना का द्रव्य होता नहीं। उसके ज्ञान की पर्याय बिना का वह द्रव्य वहाँ होता नहीं। उसका होता नहीं तो शब्द ने वहाँ ज्ञान किस प्रकार कराया? आहाहा! ऐसी बातें हैं। (लोग) साधारण (बात में) विवाद करते हैं। अरे! प्रभु! यह तो मुक्ति का मार्ग, आहाहा! भवरहित होने का मार्ग है। भाई! प्रभु का मार्ग भवरहित होने का है। उसमें यह विवाद और झगड़ा और यह खोटा और यह सच्चा... प्रभु! यह शोभा नहीं देता। आहाहा! ऐसी बात सुने और यदि समझे... आहाहा! बेड़ा पार हो जाए। आहाहा! अलौकिक बात है, बापू! परमात्मा का विरह पड़ा। आहाहा! भगवान वहाँ रह गये। हम साथ में थे, वहाँ से यहाँ आये। आहाहा! तथापि किसी से किसी को कुछ लाभ हो, (ऐसा है नहीं)। आहाहा! गजब बात है।

मुमुक्षु : गरीब को साहूकार से लाभ होता है न!

पूज्य गुरुदेवश्री : जरा भी लाभ नहीं होता। साहूकार कौन? साहूकार था ही कौन? आत्मा है, वहाँ साहूकार कहाँ से आया?

मुमुक्षु : आत्मा तो तीनों काल ज्ञान का साहूकार ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो ज्ञान का साहूकार है, पैसे का साहूकार कहाँ है? आहाहा!

मुमुक्षु : पैसे का साहूकार ज्ञान को तो जाने न?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल को भी जानता नहीं। एक न्याय से तो ज्ञान ज्ञान को जानता है। आहाहा! चौदह ब्रह्माण्ड के अन्दर अनन्त भगवान सब विराजते हैं। यह भगवान भगवान को जानता है। आहाहा! ऐसी बात सुनना मुश्किल पड़े। वस्तु की स्थिति तो यह है। इसमें एकान्त हो जाएगा और यह सम्प्रदाय चलेगा नहीं तो फिर... यह रहने दे। बापू! जिस समय में, जिसकी जिस रीति से जिस क्षेत्र में, काल में भाव में पर्याय होनेवाली है, वह वहाँ होगी ही। आहाहा! कल शीघ्रता से लिया था। श्रुत का बहुत विस्तार नहीं किया था। श्रुत और शब्द का आज अधिक (स्पष्टीकरण) हुआ।

शब्द ज्ञान नहीं है। फिर रूप पुद्गलद्रव्य का गुण है। रूप और रंग / वर्ण दोनों अलग जाति ली है। क्या कहा यह? वर्ण अलग है, रूप अलग है। रूप में वर्ण, गन्ध, रस

सब आ जाता है और वर्ण में एक रंग ही आता है। इसलिए दो बोल कहेंगे। आता है। देखो! क्या कहा?

रूप (पुद्गलद्रव्य का गुण है), अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और रूप के व्यतिरेक है... ज्ञान की और रूप की भिन्नता है। आहाहा! यह शरीर की सुन्दरता और रूपवानपना हो, उसे देखता है, वह उसे (नहीं देखता), वास्तव में तो इसकी ज्ञान की पर्याय को देखता है। परन्तु भ्रमणा ऐसी होती है कि मानो यह सब दिखता है। आहाहा! यहाँ तो समेटने की बात है। साक्षात् तीर्थंकर हो तो वहाँ से समेटकर अन्दर में जाना है। आहाहा! स्वयं भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ऐसा कहते हैं, **'परदव्वादो दुग्गई'**। हम तुझसे भिन्न हैं। हमारे प्रति तेरा लक्ष्य जाएगा तो तेरी दुर्गति होगी। दुर्गति (अर्थात्) चेतन से विरुद्ध भले शुभराग है, परन्तु वह कहीं चेतन का भाव नहीं है। आहाहा! यह तो सन्त यह वाणी करे, यह जगत को प्रसिद्ध करते हैं। जगत सुगठित रहे या नहीं, (इसकी) सन्तों को कुछ गरज नहीं है। आहाहा!

यह वर्ण और रूप भिन्न है। कहा न? **इसलिए ज्ञान के और रूप के व्यतिरेक है...** अब वर्ण आया। रूप से वर्ण अलग किया। नहीं तो वर्ण, वह रूप है परन्तु रूप में वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श चारों इकट्ठे आ जाते हैं और वर्ण में एक वर्ण अलग पड़ता है। रूप और वर्ण दोनों में अन्तर है। दो आये। दो हैं, देखो! रूप अर्थात् वर्ण, गन्ध। आहाहा! पूरा रूप, सब। वह रूप जड़ है, उस रूप को ज्ञान नहीं, उससे ज्ञान होता नहीं। आहाहा!

कथा में आता है न? कि भरत चक्रवर्ती ऐसे तीर्थंकर के वह ऊपर रखे थे। भूंगड़ा छुए तो याद रहे, यह भगवान, यह भगवान... ऐसा पुराण में आता है। भरत ने अपने बँगले में भगवान के वे ऊपर रखे। इसलिए अपना मुकुट छूए तो खबर पड़े। भगवान याद आवे। ऐसा आता है, कथा में आता है। आदिपुराण में है या कहीं होगा। है, सब कहीं याद रहता नहीं कि किसमें है? परन्त यह है अवश्य। पण्डितजी! भरत को प्रतिदिन याद रहे, इसलिए भगवान का रूप ऊपर बनाया। भगवान की प्रतिमा का (रूप)। उसका मुकुट छूए तो खबर पड़े, भगवान है। आहाहा! क्षायिक समकिती, उस भव में मोक्ष जानेवाला। आहाहा! वह भी ऐसा करे। करे नहीं, होता है। होता है, उसे जाने। होता है, उसे जाने, यह व्यवहार। आहाहा! गजब बात है।

रूप से वर्ण भिन्न है। है न? **वर्ण ज्ञान नहीं है, क्योंकि वर्ण (पुद्गलद्रव्य का गुण है,)...** वर्ण में रंग लेना। अकेला रंग। रूप में सब लेना। वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श। यह तो बहुत जगह आता है। आहाहा! यह वर्ण अचेतन है। काला, लाल, सफेद रंग ऐसा दिखाई दे और वैसा ही यहाँ ज्ञान हो। दोनों का समयभेद नहीं, कालभेद नहीं, तथापि दोनों में इससे यह होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! कभी ऐसा सुना नहीं। हीरा, माणिक में उलझ गया। जिसे जो धन्धा हो, उसमें घुस गया हो, हो गया। आहाहा!

रूप और रंग दोनों भिन्न हैं। रूप में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श सब आ जाता है। चारों। चारो का समुदाय, वह रूप और रंग, वह अलग है। आहाहा! रंग में काला, लाल, हरा यह। आहाहा! परन्तु यह कहते हैं कि काला, लाल, हरा देखने से उस रंग से यहाँ ज्ञान नहीं होता। आहाहा!

वीतराग की एक-एक वाणी... ओहोहो! अन्दर समाहित कर दे। अन्दर समा! चारों अनुयोगों का सार वीतरागता है। पंचास्तिकाय की १७२ गाथा। और वह वीतरागता अर्थात् अन्दर में समाना। चारों अनुयोगों का सार अन्दर में समाना है। वहाँ वीतरागमूर्ति प्रभु विराजता है। आहाहा! इसमें वाद-विवाद, झगड़ा। आहाहा! बापू! मार्ग, प्रभु का मार्ग बहुत अलग। सूक्ष्म से, बारीकी से उसकी खोज करे तो सूक्ष्म-सूक्ष्म मिले। वह मिले तो स्वयं से, उस काल में स्वयं को उस ज्ञान में से आने का काल है। आहाहा! बहुत अन्तर।

वर्ण ज्ञान नहीं है। वर्ण पुद्गलद्रव्य का गुण अचेतन है। आहाहा! रूप काला, हरा, सफेद, रूपवान यह सब अचेतन / जड़ है। आहाहा! और उसे देखकर वैसा ज्ञान हुआ, वह उससे नहीं। उसे देखकर उसका वैसा उससे नहीं परन्तु उसे देखने से वैसा ज्ञान हुआ, वह उससे नहीं। आहाहा! गजब बात है।

मुमुक्षु : समझे बिना उपकार क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : समझे स्वयं से, तब उपकार कहलाये। स्वयं जब अपने से समझे, तब निमित्त होता है, उसे व्यवहार से उपकारी (कहा जाता है)। व्यवहार है न? व्यवहार है अवश्य, व्यवहार से यहाँ होता नहीं। यह बात करे, तब वह नहीं। व्यवहार तो जगह-जगह व्यवहार है। शास्त्र वाँचन करो, शास्त्र पढ़ो, आगम अभ्यास से ज्ञान होगा। क्योंकि पहले वस्तुस्थिति अन्यमति क्या कहते हैं और वीतराग क्या कहते हैं? (समयसार)

१३वीं गाथा में (ऐसा कहे), नय, निक्षेप, प्रमाण से पहले ज्ञान करना पड़ेगा। आता है न! अरे! भगवान! घड़ीक में ऐसा कहे कि इनसे होगा तथा एक ओर ऐसा कहे कि इनसे नहीं होगा। दोनों अपेक्षा है, बापू! वीतराग-वीतराग त्रिलोक के नाथ सर्वज्ञ के अतिरिक्त कहीं नहीं हैं, हों! आहाहा! परम सत्य!

गन्ध ज्ञान नहीं है,... अब, गन्ध ज्ञान नहीं है। आहाहा! फूल का बाग हो तो गन्ध का—सुगन्ध का ज्ञान हो। या दुर्गन्ध का ज्ञान होगा? आहाहा! धन्य प्रभु! तेरा बँटवारा, तेरा ज्ञान..! आहाहा! इस समय कहते हैं, फूल की सुगन्ध आवे। दुर्गन्ध न आवे और यहाँ सुगन्ध का ज्ञान हो तो इतना तो अन्तर पड़े न ज्ञान में उस सुगन्धपने के कारण? वह निमित्त तो है न? निमित्त कुछ करता नहीं, इसका नाम निमित्त कहा जाता है। आहाहा! निमित्त कहो तो निमित्त से यहाँ जरा भी होता है, इसका नाम निमित्त नहीं। समझ में आया? प्रभु! आहाहा! निमित्त नहीं है, ऐसा नहीं है, परन्तु निमित्त से जरा भी पर में होता है, यह नहीं। निमित्त अनन्त हैं, आहाहा! परन्तु कोई निमित्त, तीन लोक के नाथ निमित्त हैं और यह शब्द सुने, वह भी निमित्त है। दोनों निमित्त हैं। निमित्त निमित्त में, उपादान उपादान में। आहाहा!

यह सुने, उससे ज्ञान नहीं होता तो हम सुनने किसलिए आयेंगे, ऐसा बोलते हैं। अरे! प्रभु! ऐसा नहीं होता। यह तो वस्तु की स्थिति का वर्णन है। सुनने से कुछ होता नहीं तो हमें क्या करना? पश्चात् तब क्या करना? घर में रुकना? आहाहा! वीतराग का कोई मार्ग... आहाहा! ऐसा कला और ऐसी पद्धति। वीतराग निमित्त है और निमित्त से होता नहीं। निमित्त है, पल-पल में निमित्त है, समय-समय में निमित्त है। आहाहा! तो भी निमित्त से कुछ होता नहीं। आहाहा! ऐसी बात है।

अरे! ऐसा सुनने को कब मिले? आहाहा! ऐसा मनुष्य का देह। स्थिति चली जाती है। कहाँ चला जाएगा? यह सब सबके ठिकाने पड़ा रहेगा। तूने अन्दर की स्वतन्त्रता साधी होगी तो वह काम करेगी। आहाहा! पराधीन मानकर जिन्दगी बितायी होगी, प्रभु! परभव में कहीं अन्त नहीं आयेगा। आहाहा!

गन्ध, गन्ध आया न? अब स्पर्श। वह पुद्‌गलद्रव्य का गुण है। आहाहा! **स्पर्श ज्ञान नहीं है,...** आहाहा! यह स्पर्श शीत-उष्ण का ज्ञान आत्मा को उससे होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! सामनेवाले को बुखार आया और ऐसा देखता है। कहते हैं कि उसे छूता

नहीं। अँगुलियाँ उसे छूती नहीं और उसका ज्ञान स्वयं से हुए बिना रहता नहीं। आहाहा! प्रभु! तेरी बलिहारी है। आहाहा! बुखार (नापने के लिए) हाथ (ऐसे छुआवे)। गर्म है, हों! बुखार लगता है। परन्तु यह स्पर्शा भी नहीं न! और उसके कारण यहाँ बुखार का ज्ञान आया नहीं न! ऐसा तो कभी सुना होगा। आहाहा! वाणी ऐसी है। आहाहा!

स्पर्श ज्ञान नहीं है, क्योंकि स्पर्श (पुद्गलद्रव्य का गुण है,)... कोमल, कर्कश, आहाहा! कर्कश, भारी, हल्का यह गुण ज्ञान नहीं है। सामने को (सामने) जैसा हो, वैसा ज्ञान होता है, इसलिए इसे भ्रम हो जाता है कि उसके कारण से होता है। आहाहा! लोहा भारी हो, भले पाँच रुपये नौ टाँक हो, परन्तु ऐसे भारी हो। आहाहा! और रुई सेर-दो सेर हो तो ऐसी हल्की लगे। आहाहा! कहते हैं कि कोई किसी को स्पर्शते नहीं, बापू! और कोई किसी के कारण किसी को ज्ञान हुआ भी नहीं। आहाहा! यह विभाजन करने से एक समय ऐसा आयेगा कि अन्दर से केवलज्ञान हो जाएगा, एकदम! अन्दर से विभाजन, विभाजन, विभाजन करते... आहाहा! केवलज्ञान, केवलज्ञान, हों! आहाहा!

यहाँ यह कहा, स्पर्श। आहाहा! स्त्री के शरीर को पुरुष का शरीर स्पर्श नहीं करता, पुरुष का शरीर स्त्री को छूता नहीं। लड़के को यह पुच्ची भरे, ऐसे मीठा लगे, वह पुच्ची वहाँ उसे छूती नहीं। वह स्पर्श और ज्ञान भिन्न हैं। यह ऐसा स्पर्श है, इसलिए उसे उस जाति का वहाँ ज्ञान हुआ, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! लड़का रूपवान, कोमल, नरम और ऐसे उसे पुच्ची भरे, इसलिए उस जाति का ज्ञान हुआ, इसलिए उससे वह ज्ञान हुआ—ऐसा नहीं है। आहाहा! अरे रे! ऐसी बातें कहाँ? आहाहा! वीतराग परमात्मा त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव की अफर वाणी है। आहाहा! यह स्पर्श (ज्ञान) नहीं है। यहाँ तक तो कल आया था।

अब (कहते हैं), **कर्म ज्ञान नहीं है,...** लो! १४८ प्रकृति है। ऐसा यहाँ ज्ञान हुआ। शास्त्र में लिखा हुआ, यहाँ ज्ञान हुआ। वह प्रकृति लिखी हुई, उसके कारण ज्ञान नहीं हुआ। ज्ञान अर्थात् जानना। १४८ प्रकृतियाँ हैं, ऐसा जानना, वह लिखे हुए से ज्ञात नहीं हुआ। आहाहा! १४८ प्रकृति है। अपने आ गयी है। ज्ञानावरणीय की पाँच प्रकृति, वह ज्ञान नहीं है। आहाहा! वह तो जड़ है। जड़ तुझे कैसे रोके? प्रभु! ज्ञानावरणीय है न, वह ज्ञान नहीं है। ज्ञान नहीं तो तेरे ज्ञान को वह अज्ञान कैसे रोके? आहाहा! समझ में आया? आहाहा! बात-बात में अन्तर है, बापू! आहाहा!

भगवान! तेरी बलिहारी है। तेरे गुण का पार नहीं, प्रभु! आहाहा! इसके गुण और इसकी पर्याय। उसका—पर का नास्तिपना है तो भी इसका अस्तित्व है। पर का नास्तिपना। आहाहा! एक द्रव्य अपने अस्तित्व से है और अनन्त पर से नास्ति है। परन्तु वह नास्ति है, वह भी अस्ति है। आहाहा! इन श्लोकों में बहुत समाहित किया है।

कर्म ज्ञान नहीं है, क्योंकि कर्म अचेतन है;... जड़ है। क्या कहते हैं? ज्ञानावरणीय कर्म तेरे ज्ञान को रोकता नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! और ज्ञानावरणीय का क्षयोपशम हुआ, इसलिए तुझे यहाँ क्षयोपशम हुआ, ऐसा नहीं है। जैन में तो यह चलता है। बापू! जैसा अन्दर उघाड़ होता है, तत्प्रमाण (ज्ञान होता है)। सबको समान ज्ञान नहीं होता, इसका कारण कि अन्दर ज्ञानावरणीय में अन्तर है, इसलिए अन्तर है। यह सीधी बात सुनकर हाँ (करता है)। यहाँ कहते हैं कि नहीं। सबको जो भिन्न-भिन्न ज्ञान वर्तता है, वह अपनी पर्याय के कारण है; ज्ञानावरणीय के कारण नहीं। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४४४, गाथा-३९० से ४०४ रविवार, आषाढ़ शुक्ल १५
दिनांक - २७-०७-१९८०

समयसार, यहाँ तक आया है। **कर्म ज्ञान नहीं है,...** कर्म ज्ञान नहीं है। क्योंकि कर्म जड़ है, कर्म अचेतन है। **इसलिए ज्ञान के और कर्म के व्यतिरेक है।** आत्मा ज्ञान और कर्म अचेतन है, (इसलिए) दोनों की भिन्नता है। आहाहा! एक क्षेत्र में—एक प्रदेश में रहते हैं। आत्मा के जहाँ प्रदेश हैं, वहाँ कर्म रहते हैं, तथापि दोनों चीजें भिन्न-भिन्न हैं। दोनों के कार्य भिन्न, दोनों के गुण भिन्न, दोनों की क्षण-क्षण में होती क्रमसर अवस्था अनुसार दोनों भिन्न-भिन्न हैं। कर्म में क्रमधारा भी क्रमबद्ध पर्याय कर्म के कारण से क्रमबद्ध होती है, ज्ञान के कारण से नहीं। ज्ञान और कर्म दोनों भिन्न चीज़ हैं। व्यतिरेक अर्थात् पृथक है।

पश्चात्, धर्म—धर्मद्रव्य। धर्मास्तिकाय द्रव्य। छह प्रकार के द्रव्य हैं। भगवान ने जाति से छह प्रकार के द्रव्य देखे हैं। संख्या से अनन्त हैं। जाति से छह। उसमें धर्मास्तिकाय द्रव्य है। सर्वज्ञ भगवान ने कहा हुआ है। आहाहा! धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य, ये दो सर्वज्ञ भगवान ने ही कहा है, इसके अतिरिक्त किसी ने किसी जगह कुछ (कहा) नहीं।

(-धर्मद्रव्य) ज्ञान नहीं है, क्योंकि धर्म अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और धर्म के व्यतिरेक है। आत्मा को और धर्मास्तिकाय को भिन्नता है। धर्मास्तिकाय नहीं है, इसलिए सिद्ध ऊपर नहीं जाते—ऐसा बहुत से कहते हैं, परन्तु ऐसा है नहीं। जीव की पर्याय की योग्यता ही लोकप्रमाण वहाँ रहे, इतनी ही है। धर्मास्तिकाय नहीं है, इसलिए ऊपर नहीं जाते, (ऐसा नहीं है)। शास्त्र में भाषा ऐसी आवे (कि) धर्मास्तिकाय नहीं है, इसलिए सिद्ध ऊपर नहीं जाते। आहाहा! तथापि दोनों भिन्न चीज़ है। एक-दूसरे में अत्यन्त अभाव है। एक-दूसरे में एक-दूसरे के द्रव्य-गुण-पर्याय अत्यन्त भिन्न है और वह द्रव्य भगवान ने ही देखा है। आहाहा!

इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय। गति करते हुए स्थिति हो, उसमें यह अधर्मास्तिकाय द्रव्य है, वह अचेतन है। आहाहा! शास्त्र में तो ऐसा कहा है, धर्मास्तिकायवत्। प्रत्येक द्रव्य (जीव-पुद्गल) गति करता है, उसमें धर्मास्तिकाय निमित्त है। अर्थात् कि कुछ कराता

नहीं। अर्थात् कि प्रत्येक को—पर को स्पर्शता नहीं तो करता नहीं। आहाहा! धर्मास्तिकायवत् निमित्त कहा है।

यह पुस्तक है, ऐसे उठाओ ऐसे, तो कोई ऐसा कहता है कि इस अँगुली के कारण खड़ी रही है। धर्मास्तिकायवत्। उसके कारण से खड़ी है, तब हाथ को, गति करते हुए जीव—जड़ (पुद्गल) को धर्मास्तिकाय जैसे निमित्त कहा जाता है, वैसे इसे निमित्त कहा जाता है। परन्तु यह अँगुलियाँ थीं, इसलिए यह (पुस्तक) ऊँची हुई है, ऐसा नहीं है। सूक्ष्म बात है, भाई! एक तो धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय जैन परमेश्वर के अतिरिक्त है नहीं और उसमें यह धर्मास्तिकाय गति में निमित्त होता है। वह है तो गति करते हैं, ऐसा नहीं है। प्रत्येक द्रव्य अपनी गति की पर्याय से परिणमे, तब निमित्त है। चलता है इतना।

इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय। गति करते हुए द्रव्य स्थिर हो, तब उसे अधर्मास्ति निमित्त है और वह अधर्मास्ति अचेतन है। **ज्ञान के और अधर्म के व्यतिरेक है।** व्यतिरेक है अर्थात् भिन्नता है। आहाहा! एक आकाश के एक प्रदेश में रहे हैं। धर्मास्तिकाय के भी प्रदेश हैं, अधर्मास्तिकाय के हैं, काल के हैं, अनन्त जीव के असंख्य प्रदेश हैं, पुद्गल अनन्त हैं, कालद्रव्य भी वहाँ है। क्या कहा यह? एक आकाश के प्रदेश में अनन्त परमाणु हैं, अनन्त जीव के असंख्यवें भाग में, एक-एक जीव के असंख्य भाग में अनन्त, असंख्य ऐसे अनन्त जीव के असंख्य प्रदेश एक प्रदेश में हैं। आकाश के एक प्रदेश में एक जीव पूरा नहीं है। यहाँ भी एक जीव पूरा नहीं है।

धर्मास्तिकाय है, अधर्मास्तिकाय है, वे द्रव्य पूरे लोकप्रमाण हैं। आत्मा यहाँ रहा है, वह उसके असंख्यवें भाग में है। इसलिए उसके एक-एक प्रदेश में एक जीव के असंख्य प्रदेश हैं। ऐसे अनन्त असंख्य हैं। तथापि एक-दूसरे को कुछ मदद नहीं करते। आहाहा! एक प्रदेश में इकट्ठे। जीव के अनन्त प्रदेश, आहाहा! अनन्त परमाणु के, एक धर्मास्ति, एक अधर्मास्ति, एक आकाश, काल एक। एक प्रदेश में सब इकट्ठे छहों द्रव्य, तथापि किसी द्रव्य को कोई स्पर्श नहीं। आहाहा! ऐसी बात।

एक प्रदेश में छहों द्रव्य इकट्ठे, भले पूरे द्रव्य नहीं। धर्मास्ति का एक प्रदेश। अनन्त एक जीव के असंख्य प्रदेश, ऐसे अनन्त-अनन्त। आहाहा! तथापि कोई किसी को मदद

करे या कोई किसी को स्पर्श करे, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी चीज़ है। इससे अधर्मास्ति अचेतन है-जड़ है।

काल। काल नाम का द्रव्य है। श्वेताम्बर मानते नहीं। काल नाम के असंख्य द्रव्य हैं। एक-एक आकाश के प्रदेश पर एक-एक कालद्रव्य है। ऐसे कालद्रव्य को ज्ञान नहीं है। वह काल कहीं ज्ञान नहीं है। क्योंकि काल अचेतन है। यह काल है, वह अचेतन है। काललब्धि है न? काललब्धि। काललब्धि में काल मदद करता है या नहीं? सब निमित्तमात्र हैं। काललब्धि तो अपनी पर्याय को काललब्धि कहा जाता है। कालद्रव्य के कारण काललब्धि कहा जाता है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

कालद्रव्य, वह ज्ञान—आत्मा नहीं है। क्योंकि काल अचेतन है; इसलिए ज्ञान को और काल को भिन्नता है। आहाहा! एक आत्मा के प्रदेश असंख्य एक प्रदेश पर, वहाँ काल एक है। उन सबको काल परिणमन में निमित्त है, परिणमन में निमित्त है। परन्तु एक-दूसरे परिणमावे, एक-दूसरे को मदद करे, ऐसा नहीं है। वह कालद्रव्य अचेतन है; इसलिए ज्ञान को और काल को व्यतिरेक है।

आकाश ज्ञान नहीं है। आकाश नाम का पदार्थ लोकालोकप्रमाण है। वह आत्मा नहीं है अर्थात् ज्ञान नहीं है। ज्ञान और आकाश को अन्तर है। क्योंकि आकाश अचेतन है। इसलिए ज्ञान को और आकाश को भिन्नता है।

अध्यवसाय ज्ञान नहीं है। आहाहा! यह सूक्ष्म बात आयी। आगे कहेंगे, पुण्य और पाप, वह आत्मा है—ऐसा कहेंगे। क्या कहा? शुभभाव और अशुभभाव अध्यवसाय। शुभ अध्यवसाय और अशुभ अध्यवसाय, वह जीव है, ऐसा कहेंगे। क्योंकि जीव की पर्याय में होते हैं न? यहाँ पहले भिन्न करते हैं। है? **अध्यवसान ज्ञान नहीं है,...** आहाहा! क्या कहना है? कि यह अध्यवसाय शुभभाव या अशुभ, इन्हें जीव कहा, तथापि वह वस्तु स्वयं ज्ञान नहीं है, ज्ञान तो आत्मा है परन्तु आत्मा की पर्याय में होते हैं, इसलिए शुभ-अशुभभाव को जीव कहा जाता है। उन अध्यवसाय को भी जीव कहा जाता है, उसकी पर्याय है इसलिए (कहा जाता है) परन्तु वे ज्ञान नहीं हैं। आहाहा! क्या ज्ञान नहीं? यह दया पालने के भाव, वह ज्ञान नहीं—ऐसा कहते हैं। जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव ज्ञान नहीं है। आहाहा! एक-दूसरे का परोपकार करने का भाव, वह ज्ञान नहीं है, वह आत्मा नहीं

है। आहाहा! वह अध्यवसाय में आता है। इसका कर दूँ, इसे मदद करूँ। उसे और आत्मा को कोई सम्बन्ध नहीं है। अध्यवसाय है भले इसकी पर्याय में परन्तु वह पर्याय स्वयं ज्ञान नहीं है। यहाँ ज्ञान नहीं है, ऐसा सिद्ध करना है। उसे फिर सिद्ध करेंगे। क्योंकि वह अध्यवसाय जीव की पर्याय में होते हैं, जड़ में नहीं। इसलिए फिर कहेंगे कि धर्म-अधर्म अर्थात् शुभ-अशुभ जीव है। ऐसा है। वीतराग की वाणी...

अध्यवसान ज्ञान नहीं है, क्योंकि अध्यवसान अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और (कर्मोदय की प्रवृत्तिरूप)... अध्यवसान की व्याख्या की। अध्यवसाय अर्थात् क्या? कर्म के उदय के कारण हुआ परिणाम, उसे अध्यवसाय कहा जाता है। आहाहा! अध्यवसाय की सूक्ष्म बात है। यह जो रागादि अध्यवसाय (होते हैं), वह ज्ञान नहीं है, इसलिए जीव नहीं है, परन्तु वे पर्याय में होते हैं; इसलिए वे आत्मा हैं और वे अध्यवसाय मोक्ष के परिणाम को भी अध्यवसाय कहा है। जिस परिणाम से मोक्ष हो, उसे भी अध्यवसाय कहा है। जयसेनाचार्य की टीका में (आता है)। अध्यवसान के प्रकार इतने हैं। आहाहा!

एक अध्यवसाय जीव में जो शुभराग और अशुभराग हो, उसे अध्यवसाय कहते हैं। वह अध्यवसाय ज्ञान नहीं है, तथापि वह अध्यवसाय पर्याय में होते हैं; इसलिए जीव है—ऐसा कहेंगे। और मोक्ष का मार्ग, वह कोई अध्यवसाय एकत्व या रागादि नहीं, तथापि मोक्ष के मार्ग को भी अध्यवसाय कहा जाता है। है वीतरागी परिणति, मोक्षमार्ग का कारण—मार्ग वीतराग परिणति है, तथापि उसे अध्यवसाय कहा है। आहाहा! इतने अध्यवसाय के अर्थ हैं। हिम्मतभाई! है न? आहाहा! लोगों को समझना क्या इसमें?

यहाँ चैतन्य में जो राग, द्वेषादि, दया, दान के परिणाम होते हैं, उन परिणाम में आत्मा का ज्ञान नहीं है, इसलिए वे आत्मा नहीं हैं, ऐसा कहना है। पश्चात् कहेंगे कि इसकी पर्याय में है, इसलिए जीव है। तीसरे प्रकार से अध्यवसाय, मोक्ष के मार्ग को भी अध्यवसाय कहते हैं। आहाहा! अभ्यास करना चाहिए, थोड़ा अभ्यास (होना चाहिए)। इसके बिना... यह तो वीतराग का मार्ग महागूढ़ है। आहाहा!

अध्यवसान के व्यतिरेक है। इस प्रकार यों ज्ञान का समस्त परद्रव्यों के साथ... यहाँ तो अध्यवसाय को परद्रव्य में डाला। इस प्रकार आत्मा को समस्त परद्रव्यों के साथ भिन्नता है। आहाहा! उन्हें तो भिन्नता है, परन्तु एक परमाणु को और दूसरे परमाणु

को भिन्नता है। यहाँ तो आत्मा की बात करनी है। आहाहा! आत्मा और परमाणु एक साथ रहें छह द्रव्य, तथापि भिन्न, तो फिर समझ लेना कि सब द्रव्य भिन्न हैं। किसी को किसी के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! थोड़ी-थोड़ी मदद करते हैं या नहीं? चलने में लकड़ी बिना (चल सके)? वृद्ध मनुष्य हो, वह लकड़ी बिना चले?

मुमुक्षु : गुरु शिष्य को मदद करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन करे किसी का? इसके परिणाम होते हैं, वे भी जहाँ विकारी हैं, वहाँ दूसरे के कर्ता है, यह बात ही कहाँ है? भाई! आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात। आहाहा!

इस प्रकार यों ज्ञान का समस्त परद्रव्यों के साथ... देखो! यहाँ 'परद्रव्य' शब्द लिया है। अध्यवसाय को भी परद्रव्य शब्द लिया है। भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्दस्वरूप है, तब पुण्य और पाप के विकार, वे परद्रव्यस्वरूप है - ऐसा यहाँ कहा है। समझ में आया? आहाहा! चैतन्य परमात्मा, चैतन्य और आनन्द अमृत का जिसमें सागर भरा हुआ है, उसके साथ जो यह अध्यवसाय है, वह ज्ञान नहीं है, आत्मा नहीं है—ऐसा कहा। परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि उसे हम परद्रव्य कहते हैं। उस अध्यवसाय को परद्रव्य कहते हैं। ओहोहो! किसी जगह अध्यवसाय को जीव कहे, किसी जगह अध्यवसाय को अजीव कहे, किसी जगह अध्यवसाय को मोक्ष का मार्ग कहे। आहाहा! किस जगह किस प्रकार की बात है, यह विचारना चाहिए। आहाहा! इस प्रकार आत्मा—ज्ञान समस्त परद्रव्यों से (भिन्न है)।

मुमुक्षु : कर्म के उदय को अध्यवसान कहा जाता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : उदय को नहीं। यहाँ भाव करे उसे। कर्म को नहीं, कर्म भिन्न (चीज़ है)। यह पहले आ गया है। कर्म भिन्न है, यह आ गया और अध्यवसाय भिन्न है, यह आ गया। कर्म के निमित्त में अपने परिणाम में अध्यवसाय स्वतन्त्र हों, उसे अध्यवसाय कहते हैं। और कर्म तो जड़-अजीव भिन्न चीज़ है। आहाहा! ऐसा सब (समझने को) कहाँ फुरसत है? आहाहा!

भिन्न-भिन्न बात भेदज्ञान की बात है। भेदज्ञान। आहाहा! तेरी पर्याय में भी जो अध्यवसाय हो, उसे हमने ज्ञान नहीं है, ऐसा कहा था। आत्मा नहीं है—ऐसा कहा था, उसे हम परद्रव्य है—ऐसा कहते हैं। वह परद्रव्य है। आहाहा!

मुमुक्षु : ज्ञान और अध्यवसान के क्षेत्र भिन्न हैं या अभिन्न हैं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : क्षेत्र तो एक प्रदेश में छहों द्रव्य सब इकट्ठे हैं। पहले कहा। एक प्रदेश में छहों द्रव्य इकट्ठे हैं। अध्यवसाय तो पर्याय है। पर्याय की बात तो क्या परन्तु परमाणु, अनन्त परमाणु के स्कन्ध एक प्रदेश में इकट्ठे हैं। यह बात तो पहले कही थी। समझ में आया ? जहाँ आत्मा के प्रदेश हैं, वहाँ ही अनन्त परमाणु के स्कन्ध, ऐसे अनन्त स्कन्ध, एक प्रदेश में अनन्त स्कन्ध हैं। एक-एक स्कन्ध में अनन्त परमाणु हैं। जिस प्रदेश में वे अनन्त स्कन्ध हैं, उस प्रदेश में अनन्त जीवों के अनन्त असंख्य प्रदेश हैं। इसलिए असंख्य कहा न! पूरा एक जीव नहीं रहता। जीव का असंख्यवाँ भाग रहता है। क्योंकि आत्मा के प्रदेश लोकप्रमाण हैं। अर्धलोक में रहे तो आकाश के एक प्रदेश में दो-दो आवे, चौथे भाग में (रहे) तो एक में चार-चार आवे। वह असंख्यवें भाग में है, इसलिए एक में असंख्य आते हैं।

यह बड़ी चर्चा (संवत्) १९७४ में हुई थी। कुछ समझे नहीं और मुफ्त में विवाद करे। आहाहा! (संवत्) १९७४ में रोग था न ? रोग। पचास गाँव के लोग बोटाद आये थे। जीवराजजी महाराज को ठीक नहीं था तो मैं पढ़ता था। इसलिए मैं पढ़ता था। उसमें यह प्रश्न उठा। वह मास्टर, प्राणजीवन मास्टर, राजकोट के नहीं ? प्राणजीवन मास्टर। भाई पहिचानते हैं। वे प्राणजीवन मास्टर वहाँ आये थे, उनके साथ यह चर्चा हुई थी कि आकाश के एक प्रदेश में आत्मा के प्रदेश कितने ? कहा, एक प्रदेश में एक जीव के असंख्यात ऐसे अनन्त के अनन्त (प्रदेश रहें)। (यह) सुनकर मूलचन्दजी कहे, ऐसा कहाँ से निकाला ? निकाला था कहाँ ? यह तो वस्तु का स्वरूप है। शास्त्र में देख लो न! कुछ विचार नहीं और कुछ नया लगे, इसलिए (विरोध करे)।

एक प्रदेश में जीव के अनन्त प्रदेश हैं। अनन्त जीव के अनन्त प्रदेश। एक प्रदेश में एक जीव नहीं रहता। संख्य प्रदेश में एक जीव नहीं रहता। संख्यात प्रदेश में एक जीव नहीं रहता; परन्तु एक प्रदेश में एक जीव का असंख्यवाँ भाग, ऐसे अनन्त असंख्यात भाग में अनन्त रहते हैं। शशीभाई! ऐसा वीतराग मार्ग, बापू! यह तो सर्वज्ञ परमेश्वर साक्षात् प्रत्यक्ष भगवान त्रिलोकनाथा विराजते हैं। अनन्त भगवान, महावीर आदि तो सिद्ध हो गये। वे अभी अरिहन्त नहीं हैं। यहाँ थे, तब अरिहन्त थे। णमो अरिहंताणं में थे, अभी णमो

सिद्धाणं में हैं। सीमन्धर भगवान णमो अरिहंताणं में हैं। सीमन्धर भगवान अभी णमो अरिहंताणं में हैं। महावीरस्वामी णमो सिद्धाणं में हैं। (वे) देह छूटकर मोक्ष पधारे। इनको देह है, चार कर्म बाकी हैं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, प्रत्येक द्रव्य से प्रत्येक द्रव्य भिन्न है। अध्यवसाय को भी द्रव्य कहा। आहाहा! वह परद्रव्य है। एक ओर ऐसा कहे कि आत्मा की अपनी विकारी पर्याय स्वयं से है, कर्म के कारण से बिल्कुल नहीं। यहाँ कहते हैं, वह अध्यवसाय भले पर्याय हो परन्तु उसे हम परद्रव्य कहते हैं। कर्म के कारण होती है, इसलिए परद्रव्य-ऐसा नहीं। क्या कहा? कर्म निमित्त है, इसलिए अध्यवसाय को परद्रव्य कहा, ऐसा नहीं है। उस अध्यवसाय को परद्रव्य ही कहा। स्वद्रव्य नहीं, इसलिए परद्रव्य कहा। आहाहा! लोगों को कितना याद रहे?

मुमुक्षु : मोक्ष के वीतरागी परिणाम भी परद्रव्य?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह एक न्याय से परद्रव्य कहा जाता है। दोपहर में आयेगा। नियमसार की ५०वीं गाथा में निर्मल पर्याय जो मोक्ष का मार्ग, उसे परद्रव्य कहा है। अरे! वहाँ तो मोक्ष को परतत्त्व कहा है। नियमसार। शुद्धभाव अधिकार है न? शुद्धभाव अधिकार। आहाहा! ३८ गाथा। (५४ श्लोक)। **सर्व तत्त्वों में जो एक सार है, जो समस्त नष्ट होनेयोग्य भावों से दूर है...** सर्व तत्त्व। **कारणपरमात्मा वह वास्तव में 'आत्मा' है। अति-आसन्न भव्य जीवों को ऐसे निज परमात्मा के अतिरिक्त (दूसरा) कुछ उपादेय नहीं है।** आहाहा! ५०वीं गाथा में कहा, वह परद्रव्य है। आहाहा!

(नियमसार) ५० (गाथा) देखो! **जो कोई विभावगुण पर्यायें हैं, वे पूर्व में (४९वीं गाथा में) व्यवहारनय के कथन द्वारा उपादेयरूप से कही गयी थी परन्तु शुद्धनिश्चयनय के बल से (शुद्धनिश्चयनय से) वे हेय हैं। किस कारण से? क्योंकि वे परस्वभाव हैं, और इसीलिए परद्रव्य है।** यह संस्कृत टीका है। ५०वीं गाथा। ३८वीं गाथा में भी मोक्षतत्त्व को और संवरतत्त्व को नाशवान कहा। एक समय की पर्याय है, इसलिए नाशवान कहा। यहाँ अध्यवसाय को जीव कहा। यह अभी अब आयेगा, अभी इनकार किया (परन्तु) बाद में आयेगा। क्या अपेक्षा है? आहाहा! है?

कहते हैं कि **शुद्धनिश्चयनय के बल से...** एक आत्मा के अतिरिक्त सब हेय है।

किस कारण से? **क्योंकि वे परस्वभाव हैं, और इसीलिए परद्रव्य है।** राग है, वह परद्रव्य है। हजारों शास्त्र देखे हैं। (संवत्) १९६४ के वर्ष से है। १९६४ के वर्ष। कितने वर्ष हुए? तब से दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचारांग, सूयगडांग, अध्यात्म कल्पद्रूम, सब वहाँ दुकान पर पढ़े हैं। पिताजी की घर की दुकान थी। अभी दुकान है न! अब नाम निकाल डाला। खुशालभाई निकल गये न। खुशालभाई ने स्वयं दुकान छोड़ दी। हमारे बड़े भाई थे। पिताजी गुजर गये और मैं लग गया। मैंने दीक्षा ली, इसलिए मुझसे छोटा भाई लग गया। छोटा भाई गुजर गया, इसलिए बड़े भाई दूसरी बड़ी दुकान थी, उसमें से निकलकर दुकान में वहाँ बैठे। फिर स्वयं दुकान छोड़ दी, परन्तु यहाँ रहते थे। यहाँ गुजर गये। आहाहा! मुझे तो यह कहना है, दुकान पर, धन्धे पर मैं तो पढ़ता था। आचारांग, सूयगडांग, ठाणांग सब। आहाहा! पूर्व के संस्कार थे न! इसलिए छोटी उम्र में दूसरी कुछ बहुत सूझ नहीं पड़ती थी, इसमें अन्दर सूझ पड़ती थी।

यहाँ कहते हैं कि अध्यवसाय परद्रव्य है। वहाँ ५० (गाथा में) कहा, मोक्ष की पर्याय भी परद्रव्य है, अरे! मोक्ष भी परद्रव्य है। किस अपेक्षा से (कहा, यह) जानना चाहिए। आहाहा! निवृत्ति लेकर, हमेशा दो-चार घण्टे तो निवृत्ति लेना चाहिए। यह अवतार चला जाएगा।

मुमुक्षु : एक घण्टे तो आपकी सुनते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : एक घण्टे में क्या होगा? वापस उसका मनन, मन्थन (के लिए) दो-चार घण्टे दूसरे चाहिए। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, अध्यवसाय परद्रव्य है। इसी और इसी में वापस आयेगा, अध्यवसाय जीव है। किस अपेक्षा से कहा? अध्यवसाय इसका स्वरूप नहीं है, इसलिए उन्हें परद्रव्य कहा। परन्तु इसकी पर्याय में है, पर के कारण नहीं, इसलिए उन्हें जीव के कहा। आहाहा!

इस प्रकार यों ज्ञान का समस्त परद्रव्यों के साथ... समस्त परद्रव्य। तीन लोक के नाथ को और इस आत्मा को बिल्कुल भिन्नता है। आहाहा! तीर्थंकर के आत्मा को... सिद्ध भगवान वहाँ एक क्षेत्र में अभी अनन्त इकट्ठे हैं। तथापि प्रत्येक-प्रत्येक भिन्न है। जहाँ सिद्ध भगवान विराजते हैं, उनके गर्भ में अनन्त निगोद जीव है। पेट तो वहाँ कहाँ है? वहाँ तो आत्म है। उसकी चौड़ाई में (क्षेत्र की बात है), जहाँ सिद्ध भगवान विराजते

हैं, उनकी चौड़ाई में अन्दर में अनन्त निगोद है, जहाँ सिद्ध भगवान हैं, वहाँ अनन्त निगोद है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

निश्चय साधित देखना चाहिए... उस चीज़ को और आत्मा को भिन्न देखना चाहिए। **(अर्थात् निश्चय से सिद्ध हुआ समझना–अनुभव करना चाहिए)।**

अब, जीव ही एक ज्ञान है,... जीव ही एक ज्ञान है। **क्योंकि जीव चेतन है; इसलिए ज्ञान के और जीव के अव्यतिरेक (–अभेद) है।** भिन्नता नहीं है। आहाहा! ज्ञान गुण है, जीव गुणी है, उन्हें कहीं प्रदेश भेद नहीं है। नामभेद है, लक्षणभेद है, प्रयोजनभेद है। अरे... कितना! किसे? ज्ञान और आत्मा दो वस्तु एक है, तथापि दोनों के नाम भिन्न, लक्षण भिन्न, प्रयोजन भिन्न, तथापि द्रव्य एक है। आहाहा! इसमें कितना याद रहे लोगों को?

इसलिए ज्ञान के और जीव के अव्यतिरेक (–अभेद) है। और ज्ञान का जीव के साथ व्यतिरेक किञ्चितमात्र भी शंका करनेयोग्य नहीं है... ज्ञान और जीव के साथ व्यतिरेक अर्थात् भिन्नता किंचित्मात्र भी शंका करनेयोग्य नहीं है। नाम भिन्न है न? ज्ञान, यह जीव। किंचित्मात्र शंका नहीं करना कि वे भिन्न हैं। आहाहा! फिर एक जगह कहेंगे कि गुण और गुणी के नामभेद से, लक्षण भेद से, प्रयोजन भेद से भेद है, तथापि प्रदेश भेद से भेद नहीं है। अरे! आहा! अलौकिक मार्ग है, बापू! वीतरागमार्ग... आहा! सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ के मुख में से महाविदेह में दिव्यध्वनि निकलती है, वह अलौकिक बातें निकलती है। आहाहा! छह खण्ड के स्वामी चक्रवर्ती....

मुमुक्षु : आप फरमाते हो, वह अलौकिक बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो उनका कहा कहते हैं। आहाहा! बात तो ऐसी है। आहाहा! ओहोहो! किस अपेक्षा से परद्रव्य, किस अपेक्षा से स्वद्रव्य, किस अपेक्षा से पर्याय, किस अपेक्षा से अध्यवसान? मोक्ष का कारण भी अध्यवसाय, राग को भी अध्यवसाय (कहे)। आहाहा! जिस–जिस स्थान में जिसकी आवश्यकता है, वह–वह रचते हैं।

यहाँ कहा, **(ज्ञान की जीव से भिन्नता होगी, ऐसी जरा भी शंका करनेयोग्य नहीं है), क्योंकि जीव स्वयं ही ज्ञान है।** क्या कहा? भगवान आत्मा जीव स्वयं ही ज्ञान है। ठीक! ज्ञानस्वरूपी चैतन्यबिम्ब सूर्य, चैतन्यसूर्य भगवान अन्दर है। आहाहा! विद्यालय

में यह कुछ होता नहीं। मेट्रिक में जाए और बड़ा... धर्म के गाँव में जाए तो भी मिले ऐसा नहीं है। आहाहा!

एक ओर ऐसा कहते हैं कि मोक्ष परद्रव्य है। एक समय की पर्याय है और (द्रव्य) त्रिकाल है, इस अपेक्षा से। आहाहा! एक ओर (कहते हैं), अध्यवसाय है, वह जीव है, जीव से भिन्न नहीं है। एक ओर यहाँ कहते हैं कि अध्यवसाय जीव नहीं है। जीव है, वह अब आयेगा।

जीव स्वयं ही ज्ञान है। **(ज्ञान जीव से अभिन्न) होने से, ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है,...** आहाहा! देखो अब! आत्मा ही सम्यग्दृष्टि, ज्ञान है वही सम्यग्दर्शन है। आहाहा! **ज्ञान ही संयम है,...** आत्मा का ज्ञान है, वही संयम है। संयम कोई क्रियाकाण्ड नहीं है। आहाहा! **ज्ञान ही अंगपूर्वरूप सूत्र है,...** यह क्या कहा? अक्षर, पृष्ठ और पुस्तक ज्ञान नहीं है। ज्ञान तो अंगपूर्वरूप सूत्र है। आहाहा! अंगपूर्वसूत्र का जो ज्ञान खुला है, वह आत्मा है। यह पृष्ठ तो जड़ है। आहाहा!

ज्ञान ही अंगपूर्वरूप सूत्र है,... अंग और पूर्व और शास्त्र के जो शब्द, वे नहीं। अन्तर का जो यहाँ विकसित ज्ञान, उसे अंग ज्ञान, सूत्र ज्ञान, पूर्व ज्ञान, बारह अंग का ज्ञान जो कहो वह यहाँ है। आहाहा! अब आया।

ज्ञान ही धर्म-अधर्म है,... लो, ठीक! धर्म-अधर्म अर्थात् शुभ-अशुभभाव। पहले इनकार किया। यहाँ कोई एकान्त ले जाए, (उसके समक्ष बात की है)। अध्यवसाय वह पुण्य-पाप के भाव जड़ हैं और जड़ से होते हैं—ऐसा कोई एकान्त ले जाए, इसके लिये यहाँ कहा कि ज्ञान अर्थात् आत्मा। आत्मा ही स्वयं धर्म और अधर्म है। धर्म-अधर्म अर्थात् पुण्य और पाप। आहाहा! कितना फेरफार आया! किस-किस अपेक्षा से?

पहले अध्यवसाय को परद्रव्य कहा, पहले अध्यवसाय को ज्ञान से भिन्न कहा। दो बातें आ गयीं। ज्ञान और अध्यवसाय भिन्न। आत्मा और अध्यवसाय परद्रव्य। यहाँ कहते हैं, जीव ही स्वयं, ज्ञान ही स्वयं धर्म और अधर्म है। शुभ और अशुभभाव स्वयं ज्ञान अर्थात् आत्मा के हैं। धर्म-अधर्म अर्थात् यह, हों! पुण्य और पाप। वे धर्मास्ति-अधर्मास्ति नहीं। यहाँ धर्म-अधर्म का अर्थ धर्मास्ति-अधर्मास्ति नहीं। यहाँ पुण्य को धर्म कहा है। व्यवहार। पाप। पुण्य और पाप दोनों ज्ञान ही है। वह आत्मा में है, आत्मा से भिन्न नहीं। आहाहा!

इससे पहले कहा कि अध्यवसाय और ज्ञान भिन्न है, यहाँ कहते हैं कि ज्ञान और अध्यवसाय शुभ-अशुभभाव एक है। आहाहा! इसकी पर्याय है न? इसमें होते हैं न? है? आहाहा!

ज्ञान ही पुण्य और पाप, आहाहा! शुभ और अशुभभाव। वह आत्मा की पर्याय है। पर्याय है, इसलिए उसे आत्मा कहा। इसलिए उसे ज्ञान कहा। **ज्ञान ही प्रव्रज्या...** दीक्षा, वह ज्ञान है। वस्त्र बदलना और नग्न रहना, वह कहीं दीक्षा नहीं है। है या नहीं? **ज्ञान ही प्रव्रज्या (-दीक्षा, निश्चयचारित्र) है...** अन्तर ज्ञान—आत्मा, ज्ञान में रमणता में स्थिर हो, वह ज्ञान, वह चारित्र, वह आत्मा है। आहाहा! पंच महाव्रत आदि परिणाम, वे चारित्र नहीं हैं। आहाहा!

ज्ञान... आहाहा! **प्रव्रज्या (-दीक्षा, निश्चयचारित्र) है...** आहाहा! एक ओर ऐसा कहा कि ज्ञान, वह शुभाशुभभाव है और वहाँ ही वापस कहा कि ज्ञान, वह प्रव्रज्या है। वह प्रव्रज्या है, वह चारित्र वीतरागभाव है और शुभाशुभभाव है, वह रागभाव है। समझ में आया? शुभ और अशुभभाव, वह राग है। उसे यहाँ आत्मा कहा। और शुभाशुभरहित चारित्र जो है, वह वीतराग है, उसे भी आत्मा कहा। आहाहा! आज चातुर्मास का पहला दिन है न? आषाढ़ शुक्ल पूर्णिमा। आज से चातुर्मास लगा है। आहाहा!

मुमुक्षु : आज गुरुपूर्णिमा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। यह बात सच्ची। अन्यमति में कहते हैं।

इस प्रकार ज्ञान का जीवपर्यायों के साथ भी अव्यतिरेक... देखो! वापस यहाँ कहा। अध्यवसाय, दीक्षा, पुण्य-पाप, वे जीव की पर्यायें हैं। कहा? आहाहा! एक ओर अध्यवसाय को ज्ञान से भिन्न कहा, एक ओर अध्यवसाय को परद्रव्य कहा, एक ओर अध्यवसाय को जीव की पर्याय कहा। आहाहा! तथा एक ओर अध्यवसाय को जीव कहा। आहाहा! समझ में आया? क्या अपेक्षा है? यह तो सर्वज्ञ भगवान ने ज्ञान में जो देखा है, जैसा देखा वैसा कहा है, उसकी अपेक्षा इसे समझना चाहिए। इसमें एकान्त खींचे कि अध्यवसाय जड़ ही है, ऐसा भी नहीं। तथा अध्यवसाय आत्मा ही है, ऐसा भी नहीं। तथा अध्यवसाय संसार को लागू पड़ता है, मोक्षमार्ग को लागू नहीं पड़ता—ऐसा भी नहीं है। इन निर्मल परिणाम को अध्यवसाय कहा है। आहाहा!

(ज्ञान की जीव से भिन्नता होगी ऐसी जरा भी शंका करनेयोग्य नहीं है),...

आहाहा! **ज्ञान ही प्रव्रज्या... ज्ञान का जीवपर्यायों के साथ भी अव्यतिरेक निश्चयसाधित देखना...** जीव को उसकी पर्याय के साथ अभिन्न देखना। समझ में आया? उसकी पर्याय मलिन या अमलिन, जीव की है, इसलिए जीव की जानना। आहाहा! एक ओर पुण्य को संसार का घोर कारण कहे। तथा एक ओर यहाँ कहते हैं कि पुण्य, वह तो जीव है। यह तो स्याद्वाद का मार्ग है। किस अपेक्षा से कहते हैं? जिस अपेक्षा से कहते हैं, उस अपेक्षा से बराबर है। आहाहा!

पहले परद्रव्य कहा, पहले अध्यवसाय जीव से भिन्न कहे, पश्चात् उन्हें परद्रव्य कहा, पश्चात् उन्हें यहाँ जीव कहा। कहा न शुभाशुभभाव? और यहाँ वापस उसकी-जीव की पर्याय कहा। आहाहा! इस प्रकार से **इस प्रकार ज्ञान का...** अर्थात् आत्मा का **जीवपर्यायों के साथ...** आहाहा! सब उसकी पर्यायें हैं। आहाहा! शुभ-अशुभ, वह पर्याय है। ज्ञान, दर्शन और आनन्द की पर्याय तो है परन्तु यह शुभाशुभभाव भी उसकी पर्याय है। आहाहा! **जीवपर्यायों के साथ भी अव्यतिरेक निश्चयसाधित देखना...** निश्चय से एक है, ऐसा जानना। आहाहा! कितने भेद पड़े?

मुमुक्षु : बहुत पहलुओं से तो बहुत विकल्प उपजते हैं तो अनुभव कब करे?

पूज्य गुरुदेवश्री : पहले जानपना तो करे। जानपने में गड़बड़ करे तो उसमें कुछ समझ में न आये तो अन्दर कहाँ से जाए? कोई अध्यवसान को अकेला जड़ ही कहे, उसे और आत्मा को कुछ सम्बन्ध नहीं है; और कोई अध्यवसाय को चेतन कहे तो चेतन की तरह कायम रहना चाहिए, ये कायम नहीं रहते। आहाहा! पहले अभी जानपना किये बिना एकाग्र होगा कहाँ से? उल्टी श्रद्धा रखेगा, उल्टी श्रद्धा रखेगा तो अन्दर कहाँ से जाएगा? जैसी वस्तु है, वैसा उसे जानना तो करना पड़ेगा या नहीं? आहाहा! कितना भेद आया? आहाहा!

अब, इस प्रकार सर्व परद्रव्यों के साथ व्यतिरेक के द्वारा... पर से भिन्न द्वारा **और सर्व दर्शनादि जीवस्वभावों के साथ अव्यतिरेक के द्वारा...** आत्मा को अपने गुण से अभिन्नता है, ऐसा लेना। परद्रव्यों के साथ भिन्नता है और सर्व दर्शन आदि जीवस्वभाव, अपना दर्शन, ज्ञान, चारित्र, आनन्द इन जीवस्वभावों के साथ भिन्नता नहीं है। ऐसा कहकर **अतिव्याप्ति को और अव्याप्ति को दूर करता हुआ,...** यह दो दोष है। **अतिव्याप्ति**

को और अव्याप्ति को दूर करता हुआ,... आहाहा! ज्ञान और राग को एक कहे तो कहते हैं कि अतिव्याप्ति है। क्योंकि उस भिन्न चीज़ की अपेक्षा से। एक अपेक्षा से राग इसकी पर्याय में होता है, उसे इनकार करे कि कर्म के कारण होता है तो भी अतिव्याप्ति दोष है। आहाहा! यह तो बहुत सूक्ष्म बोल आये।

इस प्रकार सर्व परद्रव्यों के साथ व्यतिरेक के द्वारा और सर्व दर्शनादि जीवस्वभावों के साथ... अपने ज्ञान, दर्शन आदि अनन्त गुणों के साथ अभिन्नता द्वारा **अतिव्याप्ति को और अव्याप्ति को दूर करता हुआ,** आहाहा! **अनादि विभ्रम जिसका मूल है,...** अब तीसरी बात (करते हैं)। जिन्हें—शुभाशुभभाव को जीव कहा था, जिसे—शुभाशुभभाव को ज्ञान से भिन्न कहा था, जीव से शुभाशुभभाव परद्रव्य कहा था, जीव की शुभाशुभ पर्याय को जीव की कही थी, आहाहा! अब यहाँ कहते हैं, **अनादि विभ्रम जिसका मूल है, ऐसे धर्म-अधर्म...** आहाहा! वापस आया। शुभ और अशुभभाव अनादि भ्रम है। **अनादि विभ्रम जिसका मूल है, ऐसे...** शुभ और अशुभभाव। आहाहा! एक ओर शुभाशुभभाव जीव कहे, एक ओर शुभाशुभभाव परद्रव्य कहे, एक ओर शुभाशुभभाव जीव की पर्याय कही, यहाँ कहते हैं शुभाशुभभाव विभ्रम का मूल है। तथा भगवान आनन्दकन्द प्रभु और यह शुभाशुभभाव दोनों को कहीं मेल नहीं है। यह दुःख है, प्रभु आनन्द है; यह आकुलता है, प्रभु अनाकुल है; पुण्य-पाप अजीव है, चैतन्य जीव है; यह जड़ है, यह आत्मा है। आहाहा! अनजाने को कठिन लगे (क्योंकि) अभ्यास नहीं होता। आहाहा!

कोई कहे कि **अनादि विभ्रम जिसका मूल है, ऐसे धर्म-अधर्मरूप परसमय को दूर करके,...** लो! आहाहा! कहते हैं, इस पुण्य और पाप को भले जीव की पर्याय कही, जीव कहा, जीव से भिन्न कहा, जीवद्रव्य कहा परन्तु जीव चैतन्यरूप आनन्द का नाथ प्रभु, उसमें पुण्य और पाप विभ्रम है, भ्रमणा उपजाते हैं कि यह आत्मा के साथ रहनेवाले हैं। आहाहा! यह शुभाशुभभाव जिसका मूल है, ऐसा पुण्य-पाप... आहाहा! ऐसे **परसमय को दूर करके,...** लो! ऐसे जो पुण्य और पाप भाव दुःखरूप है, परसमय है, परद्रव्य है, ऐसे भिन्न जानकर उन्हें दूर करना। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४४५, गाथा-३९० से ४०४ सोमवार, अषाढ़ (गुजराती) कृष्ण १
दिनांक - २८-०७-१९८०

आज भगवान की दिव्यध्वनि का दिन है। श्रावण कृष्ण एक। सिद्धान्त का श्रावण कृष्ण एक है। आज भगवान ने प्ररूपणा की। भावश्रुतज्ञान की प्ररूपणा की। दूसरे चार ज्ञान की प्ररूपणा नहीं हो सकती, केवलज्ञान की भी प्ररूपणा नहीं हो सकती। भावश्रुतज्ञान की प्ररूपणा की। उसमें सब आ गया। क्या कहा ? भगवान तीर्थंकरदेव केवलज्ञान प्राप्त हुए, तब नौ तत्त्व गर्भित दिव्यध्वनि, उस भावश्रुतज्ञान द्वारा प्ररूपणा की। केवलज्ञान की (प्ररूपणा) भावश्रुत द्वारा की। समझ में आया ? क्योंकि उनके शब्दों में भाव क्या थे, वे भाव आते थे। इसलिए भावश्रुत की (प्ररूपणा आती थी)। और सुननेवाले गणधर को भी भावश्रुत था। सुननेवाले को भावश्रुतज्ञान था, इसलिए भगवान भी भावश्रुतज्ञान कहते थे। आहाहा! परमात्मा केवलज्ञान से या मन:पर्ययज्ञान से बात नहीं करते।

इसमें पाठ है। भावश्रुत का उपदेश दिया। षट्खण्डागम का पहला भाग है, उसमें है। भगवान ने भावश्रुतज्ञान का उपदेश दिया और उस भावश्रुत में नवतत्त्व गर्भित, ऐसा लिखा है। नौ तत्त्व गर्भित नौ प्रकार के पदार्थों से गर्भित दिव्यध्वनि। दो बातें हुईं। एक तो भगवान केवलज्ञान प्राप्त हुए तो केवलज्ञान की प्ररूपणा किस प्रकार हो ? जो वाणी निकलती है, वह तो जड़ है, तो उसे द्रव्य कहा जाता है। तो उसमें भरा हुआ भाव जो भगवान को कहना है, वह भाव भावश्रुतज्ञान है। इसलिए परमात्मा जो तीर्थंकर होते हैं, अनन्त हुए हैं, उन सबने भावश्रुतज्ञान की प्ररूपणा की है। समझ में आया ?

षट्खण्डागम के पहले (भाग में) यह लेख है। भावश्रुतज्ञान। उसके दो कारण हैं। एक तो केवलज्ञान है, वह कहा नहीं जाता। भावश्रुत में सब आ जाता है। भावश्रुतज्ञान में केवलज्ञान, नव तत्त्व आदि सब आ जाता है। एक बात। और दूसरा, सुननेवाले गणधर को भावश्रुतज्ञान होता है। पश्चात् वे द्रव्यश्रुत रचते हैं। परन्तु वह भावश्रुत होता है, इसलिए निमित्त भी भावश्रुत है। गणधर को भावश्रुत होता है और निमित्त केवलज्ञान हो, ऐसा नहीं होता। समझ में आया ?

भगवान को केवलज्ञान हुआ परन्तु प्ररूपणा तो भावश्रुतज्ञान द्वारा ही की है। एक

तो नवतत्त्व गर्भित दिव्यध्वनि और सुननेवाले को भावश्रुत (ज्ञान) होता है, इसलिए वाणी भी द्रव्यश्रुत कही जाती है और उसमें भाव भरे हुए हैं। भाव कहना चाहते हैं। वे भाव (भरे हुए हैं), इसलिए उसे भावश्रुत (कहा जाता है)। आज श्रावण कृष्ण एक। श्रावण कृष्ण एक, भगवान की दिव्यध्वनि निकली और तब तीर्थ स्थापित हुआ। आज के दिन से तीर्थ स्थापित हुआ। यह अन्दर आता है।

भावश्रुतरूप पर्याय से परिणमित उन इन्द्रभूति ने बारह अंग और चौदह पूर्व की एक मुहूर्त में क्रम से रचना की। भगवान का उपदेश भावश्रुत द्वारा आया, उसे गौतम गणधर ने अन्तर्मुहूर्त में बारह अंग और चौदह पूर्व की रचना की। आहाहा! द्रव्यश्रुत की। बारह अंग और नौ पूर्व। पूर्व तो बारह अंग के अन्दर भाग आ जाते हैं। उनकी रचना इस दिन की। वह श्रावण कृष्ण एक। श्रावण कृष्ण एक में भावश्रुत की प्ररूपणा हुई, भावश्रुतज्ञान गणधर को हुआ, द्रव्यश्रुत की रचना की और भावश्रुत में नौ तत्त्व गर्भित वाणी निकली और तीर्थ की उत्पत्ति आज से हुई। समझ में आया? यह आज दिन है। श्रावण कृष्ण एकम। बाकी तो उसमें बहुत बात है। पहला भाग है, वह व्याख्यान में वाँचन हो गया है। पूरा भाग वाँचन हो गया है।

यहाँ तो इतना कहना था कि भगवान को भावश्रुतज्ञान ही नहीं, तथापि भावश्रुत की प्ररूपणा की, अर्थात? वाणी आयी, वह द्रव्यश्रुत है तो वाणी में भावश्रुत कहना है। वाणी में केवलज्ञान नहीं कहा जाता। आहाहा! भावश्रुत मे फिर सब आता है। केवलज्ञान में तीन काल तीन—लोक के सब पदार्थ (झलकते हैं), वह भावश्रुतज्ञान में आता है। प्ररूपणा केवलज्ञान की नहीं होती। आहाहा! विशिष्टता तो एक-एक, ज्ञात पूरा, वाणी निकली भावश्रुत... आहाहा! और रचना करनेवाले को भी भावश्रुत में निमित्त हुआ न? इसलिए उसे भावश्रुत भी कहा और भावश्रुत में परिणम-परिणम कर द्रव्यश्रुत अन्तर्मुहूर्त में बारह अंग और नौ पूर्व की रचना की। आहाहा! गजब है! नौ पूर्व और बारह अंग की रचना अन्तर्मुहूर्त में गणधर (करते हैं)। सूत्र, हों! द्रव्यसूत्र। भाव तो परिणमते हैं, भाव तो अन्दर परिणम गया है परन्तु वाणी की रचना (की है)।

किसी को अभिमान हो कि हम ऐसा जानते हैं और ऐसा जानते हैं। बापू! आहाहा! इन गणधर को एक अन्तर्मुहूर्त में बारह अंग की रचना करने की सामर्थ्य है। आहाहा!

भगवान की बात तो अलग, वे तो केवलज्ञानी परमात्मा हैं परन्तु उनकी वाणी में भी भावश्रुत आता है और सुननेवाले को भावश्रुत होता है और सुननेवाला भावश्रुत द्वारा बारह अंग और नौ पूर्व की रचना अन्तर्मुहूर्त में क्रम से करता है। एक साथ नहीं। क्या कहा? एक साथ तो निकल सकता नहीं। इसलिए 'क्रम' शब्द पड़ा है। क्रम से... क्रम से। यह रचना क्रम से की है, तथापि अन्तर्मुहूर्त में बारह अंग की रचना हो गयी है। आहाहा! इतनी आत्मा में ताकत है कि केवलज्ञान न हो तो भी भावश्रुतज्ञान द्वारा क्रम से, एक समय में नहीं, एक समय में नहीं करते, 'क्रम से' शब्द है। क्रम से रचना करते हैं। बारह अंग की अन्तर्मुहूर्त में क्रम से रचना करते अन्तर्मुहूर्त में, देखा। आहाहा! सब बात अलौकिक है।

वीतराग तीर्थंकरदेव सर्वज्ञ परमात्मा का आज तीर्थ दिवस है। आज जब वाणी भरतक्षेत्र में विपुलाचल पर्वत पर निकली होगी... आहाहा! गणधर सुने। अनन्त काल में नहीं हुआ भावश्रुत गणधर को हुआ। वह वाणी से हुआ न? उनकी योग्यता से हुआ। वाणी तो निमित्त है। उनकी योग्यता ही बारह अंग की प्राप्ति होने की (थी) और अन्तर्मुहूर्त में बारह अंग की रचना की (योग्यता थी)। आहाहा! गजब बात है। किसका भार है! गणधर के अतिरिक्त बारह अंग की रचना अन्तुर्मुहूर्त में करे! आहाहा! किस प्रकार से सूत्र—द्रव्यसूत्र रचा। साधारण प्राणी को दो-चार पुस्तक बनाना आया, वहाँ उसे ऐसा हो जाता है कि मैंने बहुत किया। अरे! प्रभु! तुझमें शक्ति बहुत है। तू ऐसे हीन शक्ति में (तुझे) मान मत बैठ। आहाहा! गणधर ने बारह अंग की रचना अन्तर्मुहूर्त में (की)। भले हुई क्रम से, होवे तो असंख्य समय न? परन्तु अन्तर्मुहूर्त में बारह अंग की रचना! आहाहा! छद्मस्थ में भी इतनी लब्धि की ताकत! यह आज का दिन है। यह दिन स्थापित किया।

अब अपने यह (चलता) अधिकार। यहाँ यह आ गया है। फिर से लेते हैं। **क्योंकि जीव स्वयं ही ज्ञान है।** (हिन्दी में) पहली लाईन है। **जीव स्वयं ही ज्ञान है।** आहाहा! ज्ञान कहीं लाना नहीं पड़ता। वह स्वयं ज्ञान का पिण्ड ही है। आहाहा! भगवान आत्मा... आहाहा! अरे! इसकी कीमत करने पर बड़े मानधाता का गर्व उतर जाए। भावश्रुतवाला अन्तर्मुहूर्त में बारह अंग की रचना करे! आहाहा! पच्चीस-पचास लाख, करोड़ अक्षरों से कुछ बनावे, उसकी गिनती कहाँ थी? आहाहा! ऐसी आत्मा में ताकत है। निमित्त होने की। द्रव्यश्रुत में तो निमित्त होने की (ताकत है)। वाणी में अन्तर्मुहूर्त

में इतनी रचना हो जाए... आहाहा! कि कुछ बाकी न रहे। क्योंकि भगवान ने भी भावश्रुत द्वारा प्ररूपणा की और उन बारह अंग में भी भावश्रुत का परिपूर्ण स्वरूप आया है। आहाहा! है ? आत्मा की अन्दर ताकत कितनी है! आहाहा! आत्मा की एक पर्याय में ताकत कितनी है!!

यहाँ अब यह आया। **ऐसा (ज्ञान जीव से अभिन्न) होने से, ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है,...** है ? ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है। आहाहा! ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है। वैसे दोनों गुण भिन्न हैं। आहाहा! ज्ञानस्वरूप प्रभु अन्दर, चैतन्य के प्रकाश का चन्द्र पूरा, अकेला प्रकाश का गोला! आहाहा! वह स्वयं ही सम्यग्दर्शन है। आहाहा!

ज्ञान ही संयम है,... यह ज्ञान जो भावज्ञान हुआ, भगवान ने भी भावश्रुतज्ञान कहा और यहाँ जो भावश्रुतज्ञान हुआ, वह संयम है। ज्ञान, ज्ञान में स्थिर होता है। है ? है या नहीं ?

ज्ञान ही अंगपूर्व... यह ज्ञान अर्थात् आत्मा। यह चैतन्यस्वरूप अंग और पूर्वरूप है। ग्यारह अंग और पूर्व... आहाहा! वह तो वाणी है परन्तु यह तो ज्ञान अंग और पूर्व है। ओहोहो! क्या कहा, समझ में आया ? जो अंग और नव पूर्व की वाणी कहना, वह तो द्रव्यश्रुत है परन्तु यह जो है वह **ज्ञान ही अंगपूर्वरूप सूत्र है,...** अन्तर आत्मा स्वयं ही अंगरूप और सूत्रज्ञानरूप है। आहाहा! आत्मा की अचिन्त्य महिमा है। उसकी कोई भी महिमा का पार नहीं होता! ऐसे भगवान को समझने के लिये प्रयत्न किया नहीं। भगवान को छोड़कर दूसरी सब लगायी है। आहाहा!

कहते हैं, **ज्ञान ही अंगपूर्व...** यह रचना जो अंग-पूर्व की अन्तर्मुहूर्त में की, वह नहीं। यह ज्ञान अन्दर है, वह अंग और पूर्व है। आहाहा! भगवान की दिव्यध्वनि का दिन है न! आहाहा! वह अंग और पूर्व जो गणधर को विकसित हुआ, अन्तर्मुहूर्त में क्रम से रचना की। प्रगट हुआ एक समय में! आहाहा! रचना की अन्तर्मुहूर्त में। परन्तु वह ज्ञान वाणी नहीं। परन्तु जो अंग पूर्व का ज्ञान, जो भाव है ज्ञान, वह ज्ञान आत्मा है। आहाहा! अंग और पूर्व का ज्ञान, वह ज्ञान है, यह वाणी नहीं, अक्षर नहीं। आहाहा! इस रूप परिणमित भगवान आत्मा अंग और पूर्व के सूत्ररूप का ज्ञान, यह आत्मा है। आहाहा! आहाहा! गजब बात है! आत्मा की बात सुन ले परन्तु इसकी गहराई, इसकी गम्भीरता... आहाहा!

जिसने रचना अन्तर्मुहूर्त में की, वह ज्ञान कौन सा? वाणी तो वाणी है परन्तु जो ज्ञान अन्दर था, वह तो आत्मा है, वह ज्ञान है। यह कहीं वाणी बोली गयी, लिखी गयी, वह कहीं ज्ञान नहीं है। आहाहा! **ज्ञान ही अंगपूर्वरूप सूत्र है,...** अंग-पूर्व का जो सूत्र है, वह ज्ञान है।

ज्ञान ही धर्म-अधर्म... आहाहा! यहाँ आत्मा भिन्न सिद्ध करना है। आत्मा ज्ञान, वही पुण्य और पाप। आहाहा! दूसरी जगह उसे अधर्म, पुद्गल कहे, पुद्गल के परिणाम ही कहे। पुण्य और पाप पुद्गल है, जड़ है, अचेतन है। पर्याय, हों! यहाँ कहते हैं, इसकी पर्याय है। आहाहा! वे कहीं जड़ के रजकण में नहीं है। शुभ और अशुभ पर्याय, वह आत्मा है। पाप के परिणाम, वे आत्मा हैं; पुण्य के परिणाम, वे आत्मा हैं। एक ओर कहना कि आत्मा पुण्य और पाप से भिन्न है। (पुण्य-पाप), वे अचेतन हैं। पुण्य और पाप भाव, वे जड़ अचेतन हैं। दु:खरूप है, जड़ है, अजीव है। आहाहा! वह इसका वास्तविक त्रिकाली स्वरूप नहीं है, इस अपेक्षा से (कहा)। और यह इसकी पर्याय में होते हैं, इस अपेक्षा से पुण्य और पाप, धर्म और अधर्म (जीव के कहे हैं)। यहाँ पुण्य को धर्म कहा। शुभभाव —दया, दान, भक्ति, व्रत, पूजा शुभभाव, वह धर्म। धर्म अर्थात् पुण्य। पुण्य, वह भी जीव की पर्याय है। आहाहा! वह जीव की पर्याय है और पाप भी जीव की पर्याय है, अधर्म।

ज्ञान ही प्रव्रज्या... आहाहा! प्रव्रज्या अर्थात् चारित्र, वह क्या है? कोई क्रियाकाण्ड शरीर की क्रिया चारित्र है? कोई पंच महाव्रत के परिणाम, वे चारित्र हैं? आहाहा! व्यवहारसमिति, गुप्ति वह चारित्र है? नहीं। ज्ञान प्रव्रज्या है। ज्ञान, ज्ञान में स्थिर हुआ, वह ज्ञान प्रव्रज्या है। आहाहा! इसने दीक्षा ली, प्रव्रज्या ली, ऐसा जो कहा जाता है, वह ज्ञान अन्दर में स्थिर हुआ, ऐसा कहना है। दीक्षा अर्थात् यह वस्त्र बदला, ऐसा नहीं। प्रव्रज्या ली अर्थात् ज्ञान, ज्ञान में स्थिर हुआ। आहाहा!

ज्ञान ही प्रव्रज्या... वापस प्रत्येक में क्या शब्द प्रयोग किया है? 'ही'। प्रत्येक में 'ही' प्रयोग किया है। है न? आहाहा! जीव स्वयं ही ज्ञान है, ज्ञान होने से ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है। 'ही' (अर्थात्) निश्चय से। ज्ञान ही संयम है, ज्ञान ही अंगपूर्वरूप सूत्र है,... आहाहा! और ज्ञान ही... आहाहा! एक ओर शुभ परिणाम को और अशुभ परिणाम को पुद्गल कहे। पुद्गल के परिणाम कहकर पुद्गल कहे। और दूसरी बात कि पुण्य और

पाप, वह जीव—आत्मा है। ज्ञान अर्थात् आत्मा। आहाहा! अपेक्षाएँ, क्या कथन है? यहाँ जितना इसकी स्थिति में बनता है, उतना उसका है, ऐसा सिद्ध करना है। और जब दूसरी बात में दृष्टि की अपेक्षा आवे, (तब ऐसा कहे), जो निकल जाता है, वह इसकी चीज़ नहीं है। आहाहा! वह तो कर्म व्यापक और विकार व्याप्य (है, ऐसा कहे)। आहाहा! व्यापक अर्थात् कर्ता और व्याप्य अर्थात् कार्य। वह कर्म का कार्य, आत्मा का नहीं। वह आत्मा का कार्य नहीं। आहाहा!

पुण्य और पाप... कहा? ज्ञान ही है। आहाहा! **ज्ञान ही प्रव्रज्या है...** आहाहा! कल अध्यवसाय कहा था न? भाई! अध्यवसाय। इसी और इसी में पहले अध्यवसाय को अजीव कहा, फिर अध्यवसाय को जीव की पर्याय कहा और वह अध्यवसाय (मोक्षमार्ग) द्वारा मोक्ष होता है।

मुमुक्षु : एक ही गाथा में ऐसे भिन्न-भिन्न कहने का क्या प्रयोजन है?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा न, इसकी पर्याय में पर्याय इसकी है न, इसलिए। परन्तु फिर भी निकल जाते हैं, इसलिए ये दोनों बातें साथ में रखी। अध्यवसाय को मोक्ष का कारण कहा न? बन्ध अधिकार के कलश में है। अध्यवसाय (अर्थात्) कौन सा अध्यवसाय? आत्मा की एकता की शुद्धता का अध्यवसाय, वह मोक्ष का कारण है। ऐसा है। यहाँ एक जगह अध्यवसाय जीव कहा, दूसरे प्रकार से वह जड़ है, तीसरे प्रकार से वह भ्रम का मूल है, भ्रमणा का मूल है। आहाहा! तीन आये न? क्या अपेक्षा है? वीतराग की वाणी है। आहाहा! है? देखो! आया?

इस प्रकार ज्ञान का जीवपर्यायों के साथ भी... यह सब जीव की पर्याय कही। आहाहा! शुभ-अशुभ, वह जीव की पर्याय ली। और **अव्यतिरेक निश्चयसाधित...** यह पुण्य और पाप आदि, संयम, प्रव्रज्या आदि आत्मा के साथ साध लेना। आत्मा के साथ साध लेना, आत्मा से भिन्न नहीं करना। आहाहा!

मुमुक्षु : दीक्षा प्रव्रज्या तो गुरु के निकट लेते हैं न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह दीक्षा-बीक्षा नहीं। आत्मा ज्ञानस्वरूप में स्थिर हो। जैसे बर्फ जमती है, बर्फ। बर्फ ऐसे जम जाती है, वैसे ज्ञान, चपल जो पर्याय में अस्थिरता पुण्य-

पाप की है, वह वहाँ से हटकर स्थिर हो जाता है, जम जाता है, उसे प्रव्रज्या कहते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : यह तो संयम में आ गया न?

पूज्य गुरुदेवश्री : आ गया परन्तु दोनों भिन्न लिये हैं। कोई ऐसा कहे कि संयम सब है परन्तु यह तो प्रव्रज्या—दीक्षा ली, दीक्षा ली। दीक्षा अर्थात् क्या? कोई कहे कि संयम लिया परन्तु दीक्षा ली अर्थात् क्या? वस्त्र बदले और नग्न हुआ, इसलिए दीक्षा ली? आहाहा! दीक्षा अर्थात् ज्ञान में स्थिर होना। आहाहा! जम जाना। ज्ञान में ज्ञान को डाह्युं बनाना। डाह्युं अर्थात् स्थिर। आहाहा! वीतराग की बातें अलग है, भाई! आहाहा!

पहले तो तर्क उठे कि केवली भावश्रुत ही कहे? केवली को केवलज्ञान है न! केवलज्ञान को चार ज्ञान कैसे हुए? भाई! वह तो पर्याय में रहा। वाणी निकली सही न? वाणी अर्थात् यह द्रव्य है। इसलिए उसमें जो कहने का भाव है, वह भावश्रुत है। आहाहा! गजब बात है! एक ही पकड़कर बैठ जाए तो दिक्कत आवे। यह तो वीतराग मार्ग है। कितने कहे अध्यवसाय के? एक ओर अध्यवसाय जीव का स्वभाव नहीं, ऐसा कहा; एक ओर कहा कि जीव की पर्याय है। आहाहा! और तीसरा अध्यवसाय अर्थात् मोक्ष का मार्ग। यह नहीं, यह अध्यवसाय है, वह तो रागवाला है। वह अध्यवसाय है, वह रागरहित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता को अध्यवसाय कहते हैं।

मुमुक्षु : एक निश्चित कर दो।

पूज्य गुरुदेवश्री : निश्चित किया न! जिस अपेक्षा से जहाँ कहा है, वह निश्चित किया। आहाहा! है यहाँ? श्रीमद् में आया न? श्रीमद् की पुस्तक है न? समयसार संस्कृत टीका में है। आहाहा! गाथा के अर्थ में देखो! और अभी याद आया। दूसरे को दुःखी कर सकता नहीं, सुखी कर सकता नहीं, बन्ध कर सकता नहीं, दूसरे का मोक्ष कर सकता नहीं। आहाहा! बन्ध अधिकार में है।

यहाँ कहा कि संयम और प्रव्रज्या दो लिये न? संयम शब्द से तो अकेला अन्दर में रहना। है, खबर है, लाईन की है। २६० गाथा। क्या है? साता-असाता उदय अभावात्। सुख-दुःख अभाव। पर को साता-असाता का उदय न हो और तू सुख-दुःख कर सके,

यह तीन काल में नहीं है। **'स्वकीय अशुद्ध अने शुद्ध अध्यवसाय अभावात बंध मोक्ष अभाव'** क्या कहते हैं ? स्वकीय। अपने अशुद्ध परिणाम—अध्यवसाय और शुद्ध परिणाम वीतरागता। अशुद्ध और शुद्ध अध्यवसाय अभावात्। यह दो यदि नहीं तो बन्ध और मोक्ष नहीं। आहाहा ! समझ में आया ?

तू ऐसा कहे कि उसे बन्ध-मोक्ष कराऊँ। परन्तु उसे अशुद्ध परिणाम नहीं तो बन्ध नहीं होगा। मोक्ष कराऊँ तो शुद्ध अध्यवसाय, शुद्ध अध्यवसाय नहीं होगा तो उसका मोक्ष नहीं होगा। अध्यवसाय अर्थात् वीतरागता। आहाहा ! यह तो ऐसा है। वीतराग बात है। एक ही जगह पकड़कर बैठे तो नहीं चलता। स्याद्वाद है। किसी अपेक्षा से क्या अधिकार चलता है, उस अधिकार में क्या पद्धति है ? आहाहा ! एक ओर वहाँ कहा कि अध्यवसाय, एक ही जगह दो (अर्थ किये)। एक ओर अध्यवसाय इसमें अजीव कहा और यहाँ शुभाशुभभाव जीव की पर्याय कही। क्या अपेक्षा है, यह समझना चाहिए न ! और यहाँ अध्यवसाय को मोक्ष का मार्ग कहा। वीतराग पर्याय को अध्यवसाय कहा। वीतरागी पर्याय... आहाहा ! चैतन्य भगवान की अन्दर में एकाग्रता (हो), उसे यहाँ शुद्ध अध्यवसाय कहकर मोक्ष का मार्ग कहा है। टीका में है, भाई ! आहाहा !

यहाँ भी कहते हैं, संयम और प्रव्रज्या दो क्यों (कहे) ? दीक्षा ली। परन्तु दीक्षा किसकी ? वस्त्र बदले, नग्न हो गया तो दीक्षा हो गयी ? आहाहा !

मुमुक्षु : पहले द्रव्यदीक्षा होती है और फिर भावदीक्षा हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : भावदीक्षा, वह दीक्षा है। द्रव्यदीक्षा भले भाषा आवे। द्रव्यदीक्षा हो, इसलिए भावदीक्षा होती है—ऐसा नहीं है। फिर से कहते हैं, कि द्रव्यदीक्षा अनन्त बार ली है। यह एक ओर रखो। समकिती पहले द्रव्य दीक्षा ले और द्रव्य दीक्षा लेने पर भी भाव दीक्षा न हो। चौथे गुणस्थान में रहे। दीक्षा ली है छठवें की। क्रिया सब पंच महाव्रत की छठवें की (पालन करता है), अन्दर में चौथा गुणस्थान हो। द्रव्यलिंग के भी तीन प्रकार कहे हैं। द्रव्यलिंगी। एक तो बाहर का क्रियाकाण्ड यथावत करता हो, नग्न मुनि (हो), है मिथ्यादृष्टि। राग को धर्म माननेवाले इत्यादि, वे द्रव्यलिंगी। एक समकित है, प्रव्रज्या नहीं। और प्रव्रज्या (नहीं) तथा दीक्षा ली है। आहाहा ! दीक्षा ली है परन्तु प्रव्रज्या अन्दर से नहीं आयी। है समकिती, इसलिए चौथे गुणस्थान में है और प्रव्रज्या नहीं, वह भी द्रव्यलिंगी

है; और किसी को पाँचवें गुणस्थान अन्दर हो और बाहर में छठवें गुणस्थान की दीक्षा की नग्नपने की क्रिया हो, वह भी द्रव्यलिंगी कहलाता है। आहाहा! वीतराग के मार्ग का पार नहीं, इतना गहन मार्ग! आहाहा! तत्त्वार्थसूत्र में है।

(निश्चय द्वारा सिद्ध हुआ...) जीव की पर्याय के साथ भिन्नता नहीं है। अव्यतिरेक अर्थात् भिन्नता नहीं है। ऐसे **निश्चयसाधित देखना... अब, इस प्रकार सर्व परद्रव्यों के साथ...** यहाँ परद्रव्य लिये। आहाहा! अध्यवसाय को अध्यवसाय कहा, जीव की पर्याय कहा, परद्रव्य कहा। आहाहा! क्या-क्या अपेक्षा किस जगह (है, वह समझना चाहिए)। आहाहा! गहन विषय है, भाई! वीतराग की वाणी गहन है।

यहाँ ऐसा कहा कि **इस प्रकार सर्व परद्रव्यों के साथ व्यतिरेक...** भिन्नता है। आहाहा! वहाँ कहा था जीव की पर्याय है, जीव है, ज्ञान है। आहाहा! इसकी पर्याय में होता है, इस अपेक्षा से। यहाँ फिर वास्तविक अन्दर पवित्रता नहीं और पवित्रता से मुक्ति होती है, वह नहीं; इसलिए उसे जड़ कहा और परद्रव्य कहा। आहाहा! कितना याद रखना? बापू! अभ्यास करे तो मार्ग समझ में आये। संसार का अभ्यास कितना किया होता है और वह सब पाप का? हीरा का, माणेक का। वह पाप पूरे दिन। ग्राहक को बुलाना पाप, उसे समझाना पाप, देना पाप, पैसा लेना पाप, पैसा देना पाप, सब पाप। पूरे दिन पाप के पोटले। तुम्हारे घड़ियों में भी पाप के पोटले। आहाहा!

मुमुक्षु : वह सब भूलकर यही याद करने योग्य है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, परन्तु यह भूल जाने के लिये तो बात चलती है। परन्तु यह कब हो? कि यह हो तब भूले, इसके बिना भूला नहीं जाता। आहाहा! पैसा आवे, तब निर्धनता जाती है; इसी प्रकार यह भान हो, तब यह भाव जाता है। आहाहा! बापू! यह पाठशाला अलग प्रकार की है। आहाहा! यह कॉलेज अलग है। त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव परमेश्वर का यहाँ विरह पड़ा। आहाहा! उनकी वाणी के रहस्य और उनके कथन, भरतक्षेत्र में विरह पड़ गया। प्रभु नहीं होते, वाणी रह गयी। अब वापस उस वाणी के अर्थ करना वह स्वयं को (आता नहीं)। आहाहा!

अब, इस प्रकार सर्व परद्रव्यों के साथ... परद्रव्य में सब ले लिया। अध्यवसाय

परद्रव्य, धर्मास्ति परद्रव्य, तीर्थंकर परद्रव्य। आहाहा! ओहो! गजब बात है, भाई! **सर्व परद्रव्यों के साथ व्यतिरेक के द्वारा...** व्यतिरेक अर्थात् भिन्नता। भिन्नता द्वारा **और सर्व दर्शनादि जीवस्वभावों के साथ अव्यतिरेक के द्वारा..** अभिन्न। आत्मा के साथ दर्शन, ज्ञान, आनन्द अभिन्न है। अव्यतिरेक अर्थात् भिन्नता नहीं है। आहाहा! भिन्नता नहीं है।

अतिव्याप्ति को और अव्याप्ति को दूर करता हुआ, अनादि विभ्रम जिसका मूल है,... अब तीसरी बात आयी। आहाहा! एक ओर अध्यवसाय को जीव कहा— ज्ञान, एक ओर अध्यवसाय को अजीव कहा—जड़। अब ये पुण्य और पाप **अनादि विभ्रम जिसका मूल है,...** क्योंकि वहाँ अटका है। कुछ न कुछ कुछ शुभभाव में मिठास (लेता है)। आहाहा! गहरे-गहरे शुभभाव, भगवान की भक्ति, स्मरण, अन्दर लगनी, ध्यान। ध्यान कर ले परन्तु उस ध्यान में विकल्प है। आहाहा! **अनादि विभ्रम जिसका मूल है,...** किसका? विभ्रम मूल किसका? पुण्य और पाप, शुभ और अशुभ।

परसमय को दूर करके,... देखा? यह दूर करके फिर यह होता है। आहाहा! बात ही अभी समझ में न आयी हो, अभी ख्याल में न आवे, खिचड़ा (करे)। निकालना क्या और रखना क्या? खिचड़ा खाये इकट्ठा। खिचड़ा में तो गेहूँ, मूँग और चावल भी होते हैं। इस खिचड़ा में तो चावल और कंकड़ इकट्ठे। विपरीत मान्यता के कंकड़ इकट्ठे (होते हैं)। यह खिचड़ा निकालना। आहाहा! खीहर में (संक्रान्त में) खिचड़ा नहीं बनाते? (संक्रान्त में) मूँग और बाजरा का बनाते हैं। आहाहा!

यहाँ तो अनादि से तीन लोक के नाथ भगवान, के साथ शुभ-अशुभ कंकड़ को मिला डाला है। इसलिए उसे मूल कहा है। आहाहा! शुभक्रिया की—देव-गुरु की भक्ति, स्तवन, वाँचन, श्रवण और शास्त्र का ज्ञान तथा वाँचन करके लोग पाँच-पाँच हजार, दस-दस हजार इकट्ठे हुए, उसमें भला क्या हुआ? आहाहा!

यह कहते हैं, **अनादि विभ्रम जिसका मूल है, ऐसे धर्म-अधर्मरूप (पुण्य-पापरूप,...)** आहाहा! भगवान आत्मा पुण्य और पाप से भिन्न तत्त्व की दृष्टि बिना शुभ-अशुभभाव, पुण्य और पाप के भाव को अपना मानकर खिचड़ा करके अपना माना, उन्हें दूर कर। दुकान छोड़कर बैठा, वह दूर नहीं, ऐसा कहते हैं। यह तो अन्दर सन्तोष है कि

लड़के करते हैं। यह तो वह का वह है, उसमें कुछ अन्तर नहीं। लड़के करते हैं, इसलिए (दिक्कत नहीं है)। मैं करूँ वैसा वे करें, तैयार हो गये तो वे करते हैं। सब एक का एक ही है न! और सब जगह यही है।

हमारे दुकान में भी लड़का तैयार हुआ तो—मनसुख तैयार हुआ तो कुँवरजीभाई कम कुछ करे, मनसुख का लड़का तैयार हुआ तो मनसुख कम करे। अब अलग पड़े तो और... इकट्ठे हो गये। पिता-पुत्र को अधिक करना पड़े। दुकान बड़ी चलती है, आमदनी बड़ी। आहाहा! इसमें सिर मारकर उसमें से निकलना बहुत कठिन काम है। उसे छोड़े तो भी यहाँ तो कहते हैं, परसमय है जितना उसे छोड़े। है न?

सर्व दर्शनादि जीवस्वभावों के साथ अव्यतिरेक के द्वारा अतिव्याप्ति को और अव्याप्ति को दूर करता हुआ, अनादि विभ्रम जिसका मूल है, ऐसे धर्म-अधर्मरूप (पुण्य-पापरूप, शुभ-अशुभरूप,) परसमय... यह परसमय है। आहाहा! शुभभाव, ऊँचे में ऊँचा परसमय। पुण्य की ४२ प्रकृतियाँ पड़े, उसमें ऊँची में ऊँची तीर्थंकर प्रकृति। उसमें जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव भी परसमय है। आहाहा! क्योंकि शुभभाव से बन्ध पड़ता है। भगवान अबन्धस्वरूप है। **'जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं'** आत्मा को अबद्धस्पृष्ट देखे, यह बराबर है, आत्मा को राग के बन्धवाला देखे, यह मिथ्यात्व है। आहाहा! १४-१५ वीं गाथा।

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेस-मसंजुत्तं तं सुद्ध-णयं वियाणीहि ।।१४।।

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
अपदेससंतमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं ।।१५।।

आहाहा! राग से भगवान को अन्दर भिन्न देखे; भासे, पुण्य-पाप के विकल्प से प्रभु भिन्न भासे... आहाहा! और अनुभव (करे), उसका नाम जैनशासन है। **'पस्सदि जिणसासणं'** उसने जैनशासन को देखा। आहाहा! बद्ध है और राग से सम्बन्ध है, ऐसा जिसने देखा, उसने जैनशासन नहीं देखा। आहाहा! कठिन मार्ग। जितना क्रियाकाण्ड के विकल्प दया, दान, भक्ति, व्रत, पूजा इन सबसे भिन्न देखे, वह जैनशासन है। यह राग, वह जैनशासन नहीं। आहाहा!

इसलिए कहा, **परसमय को दूर करके, स्वयं ही प्रव्रज्यारूप को प्राप्त करके...** स्वयं ही, स्वयं ही प्रव्रज्या होकर। शुभभाव किया था, इसलिए उसे प्रव्रज्या हुई, पहले शुभ विचार में बहुत रहे, इसलिए प्रव्रज्या हुई, ऐसा नहीं है। आहाहा! क्योंकि वह तो जहर है। आहाहा! परसमय है, विष का घड़ा है। है तो एक समय की पर्याय। असंख्य समय में ख्याल में आती है। उस शुभभाव को जहर का घड़ा कहा। जहर का घड़ा है; भगवान आत्मा अमृत का घड़ा है। आहाहा! गजब किया है न!

उसे **दूर करता हुआ, अनादि विभ्रम जिसका मूल है,...** मूल गहरे-गहरे-गहरे मूल (रह गया)। कहीं न कहीं कहीं शुभ के असंख्य प्रकार, उसमें से किसी शुभभाव से समकित हो, (ऐसा विभ्रम रह गया)। करणलब्धि, प्रायोग्यलब्धि और देशनालब्धि आती है न? वहीं का वहीं पाठ लिया, शुद्धात्माभिमुख परिणाम। सब बात छोड़कर शुद्धात्माभिमुख परिणाम (कहा है)। आहाहा! शुद्ध आत्मा आनन्दस्वरूप प्रभु, उसके अभिमुख—सन्मुख के परिणाम, वह समकित है। आहाहा! कोई शुभभाव बहुत करे, इसलिए समकित हो जाए, (ऐसा नहीं है)। आहाहा!

परसमय को दूर करके, स्वयं ही प्रव्रज्यारूप को प्राप्त करके... लो, स्वयं प्रव्रज्यारूप होकर। अन्दर आनन्द में एकाग्र होकर। अतीन्द्रिय आनन्द। आहाहा! यह प्रव्रज्या, अतीन्द्रिय आनन्द स्वयं ही प्रव्रज्या। स्वयं ही कहने से वह शुभ था तो यहाँ चारित्र हुआ या दीक्षा हुई, ऐसा नहीं है। वह तो विभ्रम का मूल कहा। उससे दूर हटकर **स्वयं ही प्रव्रज्यारूप को प्राप्त करके...** आत्मा स्वयं उसरूप होकर। आहाहा! **स्वयं ही...** स्वयं ही, स्वयं ही—ऐसा कहा। पर की जरा भी सहायता नहीं। देव-गुरु-शास्त्र से मिले या शुभभाव की क्रिया, बहुत शुभभाव (करे), पूरे दिन पठन-पाठन करे, इसलिए हो जाए, ऐसा नहीं है। स्वयं ही। स्वयं आत्मा अपने से ही प्रव्रज्या हो जाता है। आहाहा!

मुमुक्षु : चौथे, पाँचवें गुणस्थानवाले की बात क्यों नहीं की?

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ तो मुनि की (बात है)। अन्तिम अधिकार है। यह तो सब (बात) आ गयी है। १४-१५ गाथा। १४वीं गाथा समकित, १५वीं... सब आ गयी है। यह तो अन्तिम (अधिकार है)। तीन काल और तीन लोक से भिन्न। प्रतिक्रमण आया न? ४९ भंग, १४८ प्रकृति से भिन्न। अन्तिम अधिकार है न? आहाहा!

स्वयं ही प्रव्रज्यारूप को प्राप्त करके... आहाहा! पहले यह शुभ विचार थे, इसलिए अन्दर समकित का और चारित्र का सरल पड़ा, ऐसा नहीं है। आहाहा! स्वयं ही, स्वयं अपने आप से, पर की अपेक्षा बिना। आहाहा! **स्वयं ही प्रव्रज्यारूप को प्राप्त करके (अर्थात् स्वयं ही निश्चयचारित्ररूप दीक्षाभाव को प्राप्त करके),...** यह दीक्षा। नग्नपना ले लिया, वस्त्र छोड़ दिये, इसलिए दीक्षा हो गयी, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! आत्मा के ज्ञान में स्थिर हो जाए, विकल्प बिना स्वयं अपनी सहायता से, दूसरे की अपेक्षा और मदद बिना। ऐसा जो आत्मा का स्वरूप, उसमें स्वयं स्थिर हो जाए, ऐसी प्रव्रज्या ग्रहण करके। आहाहा! है न?

(स्वयं ही निश्चयचारित्ररूप दीक्षाभाव को प्राप्त करके), दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थितिरूप... उसे छोड़कर अब दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थिर हो। आहाहा! उसका नाम चारित्र है। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४४६, गाथा-३९० से ४०४ मंगलवार, अषाढ़ कृष्ण २
दिनांक - २९-०७-१९८०

समयसार, यहाँ से— **अब, इस प्रकार...** यहाँ से। **अब, इस प्रकार सर्व परद्रव्यों के साथ व्यतिरेक के द्वारा...** क्या कहते हैं ? कि यह आत्मा जो है, यह सच्चिदानन्दस्वरूप है। अपना सत् अनादि ज्ञानानन्द सत् है। यह वस्तु परवस्तु से भिन्न है। शरीर, कर्म, राग और द्वेष, ऐसे परिणाम से भी वह भिन्न है। आहाहा! है ? **सर्व परद्रव्यों के साथ व्यतिरेक के द्वारा...** अर्थात् भिन्नता। व्यतिरेक अर्थात् भिन्नता। आहाहा!

यह चैतन्यस्वरूप जीव जानने-देखनेवाला भगवान, यह सर्व परद्रव्यों से व्यतिरेक— भिन्न है। स्वयं पर से भिन्न है और पर अपने से भिन्न है। आहाहा! कभी आत्मा की ओर दृष्टि नहीं की। दुनिया की झंझट, मजदूरी... मजदूरी। यह धन्धा आदि की मजदूरी। आहाहा! आत्मा अन्दर सच्चिदानन्दस्वरूप, अतीन्द्रिय आनन्द का भण्डार भरा है। उसे परद्रव्य के साथ व्यतिरेक (अर्थात्) परद्रव्य के साथ बिल्कुल सम्बन्ध नहीं है। आहाहा!

और सर्व दर्शनादि जीवस्वभावों के साथ... और अन्तर में जानना, देखना, आनन्द, शान्ति, पुरुषार्थ—वीर्य, ऐसे गुणों के साथ अव्यतिरेक अर्थात् सम्बन्ध है। अनन्त गुणों के साथ सम्बन्ध है (और) परद्रव्य से रहित है। आहाहा! एक रजकण और एक राग, प्रशस्त राग का शुभभाव भी आत्मा में नहीं है। आहाहा! और यह रजकण, यह (शरीर) तो अनन्त परमाणुओं का पिण्ड है, अनन्त रजकण का दल—स्कन्ध है। इससे तो प्रभु अन्दर अत्यन्त भिन्न है। इसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! **सर्व दर्शनादि जीवस्वभाव...** देखना-जानना, आनन्द, वह तो जीव का स्वभाव है। अपने जीव का स्व... स्व-भाव, वह अपना भाव है। आहाहा! उसके साथ **अव्यतिरेक के द्वारा...** (अर्थात्) उसके साथ भिन्नता नहीं है।

अतिव्याप्ति... स्वयं से दूसरे में रहना, वह अतिव्याप्ति। **और अव्याप्ति...** जहाँ-जहाँ आत्मा, वहाँ-वहाँ ज्ञान। उसमें किसी जगह अव्याप्ति नहीं। कि आत्मा है और ज्ञान नहीं तथा ज्ञान है और आत्मा नहीं। इन **अतिव्याप्ति को और अव्याप्ति को दूर करता हुआ,...** आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! धर्म चीज़ सूक्ष्म है। **अनादि विभ्रम जिसका**

मूल है,... शुभ और अशुभभाव, पुण्य और पाप के भाव, वह मिथ्यात्व का मूल है, भ्रमणा का मूल है। वह अपने में नहीं है। शुभ-अशुभभाव अपने में नहीं है। तथापि ज्ञाता-दृष्टा में वे पुण्य और पाप मेरे हैं, ऐसा विभ्रम कर लिया है। आहाहा! इससे चार गति में भटकता है।

अनादि विभ्रम जिसका मूल है,... आहाहा! पुण्य-पाप, वह भ्रम का मूल है। क्योंकि आत्मा अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि है, उनके साथ शुभ-अशुभभाव, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, सेवा का राग भ्रम उपजाता है कि राग आत्मा का है। वह आत्मा का है नहीं। अपना हो, वह दूर नहीं रहता और दूर रहे, वह अपना नहीं है। आहाहा! शरीर और वाणी तो स्थूल जड़ है। उनके साथ तो कुछ सम्बन्ध नहीं है। भगवान आत्मा तो अन्दर अरूपी है, जिसमें वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श नहीं, परन्तु उसमें पुण्य और पाप के भाव भी नहीं। आहाहा! **अनादि विभ्रम जिसका मूल है, ऐसे धर्म...** अर्थात् शुभभाव **अधर्म...** अर्थात् अशुभभाव। पुण्य और पाप। **परसमय को दूर करके,...** धर्मी जीव अपना शुद्ध त्रिकाली स्वभाव का आश्रय लेकर पुण्य और पाप जो भ्रम है, उसे अन्तर से दूर करता है। आहाहा! भारी कठिन काम।

अन्तर वस्तु चैतन्य भगवान सच्चिदानन्द प्रभु, सत्—कायम रहनेवाला और ज्ञान और आनन्द जिसका रूप है। वह पुण्य-पाप के भाव मैल है, भ्रम उपजाते हैं कि मानो चैतन्य की चीज़ है। भ्रम उपजाते हैं कि शुभभाव और अशुभभाव मेरी चीज़ है। दया, दान, भक्ति, व्रत, वह सब राग है, शुभराग भ्रम है। आहाहा! यह डॉक्टर-बॉक्टर सेवा करते होंगे, वह क्या होगा? वह भ्रम है। शुभराग... शुभराग। कल कोई कहता था न, बाहर बजे तक लाईन जमती है। बहुत डॉक्टर ऐसे होते हैं। स्वयं ने अपना काम किया हो, इसलिए फिर निवृत्ति से आवे, उसे दे। वह मानो कि हम सेवा करते हैं। सेवा नहीं, असेवा है। क्यों?— कि वह शुभभाव है, पुण्यभाव है। वह पुण्यभाव अपना स्वरूप नहीं। अपना स्वरूप होवे तो अपने से दूर नहीं रहता और कभी मुक्ति नहीं होती। आहाहा! भारी कठिन काम।

परसमय को दूर करके,... पुण्य और पाप, शुभ और अशुभभाव दोनों को अन्तर्दृष्टि से, अन्तर ज्ञान—आनन्दस्वभाव की दृष्टि से अन्तर में उसे दूर करे। धर्मी उसे कहते हैं। आहाहा! कि अपने ज्ञानानन्दस्वभाव से शुभ-अशुभभाव मलिन हैं, मैल हैं, उन्हें अपने निर्मलानन्द भगवान आत्मा से दूर करे। आहाहा!

स्वयं ही प्रव्रज्यारूप को प्राप्त करके... स्वयं चारित्र लेता है। चारित्र इसका नाम है। वस्त्र बदल डालना, नग्न होना, वह कोई चारित्र नहीं है। अन्तर में आत्मा ही आनन्दस्वरूप प्रभु है। वह पुण्य-पाप को दूर करके अपने आनन्द और ज्ञानस्वरूप में स्थिर रहना, अपने स्वरूप में स्थिर हो जाना, इसका नाम प्रव्रज्या अर्थात् दीक्षा अर्थात् चारित्र कहते हैं। आहाहा! दुनिया से उल्टा है।

स्वयं ही प्रव्रज्यारूप को प्राप्त करके... स्वयं ही क्यों कहा? कि पुण्य परिणाम की भी मदद नहीं। शुभभाव की भी अपेक्षा, सहायता नहीं। आहाहा! चैतन्यमूर्ति अस्ति जाननस्वभाव चैतन्य से पुण्यभाव को छोड़कर। आहाहा! **स्वयं ही प्रव्रज्यारूप को प्राप्त करके...** वह पुण्य-पाप छूटे, तब अपने स्वरूप में स्थिर हो, तब उसका नाम चारित्र, प्रव्रज्या, मुनिपना, दीक्षा, दीक्षा की शिक्षा तब कही जाती है। आहाहा! जगत के साथ अन्तर बहुत। निवृत्ति नहीं मिलती। संसार की मजदूरी, मजदूरी पूरे दिन। यह करो और यह करो यह करो और यह करो...

प्रभु! तू तो ज्ञान है न! ज्ञान करे किसे? ज्ञान किसे न जाने? आहाहा! क्या कहते हैं? ज्ञानस्वरूप भगवान किसका करे? आहाहा! किसी का कर नहीं सकता। दूर करना, वह भी उसमें नहीं है। वह तो जानने-देखनेवाला है। आहाहा! वह जानना-देखना हुआ, तब पुण्य और पाप दूर हुए, तब प्रव्रज्या अर्थात् चारित्र कहा जाता है। आहाहा! जगत से भिन्न बहुत कठिन।

(निश्चयचारित्ररूप दीक्षाभाव को प्राप्त करके)... दीक्षा इसका नाम है। स्त्री, कुटुम्ब, दुकान छोड़कर नग्नपना लिया, इसलिए वह दीक्षा हुई, ऐसा नहीं है। दीक्षा तो उसे कहते हैं, अपना ज्ञान और आनन्दस्वरूप में लीन होकर शुभ-अशुभभाव को छोड़कर आनन्द का वेदन करे, उसे दीक्षा अथवा चारित्र कहते हैं। आहाहा! बाह्य का कुछ आचरण करे, सदाचरण करे तो माने कि ओहो! (यह) सदाचरण नहीं है। शुभभाव भी सदाचरण नहीं, असदाचरण है। दया, दान, भक्ति, सेवा का भाव भी असदाचरण है। आहाहा! सदाचरण तो भगवान आत्मा में आचरण—एकाग्रता करना, वह सदाचरण है। यह बात सुनी न हो। जिन्दगी ऐसी की ऐसी निकल जाए। चौरासी में भटके, परिभ्रमण करे। आहाहा!

इस चारित्र बिना शुभभाव भी अचारित्र है। चाहे तो पर की अहिंसा, पर की दया,

पर को नहीं मारने का अहिंसा भाव, सब शुभभाव बन्ध का कारण है। आहाहा! क्योंकि आत्मा ज्ञानस्वरूप है। चैतन्यचन्द्र! चैतन्य शीतल चन्द्र का पिण्ड है। आहाहा! आत्मा उसे कहते हैं कि जिसमें शीतलता—शान्ति, अविकारी भाव से भरपूर पड़ा है। शान्त... शान्त... जिसमें पर की दया का विकल्प उठाना, वह भी अपनी हिंसा है। आहाहा! कठिन काम है, प्रभु! क्या हो ? बात तो जो हो वह बाहर आवे। दुनिया को ठीक पड़े, न ठीक पड़े, बैठे, न बैठे, उससे सत्य कहीं असत्य नहीं हो जाएगा और असत्य कहीं सत्य नहीं हो जाएगा। आहाहा!

पर की सेवा। सेवा का अर्थ क्या ? उसे ठीक पड़े, ऐसा करना वह सेवा। वह सेवा नहीं। सेवा तो स-ऐव—सेवा। स-आत्मा की ऐव-निश्चय अन्दर एकाग्रता, वह सेवा है। आहाहा! शुभ और अशुभभाव, पुण्य और पाप के भाव असेवा है। उनसे रहित आत्मा में लीन होना, वह सेवा है। आहाहा!

(निश्चयचारित्ररूप दीक्षाभाव को प्राप्त करके), दर्शन-ज्ञान-चारित्र में... अपना स्वभाव जो दृष्टा है, ज्ञाता है और चारित्र—स्थिर रहना, वह चारित्र भी उसका गुण है। उसमें स्थिर **स्थितिरूप स्वसमय को प्राप्त करके,...** वह स्वसमय। स्व—आत्मा। राग और पुण्य को प्राप्त करे, वह अनात्मा। आहाहा! आत्मा को छोड़कर अपनी चीज़ में है नहीं, ऐसे शुभ-अशुभभाव, वे अनात्मा हैं; वे आत्मा नहीं। आहाहा! ऐसे **स्वसमय को प्राप्त करके,...** कल यहाँ तक आया था।

मोक्षमार्ग को अपने में ही परिणत करके,... यह मोक्षमार्ग। राग से हटकर भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप प्रभु में लीन होकर मोक्षमार्ग को अपने में परिणत करके। बन्धरहित मोक्षमार्ग अपने में परिणत (करके)। परिणत अर्थात् दशा करके। यह राग और जड़ की क्रिया, शरीर, वाणी, मन यह जड़, मिट्टी। यह तो मिट्टी है। इनकी कोई क्रिया आत्मा में लाभदायक नहीं, तथा वह क्रिया नुकसानकारक भी नहीं। उसे मानना कि यह क्रिया मैं करता हूँ, यह मान्यता नुकसानकारक है। आहाहा! बहुत अन्तर।

पूरे दिन काम करे और यहाँ कहते हैं, अकेला हो जा, नहीं तो चौरासी के अवतार में मर जाएगा। चौरासी के अवतार कर-करके कौवा और कुत्ता और सूकर, ऐसे अवतार अनन्त बार किये, प्रभु! इससे पहले, भव से पहले, भव से पहले, भव से पहले, भव से

पहले भव थे। अनन्त-अनन्त भव हैं। आहाहा! उसमें कभी आत्मज्ञान किया नहीं। इस कारण से चौरासी लाख में भटकना पड़ा। आहाहा! अपने स्वरूप को... आहाहा!

मोक्षमार्ग को अपने में ही परिणत करके,... मोक्ष का मार्ग अर्थात् पूर्ण आनन्द का लाभ। मोक्ष अर्थात्? आत्मा के पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द का लाभ। इसका नाम मोक्ष। बन्ध (अर्थात्) राग-द्वेष के दुःख का सम्बन्ध और भोगना, वह बन्ध। आहाहा! **मोक्षमार्ग को अपने में ही परिणत करके,...** राग दया, दान, व्रत, तप वह तो बन्ध का कारण जहर है। जहर से भिन्न भगवान अमृतस्वरूप है। उस अमृतस्वरूप में परिणत (होकर)। अन्दर-अन्दर बदलना। जो राग में, पुण्य-पाप में बदलता था, उसे छोड़कर अपने शुद्ध में बदलना—परिणमना, पर्यायरूप होना, निर्मल दशारूप होना, वीतराग पर्यायरूप होना, वह मोक्षमार्ग को परिणत किया कहा जाता है। आहाहा! पूरे दिन दुनिया के काम करना.... कौन करे? प्रभु! अभिमान है।

आहाहा! प्रभु अन्दर तो चैतन्य है न, प्रभु! वह चैतन्य तो जानन-देखन शक्ति सम्पन्न है। जानन-देखन सम्पन्न है। किसी का कर्ता (होना) या किसी का नाश करना या किसी को नुकसान पहुँचाना या किसी को लाभ पहुँचाना, ऐसी कोई चीज़ आत्मा में नहीं है। आहाहा!

मोक्षमार्ग को अपने में ही परिणत करके, जिसने सम्पूर्ण विज्ञानघनस्वभाव को प्राप्त किया है... आहाहा! विज्ञानघन। जैसे सर्दी में... शियाला कहते हैं? सर्दी। सर्दी के दिनों में पहले घी होता था घी। अभी तो गड़बड़ हो गयी। पहले बढ़िया घी था। घी ऐसा कठोर (होवे कि) अन्दर अँगुली डाले तो दुःखने लगे। आहाहा! पहले सर्दी में घी ऐसा होता था सर्दी में, गड़बड़ नहीं थी। कपासिया, वह घी ऐसा मजबूत घन था कि अँगुली घुसावे तो अँगुली में दर्द हो, ऐसा घन था। आहाहा! वह सब बदल गया।

इसी प्रकार आत्मा विज्ञानघन है। उसमें दया, दान के विकल्प का प्रवेश नहीं है। आहाहा! वह विकार को तो छूता नहीं। ऐसा चैतन्य भगवान..! आहाहा! है? **सम्पूर्ण विज्ञानघनस्वभाव...** विज्ञानघन हो जाओ। जिसमें राग का प्रवेश नहीं। राग के त्याग से अराग (स्वभावी) ऐसा अपना स्वभाव वह पूर्ण घन पिण्ड हो गया। इसका नाम मोक्ष और इसका नाम संसार का अभाव है। आहाहा!

इसके **त्यागग्रहण से रहित,...** पाठ में है न? भाई! सैंतालीस शक्ति में एक शक्ति है। आत्मा में अनन्त शक्तियाँ—गुण हैं। जैसे मिश्री में सफेदाई, मिठास, सुगन्धता ऐसी शक्ति है, वैसे आत्मा में ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि अनन्त शक्तियाँ हैं। उनमें एक त्यागोपादानशून्यत्व शक्ति है। आत्मा में एक गुण ऐसा है कि पर के त्याग और पर के ग्रहणरहित उसका स्वरूप है। आहाहा! आया न?

त्यागग्रहण से रहित,... पाठ में है। आहाहा! चैतन्यस्वरूप भगवान पर के एक रजकण को भी ग्रहण नहीं करता और रजकण को छोड़ता नहीं। उसमें ग्रहण-त्याग नहीं है। उसमें भ्रम है। पुण्य और पाप मेरे हैं, ऐसा भ्रम अज्ञानी को है। इस कारण से चार गति में भटकता है। उसे छोड़कर **त्यागग्रहण से रहित,...** राग का त्याग भी नहीं और स्वरूप का ग्रहण हो गया। चैतन्यस्वरूप यहाँ पूर्णरूप से प्राप्त हो गया, वहाँ राग तो है ही नहीं। राग का त्याग और स्वरूप का ग्रहण। अपना ग्रहण और राग का त्याग। ऐसा विज्ञानघन आत्मा। अरे! ऐसी बात कहाँ? दुनिया तो अभी धमाधम... धमाधम (करती है)। यह मण्डल बनाओ और यह बनाओ और इसका ऐसा करो। आहाहा! सेवा मण्डल के सेवक होओ, अमुक को ऐसा करो। आहाहा!

अरे! प्रभु! तू तो ज्ञानस्वरूप है न! ज्ञान से क्या काम कराना है? ज्ञान जानने का काम करे या ज्ञान पर के काम करे? आहाहा! पर के काम आत्मा तीन काल में नहीं कर सकता और अपना स्वभाव ज्ञान और आनन्द (है), उसे कभी नहीं छोड़ता। ऐसी दृष्टि और स्वरूप जहाँ प्राप्त हुआ... आहाहा! वह **त्यागग्रहण से रहित, साक्षात् समयसारभूत,...** आत्मा हो गया। साक्षात् आत्मा हुआ। आत्मा तो पहले था परन्तु जब शुभ-अशुभभाव को अपना मानकर भ्रमणा करता था तो उसे आत्मा नहीं कहते थे। आहाहा! आत्मा तो अनादि है, जो है, जो है, वह चीज़ कभी नहीं, ऐसा नहीं होता। है, उसकी अवस्था के अनुभव द्वारा, पर्याय द्वारा वह है, जिसकी अवस्था है, वह ध्रुव है। आहाहा! यह विचार आदि बदलता है, वह पर्याय / अवस्था है। वह अवस्था ध्रुव की है। वस्तु अन्दर त्रिकाल ध्रुव है। उस ध्रुव को... आहाहा! साक्षात् समयसारभूत होकर। साक्षात् हो गया, पर्याय में पूर्ण हो गया। राग को छोड़कर ध्रुव के आश्रय से पर्याय में भी पर्याय की ध्रुवता हो गयी। ऐसी की ऐसी निर्मल पर्याय रहेगी। इसका नाम आनन्द और इसका नाम मोक्ष है। बाकी सब बातें हैं। आहाहा!

त्यागग्रहण से रहित, साक्षात् समयसारभूत,... साक्षात् क्यों कहा ? आत्मा तो था, आत्मा तो अनादि से है ही परन्तु पुण्य और पाप के मैल के साथ एकत्वबुद्धि के कारण अपनी चीज़ भिन्न नहीं देखता था। उस अपनी चीज़ को जब भिन्न देखे और स्थिर हो, तब साक्षात् समयसार हो जाता है। आत्मा जैसा है, वैसा हो जाता है। इसका नाम मुक्ति। उसे परिभ्रमण करना नहीं पड़ता। आहाहा! उसे चार गति में भटकना नहीं पड़ता। बाकी तो चार गति में भटकना पड़ेगा। भटकता है या नहीं ? आहाहा! एक मनुष्य मरकर ढोर-पशु में उपजे, पशु मरकर मनुष्य होगा। आहाहा! ऐसे-ऐसे अनन्त भव किये। पशु मरकर नरक में जाए। नीचे नरक है। बहुत हिंसा आदि करे, वह मरकर नरक में जाता है। और बड़े राजा, महाराजा माँस खाये, उनका स्थान नरक है। नीचे नरक है। महादुःख है, जिनके दुःख का पार नहीं। जिनके एक क्षण का दुःख करोड़ों भव और करोड़ों जीभ से कहा नहीं जा सकता। ऐसे दुःख हैं। ऐसे दुःख नरक में हैं। एक क्षण में ऐसे दुःख हैं। ऐसे के ऐसे जिन्दगी अरबों वर्ष वहाँ निकाले हैं। भूल गया, यहाँ आया तो सब भूल गया। कहाँ था ? कैसे रहा ? कैसे भव किये ? वर्तमान स्त्री, पुत्र, पैसा, इज्जत, कीर्ति, सेवा में रुक गया। आहाहा!

कहते हैं, **साक्षात् समयसारभूत, परमार्थरूप...** परमार्थ (अर्थात्) यह परमार्थ, हों! पर को कुछ देना-लेना, क्षुधावन्त को आहार देना, तृषावन्त को पानी देना, परमार्थ है, वह परमार्थ है नहीं। वह तो राग है। आहाहा! यह परमार्थभूत **शुद्धज्ञान...** आहाहा! जैसा चैतन्यस्वरूप शुद्धज्ञान है और पुण्य-पाप के साथ मलिन था, उसे छोड़कर अकेला ज्ञान परमार्थ रह गया, इसका नाम परमार्थ कहते हैं। परम-अर्थ। परमार्थ—परम-अर्थ। उत्कृष्ट पदार्थ जैसा है, वैसा हो गया। इसका नाम मुक्ति है। आहाहा! बाकी तो बन्धन और चार गति में चौरासी में भटकना है।

परमार्थरूप शुद्धज्ञान एक अवस्थित... आत्मा के साथ जो पुण्य-पाप अनेक थे, शुभ-अशुभभाव को छोड़कर अकेला रहा। मलिनता से दो रूप था। बिगड़े, बिगड़े, एकड़े एक और बिगड़ दो। एक आत्मा में रहना, वह एक है और राग के साथ एकत्व करना, वह बिगड़ता है। बिगड़े-बिगड़े, दो आते हैं न ? आहाहा! हिन्दी में क्या कहते हैं ? दूसरे के साथ जुड़ा तो बिगड़ गया। आहाहा! यह तो एकड़े एक और बिगड़ दो का हिन्दी में क्या है ? बिगड़े में क्या आया ? हमारे गुजराती में तो ऐसा कहते हैं, एकड़े एक, बिगड़े

दो, तगड़े तीन। स्त्री और पुत्र, कुटुम्ब फिर तगड़े, चार गति में भटकना। ऐसा करना और ऐसा करना और ऐसा करना। आहाहा!

यह तो पहले कहते थे न? मनुष्य हुआ तो दो पैर है, जब स्त्री हुई, तब चार पैर हुए, ढोर हुआ। पशु जैसा हुआ। स्त्री की तो (पशु जैसा हुआ)। पूरे दिन उसके साथ माथाकूट। उसका लड़का हुआ तो छह पैर हुए। मकड़ी हुआ। करोलिया को क्या कहते हैं? मकड़ी। मकड़ी को छह पैर होते हैं। लड़के को स्त्री हुई तो आठ पैर हुए तो भँवरा हुआ। भँवरे को आठ पैर होते हैं। भँवरा होता है न? भँवरा कहते हैं न? आहाहा! भटकते-भटकते अनन्त काल ऐसे गया। अपनी चीज़ क्या है? मैं एक ही हूँ, मेरे साथ दूसरी कोई चीज़ नहीं। मेरी चीज़ में दूसरी चीज़ नहीं और दूसरी चीज़ में मैं हूँ नहीं। आहाहा! ऐसे अपने आत्मा को कभी भिन्न देखा, जाना, अनुभव किया नहीं तो इसका परिभ्रमण मिटा नहीं। आहाहा!

यह कहते हैं, **परमार्थरूप शुद्धज्ञान एक अवस्थित (–निश्चल) देखना...** नित्य प्रभु आत्मा ज्ञानस्वरूप नित्य है, उसे देखना। आहाहा! देखनेवाला दूसरे को देखता है, देखनेवाला दूसरे को देखता है, उस देखनेवाले को देखना। आहाहा! जाननेवाला तो भगवान आत्मा है। वह पर को जानता है। जाननेवाला पर को जानता है परन्तु जाननेवाला स्वयं को नहीं जानता। आहाहा! इस प्रकार अपना परमार्थस्वरूप बिगाड़कर चौरासी में भटकता। वह बिगाड़ छोड़कर अविचल निश्चल (स्वरूप देखना)।

(अर्थात् प्रत्यक्ष स्वसंवेदन से अनुभव करना)... आहाहा! अपने चैतन्यस्वरूप की अस्ति—मौजूदगी, अस्ति राग से छूटकर स्वसंवेदन, स्व अर्थात् अपना वेदन—ज्ञान का वेदन करना, वह स्वसंवेदन, वह धर्म। आहाहा!

मुमुक्षु : धर्म बहुत कठिन कर डाला।

पूज्य गुरुदेवश्री : धर्म जैसा है, वैसा कहा। शास्त्र में है और ऐसा ही धर्म है। लोग धर्म कहते हैं, वह धर्म-बर्म ही नहीं है।

मुमुक्षु : बीड़ी दे तो धर्म हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : बीड़ी दे, दियासलाई दे, किसी को मोती दे, पानी दे (तो) धर्म हो। धूल में भी धर्म नहीं है। शुभभाव हो, बन्धनभाव हो। वह सब संसार है। शुभभाव भी

संसार परिभ्रमण है। संसरण—अपने स्वरूप में से संसरण—हटकर संसरण हुआ। आहाहा! अपने स्वरूप में से संसरण—हटकर पुण्य-पाप में आया, वह संसार है। संसार कोई स्त्री, कुटुम्ब-परिवार संसार नहीं है, कोई परवस्तु संसार नहीं है। आत्मा में पुण्य-पाप को अपना मानना, वह संसार है। अपने में से हटकर विकार को अपना मानकर रहना, इसका नाम संसार है। आहहाा! इस संसार का त्याग (करे), इसका नाम मुक्ति है। पर का त्याग, वह मुक्ति नहीं। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं, **(प्रत्यक्ष स्वसंवेदन...)** प्रत्यक्ष स्वसंवेदन। आत्मा में आत्मा को आत्मा द्वारा राग के अभाव द्वारा अन्दर वेदन, स्वसंवेदन, स्व अर्थात् अपना वेदन जानना और अनुभव करना, इसका नाम आत्मा है। आहाहा! ऐसा कठिन है। लोगों ने तो धर्म सरल बना दिया। किसी की सेवा की और यह किया तो धर्म हो जाएगा। धूल में भी धर्म नहीं है। मर गया कर-करके अनन्त बार। आहाहा! सेवा के मण्डल हो, मण्डल का अधिपति हो। इसने बहुत सेवा की। धूल में भी नहीं रहे। सेवा नहीं, अज्ञान किया है।

मुमुक्षु : सेवा तो नहीं की परन्तु कुसेवा तो नहीं की न?

पूज्य गुरुदेवश्री : कुसेवा की। अपने को छोड़कर राग-द्वेष किये। यह शुभ-अशुभराग राग-द्वेष है, उनकी सेवा की। कठिन बात है, भाई! आहाहा!

(प्रत्यक्ष स्वसंवेदन से अनुभव करना)।

भावार्थ – यहाँ ज्ञान को समस्त परद्रव्यों से भिन्न... ज्ञान अर्थात् जानन (भाव)। जिसकी अस्ति बिना यह चीज़ है या नहीं, उसका ज्ञान नहीं होता। जिसकी अस्ति बिना यह शरीर, यह चीज़ है, वह जिसकी अस्ति बिना उसका ज्ञान नहीं होता, वह ज्ञान अपना स्वरूप है, वह चीज़ नहीं। आहाहा! जिस ज्ञान की सत्ता में ऐसा प्रश्न उठे कि मैं मुझे नहीं देखता, तो उसमें मैं मुझे नहीं देखता, वहाँ मैं, मैं में आ गया। मैं मुझे नहीं दिखता, वहाँ 'मैं' में मैं आ गया। विचार कहाँ करता है? आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि अपना स्वरूप चैतन्य ज्ञान, आनन्द आदि है। उसमें लीन होकर पुण्य-पाप, राग-द्वेष आदि को छोड़कर मुक्ति प्राप्त करना वही जीव का कर्तव्य है। बाकी तो जीव का कर्तव्य यह भटकना है। आहाहा! भावार्थ आया न?

ज्ञान को समस्त परद्रव्यों से भिन्न और अपनी पर्यायों से अभिन्न... आत्मा

को अपने गुण से अभिन्न, अभेद और अपनी पर्याय से भी अभिन्न **बताया है।** पहले बताया। अपनी दशा। राग, द्वेष, पुण्य, पाप भी है तो आत्मा की पर्याय परन्तु वह मैल है। **इसलिए अतिव्याप्ति और अव्याप्ति नामक लक्षण दोष दूर हो गये।** अपने अतिरिक्त दूसरे में व्याप्त हो, वह अतिव्याप्ति और अपने अतिरिक्त सबमें न व्यापे, वह अव्याप्ति। ऐसे सिद्धान्त! निवृत्ति नहीं।

आत्मा का लक्षण उपयोग है,... आत्मा जानन लक्षणवाला है। यह आँख आदि कल की बात नहीं जानते। कल की बात जाने, याद आवे कि कल ऐसा किया था, वह जाननेवाला आत्मा में ज्ञान है। वह ज्ञान कोई जड़ में, राग में, शरीर में नहीं है। राग कोई ज्ञान नहीं, राग में याद नहीं आता। जो याद आता है, वह आत्मा ज्ञान है। आहाहा! कितनी बात याद रखना? पूरा फेरफार (हो गया)।

आत्मा का लक्षण उपयोग है,... उपयोग अर्थात् जानना-देखना, यह उसका लक्षण है। **और उपयोग में ज्ञान प्रधान है;...** जानने-देखने में ज्ञान मुख्य है। **वह (ज्ञान) अन्य अचेतन द्रव्यों में नहीं है...** वह ज्ञान जड़ में नहीं है। शरीर, वाणी, मन जड़ है, उनमें (ज्ञान) नहीं है। आहाहा! **अन्य अचेतन द्रव्यों में नहीं है इसलिए वह अतिव्याप्तिवाला नहीं है,...** अर्थात् अपने में भी है और पर में भी है, ऐसा नहीं है। **और अपनी सर्व अवस्थाओं में है, इसलिए अव्याप्तिवाला नहीं है।** आत्मा ज्ञानस्वरूप है, वह सर्व अवस्थाओं में रहता है। किसी समय ज्ञान अवस्था न हो, ऐसा नहीं। इसलिए अव्याप्ति भी नहीं। अव्याप्ति अर्थात् अपना ज्ञान सर्व स्थान में, अपने क्षेत्र में, अपने काल में किसी समय न व्यापे, ऐसा नहीं है, इसलिए अव्याप्ति नहीं है। और अपना स्वरूप पर में व्यापे, ऐसा कभी नहीं होता तो अतिव्याप्ति नहीं है। अरे! ऐसी सब भाषा। अव्याप्ति और अतिव्याप्ति। वे बेचारे सामायिक करे और प्रौषध, प्रतिक्रमण करे। गरीब मनुष्य को कुछ देना हो तो दे आहार और मान ले कि धर्म हो गया।

अरे! चौरासी के अवतार करते... करते... करते... थकान.. थकान नहीं लगी। विश्राम, यह आत्मा चैतन्य विश्राम स्थान, आनन्दघन प्रभु आत्मा तो है। अतीन्द्रिय आनन्द (स्वरूप है) वहाँ रहने से विश्राम मिलता है। पुण्य-पाप में रहने से थकान लगती है, दुःख लगता है, अवतार होता है। आहाहा! कहा न?

यहाँ ज्ञान को ही प्रधान करके आत्मा का अधिकार है, क्योंकि ज्ञानलक्षण से ही आत्मा सर्व परद्रव्यों से भिन्न अनुभवगोचर होता है। जाननपना किसमें नहीं? आत्मा में किस काल में नहीं? सर्व काल में जाननशक्ति आत्मा में है। वह ज्ञान ही आत्मा है। आहाहा! वह अनुभवगोचर होता है। **यद्यपि आत्मा में अनन्त धर्म हैं,...** यद्यपि आत्मा में अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द, अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व आदि अनन्त धर्म हैं। धर्म अर्थात् धारना, धार रखी हुई शक्तियाँ ऐसी अनन्त हैं।

तथापि उनमें से कितने ही तो छद्मस्थ के अनुभवगोचर ही नहीं हैं। अल्पज्ञानी को कितनी ही तो ख्याल में नहीं। छद्मस्थ अर्थात् अल्पज्ञानी को अनन्त शक्तियाँ ख्याल में नहीं हैं। **उन धर्मों के कहने से छद्मस्थ ज्ञानी आत्मा को कैसे पहिचान सकता है?** (आहाहा!) **और कितने ही धर्म अनुभवगोचर हैं, परन्तु उनमें से कितने ही तो-अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व आदि तो-अन्य द्रव्यों के साथ सामान्य अर्थात् समान ही हैं...** क्या कहते हैं? कि आत्मा में अस्तित्व गुण है तो जड़ में भी अस्तित्व है। अस्तित्व है या नहीं? सत्ता है या नहीं? तो उस अस्तित्वगुण से आत्मा का ज्ञान नहीं होता। अस्तित्वगुण से पर से भिन्न नहीं पड़ता क्योंकि अस्तित्व तो अपने में भी और पर में भी है। आहाहा! आज सब सूक्ष्म आया!

'है', यह अस्तित्व। यह तो सब द्रव्यों में है। इससे आत्मा भिन्न नहीं पड़ता। आत्मा भी है और पर भी है। आहाहा! **अन्य द्रव्यों के साथ सामान्य अर्थात् समान ही हैं...** अस्तित्व, वस्तुत्व वह तो अपने में भी है और पर में भी है तो उससे आत्मा भिन्न नहीं पड़ता। जो आत्मा में है और पर में नहीं, ऐसा ज्ञान होवे तो वह भिन्न पड़ेगा। आहाहा! **इसलिए उनके कहने से पृथक् आत्मा नहीं जाना जा सकता और कितने ही (धर्म) परद्रव्य के निमित्त से हुए हैं,...** कितने ही तो आत्मा में यह पुण्य-पाप, दया, दान परद्रव्य के निमित्त से (हुए हैं)। **उन्हें कहने से परमार्थभूत आत्मा का शुद्ध स्वरूप कैसे जाना जा सकता है?** आहाहा! राग, विकार आत्मा होता है, उससे आत्मा ज्ञात नहीं होता। आहाहा!

इसलिए ज्ञान के कहने से... जानन स्वभाव के कहने से। जानन... जानन... जानन। पचास वर्ष पहले की बात भी याद आवे। ऐसा ज्ञान है। शरीर, वाणी, मन की ताकत नहीं है। आहाहा! पिचहत्तर वर्ष, अस्सी वर्ष की बात याद रहती है। आहाहा! अस्सी वर्ष पहले ऐसा किया था, वह ज्ञान है। वह ज्ञान चीज़ त्रिकाल है। वह ज्ञान चीज़ अपने में है

और यह ज्ञान दूसरे में नहीं है, इसलिए उस ज्ञान चीज़ से आत्मा पहिचाना जाता है। आहाहा! ऐसा धर्म किस प्रकार का? निवृत्ति नहीं मिलती, निवृत्ति नहीं मिलती। हो... हा... हो...हा... कारखाना किया और बड़ा सेठिया हुआ और करोड़ोंपति (हुए)... हो गया, मरकर जाए वापस सूकर में, कौवे में, कुत्ते में। आहाहा! अपनी चीज़ को जाना नहीं। अपनी महिमा की नहीं। कीमती चीज़ की कीमत की नहीं और अकीमती चीज़ की कीमत करके भटक मरा। यह शरीर और वाणी, पुण्य और पाप अकीमती चीज़ है। आहाहा! अन्दर जानने-देखनेवाला आनन्द वह कीमती चीज़ है। आहाहा! डॉक्टर! जानन-देखन, वह जड़ में नहीं तो वह कीमती चीज़ है। जिसे जाने-देखे, वह कीमती चीज़ नहीं, वह तो पर है। आहाहा! कठिन काम है। यहाँ तक आया न?

इसलिए ज्ञान के कहने से ही छद्मस्थ (अल्प ज्ञानी) ज्ञानी आत्मा को पहिचान सकता है। अन्दर जो यह जानन... जानन... शक्ति पचास वर्ष पहले की बात भी जान सकता है, ऐसी वह चीज़ अनन्त काल से ज्ञानस्वभावी ही है। ऐसे ज्ञानी राग से भिन्न होकर अपने आत्मा को जान सकता है; इस कारण से ज्ञान को मुख्य लक्षण कहा। आत्मा को पहिचानने के लिये यह दया पाले वह आत्मा; हिंसा करे, वह आत्मा—ऐसा नहीं। ज्ञान, वह आत्मा। आहाहा! जानन-देखन, वह आत्मा। आहाहा!

यहाँ ज्ञान को आत्मा का लक्षण कहा है... जानन... जानन... जानन... अपनी सत्ता में जो परचीज़ जानने में आती है, वह परचीज़ अपनी सत्ता में नहीं आती परन्तु अपने ज्ञान की सत्ता अपने और पर को जानने की सिद्धि करती है। आहाहा! ज्ञान अपने को जानता है और ज्ञान पर को जानता है, ऐसे दोनों की सिद्धि अपने से होती है। जड़ जड़ को जानता नहीं, जड़ आत्मा को जानता नहीं। आत्मा ज्ञान द्वारा ज्ञात होता है। दूसरे द्वारा ज्ञात हो वह तो जड़ है। अपने द्वारा स्वयं ज्ञात हो और अपने द्वारा पर भी ज्ञात हो। आहाहा! परन्तु इतने सब विचार (करने का) समय कहाँ है? ऐसा जो भगवान आत्मा... **ज्ञान के कहने से ही छद्मस्थ ज्ञानी आत्मा को पहिचान सकता है।** अपने स्वरूप को जान सकता है।

ज्ञान अर्थात् आत्मा जानन... जानन... जानन... जानन स्वभाव, वह आत्मा। बाकी सब चीज़ भिन्न। अकेले जाननहार का अनुभव करना और राग को भिन्न करना, तब ज्ञान ज्ञानरूप होकर ज्ञान छूट जाता है—राग से छूटकर, इसका नाम मुक्ति और इसका नाम धर्म और इसका नाम सुख है। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४४७, गाथा-३९० से ४०४ बुधवार, अषाढ़ कृष्ण ३
दिनांक - ३०-०७-१९८०

समयसार, यहाँ आया है। भावार्थ है न? इसका तीसरा पेरेग्राफ। **यहाँ ज्ञान को आत्मा का लक्षण कहा है...** आत्मा का लक्षण ज्ञान कहा अर्थात् ज्ञान लक्षण से आत्मा लक्षित (होता है), अनुभव में आता है, दूसरी किसी चीज़ से नहीं। राग, दया, दान के विकल्प से आत्मा का अनुभव नहीं होता, आत्मा उनका कर्ता नहीं होता। दूसरे धर्म हैं परन्तु यह ज्ञान, वह मुख्य वस्तु है। इसलिए कहा कि **ज्ञान को आत्मा का लक्षण कहा है इतना ही नहीं, किन्तु ज्ञान को ही आत्मा कहा है;...** ज्ञान, वही आत्मा। अकेला जाननस्वभाव, वह आत्मा। उसका अनुभव (हो), वह सम्यग्दर्शन है। उसमें स्थिरता, वह चारित्र, उसमें पूर्ण स्थिरता (हो), वह केवलज्ञान है।

यह आत्मा ज्ञानलक्षण से लक्षित (होता है)। दूसरे सब धर्मों द्वारा लक्षित नहीं होता। ज्ञान, यह तो जानने की शक्ति है। **किन्तु ज्ञान को ही आत्मा कहा है; क्योंकि अभेदविवक्षा में गुणगुणी का अभेद होने से,...** ज्ञान गुण और आत्मा गुणी अभेद कथन में दोनों एक ही हैं। भेद कथन में गुण और गुणी नाम पड़े। अभेद कथन में दोनों एक ही है। ज्ञान, वही आत्मा है। आहाहा!

जिसे आत्मा का कल्याण करना हो, उसे ज्ञान द्वारा आत्मा को पकड़ना चाहिए। जानन... जानन... जानन स्वभाव द्वारा आत्मा का अनुभव करना, तो वहाँ से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है। आहाहा! बाहर की क्रियाऐं लाख करे, करोड़ करे, उसका फल बन्धन है।

यहाँ तो आत्मा को ही ज्ञान कहा। ज्ञान, वह आत्मा और आत्मा, वही ज्ञान। कहा न? अभेद कथन में **ज्ञान कहो या आत्मा–कोई विरोध नहीं है; इसलिए यहाँ ज्ञान कहने से आत्मा ही समझना चाहिए।** ज्ञान आत्मा है, ऐसा कहने से ज्ञान अर्थात् आत्मा समझना। भले आत्मा में अनन्त धर्म हैं, दूसरे अस्तित्व, वस्तुत्व, अरे! चारित्र, आनन्द इत्यादि गुण हैं परन्तु उन द्वारा पहले पकड़ में नहीं आता।

ज्ञान—जाननस्वभाव प्रत्यक्ष ज्ञान है, वह आत्मा है, ऐसा अनुभव करना तो उसे

आत्मा का ज्ञान कहा जाता है। आहाहा! यहाँ से धर्म की शुरुआत होती है। ज्ञान वह आत्मा, आत्मा वह ज्ञान। दोनों एक ही चीज़ है। ऐसे एकाकार होकर आत्मा के ज्ञान लक्षण से अनुभव करना, वही आत्मज्ञान और आत्मदर्शन है, धर्म की पहली सीढ़ी वह है। आहाहा!

टीका में अन्त में यह कहा गया है कि–जो, अपने में... थोड़ी टीका की बात करते हैं। **अपने में अनादि अज्ञान से होनेवाली शुभाशुभ उपयोगरूप...** आहाहा! पुण्य और पाप शुभ और अशुभभाव, दया, दान, व्रतादि के शुभ-अशुभभाव, वह आत्मा का अज्ञानभाव है, आत्मा का वह ज्ञानभाव नहीं है। आत्मा का ज्ञान स्वरूप, वह भिन्न स्वरूप है। आहाहा! जरा सूक्ष्म बात है। समझ में आया?

आत्मा **अनादि अज्ञान से होनेवाली शुभाशुभ उपयोगरूप परसमय की प्रवृत्ति...** आहाहा! अनादि काल से शुभ और अशुभ परिणाम ही करता आया है और (आत्मा) उनमें रुक गया। यह दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा यह सब शुभभाव है परन्तु यह बन्धन का कारण है, यह कोई धर्म नहीं। आहाहा! इन शुभ और अशुभभाव में अनादि काल से रुकता आया है। यह **शुभाशुभ उपयोगरूप परसमय की प्रवृत्ति...** यह तो परसमय है, पर आत्मा है, अनात्मा है। परात्मा अर्थात् आत्मा से भिन्न चीज़ है। पुण्य और पाप के भाव, शुभ और अशुभ जो भाव, वह आत्मा चिदानन्द प्रभु से भिन्न चीज़ है। आहाहा! भारी कठिन काम। अभी बाहर से निवृत्त हो नहीं, उसमें अन्दर से पुण्य के परिणाम से भिन्न (जानना)।

सम्यग्दर्शन-धर्म की पहली सीढ़ी, धर्म का पहला सोपान उसे कहते हैं कि ज्ञान, वह आत्मा, उसका अनुभव। दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम, वह सब राग विकार है, वह धर्म नहीं, वह धर्म का कारण भी नहीं। आहाहा! कठिन काम। निवृत्ति नहीं मिलती। शुभाशुभभाव, वह परसमय है, आत्मा नहीं। कहा न? **शुभाशुभ उपयोगरूप परसमय...** है। अर्थात् परात्मा है। परात्मा अर्थात् अनात्मा है। आहाहा! उस अनात्मा से आत्मा प्राप्त नहीं होता। ओहोहो!

शुभाशुभ उपयोगरूप परसमय की प्रवृत्ति को दूर करके,... जिसे अपना कल्याण करना हो, (उसे) पुण्य-पाप के भाव, शुभ-अशुभभाव को दूर करके अपने

स्वरूप में एकाग्र होना, वह कल्याण का मार्ग है, वह धर्म है और वह धर्म का मार्ग है। आहाहा! बाहर की प्रवृत्ति तो आत्मा कर सकता नहीं परन्तु दया, दानादि के परिणाम कर सकता है परन्तु वह भी धर्म नहीं है। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, दान, लाखों करोड़ों के दान (दे परन्तु वह) धर्म नहीं है, उससे आत्मा का कल्याण नहीं होता, उससे आत्मा का भवछेद नहीं होता। आहाहा! यह तो भ्रम है। भगवान आत्मा आनन्दकन्द है, तब पुण्य-पाप तो भ्रम, दु:खरूप है। आहाहा! जिसे आत्मा का कल्याण करना हो, उसे इस भ्रम को दूर करना चाहिए, शुभ-अशुभभाव को दूर करना चाहिए। आहाहा! ऐसा मार्ग। पहले क्या करना? पहले यह करना। पहले शुभभाव करे, (ऐसा नहीं है।)

यहाँ कहते हैं कि **परसमय की प्रवृत्ति को दूर करके,...** अपने में आनन्द और शान्ति भरी है। ऐसे आत्मा सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र का पिण्ड है। उसे आत्मा कहते हैं। यह दया, दान, व्रत के विकल्प, वह आत्मा नहीं है। आहाहा! भटकने के कारण निवृत्ति कहाँ है? निवृत्ति नहीं मिलती। निवृत्ति होवे तो पुण्य के परिणाम में धर्म माने। भक्ति की, यात्रा की, गिरनार की यात्रा, शत्रुंजय की यात्रा (की तो) धर्म हो गया। बिल्कुल धर्म नहीं।

मुमुक्षु : यात्रा में ४९ बार बार जाए तो धर्म हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह एक बार कहा था न? सम्मेदशिखर का, महावीरकीर्ति आये थे, दिगम्बर हैं। उनके साथ बात हुई, कहा, यह पर से क्या होता है? कि सम्मेदशिखर की महिमा की एक पुस्तक है, उस पुस्तक में ऐसा लिखा है कि ४८ भव में, ४९ भव में सम्मेदशिखर के दर्शन करे तो मोक्ष में जाए। (उनसे) कहा, यह वचन वीतराग के नहीं हैं। जिस सम्मेदशिखर की महिमा में यह लिखा हो, वह वीतराग की वाणी नहीं है। पर के लक्ष्य से धर्म हो और भव का अभाव हो, (ऐसा नहीं है)। महावीरकीर्ति थे न? यहाँ आये थे। श्रद्धा में कुछ ठिकाना नहीं होता। बाहर की क्रिया के आचरण में लोग अभी उलझकर पड़े हैं। अन्दर वस्तु श्रद्धा क्या कहलाती है? मूल क्या कहलाता है? मूल, धर्म का मूल सम्यग्दर्शन; सम्यग्दर्शन का मूल आत्मा। आहाहा! बाहर की प्रवृत्ति क्रियाकाण्ड पुण्यबन्धन का कारण है।

यहाँ कहते हैं कि **परसमय की प्रवृत्ति को दूर करके, सम्यग्दर्शन...** आहाहा! पूर्णानन्द का नाथ आत्मा, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण आनन्द, पूर्ण प्रभुता, पूर्ण शान्ति से भरपूर स्थित

प्रभु है। उसका अन्तर अनुभव करके प्रतीति करना, उसका नाम धर्म की शुरुआत का सम्यग्दर्शन है। आहाहा! बहुत पढ़ा हो और बहुत विद्वान हो, इसलिए सम्यग्दर्शन होता है, ऐसा नहीं है। पुण्य और पाप के भाव दूर करके, लक्ष्य छोड़कर, चैतन्य लक्षण से भगवान का अनुभव करे, उसमें एकाकार हो, उसमें लीन हो, इस प्रकार भगवान आत्मा के सन्मुख हो तो उसका नाम सम्यग्दर्शन कहने में आता है।

कहते हैं कि शुभाशुभभाव को दूर करके **स्वसमयरूप परिणमनरूप...** सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और (सम्यक्) चारित्र की प्रवृत्ति। लो! यह प्रवृत्ति कही। राग से निवृत्ति और स्वरूप में श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र की प्रवृत्ति। है तो निवृत्ति। राग और पुण्य की क्रिया से निवृत्ति परन्तु अपनी परिणति है, इसलिए प्रवृत्ति। आहाहा! शुद्ध चिदानन्द आत्मा पूर्ण आनन्दघन की प्रवृत्ति। (उसकी) श्रद्धा, उसका सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, वह आत्मा की प्रवृत्ति है। आहाहा!

(परसमय की प्रवृत्ति को) **दूर करके, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में प्रवृत्तिरूप स्वसमय को प्राप्त करके,...** स्वसमय अर्थात् आत्मा। परसमय अर्थात् पुण्य और पाप। आहाहा! अन्तर में शुभ-अशुभभाव से हटकर अन्तर स्वरूप में जाकर उसकी प्रतीति, ज्ञान और रमणता करना, वह मोक्ष का मार्ग और धर्म है। आहाहा! संसार की प्रवृत्ति से निवृत्त (होता) नहीं। निवृत्त होकर यह भक्ति करे, यात्रा करने जाए तो भी वह धर्म नहीं। वह तो शुभभाव है। धर्म तो शुभराग और अशुभराग परसमय, परात्मा, अनात्मा है, जड़ है, अचेतन है, उससे भिन्न अपना चैतन्यस्वरूप, आनन्द का अनुभव, उसकी प्रतीति, उसका ज्ञान और उसमें प्रवृत्ति, आत्मा के आनन्द में प्रवृत्ति उसरूप स्वसमय, (वह धर्म है)। है? सम्यग्दर्शनादि।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में प्रवृत्तिरूप स्वसमय को प्राप्त करके, उस स्वसमयरूप परिणमनरूप... आहाहा! यह चैतन्यस्वरूप, ज्ञानरूप परिणमन होना, आनन्दरूप अवस्था होना, वीतरागी पर्यायरूप अवस्था होना, उसका नाम यहाँ स्वसमयरूप परिणमन कहा जाता है। वह स्वसमयरूप परिणमन। पुण्य-पाप, वह परसमय परिणमन, वह संसार के लिये (होता है)। आहाहा!

स्वसमयरूप परिणमनरूप मोक्षमार्ग में... यह मोक्षमार्ग। आत्मा चैतन्यस्वरूप,

ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप का अनुभव, उसका अनुभव करके प्रतीति (होना), उसका ज्ञान (होना) और उसकी रमणता (होना), उस स्वसमयरूप **मोक्षमार्ग में अपने को परिणमित करके,...** शुभभाव भी धर्म नहीं है। दया, दान, व्रत, भक्ति, तप करे, आठ-आठ, दस-दस अपवास करे, महीने-महीने के अपवास करे, वह सब लंघन, लंघन है। वह तप नहीं। तप तो अपने ज्ञानस्वरूप में तपन्ते इति तप। पर से भिन्न अपने स्वरूप में तपे, शोभे, उग्र प्रयत्न से लीन हो, इसका नाम तप कहा जाता है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि **स्वसमयरूप परिणमनरूप मोक्षमार्ग में अपने को परिणमित करके,...** परिणमाकर अर्थात् अवस्था करके। पुण्य और पाप की जो अवस्था है, वह अधर्म है। शुभ-अशुभ परिणाम की जो परिणति है, वह अधर्म है। उस अधर्म को छोड़कर धर्म की परिणति स्वभाव के आश्रय से करना, वह स्वसमय परिणति है। आहाहा! है न?

जो **सम्पूर्ण विज्ञानघनस्वभाव को प्राप्त हुआ है,...** सम्पूर्ण विज्ञानघन। अकेला आत्मा सम्पूर्ण विज्ञानघन को प्रास करके। आहाहा! **प्राप्त हुआ है, और जिसमें कोई त्याग-ग्रहण नहीं है,...** पूर्ण परमात्मदशा जहाँ अन्तर में हुई, वहाँ कोई त्याग करना, किसी का ग्रहण करना, ऐसा है नहीं। आहाहा! यह बात तो आ गयी है। पर रजकण का त्याग और ग्रहण आत्मा में है ही नहीं। पर का त्याग और ग्रहण वह आत्मा में है ही नहीं। मात्र बहुत कहो तो राग का त्याग और स्वरूप का ग्रहण है। समझ में आया?

स्वरूप चैतन्य आनन्दस्वरूप, वीतरागमूर्ति आत्मा का ग्रहण और राग का त्याग (वह है)। आत्मा में एक शक्ति ऐसी है, त्यागोपादान (शून्यत्वशक्ति)। उसमें तो एक रजकण का भी ग्रहण नहीं और त्याग नहीं। आहाहा! एक रजकण का त्याग नहीं और ग्रहण नहीं। वह त्यागोपादानशून्यत्व। यहाँ रागादि का त्याग करके आत्मा का ग्रहण करना, उसे यहाँ ग्रहण और त्याग कहा है। आहाहा! यह किस प्रकार की बात?

जिसमें कोई त्याग-ग्रहण नहीं है,... प्रथम में जरा राग छूटे और वीतरागता बढ़े। स्वरूप की दृष्टि होने से, स्वरूप में लीनता करने से, चारित्र करने से, स्थिरता बढ़े और राग घटे। पूर्ण दशा प्रगट होने के पश्चात् त्याग-ग्रहण कुछ नहीं। पश्चात् अपूर्णता का त्याग और पूर्णता का ग्रहण वहाँ नहीं है। पूर्णता हो गयी। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म।

पहले तो इसे ज्ञान के ऊपर लेना। ज्ञान के ऊपर तो पहले लेना कि यह चीज यह है। ज्ञान के ऊपर आवे फिर अन्दर में रमणता, श्रद्धा करने जाना। पहले ज्ञान में यह चीज़ क्या है, उसका भावभासन होना (चाहिए)। भाव का भासन अर्थात् ज्ञान। भाव का ज्ञान न हो तो छोड़ना किसे और ग्रहण किसे करना? आहाहा! पहले भाव का भासन—ज्ञान होना चाहिए। पुण्य और पाप त्यागनेयोग्य है और ज्ञानानन्दस्वभाव ग्रहण करनेयोग्य है। ऐसा निश्चित—निर्णय करके फिर स्वरूप में अन्दर जाकर अनुभव—वेदन करना। आहाहा!

जिसमें कोई त्याग-ग्रहण नहीं है, ऐसे साक्षात्, समयसारस्वरूप,... समयसार हो गया। समयसार अर्थात् आत्मा। जैसा आत्मा था, वैसा हो गया। पुण्य और पाप के भाव से रहित जो था, वैसा हो गया। आहाहा! अभी भी भगवान तो पुण्य-पाप से रहित ही है। परन्तु इसने माना है कि मेरे हैं। यह मान्यता छूटने से जैसा है, वैसा रह जाएगा। आहाहा! ऐसा मार्ग। यह तो कुछ करो, यह करो और यह करो और यह करो। इससे धर्म होगा, ऐसी प्ररूपणा। यहाँ तो कहते हैं, त्याग-ग्रहण आत्मा में है ही नहीं। राग का त्याग और आत्मा का ग्रहण, वह व्यवहार है। पर का त्याग और शुभभाव का ग्रहण, वह वस्तु में तो है ही नहीं। अशुभ का त्याग और शुभ का ग्रहण, यह तो आत्मा में है ही नहीं। और आत्मा में पर रजकण का त्याग और रजकण का ग्रहण आत्मा में नहीं है। उसमें है तो इतनी बात—स्वरूप का ग्रहण और राग का अभाव / त्याग। आहाहा! ऐसी बात है। ऐसा धर्म!

मुमुक्षु : स्वरूप के ग्रहण से क्या समझना?

पूज्य गुरुदेवश्री : आनन्दस्वरूप है, उसका अनुभव करना। आनन्दस्वरूप को ग्रहण करना, इसका अर्थ अनुभव करना। स्वरूप का ग्रहण है नहीं, जो स्वरूप है, उसका अनुभव नहीं, उसका अनुभव करना, वह ग्रहण करना है और राग-द्वेष का अनुभव है, उसे छोड़ना। आहाहा! भारी कठिन काम। ऐसी बात।

ऐसे साक्षात्, समयसारस्वरूप, परमार्थभूत, निश्चल रहा हुआ, शुद्ध, पूर्ण ज्ञान को (पूर्ण आत्मद्रव्य को) देखना चाहिए। पूर्ण आत्मा को देखना चाहिए। आहाहा! सम्यग्दर्शन में पूर्ण देखना, ज्ञान में पूर्ण देखना, चारित्र में पूर्ण देखने में स्थिर होना

और पश्चात् पूर्ण हो जाएगा, केवलज्ञान होकर पूर्ण हो जाएगा, ऐसा देखना। आहाहा!

यहाँ 'देखना' तीन प्रकार से... देखो! आत्म भगवान को देखना तीन प्रकार से। **तीन प्रकार से समझना चाहिए। (१) शुद्धनय का ज्ञान करके...** पहले तो शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, ऐसा ज्ञान करके, शुद्धनय का ग्रहण करके **पूर्ण ज्ञान का श्रद्धान करना...** पूर्ण ज्ञान का श्रद्धान करना। मैं पूर्ण हूँ। आहाहा! आत्मा को पकड़कर मैं तो पूर्ण ही हूँ, ऐसा देखना चाहिए। आहाहा! **सो प्रथम प्रकार का देखना है।** पूर्ण वस्तु जो आत्मा, पुण्य-पाप के भाव से रहित, वह पूर्ण है। उस पूर्ण को देखना और जानना, इसका नाम ज्ञान और श्रद्धान है। है? **सो प्रथम प्रकार का देखना है।**

वह अविरत... यह चौथे गुणस्थान में होता है। आहाहा! चौथे गुणस्थान में, पाँचवें में, छठवें में अन्तर में अनुभव की दृष्टि होती है। आहाहा! उस अनुभव की दृष्टि बिना चौथा, पाँचवाँ, छठवाँ गुणस्थान नहीं होता। आहाहा! है? **शुद्धनय का ज्ञान करके पूर्ण ज्ञान का श्रद्धान करना...** पूर्ण ज्ञान का श्रद्धान करना। पूर्ण ज्ञान, वह आत्मा; अपूर्ण ज्ञान भी नहीं। राग तो नहीं परन्तु अपूर्ण ज्ञान भी नहीं। **पूर्ण ज्ञान का श्रद्धान करना...** आहाहा! **सो प्रथम प्रकार का देखना है।** आत्मा पूर्ण ज्ञानस्वरूप है, और पूर्ण आनन्दस्वरूप है—ऐसा पहले देखना, वह प्रथम प्रकार का देखना है। धर्म की शुरुआत वहाँ से होती है। आहाहा!

शुद्धनय का ज्ञान करके... शुद्धनय। पर्याय और राग की दृष्टि छोड़कर जो ज्ञान त्रिकाल द्रव्य को पकड़े, उसका नाम शुद्धनय है। उस शुद्धनय का ग्रहण करके, ज्ञान करके **पूर्ण ज्ञान का श्रद्धान करना, सो प्रथम प्रकार का देखना है।** यह तो चौथे, पाँचवें में भी होता है। निश्चय सम्यग्दर्शन चौथे से होता है। आत्मा के आनन्द का अनुभव, रागादि के दुःख का अनुभव पहले चौथे से होता है। धर्म की पहली सीढ़ी। सुख का वेदन, आनन्द का स्वसंवेदन और दुःख का त्याग, ऐसी जो अन्तर श्रद्धा-ज्ञान चौथे, पाँचवें, छठवें में भी होते हैं। है?

ज्ञान-श्रद्धान होने के बाद बाह्य सर्व परिग्रह का त्याग करके... अब मुनिपने की बात करते हैं। अब मुनिपना कहते हैं। ऐसे ज्ञान-श्रद्धान हुए, आत्मा के आनन्द का ज्ञान

हुआ, आत्मा आनन्दमूर्ति, अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द है, उसका वेदन हुआ, पश्चात् चारित्र अंगीकार करना। ऐसा है न? **सर्व परिग्रह का त्याग करके...** आहाहा! ऐसा अनुभव होने के बाद सर्व परिग्रह का त्याग (करना)। एक वस्त्र का टुकड़ा भी मुनि को नहीं है। वस्त्र का एक टुकड़ा मुनि को नहीं होता। (रखता है तो) वह मुनि—साधु नहीं है। **सर्व परिग्रह का त्याग...** कहा न?

मुमुक्षु : यह तो दिगम्बर के साधु हों, उन्हें, दूसरे साधु को....

पूज्य गुरुदेवश्री : दिगम्बर के साधु ही साधु हैं। जैन दर्शन के मुनि को वस्त्र का टुकड़ा भी नहीं होता और पात्र नहीं होते। जैसा माता ने जन्म दिया (वैसा रूप होता है)। ऐसा पाठ है। जैसा माता ने जन्म दिया, वैसा नग्न। मुनि ऐसे होते हैं। अभी तो सब बात बदल गयी। वस्त्रवाले मुनि हैं ही नहीं। वस्त्र रखे, पात्र रखे, वे मुनि तीन काल और तीन लोक में नहीं हैं।

मुमुक्षु : जैसे श्रावक वैसे साधु।

पूज्य गुरुदेवश्री : श्रावक तो समकिती (हो)।... श्रेणिक राजा को समकित था, राज्य था, रानियाँ थी, सैकड़ों राजा चँवर ढोलते थे। तथापि समकिती थे। आहाहा! चारित्र नहीं। आहाह

मुमक्षु : वस्त्र तो रखते नहीं परन्तु खाट और पटिया तो रख सकते हैं न?

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ कोई चीज़ नहीं रखते। घास के पोटले साथ में रखना घास-घास, ट्रक में घास यहाँ आती है न? महावीरकीर्ति आये, तब पूरा ट्रक भरा हुआ। यह वीतराग का मार्ग नहीं है। आहाहा! कठिन बात है। सहज पटिया पड़ा हो और बैठे, वह अलग बात है। पाट लाओ, यह परिग्रह मुनि को नहीं होता। आहाहा!

मुमुक्षु : पटिया के ऊपर तो सबका नाम होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : साधु को नाम कैसा? साधु को वस्त्र का टुकड़ा नहीं होता तो पटिया कैसा? क्या हो? अभी फेरफार हो गया। सत्य बात (कहे तो) दु:ख लगता है। सत्य बात कहे तो दु:ख लगता है। मार्ग तो यह है। दु:ख-मुक्ति का मार्ग यह है। मुनिपना

अर्थात् चारित्र। चारित्र अर्थात् एकदम तीन कषाय का अभाव और बाह्य में नग्नपना। वस्त्र का और पात्र का टुकड़ा (रखे) नहीं। आहाहा! सोने के लिये घास का पोटला साथ में रखे नहीं। (रखे तो) वह का वह परिग्रह हुआ। सूक्ष्म बात है। अभी तो मुनिपना तो बहुत मूल चीज़ है।

मुमुक्षु : तम्बू तो डाले जाएँ न?

पूज्य गुरुदेवश्री : तम्बू-बम्बू वह सब... साधु के लिए तम्बू नहीं होते।

मुमुक्षु : साधु को रोग हो तो रोग में उसे साधुपना होता है या नहीं होता?

पूज्य गुरुदेवश्री : होता है, रोग के कारण क्या है? यह तो वस्त्र (नहीं होते)। रोग की दवा भी कराते नहीं। आहार के समय कोई इकट्ठी दे देवे, वह अलग बात है। फिर से दवा ले और फिर से करे, ऐसा नहीं है। सूक्ष्म बात है, भाई!

मुमुक्षु : मुनि को चश्मा तो होता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : मुनि को चश्मा नहीं होता। (अभी) चश्मा रखते हैं। सब खबर है न! बापू! बहुत कठिन मार्ग। उसे दुःख लगे। वास्तव में दुःख मिटाने का उपाय यह है। आहाहा! उसकी अभी श्रद्धान की खबर न हो, उसे चारित्र तो कहाँ से लाना? आहाहा! एकदम माँ ने जन्म दिया हो, ऐसा कुन्दकुन्दाचार्यदेव का पाठ है। माता ने जन्म दिया हो, ऐसी उनकी दशा होती है। आहाहा! यह मुनिपना भी सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान पहले हो, पश्चात् वह होता है। सम्यग्दर्शन और ज्ञान बिना वह पंच महाव्रत की क्रिया चाहे जैसी हो, तथापि वह साधु नहीं है। आहाहा!

यहाँ तो यह कहा, आहा! पहले ज्ञान-श्रद्धान करना। यथार्थ करना। **ज्ञान-श्रद्धान होने के बाद बाह्य सर्व परिग्रह...** सर्व परिग्रह कहा न? कोई टुकड़ा रखना, (ऐसा नहीं कहा)। सर्व परिग्रह। श्वेताम्बर के शास्त्र में जो कपड़े डाले हैं, वह तो कल्पना है। कल्पना से बनाये हुए हैं, भगवान के बनाये हुए वे शास्त्र नहीं हैं। समकिती ने बताये हुए वे शास्त्र नहीं हैं। आहाहा! वस्त्र रखकर साधुपना मनाया हो, वह पुस्तक वीतराग की नहीं है, वह पुस्तक समकिती की नहीं है, मिथ्यादृष्टि की है। आहाहा! कठिन मार्ग।

प्रथम सम्यग्दर्शन, अत्यन्त निराला भगवान पूर्णानन्द का नाथ, जिसमें राग का अंश

नहीं, ऐसी पूर्ण चीज़ की अन्दर अनुभव में प्रतीति हो, वह तो सम्यग्दर्शन है परन्तु पर्याय में पूर्ण प्राप्त करने के लिये चारित्र में परिग्रह का एक अंश नहीं होता। आहाहा!

मुमुक्षु : पिच्छी, कमण्डल तो होते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वे तो होते हैं। पिच्छी, कमण्डल होता है। अपवादिक है न? शास्त्र में लिखा है।

यहाँ तो (कहते हैं), बाह्य सर्व परिग्रह का त्याग करके। सम्यग्दर्शन हुआ तब से उसकी श्रद्धा में वस्त्र का टुकड़ा हो तो भी साधु नहीं है, ऐसी मान्यता होती है। सम्यग्दर्शन में ऐसी मान्यता है। देव-गुरु-शास्त्र की ऐसी श्रद्धा होती है कि देव को रोग नहीं होता, देव को दवा नहीं होती। आहाहा! देव को वस्त्र, पात्र तो नहीं, गुरु को वस्त्र, पात्र नहीं होते। रोग होता है, भगवान को रोग भी नहीं होता। आहाहा! जहाँ पूर्ण पवित्रता प्रगट हुई, वहाँ रोग कैसा? नीचे मुनि को रोग होता है।

सनतकुमार मुनि को ७०० वर्ष तक गलित कोढ़ (था)। छद्मस्थ हैं, पूर्व का उदय है, है मुनि, भावलिंगी सन्त हैं, अन्तर आनन्द-ध्यान में रहनेवाले, अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद लेनेवाले। आहाहा! चौथे गुणस्थान में समकिती भी अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद लेनेवाले होते हैं। नहीं तो समकिती नहीं हैं। पाँचवें में विशेष (आनन्द) होता है। मुनि को विशेष आनन्द आता है। अतीन्द्रिय आनन्द का विशेष वेदन, वह मुनिपना। प्रचुर स्वसंवेदन—ऐसा पाठ है। समयसार पाँचवीं गाथा में है। मुनि कहते हैं, हम हमारे वैभव से कहेंगे। हमारा वैभव क्या है? कि प्रचुर स्वसंवेदन। आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का विशेष उग्र वेदन। समकिती को प्रचुर स्वसंवेदन नहीं। वेदन है, परन्तु अल्प है। मुनि को प्रचुर अतीन्द्रिय आनन्द है। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द! जैसे पर्वत में पानी झरता है, वैसे मुनि को आनन्द झरता है। मुनिपना अर्थात् परमेश्वरपद। आहाहा!

यहाँ कहते हैं पहले ज्ञान-श्रद्धा तो कर। पुण्य और पाप छोड़कर, यह नहीं, यह वस्तु का काम नहीं, शुभ करते-करते कल्याण हो जाएगा, शुभक्रिया करते-करते समकित हो जाएगा, यह श्रद्धा मिथ्यात्व है, यह तो पहले छोड़। छोड़कर स्वरूप की दृष्टि और ज्ञान कर। पश्चात् **बाह्य सर्व परिग्रह का त्याग करके उसका (-पूर्ण ज्ञान का) अभ्यास करना,...** आहाहा! पूर्ण ज्ञान जो आत्मा पूर्ण स्वरूप है, उसका अभ्यास पूर्ण प्रगट करने

के लिये करना। उसकी शक्ति और स्वभाव तो पूर्ण ही है। उसका अभ्यास करके पर्याय में प्रगट करने का अभ्यास करना। यह अभ्यास। आहाहा!

अन्तर में ज्ञान, आनन्द आदि अनन्त गुण पूर्ण भरे हैं, परन्तु वे शक्तिरूप हैं, स्वभावरूप हैं, सामर्थ्यरूप हैं, सत्त्वरूप हैं। उसे प्रगट करने के लिये प्रयास करना, अन्तर में एकाग्रता करना, इसका नाम चारित्र है। आनन्द में रमना, इसका नाम चारित्र है। आहाहा! (इस प्रकार) **अभ्यास करना,...**

उपयोग को ज्ञान में ही स्थिर करना,... देखा? समकित होने के पश्चात् भी चारित्र ग्रहण करने के लिये जो ज्ञान का उपयोग है, उसे अन्तर में विशेष लगाना। **उपयोग को ज्ञान में ही स्थिर करना,...** आहाहा! जो उपयोग पुण्य-पाप में जाता है, वह बन्ध का कारण है, वह उपयोग ज्ञान में लगाना, अन्तर आत्मा में लगाना अन्दर से, इसका नाम चारित्र है। आहाहा! कठिन काम है, भाई!

जैसा शुद्धनय से अपने स्वरूप को सिद्ध समान जाना... पहले, सम्यग्दर्शन में सिद्ध समान आत्मा को जाना। सिद्ध समान अपना श्रद्धान किया था। ज्ञान और श्रद्धान किया था। सम्यग्दर्शन में पूर्ण ज्ञान और पूर्ण वस्तु का श्रद्धान-ज्ञान किया था, **वैसा ही ध्यान में लेकर चित्त को एकाग्र-स्थिर करना,...** आहाहा! उस वस्तु में आनन्द में बारम्बार स्थिर करना। मुनि को तो छठवे और सातवें में तुरन्त अन्तर्मुहूर्त में आता है, एक अन्तर्मुहूर्त में हजारों बार आ जाता है। सप्तम गुणस्थान, अप्रमत्तदशा, आनन्ददशा। सच्चे सन्त को तीन कषाय के अभाव का छठवाँ गुणस्थान, एक मिनिट या दो मिनिट भी नहीं रहता। तुरन्त ही सप्तम में आ जाते हैं। सप्तम में भी पौन सेकेण्ड रहकर फिर छठवाँ आ जाता है। यह दशा कोई अलग बात है, यह अन्तर की बातें हैं।

अन्दर के ज्ञान और आनन्द की रमणता, इसका नाम चारित्र है। चारित्र अर्थात् चरना। चरना अर्थात् रमना। चरना अर्थात् जैसे पशु हरा घास चलते हैं, वैसे अपने आनन्द का चरना, आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द का दल प्रभु है। उसका भोगना, चरना, उसमें रमना, इसका नाम चारित्र है। आहाहा! अभी श्रद्धा की खबर नहीं हो और चारित्र (कहाँ से) हो... अररर! आहाहा!

पुनः पुनः उसी का अभ्यास करना, सो दूसरे प्रकार का देखना है... पहले प्रकार का देखना यह आया था कि मैं पूर्ण स्वरूप हूँ। पुण्य-पाप से रहित, शुभ-अशुभ से रहित पूर्ण स्वरूप मैं हूँ, ऐसा श्रद्धा-ज्ञान करना, वह पहले (प्रकार का देखना है)। पश्चात् अन्तर रमणता करके पूर्ण देखना, इसका नाम चारित्र है। आहाहा! है? **पुनः पुनः उसी का अभ्यास करना, सो दूसरे प्रकार का देखना है; इस प्रकार का देखना अप्रमत्तदशा में होता है।** देखो! चौथे, पाँचवें, छठवें में अमुक (प्रकार का देखना) और सातवें गुणस्थान में अन्दर आनन्द में स्थिर है, अतीन्द्रिय आनन्द में स्थिर हो जाता है। आहाहा! क्षणिक रहे, तुरन्त छठवाँ आ जाता है। इस प्रकार सातवें से छठवें, छठवें से सातवें में आवे, यह मुनि की दशा है। सच्चे सन्त की यह दशा (होती है)। छठवें और सातवें में हजारों बार एक दिन में आवे, वह मुनि है। आहाहा! **वैसा ही ध्यान में लेकर चित्त को एकाग्र-स्थिर करना, और पुनः पुनः उसी का अभ्यास करना, सो दूसरे प्रकार का देखना है; इस प्रकार का देखना अप्रमत्तदशा में होता है।**

जहाँ तक उस प्रकार के अभ्यास से केवलज्ञान उत्पन्न न हो... आहाहा! अन्तर में लीनता करते... करते... करते जब तक केवलज्ञान न हो, **वहाँ तक ऐसा अभ्यास निरन्तर रहता है। यह, देखने का दूसरा प्रकार हुआ।** आहाहा! **यहाँ तक तो पूर्ण ज्ञान का शुद्धनय के आश्रय से परोक्ष देखना है।** यहाँ प्रत्यक्ष नहीं हुआ। प्रत्यक्ष तो केवलज्ञान हो, तब होगा। असंख्य प्रदेशी अनन्त गुण! ओहोहो! असंख्य प्रदेशी, पूर्ण अनन्त गुण केवलज्ञान में प्रत्यक्ष होते हैं। **यह, देखने का दूसरा प्रकार हुआ। यहाँ तक तो पूर्ण ज्ञान का शुद्धनय के आश्रय से परोक्ष देखना है।** पहला तो परोक्ष है व्यवहार से। ऐसे ज्ञान के वेदन से प्रत्यक्ष है। पूरे असंख्य प्रदेश देखने में नहीं आते, इस अपेक्षा से परोक्ष जानने में आता है। बाकी ज्ञान का वेदन तो प्रत्यक्ष है और असंख्य प्रदेश देखने में आये नहीं तो उसे परोक्ष कहा गया है। आहाहा!

केवलज्ञान उत्पन्न होता है, तब साक्षात् देखना है,... साक्षात् केवलज्ञान! **यह तीसरे प्रकार का देखना है।** पहला प्रकार ज्ञान-श्रद्धान-अनुभव करना। दूसरा प्रकार—स्वरूप में चारित्र—रमणता करना, तीसरा प्रकार—केवलज्ञान प्रगट करना। आहाहा! **उस**

स्थिति में ज्ञान सर्व विभावों से रहित होता हुआ... जब केवलज्ञान होता है, तब सर्व प्रकार के विभावों से रहित (होता है)। आहाहा! **सबका ज्ञाता-दृष्टा है,...** आहाहा! केवली को यह मेरा शिष्य है, ऐसा कुछ नहीं है। आहाहा! वह तो ज्ञाता-दृष्टा है। **इसलिए यह तीसरे प्रकार का देखना पूर्ण ज्ञान का प्रत्यक्ष देखना है।** पूर्ण ज्ञान में प्रत्यक्ष देखना होता है। आहाहा!

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं- लो! यह जो कहा, उसका काव्य अब कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश - २३५

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं-

(शार्दूलविक्रीडित)

अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं विभ्रत्पृथग्वस्तुता-
मादानोज्झनशून्य-मेत-दमलं ज्ञानं तथावस्थितम्।
मध्याद्यन्त-विभागमुक्त-सहजस्फार-प्रभाभासुरः,
शुद्धज्ञानघनो यथाऽस्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति।।२३५।।

श्लोकार्थ : [अन्येभ्यः व्यतिरिक्तम्] अन्य द्रव्यों से भिन्न, [आत्म-नियतं] अपने में ही नियत, [पृथक्-वस्तुताम्-बिभ्रत्] पृथक् वस्तुत्व को धारण करता हुआ (-वस्तु का स्वरूप सामान्यविशेषात्मक होने से स्वयं भी सामान्यविशेषात्मकता को धारण करता हुआ), [आदान-उज्झन-शून्यम्] ग्रहणत्याग से रहित, [एतत् अमलं ज्ञानं] यह अमल (-रागादिक मल से रहित) ज्ञान [तथा-अवस्थितम् यथा] इस प्रकार अवस्थित (-निश्चल) अनुभव में आता है कि जैसे [मध्य-आदि-अंत-विभाग-मुक्त-सहज-स्फार-प्रभा-भासुरः अस्य शुद्ध-ज्ञान-घनः महिमा] आदि मध्य अन्तरूप विभागों से रहित ऐसी सहज फैली हुई प्रभा के द्वारा दैदीप्यमान ऐसी उसकी शुद्धज्ञानघनरूप महिमा नित्य -उदित रहे (शुद्ध ज्ञान की पुंजरूप महिमा सदा उदयमान रहे)।

भावार्थ : ज्ञान का पूर्ण रूप सबको जानना है। वह जब प्रगट होता है, तब सर्व विशेषणों से सहित प्रगट होता है; इसलिए उसकी महिमा को कोई बिगाड़ नहीं सकता, वह सदा उदित रहती है।।२३५।।

प्रवचन नं. ४४८, श्लोक-२३५ गुरुवार, अषाढ़ कृष्ण ४
दिनांक - ३१-०७-१९८०

समयसार, २३५ कलश।

अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं बिभ्रत्पृथग्वस्तुता-
मादानोज्झनशून्य-मेत-दमलं ज्ञानं तथावस्थितम्।
मध्याद्यन्त-विभागमुक्त-सहजस्फार-प्रभाभासुरः,
शुद्धज्ञानघनो यथाऽस्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति।।२३५।।

'अन्येभ्यः व्यतिरिक्तम्' यह आत्मा अपना स्वरूप शुद्ध आनन्दकन्द है, उसका साधन करके पूर्णानन्द की प्राप्ति हुई। वह अपना भिन्न तत्त्व है। पूर्णानन्द हो तो वह पर में मिल जाता है, ऐसा नहीं है। यहाँ भी अकेला है और वहाँ भी अकेला है। संसार में भटकने में भी अकेला, धर्म के साधकरूप से भी अकेला और उसके फलरूप से सिद्ध भी अकेला। यह कहते हैं।

अन्य द्रव्यों से भिन्न,... आहाहा! अन्य द्रव्य—भगवान भी इससे भगवान आत्मा भगवान से भिन्न है। अन्य द्रव्यों से भिन्न। **अपने में ही नियत,...** अपने में ही निश्चय से रहनेवाला। पर से भिन्न, अपने में ही रहनेवाला। **पृथक् वस्तुत्व को धारण करता हुआ...** दूसरी अनन्त चीज़ें हैं, उन चीज़ों से पृथक् भिन्न वस्तु धारण करता हुआ, ऐसा आत्मा मुक्तपने को प्राप्त होता है, तब उसे पर का सम्बन्ध नहीं रहता। यहाँ सम्बन्ध है परन्तु उसके साथ एकत्व नहीं है। आहाहा!

यहाँ तो (कहते हैं), **पृथक् वस्तुत्व को धारण करता हुआ (-वस्तु का स्वरूप...)** अब इसमें न्याय दिया है। **(-वस्तु का स्वरूप सामान्यविशेषात्मक...)** क्या कहते हैं? कि वस्तु सामान्य अर्थात् एकरूप रहनेवाली और विशेष अर्थात् पर्याय,

परन्तु स्वयं से होनेवाली। सामान्यविशेषस्वरूप ही वस्तु है तो सामान्य स्वयं से है और पर्याय दूसरे से है, ऐसा सिद्ध में भी नहीं है, साधक में भी नहीं है, बाधक में भी नहीं है। क्योंकि सामान्यविशेषात्मक स्वभाव है। सामान्य अर्थात् कायम रहनेवाली चीज़ और विशेष अर्थात् वर्तमान पर्याय। तो वर्तमान पर्याय बिना का कोई द्रव्य नहीं है। आहाहा! तो अपनी पर्याय बिना का द्रव्य नहीं तो उसकी पर्याय दूसरा कोई करे, यह त्रिकाल में नहीं होता। आहाहा!

इसमें दो बोल कठिन हैं। १. **'आदान शून्यम्'** और २. **'पृथक्'** सामान्यविशेष। प्रत्येक चीज़ सामान्य ध्रुवरूप रहनेवाली और विशेष—पर्याय रहनेवाली, पर्यायसहित रहनेवाली है। किसी चीज़ की कोई पर्याय दूसरा करे, ऐसा तीन काल में नहीं होता। आहाहा! समझ में आया? सामान्यविशेषस्वरूप वस्तु ही ऐसी है। यह सिद्धपद भी पर्याय है। सिद्ध पद का जो आत्मा अन्दर त्रिकाल है, वह ध्रुव है, परन्तु पर्याय है, वह सामान्य का विशेष रूप है। उस विशेष और सामान्य बिना सिद्ध भी नहीं रहते और दूसरे सभी आत्मायें या परमाणु अपनी पर्यायसहित सामान्यरूप रहते हैं। अपनी पर्याय दूसरा कोई करे, ऐसा तीन काल में नहीं होता। आहाहा!

यह हाथ है तो इसका परमाणु जो हैं, वे सामान्य हैं और यह जो अवस्था होती है, वह विशेष है। यह विशेष अवस्था आत्मा करता है, ऐसा तीन काल में नहीं है। आहाहा! यदि ऐसा हो तो विशेष बिना का द्रव्य रह जाए, तो द्रव्य ऐसा है नहीं। द्रव्य सामान्य और विशेष दो स्वरूप है। आहाहा!

अनाज का आटा होता है, वह आटा चक्की से नहीं होता। वह आटा का स्वभाव ही सामान्य-विशेष है। परमाणुरूप से कायम रहनेवाला और आटा की जो विशेष पर्याय है, उस विशेषसहित सामान्य कायम रहता है। उसका विशेष कोई दूसरा करे, ऐसा तीन काल में नहीं होता। आहाहा! यह सिद्धान्त।

ठीक, एक तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को कुछ करता नहीं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को किंचित् छूता नहीं, स्पर्शता नहीं। एक तत्त्व दूसरे तत्त्व को कभी स्पर्श नहीं करता। आहाहा! और प्रत्येक तत्त्व में जो पर्याय—विशेष होता है, वह क्रमबद्ध होती है। एक के

बाद एक होनेवाली होती है, आगे-पीछे नहीं। दो (बातें) और सामान्य का जो विशेष है, वह भी सामान्य का विशेष है, वह विशेष दूसरे से होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

आटा की रोटी हुई, वह स्त्री से हुई या तवा से हुई, ऐसा नहीं है। सामान्य चीज़ है, वह विशेष बिना नहीं होती। आहाहा! कोई भी चीज़ जो है, वह सामान्य ध्रुवरूप रहकर वर्तमान पर्याय बिना वह द्रव्य रहता नहीं। पर्याय उसका जब कार्य करती है तो वह द्रव्य निकम्मा रहा नहीं। अपनी पर्यायरूपी कार्य किया। तो उस पर्याय का करनेवाला वह सामान्य है। अतः दूसरा उस पर्याय को करे, ऐसा तीन काल में नहीं होता। आहाहा!

आत्मा पर की दया तीन काल में नहीं पाल सकता। ऐसी बात! क्योंकि जो सामने चीज़ है, वह भी सामान्य-विशेष (स्वरूप) है। आहाहा! वह दया दूसरा पाले तो दूसरा उसकी पर्याय करे। तो वह पर्याय बिना का द्रव्य रहा। सूक्ष्म बात है। दृष्टि में बहुत अन्तर है। आहाहा! सामान्य और विशेष, यह वस्तु का ही स्वरूप है। उसकी पर्याय, सामान्य की पर्याय कोई दूसरा करे तो सामान्य अकेला रहे, तो वह वस्तु नहीं रह सकती। आहाहा!

मुमुक्षु : निमित्त तो होता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : होता है साथ में, परन्तु उससे कुछ होता नहीं। निमित्त से कुछ होता नहीं। निमित्त से होता है—ऐसा मानना, वह मिथ्यादृष्टि है। निमित्त पर को स्पर्श नहीं करता। पर को स्पर्श नहीं करता तो करे क्या? यह तो ठीक, परन्तु यदि निमित्त से होवे तो वस्तु का स्वरूप सामान्य-विशेष है; वस्तु का सामान्य और विशेषस्वरूप है, तो सामान्य रहकर विशेष दूसरा करे तो विशेष बिना की (वस्तु) रह गयी। आहाहा! कठिन बात है, भाई! वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म है, बापू! दुनिया तो...

यह हाथ आत्मा तीन काल-तीन लोक में हिला नहीं सकता। क्योंकि यह हाथ हिलता है, वह इसकी विशेष पर्याय है। वह परमाणु सामान्य की विशेष पर्याय है। आहाहा! उस विशेष पर्याय को आत्मा करे तो परमाणु ने क्या किया? परमाणु सामान्य रह गया? आहाहा! यह महासिद्धान्त। अन्त में गाथा रखी।

सामान्यविशेषात्मकता को धारता हुआ। आहाहा! यह तो सिद्ध के लिये—पूर्ण के लिये बात है। परन्तु सब चीज़ सामान्य और विशेष को धारण करती रही है। आहाहा!

ओहोहो! सामान्य-विशेषस्वरूप ही वस्तु है। सामान्य, वह ध्रुव है; विशेष, वह उत्पाद-व्यय पर्याय है। तो जिस क्षण में जिस द्रव्य की जो पर्याय होनेवाली है, आगे-पीछे नहीं। जिस क्षण में जिस द्रव्य की जो पर्याय—अवस्था होनेवाली है, वही होगी। क्योंकि सामान्य विशेषसहित है; सामान्य पर्यायसहित है। सामान्य स्वयं बदलनेवाली अवस्थासहित है। वह पर्याय दूसरा बदलावे, दूसरे से बदले यह तीन काल में नहीं होता। ओहोहो! भारी काम! पूरे दिन यह काम-धन्धा करते हैं न? क्या किया अभी तक यह सब? हीरा और माणेक को फिराया। आहाहा!

प्रभु तो ऐसा कहते हैं, तीन लोक के नाथ सर्वज्ञदेव परमेश्वर का यह फरमान है कि प्रत्येक पदार्थ अपना सामान्यविशेषस्वरूप रखकर रहता है। विशेषरहित हो तो वह वस्तु रह नहीं सकती और उसका विशेष दूसरा करे तो भी वह वस्तु रह नहीं सकती। दूसरी (चीज़) भी सामान्य-विशेषस्वरूप है। दूसरी चीज़ भी सामान्य और विशेष पर्यायसहित है। स्वयं विशेष सहित है तो दूसरे का विशेष क्यों करे? आहाहा! लो, यह तो क्रमबद्ध में सामान्य-विशेष आया। आहाहा!

प्रत्येक वस्तु सामान्य-विशेष स्वरूप को धारण करती हुई। सिद्ध भी अपना सामान्य और विशेषस्वरूप को धारण करते हुए। सिद्ध भी सामान्य-विशेष हैं। सिद्ध में भी समय-समय में पर्याय बदलती है। आहाहा! अभिमान... अभिमान पूरे दिन यह किया, मैंने यह किया, मैंने यह किया, मैंने यह किया... मिथ्यात्व का अभिमान है। आहाहा! क्योंकि कोई भी चीज़ उसका कार्य जो पर्याय विशेष, कार्य जो पर्याय विशेष बिना की होती नहीं तो तू परद्रव्य का करे क्या? आहाहा!

प्रत्येक चीज़ सामान्य-विशेषात्मकपने को धारण करती हुई। आहाहा! '**आदान-उज्झन-शून्यम्**' परवस्तु की पर्याय को ग्रहण करना या छोड़ना, उससे शून्य है। आहाहा! प्रत्येक चीज़ सामान्य-विशेष है और पर का ग्रहण करना, इससे शून्य है। परद्रव्य की पर्याय ग्रहण करना, वह '**आदान**' वह ग्रहण। '**आदान**' है न? '**आदान-उज्झन-शून्यम्**' '**आदान**' अर्थात् ग्रहण करना, '**उज्झन**' अर्थात् छोड़ना, उससे शून्य है। ग्रहण-त्याग से रहित है। आहाहा! वीतराग का एक सिद्धान्त, एक ही सिद्धान्त जैसा है, वैसा

बराबर समझे। जयसेनाचार्यदेव की टीका में लिखा है कि एक भाव भी समझे तो सब भाव बराबर समझे। एक भी वस्तु यदि यथार्थरूप से समझे (तो सब यथार्थ समझ में आये)। आहाहा!

यह जीभ हिलती है, भाषा निकलती है, उसका आत्मा कर्ता नहीं है। क्योंकि जीभ भी सामान्य-विशेषस्वरूप है। परमाणु कायम रहकर पर्याय होती है। भाषा भी सामान्य-विशेषस्वरूप है। परमाणु कायम रहकर भाषा की पर्याय होती है। आहाहा! गजब! प्रत्येक वस्तु अपने सामान्य-विशेष को धारण करती हुई (पर के) ग्रहण-त्याग से शून्य है। है? 'आदान'।

आत्मा में एक शक्ति है, वह परद्रव्य के ग्रहण-त्याग से शून्य है। यहाँ तो प्रत्येक द्रव्य ग्रहण-त्याग से शून्य है, वह यहाँ लिया। यहाँ लिया है—त्यागोपादानशून्यत्व शक्ति। आत्मा में ऐसी एक शक्ति है कि पर का त्याग और पर का ग्रहण आत्मा में नहीं है। आहाहा! इस रोटी को थाली में से उठा सके, ऐसा बिल्कुल नहीं हो सकता। आहाहा! क्योंकि रोटी सामान्य-विशेषस्वरूप है।

मुमुक्षु : खाना या नहीं खाना?

पूज्य गुरुदेवश्री : खाये कौन और पीये कौन? अरे..! प्रभु! यह तो अलग बातें हैं, बापू! वीतराग का मार्ग कोई अलग है। आहाहा! दासजी! पूरा मार्ग अलग है। आहाहा! आहाहा!

दियासलाई हाथ में लेकर घिसते हैं, वह स्वयं करता है? कि, नहीं। वह दियासलाई सामान्यरूप से रहनेवाले परमाणु हैं, उनकी विशेष की पर्याय उनमें हुई है, घिसने से नहीं, करने से नहीं। आहाहा! क्योंकि दियासलाई परद्रव्य को छूती नहीं, स्पर्शती नहीं। आहाहा! उसका स्वभाव सामान्य-विशेष है और विशेष भी जिस समय जो पर्याय होनेवाली है, वही होगी, कोई पर्याय आगे-पीछे होगी नहीं। आहाहा! यह तो एकान्त हो गया। एकान्त ही है। जैनदर्शन सम्यक् एकान्त ही है।

यहाँ दो बातें की। एक तो सिद्ध भगवान, बात तो यहाँ पूर्ण की है, परन्तु सभी पदार्थ सामान्य-विशेषस्वरूप हैं और ग्रहण-त्यागरहित हैं। परचीज़ को ग्रहण करे और छोड़े, यह

उनमें नहीं हैं। आहाहा! गजब बात है। कफ आता है, उसका बलखा करके निकाले, उसे आत्मा नहीं कर सकता। आहाहा! विशेष स्वरूप की पर्याय, सामान्य है, वह उस पर्याय को करता है। दूसरा जीव उसकी पर्याय को करता है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : स्वयं से स्वयं का काम होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अनादि-अनन्त प्रत्येक को। कहो! मनसुख! क्या यह दुकान का काम पूरे दिन? आहाहा! एक अगरबत्ती सुलगानी हो तो कहते हैं कि आत्मा सुलगाता नहीं। यह अगरबत्ती सामान्यरूप से रहकर जब सुलगी, तब उसकी विशेष अवस्था हुई। वह सामान्य विशेषरूप हुआ। वह दूसरे से सुलगी, ऐसी बात नहीं है। आहाहा!

ग्रहणत्याग से रहित, 'एतत् अमलं ज्ञानं' यह अमल (-रागादिक मल से रहित) ज्ञान... परमात्मा का, सिद्ध भगवान आत्मा हुआ, वह मलरहित है। यद्यपि यहाँ भी आत्मा मलरहित है। पर्याय में मल है, द्रव्यरूप से वस्तु मलरहित है। यहाँ भी प्रत्येक भगवान आत्मा है। प्रत्येक भगवान है। स्त्री, पुरुष, तिर्यंच भगवानस्वरूप विराजते हैं। वह भगवानस्वरूप सामान्य है, उसकी मलिन आदि विशेष अवस्था रखना, वह पर्याय है। सामान्य वस्तु है, वह तो भगवानरूप से, द्रव्यरूप से सब भगवान आत्मा हैं। आहाहा! गजब बात है। तब पूरे दिन करना क्या? सवेरे से शाम तक पर चीज़ का कुछ कर नहीं सकता, तो करे क्या? करना यह कि ज्ञाता-दृष्टापने की पर्याय करे, वह उसका विशेष है। आहाहा!

सामान्य जो आत्मा त्रिकाली रहनेवाला, उसकी जानने-देखने की पर्याय, वह उसका विशेष है। वह भी वास्तव में पर को जानना-देखना, यह नहीं। अपने को जानना-देखना, यह विशेष है। आहाहा! जगत को भारी कठिन पड़े।

मुमुक्षु : स्पष्ट भेदविज्ञान की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सर्वज्ञ भगवान त्रिलोकनाथ वीतराग परमात्मा ने ज्ञान में जो देखा, ऐसा वाणी द्वारा आ गया। वाणी भी उन्होंने की नहीं, भगवान ने वाणी भी की नहीं। वाणी जड़ है, भगवान चेतन है। उस वाणी का कर्ता आत्मा नहीं है। दिव्यध्वनि स्वयं से खिरती है। दिव्यध्वनि का कर्ता भगवान आत्मा नहीं। दिव्यध्वनि की पर्याय वह परमाणु की पर्याय

विशेष है। परमाणु कायम रहकर दिव्यध्वनि की पर्यायरूप परिणमते हैं। आहाहा! कठिन काम, भाई! दुनिया ने तो बाहर से (मान लिया है कि) यह करना और यह करना तथा यह करना... करना... करना... करना वह मरना है। पर का करना, इसका नाम अपने आत्मा का मरना। यह ज्ञानस्वरूप नहीं। वह पर के करनेस्वरूप रहा, इसलिए स्वयं ज्ञानस्वरूप नहीं रहा और मर गया। पर के करने में मिल गया। अपने ज्ञातारूप रहा नहीं तो ज्ञातारूप से उसकी मृत्यु हो गयी। आहाहा! बहुत कठिन काम। एकान्त ऐसा होगा? व्यवहार से तो होगा या नहीं? व्यवहार से भी नहीं। व्यवहार से कथनमात्र बोलने में आता है, परन्तु है नहीं। आहाहा! शान्तिभाई! क्या किया तब अभी तक यह सब? आहाहा! मनसुख! एक ज्वार का दाना फिरा सकता नहीं, ऐसा कहते हैं। थैलियाँ पड़ी हों, थैलियाँ, उन थैलियों को हिला सकते हैं या वहाँ रखे सके या वहाँ से निकाल कर दे सके, (ऐसा है नहीं)। आहाहा! ऐसी बात है।

वीतराग मार्ग जैन परमेश्वर त्रिलोकनाथ का मार्ग कहीं है नहीं। परमेश्वर ने जो छह द्रव्य देखे, उन छह द्रव्यों में जाति से छह द्रव्य परन्तु संख्या अनन्त है। अनन्त आत्मा, अनन्त परमाणु, असंख्य कालाणु, वह प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्याय में सामान्यरूप से-विशेषरूप से रहनेवाले हैं। आहाहा!

यहाँ सिद्ध के परमात्मा पूर्ण आत्मा की दशा हो गयी, वह कोई दूसरे के विशेष को करेगी या नहीं? परमात्मा हुआ तो कुछ करेगा, बलवन्त है तो सिद्ध भगवान दूसरे को कुछ दे सकेंगे या नहीं? कि सिद्ध भगवान भी अपने सामान्य-विशेष में रहते हैं। आहाहा! वे परमेश्वर भी किसी को कुछ देते नहीं। माँग करे, 'सिद्धासिद्धि मम् दिसंतु' लोगस्स में आता है। 'सिद्धासिद्धि मम् दिसंतु' दिखावे। दिखावे कौन? आहाहा!

दो बातें आयीं। एक तो सामान्य चीज़ हो वह विशेष बिना नहीं होती। कायम त्रिकाल (ऐसा है)। और जब पूर्ण आत्मा हो गया, पश्चात् ग्रहण-त्याग रहा नहीं। शुद्धता का ग्रहण और राग—मैल का त्याग, वह उसमें रहा नहीं। पूर्ण परमात्मदशा हुई, वहाँ ग्रहण-त्याग रहा नहीं, सामान्य-विशेष रहा। आहाहा!

'एतत् अमलं ज्ञानं' यह अमल (-रागादिक मल से रहित) ज्ञान 'तथा-

अवस्थितम् यथा' इस प्रकार अवस्थित (-निश्चल) अनुभव में आता है... आहाहा! आत्मा भी अन्तर में सामान्यरूप से रहकर विशेषरूप से अनुभव में आता है। आहाहा! त्रिकाल जो द्रव्यस्वभाव है, उसका विशेष, वह विशेष पर्याय उसके अनुभव में आता है। आहाहा! सामान्य का अनुभव नहीं, पर्याय का अनुभव होता है। आहाहा! **अनुभव में आता है... 'तथा-अवस्थितम् यथा' इस प्रकार अवस्थित (-निश्चल) अनुभव में आता है...** सामान्य-विशेष, ग्रहण-त्यागरहित। प्रत्येक पदार्थ इस प्रकार ज्ञान में आता है। आहाहा! गजब बात!

जैसे 'मध्य-आदि-अंत-विभाग-मुक्त-सहज-स्फार-प्रभा-भासुरः अस्य शुद्ध-ज्ञान-घनः महिमा' आदि मध्य अन्तरूप विभागों से रहित... परमात्मा सिद्ध भगवान हुए, उनकी आदि नहीं कि इस द्रव्य की आदि हुई। अन्त नहीं कि इस द्रव्य का अन्त हो जाए। मध्य नहीं कि यह पहले था, उसका यह मध्य है। वह तो अनादि एकरूप है। आहाहा! आदि-मध्य-अन्तरहित अथवा विभागों से रहित। तीन के भाग उसमें नहीं कि पहले यह था, वर्तमान में यह है, बाद में यह। वह तो त्रिकाल एकरूप है। तीन काल का भी उसमें भाग नहीं। आहाहा! कहाँ ले गये? परचीज़ का विशेष कर सकता नहीं, परचीज़ को ग्रहण कर सकता नहीं और स्वयं का आदि तथा अन्त नहीं, अनादि-अनन्त वस्तु है। आहाहा! है?

'मध्य-आदि-अंत-विभाग-मुक्त' आदि मध्य अन्तरूप विभागों से रहित ऐसी सहज फैली हुई प्रभा... सर्वज्ञ परमात्मा अपने आत्मा के आनन्द गुण में रमण करते हुए जो केवलज्ञान प्राप्त किया... आहाहा! अपने आत्मा का सिद्धपद कैसे हुआ? कि अपने अतीन्द्रिय आनन्द में रमते-रमते पूर्ण आनन्द हो गया। वे परमात्मा **सहज फैली हुई प्रभा...** स्वाभाविक विस्तार पाकर। अन्दर शक्ति थी, उसे पर्याय में विस्तार पाकर। आहाहा! प्राप्त की प्राप्ति है। अन्दर पूर्ण भरा है, वह पर्याय में आता है। आहाहा! एक गाथा में तो सब (बेड़ा पार है)। आचार्यों की—दिगम्बर सन्तों की कथनी अलौकिक है। साक्षात् सर्वज्ञ भगवान त्रिलोकनाथ परमात्मा की सीधी कथनी है। आहाहा!

एक तो प्रत्येक चीज़ को सामान्य-विशेष कहा। तो उसकी उस-उस समय की

पर्याय उस समय स्वयं से होती है और पर के ग्रहण-त्यागरहित है। दो (बातें हुईं)। और आदि-मध्य-अन्तरहित है। वह है... है... है। जो तत्त्व आदि में है, वही अन्त में है, वही मध्य में है। आदि-मध्य-अन्तरहित है। आहाहा! है या नहीं इसमें? आहाहा! पर को सुधारना, पर को बिगाड़ना, पर को मदद करना, यह कोई बात रहती नहीं। पर की सेवा करना, गरीब को आहार देना, यह तो कुछ रहता नहीं। आहाहा! अरे! प्रभु! मार्ग अलग है, भाई!

वीतराग त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ परमेश्वर का मार्ग पूरी दुनिया से अलग है। कोई दुनिया के साथ उसका मेल (नहीं)। अभी तो सम्प्रदाय के साथ मेल नहीं हो सकता है। आहाहा! प्रत्येक सम्प्रदाय ऐसा कहता है कि करो, करो और करो। पर की दया पालो, पर की सेवा करो, अमुक ऐसा करो, अमुक ऐसा करो... करो... करो और करो। यहाँ तो कहते हैं, करे... करे वह मरे। आहाहा!

जानने-देखनेवाला आत्मा भगवान सामान्यरूप से भी वह और विशेषरूप से भी वह। आहाहा! उसके विशेष में दूसरे का असर नहीं और उसका विशेष दूसरे का विशेष करे, ऐसा नहीं है। आहाहा! यह बड़े-बड़े कारखाना करनेवाले....

मुमुक्षु : कारखाने कारखाने के कारण से होते हैं, सेठ कुछ नहीं करते।

पूज्य गुरुदेवश्री : सेठ ऐसा कहे, ऐसा करो, ऐसा करो। वहाँ कुर्सी पर बैठा हो। नौकर को कहे, ऐसा करो। पाँच-पाँच, दस-दस हजार की आमदनी हो। ऐसा हुक्म करे। अरे! प्रभु! क्या है यह? यह किसकी लीला है? मिथ्यात्व की लीला है। आहाहा! यह तो विपरीत मान्यता की लीला है, भाई!

यहाँ परमात्मा तो ऐसा फरमाते हैं कि जो चीज़ है, वह आदि-मध्य-अन्त रहित है। जो चीज़ है, वह सामान्य-विशेषस्वरूप है और जो चीज़ है, वह पर के ग्रहण-त्यागरहित है। आहाहा! एक बोल भी यथार्थ (समझे)। आहाहा!

ऐसी सहज फैली हुई प्रभा... परमात्मा को जो शक्तिरूप से परमात्मा था, वह पर्याय में फैली हुई परमात्म दशा। शक्तिरूप से तो सब परमात्मा ही है। सब आत्मा परमात्मा है। शक्तिरूप से सब भगवान है। आहाहा! यह शक्तिरूप से है, वह व्यक्तिरूप

से होता है। व्यक्तिरूप से प्रगट होता है, वह दूसरे से नहीं। आहाहा! कठिन काम है, प्रभु! सब भगवानस्वरूप है। वह भगवानस्वरूप अपनी शक्ति और स्वभाव रखता है। वह व्यक्तरूप से फैलाव होता है, वह स्वयं से होता है। यहाँ आया न?

सहज फैली हुई प्रभा... वह प्रकाश स्वाभाविक विशेषरूप विस्तार प्राप्त हुआ। सामान्यरूप से जो था वह विशेषरूप से प्रगट हुआ। आहाहा! केवलज्ञान पूर्ण दशा को प्राप्त होता है, वह निश्चय से तो मोक्षमार्ग से भी उत्पन्न नहीं होता। आहाहा! मोक्षमार्ग से भी केवलज्ञान नहीं होता। क्योंकि मोक्षमार्ग की पर्याय का तो व्यय होता है और केवलज्ञान की पर्याय का उत्पाद होता है। अत: जो व्यय / अभाव होता है, वह भाव को किस प्रकार करे? आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात, बापू! आहाहा! हीरा, माणिक के कारण कभी यह सब सुना नहीं। इतने तो भाग्यशाली न? सुना नहीं था, यह स्वीकार किया। यह था नहीं, बापू! आहाहा! अरे! क्या कहते? लोग? चोर कोतवाल को दण्डे ऐसा है।

मुमुक्षु : आप भी हीरा-माणिक बाँटते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो चीज़ है। यह तो भगवान के श्रीमुख से निकली हुई (बात है)। परमात्मा विराजते हैं, सीमन्धर भगवान विराजते हैं। उनके श्रीमुख से निकली हुई वाणी है। आहाहा! केवलज्ञानी परमात्मा महाविदेहक्षेत्र में विराजते हैं। बीस तीर्थंकर। बीस तीर्थंकर और लाखों केवली वहाँ विराजते हैं। आहाहा! उनकी यह वाणी है। आहाहा! एक गाथा में कितना समाहित किया है!

एक तो सामान्य-विशेष कहा, ग्रहण-त्यागरहित कहा। है... है... वह है, उसे आदि-मध्य-अन्तरहित कहा। और पहले नहीं थी ऐसी (प्रभा) फैलायी, वह शक्ति थी वह फैली है। सामान्य में जो था, वह विस्तार पाया है, वह विशेषरूप हुआ है। पर के कारण कुछ हुआ नहीं। देव-गुरु-शास्त्र के कारण भी बिल्कुल (हुआ) नहीं। आहाहा! जो पूर्णरूप फैला है।

दैदीप्यमान ऐसी उसकी शुद्धज्ञानघनरूप महिमा... ऐसा **शुद्धज्ञानघनरूप महिमा...** शुद्धज्ञानघन घन, अर्थात् पिण्ड। **शुद्धज्ञानघनरूप महिमा नित्य-उदित रहे...** आहाहा! फिर कायम रहनेवाली। सिद्ध हुए वे सिद्ध हुए। वह दशा सादि अनन्त ऐसी की

ऐसी रहनेवाली है। आहाहा! पलटन बने, पर्याय बदले परन्तु दशा वह की वह सादि-अनन्त रहे। आहाहा! अपना आत्मा शुद्ध स्वरूप से भरपूर प्रभु का अनुभव करते-करते; अनुभव करते-करते, कोई क्रिया करते-करते नहीं। आहाहा! सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा सर्वज्ञ परमात्मा ने कहा वह, वह पूर्णानन्द से भरपूर प्रभु सामान्य है, उसकी एकाग्रता होकर विशेष प्रगट हुआ, वह पर्याय सादि-अनन्त रहेगी। आहाहा! एक कलश, यह तो कलश है। यह अमृतचन्द्राचार्य का है। आहाहा! **ऐसी उसकी शुद्धज्ञानघनरूप महिमा नित्य – उदित रहे (शुद्ध ज्ञान की पुंजरूप महिमा सदा उदयमान रहे)।** आहाहा!

भावार्थ – ज्ञान का पूर्ण रूप सबको जानना है। भगवान आत्मा का ज्ञानस्वरूप पूर्ण भरा है। वह पूर्ण जहाँ प्रगट हुआ तो सबको जानना, ऐसा स्वभाव है। आहाहा! ज्ञान बड़ी शक्ति में प्रगट हुआ तो किसी को कुछ मदद करे, ऐसा है नहीं। आहाहा! वे गीता में कहते हैं न? भक्तों को कष्ट पड़े और राक्षसों की वृद्धि हो तो ईश्वर मोक्ष में से मदद करने के लिये आता है। आहाहा! यहाँ तो एक की एक बात (अलौकिक है)।

वे सिद्ध भगवान सामान्यरूप से तो सिद्ध थे, शक्तिरूप से तो सिद्ध हैं, सब शक्ति से भगवान हैं। यह पर्याय में विस्तरित हुआ। पर्याय में यह फैला, विस्तार पाया। सामान्य में से विशेष हुआ। आहाहा! और वह विशेष कायम रहेगा। किसी का ग्रहण-त्याग करेगा नहीं, किसी का कार्य करेगा नहीं, किसी को मदद करेगा नहीं और आदि-मध्य-अन्तरहित वह दशा प्रगट हुई, वह सादि-अनन्त रहेगी। आहाहा!

ज्ञान का पूर्ण रूप सबको जानना है। यह ज्ञान जो आत्मा का स्वभाव है, उसका स्वरूप तो पूर्ण सबको जानना उसरूप है। ज्ञान किसी का कुछ करे, (ऐसा उसका स्वरूप नहीं है)। आहाहा! आँख है, वह किसी का कुछ करे, रजकण उड़ावे या लावे, (ऐसा नहीं होता)। पहले दृष्टान्त दिया है न? ३२० गाथा। आँख पर का कुछ करे नहीं, वह तो जानती है। कोई गड्डा हो तो गड्डा करे और गड्डा भर दे, आँख भरे? आहाहा! इसी प्रकार भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूपी जगत की चीज़ है, उसे जाने-देखे। उसे कुछ मदद करे या पर का कुछ कार्य करे, ऐसी वस्तु की स्थिति नहीं है। वस्तु की स्थिति ऐसी है नहीं। आहाहा!

ज्ञान का पूर्ण रूप सबको जानना है। किसी का कुछ करना, यह (स्वरूप) नहीं है। आत्मा किसी का कुछ करे, अँगुली हिलावे या एक अक्षर लिखे, वह आत्मा की शक्ति नहीं है। आहाहा! गजब बात। यह पूरे दिन (करते हैं न)? **वह जब प्रगट होता है,... ज्ञान का पूर्ण रूप सबको जानना है। वह जब प्रगट होता है, तब सर्व विशेषणों से सहित प्रगट होता है;...** सर्व विशेषणों। आदि-मध्य-अन्त, विशेषसहित, पर के ग्रहण-त्यागरहित पूर्ण स्वरूप (प्रगट होता है)। आहाहा! भारी कलश आया! एक कलश तो छोटा आया। आहाहा!

(भावार्थ -) **ज्ञान का पूर्ण रूप सबको जानना है। वह जब प्रगट होता है, तब सर्व विशेषणों से सहित प्रगट होता है; इसलिए उसकी महिमा को कोई बिगाड़ नहीं सकता,...** आहाहा! पूर्णानन्द के नाथ की दशा प्रगट हुई, उसे कोई बिगाड़ दे या संसार में लावे, ऐसा कभी नहीं होता। **वह सदा उदित रहती है।** वह प्रगट दशा जो हुई... आहाहा! (वह) सदा उदयमान (रहती है)। सूर्य तो सवेरे उगे, शाम को अस्त हो, दोपहर में मध्याह्न में अन्तर पड़े। चन्द्रमा शीतल, शीतल चन्द्र ज्ञानस्वरूपी भगवान... आहाहा! सदा एकरूप रहता है। सदा उदयमान रहता है। आहाहा! ज्ञानज्योति सदा उदित रहती है।

ऐसा सब समझने जाए तो यह सब करना कब तब? मन्दिर बनाना, रथयात्रा निकालना, यात्रा निकालना, पुस्तक बनाना... आहाहा! कुछ कर नहीं सकता, प्रभु! यह तो उस समय में उसकी परमाणु की पर्याय होनेवाली हो, वह होती है। उसमें तेरा अभिमान मिले, वह तुझे दोषवाला है। आहाहा! बाकी जगत की चीज़ तो क्रमसर उसके काल में वह पर्याय होती है। क्योंकि उस सामान्य का ही वह विशेष है। तेरा इतना मिला कि, मैंने किया। इतना अभिमान तुझमें तुझे शामिल हुआ। आहाहा! कहो, मीठालालजी! ऐसी बात है।

मुमुक्षु : बहुत केस जिताये, वे सब गप्प?

पूज्य गुरुदेवश्री : सब गप्प ही गप्प। जिताये किसने? वह सब अभिमान है। रामजीभाई ने इनके समय में बहुतों को जिताया। रामजीभाई बड़े वकील कहलाते थे। यह

सब झूठा। माना था कि मैंने जिताया, उसे जिताया, उससे दो सौ रुपये लेकर उसका काम किया। अन्त में एक तार नहीं आया था? भावनगर का एक (आया था)। छोड़ देना था तब (एक आया था), मेरा एक काम करो। एक पारसी आया था। आहाहा! भावनगर के पारसी का अन्तिम आया था। खबर है, सब खबर है। पारसी का अन्तिम एक केस आया था। आहाहा! कौन केस करे? घीयाजी! कौन यह सब करे तुम्हारा?

ऐसी बात सुनकर सब वीर्यहीन हो जायेंगे। नहीं करे वे मालवाले हैं। करे वे नपुंसक हैं। पर का करे, ऐसा माननेवाले पावैया—हिजड़ा है। शास्त्र में पाठ है। नपुंसक कहा है। पर का करे? शुभभाव करे, शुभभाव करे, वह हिजड़ा—पावैया है। आत्मा का वीर्य तो अनन्त आनन्द को प्रगट करे ऐसा है। उसे छोड़कर राग और शुभ और दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम को करे, वह नपुंसक है। समयसार में पाठ है। आहाहा!

वीर्य उसे कहते हैं... पीछे भगवान के शब्द हैं, पीछे हैं, वीर्य उसे कहते हैं कि स्वरूप की रचना करे। आहाहा! आत्मबल उसे कहते हैं, आत्मबल... है? अन्दर है, देखो! शक्ति है न? शक्ति। कितनी है? वीर्य, शुरुआत में है, हों! **'स्वरूप की (आत्मस्वरूप की) रचना...'** छठवाँ बोल। इसमें ५८८ पृष्ठ। **'स्वरूप की (आत्मस्वरूप की) रचना के सामर्थ्यरूप वीर्यशक्ति।'** आहाहा! स्वरूप की—आत्मस्वरूप की रचना। अन्त में पीछे है। आहाहा! उसमें छठवाँ बोल है, छठवाँ।

'स्वरूप की (आत्मस्वरूप की) रचना के सामर्थ्यरूप वीर्यशक्ति।' है? आत्मस्वरूप की रचना करे, वह वीर्य। शुभभाव दया, दान और व्रत के परिणाम करे, वह नपुंसक—पावैया—हिजड़ा है। पाठ है, हों! नपुंसक... नपुंसक। आहाहा! गजब बात है। शुभभाव को करे, उसे नपुंसक कहा है। क्योंकि वह राग है। आहाहा! राग है, विकल्प है। उस राग को करनेवाला नपुंसक है। परमात्मा वीर्यवान तो उसे कहते हैं कि अपने आनन्द और ज्ञान, शाक्तिस्वरूप की रचना करे, वह वीर्यवान है। वह वीर्यवान—वीर है और जो आत्मा के स्वभाव को भूलकर अकेले शुभ-अशुभभाव को करे, वह वीर्यहीन नपुंसक—पावैया—हिजड़ा है। आहाहा! गजब बात है, बापू! ऐसा पाठ है, हों! पुण्य-पाप अधिकार में पाठ है और अजीव अधिकार में पाठ है। नपुंसक है, नपुंसक।

आत्मा का वीर्य, अन्दर जो बल है, वह अन्तर बल जो है, वह तो शुद्धता को रचता है। आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्द, अतीन्द्रिय समकित, अनन्त शान्ति की रचना करे, वह वीर्य है। पर की रचना कर सके तो मूढ़ मानता है। मैं पर का कर सकता हूँ, यह कर सकता हूँ और चल सकता हूँ, मैं शरीर को चलाता हूँ, वह मूढ़ है, मिथ्यादृष्टि, पावैया है। आहाहा! ऐसा भगवान त्रिलोकनाथ का पुकार है। त्रिलोकनाथ विराजते हैं। महाविदेह में, आहाहा! सीमन्धरस्वामी विराजते हैं। उनके यह सब कथन हैं। आहाहा! कठिन पड़े ऐसा है, बापू! बात कठिन है। दुनिया को सत्य मिलता नहीं। सत्य मिले बिना मजदूरी कर-करके (मर गया है)। कमाने की और स्त्री, पुत्र की मजदूरी करके मरकर चले जानेवाले हैं, चार गति में भटकने को। यह नरक और निगोद में जानेवाले हैं। आहाहा! अरे! प्रभु! तेरी प्रभुता तो तेरी प्रभुता को विकसित करे, वह प्रभुता है।

यहाँ यह कहते हैं, हैं? देखो! आहाहा! '**स्वरूप की (आत्मस्वरूप की) रचना के सामर्थ्यरूप वीर्यशक्ति।**' अमृतचन्द्राचार्य महाराज ऐसा कहते हैं कि आत्मा में एक वीर्य नाम की शक्ति है। यह वीर्य जो पुत्र-पुत्री हो, वह वीर्य तो जड़ है, वह नहीं। आत्मा में एक वीर्य नाम का गुण है। अनादि-अनन्त एक वीर्य—पुरुषार्थ नाम का गुण है। वह पुरुषार्थ गुण अपने स्वरूप की रचना करे तो उसे पुरुषार्थ कहते हैं। परन्तु यदि वह पुरुषार्थ राग और द्वेष को रचे; पर को तो रच नहीं सकता, यह हाथ हिला नहीं सकता, वाणी बोल नहीं सकता, आत्मा-पर जड़ का तो कुछ कर नहीं सकता, यह मूढ़ जीव मानता है कि मैं पर का कर्ता हूँ। परन्तु राग और द्वेष कर सकता है। उस राग-द्वेष की रचना करनेवाले को त्रिलोकनाथ ने जगत की दरकार किये बिना नपुंसक कहा है। आहाहा! बड़े राजा और अरबोंपति हो, वह नपुंसक है। आहाहा!

अभी गये थे न? अफ्रीका, नैरोबी, वहाँ ४५० तो करोड़पति हैं। बहुत अधिक लोग व्याख्यान में आते थे। पन्द्रह अरबपति हैं, पन्द्रह अरबपति। एक रतिभाई आते थे, परन्तु यह बात कहीं सुनने को नहीं मिलती। इसलिए बेचारा कुछ पूछने लगा। मैंने कहा, भाई! तत्त्वज्ञान तो करो, समझो, फिर समझ में आयेगा। ऐसे के ऐसे समझे बिना चल निकले। क्या आत्मा? आत्मा का कार्य क्या? जड़ का कार्य क्या? यह तत्त्व जो भगवान ने अनन्त

कहे, अनन्त तत्त्व कहे हैं तो अनन्त अनन्तरूप कब रहे ? कि एक तत्त्व दूसरे तत्त्व को कुछ न करे तो अनन्त अनन्तरूप रहे। एक तत्त्व दूसरे को करे तो अनन्त अनन्तरूप नहीं रहे। यह तो मिथ्यात्व है। आहाहा!

यहाँ यह कहना है कि आहाहा! तीन लोक के नाथ वीतराग परमेश्वर ऐसा कहते हैं कि प्रभु! तेरे वीर्य गुण का कार्य तो यह होता है, समकित, ज्ञान और आनन्द की रचना— अतीन्द्रिय आनन्द की रचना करे। प्रभु! हे नाथ! तू प्रभु है। तेरा कार्य तो यह है। तूने यह क्या लगाया ? तू कहाँ गया ? आहाहा! वीर्य की रचना स्वरूप ज्ञान, आनन्द, शान्ति, वीतरागता की रचना (करे), उसका नाम वीर्य है। आहाहा! दुनिया से बात दूसरी है, बापू! पूरी दुनिया को जानते हैं। दुनिया को जानते हैं। यहाँ ९१ वर्ष हुए। ९१ तो वर्ष हुए। और सब इसमें ही निकाले हैं। पाँच वर्ष व्यापार किया था। पालेज... पालेज। यह हमारे मनसुख रहा। इसके बापू हिस्सेदार थे। वहाँ बड़ी दुकान है। यह यहाँ आया है न अभी। धूल... धूल की थी। धूल का अभिमान।

यहाँ कहते हैं प्रभु! वीर्य तो हम उसे कहते हैं, पुरुषार्थ तो उसे कहते हैं कि आत्मा के आनन्द और शान्ति और वीतरागता की रचना करे। बाकी दूसरे को हम वीर्य नहीं कहते। बहुत बात आ गयी। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश - २३६

'ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा का आत्मा में धारण करना, सो यही ग्रहण करनेयोग्य सब कुछ ग्रहण किया और त्यागनेयोग्य सब कुछ त्याग किया है'–इस अर्थ का काव्य कहते हैं–

(उपजाति)

उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्
तथात्तमादेयमशेषतस्तत् ।
यदात्मनः सन्हृतसर्वशक्तेः
पूर्णस्य सन्धारण–मात्मनीह ।।२३६।।

श्लोकार्थ : [संहृत–सर्व–शक्तेः पूर्णस्य आत्मनः] जिसने सर्व शक्तियों को समेट लिया है (–अपने में लीन कर लिया है), ऐसे पूर्ण आत्मा का [आत्मनि इह] आत्मा में [यत् सन्धारणम्] धारण करना [तत् उन्मोच्यम् अशेषतः उन्मुक्तम्] वही छोड़नेयोग्य सब कुछ छोड़ा है [तथा] और [आदेयम् तत् अशेषतः आत्तम्] ग्रहण करनेयोग्य सब ग्रहण किया है।

भावार्थ : पूर्ण ज्ञानस्वरूप, सर्व शक्तियों का समूहरूप जो आत्मा है, उसे आत्मा में धारण कर रखना सो यही, जो कुछ त्यागनेयोग्य था, उस सबको त्याग दिया और ग्रहण करनेयोग्य जो कुछ था, उसे ग्रहण किया है। यही कृतकृत्यता है।।२३६।।

प्रवचन नं. ४४९, श्लोक–२३६, २३७ शुक्रवार, अषाढ़ कृष्ण ५
दिनांक - ०१-०८-१९८०

समयसार, २३६ कलश है। नीचे अर्थ है। **ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा का...** है? २३५ (कलश) पूरा होने के बाद। **ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा का...** आत्मा ज्ञानस्वरूप है। अपना ज्ञानस्वरूप आत्मा है, उस ज्ञानस्वरूप आत्मा में **धारण करना...** अन्तरस्वरूप अपने में धारण करना, राग और द्वेष में न जाने देना और अपने स्वरूप में रहकर, **सो यही ग्रहण करनेयोग्य...** जो ग्रहण करनेयोग्य आदरणीय था, वह सब आदर किया। अपना

शुद्धस्वरूप अपने में ग्रहण करके रहा तो ग्रहण (करनेयोग्य) जो आदरणीय था, वह आदर किया। आदरणीय यह एक है। आहाहा!

परचीज़ तो आदरणीय नहीं परन्तु एक समय की पर्याय भी आदरणीय नहीं। आदर तो द्रव्य का आदर (करनेयोग्य) है। ऐसा कहा न? **ज्ञानस्वरूप आत्मा...** पर्याय नहीं। ऐसा आत्मा में धारण करना। यह पर्याय है परन्तु पर्याय द्रव्य को धारण करती है। आहाहा! द्रव्यस्वरूप ज्ञानानन्द चैतन्य रत्नाकर प्रभु में अपनी पर्याय को स्थिर करना, वह अपने में धारण करना है। वही ग्रहण करनेयोग्य है। मोक्षमार्ग में यह ग्रहण करना। मोक्षमार्ग में ग्रहण करनेयोग्य मोक्ष नहीं। मोक्षमार्ग में ग्रहण करनेयोग्य आत्मा है।

ग्रहण करनेयोग्य सब कुछ ग्रहण किया... आहाहा! अपना आत्मा ज्ञानस्वरूप है। उस ज्ञानस्वरूप में रहा, धारण किया, वही ग्रहण करनेयोग्य था, उसे ग्रहण किया। शुद्ध आत्मा ग्रहण करनेयोग्य था, शुद्धात्मा ग्रहण करनेयोग्य था, उसे ग्रहण किया। **और त्यागनेयोग्य सब कुछ त्याग किया है...** आहाहा! एक-दो लाईन में तो (कितना भरा है)! त्याग योग्य ग्रहण तो ठीक परन्तु पर्याय भी त्यागयोग्य है। पर्याय ग्रहण करती है वस्तु को, परन्तु पर्याय ग्रहण करनेयोग्य नहीं है। आहाहा! अन्तिम गाथायें हैं न? अन्तिम गाथायें हैं।

पर्याय द्रव्य को ग्रहण करती है। द्रव्य जो आत्मा चैतन्य, चैतन्य रत्नाकर, चैतन्य के रत्न से भरपूर परिपूर्ण प्रभु है, उसे ग्रहण करके उसमें स्थिर होना, यही ग्रहण करनेयोग्य को ग्रहण किया। आहाहा! **और त्यागनेयोग्य सब कुछ त्याग किया है...** राग तो ठीक परन्तु भेद और पर्याय भी त्यागनेयोग्य लक्ष्य में से छोड़ दी। आहाहा! मार्ग कठिन है, भाई!

एक चीज़ स्वयं त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव को ग्रहण किया, उसने सर्व ग्रहण किया और उसने सर्व त्याग किया। उसने ग्रहण किया तो सबका त्याग किया। करना नहीं। **त्यागनेयोग्य सब कुछ त्याग किया है...** (त्याग) करने का नहीं। आहाहा! शुद्ध चैतन्य अतीन्द्रिय आनन्दकन्द को ग्रहण किया तो जो कुछ ग्रहण करनेयोग्य था, वह सर्व ग्रहण किया और उस समय में त्यागनेयोग्य (सबका) त्याग हो गया। रागादि त्यागनेयोग्य थे, उनका त्याग हो गया। आहाहा! **इस अर्थ का काव्य कहते हैं–** यह पहले शीर्षक बाँधा, इस अर्थ का काव्य कहते हैं। २३६ (कलश)

उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्
तथात्तमादेयमशेषतस्तत् ।
यदात्मनः सन्हृतसर्वशक्तेः
पूर्णस्य सन्धारण-मात्मनीह ।।२३६।।

ओहोहो! **'संहृत-सर्व-शक्तेः पूर्णस्य आत्मनः' जिसने सर्व शक्तियों को समेट लिया है...** सर्व शक्तियाँ जिस ओर झुकाव था, एक शक्ति का झुकाव था तो अनन्त शक्ति का झुकाव था... आहाहा! उन सर्व शक्तियों को अन्तर में झुकाया। जो शक्ति का पिण्ड है, वह सर्व शक्तियों का **'संहृत'** समेट लिया। बाहर में जाती थी, वह अन्दर में ले गया। आहाहा! कठिन बात है, भाई!

पहले ज्ञान और ध्यान में तो ले कि चीज़ तो यह है। जो भगवान आत्मा अनन्त-अनन्त शक्तिवन्त है, परन्तु वह अपनी शक्ति में अन्तर में स्थिर हो, पूर्ण आत्मा में स्थिर हो। (ऐसा होने पर) जो ग्रहण करनेयोग्य था, उसने सर्व को ग्रहण कर लिया और ग्रहण किया तो त्याग करनेयोग्य का त्याग हो गया। आहाहा! रागादि, अरे! पर्याय के ऊपर भी लक्ष्य नहीं रहा। ध्रुव, चैतन्य ध्रुव को पकड़कर वहाँ रहा तो ग्रहण करनेयोग्य को ग्रहण कर लिया और उस समय छूटनेयोग्य छूट जाता है, छोड़ना पड़ता नहीं, त्याग करना पड़ता नहीं— ऐसा कहते हैं। ऐसा कहा न?

सर्व शक्तियों को समेट लिया है (-अपने में लीन कर लिया है) ऐसे पूर्ण आत्मा का आत्मा में धारण करना... आहाहा! **वही छोड़नेयोग्य...** अपने में धारण करना। आहाहा! शुद्ध स्वभाव पूर्ण अनन्त शक्ति सम्पन्न को अपनी दृष्टि में धारण करना, वहाँ दृष्टि को स्थिर करना। उसने **वही छोड़नेयोग्य सब कुछ छोड़ा है...** छोड़ना पड़ता नहीं। आहाहा! इस ओर जहाँ गया, पूर्ण वस्तु ग्रहण करनेयोग्य थी, उसे ग्रहण की तो छूटनेयोग्य छूट गया। छूटनेयोग्य कोई वस्तु नहीं रही। छोड़ना पड़ा नहीं और छूट गया। आहाहा! अब ऐसा मार्ग। यह पीछे की गाथायें हैं न!

मुमुक्षु : मोक्षमार्ग में तो एक कषाय चौकड़ी ही छूटती है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : सब छूट गया। अन्तर में दृष्टि स्थिर हुई तो सब छूट गया। कुछ रहा नहीं, मोक्ष ही हो गया। आहाहा!

ग्रहण करनेयोग्य जो चीज़ थी, उसे ग्रहण कर ली। पूर्णानन्दस्वरूप अनन्त शक्ति सम्पन्न (वस्तु को ग्रहण की) तो फिर छूटनेयोग्य छूट गया, कुछ रहा नहीं। जहाँ पूर्ण को ग्रहण किया तो अपूर्ण और राग वह सब तो छूट गया। आहाहा! कठिन बात है। प्रभु का मार्ग, वीतराग मार्ग अलौकिक है, भाई! लोग बाहर से कल्पित कर पूरी जिन्दगी चली जाती है।

दो बातें संक्षिप्त में कीं। उसमें बात तो एक ही की है। अनन्त शक्तिसम्पन्न प्रभु, अनन्त-अनन्त गुण जिसमें है, अनन्त शक्तियों को समेट लिया, ऐसा पाठ है न? अनन्त— **सर्व शक्तियों को समेट लिया है...** समेट लिया का अर्थ क्या हुआ? यह अनन्त शक्तियाँ थीं, वे परसन्मुख झुकी हुई थीं। एक ही पर्याय परसन्मुख शक्ति (झुकी) थी, ऐसा नहीं है। जैसे कि ११वीं गाथा में (कहा कि) **'भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो'** भूतार्थ आत्मा में दृष्टि लगाकर सम्यग्दृष्टि हुआ। तो वहाँ तो सम्यग्दर्शन की पर्याय प्रगट हुई, ऐसा कहा। परन्तु वास्तव में तो पूर्ण आत्मा की ओर सर्व शक्तियों की पर्याय झुक गयी है। अकेली सम्यग्दर्शन की पर्याय स्वद्रव्य की ओर झुकी है, ऐसा नहीं है। एक पर्याय, एक शक्ति स्वसन्मुख झुके तो उसके साथ सभी पर्यायें झुकती हैं। आहाहा! इसका यहाँ योगफल किया है। आहाहा! अनन्त शक्तियाँ जो हैं, वे परसन्मुख शक्ति झुकी थी, वह सर्व शक्ति आत्मा में समेट ली। आहाहा! ऐसा मार्ग सुनना कठिन पड़े। आहाहा!

मुमुक्षु : ऐसा आत्मा का स्वभाव है?

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु स्वरूप ही यह है। अनन्त शक्तियों का पिण्ड है, उसमें एक भी शक्ति परसन्मुख झुकी तो सर्व शक्तियाँ इतनी परसन्मुख झुकी है। आहाहा! और स्वसन्मुख सम्यग्दर्शन (की पर्याय) झुकी तो अनन्त पर्याय सब झुकी है, स्वसन्मुख झुकी है। भले थोड़ी बाकी है परन्तु झुकी है सब। एक ही शक्ति झुकी है और दूसरी शक्तियाँ बाहर हैं, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसा कहा न? देखो न!

जिसने... जिस आत्मा ने **सर्व शक्तियों को...** सर्व शक्तियाँ ऐसा लिया है न? सर्व शक्ति पाठ है न? शक्ति कहो, गुण कहो, स्वभाव कहो। सर्व शक्ति... आहाहा! **'संहृत-सर्व-शक्तेः पूर्णस्य आत्मनः' जिसने सर्व शक्तियों को समेट लिया है...**

आहाहा! जितनी अनन्त शक्तियाँ हैं, उन सभी शक्तियों को अन्तर में झुका लिया है। आहाहा! बाहर में कुछ छोड़ना रहा नहीं। सूक्ष्म बात है, प्रभु! आहाहा! पूर्ण स्वरूप की बात चलती है न? जन्म-मरण तो अनन्त काल से कर रहा है। चौरासी के अवतार (कर रहा है)। आहाहा! उसमें से एक बार यह बना तो तेरे जन्म-मरण छूट जायेंगे, छोड़ने पड़ेंगे नहीं।

अन्तर में जितनी शक्तियाँ हैं, उन सर्व शक्तियों को समेटकर आत्मा में धारण कर ले। आहाहा! वह **ग्रहण करनेयोग्य सब ग्रहण किया है।** आहाहा! **सर्व शक्तियों को समेट लिया है...** समेट का अर्थ (यह कि) परसन्मुख झुकाव था, वह अन्तर सन्मुख में झुकाव हो गया, उसे समेट लिया (कहा जाता है)। आहाहा! सूक्ष्म है, प्रभु! तेरा मार्ग बहुत सूक्ष्म, भगवान! आहाहा! रात्रि में कोई कहता था। वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म। सूक्ष्म है, बापू! यह कहीं ऊपर-ऊपर से पैसे से और शरीर की क्रिया से, मन की क्रिया से मिल जाए, (ऐसा नहीं है)। जहाँ मन ही इसका नहीं, वाणी इसकी नहीं, पैसा इसका नहीं, शरीर इसका नहीं। इसका जो नहीं, उससे मिले—यह बात तीन काल में नहीं बैठती। इसमें जो है, उससे वह मिलता है। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं कि जितनी अनन्त शक्तियाँ हैं, वे समेट ली। आहाहा! परसन्मुख की पर्यायबुद्धि थी... आहाहा! उसे अन्दर द्रव्यबुद्धि में दृष्टि लगा दी तो सर्व शक्तियाँ समेट लीं। आहाहा! श्लोक बहुत ऊँचा आया है, भाई! आहाहा! भगवान अनन्त-अनन्त शक्ति सम्पन्न, सब शक्तियों को समेट लिया। एक सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तीन की पर्याय प्रगट की तो सर्व पर्यायें प्रगट हो गयीं। सर्व पर्यायें अन्तर में झुक गयी। आहाहा! समझ में आया इसमें? नहीं तो मोक्ष तो 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्ष' तीन है। परन्तु कहते हैं कि इन तीन में पूर्ण कब? सभी सर्वशक्तियाँ अन्तर में सिमट जाए (तब)। आहाहा! पाताल में भगवान विराजता है, वहाँ सब शक्तियाँ चली जायें। आहाहा! पर्याय के पीछे भगवान पाताल में (विराजता है)। आहाहा! वह ग्रहण करनेयोग्य ग्रहण हो गया। है?

(-अपने में लीन कर लिया है) ऐसे पूर्ण आत्मा का आत्मा में धारण करना, वही छोड़नेयोग्य सब कुछ छोड़ा है... 'तत् उन्मोच्यम्' वही अन्तर में झुका। पूर्ण स्वरूप पहले ज्ञान में तो ले। वह पूर्ण स्वरूप अन्तर में झुके पूरी, पूरी चीज़ की जितनी

शक्ति की पर्याय है, सब शक्ति की पर्याय होती है न? पर्याय बिना की शक्ति नहीं होती। आहाहा! उस सर्व शक्ति की पर्याय को समेट लिया (अर्थात्) अन्तर्मुख कर दिया। आहाहा! यह करना है। सार में सार यह है। आहाहा!

छोड़नेयोग्य **वही...** ऐसा कहा न? **'तत्'** ग्रहण किया वहाँ ही छोड़नेयोग्य छूट गया। जो अन्तर में ग्रहण किया, वही छोड़नेयोग्य छूट गया, ऐसा कहते हैं। आहाहा! २३६। आहाहा! **वही छोड़नेयोग्य सब कुछ छोड़ा है...** क्या कहा? पहले ऐसा कहा था, कि **सर्व शक्तियों को समेट लिया है...** सर्व शक्तियों को समेट लिया, वही छोड़नेयोग्य सब छूट गया। आहाहा! सर्व शक्तियों को समेट लिया तो सब छूटनेयोग्य छूट गया। वहाँ भी 'सब' लिया। आहाहा! कठिन बात है। श्लोक कठिन आया। अन्तिम अधिकार है न?

अब यह आहार तक ले जायेंगे। शरीर ही इसका नहीं, मुनि का शरीर ही नहीं। मुनि को आहार ही नहीं। आहाहा! आहार लेना-देना है, वह तो जड़ है। जड़ का लेना-देना आत्मा नहीं कर सकता। आहाहा! क्योंकि प्रत्येक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करते, कभी चूमते नहीं। आहाहा! यह तो ठीक। कहा नहीं कि सर्व द्रव्य सामान्य-विशेषस्वरूप है। सर्व द्रव्य सामान्य—कायम रहना और विशेष—पर्याय, इस स्वरूप ही है। आहाहा! इसकी पर्याय दूसरा करे, ऐसा नहीं होता। सामान्य-विशेषस्वरूप वस्तु ही है। आहाहा!

सर्व शक्तियों को समेट लिया, **वही...** समेट लिया वही। आहाहा! **वही छोड़नेयोग्य सब कुछ छोड़ा है...** आहाहा! जरा सूक्ष्म है। अभी मूल वस्तु का मार्ग बहुत प्रवृत्ति घटा दी। प्रवृत्तिमय मार्ग बना दिया। आहाहा! यह तो अन्दर में विकल्प है, वह पर्याय जो है, वह ऐसे (परसन्मुख) झुकी है, उन सबको यहाँ (स्वसन्मुख) झुका देना। यह ग्रहण करनेयोग्य ग्रहण किया और यही छोड़नेयोग्य छूट गया। छोड़ना पड़ता नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : दृष्टि अन्तर में लगावे तो सर्व पर्यायें अपने आप झुक जाती हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : दृष्टि के साथ सर्व शक्ति, अकेली शक्ति नहीं। सर्व शक्ति कही न पहले? भाषा ऐसी ली है कि भूतार्थ पर दृष्टि करने से समकित होता है। समकित की पर्याय अकेली ही स्वसन्मुख झुकी है? सभी पर्यायें आंशिक झुकी हैं। यहाँ पूर्ण की बात

है। आहाहा! ऐसा मार्ग, शान्तिभाई! हीरा-माणिक में हाथ आवे, ऐसा नहीं है। हीरा-माणिक खर्च करने से हाथ आवे, ऐसा नहीं है। आहाहा! (तो ऐसा कहे) हीरा-माणिक खर्च कर डाले लाओ न!

एक रजकण की एक पर्याय जो होती है, वह सामान्य का वह विशेष तो उस समय में उसके कारण से हुआ है। जो सामान्य पदार्थ है, उसकी पर्याय उसका विशेष जिस समय में जो होनेवाली होनी है, वही होती है। और दूसरे द्रव्य को स्पर्श किये बिना, दूसरे द्रव्य को छुये बिना अनन्त पर्याय अपने में अपने से उत्पन्न होती है। आहाहा! गजब है न! अनन्त परमाणु और उसकी अनन्त पर्यायें हुई, वह पर्याय अपने को छूती नहीं, आत्मा को छूती नहीं। आत्मा अनन्त पर्याय का पिण्ड, अरे! चैतन्य की पर्याय को दूसरी चैतन्य की पर्याय स्पर्श नहीं करती। जड़ की पर्याय का तो क्या कहना?

यहाँ तो वहाँ तक लिया है कि इसमें थोड़ी मलिनता का अंश था, वह सर्व, यहाँ जब (शक्तियों को अन्तर में) समेट लिया तो वह छूट गया। छोड़ना पड़ा नहीं। आहाहा! **सब कुछ छोड़ा है और... 'आदेयम् तत् अशेषतः आत्तम्' ग्रहण करनेयोग्य सब ग्रहण किया है।** आहाहा! ग्रहण करनेयोग्य सब ग्रहण किया। पूर्णानन्द का नाथ एक समय में अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त शक्तियों का पिण्ड, इस ओर झुकाव हुआ तो सब ग्रहण कर लिया। ग्रहण करना था यह। परवस्तु का ग्रहण-त्याग तो आत्मा में है ही नहीं। आहाहा!

परमाणु से लेकर सर्व स्कन्ध सर्व को आत्मा ग्रहण करे और त्याग करे, यह तो है ही नहीं। अज्ञानभाव से ग्रहण करे और त्याग करे, यह तो है ही नहीं। आहाहा! आत्मा के अतिरिक्त अन्य आत्मा और अन्य रजकणों को ग्रहण करके छोड़े, यह आत्मा में नहीं है, यह है कि पूर्ण वस्तु को ग्रहण किया तो जो अवस्था अधूरी थी, मलिन थी, वह सब छूट गयी। आहाहा! इतना अन्दर में गया। ग्रहण-त्याग। पर का ग्रहण-त्याग किया नहीं। पर का त्याग-ग्रहण है ही नहीं।

अन्तर में इस वस्तु को ग्रहण किया। आहाहा! परमात्मा की भेंट हुई। आहाहा! पूर्ण परमात्मा अनन्त शक्ति सम्पन्न, उस परमात्मा ने अपनी शक्ति समेट ली तो ग्रहण करनेयोग्य सब ग्रहण हो गया, छूटनेयोग्य सब छूट गया। आहाहा! गजब बात है! एक इतना छोटा कलश!

मुमुक्षु : हमें दृष्टि अन्दर करनी है या पर्याय को अन्दर झुकाना है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय एक झुके तो सब (झुकती है)। दृष्टि पर्याय है। दृष्टि पर्याय को झुकाये तो सब झुकती ही है। दृष्टि की पर्याय अन्दर झुके और दूसरी पर्यायें बाहर रहें, (ऐसा होता नहीं)। आहाहा! दृष्टि पर्याय है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सब पर्याय है।

यहाँ तो कहते हैं, जितनी अनन्त शक्तियाँ हैं, उनकी पर्याय जो बाहर की ओर झुकती थी; सभी पर्यायें झुकती थीं, ऐसा नहीं, कितनी ही नहीं झुकती थीं, अस्तित्व आदि की (पर्याय) कहीं बाहर नहीं झुकती थी, परन्तु जो झुकती थी, वह यहाँ पूर्ण को ग्रहण किया तो सब छूट गया। आहाहा! मैं छोड़ूँ, यह रहा नहीं। आहाहा! गजब मार्ग है, प्रभु!

अरे रे! ऐसा मनुष्यपना मिला, उसमें ऐसा न करे और इस धूल में जिन्दगी चली जाए। आहाहा! पाँच-पच्चीस लाख धूल मिले, उसमें क्या ? आहाहा! पाप। पैसा तो पाप है। पाप है। मिलता भले पुण्य के कारण परन्तु पैसेवाले, वे पापी हैं।

मुमुक्षु : पैसा रखे और ममत्व न रखे तो क्या दिक्कत है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : रख सकता नहीं न! एक परमाणु आत्मा रख नहीं सकता फिर और रखे और प्रयोग करे, यह है कहाँ ? आहाहा! कठिन बात है, भाई! वीतराग का मूल मार्ग... श्रीमद् ने कहा न ? 'मूल मारग सुन लो जिनवर का रे, करके वृत्ति अखण्ड सन्मुख, करके वृत्ति अखण्ड सन्मुख।' वृत्ति अखण्ड के ऊपर सन्मुख करे। आहाहा! ऐसा कहते हैं। 'मूल मारग सुन लो जिनवर का रे,...' जिसकी वृत्ति अर्थात् वर्तमान परिणति अनन्त गुण की परिणति को अन्तर में झुका ले। आहाहा! अन्तरसन्मुख कर, यह जैन का मार्ग है। आहाहा! वहाँ जवानी काम नहीं आती, वहाँ पैसेवाले का काम नहीं आता, वहाँ बुद्धि के— संसार की बुद्धि के बड़े खां हों, यह काम नहीं आता। आहाहा! दुनिया को रंजन करने की, लाखों लोगों को (रंजन करने की) शक्ति हो, वह काम नहीं आती, प्रभु! वह काम नहीं आती। आहाहा!

यहाँ तो अन्दर वस्तु जो है... आहाहा! उस ओर पूर्ण पर्याय झुके, यह काम आवे। और एक ही बात हुई। छूटनेयोग्य तो छूट गया, फिर उसे छोड़ना पड़ता नहीं। ऐसी कठिन बातें हैं। ऐसी बातें कभी सुनने को मिलती हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : झुकना क्या ? मैं हूँ—ऐसा अहंपना करे तो ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह भी विकल्प है। यह तो अपने पहले कहा नहीं था ? मैं ज्ञायक हूँ, मैं ज्ञायक हूँ, यह भी एक विकल्प है। आहाहा! यहाँ यह बात नहीं है।

यहाँ तो जितनी शक्तियाँ अपने वीर्य से (अन्दर की ओर ढली है)। वीर्यगुण भी सब गुण में है, वीर्यगुण का रूप सर्व गुण में है। है ? अनन्त गुण का रूप अनन्त गुण में है। आहाहा! उन अनन्त गुणों को इस ओर समेट लिया। आहाहा! ओहोहो! अन्दर में गुम हो गया, उसमें सब छोड़ दिया। बाकी बाहर से स्त्री, पुत्र छोड़े, दुकान छोड़े और त्यागी कहलाये, वह वस्तु नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : उसे अवकाश तो है न, बाहर का छोड़े उसे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं। जरा भी नहीं। ऐसा तो अनन्त बार नौवें ग्रैवेयक गया। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो, पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।' आहाहा! निवृत्ति है, इसलिए अवकाश है - ऐसा है ही नहीं। निवृत्ति अन्दर में है, वह अवकाश है। आहाहा! भगवान स्वयं ही निवृत्तस्वरूप है। आहाहा! भगवान आत्मा निवृत्तस्वरूप में अन्दर झुक जाना, बस! जो ग्रहण करनेयोग्य है, उसे ग्रहण कर लिया, छोड़नेयोग्य छूट गया। छूट गया। यह ग्रहण करनेयोग्य ग्रहण किया, यह तो किया, वह तो छूट गया। आहाहा! आहाहा! ऐसा मार्ग है, प्रभु! ...भाई! वहाँ सुनने को मिले, ऐसा नहीं है। आहाहा!

एक-एक मिनिट, एक-एक सेकेण्ड यह मनुष्य के देह का चला जाता है। आहाहा! उसमें करने का तो यह है। आहाहा! बाकी सब व्यर्थ है। बड़ी जज की पदवी मिले और पचास-पचास महीने की आमदनी हो, ऐसी बड़ी जज की पदवी धूल है। आहाहा!

चैतन्य भगवान गरीब व्यक्ति भले हो... आहाहा! परन्तु अन्तर में भगवान रोगिष्ट हो, बाहर में अमीर हो, निर्धन हो परन्तु वह रोगिष्ट तो जड़ है। प्रभु में रोगिष्टपना है ही नहीं। प्रभु तो रोग को स्पर्शता ही नहीं न! आहाहा! रोग तो शरीर की पर्याय है न, प्रभु! शरीर की पर्याय को तो आत्मा छूता ही नहीं न! स्पर्शता नहीं न! छूता ही नहीं न! प्रवेश करता नहीं।

आहाहा ! कहाँ रहा रोग ? आहाहा ! रोग रोग में रहा।

यहाँ तो कहते हैं, ओहोहो ! अमृतचन्द्राचार्य दिगम्बर मुनि आज से अभी हजार वर्ष पहले हुए हैं। अभी तो इस पंचम काल में (हुए हैं)। आहाहा ! पंचम काल में न हो और पंचम काल बाधक है, यह आत्मा में कुछ है नहीं। पर बाधक और कोई पर स्पर्श करे (ऐसा) कुछ है नहीं। आहाहा ! पंचम काल के सन्त दस हजार वर्ष... अभी तो एक हजार वर्ष पहले (हुए), भगवान के मूल श्लोक भले दो हजार वर्ष पहले हुए, यह टीका, यह कलश तो एक हजार वर्ष पहले हुए। यह पुकार करते हैं... आहाहा ! नाथ ! तू इतना अधिक शक्तिवान है, प्रभु ! तू इतना शक्तिवान है कि एक क्षण में वे सब शक्तियाँ समेट ले, ऐसा शक्तिवान है। आहाहा ! एक क्षण में सब शक्तियाँ अन्तर में झुका ली है। ऐसा शक्तिवान है, नाथ ! प्रभु ! ऐसे आत्मा को अब कलंक न लगा। आहाहा ! भव और भव का कारण वह जीव में कलंक है, प्रभु ! आहाहा !

आठ-आठ वर्ष की उम्र के चक्रवर्ती के राजकुँवर ऐसा सुनकर चल निकलते हैं। चक्रवर्ती के पुत्र ! तीर्थंकर के पुत्र ! आठ वर्ष की उम्र, यह जहाँ सुनते हैं, अन्दर वहाँ... आहाहा ! मोरपिच्छी, कमण्डल लेकर जंगल में चले जाते हैं। आहाहा ! जहाँ हूँ, वहाँ रहने के लिये मैं जाता हूँ। वन में रहने के लिये नहीं। आहाहा ! अन्दर में जहाँ मेरी चीज़ है, वहाँ मैं रहने के लिये जाता हूँ। आहाहा ! आठ वर्ष के, हों ! आहाहा !

मुमुक्षु : अनन्त गुण तो ख्याल में आते नहीं, फिर अनन्त गुण किस प्रकार स्वीकारे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : अनन्त है। इतना तो ख्याल में आता है या नहीं कि तत्त्व एक है या अनन्त है ? तत्त्व अनन्त है। तो एक तत्त्व स्व से अस्ति है, पर से नास्ति है। तो पर अनन्त हैं तो अनन्त से नास्ति अनन्त धर्म तो ये हो गये। लो ! यह जवान व्यक्ति प्रसन्न होते हैं। मार्ग यह है, भगवान ! आहाहा ! आत्मा है न, प्रभु ! छोटा-बड़ा इसमें है कहाँ ? आहाहा ! क्या कहा, समझ में आया ? क्या प्रश्न था ?

मुमुक्षु : सभी गुण ख्याल में नहीं आते।

पूज्य गुरुदेवश्री : यही कहा। तू है या नहीं ? अनन्त तत्त्व हैं या नहीं ? तू है तो तू

तुझसे है या तू पर से है ? तू तुझसे है या और पर से नहीं, तो पर तो अनन्त हैं। पर की नास्ति अनन्त अस्तिरूप हुई। एक चीज़ में अनन्त नास्ति, वह अस्तिरूप हुई। उस नास्ति का इसमें अस्तित्व है। आहाहा ! लॉजिक है। मध्यस्थ व्यक्ति हो, वह लॉजिक समझे। यह कोई कृत्रिम नहीं है, कल्पना का नहीं है। तीन लोक के नाथ सर्वज्ञदेव प्रभु महाविदेह में विराजते हैं। आहाहा ! उन परमात्मा की यह वाणी है। आहाहा !

प्रभु ! तू एक है ? हाँ। एक शक्ति है ? वस्तु एक है। शक्ति एक है ? तो अनन्त-अनन्त पदार्थ हैं। अनन्त-अनन्त पदार्थरूप तो तू है नहीं, तो उस नास्तिरूप अनन्त शक्ति की अस्ति सिद्ध हो गयी। उसकी अनन्त शक्ति भिन्न रह गयी। ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि अनन्त शक्ति तो है ही परन्तु पर शक्ति अपने में नहीं, पर—ऐसी अनन्त शक्ति सिद्ध हुई। आहाहा ! ओहोहो ! कलश बहुत अच्छा है। पौन घण्टे चला, लो ! आहाहा !

मुमुक्षु : अगुरुलघुत्व में घटाओ।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो कहा न, घट-बढ़ नहीं है। यह तो घट-बढ़ नहीं होती। जितना है, उतना रहता है। घट-बढ़ नहीं। गुरु अर्थात् बढ़े, लघु अर्थात् घटे, यह अगुरुलघु नहीं। है, वह है अनादि-अनन्त है।

यहाँ यह कहते हैं, छोड़नेयोग्य सबको छोड़ा है। **'आदेयम्' ग्रहण करनेयोग्य सब ग्रहण किया है।**

भावार्थ – पूर्ण ज्ञानस्वरूप,... प्रभु पूर्ण ज्ञानस्वरूप, **सर्व शक्तियों का समूहरूप...** सर्व शक्तियों के समूहरूप। एक शक्तिरूप नहीं। आहाहा ! **सर्व शक्तियों का समूहरूप जो आत्मा है,...** है ? पूर्ण ज्ञानस्वरूप, सर्व शक्ति के समूहरूप जो आत्मा है। आहाहा ! **उसे आत्मा में धारण कर रखना...** उसे आत्मा में धारण कर रखना, **सो यही, जो कुछ त्यागनेयोग्य था, उस सबको त्याग दिया...** आहाहा ! जयसेनाचार्यदेव की टीका में शब्द है कि एक भाव भी बराबर समझे तो सब भाव समझ में आ जाए। एक भाव, ऐसा पाठ है। एक भाव भी यदि बराबर समझे। आहाहा ! स्व-रूप से है, पर-रूप से नहीं। स्व रूप से अनन्त है, पर की आशा रखता नहीं। आहाहा ! ऐसा एक भाव समझे तो उसे सब भाव समझ में आ जाए। आहाहा !

यहाँ यह कहा, **उसे आत्मा में धारण कर रखना सो यही, जो कुछ त्यागनेयोग्य था उस सबको त्याग दिया...** आहाहा! दो बातें आयीं। अपनी चीज़ भी है और एक त्यागनेयोग्य दूसरी चीज़ भी है। दूसरी चीज़ है, अकेला आत्मा है-ऐसा नहीं। आहाहा! छूटनेयोग्य, छूटनेयोग्य चीज़ अस्तिरूप से है। भले पर्यायरूप से, कोई गुणरूप से, द्रव्यरूप से (हो), परन्तु वस्तु है। अपने अतिरिक्त अनन्त परवस्तु है। आहाहा!

त्यागनेयोग्य था, उस सबको त्याग दिया और ग्रहण करनेयोग्य जो कुछ था उसे ग्रहण किया है। यही कृतकृत्यता है। लो! इसका नाम कृतकृत्यता है। कुछ करना अब बाकी रहा नहीं। कृतकृत्य। कृतकृत्य—कार्य हो गया। कृत-कार्य हो गया। आहाहा! कृत-कृत्य। कृत अर्थात् कार्य। कृत्य—जो कार्य था, वह हो गया। आहाहा! ऐसी बात कहाँ है, प्रभु! बाहर में लोग खींचतान करके ऐसी बात को एकान्त कहते हैं। क्या करें? प्रभु! तुझे नुकसान है।

प्रभु! किसी को नुकसान हो, यह किसी की इच्छा होगी? धर्मी को किसी को नुकसान हो, (ऐसा भाव नहीं होता)। आहाहा! सब प्रभु है, सब प्रभु होओ! कोई भी पामर न रहो, ऐसी धर्मी की भावना होती है। आहाहा! भगवान होओ, प्रभु! तुम भगवान हो। हो, वैसे होओ। आहाहा! वैसा न हो हो तो न होओ। आहाहा! यह तो पूर्ण स्वरूप है और पर के अभावस्वरूप है, तो पूर्णस्वरूप ग्रहण करने से पर का त्याग हो गया। अकेला परमात्मा... आहाहा! पूर्ण आत्मा रह गया। आहाहा!

यही कृतकृत्यता है। आहाहा! कृत-कृत्य। सब कार्य हो गया। आहाहा! कोई काम अब बाकी नहीं। आहाहा! श्लोक बहुत अच्छा आया। हमारे जज आये हैं और श्लोक भी बहुत सरस आया। आहाहा! ऐसी बात है, भाई!

'ऐसे ज्ञान को देह ही नहीं है'... अब आगे ले जाते हैं। ऐसा ज्ञानस्वरूप प्रभु... आहाहा! देह ही नहीं। देह तो जड़, मिट्टी है। देह को तो आत्मा स्पर्श नहीं करता। आहाहा! आत्मा देह को छूता नहीं, स्पर्शता नहीं; भिन्न रहता है। आहाहा! क्योंकि एक अस्ति में दूसरे की नास्ति है तो एक तत्त्व में दूसरे का अत्यन्त अभाव है तो अत्यन्त अभाव है, ऐसी चीज़ को कैसे स्पर्शे? आहाहा! ऐसी बात है प्रभु की। वीतराग का मार्ग कोई अलौकिक है बापू!

लोगों ने क्रियाकाण्ड में बाहर में ढसड़ीने बदल डाला, जैनमार्ग अजैन कर डाला, प्रभु! यह तो जैन परमेश्वर त्रिलोकनाथ अनन्त तीर्थंकर हुए, अनन्त केवली हुए, अनन्त सिद्ध हुए— सबका यह एक ही अभिप्राय था। आहाहा!

सूक्ष्म लगे, कठिन पड़े, जरा भी शीघ्र न हो, इससे उकताना नहीं। धीरे-धीरे यह करने से ही छुटकारा है। आहाहा! ऐसा जिसका निर्णय हो, धीरे-धीरे, धीरे से भी यह काम करने से ही छुटकारा है। नहीं हो सकता, ऐसी उलझन लाना ही नहीं। नहीं हो सकता, ऐसी उलझन अन्दर लाना नहीं। आहाहा!

अब कहते हैं, **'ऐसे ज्ञान को देह ही नहीं है'-इस अर्थ का, आगामी गाथा का सूचक श्लोक कहते हैं-** आहाहा!

कलश - २३७

'ऐसे ज्ञान को देह ही नहीं है'-इस अर्थ का, आगामी गाथा का सूचक श्लोक कहते हैं-

(अनुष्टुप्)

व्यतिरिक्तं परद्रव्या-देवं ज्ञान-मवस्थितम्।
कथमाहारकं तत्स्याद्येन देहोऽस्य शङ्क्यते।।२३७।।

श्लोकार्थ : [एवं ज्ञानम् परद्रव्यात् व्यतिरिक्तं अवस्थितम्] इस प्रकार (पूर्वोक्त रीति से) ज्ञान परद्रव्य से पृथक् अवस्थित (-निश्चल रहा हुआ) है; [तत् आहारकं कथम् स्यात येन अस्य देहः शंक्यते] वह (ज्ञान) आहारक (अर्थात् कर्म-नोकर्मरूप आहार करनेवाला) कैसे हो सकता है कि जिससे उसके देह की शंका की जा सके? (ज्ञान के देह हो ही नहीं सकती, क्योंकि उसके कर्म-नोकर्मरूप आहार ही नहीं है।)।।२३७।।

कलश-२३७ पर प्रवचन

व्यतिरिक्तं परद्रव्या-देवं ज्ञान-मवस्थितम्।
कथमाहारकं तत्स्याद्येन देहोऽस्य शङ्क्यते।।२३७।।

आहाहा! **'एवं ज्ञानम् परद्रव्यात् व्यतिरिक्तं अवस्थितम्' इस प्रकार (पूर्वोक्त रीति से) ज्ञान...** अर्थात् भगवान आत्मा **परद्रव्य से पृथक् अवस्थित (-निश्चल रहा हुआ) है;...** आहाहा! परद्रव्य को स्पर्श ही नहीं करता। शरीर को आत्मा अन्दर स्पर्श नहीं करता। कार्मणशरीर, औदारिकशरीर और तैजसशरीर। एक शरीर के अनन्त परमाणु हैं तो एक भी परमाणु की पर्याय को आत्मा स्पर्श नहीं करता। आहाहा! उन अनन्त परमाणुओं की नास्तिरूप प्रभु है और अपनी प्रभुता से अस्तिरूप है। आहाहा! इसमें प्रभुत्व नाम का गुण है। अनन्त गुण हैं, उसमें प्रभुत्व नाम का एक गुण है। अपने प्रभुत्व से अस्ति है। परवस्तु से त्रिकाल प्रभु भगवान नास्ति है। आहाहा!

यह तो देखे को अनदेखा करना और अनदेखे को देखा करना ऐसा है, बापू! देखता है, उसे अनदेखा कर डालना, वह कोई चीज़ देखता नहीं। वह तो अपनी पर्याय में देखने की शक्ति है तो देखता है, उसे देखता नहीं—उस चीज़ दिखती नहीं, अपनी पर्याय दिखती है। आहाहा! ऐसा भगवान एक पर्याय को देखने में रुक गया है। आहाहा! पर का तो नाममात्र है परन्तु एक समय की पर्याय में रुक गया है, प्रभु! तो गुलाँट खाकर इस ओर आ जा। पहलू बदल दे। आहाहा! रात्रि में एक करवट से नींद न आवे तो करवट बदल देते हैं। तो इस संसार के पहलू से पहलू बदल दे, प्रभु! आहाहा! तुझे देह ही नहीं। आहाहा! हीरा-माणेक तो नहीं परन्तु देह भी नहीं, ऐसा कहते हैं। और पंकज-फंकज पुत्र भी नहीं, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। आहाहा!

'एवं ज्ञानम् परद्रव्यात् व्यतिरिक्तं अवस्थितम्' इस प्रकार (पूर्वोक्त रीति से) ज्ञान... अर्थात् भगवान प्रभु **परद्रव्य से पृथक् अवस्थित (-निश्चल रहा हुआ) है;...** आहाहा! ज्ञानस्वरूपी भगवान परद्रव्य से भिन्न अवस्थित रहता हुआ। आहाहा! **'तत् आहारकं कथम् स्यात येन अस्य देहः शंक्यते' वह (ज्ञान) आहारक (अर्थात्**

कर्म-नोकर्मरूप आहार करनेवाला) कैसे हो सकता है... आहाहा! वह भगवान ज्ञानस्वरूप है। आहाहा! पूर्णानन्द का चैतन्यस्वरूप, वह कर्म और नोकर्म के आहार का ग्रहण करनेवाला किस प्रकार हो सकता है। कर्म का ग्रहण करनेवाला किस प्रकार हो सकता है? ऐसा कहते हैं। आहाहा! जिस भाव से कर्म ग्रहण हो, उस भाव से किस प्रकार हो सकता है? आहाहा!

जो आत्मा ज्ञानस्वरूपी प्रभु अन्दर चैतन्यरत्न से भरपूर, उसे कर्म और नोकर्म का आहार कैसे हो सकता है? कर्म का आहार तो नहीं, कर्म का ग्रहण तो नहीं परन्तु नोकर्म अर्थात् आहार—खुराक, दाल, भात, रोटी, सब्जी का ग्रहण कैसे करे? देह ही नहीं तो ग्रहण कैसे करे? आहाहा! यह विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४५०, श्लोक-२३७, गाथा-४०५ से ४०७ रविवार, अषाढ़ कृष्ण ७
दिनांक - ०३-०८-१९८०

समयसार, २३७ कलश है। **'ऐसे ज्ञान को देह ही नहीं है'...** यहाँ से है। आत्मा को देह ही नहीं। **इस अर्थ का, आगामी गाथा का सूचक श्लोक कहते हैं-**

व्यतिरिक्तं परद्रव्या-देवं ज्ञान-मवस्थितम्।
कथमाहारकं तत्स्याद्येन देहोऽस्य शङ्क्यते।।२३७।।

इस प्रकार (पूर्वोक्त रीति से) ज्ञान परद्रव्य से पृथक्... ज्ञान अर्थात् आत्मा परद्रव्य से पृथक्—अत्यन्त भिन्न है। आत्मा परद्रव्य को स्पर्श ही नहीं करता। ग्रहण तो नहीं करता परन्तु आत्मा परद्रव्य को ऐसे छूता नहीं, स्पर्शता नहीं। यह कहा। **पृथक् अवस्थित (-निश्चल रहा हुआ) है; वह (ज्ञान) आहारक (अर्थात् कर्म-नोकर्मरूप...)** आहाहा! भगवान आत्मा आहारकशरीर को छूता नहीं, परमाणु को कभी स्पर्शा ही नहीं। आहाहा! इस आत्मा को देह कैसे होगी? ऐसा कहते हैं। वह पुद्गल—परमाणु को स्पर्श नहीं करता। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को कभी स्पर्श नहीं करता। क्योंकि एक द्रव्य और दूसरे द्रव्य के बीच अन्योन्य अभाव है। आहाहा!

अन्दर आत्मा शरीर को स्पर्श नहीं करता। कार्मणशरीर को स्पर्श नहीं करता क्योंकि वह जड़ है, यह चेतन है। यद्यपि जड़ भी एक जड़ दूसरे जड़ को स्पर्श नहीं करता। यह अँगुली इस अँगुली को स्पर्श नहीं करती। क्योंकि इसमें और इसमें अन्योन्य अभाव है। दोनों के बीच अन्योन्य अभाव है। आहाहा! ऐसी बात!

यह कहते हैं, **वह (ज्ञान) आहारक (अर्थात् कर्म-नोकर्मरूप आहार करनेवाला) कैसे हो सकता है कि जिससे उसके देह की शंका की जा सके?** इसका श्लोक।

गाथा - ४०५ से ४०७

अत्ता जस्सा-मुत्तो ण हु सो आहारगो हवदि एवं।
आहारो खलु मुत्तो जम्हा सो पोग्गल-मओ दु।।४०५।।
ण वि सक्कदि घेत्तुं जं ण विमोत्तुं जं च जं परद्दव्वं।
सो को वि य तस्स गुणो पाउगिओ विस्ससो वा वि।।४०६।।
तम्हा दु जो विसुद्धो चेदा सो णेव गेण्हदे किंचि।
णेव विमुंचदि किंचि वि जीवाजीवाण दव्वाणं।।४०७।।

आत्मा यस्यामूर्तो न खलु स आहारको भवत्येवम्।
आहार: खलु मूर्तो यस्मात्स पुद्गल-मयस्तु।।४०५।।
नापि शक्यते ग्रहीतुं यत् न विमोक्तुं यच्च यत्परद्रव्यम्।
स कोऽपि च तस्य गुण: प्रायोगिको वैस्रसो वाऽपि।।४०६।।
तस्मात्तु यो विशुद्धश्चेतयिता स नैव गृह्णाति किञ्चित्।
नैव विमुञ्चति किञ्चिदपि जीवाजीवयोर्द्रव्ययो:।।४०७।।

ज्ञानं हि परद्रव्यं किञ्चिदपि न गृह्णाति न मुञ्चति च, प्रायोगिकगुणसामर्थ्यात् वैस्रसिकगुण-सामर्थ्याद्वाज्ञानेन परद्रव्यस्य गृहीतुं मोक्तुं चाशक्यत्वात्। परद्रव्यं च न ज्ञानस्यामूर्तात्मद्रव्यस्य मूर्तपुद्गलद्रव्यत्वादाहार:। ततो ज्ञानं नाहारकं भवति। अतो ज्ञानस्य देहो न शमनीय:।।४०५-४०७।।

अब इस अर्थ को गाथाओं में कहते हैं-

यों आतमा जिसका अमूर्तिक वो न आहारक बने।
पुद्गलमयी आहार यों आहार तो मूर्तिक अरे।।४०५।।
जो द्रव्य है पर, ग्रहण नहिं, नहिं त्याग उसका हो सके।
ऐसा हि उसका गुण कोई प्रायोगिक अरु वैस्रसिक है।।४०६।
इस हेतु से जो शुद्ध आत्मा वो नहीं कुछ भी ग्रहे।
छोड़े नहीं कुछ भी अहो! परद्रव्य जीव अजीव में।।४०७।।

गाथार्थ : [एवम्] इस प्रकार [यस्य आत्मा] जिसका आत्मा [अमूर्तः] अमूर्तिक है, [सः खलु] वह वास्तव में [आहारकः न भवति] आहारक नहीं है; [आहारः खलु] आहार तो [मूर्तः] मूर्तिक है [यस्मात्] क्योंकि [सः तु पुद्गलमयः] वह पुद्गलमय है।

[यत् परद्रव्यम्] जो परद्रव्य है, [न अपि शक्यते ग्रहितुं यत्] वह ग्रहण नहीं किया जा सकता [न विमोक्तुं यत् च] और छोड़ा नहीं जा सकता; [सः कः अपि च] ऐसा ही कोई [तस्य] उसका (–आत्मा का) [प्रायोगिकः वा अपि वैस्रसः गुणः] प्रायोगिक तथा वैस्रसिक गुण है।

[तस्मात् तु] इसलिए [यः विशुद्धः चेतयिता] जो विशुद्ध आत्मा है, [सः] वह [जीवाजीवयोः द्रव्ययोः] जीव और अजीवद्रव्यों में (परद्रव्यों में) [किंचित् न एव गृह्णाति] कुछ भी ग्रहण नहीं करता [किंचित् अपि न एव विमुञ्चति] तथा कुछ भी त्याग नहीं करता।

टीका : ज्ञान परद्रव्य को किंचित्मात्र भी न तो ग्रहण करता है और न छोड़ता है, क्योंकि प्रायोगिक (अर्थात् पर निमित्त से उत्पन्न) गुण की सामर्थ्य से तथा वैस्रसिक (अर्थात् स्वाभाविक) गुण की सामर्थ्य से ज्ञान के द्वारा परद्रव्य का ग्रहण तथा त्याग करना अशक्य है। और, (कर्म–नोकर्मादिरूप) परद्रव्य ज्ञान का–अमूर्तिक आत्मद्रव्य का–आहार नहीं है, क्योंकि वह मूर्तिक पुद्गलद्रव्य है; (अमूर्तिक से मूर्तिक आहार नहीं होता)। इसलिए ज्ञान आहारक नहीं है। इसलिए ज्ञान के देह की शंका न करनी चाहिए।

(यहाँ 'ज्ञान' से 'आत्मा' समझना चाहिए; क्योंकि, अभेद विवक्षा से लक्षण में ही लक्ष्य का व्यवहार किया जाता है। इस न्याय से टीकाकार आचार्यदेव आत्मा को ज्ञान ही कहते आये हैं।)

भावार्थ : ज्ञानस्वरूप आत्मा अमूर्तिक है और आहार तो कर्म–नोकर्मरूप पुद्गलमय मूर्तिक है; इसलिए परमार्थतः आत्मा के पुद्गलमय आहार नहीं है। और आत्मा का ऐसा ही स्वभाव है कि वह परद्रव्य को कदापि ग्रहण नहीं करता;–स्वभावरूप परिणमित हो या विभावरूप परिणमित हो,–अपने ही परिणाम का ग्रहण–त्याग होता है, परद्रव्य का ग्रहण–त्याग तो किञ्चित्मात्र भी नहीं होता।

इस प्रकार आत्मा के आहार न होने से उसके देह ही नहीं है।

गाथा - ४०५ से ४०७ पर प्रवचन

अत्ता जस्सा-मुत्तो ण हु सो आहारगो हवदि एवं।
आहारो खलु मुत्तो जम्हा सो पोग्गल-मओ दु।।४०५।।
ण वि सक्कदि घेत्तुं जं ण विमोत्तुं जं च जं परद्दव्वं।
सो को वि य तस्स गुणो पाउगिओ विस्ससो वा वि।।४०६।।
तम्हा दु जो विसुद्धो चेदा सो णेव गेण्हदे किंचि।
णेव विमुंचदि किंचि वि जीवाजीवाण दव्वाणं।।४०७।।

नीचे (हरिगीत)

यों आतमा जिसका अमूर्तिक वो न आहारक बने।
पुद्गलमयी आहार यों आहार तो मूर्तिक अरे।।४०५।।
जो द्रव्य है पर, ग्रहण नहिं, नहिं त्याग उसका हो सके।
ऐसा हि उसका गुण कोई प्रायोगिक अरु वैस्रसिक है।।४०६।
इस हेतु से जो शुद्ध आत्मा वो नहीं कुछ भी ग्रहे।
छोड़े नहीं कुछ भी अहो! परद्रव्य जीव अजीव में।।४०७।।

थोड़ी सूक्ष्म बात है।

टीका - ज्ञान... शब्द से आत्मा। ज्ञान शब्द से जो आत्मा है, वह **परद्रव्य को किंचित्मात्र भी न तो ग्रहण करता है...** आहाहा! आत्मा एक परमाणु को ग्रहण नहीं करता, परमाणु दूसरे परमाणु को ग्रहण नहीं करता। गजब बात है। आहाहा! क्योंकि एक द्रव्य और दूसरे द्रव्य के बीच अन्योन्य अभाव है। इसलिए एक परमाणु दूसरे परमाणु को स्पर्श नहीं करता। इसी प्रकार आत्मा शरीर को, कर्म को और आहार को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! पागल जैसा लगे। आहाहा! यहाँ स्पर्श नहीं करता। यह अँगुली पत्र को स्पर्श नहीं करती। क्योंकि दोनों के बीच अन्योन्य अभाव है। आहाहा! समझ में आया?

यह तो तीसरी गाथा में आया है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को चुम्बन नहीं करता। तीसरी गाथा। कोई भी एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को कभी छूता नहीं, स्पर्श करता नहीं, प्रवेश

करता नहीं। आहाहा! ज्ञान अर्थात् आत्मा परद्रव्य को, शरीर को, कर्म को, आहार को किंचित्मात्र ग्रहण नहीं करता। आहाहा! गजब बात है। जैनदर्शन बहुत सूक्ष्म बात, भाई!

एक परमाणु दूसरे परमाणु को स्पर्श नहीं करता तो आत्मा को तो स्पर्श करे ही कहाँ से? आहाहा! **ज्ञान...** अर्थात् आत्मा **परद्रव्य को...** चाहे तो रूपी हो या अरूपी, **किंचित्मात्र भी...** किंचित्मात्र भी—किसी पक्ष से एक आत्मा आहार के परमाणुओं को (ग्रहण नहीं करता)। आत्मा हाथ को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! गजब बात है। यह आत्मा इस हाथ... हाथ को स्पर्श नहीं करता तो फिर आहार को कहाँ से स्पर्श करे? आहाहा! समझ में आया?

आत्मा अर्थात् ज्ञान, परद्रव्य को अर्थात् किसी भी रूपी-अरूपी द्रव्य को किंचित्मात्र किंचित्मात्र भी। आहाहा! कुछ भी **न तो ग्रहण करता है और न छोड़ता है,...** आत्मा परद्रव्य का त्याग करता है, ऐसा है नहीं। क्योंकि आत्मा में एक त्यागोपादान नाम का गुण है। सैंतालीस शक्तियों में त्यागोपादान नाम की शक्ति है। इस शक्ति के कारण से किसी भी परमाणु का ग्रहण और त्याग उसमें है नहीं। आहाहा! यह कठिन बात है।

तीसरी गाथा में कहा है, समयसार की तीसरी गाथा। कोई द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। तीसरी गाथा में है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को छूता नहीं। स्पर्शता नहीं, छूता नहीं, प्रवेश नहीं करता। ऐसे छूता नहीं, ऐसे छूता भी नहीं। आहाहा! गजब बात है। क्योंकि एक द्रव्य और दूसरे द्रव्य के बीच अभाव होने से (स्पर्शते नहीं)। स्पर्श करे तो भाव हो जाए। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श करे, एक पर्याय दूसरे की पर्याय को स्पर्श करे तो उस पर्याय का अभाव हो जाए। प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समय में अपनी पर्याय को छूता है, दूसरे कर्म और शरीर और आहार की पर्याय को; द्रव्य-गुण तो नहीं, पर्याय को भी आत्मा स्पर्श नहीं करता। आहाहा! कहो, डाह्याभाई! यह तो पागल कहे, पागल जैसा कहे। दुनिया पागल कहे।

ऐसे उठाया न! बापू! तूने देखा, वह यहाँ से देखा, वह यहाँ से देखा (—संयोग से देखा)। यहाँ से (—स्वभाव से) देखा नहीं। क्या कहा? तूने संयोग से देखा, उसके स्वभाव से नहीं देखा कि यह ऊँचा हो सकता है, यह उसका स्वभाव है। तूने अँगुली देखी,

तो अँगुली तो संयोगी चीज़ है। संयोगी चीज़ से ऊँचा हुआ, ऐसा तीन काल में नहीं है। आहाहा! इसमें किसी को मदद करना, उपकार करना, आहार देना, पानी देना, दवा (देना), वह कुछ कर नहीं सकता। आहाहा! मार्ग कठिन है, प्रभु!

वीतरागमार्ग सर्वज्ञ परमात्मा ने तीन काल-तीन लोक को देखा कि अनन्त पदार्थ हैं। वे सर्व अनन्त से अपने में अस्तिरूप से है और पर से नास्तिपना है। तो पर से नास्तिपना है तो पर को स्पर्श कैसे करे? आहाहा! मूल बात यह है। नव तत्त्व में जीव-अजीव भिन्न (है तो) किस प्रकार जीव-अजीव भिन्न है? आहाहा!

अनन्त पदार्थ अनन्तरूप कब रहे? कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थ को स्पर्श नहीं करे। स्पर्श करे तो उसका भाव वहाँ चला जाए। और एक पर्याय के भाव का दूसरी पर्याय के भाव में अत्यन्त अभाव है। आहाहा! गजब बात है!

ज्ञान... अर्थात् आत्मा **परद्रव्य को...** परमाणु को, पानी को, आहार को, दवा को... आहाहा! शीशपेन को, लकड़ी को, पृष्ठ को, पुस्तक को... पुस्तक को भी स्पर्श नहीं करता। गजब बात है। परद्रव्य में क्या बाकी रहा? अपने द्रव्य के अतिरिक्त पर अनन्त द्रव्य हैं, उन्हें किंचित्‌मात्र—जरा भी स्पर्श नहीं करता। आहाहा! बैठना कठिन (पड़ता है)। यह लकड़ी ऐसी ऊँची हुई, उस लकड़ी को अँगुली ने स्पर्श नहीं किया। इस लकड़ी को अँगुली छुई नहीं है। एक-दूसरे में अभाव है। और उससे (अँगुली से) ऊँची हुई नहीं। अज्ञानी इसे—संयोग को देखता है। इसकी पर्याय को देखे तो वह पर्याय उसमें हुई है, इससे नहीं—इस संयोग से नहीं। परन्तु संयोग से देखनेवाला हाथ से ऊँची हुई, ऐसा अज्ञानी देखता है। आहाहा! बहुत कठिन बात। आहाहा! भाई! प्रभु का मार्ग (कोई अलौकिक है)।

प्रत्येक द्रव्य पृथक्, प्रत्येक द्रव्य पृथक् है। उसकी पर्याय, द्रव्य-गुण तो किसी को स्पर्श नहीं करते, द्रव्य-गुण तो किसी को स्पर्श नहीं करते, छूते नहीं, परन्तु पर्याय किसी को स्पर्श नहीं करती। आहाहा! ऐसा मार्ग है। मार्ग तीनों काल में ऐसा है। आहाहा! **परद्रव्य को...** एक लाईन में कितना समाहित कर दिया है! एक ओर आत्मा, एक ओर सब परद्रव्य। परमाणु, स्कन्ध, दाल, भात, रोटी, सब्जी... मुँह को सब्जी छूती नहीं। रोटी और

दाल के टुकड़े होते हैं, वे दाँत से टुकड़े नहीं होते। क्योंकि दाँत रोटी को छूते नहीं। आहाहा! ऐसी बात, गजब बात! आहाहा! इस दल और भात में भी एक रजकण दूसरे रजकण को स्पर्श नहीं करते। आहाहा! और जीभ को रोटी स्पर्श करती है, ऐसा है नहीं। रोटी के परमाणु में अस्तित्व है, उसकी जीभ के परमाणु में नास्ति है। स्वयं से अस्ति है और अनन्त पर से नास्ति है। अनन्त की नास्ति है। आहाहा! नास्ति है, वहाँ अस्ति—स्पर्श करे, ऐसा कहाँ से आया? आहाहा! जरा कठिन है। पूरी दुनिया... सर्वज्ञ के अतिरिक्त यह बात कहीं है नहीं। परमात्मा त्रिलोकनाथ वीतराग के ज्ञान में आया ऐसा लॉजिक—न्याय से जगत के समक्ष प्रसिद्ध किया। प्रसिद्ध किया कि वस्तु ऐसी है। तुमको जँचे, न जँचे, तुम स्वतन्त्र हो। आहाहा!

ज्ञान... यह एक पहली लाईन का अर्थ चलता है। **परद्रव्य को किंचित्‌मात्र भी...** एक ओर तो स्पर्शता है या नहीं? यह अँगुली इस ओर छूती है या नहीं? इस ओर। इस ओर न छुए। किंचित्‌मात्र छूती नहीं। आहाहा! **न तो ग्रहण करता है... परद्रव्य को किंचित्‌मात्र भी न तो ग्रहण करता है...** आहाहा! यह तो अन्तिम गाथायें हैं न? मुनिपने की। आहार भी आत्मा को स्पर्श नहीं करता। मुनि उसे कहते हैं कि अपने आनन्द में रहे। वे आहार ग्रहण नहीं करते। आहार आता है, जाता है, उसके जाननेवाले-रहनेवाले हैं। आहाहा!

आहार और पानी आता है, मुख में पड़ता है तो जानते हैं कि वह तो जड़ की क्रिया जड़ के कारण से हुई है, मेरे कारण से आहार का ग्रास मैं लेता हूँ, ग्रास को मैं पेट में उतारता हूँ, ऐसा मुनि नहीं मानते। आहाहा! कहो, यशपालजी! बात बहुत कठिन। स्पष्ट कहते हैं कि यह उठाया। नहीं, यह अँगुली इसे स्पर्शी ही नहीं न। स्पर्शी ही नहीं तो उठाया कहाँ से? तूने अँगुली से, हाथ से देखा। हाथ से देखा कि यह उठाया। परन्तु उस समय की पर्याय का स्वभाव उसरूप होने का था, उसे नहीं देखा। आहाहा! जो पदार्थ देखना चाहिए, उसे नहीं देखा और संयोग को देखकर संयोग से यह हुआ, (ऐसा देखा)। आहाहा! महामिथ्यात्व है।

न तो ग्रहण करता है और न छोड़ता है,... आहाहा! थूँक निकालकर, कफ

निकालकर आत्मा कफ निकाले, ऐसा कभी नहीं है। आहाहा! और जंगल जाना, यह जंगल (दस्त) जाने का आत्मा करता नहीं है। ओहोहो! दिशा को जाना, जंगल जाना, वह जड़ की क्रिया है। आत्मा तो उसे स्पर्शा भी नहीं। आहाहा! कठिन बात है, प्रभु! मार्ग अलग, नाथ! समझ में आया? जंगल-दिशा को आत्मा स्पर्श नहीं करता, मूत्र को आत्मा स्पर्श नहीं करता, अपनी इन्द्रिय को आत्मा स्पर्श नहीं करता। आहाहा!

प्रत्येक द्रव्य समय-समय में अपनी जो पर्याय होनेवाली है, वह होती है, आगे-पीछे नहीं, क्रमबद्ध होती है। आहाहा! उसमें किसी से होती है, यह तो नहीं परन्तु अपने में भी आगे-पीछे नहीं। आहाहा! जो ग्रास आनेवाला है, वह आयेगा। पहले यह ग्रास आयेगा, इसके पश्चात् आयेगा, ऐसा कुछ नहीं। प्रत्येक द्रव्य में पर्याय आगे-पीछे करने की ताकत नहीं है और होने की ताकत भी उसकी नहीं है। आहाहा! ऐसा प्रभु का मार्ग है। यहाँ तो कहे, दया पालो और व्रत करो, यह करो, यह ग्रहण करो और यह छोड़ो और यह लो... अरे! प्रभु! नाथ! मार्ग बहुत अलग है, भाई! आहाहा!

यहाँ तो कहा कि आत्मा... ज्ञान अर्थात् आत्मा **परद्रव्य को किंचित्मात्र भी न तो ग्रहण करता है...** आहाहा! आत्मा ने कभी कर्म को ग्रहण नहीं किया और आत्मा कभी कर्म छोड़ता नहीं। शास्त्र में ऐसा आवे कि चार घातिकर्म का नाश करके केवलज्ञान उत्पन्न होता है। यह निमित्त का कथन है। कर्म का नाश आत्मा कर नहीं सकता। क्योंकि कर्म जड़ परमाणु भिन्न चीज़ है। उनका घात होना, पृथक् पड़ना, उसकी पर्याय की योग्यता से पृथक् होता है। आहाहा! आत्मा ने वीतरागभाव प्रगट किया, इसलिए कर्म की पर्याय छूट गयी, ऐसा नहीं है। वह कर्म की पर्याय का अकर्म पर्याय होने का उसका काल था। आहाहा! शान्तिभाई!

मुमुक्षु : सब स्वयं परिणमता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वयं। समय-समय में प्रत्येक परपदार्थ की पर्याय स्वयं से (होती है) और उस समय, होनेवाले समय में (होती है)। पर से तो नहीं, निश्चय से तो... जरा सूक्ष्म बात है, वह पर्याय जो होती है, वह निश्चय से तो उसके द्रव्य-गुण से भी नहीं होती। सूक्ष्म बात है, प्रभु! मार्ग अलग है, प्रभु! आहाहा! वह पर्याय उस समय की स्वतन्त्र

है। एक समय की पर्याय में षट्कारक—कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण एक समय में पर्याय में षट्कारक द्रव्य–गुण की अपेक्षा बिना और निमित्त की अपेक्षा तो है ही नहीं। आहाहा!

प्रत्येक द्रव्य की एक समय की पर्याय षट्कारक से स्वयं से होती है। आहाहा! एक परमाणु को ग्रहण करना या छोड़ना, वह आत्मा में नहीं है। आहाहा! क्यों? ऐसा क्यों हुआ? कि **प्रायोगिक**... आत्मा में विकार होता है तो विकार से पर को स्पर्श करता है या नहीं? राग आया। राग से आहार को ले सकता है या नहीं? राग से ले सकता है या नहीं? —कि नहीं। प्रायोगिक अर्थात् राग। राग, द्वेष, पुण्य, पाप भाव वे प्रायोगिक हैं। प्रायोगिक अर्थात् कर्म के निमित्त (परन्तु) स्वयं से हुए हैं, वे प्रायोगिक। उस प्रायोगिक विकार से भी परद्रव्य को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! गजब बात!

यहाँ तो बहुत काल से, बहुत समय से कहते आये हैं परन्तु बात नयी लगती है। आहाहा! कहते हैं, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को कभी ग्रहण नहीं करता। आत्मा आहार को ग्रहण नहीं करता। इसलिए यह लेना है। मुनि उन्हें कहते हैं कि आहार लेते नहीं। आहार आता है, उसे जानते हैं। आहार आता है, उसे जानते हैं। जानते हैं, वह भी आहार के कारण से नहीं। वे जानते हैं, वह भी अपनी ज्ञान की पर्याय के सामर्थ्य से जानते हैं। आनेवाला आहार आया तो उसके कारण से यहाँ ज्ञान हुआ, ऐसा भी नहीं। आहाहा! पागल कहे, ऐसा ही है। दुनिया पागल है। दुनिया पागल, पागल कहे। उसे स्पर्श नहीं करता? किसी को स्पर्श नहीं करता? यह पैर जो नीचे चलते हैं, वे जमीन को स्पर्श किये बिना पैर चलते हैं। आहाहा! गजब बात।

मुमुक्षु : मनुष्य का पैर उसे स्पर्श किये बिना चलता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : स्पर्श किये बिना चलता है। मनुष्य का आत्मा उस पैर को स्पर्श नहीं करता, पैर जमीन को स्पर्श नहीं करता, जमीन पैर को स्पर्श नहीं करती। सुनो, प्रभु! ऐसी बात है। डाह्याभाई! आहाहा! दुनिया से अलग प्रकार है, बापू! आहाहा!

यह शरीर बैठा है, वह पाट के कारण से बैठा नहीं है। पाट के ऊपर यह शरीर बैठा ही नहीं है। शरीर, शरीर में बैठा है। क्योंकि प्रत्येक द्रव्य में कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान,

अपादान, अधिकरण प्रत्येक समय की पर्याय में षट्कारक एक समय में होते हैं, तो प्रत्येक द्रव्य की उस समय की पर्याय अपने कर्तापन से, अपने आधार से, अपने साधन से होती है। आहाहा! गजब बात है। गहल / पागल ही कहे न? प्रभु! मार्ग तो ऐसा है, प्रभु! वीतराग तीन लोक के नाथ सर्वज्ञ प्रभु ऐसा फरमाते हैं, वह यह बात है। आहाहा!

आत्मा किंचित् भी परद्रव्य को ग्रहण नहीं करता, छोड़ता नहीं, क्यों?—कि **प्रायोगिक (अर्थात् पर निमित्त से उत्पन्न) गुण की सामर्थ्य से...** अर्थात् राग। राग से, द्वेष से। द्वेष हुआ, तो द्वेष से चाकू उठाकर मारना, यह कर नहीं सकता। द्वेष हुआ, वह प्रायोगिक—विकार है। तो द्वेष से दूसरे को चाकू मार सके, चाकू को स्पर्श कर सके, ऐसा नहीं है। और राग से अपने पुत्र को चूमता है, यह मिथ्या बात है। राग से भी पर को चुम्बन नहीं कर सकता। आहाहा! ऐसी बात सुनते हुए... वीतराग का मार्ग ऐसा है, प्रभु! वीतराग सर्वज्ञदेव परमेश्वर ऐसा फरमाते हैं, वह बात है। जरा शान्ति से, धीरज से समझना चाहिए।

यहाँ तो विशेष क्या लिया है? कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को ग्रहण-त्याग नहीं कर सकता परन्तु विकारभाव करता है तो उससे तो स्पर्श कर सकता है या नहीं? आत्मा में पर को मारने का भाव हुआ वह प्रायोगिक-विकार है। मारने का भाव हुआ, वह प्रायोगिक है। तो मार सकता है या नहीं? नहीं और पर की दया पालने का प्रायोगिक भाव हुआ। प्रायोगिक अर्थात् राग, विकार। प्रायोगिक अर्थात् निमित्त के लक्ष्य से हुआ विकार स्वयं से हुआ है। यह दया पालने का राग आया तो पर की दया पाल सकता है, ऐसा तीन काल में नहीं है। आहाहा!

देखो! दो शब्द में क्या आया है? प्रायोगिक **तथा वैस्रसिक...** है? **प्रायोगिक गुण की सामर्थ्य से...** अर्थात् विकार। चाहे तो जीव चाहे जितना विकार करे, वह कर्म से नहीं, द्रव्य-गुण से नहीं, पर से नहीं। ऐसा विकार करके पर का कुछ कर सके, ऐसा किंचित् नहीं है। आहाहा! प्रभु का मार्ग ऐसा है, भाई! आहाहा! प्रायोगिक अर्थात् विकार करने से। आहाहा! पुरुष को पुरुषवेद का उदय आया, विकार हुआ तो शरीर, इन्द्रिय का काम कर सकता है, छूता है, स्पर्शता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! है?

क्योंकि प्रायोगिक गुण की सामर्थ्य से... अर्थात् विकार के सामर्थ्य से भी पर

को छूता नहीं। विकार के सामर्थ्य से भी पर को ग्रहण करे और छोड़े, ऐसा है नहीं। आहाहा! नये लोगों को बहुत कठिन लगे। एकदम सुना न हो। यह क्या कहते हैं? ऐसी पागल बात! बापू! प्रभु! मार्ग ऐसा है। क्यों? कि प्रभु अनन्त द्रव्य कहते हैं। तो अनन्त द्रव्य कब रहते हैं? कि प्रत्येक समय प्रत्येक पदार्थ की, एक समय में अनन्त पदार्थ अपनी-अपनी पर्याय करते हैं। आहाहा! अपनी पर्याय करते हैं, उसमें दूसरा उसकी पर्याय को कहाँ करने जाए? और दूसरा द्रव्य भी पर्याय बिना का कहाँ है कि दूसरे की पर्याय को करे? दूसरा पदार्थ पर्याय बिना का नहीं है कि उसका कार्य करे। (कार्य करे) ऐसा कैसे बने? समझ में आया? आहाहा!

यदि परद्रव्य निकम्मा हो, निकम्मा अर्थात् पर्यायरहित हो तो दूसरा द्रव्य उसकी पर्याय करे। परन्तु परद्रव्य निकम्मा नहीं और स्वद्रव्य भी निकम्मा नहीं। अतः स्व भी पर्यायवाला है और पर भी पर्यायवाला है। समय-समय में दोनों पर्यायवाले द्रव्य हैं और वह एक पर्याय दूसरी पर्याय को छूती नहीं। आहाहा! वीतराग के अतिरिक्त यह बात तीन काल में कहीं नहीं है। और वह भी दिगम्बर सन्त के अतिरिक्त यह बात कहीं नहीं है। आहाहा! किसने सुनी थी कभी? आहाहा! दिगम्बर सन्त केवलज्ञानी के पथानुगामी, केवलज्ञानी के मार्गानुसारी और अल्पकाल में केवलज्ञान लेनेवाले हैं। आहाहा!

प्रायोगिक **तथा वैस्रसिक (अर्थात् स्वाभाविक)**... विकाररहित पर्याय। विकाररहित पर्याय भी पर को स्पर्श नहीं करती और विकारी पर्याय भी पर को स्पर्श नहीं करती। प्रायोगिक अर्थात् विकारी पर्याय। वैस्रसिक अर्थात् स्वाभाविक निर्मल पर्याय। चाहे तो विकारी पर्याय हो, चाहे तो स्वाभाविक शुद्ध पर्याय हो, शुद्ध केवलज्ञान की अनन्त सामर्थ्यवाली पर्याय हो और पर को स्पर्श करे और पर के काम करे, भगवान दूसरे का उपकार करे—ऐसा तीन काल में नहीं होता। आहाहा! गाथा ऐसी आयी। और प्रायोगिक तथा वैस्रसिक। आहाहा! समझ में आया इसमें?

ऐसा कि, मैंने राग किया तो राग से तो यह शरीर हिल सकता है या नहीं? राग किया तो शरीर के काम हो सकते हैं या नहीं? आहाहा! मुझे हास्य करने का भाव आया तो मुँह, दाँत आदि हिलते हैं, शरीर दाँत निकाले या नहीं? यह शरीर। नहीं, नहीं। राग विकार हास्य

भाव तुझमें हुआ, शरीर की क्रिया शरीर में हुई है। आहाहा! गजब बात है। वीतराग सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ के अतिरिक्त कहीं है नहीं। लोगों को जँचे, न जँचे सत्य तो यह है। आहाहा! तीन लोक के नाथ का भरतक्षेत्र में विरह पड़ा परन्तु प्रभु की वाणी रह गयी, आहाहा! वाणी ने विरह भुलाया। वह अपनी योग्यता से भुलाया। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

यह वाणी निकलती है तो वाणी कान को स्पर्श करती है, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! और वाणी से अन्दर ज्ञान होता है, (ऐसा नहीं है)। कान को तो स्पर्शती भी नहीं परन्तु अन्दर ज्ञान होता है, वह भी स्वयं से है, वाणी से नहीं। आहाहा! गजब बात है। पूरी दुनिया का विभाजन कर दिया, विभाजन कर डाला, भाग कर दिये। आहाहा! तीन लोक के नाथ सर्वज्ञदेव जिनेश्वर परमात्मा परमेश्वर त्रिलोकीनाथ के ज्ञान में यह आया, ऐसा वाणी में आ गया। वाणी भी उन्होंने की नहीं। आहाहा! वाणी / दिव्यध्वनि के कर्ता भी भगवान नहीं हैं। दिव्यध्वनि परद्रव्य है, आत्मा परद्रव्य है। आहाहा! तो आत्मा दिव्यध्वनि को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! और सुननेवाले को दिव्यध्वनि स्पर्श नहीं करती। प्रभु... प्रभु... प्रभु... प्रभु तेरा मार्ग... वीतराग... वीतराग... वीतराग... अकेला वीतरागभाव वर्णित है। सम्यग्दर्शन वीतरागभाव, सम्यक्चारित्र वीतरागभाव, केवलज्ञान वीतरागभाव—सब वीतरागभाव है। आहाहा!

कहते हैं कि प्रायोगिक तथा वैस्रेसिक अर्थात् स्वाभाविक। ज्ञान, दर्शन और आनन्द की अवस्था अपने में हुई, अपने में निर्मल ज्ञान अपने से हुआ तो निर्मल ज्ञान की पर्याय द्वारा तो पर को कुछ असर कर सकता है या नहीं? आहाहा! डाह्याभाई! यह ऐसा पढ़ा था या नहीं? इस प्रमाण है।

तीसरी गाथा में विस्तार आ गया था। तीसरी गाथा में—एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को कभी चूमता नहीं, तीसरी गाथा में आ गया। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को कभी चूमता नहीं, छूता नहीं, स्पर्शता नहीं। प्रत्येक द्रव्य अपने गुण और पर्याय को स्पर्श करता है परन्तु अपनी पर्याय के अतिरिक्त परद्रव्य की पर्याय को कभी स्पर्शा नहीं, स्पर्शेगा नहीं और स्पर्शता नहीं। आहाहा! यह तीसरी गाथा में आ गया है। वह बात यहाँ विस्तार से कहते हैं।

यहाँ क्या कहना है ? कि मुनि आहार तो लेते हैं न ? कपड़ा-बपड़ा दूसरी चीज़ छोड़ दी, नग्न हुए परन्तु आहार तो ले सकते हैं या नहीं ? आहार आना हो, वह आता है परन्तु ले सकता और दे सकता नहीं है। आहाहा! गजब बात है, प्रभु! अन्तर में यह बात बैठना... आहाहा!

एक-एक परमाणु स्वयं से गति करता है और स्वयं से स्थिर रहता है। आहाहा! यह लकड़ी है, यह इसके कारण से रही है और इसे ऐसे धक्का लगा तो चलती है, ऐसा नहीं है। धक्का लगा और चले, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को कभी स्पर्श नहीं करता। आहाहा! एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को कभी स्पर्श नहीं करता। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में कभी प्रवेश नहीं करता। आहाहा! यह प्रभु का मार्ग है, भाई!

तीन लोक के नाथ ऐसा कहते हैं कि मेरी भक्ति से तेरा कल्याण होगा—ऐसा नहीं है। क्योंकि मैं परद्रव्य हूँ, तू परद्रव्य है। आहाहा! 'परदव्वादो दुग्गई' मोक्षपाहुड़ में १६वीं गाथा में आया है। 'परदव्वादो दुग्गई' मैं तुझसे परद्रव्य हूँ। मेरा स्मरण करने से तेरी दुर्गति होगी। दुर्गति अर्थात् राग होगा। चैतन्य की गति नहीं होगी। आहाहा! समझ में आया ? प्रभु अष्टपाहुड़ में ऐसा कहते हैं, 'परदव्वादो दुग्गई'। आहाहा! हम तुझसे परद्रव्य हैं। तेरा लक्ष्य यदि हमारे ऊपर जाएगा तो तुझे राग होगा, चैतन्य की हानि होगी। आहाहा! मुझसे वह राग नहीं होगा, राग से तुझे राग हुआ और तेरे राग के कारण से तुझे गुण की हानि हुई। आहाहा! वह राग प्रायोगिक है। उस प्रायोगिक से पर में कुछ कर नहीं सकता। अपने में नुकसान होता है। आहाहा! इस एक लाईन में इतना भरा है!

गुण की सामर्थ्य से... अर्थात् विकार से। **तथा वैस्रसिक...** विकार बिना। विकार बिना की निर्मल गुण की पर्याय से, गुण अर्थात् पर्याय लेना, गुण शब्द से यहाँ गुण नहीं लेना। ऐसा लिया न ? **क्योंकि प्रायोगिक गुण की सामर्थ्य से...** गुण शब्द से पर्याय है। आहाहा! गुण तो त्रिकाली है, उसमें हलन-चलन कुछ नहीं है। गुण तो ध्रुव है, वह तो पलटता नहीं, बदलता नहीं, बाहर आता नहीं। आहाहा! पर्याय जो होती है, उसे यहाँ गुण कहते हैं। विकारी पर्याय चाहे जितना मिथ्यात्व चढ़ाओ, चाहे जितना राग-द्वेष करो परन्तु तू शरीर की क्रिया कर सके, ऐसा नहीं है। चाहे जितना द्वेष करो परन्तु हथियार उठा

सकता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! कहो, हिम्मतभाई! यह तो भारी! यह तो जगत से पूरा अलग प्रकार है। दुनिया के साथ कहीं (मिलान खाये, ऐसा नहीं है)। प्रभु! मार्ग ऐसा है।

प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है। किसी की कोई पर्याय करने के योग्य नहीं है। किसी की पर्याय को कोई पर्याय विघ्न करे या सहायता करे, यह बात तीन काल में नहीं है। आहाहा! यह महासिद्धान्त रखकर फिर दूसरी बात आवे। आहाहा! भगवान की वाणी सुनकर ज्ञान हुआ, यह सब कथन निमित्त के हैं। वाणी जड़ है और ज्ञान की पर्याय पर (पृथक्) है। वाणी से यह पर्याय होती है, ऐसा तीन काल में नहीं होता। आहाहा! गणधर ने भगवान की वाणी सुनकर चौदह पूर्व की रचना की, कहते हैं कि वह सुनकर नहीं, अपनी पर्याय की योग्यता से है। आहाहा! अरे! यहाँ तक जाना! यहाँ तो कहे, गुरु की कृपा से हो जाएगा, इसलिए करो गुरु की भक्ति। यहाँ तो कहते हैं, गुरु परद्रव्य है, उनकी भक्ति करने से राग होगा। आहाहा! यहाँ कहीं मक्खन नहीं कि भाई! हमारे से तेरा कल्याण होगा। तेरा कल्याण तुझसे होगा। आहाहा!

यहाँ यह कहा कि स्वाभाविक पर्याय... है न? वैस्रसिक गुण अर्थात् पर्याय। वैस्रसिक पर्याय के **सामर्थ्य से...** अन्दर बहुत निर्मल बल प्रगट हुआ तो इस कारण से हाथ ऊँचा कर सके या परद्रव्य की पर्याय कर सके, ऐसा नहीं है। अनन्त बल अन्दर आत्मा में प्रगट हुआ, वह बल अपने में काम करता है। उस बल से शरीर में कुछ काम करे, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! यह पैसे से सब्जी नहीं आती, ऐसा कहते हैं। पैसा भिन्न चीज़ है, सब्जी भिन्न चीज़ है। अरे! ऐसी बातें!

यहाँ तो मुनि का बतलाना है कि मुनि को आहार के अतिरिक्त तो दूसरा कुछ है नहीं। वस्त्र का टुकड़ा भी मुनि को तो नहीं होता। वस्त्र का टुकड़ा रखकर मुनि माने, मनावे तो मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! एक आहार है तो कहते हैं कि आहार आता है, वह तेरे कारण से नहीं। उसकी पर्याय से योग्यता से आता है।

मुमुक्षु : आहार तो जगत का स्वतन्त्र पदार्थ है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, स्वतन्त्र अपने आप आता है। उसके कारण से आहार आता है। आहाहा! और वह आहार दाँत को स्पर्श करता है, ऐसा भी नहीं है। आहार को दाँत और

जीभ स्पर्श करते हैं, ऐसा नहीं। विकार हो या निर्मल पर्याय पर का किंचित्मात्र भी कर सकते (नहीं), ग्रहण-त्याग कर नहीं सकता। त्याग-ग्रहण। लेना और छोड़ना कुछ नहीं कर सकता। आहाहा!

मुमुक्षु : गुरु के पैर तो शिष्य दबावे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बात खोटी, झूठी है। पैर ही नहीं न! पैर जड़ के हैं।

मुमुक्षु : परस्परोग्रहो... उमास्वामी में आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह निमित्त से कथन है। लोग इसे पकड़ते हैं। यह तो निमित्त के कथन हैं। जहाँ-तहाँ यह डालते हैं, परस्परोग्रहो जीवानाम्। इसलिए (लोग) प्रसन्न हों। यहाँ इनकार करते हैं। यहाँ ही नहीं, परन्तु तीसरी गाथा में भी इनकार करते हैं। आहाहा!

तीसरी गाथा में तो स्पष्ट लिया है, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को कभी चूमता नहीं। तीसरी गाथा में। अपना जो धर्म है, धर्म अर्थात् स्वभाव, और पर्याय; अपना स्वभाव और पर्याय द्रव्य को स्पर्शती है, परन्तु एक द्रव्य (दूसरे को) पर को तो छूता नहीं। आहाहा! गजब बात है। एक-दूसरे उपकार करे, मांगलिक हो और बड़ा प्रमुख हो, यह दया के मण्डल के प्रमुख हैं, यह अमुक के प्रमुख हैं। व्यवस्थापक, व्यवस्थापक व्यवस्था करे। तो यहाँ कहते हैं, व्यवस्था होती है, उसे व्यवस्थापक करे, (ऐसा जो मानता है वह) मिथ्यात्व है। व्यवस्था तो है। आहाहा! भारी कठिन काम।

प्रत्येक द्रव्य व्यवस्था अर्थात् अपनी अवस्था। व्यवस्था—विशेष अवस्था। प्रत्येक पदार्थ है, वह सामान्य है, वह विशेष बिना होता नहीं। उस सामान्य का विशेष दूसरा करे—ऐसा होता नहीं। सामान्यविशेषो द्रव्यम्—तत्त्वार्थसूत्र। सामान्य और विशेष स्वरूप द्रव्य है। सामान्य त्रिकाल ध्रुव, विशेष उत्पाद-व्यय। उस उत्पाद-व्यय बिना का सामान्य होता नहीं। अपनी पर्याय विशेष बिना द्रव्य होता नहीं तो पर्याय को दूसरा करे क्या? और दूसरा भी अपनी पर्याय करता है, वहाँ दूसरे की पर्याय को करे क्या? आहाहा! ऐसा है। वीतराग का मार्ग। अभी तो गड़बड़ में चढ़ा दिया है। अजैन को जैन करा दिया है, अजैनपना कर डाला है। आहाहा!

गुण की सामर्थ्य से ज्ञान के द्वारा... अर्थात् आत्मा द्वारा **परद्रव्य का ग्रहण**

तथा त्याग करना अशक्य है। आत्मा में विकार करो या अविकारी दशा रखो परन्तु पर का ग्रहण-त्याग तो अशक्य है। आहाहा! यह तो सूत्र है, सिद्धान्त है, चाबी है। यह तो पूरे द्रव्य की चाबी है। आहाहा! अन्योअन्य उपादानो... सब रखते हैं न? इसका अर्थ सर्वार्थसिद्धि में किया है। सर्वार्थसिद्धि वचनिका है, उसमें अर्थ किया है। इसका क्या है? कि वहाँ निमित्त का उपचार किया है। वहाँ निमित्त है इतना। (उससे) कुछ होता नहीं। मात्र निमित्त है, उसे यहाँ उपचाररूप से कहा गया है। सर्वार्थसिद्धि वचनिका में अर्थ है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि **परद्रव्य का ग्रहण तथा त्याग करना अशक्य है। और, (कर्म-नोकर्मादिरूप)...** नोकर्म शरीर आदि। **परद्रव्य ज्ञान का-अमूर्तिक आत्मद्रव्य का-आहार नहीं है,...** आहाहा! कर्म और आहार आत्मा का आहार नहीं है। आहाहा! आत्मा कर्म को ग्रहण करे और कर्म को छोड़े, ऐसा नहीं है। आत्मा आहार को ग्रहण करे और दिशा (दस्त) छोड़े, ऐसा है नहीं। आहाहा! गजब बात है।

मुमुक्षु : अनआहारकदशा तो चौदहवें गुणस्थान में होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे! नहीं लेने का प्रश्न कहाँ है? यहाँ तो विकल्प हो तो भी आहार नहीं ले सकता, (इतना सिद्ध करना है)। यह तो प्रायोगिक कहा। राग हो तो भी ले सकता नहीं। आता है, उसे जाने; जाता है, उसे जाने। आहाहा! ऐसी बात है, प्रभु! आहाहा! दुनिया को खटक लगे। यह तो व्यवहार उड़ जाता है, निमित्त से कुछ होता नहीं, यह बात उड़ जाती है। बात सत्य है। उड़ जाती है, है नहीं। निमित्त निमित्त में है, उपादान उपादान में है। उपादान को निमित्त छूता नहीं, निमित्त को उपादान छूता नहीं। उपादान की पर्याय के काल में सामान्य-विशेषरूप तो अपनी अवस्था है तो निमित्त ने उसकी अवस्था कहाँ की? सामान्य की पर्याय तो सामान्य ने की विशेष, तो दूसरे ने उसमें क्या किया? आहाहा! कठिन है, प्रभु! मार्ग कठिन है परन्तु प्रभु का मार्ग यह है। विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४५१, गाथा-४०५ से ४०७ सोमवार, अषाढ़ कृष्ण ९
दिनांक - ०४-०८-१९८०

ज्ञानस्वरूप है, वह स्वयं से दूसरी चीज़ को कभी ग्रहण नहीं करता और **छोड़ता नहीं...** आहाहा! यहाँ तो आहार लेने की बात है। आहार ले नहीं सकता और आहार छोड़ नहीं सकता। आहाहा! क्योंकि आहार, वह पुद्गल जड़ परिणाम है, चैतन्य अरूपी भगवान है। अरूपी चैतन्य, रूपी पुद्गल को ग्रहण करे या छोड़े, ऐसा तीन काल में नहीं होता।

क्योंकि प्रायोगिक गुण... प्रायोगिक अर्थात् विकारी पर्याय। प्रायोगिक अर्थात् प्रयोग। कर्म के निमित्त के प्रयोग में जुड़ने से विकार हो, उसे यहाँ प्रायोगिक कहते हैं। समझ में आया? कल यह बात हुई थी। प्रायोगिक अर्थात् विकारी भाव। कर्म के निमित्त के सम्बन्ध से; निमित्त से नहीं, कर्म के निमित्त से नहीं, उसके लक्ष्य से होता जो पुण्य-पाप का भाव, उसे यहाँ प्रायोगिक—विकारी भाव कहते हैं।

कहते हैं कि विकारी भाव हो; गुण अर्थात् पर्याय। विकारी पर्याय के **सामर्थ्य से...** या वैस्रसिक पर्याय के सामर्थ्य से। गुण अर्थात् पर्याय। स्वाभाविक निर्मल पर्याय। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की वीतरागी पर्याय हो तो भी **गुण की सामर्थ्य से ज्ञान के द्वारा...** आत्मा के द्वारा **परद्रव्य का ग्रहण तथा त्याग करना अशक्य है।** आहाहा! चाहे तो राग, विकार और मिथ्यात्व करे तथा चाहे तो वीतरागी भाव करे, समकित करे परन्तु उस पर्याय से परद्रव्य को ग्रहण करे और छोड़े, ऐसा नहीं होता। आहाहा!

चैतन्यस्वरूप अपने में विकारी या अविकारी पर्याय कर सकता है। अपने में। कर्म से नहीं। अपने में अपनी पर्याय में विकार या अविकार या धर्म, अधर्म या धर्म, आत्मा अपनी पर्याय में कर सकता है। परन्तु उस अधर्म या धर्म की पर्याय से परद्रव्य को ग्रहण करे या त्याग करे, यह कभी नहीं कर सकता। आहाहा! ऐसी बात है।

एक रोटी का बटका—टुकड़ा आत्मा ले नहीं सकता। चाहे तो समकिती हो, मुनि हो, चाहे तो मिथ्यादृष्टि हो परन्तु उस रोटी के टुकड़े को लेना या छोड़ देना, वह कर नहीं सकता। ओहो! कल पौन घण्टे तो बहुत चला था। आज तो और बाकी है।

प्रायोगिक या वैस्रसिक गुण अर्थात् पर्याय, अपनी पर्याय के **सामर्थ्य से ज्ञान के द्वारा... आत्मा द्वारा परद्रव्य का ग्रहण तथा त्याग करना अशक्य है।** आहाहा! एक भी परमाणु आत्मा ग्रहण करे और छोड़े, यह अशक्य है। आहाहा! वह अपने में विकार, अविकार करे। वह भी कहीं पर के कारण से विकार करता है, ऐसा नहीं है। कर्म के कारण से आत्मा में विकार होता है, ऐसा नहीं है। क्योंकि कर्म परद्रव्य है, अपना आत्मा परद्रव्य को कभी छूता नहीं, स्पर्श करता नहीं। स्पर्श किये बिना कर्म से विकार होता है, यह बात एकदम झूठी है। कर्म के निमित्त के वश होकर अपनी पर्याय में अपने कारण से विकार करता है। कर्म के निमित्त से यहाँ विकार करने की योग्यता नहीं है। यहाँ कर्म का निमित्त आया, इससे विकार करता है—ऐसा नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : इसमें तो लिखा है, पर के निमित्त से।

पूज्य गुरुदेवश्री : निमित्त अर्थात् है। पर का निमित्त है। उससे होता नहीं। निमित्त दूसरी चीज़ है परन्तु दूसरी चीज़ से दूसरे में कुछ होता है, आत्मा में कुछ भी होता है, ऐसा है नहीं। पाठ में लिखा है न? निमित्त से। **प्रायोगिक (अर्थात् पर निमित्त से...)** अर्थात् विकारी। विकारी पर्याय बतलानी है। निमित्त का अर्थ (यह कि) निमित्त की ओर के लक्ष्य से स्वयं स्वतन्त्र (करता है)। विकार भी कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण से षट्कारक से अपनी पर्याय में होता है।

यह तो (संवत्) २०१३ के वर्ष में वर्णीजी के साथ बड़ी चर्चा हुई थी। कहा, आत्मा पर को कुछ भी ग्रहण करे या त्यागे, यह नहीं हो सकता। इसी प्रकार जिस समय जो पर्याय होनेवाली है, वह होगी, दूसरे समय जो होनेवाली है, वह होगी, तीसरे समय जो होनेवाली है, वह होगी। तो वे कहें, नहीं। चाहे जो पर्याय हो। एक समय के पश्चात् चाहे जो हो। (मैंने) कहा, ऐसा नहीं है। चाहे जो नहीं। जो होनेवाली है, वही होती है। आहाहा! बड़ी चर्चा हुई थी। (संवत्) २०१३ के वर्ष। सबकी—पूरे सम्प्रदाय की श्रद्धा ही ऐसी थी। कर्म से विकार, कर्म से विकार, कर्म से विकार (होता है)। स्थानकवासी में भी यह, मन्दिरमार्गी में यह और दिगम्बर में भी यह। निमित्त से कहा, इसका अर्थ—निमित्त के वश होकर। निमित्त से नहीं, निमित्त के वश होकर विकार होता है। इसे यहाँ प्रायोगिक कहते हैं। आहाहा! कर्म से नहीं। आहाहा!

(अर्थात् स्वाभाविक) गुण की सामर्थ्य से... अपनी निर्मल पर्याय, समकित दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् वीर्य। अपना चाहे जितना पुरुषार्थ पर्याय में प्रगट करे, वह स्वतन्त्र है। क्योंकि एक पर्याय में षट्कारक का परिणमन सभी द्रव्य का एक समय में छह कारक का परिणमन सदा होता है। कर्ता, पर्याय कर्ता, पर्याय कार्य, पर्याय साधन, पर्याय अपने में रखना, पर्याय से पर्याय हुई, पर्याय के आधार से पर्याय हुई। आहाहा! यह षट्कारक। यह षट्कारक द्रव्य-गुण की अपेक्षा नहीं रखते, अपने द्रव्य-गुण की अपेक्षा नहीं रखते तो पर की अपेक्षा तो है ही नहीं। आहाहा! जँचना कठिन पड़े। बड़े पण्डित गोते खाते हैं। कर्म के कारण विकार, कर्म के कारण विकार (होता है) परन्तु कर्म को छूता नहीं न, विकार कहाँ से आया? एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को कभी स्पर्श नहीं करता न। आहाहा!

अपनी पर्याय का काल है, वह स्वयं से विकार या अविकार होता है। उसका ग्रहण-त्याग होता है। विकार को ग्रहण करो या विकार का त्याग करो परन्तु परवस्तु का ग्रहण और त्याग (आत्मा करे), ऐसा है नहीं। आहाहा! यह सूत्र बैठना कठिन है।

इस चश्मे को यह अँगुली छूती नहीं। चश्मे को अँगुली छूती नहीं और चश्मा नाक के अवलम्बन से रहा नहीं। चश्मा नाक के अवलम्बन से रहा नहीं। इन परमाणु में आधार नाम का गुण है, उसके आधार से रहा है। आहाहा! गजब बात!

मुमुक्षु : चश्मे से तो पढ़ा जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल मिथ्या बात है। जो कुछ पर्याय होती है, वह षट्कारक से स्वयं से होती है। पर के कारण से बिल्कुल नहीं होती। बड़ी गड़बड़ है। आहाहा! किसी भी द्रव्य की जिस समय में जो पर्याय होनी है, वह पर की अपेक्षा नहीं रखती। अपने से षट्कारकरूप से परिणमन करती है। आहाहा!

यह आँख पुस्तक को स्पर्श नहीं करती। आँख को यह पुस्तक स्पर्श नहीं करती, पुस्तक आँख को स्पर्श नहीं करती और पुस्तक से ज्ञानपर्याय नहीं होती। आहाहा! अपनी ज्ञानपर्याय अपने काल में, अपने कारण से षट्कारक से उत्पन्न होती है, इस पुस्तक से नहीं, सुनने से नहीं। आहाहा!

यह शब्द कान में पड़ते हैं तो कान को भी शब्द स्पर्श नहीं करते। शब्द कान में पड़े और उससे ज्ञान हुआ, यह भी नहीं। वह तो उस समय में अपनी पर्याय होनेवाली थी, वह पर्याय हुई, पर से हुई नहीं। कठिन बात है, भाई! वीतराग मार्ग बहुत सूक्ष्म है। आहाहा! समय-समय की प्रत्येक द्रव्य की पर्याय स्वयं कर्ता अर्थात् स्वतन्त्ररूप से होकर अपना कर्म अर्थात् कार्य करती है। आहाहा! कहो, डाह्याभाई! क्या यह वकील होकर दलील दी न? दलील। कोर्ट में जज दलील दे सकता है न? ये जज थे। ये रामजीभाई वकील थे।

मुमुक्षु : जज हमारा मानते थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : मानते थे। माने, यह तो पूरी दुनिया मानती है। परन्तु यह भाषा बोली गयी है, वह आत्मा से भाषा निकलती है, (ऐसा नहीं है)। आत्मा निमित्त है, इसलिए निकलती है—ऐसा भी नहीं है। निमित्त के वश होकर स्वयं स्वतन्त्र भाषावर्गणा की पर्याय होनेवाली है, वह रागादि के निमित्त के वश होकर करता है। राग से वह भाषा बनती है, ऐसा तीन काल में नहीं है। आहाहा! यह कहते हैं।

प्रायोगिक या वैस्रसिक (गुण की सामर्थ्य से) **ज्ञान के द्वारा...** ज्ञान अर्थात् आत्मा। **परद्रव्य का ग्रहण तथा त्याग करना अशक्य है। और, (कर्म-नोकर्मादिरूप)...** कर्म और नोकर्म अर्थात् शरीर, वाणी। **परद्रव्य ज्ञान का-अमूर्तिक आत्मद्रव्य का-आहार नहीं है,...** कर्म और नोकर्म का ग्रहण—आहार (नहीं है)। **परद्रव्य ज्ञान का...** (ज्ञान) जो अमूर्तिक है... परद्रव्य किसे कहा? यह कर्म और नोकर्म से परद्रव्य। ज्ञान का अमूर्तिक—आत्मा का मूर्तिक स्वभाव है। प्रभु तो वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्शरहित है। **अमूर्तिक आत्मद्रव्य का-आहार नहीं है,...** आहाहा! सवेरे-शाम खिचड़ी करो, भुजिया करो, हलुवा बनाओ, भाखरी बनाओ, चूरा करके चूरमा बनाओ... यह क्या आया? बिल्कुल नहीं हो सकता। यह तो होनेवाली पर्याय, उससे होती है। आत्मा से उसमें कुछ हो और आत्मा उसमें कुछ फेरफार कर सके, यह तीन काल में नहीं होता। कठिन बात है, भाई!

मुमुक्षु : हमारे से पर का कुछ नहीं होता?

पूज्य गुरुदेवश्री : होता है, अपने ज्ञान, दर्शन, चारित्र कर सके और या विकार कर

सके; इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं कर सकता। या आत्मा में विकार करे, या आत्मा में धर्म की पर्याय सम्यग्दर्शन—ज्ञान की करे। इसके अतिरिक्त पर का एक रजकण, तिनके के दो टुकड़े कर नहीं सकता। तिनके के दो टुकड़े नहीं कर सकता। आहाहा! प्रभु! मार्ग बहुत अलग है। यह तो जहाँ हो, वहाँ अभिमान (करे), हम करते हैं, हम करते हैं, हम करते हैं। आहाहा!

भाषा भी स्वयं से होती है, आत्मा से—अपने से नहीं। आत्मा से भाषा होती ही नहीं। भाषा के कारण से भाषा की पर्याय उत्पन्न होकर निकलती है, आत्मा के कारण से नहीं। भाषावर्गणा में से भाषापर्याय होती है, आत्मा से नहीं। धीरे बोलो, खींचकर बोलो, यह सब बात झूठी है। धीरे बोल सकता नहीं और खींचकर (जोर से) बोल सकता नहीं। पहले बोलते, वह नहीं बुलन्दशहरवाला? कैलाशचन्दजी! धीरे बोलो, जोर से बोलो। कौन बोले? भगवान! बोले वह दूसरा। दूसरा अर्थात् आत्मा के अतिरिक्त दूसरा। आत्मा बोलता नहीं और (आत्मा), बोले उसको रोकता नहीं। भाषा की जो पर्याय होती है, उसे रोक नहीं सकता। इसी तरह भाषा की पर्याय होती है, उसे बना नहीं सकता। आहाहा! वीतरागमार्ग ऐसा सुनना कठिन पड़े। पूरे दिन अभिमान। मैं करता हूँ, मैं करता हूँ, यह मैंने किया, यह मैंने बनाया... आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि कर्म और नोकर्म जो रूपी / मूर्त हैं उन्हें, परद्रव्य—ज्ञान अर्थात् आत्मा वह तो अमूर्तिक है। उस **अमूर्तिक आत्मद्रव्य का–आहार नहीं है,...** आहाहा! चाय पी नहीं सकता। शान्तिभाई! सवेरे चाय बिना तो चलता नहीं। पहले उकाला चाहिए। उकाला, चाय। चाय को आत्मा छूता नहीं। चाय पी सकता नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : चाय पी नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : पी नहीं। यह पीने का नहीं था, इसलिए नहीं पी। लेना नहीं, इसलिए नहीं (पी), चाय है, इसलिए नहीं पी इसलिए पिया नहीं, ऐसा नहीं है। उस पीने की पर्याय को छूता ही नहीं न! प्याले को स्पर्श नहीं करता। प्रभु! प्याले को हाथ स्पर्श नहीं करता, प्यालो को जीभ स्पर्श नहीं करती। आहाहा! ऐसा वीतराग मार्ग है।

मुमुक्षु : यह कब की बात है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तीनों काल की बात है। अभी की है, ऐसा नहीं। तीनों काल में इस प्रमाण बनता है। आहाहा!

मुमुक्षु : गुरु का ज्ञान तो स्पर्शता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब बातें। एक द्रव्य की पर्याय दूसरे द्रव्य की पर्याय को स्पर्श नहीं करती। केवलज्ञानी की वाणी, वह वाणी केवलज्ञान नहीं कर सकता। और वाणी आयी तो गणधर को वाणी से ज्ञान हुआ, ऐसा नहीं है। व्यवहार में बोलने में आता है, वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है। आहाहा! एक अन्तर्मुहूर्त में गणधरदेव बारह अंग की रचना करे, वे शब्द की रचना कर सकते नहीं।

यह तो समयसार, प्रवचनसार, नियमसार की टीका में आया है। यह जो शब्द हैं, वे शब्दों से बने हैं। टीका शब्द से बनी है। हमसे नहीं बनी। आहाहा! यह टीका अमृतचन्द्राचार्य की (बनाई हुई है), कुन्दकुन्दाचार्य के श्लोक हैं। तो कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं, यह श्लोक मैंने नहीं बनाये। अमृतचन्द्राचार्य की टीका है तो (कहते हैं), मैं कभी शब्द को स्पर्शा नहीं। मैं टीका कहाँ से बनाऊँ? यह शब्द से बनी है। आहाहा! और वे शब्द सुनकर मुझे ज्ञान हुआ है, ऐसे मोह से न नाचो। ऐसे मोह में न नाचो। अपनी पर्याय काल में अपनी पर्याय निमित्त के अवलम्बन बिना स्वतन्त्र होने के काल में स्वतन्त्र होती है। आहाहा! कठिन बात है, भाई!

आत्मा अमूर्तिक है और आत्मा राग करे तो कर्म आते हैं, वह राग के कारण से नहीं। वह परमाणु की पर्याय कर्म होने की योग्यता से होती है। राग हुआ तो कर्म की पर्याय हुई, चारित्रमोहनीय का बन्धन हुआ, ऐसा नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : इसमें कुछ अपवाद है या नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : जरा भी अपवाद नहीं। अपवाद अर्थात् निन्दा। अपवाद अर्थात् दोष। अपवाद कहते हैं न? आहाहा!

एक चीज़ दूसरी चीज़ को कभी स्पर्श नहीं करती, यह श्रद्धा करना। गर्व उतर जाये, गर्व। अनन्त-अनन्त पदार्थों का मैं कर्ता हूँ, यह गर्व उतर जाये, गर्व। आहाहा! कल तो बहुत कहा गया है। यह तो थोड़ा बाकी है।

क्योंकि वह मूर्तिक पुद्‌गलद्रव्य है;... कर्म और आहार मूर्तिक पुद्‌गल है। उसे आत्मा करता नहीं। आत्मा आहार करता नहीं, आहार को बनाता नहीं। खिचड़ी और चावल और रोटी बनावे, वह आत्मा नहीं। रोटी बनाता है। परमाणु है, उसकी रोटी बनने की पर्याय थी तो बनती है। आहाहा! लोई लेते हैं न? रोटी बनाने के लिये। फिर बेलन (घुमाते हैं)। बेलन छूता नहीं। बेलन आटे को छूता नहीं और आटे की रोटी हो जाती है, उसकी पर्याय से होती है। आहाहा! गजब बात है!

पानी अग्नि से गर्म नहीं होता। पानी ठण्डा रखा और नीचे अग्नि है। क्यों गर्म हुआ? तो अग्नि से गर्म नहीं हुआ। स्वयं की स्पर्श पर्याय ठण्डी थी, वह पलटकर स्वयं की उष्ण (पर्याय) हुई है, वह अपना काल है, पर से कुछ नहीं होता। आहाहा! अरे! गजब बात! नास्तिक को कठिन लगे। कुछ करना नहीं तो क्या बैठे रहना? परन्तु माने तो भी बैठा रहा है और न माने तो भी बैठा रहा है। पर का तो कुछ कर नहीं सकता। भले मान, इससे पर का कर सके, ऐसा तीन काल में नहीं है। आहाहा!

यह वस्त्र आत्मा पहन सके, ओढ़ सके, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! ऐसी बात क्या होगी? प्रत्येक द्रव्य का प्रत्येक समय का परिणमन स्वतन्त्र है। वह कर्ता का अपना कार्य है। दूसरा कर्ता और अपना कार्य, स्वयं कर्ता और दूसरे का कार्य—ऐसा कभी नहीं होता। आहाहा! ऐसी बात है।

आत्मा को आहार नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! (आहार) **मूर्तिक पुद्‌गलद्रव्य है; (अमूर्तिक से मूर्तिक आहार नहीं होता)।** आत्मा तो अरूपी है और आहार तो रूपी / मूर्तिक है। अमूर्तिक को मूर्तिक आहार होता नहीं। यहाँ आहार क्यों लिया है? मुनि की बात है। मुनि को वस्त्र आदि तो होते नहीं। वस्त्र नहीं, पात्र नहीं, कोई दवा की शीशी नहीं, कोई चीज़ नहीं। एक आहार है तो कहते हैं कि तू आहार को स्पर्श नहीं करता। आहाहा!

जीव को मूर्तिक आहार नहीं होता। **इसलिए ज्ञान आहारक नहीं है।** इसलिए ज्ञान अर्थात् आत्मा आहारक, आहारक अर्थात् आहार करनेवाला। आहारक—आहार करनेवाला। आत्मा आहार करनेवाला नहीं है। आहाहा! **इसलिए ज्ञान के देह की शंका न करनी चाहिए।** आत्मा को देह है, यह शंका नहीं करना चाहिए। आहाहा! तब देह है किसकी?

देह जड़ की है। मिट्टी-धूल है, धूल। यह शरीर धूल है, धूल का शरीर है। आहार धूल है, पुद्गल है। आहार पुद्गल है। आत्मा पुद्गल को खा नहीं सकता, पुद्गल को स्पर्श नहीं कर सकता, पुद्गल को ले नहीं सकता।

मुमुक्षु : घर में मेहमान आवे तो ऐसा कहना कि आत्मा आहार को स्पर्श नहीं कर सकता?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहे कौन? कह कौन सकता है? भाषा के काल में भाषा निकलती है। कह कौन सकता है? डाह्याभाई! यह तो अलग प्रकार की बात है। आहाहा! वांकानेर के डाह्याभाई थे न? बड़ा नाटक था। 'डाह्याभाई धोलशा' नाटक था। देखा है। तब पालेज दुकान थी न? मैं माल लेने भरूच गया था। मैं और फावा दोनों थे। फावाभाई और मैं दोनों थे। माल लेने गये थे। माल ले लिया। फिर निवृत्ति (थी)। रात्रि (का समय) कहाँ निकालना? रेल देरी से मिले। तब 'डाह्याभाई धोलशा' नाटक देखने गये। तब, हों! कितने वर्ष हुए। (संवत्) १९६४ के वर्ष, १९६५ का वर्ष। आहाहा!

मुझे दूसरा कहना है। उन्होंने सब बनाया। बहुत पैसा। एक-एक रात्रि के दस-दस हजार, आठ-आठ हजार। फिर मरने की तैयारी हुई। पश्चात् इतना बोले, 'डाह्य तेरी होशियारी तब कहें कि अभी शान्ति से देह छोड़ तो।' यह तूने नाटक बनाये... यह तो (संवत्) १९६४ की बात है, हों! कितने वर्ष हुए? ७३। हम नाटक देखने गये थे। मीराबाई का (देखा था)। आहाहा! 'डाह्या तेरी होशियारी तब कहें...' ऐसा उसमें कहा था। 'अभी अब शान्ति से-समाधि से-समभाव से देह छोड़ तो तू होशियार, नहीं तो मूर्ख है। अभी तक यह नाटक बनाये... एक-एक रात्रि के उस समय तीन-चार हजार की आमदनी। उस समय! १९६४ के वर्ष अर्थात् उस समय के एक लाख और अभी के पच्चीस लाख, दोनों समान। उस समय इतनी आमदनी। मरते हुए कुछ भी शरण नहीं होती। आहाहा! बाँकानेर के थे, 'डाह्याभाई धोलशा।' धूल में भी तेरा काम आता नहीं। नाटक किया हो, होशियारी की हो और गायन बनाये, इसलिए मानो होशियार हो गये। आहाहा!

आत्मा होशियारी करे तो अपनी पर्याय में पर का अभिमान करे परन्तु पर का कर नहीं सकता। आहाहा! यह यहाँ सिद्ध किया है। **यहाँ 'ज्ञान' से 'आत्मा' समझना**

चाहिए;... आत्मा आहार नहीं ले सकता। आत्मा पानी नहीं पी सकता। आत्मा पानी का कुल्ला नहीं कर सकता।

मुमुक्षु : ऐसा होवे तो पान खाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : पान को भी कहाँ छूता है? जड़ को कभी स्पर्श नहीं करता। अलग बात है, प्रभु! दुनिया से अलग बात है। आहाहा!

प्रभु तो ज्ञानस्वरूप है न! वह ज्ञानस्वरूप प्रभु क्या करे? पर को जाने या पर को बदले? यह सब मूर्खताई है। ये करोड़ोंपति और अरबोंपति बड़े मूर्ख हैं। हम जड़ का कर सकते हैं और हम ऐसा कर सकते हैं, ऐसा (माननेवाले) बड़े मूर्ख हैं —ऐसा यहाँ वीतराग कहते हैं। समझ में आया?

नैरोबी, अफ्रीका गये थे न? अभी अफ्रीका नैरोबी गये थे न? २६ दिन रहे थे। ४५० तो एक गाँव में करोड़पति हैं। नैरोबी, अफ्रीका। लोग यहाँ के प्रेमी हैं। साठ घर हैं। ४००-५०० लोग हैं। पच्चीस लाख का मन्दिर बनानेवाले हैं। पच्चीस लाख का मन्दिर। भगवान के बाद दो हजार वर्ष में कभी बना नहीं। दिगम्बर मन्दिर नैरोबी में! साठ लाख इकट्ठे किये, साठ लाख। पन्द्रह लाख तो पहले किये परन्तु फिर हम गये तब ४५ लाख हुए।

मुमुक्षु : इकट्ठे कर सकते हैं न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो हुए, उसकी बात है। ऐसा हुआ। कोई कर नहीं सकता। आहाहा! यह पैसा ले सकते-दे सकते नहीं। क्योंकि वह परवस्तु है। आत्मा अमूर्त परवस्तु है। वह अमूर्त, मूर्त को ले-दे सके, यह बात तीन काल में झूठी है। दुनिया से अलग बात है, भाई! दुनिया तो पूरी पागल है। आहाहा! दुनिया तो पागल है। क्षण में और पल में हम करते हैं, हम करते हैं, हम करते हैं। यहाँ परमात्मा कहते हैं कि आहार भी ग्रहण नहीं कर सकता। हसमुखभाई! ओहोहो!

यहाँ 'ज्ञान' से 'आत्मा' समझना चाहिए; क्योंकि, अभेद विवक्षा से लक्षण में ही लक्ष्य का व्यवहार किया जाता है। लक्षण ज्ञान है, उसे आत्मा कहना, यह व्यवहार है। **इस न्याय से टीकाकार आचार्यदेव आत्मा को ज्ञान ही कहते आये हैं।**

भावार्थ – ज्ञानस्वरूप आत्मा... भगवान आत्मा तो ज्ञानस्वरूप ही है। जाननस्वभावी आत्मा **अमूर्तिक है...** आत्मा तो अमूर्तिक है, (उसमें) वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श है नहीं। आहाहा! **और आहार तो कर्म–नोकर्मरूप पुद्गलमय मूर्तिक है;...** आहाहा! कर्म का आहार भी कहा जाता है। कर्म ग्रहण करता है न? उसे आहार कहा जाता है। यह कहते हैं, कर्म और नोकर्म अर्थात् आहार। दाल, भात, रोटी, सब्जी आत्मा खा नहीं सकता, आत्मा ले नहीं सकता, आत्मा बना नहीं सकता। अरे रे रे! यह क्या कहते हैं? पूरी दुनिया पागल हो गयी है। हम करते हैं, हम करते हैं, हम करते हैं। हसमुखभाई! उसमें इन करोड़पतियों को तो पूरे दिन उपाधि का पार नहीं होता। आहाहा!

कहा न? अभी नैरोबी गये थे। ४५० तो एक गाँव में करोड़पति हैं। ४५०। महाराज! यहाँ पधारे। बहुत विनती की थी तो गये थे। नहीं तो ९१ वर्ष की उम्र। ९१, ९०+१। इतनी उम्र में वहाँ अफ्रीका में (गये)। परन्तु लोगों का बहुत प्रेम, लोगों का बहुत प्रेम। प्रसन्न–प्रसन्न होकर नाचते थे। गये वहाँ नाचे, नाचे। स्वागत में लोग नाचे। लाखोंपति लोग, हों! लाखोंपति लोग। लाख–दो लाख की तो वहाँ गिनती ही नहीं। दस लाख, बीस लाख, तीस लाख, पचास लाख इस प्रकार गिनती। वे लोग हम गये वहाँ नाचे। वे कर्मणभाई नहीं? कर्मणभाई यहाँ आते हैं। भाई वीरचंदभाई! कर्मण स्वागत में नाचता था। यह सहज सब चीज़ होनेवाली वह होती है। कोई कहे कि हमारे से यह हुई (तो ऐसा नहीं है)। आहाहा!

मुमुक्षु : निमित्त तो हुआ न?

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल यहाँ के कारण से नहीं हुआ, होनेवाला था वह हुआ। २६ दिन में ४५ लाख रुपये इकट्ठे किये। ४५ लाख। पन्द्रह लाख पहले किये। कुल साठ लाख (हुए)। नाम दे मेरा। महाराज के प्रताप से यह सब हुआ। हमारे प्रताप से कुछ नहीं होता।

मुमुक्षु : आपके नाम से बोर बिके।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बोले यह भाषा दूसरे की। भाषा जड़। जड़ को आत्मा कर नहीं सकता। यहाँ यह कहते हैं।

ज्ञानस्वरूप आत्मा अमूर्तिक है और आहार तो कर्म–नोकर्मरूप पुद्गलमय

मूर्तिक है;... आहाहा! आत्मा आम को खा नहीं सकता। आम को छू नहीं सकता। हाय.. हाय..! कभी सुना नहीं हो, हसमुखभाई! आहाहा! इस टाईल्स के पत्थर को आत्मा छू नहीं सकता, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : इनके नाम से होता तो है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसके कारण से होना हो, वह होता है। उसमें दूसरा कहे कि मुझसे होता है। वह अहंकार है और वह अहंकार मिथ्यात्व है। मैंने किया, यह अहंकार मिथ्यात्व है। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं, **ज्ञानस्वरूप आत्मा अमूर्तिक है और आहार तो कर्म-नोकर्मरूप पुद्गलमय मूर्तिक है; इसलिए परमार्थत:...** परमार्थ से अर्थात् उस व्यवहार से बोलने में आता है। कथन करने में भाषा में आता है कि इसने आहार लिया-दिया परन्तु यह सब बात मिथ्या है। **इसलिए परमार्थत: आत्मा के पुद्गलमय आहार नहीं है।** इस आत्मा को पुद्गल की चाय, पानी, आहार, रोटी, दाल, भात, सब्जी आत्मा खा नहीं सकता, आत्मा उसे स्पर्श नहीं कर सकता। आहाहा! पूरे दिन यह हीरा-माणेक के व्यापार किये न? कषाय... कषाय... कषाय की होली सुलगी। कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ। मान और क्रोध, यह द्वेष का भाग; माया और लोभ, यह राग का भाग। राग के दो भाग—माया और लोभ। द्वेष के दो भाग—क्रोध और मान। लोभ और माया करे, वह राग करता है। क्रोध, मान करता है, वह द्वेष करता है। आहाहा! परन्तु वह राग-द्वेष करता है, परन्तु दूसरे को नुकसान पहुँचा सकता है—ऐसी बात तीन काल में नहीं है। आहाहा! आत्मा तो किसी का कर नहीं सकता (तो) पंगु हो गया? किसी का कुछ कर नहीं सकता। तो यह सब होशियार के पुत्र होते हैं न बहुत? ऐसा किया और हमने ऐसा किया और हमने ऐसा किया। यहाँ भगवान इनकार करते हैं।

त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव सर्वज्ञ परमात्मा परमेश्वर तीन काल के ज्ञानी के मुखारविन्द से ऐसी वाणी निकली कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! यह तो ठीक, और यह आत्मा तो अमूर्तिक है। मूर्त पदार्थ भी एक-दूसरे को स्पर्श नहीं करते तो आत्मा अमूर्तिक मूर्त को कैसे स्पर्श करे? आहाहा! बहुत भारी कठिन काम। पूरी दुनिया

से विरुद्ध है। पूरी दुनिया। पूरे दिन! 'मैं करूँ मैं करूँ यही अज्ञान है, गाड़ी का भार ज्यों श्वान खींचे।' जैसे गाड़ी का भार बैल खींचता है। एक गाड़ी के नीचे कुत्ता जरा छुआ हो तो वह जानता है कि यह गाड़ी मुझसे चलती है। इसी प्रकार यह दुकान की पैढ़ी पर बैठता हो तो मानो कि मुझसे धन्धा चलता है।

मुमुक्षु : दुकान चलाना या नहीं चलाना?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन चलावे? दुकान चलावे कौन और रोके कौन? दुकान चीज़ है या नहीं? परमाणु पुद्‌गल हो या नहीं? वह तत्त्व है या नहीं? तत्त्व है तो स्वयं से बदलता है या नहीं? वह दूसरे से कैसे बदले? आहाहा! पागल जैसा लगे। दुनिया पागल, इसे यह पागल जैसा लगे कि यह क्या कहते हैं? आहाहा!

मुमुक्षु : आप कहते हो, वैसा होवे तो दुनिया का व्यवहार ही नहीं चल सकता।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु व्यवहार कर कौन सकता है? वह तो होता है, करता कौन है? आहाहा!

यहाँ यह कहा, आहाहा! **आत्मा का ऐसा ही स्वभाव है कि वह परद्रव्य को कदापि ग्रहण नहीं करता;...** है? आहाहा! प्रभु आत्मा अमूर्तिक है। रंग, गन्ध, रस, स्पर्शरहित चीज़ है। वह वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श को कभी स्पर्श नहीं करता। आहाहा! **परद्रव्य को कदापि ग्रहण नहीं करता;–स्वभावरूप परिणमित हो...** देखो! आया। चाहे तो **स्वभावरूप परिणमित हो या विभावरूप परिणमित हो,...** अपने में करे। आहाहा! क्या कहा? आत्मा या अपनी शान्ति स्वभाव वीतरागस्वरूप रहो और या राग और मिथ्यात्वरूप रहो, विकार और अविकाररूप अपने में कर सकता है, परन्तु पर का तो कुछ नहीं कर सकता। आहाहा!

यह रामजी हंसराज अमरेलीवाले, करोड़पति। हम एक बार उनके मकान में गये थे। बड़े वेतनदार, महीने में हजार-हजार, पन्द्रह सौ वाले वेतनदार, दो-दो हजार महीने के। पच्चीस-तीस व्यक्ति बैठे थे। हम जहाँ चरण करने अन्दर गये तो सब खड़े हो गये। मानो बड़ा दरबार हो! अरे रे! यह क्या है? बापू! यह तो सब उपाधि है। भले दो लाख, पाँच लाख पैदा होते हों, वह कुछ वस्तु नहीं है। आहाहा!

नैरोबी में कहा नहीं ? अभी हम २६ दिन नैरोबी गये थे न ? ४५० तो करोड़पति हैं और पन्द्रह तो अरबपति हैं, अरबपति ! कहा, सब धूल है । अरबपति और करोड़पति के स्वामी और मालिक यदि मानेगा तो चार गति में भटकना पड़ेगा । हसमुखभाई ! यहाँ कहाँ मक्खन है ? कोई सेठिया को मक्खन लगाना, (ऐसा कुछ है नहीं) । यह तो सत्य की प्रसिद्धि है । आहाहा ! ढ़िंढ़ोरा पीटकर सत्य की प्रसिद्धि है । सत्य यह है ।

आत्मा अमूर्तिक मूर्त का आहार कैसे करे ? एक मूर्त भी दूसरे मूर्त को स्पर्श नहीं करता तो अमूर्तिक आत्मा मूर्त का आहार कैसे ग्रहण करे ? सवेरे-शाम आहार करते हैं या नहीं ? यह अभिमान करता है । मैं आहार करता हूँ, ऐसा अभिमान करता है । आहाहा ! वह क्रिया तो जड़ की है । आहार तो मिट्टी-धूल है । उस धूल की क्रिया को अपना मानना (मिथ्यात्व है) । आहार धूल है । हलुआ, मैसूर धूल है-पुद्गल है । आहाहा ! उसे मैं खा सकता हूँ—ऐसा मानना, वह अहंकार-मिथ्यात्व है । आहाहा ! यहाँ तक (आना) नहीं और उसके बदले पर की दया पाल सकता हूँ, परजीव की दया पाल सकता हूँ, (ऐसा मानना) वह मिथ्यादृष्टि है । परपदार्थ की दया तू पाल सकता है ? और पर की दया भले पाल नहीं सकता परन्तु पर दया का भाव, वह भी तेरी हिंसा है, क्योंकि राग है । राग है, वह तेरी हिंसा है । आहाहा ! गजब बात है । यह तो कहाँ की बात है ?

पुरुषार्थसिद्धि उपाय में लिया है । पर की दया का राग; वह, राग हिंसा है । आहाहा ! अमृतचन्द्राचार्य (ने) पुरुषार्थसिद्धि उपाय बनाया न ? यह तो वस्तु की स्थिति है । सन्त दिगम्बर मुनि तो केवली के जो कथन हैं, वे सब रचते हैं । उनमें कुछ फेरफार नहीं है । ऐसी बात कहीं है नहीं । आहाहा ! कितनों ने जिन्दगी में सुना नहीं हो कि आत्मा जड़ को स्पर्श नहीं कर सकता, छू नहीं सकता, स्पर्श नहीं कर सकता । आहाहा ! पूरे दिन इस शरीर को सम्हाले, ऐसा करे, खुजलावे... यह अँगुली इसे स्पर्श नहीं करती । ऐसा स्वरूप है, भगवान ! धर्म का स्वरूप बहुत सूक्ष्म है । वह यहाँ कहते हैं ।

आहार तो कर्म-नोकर्मरूप पुद्गलमय मूर्तिक है; इसलिए परमार्थतः आत्मा के पुद्गलमय आहार नहीं है। वह **स्वभावरूप परिणमित हो या विभावरूप परिणमित हो,-अपने ही परिणाम का ग्रहण-त्याग होता है,...** देखो ! क्या कहा ?

अपने में ही राग का ग्रहण और राग का त्याग (है)। पर का कुछ कर सकता नहीं। (पर का) ग्रहण-त्याग है ही नहीं। आहाहा! यह त्याग भी एक व्यवहार है। राग का त्याग करना, यह भी व्यवहार है। ग्रहण करना, वह उसकी पर्याय है परन्तु राग का त्याग करना, वह व्यवहार है। क्यों? कि अपने स्वरूप में जब जाता है, एकाग्र होता है, तब राग की उत्पत्ति नहीं होती, उसे राग का त्याग किया—ऐसा कहा जाता है। आहाहा! बहुत अन्तर, भाई!

राग का त्याग, ३४वीं गाथा में है, समयसार ३४ (गाथा)। आत्मा राग का त्याग नहीं कर सकता। आहाहा! मात्र वह ध्यान में अन्दर में जाता है, (तब) राग की उत्पत्ति नहीं होती, इतना सम्बन्ध देखकर आत्मा ने राग का नाश किया, ऐसा कहने में आया है। परमार्थ से राग का त्याग आत्मा नहीं कर सकता। आहाहा! ग्रहण कर सकता है। राग को ग्रहण कर सकता है। विकारी पर्याय बनानी हो, तत्प्रमाण बनती है, उसकी योग्यता प्रमाण बनावे। छोड़ सकता नहीं। अज्ञानरूप से छोड़ता है, ऐसा मानता है। परन्तु आत्मा का भान होकर स्थिर होता है, तब विकार उत्पन्न नहीं होता, उसे विकार का त्याग किया, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! बहुत अन्तर, भाई! इन सब कारखानावालों को क्या होगा? बड़े कारखाना बनावे न? चार लाख के, पाँच लाख के (बनावे)। उज्जैन नहीं? उज्जैन। सेठ नहीं उज्जैन में? लालचन्द सेठ। एक बार ले गये थे। लालचन्द सेठ गुजर गये। उज्जैन के (थे), गुजर गये। श्रद्धा का कुछ ठिकाना नहीं होता।

मुमुक्षु : ब्राह्मण को रखते थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे! हम उतरे थे, तब साथ में ब्राह्मण थे। माला जपते थे। मैंने कहा, यह क्या करते हो? तो कहा, यह (सब) समरूप रखने के लिये सेठ माला जपाता है। ऐसे के ऐसे। जैन होकर जैन क्या कहते हैं, इसकी खबर नहीं। आहाहा! ऐसा कि ब्राह्मण पूजा और होम करे तो अपने पैसे-बैसे में अनुकूल पड़े, वृद्धि हो। यहाँ कहते हैं कि बिल्कुल किंचित् एक तिनका भी बदल नहीं सकता। आहाहा! फोतरा समझे? तिनका। रुई की पुणी को स्पर्श नहीं कर सकता और फू नहीं कर सकता। प्रभु! तू अरूपी है न, नाथ! वह अरूपी रूपी का कैसे करे? आहाहा! यह अभिमान है। अरूपी रूपी का कुछ करे, यह अभिमान है। आहाहा!

हाँ, स्वभावरूप परिणमित हो अथवा विभावरूप परिणमो, वह तेरे हाथ में है। उसमें है न? चाहे तो धर्मरूप—सम्यग्दर्शन-ज्ञानरूप परिणमो, चाहे तो मिथ्यात्व, अव्रतरूप परिणमो, वह तेरे हाथ में है। तेरी पर्याय... आहाहा! **अपने ही परिणाम का ग्रहण-त्याग होता है,...** पर का नहीं। आहाहा! यह भी व्यवहार है। राग का त्याग करना, वह अभी व्यवहार है। वह उत्पन्न नहीं होता, उसे नाश किया, ऐसा कहा जाता है। बात तो ऐसी है। राग का नाश नहीं कर सकता। राग की उत्पत्ति नहीं होती, अन्तर में एकाग्र होता है, तब राग की उत्पत्ति नहीं होती तो राग का नाश किया, ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। **परिणाम का ग्रहण-त्याग होता है, परद्रव्य का ग्रहण-त्याग तो किञ्चित्मात्र भी नहीं होता।** है? **परद्रव्य का ग्रहण-त्याग तो किञ्चित्मात्र भी नहीं होता।**

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश - २३८

जबकि आत्मा के देह है ही नहीं, इसलिए पुद्गलमय देहस्वरूप लिंग (-वेष, बाह्य चिह्न) मोक्ष का कारण नहीं है-इस अर्थ का, आगामी गाथाओं का सूचक काव्य कहते हैं-

(अनुष्टुप्)

एवं ज्ञानस्य शुद्धस्य देह एव न विद्यते।
ततो देहमयं ज्ञातुर्न लिङ्गं मोक्षकारणम् ।।२३८।।

श्लोकार्थ : [एवं शुद्धस्य ज्ञानस्य देहः एव न विद्यते] इस प्रकार शुद्धज्ञान के देह ही नहीं है; [ततः ज्ञातुः देहमयं लिंगं मोक्षकारणम् न] इसलिए ज्ञाता को देहमय चिह्न मोक्ष का कारण नहीं है।।२३८।।

प्रवचन नं. ४५२, श्लोक-२३८, गाथा-४०८ से ४१० मंगलवार, अषाढ़ कृष्ण १०
दिनांक - ०५-०८-१९८०

समयसार, २३८ कलश। २३८।

एवं ज्ञानस्य शुद्धस्य देह एव न विद्यते।
ततो देहमयं ज्ञातुर्न लिङ्गं मोक्षकारणम् ।।२३८।।

यहाँ आया है, भाई! यहाँ **'एव'** आया है। **'एव न विद्यते'**

श्लोकार्थ : 'एवं शुद्धस्य ज्ञानस्य देहः एव न विद्यते' चैतन्यस्वरूप शुद्ध ज्ञानघन जिस चैतन्य प्रभु को देह नहीं होती। आहार नहीं, आ गया न? आहार नहीं तो शरीर तो कहाँ से होगा? आहाहा! **शुद्धज्ञान के...** शुद्ध ज्ञान कहा है। विशेषण दिया है। ज्ञानस्वरूप शुद्ध चैतन्य हूँ, ऐसी दृष्टि, ज्ञान और रमणता होती है तो ऐसे **शुद्धज्ञान के देह ही नहीं है;...** यहाँ 'ही' आया। **देह ही नहीं है;...** मोक्षमार्ग है। यहाँ 'ही' आया, देह ही, यहाँ 'ही' आया। **शुद्धज्ञान के देह ही नहीं है;...** निश्चय से आत्मा को देह ही नहीं है। आहाहा!

'ततः ज्ञातुः देहमयं लिंगं मोक्षकारणम् न' इसलिए ज्ञाता को... जाननेवाला, मैं तो जाननेवाला-देखनेवाला, दृष्टा-ज्ञाता हूँ—ऐसा अनुभव में आया, ऐसे **ज्ञाता को देहमय चिह्न मोक्ष का कारण नहीं है।** उसे देह के चिह्न—जो आकार, नग्नपना इत्यादि बाह्य क्रियायें मोक्ष का कारण नहीं हैं। **देहमय चिह्न मोक्ष का कारण नहीं है।** यह देह के चिह्न हैं। हलन-चलन, बोलना... आहाहा! वास्तव में तो अन्दर जो पंच महाव्रतादि के विकल्प उठते हैं वे भी कहीं मोक्ष का कारण नहीं है। वास्तव में वह भी देह की चेष्टा है। आहाहा! **ज्ञाता को देहमय चिह्न मोक्ष का कारण नहीं है।** गाथा आयेगी, उसका श्लोक है।

गाथा - ४०८-४०९

पासंडीलिंगाणि व गिहिलिंगाणि व बहुप्पयाराणि।
घेत्तुं वदंति मूढा लिंग-मिणं मोक्खमग्गो त्ति।।४०८।।
ण दु होदि मोक्खमग्गो लिंगं जं देहणिम्ममा अरिहा।
लिंगं मुइत्तु दंसण-णाण-चरित्ताणि सेवंति।।४०९।।

पाषण्डिलिङ्गानि वा गृहिलिङ्गानि वा बहुप्रकाराणि।
गृहीत्वा वदन्ति मूढा लिङ्गमिदं मोक्षमार्ग इति।।४०८।।
न तु भवति मोक्षमार्गो लिङ्गं यद्देहनिर्ममा अर्हतः।
लिङ्गं मुक्त्वा दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि सेवन्ते।।४०९।।

केचिद्द्रव्यलिङ्गमज्ञानेन मोक्षमार्गं मन्यमानाः सन्तो मोहेन द्रव्यलिङ्गमेवोपाददते। तदनुपपन्नं; सर्वे-षामेव भगवतामर्हद्देवानां, शुद्धज्ञानमयत्वे सति द्रव्यलिङ्गाश्रयभूतशरीर-ममकारत्यागात्, तदाश्रितद्रव्यलिङ्गत्यागेन दर्शनज्ञानचारित्राणां मोक्षमार्गत्वेनोपासनस्य दर्शनात्।।४०८-४०९।।

अब इसी अर्थ को गाथाओं द्वारा कहते हैं-

मुनिलिंग को अथवा गृहस्थीलिंग को बहुभांति के।
ग्रहकर कहत है मूढ़जन, 'यह लिंग मुक्तीमार्ग है'।।४०८।।
वह लिंग मुक्तीमार्ग नहिं, अर्हंत निर्मम देह में।
बस लिंग तजकर ज्ञान अरु चारित्र, दर्शन सेवते।।४०९।।

गाथार्थ : [बहुप्रकाराणि] बहुत प्रकार के [पाषंडिलिंगानि वा] मुनिलिंगों को [गृहिलिंगानि वा] अथवा गृहीलिंगों को [गृहीत्वा] ग्रहण करके [मूढाः] मूढ (अज्ञानी) जन [वदंति] यह कहते हैं कि [इदं लिंगम्] यह (बाह्य) लिंग [मोक्षमार्गः इति] मोक्षमार्ग है।

[तु] परन्तु [लिंगं] लिंग [मोक्षमार्गः न भवति] मोक्षमार्ग नहीं है; [यत्] क्योंकि [अर्हंतः] अरहन्तदेव [देहनिर्ममाः] देह के प्रति निर्मम वर्तते हुए [लिंगम् मुक्त्वा] लिंग

को छोड़कर [दर्शनज्ञानचारित्राणि सेवन्ते] दर्शन-ज्ञान-चारित्र का ही सेवन करते हैं।

टीका : कितने ही लोग अज्ञान से द्रव्यलिंग को मोक्षमार्ग मानते हुए मोह से द्रव्यलिंग को ही ग्रहण करते हैं। यह (-द्रव्यलिंग को मोक्षमार्ग मानकर ग्रहण करना सो) अनुपपन्न अर्थात् अयुक्त है; क्योंकि सभी भगवान अरहन्तदेवों के, शुद्धज्ञानमयता होने से द्रव्यलिंग के आश्रयभूत शरीर के ममत्व का त्याग होता है इसलिए, शरीराश्रित द्रव्यलिंग के त्याग से दर्शनज्ञानचारित्र की मोक्षमार्गरूप से उपासना देखी जाती है (अर्थात् वे शरीराश्रित द्रव्यलिंग का त्याग करके दर्शनज्ञानचारित्र को मोक्षमार्ग के रूप में सेवन करते हुए देखे जाते हैं।)

भावार्थ : यदि देहमय द्रव्यलिंग मोक्ष का कारण होता तो अरहन्तदेव आदि देह का ममत्व छोड़कर दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन क्यों करते? द्रव्यलिंग से ही मोक्ष प्राप्त कर लेते! इससे यह निश्चय हुआ कि-देहमय लिंग मोक्षमार्ग नहीं है, परमार्थतः दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप आत्मा ही मोक्ष का मार्ग है।

गाथा- ४०८-४०९ पर प्रवचन

पासंडीलिंगाणि व गिहिलिंगाणि व बहुप्पयाराणि।
घेत्तुं वदंति मूढा लिंग-मिणं मोक्ख-मग्गो त्ति।।४०८।।
ण दु होदि मोक्खमग्गो लिंगं जं देहणिम्ममा अरिहा।
लिंगं मुइत्तु दंसण-णाण-चरित्ताणि सेवंति।।४०९।।

नीचे हरिगीत

मुनिलिंग को अथवा गृहस्थीलिंग को बहुभांति के।
ग्रहकर कहत है मूढ़जन, 'यह लिंग मुक्तीमार्ग है'।।४०८।।
वह लिंग मुक्तीमार्ग नहिं, अर्हंत निर्मम देह में।
बस लिंग तजकर ज्ञान अरु चारित्र, दर्शन सेवते।।४०९।।

अन्तिम गाथायें हैं न? आहार नहीं और देह भी नहीं। अकेला आत्मा है। जो कुछ देह की क्रिया होती है, उसे ज्ञान अपने में जानता है। ज्ञान की क्रिया, ज्ञान की जानने की

क्रिया अपनी है। देह की क्रिया अपनी नहीं। देह की क्रिया जब जैसी होती है, वैसी ही ज्ञान की पर्याय उसकी अपेक्षा बिना स्वयं से ज्ञान की पर्याय होती है। आहाहा! देह की जैसी क्रिया जब होती है, वैसा ही ज्ञान यहाँ पर की अपेक्षा बिना, अपने ज्ञान का स्व-परप्रकाशक स्वभाव है, लिंग की अपेक्षा बिना, लिंग का ज्ञान और अपना ज्ञान अपने में एक साथ होता है। आहाहा! ऐसा मार्ग है।

टीका – कितने ही लोग अज्ञान से द्रव्यलिंग को मोक्षमार्ग मानते हुए... है? आहाहा! कितने ही अज्ञानी लोग द्रव्यलिंग को (अर्थात्) क्रिया जो है, यह बाहर की, जो नग्नपना, गोचरी की, चलने की, देखकर चलना इत्यादि क्रिया है, वह क्रिया तो जड़ की है। **कितने ही लोग अज्ञान से द्रव्यलिंग को मोक्षमार्ग मानते हुए...** आहाहा! उस क्रियाकाण्ड और शरीर की क्रिया को मोक्षमार्ग मानते हैं।

मोह से द्रव्यलिंग को ही... मिथ्यात्व के कारण से... आहाहा! **द्रव्यलिंग को ही ग्रहण करते हैं।** यह मुनिपना, नग्नपना आदि अंगीकार करते हैं। वस्तु की स्थिति की खबर नहीं। आत्मा क्या चीज़ है? आत्मा आनन्दस्वरूप है। बहुत तो बाहर से लें तो दर्शन, ज्ञान और चारित्रस्वरूप है। क्योंकि वह प्रगट होता है तो वह स्वरूप ही उसका दर्शन, ज्ञान, चारित्र त्रिकाली स्वरूप है। उसमें से दर्शन, ज्ञान, चारित्र प्रगट होता है। बाह्य लिंग के कारण से अन्दर दर्शन, ज्ञान, चारित्र कभी नहीं होते। बात सादी है परन्तु बात लोगों को कठिन पड़े, ऐसी है। यह द्रव्यलिंग, द्रव्यलिंग कितने ही कहते हैं न? द्रव्यलिंग भी कहाँ है? आहाहा! उनके लिये (आहार) बनाते हैं, चौका करते हैं। चौका बनाना, वह कहीं मार्ग है, आहाहा!

यह कहा था, मनोहरलालजी ने जयपुर में प्रश्न किया था कि लोग अपने आप बनावे और लें, उसमें दोष क्या? स्वयं करे और करावे तो दोष कहलाये। ऐसा प्रश्न मनोहरलाल वर्णी ने जयपुर में किया था। मैंने कहा, देखो! भाई! उनके लिये बनाया, वे लेते हैं, उसमें अनुमोदन है। लेते हैं, वह अनुमोदन है। एक अनुमोदन कोटि टूटे तो नौ कोटि टूट गयी। सूक्ष्म बात है। समझ में आया?

उन्होंने दो प्रश्न किये थे। इस राग को पुद्गल क्यों कहा है? एक यह प्रश्न किया

था। कहा, यह पुद्गल निकल जाता है, स्वभाव में नहीं है। निमित्त के आधीन अपने में होता है। निमित्त के आधीन, हों! निमित्त से नहीं। निमित्त के आधीन अपने में होता है तो उसे पुद्गल कहकर निकाल डाला। वह अपने स्वरूप में नहीं है।

एक यह प्रश्न किया था और एक यह किया था कि यदि उद्देशिक का स्पष्टीकरण हो जाए। ऐसा कि दुनिया उनके लिये बनाती है, उसमें लेनेवाले को कुछ दिक्कत नहीं। कहा, प्रभु! भगवान के विरह में यह बात यहाँ नहीं करो। प्रभु का विरह पड़ा है, इसलिए ऐसी बात करना? आहाहा! उनके लिये बनाया हुआ है, उसे लें तो उन्हें दोष नहीं है। क्योंकि कुछ किया और कराया नहीं है।

यह प्रश्न तो हमारे (संवत्) १९६९ के वर्ष से है। ६७ वर्ष पहले। मैंने दीक्षा लेने से पहले गुरु से प्रश्न किया था कि साधु के लिये उपाश्रय बनाया हो और प्रयोग करे तो कौन सी कोटि टूटती है? यह प्रश्न किया था। १९६९ के वर्ष, (संवत्) १९७० में दीक्षा (ली थी)। साधु के लिये मकान बनाया हो और वह मकान प्रयोग करे तो नौ कोटि में कौन सी कोटि (टूटती है)? कुछ बोले नहीं। वे कहे, नहीं, कोटि टूटती नहीं। दृष्टान्त दिया, तुम्हारे भाई ने तुम्हारे लिये मकान बनाया, तुम प्रयोग करो इसमें क्या? मैंने कहा, अभी यह नहीं कहना। उसे प्रयोग करते हैं, वह अनुमोदन है। आहाहा! दशवैकालिक में आठवें अध्ययन में पाठ है। तब आठवाँ अध्ययन दीक्षा लेने से पहले कण्ठस्थ किया था। उसमें यह बात है कि, उसके लिये बनाया हुआ ले, उसकी अनुमोदन कोटि टूटती है। एक कोटि टूटने पर नौ कोटि टूटती है तो कुछ रहता नहीं। वही प्रश्न यहाँ था। आहाहा!

आहार और शरीर की क्रिया, यहाँ तो कहते हैं। यह सब अज्ञानी मूढ़ **द्रव्यलिंग को मोक्षमार्ग मानते हुए मोह से द्रव्यलिंग को ही ग्रहण करते हैं।** पहले यह ग्रहण करते हैं। है और माने (यह एक बात), यह तो मोक्षमार्ग है, मुनिपना अंगीकार करो, नग्नपना ले लो, वस्त्र छोड़ दो... आहाहा! पहिचान तो करना पड़ेगी न? **द्रव्यलिंग को मोक्षमार्ग मानते हुए मोह से द्रव्यलिंग को ही ग्रहण करते हैं।** अज्ञान से **द्रव्यलिंग को मोक्षमार्ग मानते हुए मोह से द्रव्यलिंग को ही ग्रहण करते हैं।** पाठ है न? भाई! टीका है। ग्रहण करते हैं। है और मोक्षमार्ग माने, यह तो ग्रहण करते हैं। मोक्षमार्ग के लिये ग्रहण

करते हैं। आहाहा! है और द्रव्यलिंग को मोक्षमार्ग माने वह तो झूठ है, परन्तु यह तो द्रव्यलिंग को मोक्षमार्ग मानकर ग्रहण करते हैं। आहाहा! ऐसा पाठ है। देखो!

द्रव्यलिंग को मोक्षमार्ग मानते हुए मोह से द्रव्यलिंग को ही... आहाहा! **ग्रहण करते हैं।** इतनी सब किसे पड़ी है कि विचार करे? यह बाह्य में नग्न देखे और क्रिया देखे तो जय भगवान! बापू! दर्शनशुद्धि के बिना यह सब अंक बिना के शून्य हैं। अभी तो चौके के स्पष्ट पाठ (विज्ञापन) लिखते हैं। मासिक में... क्या कहलाता है? अखबार। अखबार में स्पष्ट लिखते हैं, महाराज आये हैं, चौका लेकर आओ, चौका बनाओ। अर र र! ऐसा मार्ग होगा? प्रभु! यह मार्ग नहीं है।

उस व्यक्ति को बेचारे को दु:ख हो। यह तो मार्ग ही ऐसा है। आहाहा! कोई विपरीत भी भाव करे तो उसे उस भाव का दु:ख होगा और उसके फलरूप से दु:ख होगा, ऐसी इच्छा कौन करे? धर्मी ऐसी इच्छा नहीं करता कि तू दु:खी हो। प्रभु! तुम सुखी होओ। भूल मिटाकर सुखी होओ। यह भूल है। द्रव्यलिंग को, नग्नपने को ही मोक्षमार्ग मानना (यह भूल है)। यह श्वेताम्बर की बात नहीं है। श्वेताम्बर तो वस्त्र रखते हैं, वह तो साधु ही नहीं हैं, वे तो कुसाधु हैं। आहाहा! गजब बात! यहाँ कहाँ दुकान लगायी है? यहाँ तो जंगल में पड़े हैं।

मुमुक्षु : कुसाधु तो वे हैं कि जिन्हें द्रव्यलिंग नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह साधु ही नहीं हैं। साधु (अर्थात्) अन्तर में आनन्दकन्द प्रभु..! आहाहा! सच्चिदानन्दस्वरूप राग से भिन्न पड़कर आनन्द में रमता है, उसे साधु कहा जाता है। यह अस्ति से बात है। यह अभी आयेगा।

यहाँ पहले कहा कि, **अनुपपन्न अर्थात् अयुक्त है;... (-द्रव्यलिंग को मोक्षमार्ग मानकर ग्रहण करना सो) अनुपपन्न अर्थात् अयुक्त है; क्योंकि सभी भगवान...** देखो! **अरहन्तदेवों के, शुद्धज्ञानमयता होने से...** भगवान तो शुद्ध ज्ञानमय थे। **द्रव्यलिंग के आश्रयभूत शरीर के ममत्व का त्याग होता है...** अरिहन्त को शरीर की सर्व क्रिया का त्याग था। आहाहा! ममता का त्याग था। अन्तर में चैतन्य द्रव्य का अवलम्बन लेकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन करते थे। शरीर की क्रिया का सेवन नहीं करते थे। आहाहा!

यह तो वस्तु का स्वरूप आया है। किसी के लिये कुछ नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति की अपने परिणाम की जवाबदारी है।

आचार्यदेव तो यहाँ तक कहते हैं, द्रव्यसंग्रह में कहा न? द्रव्यसंग्रह। द्रव्यसंग्रह में यहाँ तक कहते हैं, विपाकविचय, अवायविचय, संस्थानविचय आता है। वहाँ अवायविचय में ऐसा लिखा है, हे प्रभु! कोई विरोधी न रहो। सब आठ कर्म का नाश करो। ऐसा द्रव्यसंग्रह में पाठ है। कोई विरोधी नहीं, प्रभु! विरोध तो दु:ख है। सब आठ कर्मों का नाश करके सब मोक्ष पधारो। आहाहा! प्रभु! तू भगवान है न! तेरा स्वरूप प्रभु भगवान है न! तो भगवान है, ऐसा हो जाओ। किसी का विरोध और किसी से वैर, ईर्ष्या धर्मी को नहीं होती। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ यह कहते हैं, **सभी भगवान अरहन्तदेवों के, शुद्धज्ञानमयता होने से...** वह तो शुद्धज्ञानमय थे। अरिहन्त परमेश्वर तीर्थंकर शुद्ध ज्ञानमय थे। नग्न तो बाहर से थे परन्तु अन्दर शुद्धज्ञानमय थे। शुद्धज्ञानवाले भी नहीं। शुद्धज्ञानवाले कहने में भी भेद पड़ा। शुद्धज्ञानमय थे। आहाहा! वे तो प्रभु शुद्धज्ञानमय थे न, प्रभु! अरिहन्तों ने इस तरह किया तो प्रभु! तू भी कर न! ऐसा कहते हैं। आहाहा! है? देखो!

सभी भगवान अरहन्तदेवों के, शुद्धज्ञानमयता होने से... अकेले शुद्धज्ञानमय ऐसे आत्मा की उन्होंने सेवा की है। **द्रव्यलिंग के आश्रयभूत शरीर के ममत्व का त्याग होता है...** यहाँ शुद्धज्ञानमयता होने के कारण। अन्तर में शुद्धज्ञान प्रगट हुआ है, इस कारण द्रव्यलिंग छूट गया। आहाहा! **द्रव्यलिंग के आश्रयभूत शरीर के ममत्व का त्याग होता है इसलिए, शरीराश्रित द्रव्यलिंग के त्याग से दर्शनज्ञानचारित्र की...** आहाहा! अपना स्वरूप पूर्ण शुद्ध अखण्डानन्द परमात्मा, परमेश्वर आत्मा है। परमेश्वर की प्रतीति करो, अनुभव करो, उसका ज्ञान करके उसमें रमणता करो। द्रव्यलिंग में ममता मत करो कि मैंने द्रव्यलिंग ग्रहण किया है तो मेरा मोक्ष होगा या उसमें किंचित् मोक्षमार्ग है, ऐसा मत मानो। आहाहा!

दर्शनज्ञानचारित्र की मोक्षमार्गरूप से उपासना देखी जाती है... टीकाकार कहते हैं। आहाहा! भगवान को तो दर्शन-ज्ञान-चारित्र की सेवा देखने में आती है। यह

नग्नपना और बाहर की क्रिया उनकी नहीं है, वह तो जड़ की क्रिया है। आहाहा! आत्मा नग्नपना कर सकता नहीं, आत्मा वस्त्र नहीं छोड़ सकता।

यह प्रश्न यहाँ चाँदमलजी उदयपुरवालों ने किया था। चाँदमलजी यहाँ आये थे। वे बेचारे मध्यस्थता से प्रश्न करते थे। वे कहें, यह वस्त्र तो मुनि उतारते हैं न? वस्त्र तो उतार सकते हैं या नहीं? उस परचीज़ को उतार सके या पहिन सके, यह बात यहाँ नहीं है। ऐसा कहे, भगवान उतारते हैं न? वे तो उतर जाते हैं। वह जड़ की अवस्था उस समय में उतर जाने की थी तो उतरते हैं। आत्मा ने विकल्प किया, इसलिए वस्त्र छूट गये, ऐसा नहीं है। आहाहा! भारी कठिन काम। साधु वस्त्र छोड़े? नहीं। परवस्तु है न? परमाणु को स्पर्श नहीं करता तो फिर वस्त्र को कहाँ स्पर्श करे? आहाहा! प्रभु का मार्ग कोई अलग है, भाई!

द्रव्यलिंग के त्याग से (भगवान के तो) दर्शनज्ञानचारित्र की मोक्षमार्गरूप से... आहाहा! **उपासना देखी जाती है...** आचार्य क्या कहते हैं? कि हमें तो भगवान की दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उपासना देखते हैं। हम शरीर की क्रिया नहीं देखते। क्या कहते हैं? हम शरीर की, संयोग की क्रिया नहीं देखते। संयोग को नहीं देखते। हम तो अन्दर उसके स्वभाव को देखते हैं। भगवान तो दर्शन-ज्ञान-चारित्र की सेवा करते हैं, वह हम देखते हैं। आहाहा! समझ में आया? संयोगबुद्धि छूट गयी।

अभी यह सब गड़बड़ चलती है, देखो न! लो, हमने ऐसा किया, लो, हमने हाथ ऐसा किया। परन्तु भाई! तू देखता है, वह हाथ तो संयोगी चीज़ है। उसकी नजर तूने की परन्तु अन्दर आत्मा ने क्या किया, उसे तूने नहीं देखा। अग्नि (होती है) और यहाँ पानी (होता है)। अग्नि आयी तो पानी गर्म हुआ। नहीं तो ठण्डा था। दुनिया ऐसा देखती है कि वह अग्नि आयी तो (पानी गर्म हुआ)। परन्तु वह पानी स्वयं से गर्म हुआ, ऐसा (दुनिया) नहीं देखती। समझ में आया? इससे यह हुआ, ऐसा दुनिया (देखती है)। संयोग से देखनेवाली दृष्टि है, वह मिथ्या है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, हमने तो नग्नपना (लिया), त्याग किया, उसे हम नहीं देखते। हम तो अन्दर दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन करते हैं, वह देखते हैं। आहाहा! है? **मोक्षमार्गरूप**

से उपासना देखी जाती है... आहाहा! एक बात। दूसरा कोई कहे कि सामनेवाले के दर्शन-ज्ञान-चारित्र की खबर नहीं पड़ती, ऐसा कोई कहे। क्योंकि वह तो अरूपी (परिणाम है)। यहाँ कहते हैं कि हम देखते हैं। भगवान दर्शन-ज्ञान-चारित्र को सेवन करते हैं, यह हम देखते हैं। आहाहा! पंच महाव्रतधारी मुनिराज (अमृतचन्द्राचार्यदेव कहते हैं)। आहाहा! पद्मप्रभमलधारिदेव मुनि। आहाहा! बहुत समर्थ हैं, बहुत समर्थ हैं। पद्मप्रभमलधारिदेव तीर्थंकर होंगे, ऐसा आत्मा में से आया है। भविष्य में पद्मप्रभमलधारिदेव तीर्थंकर होंगे। आहाहा! यह अर्थ में निकलता है। ये तो अमृतचन्द्राचार्य हैं। समयसार है न? नियमसार में लिखा है, ऐसे यह लिखा है।

हम तो अन्तर्दृष्टि से देखते हैं। उसकी दृष्टि, उसका ज्ञान और उसकी रमणता कैसी है, उसे हम देखते हैं। एक तो यह बात आयी कि मोक्षमार्ग द्रव्यलिंग की क्रिया नहीं है। दूसरी बात यह आयी कि दूसरा दूसरे के दर्शन-ज्ञान-चारित्र को देख सकता है। आहाहा! समझ में आया? है या नहीं? देखो!

अरहन्तदेवों के, शुद्धज्ञानमयता होने से द्रव्यलिंग के आश्रयभूत शरीर के ममत्व का त्याग होता है इसलिए, शरीराश्रित द्रव्यलिंग के त्याग से दर्शनज्ञानचारित्र की मोक्षमार्गरूप से... दर्शन-ज्ञान-चारित्र की (प्रवृत्ति), दूसरी कोई नहीं। **मोक्षमार्गरूप से उपासना देखी जाती है...** आहाहा! आत्मा क्या करे? सामनेवाले को भी जान ले कि यह ऐसा जीव है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? सामने जीव में अरूपी दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, यह भी निर्णय कर ले। आहाहा!

अवग्रह में पाठ है। मति (ज्ञान के भेद में) अवग्रह है न? अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, वहाँ पाठ है। यह तीर्थंकर है, तीर्थंकर नहीं परन्तु दूसरा कोई भी यह जीव है, वह भव्य, अभव्य है, (उसे जान ले)। ऐसा आया है। यह भव्य है या अभव्य है? विचार करते-करते उसे (ज्ञात हो कि) उसके पास दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, इसलिए वह भव्य है। ऐसा पाठ है। आहाहा! भव्य-अभव्य का अवग्रह में आता है न? सर्वार्थसिद्धि आदि में तो अवग्रह अर्थात् यह काठियावाड़ी है, ऐसा आया है। अवग्रह, ईहा, विचारणा और ऐसा। तथा यहाँ तो षट्खण्डागम में आया है। आहाहा!

यह कौन है ? ऐसा विचार करते-करते (ज्ञात हो कि) यह भव्य है। क्यों ? कि इसके दर्शन-ज्ञान-चारित्र क्या है, वह हमारे ख्याल में आता है। आहाहा! बहुत अन्तर, बात-बात में अन्तर। सामने जीव के दर्शन-ज्ञान-चारित्र ख्याल में आ गये। यह तो अभी तो अभी यह कहते हैं कि अपनी खबर पड़ती नहीं, ऐसा कहते हैं। निश्चय समकित स्वयं को खबर नहीं पड़ती, ऐसा अभी तो कहते हैं। निश्चय समकित की खबर नहीं पड़ती। अरे! प्रभु! क्या बोलता है ? ऐसा न बोल। आहाहा!

यहाँ तो सामनेवाले के समकित-ज्ञान और चारित्र की खबर पड़े, ऐसा भगवान कहते हैं। आहाहा! तो अपनी तो क्या बात करना ? आहाहा! स्वयं अपने को बराबर जान सकता है। पर को जान सकता है, भव्य-अभव्य की परीक्षा करने जाता है, वहाँ उसके श्रद्धा-ज्ञान और चारित्र की लाईन देखता है। आहाहा! यह तो समकिती चारित्रवन्त है, यह तो समकिती ज्ञानी है। भव्य तो है ही। आहाहा! बहुत अन्तर, बात-बात में बहुत अन्तर, भाई! मूल वस्तु वीतराग त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव की कथन की शैली कोई अलौकिक है! कहीं है नहीं। दिगम्बर सन्तों के अतिरिक्त यह बात कहीं है नहीं। आहाहा! इन्होंने साक्षात् केवली के समक्ष सुना है। कुन्दकुन्दाचार्य भगवान के पास आठ दिन गये थे। सुनकर, यहाँ आकर यह समयसार शास्त्र रचा है। आहाहा!

मुमुक्षु : सामनेवाले का कोई चिह्न देखता है या अन्तर देखता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्तर... अन्तर उसका भाव देखता है। उसकी लाईन और भाषा आदि देखता है। भाषा आदि से भी देखता है कि अन्दर यह लाईन अलग है। पाठ है। सामनेवाले को बराबर जान सकता है। जब सामनेवाले के दर्शन-ज्ञान-चारित्र को जान सके, वह अपने को नहीं जान सकेगा ? अरे! प्रभु! अपने को निश्चय समकित की खबर नहीं पड़ती, आहाहा! ऐसा नहीं होता।

एक ज्ञानमति आर्यिका है न ? वे तो और यहाँ तक कहती हैं, हम भव्य हैं या अभव्य, काललब्धि पकी है या नहीं पकी, यह भगवान जाने। भव्य-अभव्य का भगवान जाने, ऐसा (कहती है)। अर..र..र..! प्रभु! अभी भव्य-अभव्य का निर्णय नहीं होता ? आहाहा! बात थोड़ी सूक्ष्म हैं परन्तु फर्क—अन्तर बहुत है। बहुत अन्तर है। वे तो यहाँ तक

कहती है कि भव्य हूँ या अभव्य, यह भगवान के ज्ञान में आवे और भगवान जाने वह सही! ऐसा आया था, पत्रिका में आया था। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं कि अपने को सम्यग्दर्शन होवे तो भी सामने को देखकर कह दे। आहाहा!

मुमुक्षु : ऐसे मुनियों को धन्य है कि दूसरे दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पहिचान कर लेते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : ओहोहो! यह तो वीतराग मार्ग में ही है। वीतराग मार्ग ही अनादि का है, अभी यह फेरफार हो गया। अनादि का यह दिगम्बर धर्म है। अनादि का है, कुछ पहला नहीं है। अनादि का इस प्रकार का झुकाव है। भगवान सीमन्धरस्वामी के पास चलता है, वह यह है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि **मोक्षमार्गरूप से उपासना देखी जाती है (अर्थात् वे शरीराश्रित द्रव्यलिंग का त्याग करके दर्शनज्ञानचारित्र को मोक्षमार्ग के रूप में सेवन करते हुए देखे जाते हैं।)** आहाहा! पंच महाव्रतधारी मुनि कहते हैं। यह तो अमृतचन्द्राचार्य (कहते हैं)। अमृतचन्द्राचार्य की टीका हिन्दुस्तान में दिगम्बर में भी अन्यत्र कहीं उनके जैसी टीका नहीं है। ऐसी गम्भीरता भरपूर! समयसार की टीका। वह यह टीका है।

भावार्थ – यदि देहमय द्रव्यलिंग मोक्ष का कारण होता तो अरहन्तदेव आदि... मुनि **देह का ममत्व छोड़कर दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन क्यों करते?** आहाहा! (अभी) तो द्रव्यलिंग भी नहीं और हम बराबर मोक्षमार्ग में हैं, हमको मुनि न माने तो नहीं। ऐसा मानते हैं। क्या करे बेचारे? उसे दुःख लगे। दुःख लगे, पदवी प्रमाण न माना जाए तो, बात सच्ची, आत्मा है। दुःख लगे, किसी को दुःख लगे, ऐसी कहीं भावना होगी? सब भगवान हैं, परमात्मा हैं। भगवान हो जाओ, प्रभु! पामरपना न रहो। पामरपना प्रभु! कलंक है। प्रभु! दूसरे के लिये नहीं परन्तु तेरे लिये है। आहाहा! पामरपना कलंक है। प्रभुतापना वह अन्दर निष्कलंक है।

इसमें प्रभुता नाम का गुण भरा है। आत्मा में एक प्रभुता नाम का गुण है। आहाहा! वह गुण अनन्त गुण में व्याप्त है। क्या कहा? प्रभुता नाम का एक गुण है। ज्ञानगुण में प्रभुता,

दर्शन में प्रभुता, चारित्र में प्रभुता, वीर्य में प्रभुता, अस्तित्व में प्रभुता—ऐसे अनन्त गुण में प्रभुता का रूप भरा है। आहाहा! प्रभु! तू इतना प्रभु है। आहाहा!

अनन्त गुण तो हैं। अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... तीन काल के समय से अनन्तगुणे गुण एक आत्मा में हैं। तीन काल के समय से अनन्तगुणे गुण एक आत्मा में हैं और एक-एक गुण में प्रभुता आदि प्रत्येक में भरी है। आहाहा! अनन्त गुण में प्रभुता भरी है। आहाहा! नजर बदलने से बात बदल जाए, ऐसा है। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं, **देहमय द्रव्यलिंग मोक्ष का कारण होता तो अरहन्तदेव आदि देह का ममत्व छोड़कर दर्शन–ज्ञान–चारित्र का सेवन क्यों करते? द्रव्यलिंग से ही मोक्ष प्राप्त कर लेते! इससे यह निश्चय हुआ कि–देहमय लिंग मोक्षमार्ग नहीं है,...** आहाहा! यह अट्ठाईस मूलगुण और पंच महाव्रत आदि मोक्षमार्ग नहीं है। आहाहा! **परमार्थतः दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप आत्मा ही मोक्ष का मार्ग है।** यह आत्मा नहीं, पंच महाव्रत रागादि आत्मा नहीं। **दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप आत्मा ही मोक्ष का मार्ग है।**

अब यही सिद्ध करते हैं (अर्थात् द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है, दर्शन–ज्ञान–चारित्र ही मोक्षमार्ग है–यह सिद्ध करते हैं)–

गाथा - ४१०

अथैतदेव साधयति ह्न

ण वि एस मोक्खमग्गो पासंडीगिहिमयाणि लिंगाणि।
दंसण-णाण-चरित्ताणि मोक्ख-मग्गं जिणा बेंति।।४१०।।

नाप्येष मोक्षमार्ग: पाषण्डिगृहिमयानि लिङ्गानि।
दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्ष-मार्गं जिना ब्रुवन्ति।।४१०।।

न खलु द्रव्यलिङ्गं मोक्षमार्ग:, शरीराश्रितत्वे सति परद्रव्यत्वात्। दर्शनज्ञानचारित्राण्येव मोक्षमार्ग:, आत्माश्रितत्वे सति स्वद्रव्यत्वात्।।४१०।।

अब यही सिद्ध करते हैं (अर्थात् द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है, दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है-यह सिद्ध करते हैं)-

मुनिलिंग अरु गृहीलिंग-ये नहिं लिंग मुक्तीमार्ग है।
चारित्र-दर्शन-ज्ञान को बस मोक्षमार्ग प्रभू कहे।।४१०।।

गाथार्थ : [पाषंडिगृहिमयानि लिंगानि] मुनियों और गृहस्थ के लिंग (-चिह्न) [एष:] यह [मोक्षमार्ग: न अपि] मोक्षमार्ग नहीं है; [दर्शनज्ञानचारित्राणि] दर्शन-ज्ञान-चारित्र को [जिना:] जिनदेव [मोक्षमार्गं ब्रुवन्ति] मोक्षमार्ग कहते हैं।

टीका : द्रव्यलिंग वास्तव में मोक्षमार्ग नहीं है, क्योंकि वह (द्रव्यलिंग) शरीराश्रित होने से परद्रव्य है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है, क्योंकि वे आत्माश्रित होने से स्वद्रव्य हैं।

भावार्थ : जो मोक्ष है, सो सर्व कर्मों के अभावरूप आत्मपरिणाम (-आत्मा के परिणाम) हैं, इसलिए उसका कारण भी आत्मपरिणाम ही होना चाहिए। दर्शन-ज्ञान-चारित्र आत्मा के परिणाम हैं; इसलिये निश्चय से वही मोक्ष का मार्ग है।

जो लिंग है, सो देहमय है; और जो देह है, वह पुद्गलद्रव्यमय है; इसलिए आत्मा के लिए देह मोक्षमार्ग नहीं है। परमार्थ से अन्य द्रव्य को अन्य द्रव्य कुछ नहीं करता, ऐसा नियम है।

गाथा - ४१० पर प्रवचन

४१० गाथा।

ण वि एस मोक्खमग्गो पासंडीगिहिमयाणि लिंगाणि।
दंसण-णाण-चरित्ताणि मोक्ख-मग्गं जिणा बेंति।।४१०।।

'पासंडी' है, हों! पाखण्डी नहीं। **'पासंडी'** है। **'पासंडी'** का अर्थ मुनि होता है। पाखण्डी नहीं, **'पासंडी'** है। **'पासंडी'** का अर्थ यहाँ मुनि होता है। आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य को भगवान का आश्रय लेना पड़ा कि भगवान ऐसा कहते हैं। परन्तु प्रभु! तुम कहते हो, वह बराबर है। आया न? **'मोक्खमग्गं जिणा बेंति'** जिनेश्वर कहते हैं। आहाहा! स्वयं जानते नहीं? वीतराग ऐसा कहते हैं, भाई! तीन लोक के नाथ केवली परमात्मा ऐसा **'जिणा बेंति'** वीतराग ऐसा कहते हैं... आहाहा! कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है, दूसरा मोक्षमार्ग नहीं, दो मोक्षमार्ग नहीं। आहाहा! मोक्षमार्ग एक ही है। दो तो कथन की प्ररूपणा की शैली से कहा है। मोक्षमार्ग दो नहीं, मोक्षमार्ग एक ही है—स्व-आश्रय।

जितना स्व आश्रय, उतना मोक्षमार्ग। जितना पराश्रय, उतना बन्धमार्ग। चाहे तो तीर्थंकर का आश्रय ले तो भी राग और बन्धन भाव उत्पन्न होगा। आहाहा! समझ में आया? पंच परमेष्ठी का आश्रय ले तो भी वह परद्रव्य है। उनके आश्रय से तो राग ही होगा। अपना स्वआश्रय, भगवान पूर्णानन्द का नाथ... आहाहा! उसके अवलम्बन से, उसके आश्रय से, उसके आधार से मोक्षमार्ग है। भले आधार पर्याय है परन्तु पर्याय का आधार वह है। आहाहा!

मुनिलिंग अरु गृहीलिंग-ये नहिं लिंग मुक्तीमार्ग है।
चारित्र-दर्शन-ज्ञान को बस मोक्षमार्ग प्रभू कहे।।४१०।।

प्रभु कहते हैं। स्वयं कहते हैं परन्तु कहते हैं कि प्रभु कहते हैं, (ऐसा लिखते हैं)।

टीका - द्रव्यलिंग वास्तव में मोक्षमार्ग नहीं है,... वास्तव में तो पंच महाव्रत की क्रिया, अट्ठाईस मूलगुण, वह कोई मोक्षमार्ग नहीं, तथापि आये बिना रहते नहीं। पूर्ण वीतराग न हो, उसे आते हैं। आहाहा! अशुभ से बचने को शुभभाव आते हैं परन्तु वह

मोक्षमार्ग नहीं है। आहाहा! व्यवहार से जाननेयोग्य है। यह कहते हैं। **द्रव्यलिंग वास्तव में मोक्षमार्ग नहीं है,...** वास्तव में अर्थात् यथार्थरूप से **मोक्षमार्ग नहीं है, क्योंकि वह (द्रव्यलिंग) शरीराश्रित होने से परद्रव्य है।** आहाहा! शरीराश्रित होने से परद्रव्य है। आहाहा!

नियमसार... नियमसार... आहाहा! वहाँ तो कहते हैं, अपने से मुक्ति होती है, पर से नहीं। पर के आश्रय से बिल्कुल नहीं होती। अपने आश्रय से (होती) है। आहाहा! अपने आश्रय बिना दर्शन-ज्ञान-चारित्र किंचित् उत्पन्न नहीं होते। आहाहा! क्योंकि उनकी उत्पत्ति का दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उत्पत्ति का धाम (भगवान) है। इन तीन की उत्पत्ति का धाम भगवान है। आहाहा! नियमसार कुन्दकुन्दाचार्य ने स्वयं के लिये बनाया है। वहाँ भी कहा है कि द्रव्यलिंग बिल्कुल (मोक्षमार्ग) नहीं है।

दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है, क्योंकि वे आत्माश्रित होने से स्वद्रव्य हैं। आत्माश्रित होने से स्वद्रव्य है। आहाहा! नियमसार में तो अपनी मोक्षमार्ग की पर्याय को परद्रव्य कहा है। क्या कहा? शरीरादि तो परद्रव्य है ही, रागादि तो परद्रव्य है, परन्तु मोक्षमार्ग—निर्मल पर्याय स्वद्रव्य नहीं है, इसलिए परद्रव्य है, ऐसा कहा है। परद्रव्य है, ऐसा कहा है और उसे हेय, परद्रव्य और पर्यायस्वभाव होने से छोड़नेयोग्य है, (ऐसा कहा है)। आहाहा! ५०वीं गाथा। ५०वीं गाथा।

समकित को परद्रव्य कहा। (उसमें) हेतु है। जैसे परद्रव्य में से अपनी नयी पर्याय नहीं आती, वैसे पर्याय में से नयी पर्याय नहीं आती। पर्याय तो द्रव्य में से आती है। इसलिए उसे परद्रव्य कह दिया। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! यह शरीर तो कहीं रह गया। आहाहा! राग और द्वेष और दया, दान के परिणाम तो कहीं परद्रव्य में रह गये। निर्मल मोक्ष का मार्ग परद्रव्य (कहा)। क्योंकि वह मार्ग प्रगट हुआ है, उसमें से नयी पर्याय नहीं आती। उससे शुद्धि की वृद्धि नहीं होती। शुद्धि की वृद्धि स्व के आश्रय से होती है। आहाहा! इसलिए स्वद्रव्य है, उसके अतिरिक्त सभी पर्याय है, वह सब परद्रव्य है। आहाहा! गजब बात है, भाई! वीतराग की बातें बहुत सूक्ष्म। आहाहा!

शरीर तो परद्रव्य है, पंच महाव्रत रागादि तो परद्रव्य है परन्तु मोक्ष का मार्ग जो

अन्दर आत्मा के आश्रय से पर्याय प्रगट हुई, उस पर्याय को परद्रव्य कह दिया। क्योंकि परद्रव्य में से अपनी निर्मल पर्याय नहीं होती, वैसे अपनी पर्याय में से नयी पर्याय नहीं होती। द्रव्य में से पर्याय होती है। इस कारण से द्रव्य को—स्वद्रव्य को द्रव्य कहा और पर्याय को परद्रव्य कहा। आहाहा! ऐसी कठिन बात है। यहाँ तो अभी दया, दान और व्रत, भक्ति को मोक्षमार्ग (कहते हैं)।

यहाँ तो यह कहते हैं... आहाहा! **आत्माश्रित होने से स्वद्रव्य हैं।** देखो! यहाँ यह कहा कि जितना आत्मा का आश्रय, वह स्वद्रव्य। आहाहा! और जितनी पर्याय है, वह पर्याय व्यवहारनय का विषय है। द्रव्य निश्चय का विषय है। पर्याय—मोक्ष का मार्ग है, वह भी पर्याय है। वह भी व्यवहारनय का विषय है। आहाहा! कठिन बात है, भाई!

यहाँ यह कहते हैं कि **आत्माश्रित होने से स्वद्रव्य हैं।** देखा? उसमें आया न कि **शरीराश्रित होने से परद्रव्य है।** आहाहा! **दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही (निश्चय) मोक्षमार्ग है,** आहाहा! कोई कहता है, एकान्त तो नहीं होना चाहिए, कथंचित् होना चाहिए। कथंचित् निश्चयमोक्षमार्ग और कथंचित् व्यवहारमोक्षमार्ग। यहाँ ऐसा नहीं है। यह फुदड़ीवाद हुआ। अनेकान्त तो यह है कि निश्चय से मोक्षमार्ग है, व्यवहार से मोक्षमार्ग नहीं, इसका नाम अनेकान्त है। भारी कठिन काम, बापू! आहाहा!

यहाँ मोक्षमार्ग क्यों कहा? कि आत्माश्रित होने से। आहाहा! और उसे स्वद्रव्य कहा, भाई! किसे? दर्शन-ज्ञान-चारित्र को। दर्शन-ज्ञान-चारित्र आत्माश्रित होने से स्वद्रव्य है। यहाँ स्वद्रव्य कहा, नियमसार में परद्रव्य कहा। आहाहा! अनेकान्त की वाणी वीतराग की है। तीन लोक के नाथ... आहाहा! यहाँ क्या कहा? **क्योंकि वे आत्माश्रित होने से स्वद्रव्य हैं।** कौन स्वद्रव्य है? दर्शन, ज्ञान और चारित्र। निश्चय सम्यग्दर्शन, (ज्ञान) और चारित्र आत्माश्रित होने से स्वद्रव्य है। और वह (द्रव्यलिंग) शरीराश्रित होने से परद्रव्य है। आहाहा!

मुमुक्षु : नियमसार में इसे ही परद्रव्य कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : परद्रव्य कहा है, इसे परद्रव्य कहा है। यही कहा न, ५०वीं गाथा। क्षायिक समकित परद्रव्य है, क्योंकि उसमें से नयी पर्याय नहीं आती। नयी पर्याय (जिसमें से) आवे, वह हमारा द्रव्य है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय को स्वद्रव्य कहा है। आहाहा! पाठ है न, टीका है न! आहाहा! **'आत्माश्रितत्वे सति स्वद्रव्यत्वात्'** ऊपर संस्कृत में है। किस अपेक्षा से? मात्र स्वद्रव्य का आश्रय है, इस अपेक्षा से पर्याय को भी स्वद्रव्य कहा है। परद्रव्य का आश्रय है, उसमें भले राग हो तो भी उसे परद्रव्य कहा, पुद्गल कहा, पुद्गल! दया, दान के परिणाम पुद्गल! पहले परिणाम कहे, पहले पुद्गल के परिणाम कहे। पश्चात् कहा कि पुद्गल ही है। समयसार में पाठ है। आहाहा! पंच महाव्रत पुद्गल है। अर र र! भगवान अन्दर चिदानन्द निर्मलानन्द राग से पृथक् विराजता है। उसके आश्रय से जो दशा हो, वह उसकी है अथवा स्वद्रव्य है। आहाहा! यहाँ तो ऐसा कहा, **आत्माश्रित होने से स्वद्रव्य हैं।**

भावार्थ – जो मोक्ष है, सो सर्व कर्मों के अभावरूप आत्मपरिणाम (आत्मा के परिणाम) हैं,... देखो! यहाँ मोक्षमार्ग को आत्मा के परिणाम कहा है। **इसलिए उसका कारण भी आत्मपरिणाम ही होना चाहिए।** क्या कहते हैं? मोक्ष है, वह कर्म से रहित आत्मा के परिणाम हैं। मोक्ष है, वह आत्मा के परिणाम हैं तो उसका कारण भी आत्मा के परिणाम होना चाहिए। आहाहा! कारण सदृश कार्य। तो जो निर्मल मोक्ष अपने परिणाम हैं, तो अपने निर्मल परिणाम ही मोक्ष का मार्ग है। रागादि मोक्ष का मार्ग नहीं है। आहाहा! **आत्मपरिणाम ही होना चाहिए।**

जो मोक्ष है, सो सर्व कर्मों के अभावरूप आत्मपरिणाम (–आत्मा के परिणाम) हैं, इसलिए उसका कारण भी आत्मपरिणाम ही होना चाहिए। क्या कहा, समझ में आया? मोक्ष है, वह आत्मा का परिणाम है तो उसका कारण भी आत्मा के परिणाम होना चाहिए। रागादि आत्मा के परिणाम नहीं है। आहाहा! पुण्य-पाप अधिकार में आया था। आत्मा मुक्तस्वरूप है तो मुक्तस्वरूप के परिणाम प्रगट होते हैं और राग तो बन्ध है, उसमें से बन्ध का कारण उत्पन्न होता है। आता है न? भाई! पुण्य-पाप अधिकार में आता है। खबर है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, **मोक्ष है, सो सर्व कर्मों के अभावरूप आत्मपरिणाम...** सिद्ध को भी आत्मपरिणाम, तो उसका कारण भी आत्मपरिणाम होना चाहिए। उसका कारण

रागादि नहीं है। रागादि बन्ध का कारण है। आहाहा! दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा सब बन्ध का कारण है। आहाहा!

मुमुक्षु : एक जाति है, मोक्ष के परिणाम और आत्मा (एक जाति है)।

पूज्य गुरुदेवश्री : जाति उसकी है। मोक्ष के परिणाम निर्मल हैं और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र निर्मल है। भले कम है परन्तु जाति उसकी एक जाति है। आहाहा! ऐसी बात कठिन पड़े। मार्ग तो यह है, प्रभु! प्रभु ने कहा हुआ है और प्रभु भगवानरूप से तो बुलाते हैं। ७२ गाथा में अमृतचन्द्राचार्य... भगवान आत्मा, ऐसा कहकर बुलाते हैं। ७२ गाथा में तीन बार आता है। पुण्य और पाप अशुचि और मैल है; भगवान आत्मा निर्मलानन्द है, ऐसा अन्दर कहा है। आहाहा! अरे! प्रभु! तुझे भगवानरूप से बुलाया। आहाहा! भगवान आत्मा! ७२ (गाथा) में पाठ है। शुभ और अशुभभाव अशुचि और मैल है; भगवान आत्मा निर्मलानन्द, ज्ञानानन्द है। आहाहा!

शुभाशुभ परिणाम अजीव है, जड़ है; भगवान आत्मा चैतन्य है। दूसरे बोल में ऐसा कहा है। तीसरे बोल में ऐसा कहा कि पुण्य-पाप भाव दुःखरूप है; आत्मा सुख का कारण है। आहाहा! तीन बोल लिये हैं। वहाँ भगवान आत्मा सुख का कारण लिया है। आहाहा!

मुमुक्षु : यह बात सत्य या इसमें कुछ अपेक्षा है?

पूज्य गुरुदेवश्री : सत्य है। अपेक्षा... भगवान आत्मा! आहाहा! अपने आत्मा के आश्रय से उत्पन्न हुआ, उसे अपनी चीज़ कहते हैं। पर के आश्रय से उत्पन्न हुआ, उसे पर कहते हैं। विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा - ४११

तम्हा जहित्तु लिंगे सागार-णगारएहिं वा गहिदे।
दंसण-णाण-चरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्ख-पहे।।४११।।

तस्मात् जहित्वा लिङ्गानि सागारैरनगारकैर्वा गृहीतानि।
दर्शन-ज्ञान-चारित्रे आत्मानं युङ्क्ष्व मोक्षपथे।।४११।।

यतो द्रव्यलिङ्गं न मोक्षमार्गः, ततः समस्तमपि द्रव्यलिङ्गं त्यक्त्वा दर्शनज्ञान-चारित्रेष्वेव, मोक्षमार्गत्वात्, आत्मा योक्तव्य इति सूत्रानुमतिः।।४११।।

जब कि ऐसा है (अर्थात् यदि द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है और दर्शनज्ञानचारित्र ही मोक्षमार्ग है) तो इस प्रकार (निम्नप्रकार) से करना चाहिए-यह उपदेश है:-

यों छोड़कर सागार या अनगार-धारित लिंग को।
चारित्र-दर्शन-ज्ञान में तू जोड़ रे! निज आत्म को।।४११।।

गाथार्थ : [तस्मात्] इसलिए [सागारैः] सागारों द्वारा (-गृहस्थों द्वारा) [अनगारकैः वा] अथवा अणगारों के द्वारा (मुनियों के द्वारा) [गृहीतानि] ग्रहण किये गये [लिंगानि] लिंगों को [जहित्वा] छोड़कर, [दर्शनज्ञानचारित्रै] दर्शन-ज्ञान-चारित्र में- [मोक्षपथे] जो कि मोक्षमार्ग है उसमें-[आत्मानं युंक्ष्व] तू आत्मा को लगा।

टीका : क्योंकि द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है, इसलिए समस्त द्रव्यलिंग का त्याग करके दर्शन-ज्ञान-चारित्र में ही, वह (दर्शन-ज्ञान-चारित्र) मोक्षमार्ग होने से, आत्मा को लगाना योग्य है-ऐसी सूत्र की अनुमति है।

भावार्थ : यहाँ द्रव्यलिंग को छोड़कर आत्मा को दर्शन-ज्ञान-चारित्र में लगाने का वचन है, वह सामान्य परमार्थ वचन है। कोई यह समझेगा कि यह मुनि-श्रावक के व्रतों को छुड़ाने का उपदेश है। परन्तु ऐसा नहीं है। जो मात्र द्रव्यलिंग को ही मोक्षमार्ग जानकर वेश धारण करते हैं, उन्हें द्रव्यलिंग का पक्ष छुड़ाने का उपदेश दिया है कि-भेखमात्र से (वेशमात्र से, बाह्यव्रतमात्र से) मोक्ष नहीं होता। परमार्थ मोक्षमार्ग तो आत्मा के परिणाम जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं, वही हैं। व्यवहार आचारसूत्र के कथनानुसार जो

मुनि-श्रावक के बाह्य व्रत हैं, वे व्यवहार से निश्चयमोक्षमार्ग के साधक हैं; उन व्रतों को यहाँ नहीं छुड़ाया है, किन्तु यह कहा है कि उन व्रतों का भी ममत्व छोड़कर परमार्थ मोक्षमार्ग में लगने से मोक्ष होता है, केवल वेशमात्र में-व्रत मात्र से मोक्ष नहीं होता।

प्रवचन नं. ४५३, गाथा-४११-४१२, श्लोक - २३९ बुधवार, अषाढ़ कृष्ण ११
दिनांक - ०६-०८-१९८०

समयसार, ४११ गाथा। ऊपर दो लाईनें हैं। है न? **जब कि ऐसा है (अर्थात् यदि द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है...)** यदि बाह्य नग्नपना या पंच महाव्रत के परिणाम, वे कोई मोक्षमार्ग नहीं। आहाहा! वह तो सब जड़ की क्रिया है। आहाहा! **(अर्थात् यदि द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है और दर्शनज्ञानचारित्र ही...)** दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही। एकान्त कर डाला। कितने ही कहते हैं न? निश्चय से भी है और व्यवहार से भी है, यह अनेकान्त है। यहाँ अनेकान्त ऐसा किया कि निश्चय से है और व्यवहार से नहीं, इसका नाम अनेकान्त है। 'ही' कहा है। **(दर्शनज्ञानचारित्र ही मोक्षमार्ग है) तो इस प्रकार (निम्नप्रकार) से करना चाहिए-यह उपदेश है:-** ४११।

तम्हा जहित्तु लिंगे सागार-णगारएहिं वा गहिदे।
दंसण-णाण-चरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्ख-पहे।।४११।।

यों छोड़कर सागार या अनगार-धारित लिंग को।
चारित्र-दर्शन-ज्ञान में तू जोड़ रे! निज आत्म को।।४११।।

टीका - 'यतो द्रव्यलिङ्गं न मोक्षमार्गः' क्योंकि द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है,... द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग है नहीं। है न टीका? **इसलिए समस्त द्रव्यलिंग का त्याग करके...** आहाहा! विकल्प का त्याग करके। नग्नपना आदि वह तो कोई मुनिपना नहीं। पंच महाव्रत के विकल्प, अट्ठाईस मूलगुण के विकल्प, वह भी साधुपना है नहीं। वह तो अभव्य ने भी अनन्त बार किया है। कहते हैं कि **द्रव्यलिंग का त्याग करके...** आहाहा! यह भी व्यवहार से कहते हैं। अपना स्वरूप दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय हो, अपना आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसमें दर्शन-ज्ञान-चारित्र में लीन हो, तो व्यवहाररत्नत्रय जो द्रव्यलिंग

है, वह उत्पन्न नहीं होता। जितना यहाँ स्थिर होता है, उतना वह उत्पन्न नहीं होता, उसे यहाँ 'छोड़कर' ऐसा कहा गया है। छोड़ना है, ऐसा लक्ष्य करना, यह बात भी नहीं है। आहाहा!

द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है, इसलिए समस्त द्रव्यलिंग का त्याग करके... आहाहा! 'समस्त' शब्द पड़ा है। समस्त द्रव्यलिंग। बाह्यक्रिया और अन्तरक्रिया राग की, सबको छोड़कर। आहाहा! **दर्शन-ज्ञान-चारित्र में ही,...** 'ही' निश्चय कहा। अपना स्वरूप शुद्ध चैतन्यबिम्ब है, परमानन्दस्वरूप है, उसका अनुभव करके प्रतीति करना और उसका ज्ञान करना तथा उसमें लीन रहना, वह दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। आहाहा! यह मार्ग। यह मोक्ष का मार्ग। ४११ गाथा की टीका चलती है। ४१२ गाथा के नीचे (पहले)। आहाहा!...

(दर्शन-ज्ञान-चारित्र) मोक्षमार्ग होने से, आत्मा को लगाना योग्य है... दर्शन-ज्ञान-चारित्र, मोक्ष के जो निर्मल परिणाम हैं तो (उनकी प्राप्ति के) परिणाम भी आत्मा के निर्मल परिणाम होना चाहिए। जैसा कार्यपरमात्मा हुए, उसके कारणरूप जो परिणाम हैं, वे भी उनके जैसा होना चाहिए। अर्थात् शुद्ध परिणाम हो, उसे मोक्षमार्ग कहा जाता है। महाव्रत आदि, लिंग आदि साधुपना नहीं है, वह तो बन्ध का कारण है। कठिन बात है, प्रभु! आहाहा!

लगाना योग्य है... उनका लक्ष्य छोड़कर। नग्नपना, अट्ठाईस मूलगुण और पंच महाव्रत का लक्ष्य छोड़कर अपना स्वरूप चिदानन्द है, वहाँ दृष्टि लगाना और स्थिर होना, वह मोक्ष का मार्ग है। आहाहा! और वह मोक्षमार्ग एक ही है, दो मोक्षमार्ग नहीं हैं। व्यवहारमोक्षमार्ग तो कहने में कथनमात्र है। निश्चयमोक्षमार्ग एक ही मोक्षमार्ग है। यह अभी आयेगा। एक कलश है। २४० कलश में आयेगा। आहाहा!

आत्मा को लगाना योग्य है-ऐसी सूत्र की अनुमति है। दिव्यध्वनि—वीतराग दिव्यध्वनि की सूचना यह है। तीन लोक के नाथ सर्वज्ञदेव जिनेश्वरदेव परमात्मा की इस दिव्यध्वनि में यह फरमान है, प्रभु! यदि तुझे मुक्ति चाहिए हो तो इस द्रव्यलिंग को लक्ष्य में से छोड़ दे। अन्दर भावलिंग जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र निर्विकल्प है, निर्विकल्प सम्यग्दर्शन, निर्विकल्प ज्ञान और निर्विकल्प चारित्र, जो स्वद्रव्य के आश्रय से होता है, वहाँ लगाना चाहिए, उपयोग को वहाँ लगाना चाहिए। आहाहा!

अन्तिम गाथायें हैं न? अन्तिम आहार का त्याग कहा, पश्चात् यह कहा। पहले आहार कहा, मुनि को आहार होता नहीं। क्योंकि आहार जड़-मिट्टी है। उसे मैं लूँ या छोड़ूँ यह बात मुनि को नहीं होती। कठिन बात, प्रभु! आहार, वह जड़ अजीवतत्त्व है। अजीवतत्त्व को लेना और छोड़ना, यह आत्मा के अधिकार में नहीं है। आहाहा! तब क्या भूखे रहना? कौन भूखा रहता है? भाई! ये आहार के रजकण आनेवाले थे, वे आये; रहनेवाले रहे, उसमें आत्मा कुछ कर नहीं सकता। आहार लेने-देने में आत्मा कर्ता-वर्ता किंचित् बिल्कुल नहीं है। आहाहा! यह लिया, पश्चात् यह मार्ग लिया। यदि तू बाह्य में व्यवहारमोक्षमार्ग मानता हो तो वह व्यवहारमोक्षमार्ग (वास्तविक) मोक्षमार्ग नहीं है। आहाहा!

भावार्थ – यहाँ द्रव्यलिंग को छोड़कर आत्मा को दर्शन-ज्ञान-चारित्र में लगाने का वचन है, वह सामान्य परमार्थ वचन है। कोई यह समझेगा कि यह मुनि-श्रावक के व्रतों को छुड़ाने का उपदेश है। व्रत का शुभभाव है परन्तु वह छूटता नहीं। जब तक वीतराग न हो, तब तक व्रत के परिणाम होते हैं। दृष्टि में से छोड़नेयोग्य है, परन्तु अस्थिरता में से छूटते नहीं। जब तक वीतराग न हो, तब तक वे भाव आते हैं।

यहाँ यह कहते हैं कि **व्रतों को छुड़ाने का उपदेश है। परन्तु ऐसा नहीं है। जो मात्र द्रव्यलिंग को ही मोक्षमार्ग जानकर...** उन्हें मोक्षमार्ग मानता है, उसे छोड़ना। व्रतादि को मोक्षमार्ग मानना, यह (मान्यता) छोड़ना। विकल्प नहीं छूटते। पंच महाव्रत आदि विकल्प तो रहते हैं। निश्चयमोक्षमार्ग तो आत्मा का अनुभव, अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद है। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप भगवान पूर्णानन्द आनन्द से भरपूर है, ऐसे अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आना... आहाहा! इसका नाम सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है।

स्वाद... स्वाद। राग का स्वाद अनादि का है, पुण्य और पाप दोनों राग का स्वाद तो अनादि का है। सभी प्राणी अभी तक सम्यग्दर्शन प्राप्त करने से पहले अकेले राग और द्वेष का, दुःख का स्वाद लेते हैं। प्रभु! अब यदि तूने द्रव्यलिंग धारण किया हो, ग्रहण किया हो तो उसकी ओर से लक्ष्य छोड़ दे। वह मोक्षमार्ग है, ऐसा लक्ष्य छोड़ दे। आहाहा! क्योंकि राग आकुलता है। आयेगा, निश्चय जो आत्मा का मोक्षमार्ग है, वहाँ व्यवहार

आयेगा, परन्तु वह व्यवहार आकुलता और दु:खमय है। आहाहा! पंच महाव्रत दु:खमय है, आकुलता है। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो' पंच महाव्रत अनन्त बार लिये, नग्नपना अनन्त बार लिया। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो, पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।' उसमें सुख नहीं, पंच महाव्रत के परिणाम में सुख नहीं। वह पंच महाव्रत के परिणाम आस्रव, राग और दु:ख है। आहाहा! गजब बात! लोगों को जँचना कठिन (पड़ता है)। आहाहा!

यहाँ तो यह कहते हैं, दर्शन-ज्ञान-चारित्र में लगाना अर्थात् आत्मा का आनन्द स्वरूप, अतीन्द्रिय आनन्दमूर्ति प्रभु में दृष्टि लगाना और स्वाद लेना। उस अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद को लेने में रहना, वह मोक्षमार्ग है। इतना राग आता है, इतना व्रतादि का राग आयेगा परन्तु वह मोक्षमार्ग नहीं है। तथा छोड़ने जाए तो छूटेगा नहीं। नीचे की दशा में व्रत के परिणाम (होते हैं वे) ऊपर जाने पर छूट जाते हैं। नीचे तो रहेंगे।

द्रव्यलिंग को छोड़कर आत्मा को दर्शन-ज्ञान-चारित्र में लगाने का वचन है, वह सामान्य परमार्थ वचन है। कोई यह समझेगा कि यह मुनि-श्रावक के व्रतों को छुड़ाने का उपदेश है। परन्तु ऐसा नहीं है। वे परिणाम तो आयेंगे, निश्चयसहित, हों! निश्चय हो, इसे यह व्यवहार होता है। जिसे आत्मा के आनन्द का स्वाद नहीं है, उसके व्रत के परिणाम तो व्यवहार से भी व्रत नहीं है। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द (स्वरूप) प्रभु का जिसे स्वाद नहीं आया, उसके तो व्यवहार व्रत भी व्रत नहीं। निश्चय व्रती को आत्मा का आनन्द आया, अनुभव में अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया, वह निश्चय है। उसके व्रत के विकल्प को व्यवहार कहा जाता है। आहाहा! भारी कठिन!

परन्तु ऐसा नहीं है। जो मात्र द्रव्यलिंग को ही मोक्षमार्ग जानकर वेश धारण करते हैं,... अकेला वेश नग्नपना और पंच महाव्रत लेकर वेश धारण करते हैं... है? **द्रव्यलिंग को ही मोक्षमार्ग जानकर वेश धारण करते हैं, उन्हें द्रव्यलिंग का...** आहाहा! **पक्ष छुड़ाने का उपदेश दिया है...** द्रव्यलिंग का जो विकल्प है, वह बन्ध का कारण है। उसका पक्ष छोड़ दे, प्रभु! अन्दर आत्मा आनन्दमूर्ति है, निर्विकल्प—विकल्परहित चीज़ अन्दर स्थित है, उसका स्वाद ले। अनन्त काल हुआ, अनन्त बार दिगम्बर साधु

हुआ, नग्नपना अनन्त बार धारण किया, पंच महाव्रत अनन्त बार धारण किये परन्तु उनका स्वाद था वह राग का स्वाद था, आकुलता का—दु:ख का स्वाद था। यह स्वाद वह आत्मा के आनन्द का स्वाद है। आहाहा!

स्वाद क्या होगा? यह मैसूर का स्वाद, दूधपाक का स्वाद जीव नहीं लेता। तीन काल में दूधपाक, मैसूर या रसगुल्ला और लापसी का स्वाद आत्मा कभी नहीं लेता। अज्ञानी भी उसे स्पर्श नहीं करता न। परवस्तु को स्पर्श नहीं करता। मात्र परवस्तु देखकर 'यह मुझे ठीक है', ऐसा विकल्प करता है, वह राग का वेदन करता है और प्रतिकूल संयोग हो तो यह मुझे ठीक नहीं, इस द्वेष का वेदन करता है। संयोग का वेदन नहीं होता। संयोग का वेदन तो किसी को होता ही नहीं। आहाहा! क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को कभी स्पर्श नहीं करता। आहाहा! एक द्रव्य, एक परमाणु या एक आत्मा दूसरे द्रव्य को कभी छूता नहीं, चूमता नहीं। यह तीसरी गाथा में आ गया है। एक द्रव्य अपने धर्म को चूमता है, छूता है, परन्तु परद्रव्य को कभी स्पर्श नहीं करता। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, शरीर के लिंग को तो स्पर्श नहीं करता परन्तु व्रतादि के परिणाम हैं, उनका पक्ष छोड़ दे। वह दु:ख का कारण दु:ख है, वह बन्ध का कारण है। व्रत के परिणाम, निश्चय आनन्द का स्वाद आवे, तब होते हैं परन्तु वह बन्ध का कारण है, उसका पक्ष छोड़ दे। आहाहा! ऐसा कठिन मार्ग है।

परचीज़ का स्वाद तो आता नहीं। परचीज़ को आत्मा कभी स्पर्श नहीं करता। पण्डितजी! स्पर्श नहीं करता। इस वस्त्र को आत्मा छूता नहीं, शरीर को आत्मा छूता नहीं। आत्मा शरीर को स्पर्श नहीं करता। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! तो शरीर को स्पर्श कहाँ से करे? उसे तो—द्रव्यलिंग को तो हेय ही जानना परन्तु अन्दर पंच महाव्रत के परिणाम आते हैं, उन्हें हेय जानना। आहाहा!

अन्तिम गाथायें हैं न? इसलिए आहार का लिया। मुनि आहार नहीं लेते। आहार परवस्तु है। परवस्तु का ग्रहण करना-छोड़ना आत्मा में तीन काल में नहीं है। परवस्तु के ग्रहण और त्याग आत्मा में नहीं है। बहुत तो राग का, कषाय का ग्रहण और उसका व्यवहार से त्याग है। निश्चय से ग्रहण और व्यवहार से त्याग। आहाहा! किसका (त्याग)? राग

का। शुभ-अशुभ राग होता है, वह निश्चय से अपनी पर्याय में है और छोड़ना, वह उसमें नहीं। अपने में लीन होकर रहता है तो वह छूट जाता है। छोड़ना नहीं पड़ता। आहाहा! पर का ग्रहण करना, वह तो आत्मा में है ही नहीं। शरीर को ग्रहण करना, छोड़ना, लड्डू, अनाज को ग्रहण करके अनाज छोड़ना, वह तो आत्मा में तीन काल में कभी नहीं है। यह अज्ञानी माने कि मैंने इतना लिया और मैंने इतना दिया। क्या कहा, समझ में आया?

उन्हें द्रव्यलिंग का पक्ष छुड़ाने का उपदेश दिया है... द्रव्यलिंग व्रतादि धर्म है, मोक्ष का मार्ग है, यह (मान्यता) छुड़ाने के लिये उपदेश किया है। वह वस्तु नहीं छूटती। **वेशमात्र से (वेशमात्र से, बाह्यव्रतमात्र से) मोक्ष नहीं होता।** वेश, नग्नपना और पंच महाव्रत के परिणाम मोक्षमार्ग नहीं है। उनसे धर्म नहीं होता। आहाहा! कठिन बात है।

परमार्थ मोक्षमार्ग तो आत्मा के परिणाम... आहाहा! व्रतादि के परिणाम, वे आत्मा के नहीं हैं; वे तो अनात्मा है, जड़ है। व्रतादि के शुभपरिणाम जड़ है क्योंकि उनमें जानने की शक्ति नहीं है। वे स्वयं को नहीं जानते, चेतन को नहीं जानते। चेतन द्वारा जाननेयोग्य है। जाननेयोग्य है, करनेयोग्य और लाभदायक वे नहीं हैं। आहाहा! **मोक्षमार्ग तो आत्मा के परिणाम जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं, वही हैं।**

व्यवहार आचारसूत्र के कथनानुसार जो मुनि-श्रावक के बाह्य व्रत हैं, वे व्यवहार से निश्चयमोक्षमार्ग के साधक हैं;... व्यवहार से साधक कहे जाते हैं। व्यवहार से, हों! यदि निश्चय हो तो उन्हें व्यवहार से साधक कहा जाता है। अकेले व्यवहार से निश्चय होता है, ऐसा तीन काल में कभी नहीं है। ऐसा व्यवहार तो अनन्त बार किया। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो।' यह तो जिसने निश्चय से अन्तर में राग से भिन्न अपने स्वरूप का अनुभव किया है, आनन्द का स्वाद आया है, उसे जो राग आया है, उस राग को साधक का आरोप कहा जाता है। आहाहा! अर्थ करने में बड़ी भूल है।

उन व्रतों को यहाँ नहीं छुड़ाया है,... व्रत के परिणाम छुड़ाये नहीं। **किन्तु यह कहा है कि उन व्रतों का भी ममत्व छोड़कर...** व्रतादि का ममत्व छोड़ दे। वह मेरी चीज़ है और मुझे लाभदायक है, ऐसा भाव छोड़ दे। आहाहा! **परमार्थ मोक्षमार्ग में लगने**

से मोक्ष होता है,... अन्तर निश्चय स्वभाव की दृष्टि, ज्ञान और रमणता से मोक्ष होता है। व्यवहारमोक्षमार्ग से मोक्ष नहीं होता। आहाहा!

केवल वेशमात्र में–व्रत मात्र से मोक्ष नहीं होता। अकेला वेश ले और व्रत पालन करे, उससे धर्म नहीं होता, उससे धर्म नहीं होता। धर्म नहीं होता तो मोक्ष भी नहीं होता। आहाहा! **अब इसी अर्थ को दृढ़ करनेवाली आगामी गाथा का सूचक श्लोक कहते हैं–**

कलश - २३९

अब इसी अर्थ को दृढ़ करनेवाली आगामी गाथा का सूचक श्लोक कहते हैं–

(अनुष्टुप्)

दर्शन–ज्ञान–चारित्र–त्रयात्मा तत्त्व–मात्मनः।
एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा।।२३९।।

श्लोकार्थ : [आत्मनः तत्त्वम् दर्शन–ज्ञान–चारित्र–त्रय–आत्मा] आत्मा का तत्त्व दर्शन–ज्ञान–चारित्रत्रयात्मक है (अर्थात् आत्मा का यथार्थरूप दर्शन, ज्ञान और चारित्र के त्रिकस्वरूप है); [मुमुक्षुणा मोक्षमार्गः एकः एव सदा सेव्यः] इसलिए मोक्ष के इच्छुक पुरुष को (यह दर्शन–ज्ञान–चारित्रस्वरूप) मोक्षमार्ग एक ही सदा सेवन करने योग्य है।।२३९।।

कलश-२३९ पर प्रवचन

दर्शन–ज्ञान–चारित्र–त्रयात्मा तत्त्व–मात्मनः।
एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा।।२३९।।

'आत्मनः तत्त्वम्' आत्मा का तत्त्व तो दर्शन–ज्ञान–चारित्र, आत्मा का अनुभव, आनन्द का अनुभव, वह आत्मा का तत्त्व है। राग, वह आत्मा का तत्त्व नहीं, व्रतादि

परिणाम वह आत्मा का तत्त्व नहीं। आहाहा! **आत्मा का तत्त्व दर्शन-ज्ञान-चारित्रत्रयात्मक है...** सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह आत्मा का तत्त्व है, वह आत्मा की पर्याय है। निर्मल पर्याय, वह आत्मा की पर्याय है; मलिन पर्याय, वह आत्मा की पर्याय नहीं, वह छूट जाती है। आहाहा! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव भी बन्ध का कारण है। वह राग भी हेय है। आहाहा! पर है, वह तो राग है। जिससे प्रकृति बन्ध पड़े, वह राग से पड़े; अराग से बन्ध नहीं पड़ता। तीर्थंकरप्रकृति से बन्ध पड़े, वह शुभराग से पड़ता है। वह भी हेय है। शुभराग भी समकिती को हेय है। आहाहा! कठिन काम, बापू! दुनिया में अभी चला है कुछ और मार्ग कहीं रह गया, मार्ग कहीं रह गया। आहाहा! तीन लोक के नाथ सीमन्धरस्वामी भगवान विराजते हैं, उनकी यह सब वाणी है। यह वहाँ से आयी है।

आत्मा का तत्त्व दर्शन-ज्ञान-चारित्रत्रयात्मक है... आत्मा आनन्दस्वरूप, अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है। उस अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप के स्वाद की प्रतीति होना, वह सम्यग्दर्शन है। उस अतीन्द्रिय स्वाद का ज्ञान हो, वह सम्यग्ज्ञान है। उस अतीन्द्रिय स्वाद में स्थिरता हो, वह चारित्र है। आहाहा! अभी आत्मा की खबर नहीं और... आत्मा आनन्द है। अतीन्द्रिय आनन्द सर्वांग (भरा है)। सर्वांग असंख्य प्रदेश में अतीन्द्रिय आनन्द भरा है। भरपूर अतीन्द्रिय आनन्द है। उस अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद की प्रतीति, उस स्वाद का ज्ञान और उस स्वाद में लीन होना, यह दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। आहाहा! कहा न?

आत्मा का तत्त्व दर्शन-ज्ञान-चारित्रत्रयात्मक है (अर्थात् आत्मा का यथार्थरूप दर्शन, ज्ञान और चारित्र के त्रिकस्वरूप है);... तीन स्वरूप है। **इसलिए मोक्ष के इच्छुक पुरुष को...** यह शर्त। **मोक्ष के इच्छुक पुरुष को...** यह शर्त। उसकी जवाबदारी में, मोक्ष के इच्छुक पुरुष की जवाबदारी में अन्तर आत्मा के आनन्द का स्वाद लेना और आनन्द के दर्शन-ज्ञान-चारित्र होना, यह उसकी शर्त। मात्र बाहर से और अन्दर का क्रियाकाण्ड करना, वह कोई धर्म नहीं है। आहाहा! गजब बात है। पंच महाव्रत और बारह व्रत, वह कोई धर्म नहीं है, शुभराग है, बन्ध का कारण है। ये तो आत्मा के (परिणाम हैं)।

इसलिए मोक्ष के इच्छुक पुरुष को (यह दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप) मोक्षमार्ग

एक ही सदा सेवन करने योग्य है। आहाहा! कथंचित्, ऐसा नहीं। कथंचित् निश्चय और कथंचित् व्यवहार, ऐसा भगवान का मार्ग नहीं। यहाँ तो अकेले निश्चय दर्शन-ज्ञान-चारित्र, स्वआत्मा का आश्रय (लेने की बात है)। पंच महाव्रत के परिणाम परद्रव्य के आश्रय से होते हैं। यह मोक्षमार्ग स्वद्रव्य के आश्रय से होता है। स्वद्रव्य के आश्रय से (जितने परिणाम) हों, उतना मोक्षमार्ग; जितना परद्रव्य का आश्रय—तीर्थंकगोत्र बँधे, वह राग भी परद्रव्याश्रित है। आहाहा! वह छोड़नेयोग्य है।

यहाँ तो वहाँ तक कहा कि शुभभाव हुआ, तीर्थंकरगोत्र बँधा, परन्तु वह विषवृक्ष है, ऐसा कहा। समयसार। १४८ प्रकृति जहर का वृक्ष है। झाड़... झाड़ समझे? झाड़ को हिन्दी में क्या कहते हैं? वृक्ष। जहर का वृक्ष है। भगवान अमृत का वृक्ष है। प्रभु और भगवान आत्मा अतीन्द्रिय, वह अमृत का वृक्ष है। उसमें से अमृत... अमृत झरता है। और पुण्य और पाप के भाव, बन्ध का कारण है और जो बन्ध हुआ, वह जहर का वृक्ष है। प्रकृति बँधी, वह जहर का वृक्ष है। कठिन काम है। तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध पड़ा, वह जहर का वृक्ष है। १४८ प्रकृति को जहर का वृक्ष कहा है। प्रभु! कठिन काम है, बापू! आहाहा! जैनमार्ग तीन लोक के नाथ का मार्ग भारी कठिन। एक तो जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधता है, वह भाव धर्म नहीं है परन्तु उससे जो प्रकृति बँधती है, वह जहर का वृक्ष है। आहाहा!

यह बात भी सम्प्रदाय में कही थी। उसमें थे न? २१ वर्ष तो ढूंढिया में रहे न! हमारे पिताजी स्थानकवासी थे। स्थानकवासी में दीक्षा ली थी। (संवत्) १९८५ के वर्ष, पौष माह। हमारा जन्मगाँव उमराला। व्याख्यान देते थे। बोटाद में कहा था। हजारों लोग, वहाँ तो हजार-पन्द्रह सौ लोग आते थे। १९८५ के वर्ष की बात है। कहा, जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव राग और बन्ध का कारण है। आहाहा! और पंच महाव्रत के परिणाम, वे बन्धरूप हैं। १९८५ के वर्ष, पौष माह। बोटाद में ३००-३५० स्थानकवासी के घर हैं। मैं व्याख्यान देने बैठूँ तो उपाश्रय में (लोग) समाये नहीं। खचाखच, गली में बैठे। यह बात की तो (लोगों को लगा), यह? तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव राग? और यह बँधे, वह जहर? पंच महाव्रत के परिणाम, वह दु:ख? बापू! पंच महाव्रत के परिणाम आस्रव हैं; आस्रव, वह दु:खरूप है। आहाहा! श्रद्धा की दरकार कहाँ है? किसकी श्रद्धा कैसे करना और क्या करना? वह तो ऐसे का ऐसा दौड़े जाता है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, आहाहा! **आत्मा का तत्त्व दर्शन–ज्ञान–चारित्रत्रयात्मक है (अर्थात् आत्मा का यथार्थरूप दर्शन,...)** यथार्थरूप दर्शन, ज्ञान, चारित्र है। राग, द्वेष, पुण्य, दया, दान वह कोई यथार्थ वेश नहीं, वह तो विकृत वेश है। आहाहा! **इसलिए मोक्ष के इच्छुक पुरुष को मोक्षमार्ग एक ही...** आहाहा! **इसलिए मोक्ष के इच्छुक पुरुष को (यह दर्शन–ज्ञान–चारित्रस्वरूप) मोक्षमार्ग एक ही...** एक ही **सदा सेवन करने योग्य है।** है? दूसरा नहीं। एक ही सेवनयोग्य है।

मुमुक्षु : सदा?

पूज्य गुरुदेवश्री : सदा। व्यवहार बीच में आयेगा परन्तु सेवनयोग्य नहीं है। आहाहा! कठिन बात है। मोक्षमार्ग एक ही। अपने आत्मा के आनन्द का स्वाद आना, वह आनन्द का अनुभव होना, वह एक ही मोक्षमार्ग है। दूसरा मोक्षमार्ग नहीं है। क्योंकि राग, विकार, वह तो आकुलता है; प्रभु आत्मा का स्वभाव तो आनन्द है, वह तो सच्चिदानन्द प्रभु है। सत् चिदानन्द। सत्—कायम रहनेवाला। चिद् अर्थात् ज्ञान और आनन्द है, अतीन्द्रिय आनन्द। यह इन्द्रिय का विषय राजा या चक्रवर्ती तो जहर का प्याला है। आहाहा! पैसेवाले को भोग और विषय के साधन बहुत होते हैं परन्तु जहर का प्याला है, वह जहर पीता है। राग करता है, वह जहर पीता है। आहाहा! जहर पीता है।

मोक्षमार्ग में तो यह एक ही। है? आहाहा! **एक ही सदा सेवन करने योग्य है।** धर्मी जीव को तो एक ही आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु, निर्मलानन्द, वीतरागमूर्ति, प्रभु वीतरागमूर्ति आत्मा है। उस वीतरागमूर्ति की सेवा करने से वीतरागता प्रगट होगी। आहाहा! सब भगवान अन्दर में वीतरागमूर्ति है। सब भगवान है। पर्यायबुद्धि छोड़ दो, द्रव्य से सब भगवान है। और समकिती को सब द्रव्य साधर्मी है। अन्दर के द्रव्य से सब साधर्मी है। क्योंकि अन्दर वह भगवान है। वह तो पर्याय में एक समय की भूल है, एक समय की भूल है। बाकी पूरा तत्त्व भगवान है। दुनिया के जितने अनन्त जीव हैं, सब जीव एक सेकेण्ड का असंख्यवाँ भाग, एक समय की भूल है और त्रिकाल आनन्द (स्वरूप है)। आहाहा! अन्दर आनन्द है, वह तो त्रिकाल रहनेवाला है। यह तो उसका स्वभाव है। रागादि होते हैं वे तो एक समय रहकर दूसरे समय व्यय हो जाते हैं। वे कहीं आत्मा में नहीं रहते।

यहाँ यह कहा, **मोक्षमार्ग एक ही...** वापस। कोई कहे कि अनेकान्त करो। निश्चय से भी होता है और व्यवहार से भी होता है, यह अनेकान्त नहीं है, यह फूदड़ीवाद है, यह फूदड़ीवाद है। **मोक्षमार्ग एक ही सदा सेवन करने योग्य है।**

मुमुक्षु : यह सम्यक् एकान्त है।

पूज्य गुरुदेवश्री : एकान्त है, एकान्त ही है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों एकान्त है। अन्तर के आश्रय से एकान्त है। आहाहा! गजब बात है। सम्प्रदाय की रुचिवाले को कठिन लगता है। यह क्या होगा? है तो यह, मार्ग तो यह है। आज माने, कल माने, बाद में माने, यह मानने से ही उसके जन्म-मरण मिटेंगे। इसके बिना जन्म-मरण कभी नहीं मिटेंगे। कितने शब्द लिये हैं? देखा?

मोक्षमार्ग एक ही सदा सेवन करने योग्य है। आहाहा! व्यवहार बीच में आयेगा। पूर्ण वीतरागता नहीं होगी, तब तक व्यवहार बीच में आयेगा। भक्ति का, भगवान के दर्शन का (राग आयेगा) परन्तु वह हेय है, हेय है। हेयबुद्धि से आयेगा और ज्ञेयबुद्धि से, ज्ञान में आदरबुद्धि से यह आयेगा। ऐसी बात है। **अब इसी उपदेश को गाथा द्वारा कहते हैं–** गाथा आयी न?

गाथा - ४१२

यत् एवं -

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेय।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्ण-दव्वेसु।।४१२।।

मोक्षपथे आत्मानं स्थापय तं चैव ध्यायस्व तं चेतयस्व।
तत्रैव विहर नित्यं मा विहार्षी-रन्य-द्रव्येषु।।४१२।।

आसन्सारात्परद्रव्ये रागद्वेषादौ नित्यमेव स्वप्रज्ञादोषेणावतिष्ठमानमपि, स्वप्रज्ञागुणेनैव ततो व्यावर्त्य दर्शनज्ञानचारित्रेषु नित्यमेवावस्थापयाति निश्चलमात्मानं; तथा समस्तचिन्तान्तरनिरोधेना-त्यन्तमेकाग्रो भूत्वा दर्शनज्ञानचारित्राण्येव ध्यायस्व; तथा सकलकर्मकर्मफलचेतनासन्न्यासेन शुद्धज्ञानचेतनामयो भूत्वा दर्शनज्ञानचारित्राण्येव चेतयस्व; तथा द्रव्यस्वभाववशत: प्रतिक्षण-विजृम्भमाणपरिणामतया तन्मयपरिणामो भूत्वा दर्शनज्ञानचारित्रेष्वेव विहर; तथा ज्ञानरूपमेकमेवा-चलितमवलम्बमानो ज्ञेयरूपेणोपाधितया सर्वत एव प्रधावत्स्वपि परद्रव्येषु सर्वेष्वपि मनागपि मा विहार्षी: ।।४१२।।

अब इसी उपदेश को गाथा द्वारा कहते हैं-

तूं स्थाप निज को मोक्षपथ में, ध्या, अनुभव तू उसे।
उसमें हि नित्य विहार कर, न विहार कर परद्रव्य में।।४१२।।

गाथार्थ : (हे भव्य!) [मोक्षपथे] तू मोक्षमार्ग में [आत्मानं स्थापय] अपने आत्मा को स्थापित कर, [तं च एव ध्यायस्व] उसी का ध्यान कर, [तं चेतयस्व] उसी को चेत-अनुभव कर [तत्र एव नित्यं विहर] और उसी में निरन्तर विहार कर; [अन्यद्रव्येषु मा विहार्षी:] अन्य द्रव्यों में विहार मत कर।

टीका : (हे भव्य!) स्वयं अर्थात् अपना आत्मा अनादि संसार से लेकर अपनी प्रज्ञा के (-बुद्धि के) दोष से परद्रव्य में-राग-द्वेषादि में निरन्तर स्थित रहता हुआ भी, अपनी प्रज्ञा के गुण द्वारा ही उसमें से पीछे हटाकर उसे अति निश्चलतापूर्वक दर्शन-

ज्ञान-चारित्र में निरन्तर स्थापित कर, तथा समस्त अन्य चिन्ता के निरोध द्वारा अत्यन्त एकाग्र होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र का ही ध्यान कर; तथा समस्त कर्मचेतना और कर्मफलचेतना के त्याग द्वारा शुद्धज्ञानचेतनामय होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ही चेत-अनुभव कर; तथा द्रव्य के स्वभाव के वश से (अपने को) प्रतिक्षण जो परिणाम उत्पन्न होते हैं, उनके द्वारा (अर्थात् परिणामीपने के द्वारा तन्मय परिणामवाला) (-दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय परिणामवाला) होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र में ही विहार कर; तथा ज्ञानरूप को एक को ही अचलतया अवलम्बन करता हुआ, जो ज्ञेयरूप होने से उपाधिस्वरूप हैं, ऐसे सर्व ओर से फैलते हुए समस्त परद्रव्यों में किञ्चित् मात्र भी विहार मत कर।

भावार्थ : परमार्थरूप आत्मा के परिणाम दर्शन-ज्ञान-चारित्र है; वही मोक्षमार्ग है। उसी में (-दर्शन-ज्ञान-चारित्र में ही) आत्मा को स्थापित करना चाहिए, उसी का ध्यान करना चाहिए, उसी का अनुभव करना चाहिए और उसी में विहार (प्रवर्तन) करना चाहिए, अन्य द्रव्यों में प्रवर्तन नहीं करना चाहिए। यहाँ परमार्थ से यही उपदेश है कि - निश्चय मोक्षमार्ग का सेवन करना चाहिए, मात्र व्यवहार में ही मूढ़ नहीं रहना चाहिए।

कलश-४१२ पर प्रवचन

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेय।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्ण-दव्वेसु।।४१२।।
तूं स्थाप निज को मोक्षपथ में, ध्या, अनुभव तू उसे।
उसमें हि नित्य विहार कर, न विहार कर परद्रव्य में।।४१२।।

आहाहा! **हे भव्य!** सम्बोधन किया, **स्वयं अर्थात् अपना आत्मा अनादि संसार से लेकर अपनी प्रज्ञा के (-बुद्धि के) दोष से...** आहाहा! कर्म से आत्मा में कुछ नुकसान हुआ, यह बात तीन काल में नहीं है। क्योंकि कर्म परद्रव्य है, उसे आत्मा स्पर्श भी नहीं करता। आत्मा कर्म को स्पर्श नहीं करता, कर्म आत्मा को स्पर्श नहीं करता। दोनों चीज़ें अत्यन्त भिन्न हैं। कर्म के कारण भटकता है और कर्म के कारण दु:खी होता है, कर्म से विकार होता है, यह बात झूठ है। वीतराग मार्ग में यह बात नहीं है।

यहाँ तो यह कहते हैं, **स्वयं अर्थात् अपना आत्मा अनादि संसार से लेकर अपनी प्रज्ञा के (–बुद्धि के) दोष से...** आहाहा! अपनी प्रज्ञा के दोष से। कर्म के दोष से नहीं। आहाहा! जैन में तो कर्म... कर्म करते हैं। कर्म का उदय आया तो ऐसा हुआ, कर्म का उदय आया तो ऐसा हुआ। कर्म का उदय तो जड़ है, जड़ जड़ में रहा। आत्मा में कर्म नहीं आते। आत्मा कर्म से विकार नहीं कर सकता। विकार अपनी प्रज्ञा के अपराध से करता है। कर्म से विकार नहीं करता। कर्म परद्रव्य है। परद्रव्य से परद्रव्य में कुछ फेरफार नहीं होता। आहाहा!

पैसेवाला पुण्य से होता है न? यह निमित्त से कथन है। पुण्य जड़ परमाणु दूसरी चीज़ है, पैसा दूसरी चीज़ है। दूसरी चीज़ से दूसरी चीज़ आती है, ऐसा कहना वह व्यवहार कथन है। आहाहा! यह पैसे पुण्य से आये, ऐसा निमित्त से कहा गया है परन्तु वह पुण्य है, वह परिग्रह है अर्थात् पाप है। आहाहा! आये पुण्य से परन्तु वर्तमान पाप है, परिग्रह है। चौबीस प्रकार के परिग्रह में परिग्रह है। आहाहा! गजब बात है।

यहाँ यह कहते हैं, वह दोष तुझसे उत्पन्न होता है। आहाहा! निगोद में अनन्त काल रहा, वह तेरे अपराध के कारण से। आहाहा! कर्म का कारण नहीं। कोई दूसरे का कारण नहीं कि तुझे जोर से रोक लिया। **अनादि संसार से लेकर अपनी प्रज्ञा के (–बुद्धि के) दोष से...** अपनी प्रज्ञा अर्थात् ज्ञान के दोष से। अपना स्वरूप जानना चाहिए, उसके बदले परसन्मुख का झुकाव रखता है। वह ज्ञान, अज्ञान—प्रज्ञा का अपराध है, वह आत्मा का अपराध है। वह अपराध कर्म से नहीं हुआ। आहाहा! गजब बात!

आठ कर्म से आत्मा में विकार नहीं होता। विकार स्वयं के अपराध से अपनी पर्याय में होता है। 'अपने को आप भूल के हैरान हो गया।' आहाहा! 'अपने को आप भूल के हैरान हो गया।' आहाहा! कर्म बेचारे कौन? 'कर्म बिचारे कौन? भूल मेरी अधिकाई, अग्नि सहे घनघात लोह की संगति पाई।' अग्नि के ऊपर घन पड़ते हैं। वह अग्नि जब लोहे में जाए तो (घन पड़ते हैं)। अकेली पृथक अग्नि को घन नहीं पड़ते। इसी प्रकार आत्मा अकेला रहे तो कोई दुःख नहीं होता परन्तु पर का संग करके विकार करे तो वह दुःख होता है। आहाहा! भारी कठिन काम। यहाँ तो सब जगह कर्म के कारण विकार होता

है, कर्म के कारण विकार होता है। आहाहा! अन्तराय कर्म है, इसलिए आहार नहीं मिला, यह सब व्यवहार के कथन हैं। जो चीज़ नहीं आनेवाली है, वह नहीं आयी, आनेवाली वह आयी। उसमें आत्मा उसे—आहार को स्पर्श नहीं करता, तो फिर वहाँ अन्तराय कहाँ रहा? अन्तराय कहना, वह तो व्यवहार से है। बाकी तो प्रज्ञा के अपराध से परद्रव्य में... है?

राग-द्वेषादि में निरन्तर स्थित रहता हुआ भी,... कर्म से रहा हुआ है, ऐसा नहीं कहा। आहाहा! अनादि संसार से लेकर राग और द्वेष में (स्थित है)। राग के दो भाग—माया और लोभ। द्वेष के दो भाग—क्रोध और मान। इन चार कषायों में अपने अपराध से अनादि से रहता है। किसी का अपराध नहीं, कर्म का अपराध नहीं है। आहाहा! यह कहा न? 'कर्म बिचारे कौन? भूल मेरी अधिकाई, अग्नि सहे घनघात लोह की संगति पाई।' अकेली अग्नि को कोई घन नहीं मारते। अग्नि के गोले में लोहा प्रवेश करे तो घन पड़ते हैं। इसी प्रकार अकेले आत्मा में दु:ख नहीं है। आत्मा राग और द्वेष और पर का संग करे तो दु:खी होता है। आहाहा! भारी बात, भाई!

आत्मा—अपना आत्मा, ऐसा। **अनादि संसार से...** ऐसा नहीं कि निगोद में कर्म का जोर था, इसलिए निगोद में रहता था। वहाँ भी अपने अपराध से रहता है। आहाहा! निगोद समझे? लहसुन, प्याज में अनन्त बार रहा। उसमें अनन्त जीव है। एक राई के टुकड़े जितने प्याज या लहसुन में असंख्य तो शरीर हैं और एक शरीर में सिद्ध से अनन्तगुने जीव हैं। सिद्ध हुए, उनसे अनन्तगुने जीव हैं। आहाहा! कन्दमूल.. कन्दमूल कहते हैं न? राई जितने कन्दमूल के टुकड़े में असंख्य शरीर हैं। एक शरीर में अनन्त जीव हैं। आहाहा! एक-एक जीव को दो-दो शरीर हैं—तैजस और कार्मण। औदारिकशरीर सबका एक है। अनन्त जीवों का औदारिकशरीर एक है। तैजस, कार्मणशरीर भिन्न है। वह अपने अपराध से रहा है। आहाहा! पर का कोई अपराध नहीं।

परद्रव्य में-राग-द्वेषादि में निरन्तर स्थित रहता हुआ भी,... अनादि से राग और द्वेष में (स्थित है)। कभी आत्मा के आनन्द का स्वाद नहीं लिया। आहाहा! है? **अपनी प्रज्ञा के गुण द्वारा ही...** अब सुलटा लेते हैं। उल्टे में भी प्रज्ञा का अपराध है और धर्म भी प्रज्ञा का लाभ है। गुण का लाभ है। देखो! **अपनी प्रज्ञा के गुण द्वारा...** पहले

में **अपनी प्रज्ञा के दोष से...** कहा था। आहाहा! कर्म कुछ मार्ग दे तो धर्म होगा। कर्म का जोर कुछ घटे तो धर्म होगा, ऐसा नहीं है। आहाहा! दोनों में आत्मा लिया। अनादि निगोद से लेकर नौवें ग्रैवेयक तक भटका और दिगम्बर साधु होकर अनन्त बार सम्यग्दर्शन बिना द्रव्यलिंग धारण किया तो वह सर्वत्र अपने अपराध से भटकता है, कर्म के कारण से नहीं। और अपने गुण के कारण से भटकना बन्द होता है। है?

अपनी प्रज्ञा के गुण द्वारा ही... भाषा कैसी है? अपनी प्रज्ञा द्वारा। सम्यग्ज्ञान। चैतन्यस्वरूप के ओर की प्रज्ञा—ज्ञान द्वारा ही। भाषा है न? पहले में भी ऐसा लिया, **अपनी प्रज्ञा के गुण द्वारा ही...** यह एकान्त किया। अपने गुण से मोक्ष होता है, अपने पुरुषार्थ से मोक्ष होता है। किसी कर्म के कारण से या कर्म हटे तो मोक्ष होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! **प्रज्ञा के गुण द्वारा ही...** देखा?

उसमें से पीछे हटाकर उसे अति निश्चलतापूर्वक दर्शन-ज्ञान-चारित्र में निरन्तर स्थापित कर,... अज्ञानी को जो अनादि का अज्ञान है, संसार अनादि का है, अपराध है, उसमें से विमुख होकर। **उसे अति निश्चलतापूर्वक...** चलित न हो, इस प्रकार से। **निश्चलतापूर्वक दर्शन-ज्ञान-चारित्र में निरन्तर स्थापित कर,...** तेरे आत्मा को प्रभु, तुझे यदि मोक्ष चाहिए तो तेरे आत्मा में दर्शन, ज्ञान, चारित्र, आनन्द है, उसमें स्थिर हो। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है। पंच महाव्रत आदि कोई मोक्ष का उपाय नहीं है। आहाहा! कठिन लगे। लोग तो बाहर से मानो त्याग किया, नग्न हो गये... (इसलिए धर्म हो गया)।

तथा समस्त अन्य चिन्ता के निरोध द्वारा... मोक्ष में जाना हो तो तुझे सब चिन्ता छोड़नी पड़ेगी। निरन्तर एक आनन्दकन्द प्रभु, प्रज्ञाब्रह्म की सेवा करनी पड़ेगी। स एव। उसमें रहकर दर्शन, ज्ञान, चारित्र प्राप्त करना। इसके अतिरिक्त दर्शन, ज्ञान, चारित्र प्राप्त नहीं होते। किसी पुस्तक से नहीं मिलता, सुनने से नहीं मिलता, गुरु से नहीं मिलता। परद्रव्य से कुछ नहीं मिलता। एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य से कुछ नहीं मिलता और दूसरे द्रव्य से कुछ नुकसान नहीं होता और परद्रव्य से कुछ लाभ नहीं होता। आहाहा! अपने से अपने को लाभ नुकसान होता है। लोग ऐसा कहते हैं न कि कर्म के कारण... कर्म के कारण। झूठ बात है।

हमारे तो यह कर्म के कारण (की) बड़ी चर्चा चली थी। (संवत्) १९७१ के वर्ष, १९७१। कितने वर्ष हुए? ६५ वर्ष। ६० और ५। ६५ वर्ष पहले चर्चा हुई थी। दीक्षा (संवत्) १९७० में ली थी। यह चर्चा १९७१ में हुई। विकार कर्म से होता है, यह बिल्कुल नहीं। कर्म से विकार बिल्कुल नहीं होता। कर्म जड़ बेचारे कौन? 'कर्म बिचारे कौन? भूल मेरी अधिकाई।' मेरी भूल मुझसे होती है, दूसरे से भूल होती है, (ऐसा नहीं है)। बड़ी चर्चा हुई थी। १९७१, कितने वर्ष हुए? ६५ वर्ष हुए। ६५ वर्ष पहले। आहाहा! पहले से यहाँ तो यही धन्धा था न! अभी ९१ वर्ष हुए, ९१। १०० में ९ कम। दुकान के ऊपर भी... हमारी दुकान पालेज में है। वहाँ भी मैं तो पढ़ता था। घर की दुकान है। वाँचन करता था। दशवैकालिक, श्वेताम्बर के, हों! स्थानकवासी में, श्वेताम्बर में दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचारांग, सूयगडांग, अध्यात्म कल्पद्रूम सब तब देखा था।

(संवत्) १९७८ में जहाँ समयसार हाथ में आया, वहाँ तो... ओहोहो! सबको बाहर में कह दिया, शरीररहित होने की चीज़ यह है। ऐसा कहा था। एक सेठ विरुद्ध थे, उनको भी कहा कि सिद्ध होना हो और शरीररहित होना हो तो यह समयसार है। आहाहा! इसमें देखो न! कितना कहा है!

अपने अपराध से निश्चय से भटकता है और अपने गुण से निश्चय से मुक्ति पाता है, दूसरे किसी से नहीं। दो बातें तो कहीं। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४५४, गाथा-४१२ गुरुवार, अषाढ़ कृष्ण १३
दिनांक - ०७-०८-१९८०

समयसार, ४१२ गाथा। पहले आया कि द्रव्यलिंग कोई मोक्ष का मार्ग नहीं है। मोक्ष का मार्ग तो आत्मा के आश्रय से होता है। पर के आश्रय से हो, वह मोक्षमार्ग नहीं, पर के आश्रय से हो वह संसारमार्ग है। यह दो महासिद्धान्त है। पहले पर के आश्रय से जो द्रव्यलिंग आया, उसका तो निषेध किया। वह तो मोक्षमार्ग है नहीं। अब स्वाश्रय से मोक्षमार्ग क्या है ? किस प्रकार से उत्पन्न होता है ? यह बात ४१२ गाथा में कहते हैं।

टीका – (हे भव्य!) स्वयं अर्थात् अपना आत्मा अनादि संसार से लेकर... स्वयं अर्थात् अपना आत्मा अनादि संसार से लेकर अपनी प्रज्ञा के (–बुद्धि के) दोष से... कोई कहे कि कर्म के कारण भटकता है, कर्म के कारण यह संसार में भटकता है, यह बात मिथ्या है। समझ में आया ? क्योंकि एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य को कभी स्पर्श नहीं करता। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को कभी स्पर्श नहीं करता। एक द्रव्य—कर्म इस आत्मा को भटकाये, ऐसी बात नहीं है। यह बात कही, **अपनी प्रज्ञा के (–बुद्धि के) दोष से...** यह ज्ञान का दोष है। स्वलक्ष्य करना चाहिए। ज्ञान अपना स्वरूप है, उसका आश्रय लेना चाहिए, ऐसा नहीं करके वह ज्ञान पुण्य और पाप, रागादि की क्रिया का आश्रय लेता है, वह अपना अपराध है। आहाहा! है ?

स्वयं अपने दोष से, ऐसी भाषा है। कर्म की जरा भी मदद नहीं। कर्म की थोड़ी मदद है तो विकार होता है, ऐसा बिल्कुल नहीं है। स्वयं अपना आत्मा अनादि संसार से निगोद में भी अपने अपराध से रहा है। पहले निगोद में रहा था तो भी अपने अपराध से रहा था, कर्म के कारण से नहीं। आहाहा! अनादि संसार लिया न ? **अनादि संसार से लेकर...** तो अनादि संसार में तो निगोद में भी पहले था। आहाहा! तब से अपने अपराध से, **अपनी प्रज्ञा के (–बुद्धि के) दोष से...** आहाहा!

यहाँ तो (अज्ञानी) कहते हैं कि उसे कर्म अवरोधक है। कर्म के कारण से विकार होता है, यह बात मिथ्या है। किसी द्रव्य की पर्याय होने में किसी द्रव्य की पर्याय का हाथ

नहीं है, अधिकार नहीं है। एक द्रव्य की पर्याय दूसरे द्रव्य की पर्याय को तीन काल में कभी स्पर्श नहीं करती। समझ में आया? एक द्रव्य की पर्याय दूसरे द्रव्य की पर्याय को कभी छूती नहीं, स्पर्श नहीं करती, प्रवेश नहीं करती। हमारी गुजराती भाषा में (कहें तो) अड़ती नहीं। आहाहा! भगवान आत्मा अपनी प्रज्ञा के दोष के कारण, अपनी प्रज्ञा के दोष के कारण चार गति में भटकता है। यह आया न? अपने दोष के कारण। कोई दूसरा दोष करता है तो भटकता है, ऐसा नहीं। स्वयं अपने दोष से संसार में (भटकता है)।

अपनी प्रज्ञा के (-बुद्धि के) दोष से परद्रव्य में-राग-द्वेषादि में निरन्तर स्थित रहता हुआ... आहाहा! अनादि काल का आत्मा अपने आनन्द का स्वाद नहीं लेकर, आत्मा में अतीन्द्रिय पूर्ण आनन्द भरा है। आहाहा! अतीन्द्रिय पूर्ण आनन्द का स्वाद नहीं लेकर राग और द्वेष आकुलता का स्वाद—दु:ख का स्वाद लेता है। आहाहा! चाहे तो राजा हो या देव हो, अरबोंपति हो परन्तु वे सब दु:खी हैं। वे दु:ख का वेदन करते हैं। आहाहा! क्योंकि संयोग से सुख-दु:ख नहीं है।

नारकी को बहुत प्रतिकूल संयोग है, तो उनसे उसे दु:ख नहीं है। परन्तु उसकी दृष्टि वहाँ जाती है, उस दृष्टि में अपराध करता है कि यह हमें नुकसान करते हैं। उसका वेदन करता है। आहाहा! समझ में आया? संयोगी चीज़, अग्नि यहाँ लगाओ तो अग्नि इस शरीर को स्पर्श नहीं करती। आहाहा! क्योंकि अग्नि और शरीर के बीच अत्यन्त अनन्त अभाव है। तो अभाव में स्पर्श करना, यह भाव नहीं आता। सूक्ष्म बात है, प्रभु!

यह कहते हैं, अपने अपराध से। निगोद में रहा तो भी अपने अपराध से। कोई ऐसा कहे कि निगोद में रहा, वह तो कर्म के जोर के कारण रहा। फिर जब क्षयोपशम बढ़ा, पश्चात् अपराध करे तो वह नुकसान है। यहाँ तो कहते हैं कि **अनादि संसार से लेकर...** उसमें निगोद के जीव भी आ गये। आहाहा! **अपनी प्रज्ञा के (-बुद्धि के) दोष से परद्रव्य में-राग-द्वेषादि में निरन्तर स्थित रहता हुआ...** राग और द्वेष। राग के दो भाग—माया और लोभ। द्वेष के दो भाग—क्रोध और मान। यह क्रोध, मान, माया, लोभ में रहा हुआ। गर्भित में राग-द्वेष में रहा हुआ, इससे भी गर्भित में लो तो कषाय में रहा हुआ।

अपना स्वभाव अकषायस्वभाव है। शान्त... शान्त... शान्त... शान्त... आहाहा!

उस स्वभाव में नहीं रहकर कषाय में आता है तो कृष अर्थात् संसार, आय अर्थात् लाभ, कषाय में संसार परिभ्रमण का लाभ होता है। उस कषाय के दो भेद—राग और द्वेष। उस राग और द्वेष के दो (भेद)। माया और लोभ, यह राग; क्रोध और मान, यह द्वेष है। आहाहा!

अनादि काल से चौरासी के अवतार में इसने दुःख भोगा है। सूकर के भव में विष्टा खाकर, नरक में, निगोद में... नरक के वेदन में, पहले नरक के एक क्षण का वेदन... रत्नकरण्ड श्रावकाचार में तो आया है कि एक क्षण का वेदन करोड़ों भव और करोड़ों जीभ से नहीं कहा जा सके, ऐसा दुःख है। आहाहा! प्रभु! तूने अनन्त दुःख भोगा है। एक क्षण के दुःख करोड़ों भव और करोड़ों जीभ से नहीं कहे जा सकते। वे दुःख कैसे होंगे? आहाहा! ख्याल किया नहीं, ख्याल। कभी विचार नहीं किया।

एकीभाव स्तोत्र है, उसमें मुनि कहते हैं, अरे! मैं संसार के पूर्व भव के दुःख का विचार करता हूँ... आचार्य स्वयं कहते हैं, तो मुझे हृदय में चोट लगती है। ऐसा पाठ है। आहाहा! भूतकाल के दुःख के विचार नरक के, तिर्यंच में पिलना, घाणी आदि में पीलें। आदि अनन्त अनन्त बार यह दुःख (भोगे हैं)। उन्हें याद करते हैं। आचार्य कहते हैं, मुझे चोट लगती है। अर र र! नहीं तो वे तो तीन कषाय के अभाव हुए आनन्दस्वरूप हैं परन्तु एक संज्वलन की कषाय बाकी है, इस कारण से कहते हैं। तीन कषाय का अभाव है, उतना आनन्द तो है। परन्तु एक संज्वलन चौथी कषाय शेष है। इससे कहते हैं, मैं पूर्व के दुःख याद करता हूँ तो मुझे चोट लगती है। यह विचार कब किया है? अरे! कहाँ रहा? अनन्त भव (किये)। भव... भव... भव... भव... भव... भव... भव... अनन्त काल में भवरहित एक समय रहा नहीं। और यदि भव गया हो तो फिर से भव होता नहीं।

कच्चा चना है... चना... चना..., कच्चा होवे तो स्वाद आता नहीं और बोवे तो उगता है। कच्चे चने को खाये तो कसैला लगता है, और बोवे तो उगता है। उसे सेकें तो स्वाद मीठा आता है और बोवे तो उगता नहीं। आहाहा! इसी प्रकार राग और द्वेष से अनादि से अज्ञानी अज्ञान का, राग-द्वेष का स्वाद लेता है और उसके कारण भव में अवतार लेता है। आहाहा!

धर्मी को... आहाहा! जैसे चना सिंकता है न? तो मिठास आती है; उसी प्रकार भगवान आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द सर्वांग भरा है। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द सर्वांग भरा है। उसका थोड़ा भी सम्यग्दर्शन में स्वाद आया, तब उस स्वाद के समक्ष उन राग-द्वेष में दु:ख बहुत लगता है। आहाहा! श्रेणिक राजा अभी नरक में हैं। समकिती हैं, क्षायिक समकिती हैं, समय-समय में तीर्थंकरगोत्र बाँधते हैं। अभी! अभी भी वहाँ तीर्थंकरगोत्र बाँधते हैं, तथापि प्रतिकूल संयोग में जितना लक्ष्य जाता है, उतना उन्हें भी दु:ख है। क्या कहा, समझ में आया? संयोग का दु:ख नहीं। वहाँ अग्नि स्पर्श करती है, उसका दु:ख नहीं होता। वह पर्याय उस प्रकार की वेदन में उत्पन्न होती है। अग्नि को तो यह (शरीर) स्पर्श भी नहीं करता। आहाहा! अग्नि तो यहाँ स्पर्श भी नहीं करती।

यह समयसार तीसरी गाथा में आया है। समयसार तीसरी गाथा में (कहते) हैं कि एक द्रव्य का धर्म दूसरे द्रव्य को चूमता नहीं। आहाहा! एक पदार्थ का धर्म दूसरे पदार्थ को कभी स्पर्श नहीं करता। आहाहा! सब स्वतन्त्ररूप से अपने-अपने स्वचतुष्टय में (रहे हैं)। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव अपने चतुष्टय में रहे हैं और दूसरे अनन्त-अनन्त चतुष्टय की नास्ति है। उसमें नास्ति है तो उसे दु:ख किस प्रकार करे? परन्तु यह नजर करते हुए, यह प्रतिकूल है, ठीक नहीं—ऐसी चिन्ता करता है, वह दु:ख है। आहाहा! बात तो ऐसी है, प्रभु! मार्ग तो ऐसा है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि अपनी प्रज्ञा के दोष से। निगोद में एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चौइन्द्रिय... अरे! नौवें ग्रैवेयक में अनन्त बार गया। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार, ग्रीवक उपजायो,' 'मुनिव्रत धार अनन्त बार, ग्रीवक उपजायो।' छहढाला में है। 'पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।' यह पंच महाव्रत के परिणाम, अट्ठाईस मूलगुण के परिणाम दु:ख हैं। आहाहा! प्रभु... प्रभु... प्रभु..! राग है, आस्रव है, दु:ख है।

भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसे छोड़कर अनादि काल से प्रज्ञा के दोष से। इसकी व्याख्या चलती है। अपनी प्रज्ञा का दोष है। कर्म का दोष नहीं, किसी शत्रु का दोष नहीं। जगत में कोई शत्रु है ही नहीं।

द्रव्यसंग्रह में तो ऐसा कहा है, द्रव्यसंग्रह में अवायविचय की व्याख्या की है।

संस्थानविचय, विपाकविचय, अवायविचय। अवायविचय में व्याख्या की है, कि मैं तो आत्मा का ज्ञान करके आठ कर्म से रहित होऊँगा परन्तु प्रभु! तुम सब आठ कर्म से रहित हो जाओ। आहाहा! द्रव्यसंग्रह में पाठ है। हम तो आठ कर्म से रहित होंगे ही। आहाहा! परन्तु सब भगवान, सब भगवान है। राग और अज्ञान के पीछे भगवान विराजता है। आहाहा! वहाँ तो ऐसा कहा, सब आत्मा भगवान हो जाओ। शत्रु कोई है ही नहीं। आहाहा! सब आत्मा आठ कर्म से रहित है, प्रभु! निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध में तू रहता है, इसे छोड़ दे। आहाहा! द्रव्यसंग्रह में अवायविचय में (आता है)। द्रव्यसंग्रह में संस्थानविचय, अवायविचय आता है न? उसमें है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, अनादि से जहाँ-जहाँ रहा, वहाँ अपनी प्रज्ञा के अपराध से रहा है। दूसरी कोई निमित्त चीज़ से बिल्कुल रहा नहीं। यह निमित्त को स्पर्श ही नहीं करता। आहाहा! यहाँ बिच्छू काटता है, वह बिच्छू यहाँ स्पर्श नहीं करता। गजब बात है, प्रभु! बिच्छू, बिच्छू के अस्तित्व में है, शरीर के परमाणु शरीर के अस्तित्व में है, तो इस शरीर के अस्तित्व में बिच्छू के अस्तित्व की नास्ति है, अत: नास्ति से दु:ख किस प्रकार होगा? आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु! अपने अस्तित्व में दोष किया है। यह प्रज्ञा का दोष चलता है न? अपनी प्रज्ञा का अपराध है, दूसरे किसी का नहीं, दूसरी किसी चीज़ का नहीं। आहाहा!

प्रज्ञा के (-बुद्धि के) दोष से परद्रव्य में-राग-द्वेषादि... भाव। परद्रव्य को स्पर्श नहीं करता परन्तु परद्रव्य के लक्ष्य से राग-द्वेषादि में **निरन्तर स्थित रहता हुआ भी,...** आहाहा! परद्रव्य को कभी स्पर्श नहीं करता। आहाहा! परन्तु निज द्रव्य का भाव छोड़कर राग, द्वेष और विकल्प / विकार अवस्था, वह दु:ख है। वह दु:ख अपनी प्रज्ञा के अपराध के कारण से है, किसी कर्म के कारण से नहीं। आहाहा! एक बात। **परद्रव्य में-राग-द्वेषादि में निरन्तर स्थित रहता हुआ भी,... निरन्तर स्थित रहता हुआ भी,...**

अपनी प्रज्ञा के गुण द्वारा... क्या कहते हैं? आहाहा! अब गुलांट खाता है। आहाहा! ऐसे अपराध में रहा हुआ होने पर भी, ऐसे शब्द हैं। अपनी प्रज्ञा के-ज्ञान के अपराध से, अपनी प्रज्ञा के अपराध में रहा हुआ होने पर भी, रहा हुआ होने पर भी, गुलांट

मार। अपने गुण द्वारा... आहाहा! समझ में आया? प्रभु! अपनी प्रज्ञा में जो राग-द्वेष करता था... आहाहा! ऐसे राग-द्वेषवाला जीव, उसमें रहा हुआ होने पर भी, **स्थित रहता हुआ भी,...** आहाहा! राग और द्वेष तथा मिथ्यात्व। मूल कारण तो मिथ्यात्व है। कषाय को भी अनन्तानुबन्धी कहा है। उस अनन्त का अर्थ मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व के साथ कषाय का बन्धन है, उसका नाम अनन्तानुबन्धी है। अनन्तानुबन्धी। आहाहा! अनन्त अर्थात् मिथ्यात्व, उसके सम्बन्ध में रहनेवाले राग और द्वेष कषाय में अनादि से रहते हुए। आहाहा!

नग्न दिगम्बर साधु नौवें ग्रैवेयक में गया। वस्त्रसहित हो, वह नौवें ग्रैवेयक में नहीं जाता। वस्त्रसहित मुनि नहीं होता। मुनि को वस्त्र का टुकड़ा हो और मुनि माने तो निगोद में जायेगा। वस्त्र का टुकड़ा रखे और हम मुनि हैं, ऐसा माने तो निगोद में जायेगा। अष्टपाहुड़ में ऐसा पाठ है। अष्टपाहुड़ में सूत्रपाहुड़ में १८वीं गाथा में पाठ है। सूत्रपाहुड़ की १८वीं गाथा। आहाहा! वस्त्र का एक टुकड़ा रखकर भी हम मुनि हैं, (ऐसा माने), रूमाल रखे, रूमाल। रूमाल कहते हैं न? कहते हैं कि वह मुनि निगोद में जायेगा। क्योंकि नौ तत्त्व की भूल होती है। एक वस्त्र का एक टुकड़ा रखने से नौ तत्त्व की—मिथ्यात्व की भूल है। आहाहा!

अभी तक जो भटका, वह अपनी प्रज्ञा के दोष से (भटका है)। उसमें रहा हुआ होने पर भी। कोई ऐसा कहता है कि अनादि से हम इसमें रहे हैं, हमको एकदम किस प्रकार गुण होगा? कैसे होगा? समकित किस प्रकार होगा? ज्ञान किस प्रकार होगा? तो यह कहते हैं, **निरन्तर स्थित रहता हुआ भी, अपनी प्रज्ञा के गुण द्वारा...** जैसे अपनी प्रज्ञा के दोष से रहता था, उसी प्रकार अपनी प्रज्ञा के गुण द्वारा। दूसरा कोई कारण नहीं कि कर्म मन्द पड़े और कर्म घटे तो आत्मा का लाभ हो सके। बिल्कुल किसी का साथ या अपेक्षा नहीं है।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को कभी स्पर्श नहीं करता। आहाहा! एक द्रव्य—एक परमाणु भी दूसरे परमाणु को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! गजब बात है! एक परमाणु और दूसरे परमाणु के बीच अन्योन्य अभाव है। आहाहा! तो वे स्पर्श नहीं करते।

यहाँ कहते हैं, **अपनी प्रज्ञा के गुण द्वारा...** दोष है, पर्याय में हो, दृष्टि बदल दे।

पर्यायदृष्टि में तेरी प्रज्ञा का अपराध है। दृष्टि द्रव्य पर ले जा। भगवान सच्चिदानन्द प्रभु विराजता है। पर्याय के अतिरिक्त सब भगवान है। सब भगवान आत्मा है। आहाहा! एक पर्याय में, एक समय की पर्याय की भूल। एक समय! एक समय की भूल, इसके अतिरिक्त पूरा आत्मा भगवान है। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं, **अपनी प्रज्ञा के गुण द्वारा...** ऐसा लिया नहीं कि देव-गुरु द्वारा या देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा द्वारा (होगा)। क्योंकि वे तो परद्रव्य है। परद्रव्य से आत्मा में लाभ नहीं होता। आहाहा! चाहे तो तीन लोक के नाथ हों, उनके ऊपर यदि लक्ष्य जाएगा तो राग उत्पन्न हुए बिना नहीं रहेगा। इसलिए परद्रव्य पर लक्ष्य करना, वह राग है। चाहे तो भगवान हो या चाहे तो भगवान की प्रतिमा हो, चाहे तो भगवान का समवसरण हो परन्तु परद्रव्य पर लक्ष्य जाएगा तो राग होगा ही। सूक्ष्म बात है, प्रभु! बात सत्य है। गले उतारना जरा कठिन है, प्रभु! हम तो सबको प्रभु देखते हैं, अन्दर प्रभु है। अन्दर भगवान विराजता है। एक पर्याय में दोष है, इसके अतिरिक्त पूरा भगवान है।

यह पर्याय के दोष की बात यहाँ कहते हैं कि पर्याय में जो दोष है। ऐसा होने पर भी, **अपनी प्रज्ञा के गुण द्वारा...** आहाहा! अपनी प्रज्ञा, ज्ञानमूर्ति प्रभु की दृष्टि कर। तेरी दृष्टि पर्याय के ऊपर है, वह मिथ्याबुद्धि है। एक समय की एकान्त पर्यायबुद्धि है, वह मिथ्याबुद्धि है। वहाँ से गुलाँट खा और पर्याय जिसकी है, द्रव्य की है, उस द्रव्य पर दृष्टि दे। आहाहा! भगवान! मार्ग बहुत कठिन है। आहाहा! परन्तु मार्ग इसके घर में है। पास में है, बाहर से कुछ नहीं आता। आहाहा!

अपनी प्रज्ञा के गुण द्वारा... गुण के दो अर्थ हैं। एक त्रिकाली गुण। त्रिकाली गुण का धारक भगवान का आश्रय लेकर जो सम्यग्दर्शन आदि उत्पन्न होते हैं, वह तो पर्याय है, वह गुण नहीं। गुण त्रिकाली होते हैं। द्रव्य और गुण त्रिकाली होते हैं। पर्याय वर्तमान में नयी उत्पन्न होती है। अत: यहाँ कहा, **प्रज्ञा के गुण द्वारा...** अर्थात् त्रिकाली द्रव्य के आश्रय द्वारा। आहाहा!

उसमें से पीछे हटाकर... आहाहा! मिथ्यात्व का जो अपराध है, पुण्य और पाप के ऊपर लक्ष्य है, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, काम, क्रोध के ऊपर अनादि का लक्ष्य है,

वह तो सब विकार है। उस विकार से विमुख हो, ऐसा आचार्य महाराज कहते हैं। आहाहा! ऐसा नहीं कहते कि तुझे कर्म का जोर होगा तो नहीं हट सकेगा। पंचम काल है, ऐसा नहीं कहा। यह पंचम काल के श्रोता को कहते हैं। स्वयं पंचम काल के साधु हैं और पंचम काल के श्रोता को कहते हैं। ऐसा नहीं कि पंचम काल के श्रोता नहीं कर सकते। आहाहा! एक-एक लाईन में गर्भ भरा है, माल भरा है।

यह तो सन्तों की वाणी! वीतराग की वाणी! सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ केवलज्ञानी की दिव्यध्वनि का सार! आहाहा! नग्न मुनि की वाणी अर्थात् वीतराग की वाणी का सार। ऐसी अन्यत्र कहीं नहीं है। आहाहा! समझ में आया? श्वेताम्बर भी बाद में निकले हैं। आहाहा! दो हजार वर्ष पहले (निकले हैं)। मिथ्यादृष्टि हैं। मिथ्यात्व हुआ तो उन्होंने सम्प्रदाय छोड़ा और नये शास्त्र रचे। यह तो अनादि का मार्ग है। महाविदेहक्षेत्र में भी यह मार्ग चलता है। आहाहा! भगवान विराजते हैं, बीस तीर्थंकर, लाखों केवली महाविदेह में हैं, वहाँ यह मार्ग है। कुन्दकुन्दाचार्य वहाँ गये थे और वहाँ से लाकर यह मार्ग बताया। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि अपने गुण द्वारा। गुण द्वारा के दो अर्थ—एक त्रिकाली गुण है, उसके द्वारा। अर्थात् वर्तमान पर्यायरूपी गुण द्वारा। जब दोष है, वह अवगुण है; तब पर्याय को गुण शब्द से कहा जाता है। शास्त्र में पर्याय को भी गुण कहा जाता है। समझ में आया? वह पर्याय बदल दे। बदल दे को क्या कहते हैं? गुलाँट खा, पलट दे, पलट दे। इस ओर जो दृष्टि थी, उसे इस ओर कर दे। आहाहा!

गुण द्वारा ही... भाषा क्या है? **अपनी प्रज्ञा के गुण द्वारा ही...** '**ही**' कहकर एकान्त किया। देव-गुरु-शास्त्र के कारण से भी नहीं। प्रतिमा के दर्शन के कारण से भी नहीं। आहाहा! किसी शुभभाव की क्रिया से भी नहीं। है शब्द? **अपनी प्रज्ञा के गुण द्वारा ही...** '**ही**' कहा है। आहाहा! प्रभु! तुझमें तो भगवान भरा है न! प्रभु! तू भगवान है! आहाहा! ७२ गाथा में, इस समयसार की ७२ गाथा में आचार्य ने भगवान कहा है। हे आत्मा! तुझमें पुण्य और पाप भाव होते हैं, वे मलिन हैं, अशुचि हैं। भगवान आत्मा निर्मल है, ऐसा पाठ है। भगवान आत्मा (कहकर) बुलाया है। समयसार की ७२ गाथा में तीन बार श्रोता को भगवानरूप से बुलाया है। आहाहा!

मलिन परिणाम, शुभाशुभभाव से भगवान भिन्न है, ऐसा लिया है। तीन बोल हैं। शुभाशुभ परिणाम अजीव हैं, जड़ है। क्योंकि वे अपने को नहीं जानते, दूसरों के द्वारा ज्ञात होते हैं; इसलिए पुण्य और पाप जड़ है। अब जब वे पुण्य-पाप जड़ हैं तो भगवान आनन्दकन्द है, ऐसा लिया है। भगवान ज्ञान की मूर्ति है। पुण्य-पाप जड़ है और आत्मा ज्ञानमूर्ति है, चैतन्यस्वरूप का पिण्ड है। दो बोल (यह लिये) और तीसरा बोल यह लिया है कि पुण्य और पाप दुःखरूप है। प्रभु दुःख का कारण भी नहीं और दुःख का कार्य नहीं। यह क्या कहा? ७२ गाथा में है। आत्मा की दशा जो उत्पन्न होती है, निर्मल आत्मा के अवलम्बन से (जो दशा होती है), वह राग का कारण भी नहीं और आत्मा की पर्याय कारण और राग कार्य – ऐसा भी नहीं। राग कारण और निर्मल पर्याय कार्य, ऐसा भी नहीं और निर्मल पर्याय कारण तथा राग कार्य, ऐसा भी नहीं। आहाहा! सन्तों ने तो गजब काम किया है। दिगम्बर मुनियों ने... आहाहा! अरे रे! अभी केवली का विरह है। सर्वज्ञ भगवान अभी यहाँ नहीं हैं। उनकी वाणी में सब बात रह गयी है। आहाहा! कितनी संक्षिप्त बात में समाहित कर दिया है! ओहो! गम्भीर... गम्भीर...!

अपनी प्रज्ञा के गुण द्वारा ही उसमें से... अर्थात् मिथ्या दोष से **पीछे हटाकर...** अपने से वापस मुड़कर। कर्म हटे तो वापस मुड़े, ऐसा नहीं। कर्म हटे तो वापस मुड़े, (ऐसा नहीं)। आहाहा! प्रभु! मार्ग बहुत अलग है, प्रभु! आहाहा! **उसमें से पीछे हटाकर उसे अति निश्चलतापूर्वक...** आहाहा! **अति निश्चलतापूर्वक...** अन्दर में जा, प्रभु! दृष्टि द्रव्य के ऊपर दे और **अति निश्चलतापूर्वक दर्शन-ज्ञान-चारित्र में निरन्तर स्थापित कर,...** आत्मा को; दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह तो पर्याय है, मोक्षमार्ग तो पर्याय है, द्रव्य नहीं। द्रव्य तो त्रिकाल है और यह तो पर्याय है। प्रभु! प्रज्ञा के दोष से हटाकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय प्रगट कर। आहाहा!

जो दोष है, वह पर्याय का विपरीत भाव है। उसे छोड़कर पर्याय में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्थाप। आहाहा! दर्शन... पहला दर्शन लिया न? **दर्शन-ज्ञान-चारित्र में निरन्तर स्थापित कर,...** आत्मा को वहाँ स्थापित कर। असंख्य प्रकार के राग और द्वेष का वेदन तो प्रभु तुझे अनादि काल का है, वह कोई नई चीज़ नहीं है, वह कोई आश्चर्यकारी

चीज़ नहीं है। शुभराग भी जहर है। शुभराग भी जहर है, आत्मा अमृत है। अमृत से विरुद्ध, वह जहर है। आहाहा! कठिन बात है।

यह यहाँ कहते हैं, **गुण द्वारा...** इस शुभ और अशुभराग को छोड़ दे। दर्शन-ज्ञान-चारित्र में निरन्तर स्थापित कर। निरन्तर क्यों लिया? दर्शन, ज्ञान, चारित्र हुए और बीच में थोड़ा शुभभाव भी आवे तो थोड़ा ठीक है, ऐसा नहीं है। समझ में आया? निरन्तर। जैसे प्रभु द्रव्य नित्य है, भगवान आत्मा सच्चिदानन्द नित्यानन्द प्रभु नित्य है, ऐसी पर्याय नित्य में स्थाप, नित्य में निरन्तर स्थाप। आहाहा! शब्द कितने मीठे हैं!! आहाहा! आचार्यों, दिगम्बर के आचार्यों अर्थात् केवली के पथानुगामी! केवली के मार्गानुसारी!! केवली के पीछे चलनेवाले। और एकाध भव में केवल (ज्ञान) लेनेवाले। आहाहा! कुन्दकुन्द आदि आचार्य वर्तमान में वैमानिक में हैं, परन्तु वहाँ से निकलकर केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष में जायेंगे। आहाहा! ऐसी उनकी स्थिति—दशा थी। उनकी यह वाणी है। आहाहा!

कहते हैं, **निरन्तर स्थापित कर,...** यहाँ आत्मा में। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र निर्विकल्प, हों! पंच महाव्रत आदि तो विकल्प है, वह चारित्र नहीं, अचारित्र है। अपना स्वरूप जो शुद्ध चैतन्य निर्विकल्प है, रागरहित वस्तु है, उसमें निरन्तर स्थापन कर। आहाहा! **तथा समस्त अन्य चिन्ता के निरोध द्वारा...** अपने दर्शन-ज्ञान में स्थित हो और दूसरी चिन्ता से दूर हो जा। आहाहा! कोई कहे कि इतना समझाना फिर बात, इतनी पाठशाला बनाऊँ, फिर बात, रहने दे—यह सब रहने दे। यह तो उसके काल में होगा। होना होगा, वह होगा। तू चिन्ता रहने दे, ऐसा कहते हैं। पर की चिन्ता छोड़ दे। आहाहा! यह कहते हैं, देखो!

अन्य चिन्ता के निरोध द्वारा... आत्मा के अतिरिक्त किसी भी चीज़ की चिन्ता छोड़ दे। ओहोहो! गजब बात! देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा का विकल्प, वह चिन्ता छोड़ दे, प्रभु! वह भी विकल्प, चिन्ता है। आहाहा! गजब बात है!

मोक्षपाहुड़ में कहा है, '**परदव्वादो दुग्गई**' प्रभु! तू मेरे सन्मुख देखेगा तो तेरी दुर्गति होगी। दुर्गति अर्थात्? इस चैतन्य की गति नहीं, ऐसा। पुण्य बँधे, उसमें स्वर्ग में जायेगा। स्वर्ग भी दुर्गति है, स्वर्ग भी दुर्गति है। चारों गति दुर्गति है। आहाहा! समझ में आया? यहाँ

तो आचार्य ऐसा कहते हैं, तू मेरी चिन्ता भी छोड़ दे। आहाहा! पंचम काल के श्रोता को समझाते हैं। कोई ऐसा कहे कि यह समयसार चौथे काल के लिये है। यह पंचम काल के साधु पंचम काल के श्रोता को समझाते हैं। आहाहा! हे भव्य! ऐसा कहा न? सामने जीव है। आहाहा!

चिन्ता के निरोध द्वारा अत्यन्त एकाग्र होकर... आत्मा में अत्यन्त एकाग्र होकर। जैसे अनादि से राग-द्वेष से हटा नहीं था तो अनन्त काल निकाला। तेरा करने का स्वभाव तो है, अब यह विकार करना छोड़कर स्वभाव को कर। तेरा स्वभाव है। आहाहा! तेरा दर्शन-ज्ञान-चारित्र का स्वभाव कर। विकार कर सकता है तो निर्विकार तो वस्तु आत्मा है। अत: जो वस्तु में नहीं, उसे अनादि काल से करता है, वस्तु में विकार है ही नहीं। ऐसा विकार तो अनन्त काल से पर्याय में करता आया है, गुण तो अन्दर में भरे हैं... आहाहा! तो प्रभु! वहाँ जा न! ऐसा यहाँ कहते हैं। सूक्ष्म बात है, प्रभु! आहाहा! वीतराग मार्ग, भगवान! बहुत सूक्ष्म, बहुत सूक्ष्म। अलौकिक है, अन्यत्र कहीं नहीं है। वीतराग के अतिरिक्त मार्ग कहीं नहीं है। आहाहा! एक-एक लाईन में कितना भरा है। आहाहा! यह लाईन।

अन्य चिन्ता के निरोध द्वारा अत्यन्त एकाग्र होकर... अत्यन्त एकाग्र होकर... विकल्प छोड़कर निर्विकल्प हो जा। प्रभु! यह परमात्मा पंचम काल के प्राणी को ऐसा कहते हैं कि तू निर्विकल्प हो जा। कितने ही कहते हैं कि पंचम काल में ऐसा नहीं हो सकता। पंचम काल में तो शुभभाव ही होता है। ऐसा पाठ मासिक में आया है। क्या कहलाता है? पत्र में आया है। श्रुतसागर है न? श्रुतसागर, उन्होंने लिखा था कि अभी तो शुभभाव ही होता है, बस। ऐसा अखबार में आया था। अरे! भगवान! शुभभाव तो अधर्म है। सीधी भाषा से अधर्म है, अधर्म है।

यहाँ तो आचार्य श्रोता को उपदेश देते हैं कि तू बाहर से विमुख होकर इसमें आ। पंचम काल है तो तू नहीं आ सकेगा, ऐसा नहीं कहा। आहाहा! **अत्यन्त एकाग्र होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र का ही ध्यान कर;...** आहाहा! अन्दर में आत्मा की ओर झुकाव करके; आत्मा से अनादि से विमुख होकर अज्ञान और राग-द्वेष किये, प्रभु! अब उन्हें

छोड़कर आत्मा के सन्मुख हो जा। आहाहा! विमुख तो अनादि का था, तुझे करना तो आता है, विमुख होना करना आता है या नहीं? तो सन्मुख होना क्यों नहीं आयेगा? यह तो घर की चीज़ है। आहाहा! जोरदार बात!

तथा समस्त कर्मचेतना... दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, यह कर्मचेतना है। व्रत, यह कर्मचेतना है। राग है न? कर्म अर्थात् कार्य। कर्म अर्थात् जड़ नहीं। जड़कर्म की कर्मचेतना नहीं। यहाँ कर्मचेतना अर्थात् जड़ कर्म की बात नहीं है। कर्मचेतना अर्थात् विकारी पर परिणामरूपी कार्य, विकारी परिणामरूपी कार्य, उसे—कार्य को कर्म कहकर उसमें एकाग्र हो, उसे कर्मचेतना कहा है। आहाहा! समझ में आया?

कर्मचेतना, आहाहा! यह व्रत, भक्ति, पूजा, और यात्रा, ये सब भाव कर्मचेतना हैं। यहाँ तो कहीं किसी की शर्म नहीं है। दिगम्बर नागा बादशाह से आघा। समाज की दरकार नहीं, सत्य की प्रसिद्धि है। आहाहा! सत्य को प्रसिद्ध करते हैं। समझे, न समझे उसकी मर्जी। आहाहा!

समस्त कर्मचेतना... समस्त कर्मचेतना का अर्थ—अशुभ और शुभ दोनों भाव कर्मचेतना है। शुभ और अशुभ। चाहे तो तीर्थंकरगोत्र बाँधे, वह भाव भी कर्मचेतना है क्योंकि धर्म से बन्धन नहीं होता। बन्धन, धर्म से विरुद्ध अधर्म से होता है। आहाहा! गजब बात है! यहाँ यह कहते हैं, कर्मचेतना को छोड़ दे। कर्मचेतना में दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा सब आ गया। क्योंकि वह राग है और राग वह कर्म है, कर्म अर्थात् कार्य। जड़ कर्म नहीं। आहाहा! ऐसा मार्ग। मार्ग तो ऐसा है।

दूसरे प्रकार से करने जायेगा तो ऐसा अवतार मिला, जायेगा कहाँ? यह देह तो छूट जायेगी। आत्मा तो अविनाशी है। यह कहाँ जायेगा, यह देह छूटकर कहीं अवतार तो लेगा। आहाहा! देह का नाश (होगा), प्रभु चैतन्य तो अनादि-अनन्त है। नया अवतार धारण करेगा। जैसे भाव करेगा, वैसा अवतार मिलेगा।

यहाँ कहते हैं, कर्मचेतना को छोड़ दे। **कर्मफलचेतना के त्याग द्वारा...** कर्मफल अर्थात् जो कुछ राग आया, उसमें हर्ष आता है, द्वेष आया उसमें दुःख होता है। यह सब कर्मफलचेतना है। कर्म अर्थात् जड़ नहीं। राग और द्वेष परिणाम हो, वह कर्म और उनका

फल आया, वह कर्मफल। जड़ के साथ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! समझ में आया? कर्मचेतना... यह लोग कहते हैं कि ऐसा करो... करो। व्यवहार करो। व्यवहार करते-करते निश्चय होगा। यहाँ कर्मचेतना को व्यवहार कहते हैं। आहाहा! यह व्यवहार है, वह कर्मचेतना में आता है। उसे छोड़कर ज्ञानचेतना प्रगट कर। मार्ग तो यह है। दुनिया को कठिन लगे। मार्ग तो यह है, प्रभु! आहाहा!

कर्मचेतना और कर्मफलचेतना दोनों विकारी है। एक पुण्य-पाप का कार्य है, यह कर्मचेतना और उसके दुःख का अनुभव करना, वह कर्मफलचेतना। दोनों को छोड़ दे। आहाहा! सम्यग्दर्शन प्रगट करना हो... आहाहा! तो दोनों को छोड़ दे। आहाहा! वाणी वीतराग की है न! आहाहा! जिनकी वाणी इन्द्र सुनने जाते हैं। भगवान महाविदेह में विराजते हैं। वहाँ इन्द्र सभा में जाते हैं। आहाहा! सीमन्धर भगवान, लाखों केवली! बीस तीर्थंकर हैं। भगवान की सभा में इन्द्र, नरेन्द्र, बाघ, सिंह... आहाहा! सर्प सुनने जाते हैं और कितने ही धर्म पाते हैं, कितने ही। आहाहा! क्योंकि तिर्यंच भी... शास्त्र में लेख है, पाँचवें गुणस्थानवाले असंख्य तिर्यंच ढाई द्वीप के बाहर है। आहाहा! और असंख्य समकिती ढाई द्वीप के बाहर हैं। तिर्यंच, हों! तिर्यंच! आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि **कर्मचेतना और कर्मफलचेतना के त्याग द्वारा...** उनके त्याग द्वारा। उनके द्वारा होगा, ऐसा नहीं। व्यवहार द्वारा निश्चय होगा, ऐसा नहीं। उसके त्याग द्वारा, भाषा यह है। आहाहा! किसी जगह कहा हो कि यह साधन है। वह तो साधन का आरोप है। आया? कर्मचेतना के त्याग द्वारा। दोनों के त्याग द्वारा। है? आहाहा! वस्तु तो यह है, प्रभु! आहाहा! अनन्त तीर्थंकर यह कह गये हैं। उस बात को बदल डाला, बदलकर व्यवहार से भी निश्चय होगा, ऐसा है नहीं। आहाहा!

कर्मचेतना और कर्मफलचेतना के त्याग द्वारा... त्याग द्वारा कहा न? कि कर्ता द्वारा? आहाहा! छोड़कर। **शुद्धज्ञानचेतनामय होकर...** आहाहा! शुद्धज्ञानचेतनामय। आहाहा! कर्मचेतना और कर्मफलचेतना, यह अशुद्धचेतना, राग था, अशुद्ध मलिन चेतना थी, दुःखरूप चेतना थी। उसे छोड़कर **शुद्धज्ञानचेतनामय होकर...** विशिष्टता क्या की है? शुद्धचेतनावाला होकर, ऐसा नहीं कहा। क्यों? कि शुद्धज्ञानचेतनामय होकर (अर्थात्)

अभेद होकर। शुद्धचेतनावाला कहे तो व्यवहार हो गया। शुद्धचेतनामय होकर। अन्दर भगवान आत्मा आनन्दकन्द ज्ञान विराजता है, उस ओर एकाग्र होकर जा। आहाहा! आया?

दर्शन–ज्ञान–चारित्र को ही चेत... उन दोनों को छोड़कर **शुद्धज्ञानचेतनामय होकर दर्शन–ज्ञान–चारित्र को ही चेत...** क्या कहा? दर्शन, ज्ञान, चारित्र पर्याय है। वह शुद्धज्ञानचेतनामय है। शुद्धज्ञानचेतनामय है, पर्याय है। आहाहा! द्रव्य तो ध्रुव त्रिकाली है। मलिन पर्याय को छोड़कर, उसके सामने निर्मल पर्याय प्रगट कर। आहाहा! लॉजिक तो देखो इनका! आचार्यों के हृदय तो... आहाहा! कथन के समय भी उनके हृदय कैसे हैं! देखो!

शुद्धज्ञानचेतनामय होकर... है? **दर्शन–ज्ञान–चारित्र को ही चेत...** आहाहा! कठिन बात है, भाई! पहले समझकर हाँ तो करे कि वस्तु तो ऐसी है। पहले ज्ञान में लेकर फिर अन्तर में प्रयोग करना। अभी ज्ञान में विपरीतता हो, वह अन्तर्मुख नहीं हो सकेगा। राग से और व्यवहार से लाभ होगा, ऐसा माननेवाले अन्तर में नहीं जा सकेंगे। क्योंकि अन्तर वस्तु सत्य चिदानन्द प्रभु, सच्चिदानन्द सत् है। वहाँ तो सत्य की दृष्टिवन्त सत् में जायेगा। आहाहा! समझ में आया? तुम्हारी हिन्दी बहुत नहीं आती, थोड़ी–थोड़ी हिन्दी (आती) है।

शुद्धज्ञानचेतनामय होकर दर्शन–ज्ञान–चारित्र को ही... यहाँ भी 'ही' आया। उसे ही; व्यवहार को नहीं। आहाहा! शुद्धज्ञानचेतनामय, यह ज्ञानचेतना है। ज्ञानचेतना को ही चेत। उसका अनुभव कर। आहाहा! पंचम काल के शिष्य को... ३८ गाथा में तो यहाँ तक कहा है कि अप्रतिबुद्ध शिष्य था, उसे ज्ञान–दर्शन–चारित्र हुए। ३८ गाथा। आहाहा! अप्रतिबुद्ध सुनने आया था, उसे गुरु ने सुनाया, तो अन्दर में ऐसा हो गया, दर्शन–ज्ञान–चारित्र कैसे हुए? कि दर्शन अप्रतिहत हो गया। उसने कहा, महाराज! मैंने सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र प्राप्त किये, अब हम उसमें से च्युत नहीं होंगे। आहाहा! ३८ गाथा में है। सब है न। यह तो सैकड़ों बार वाँचन हो गया है। यह (संवत्) १९७८ से मिला है। सम्प्रदाय में पढ़ा था। स्थानकवासी में था न? पहले हमारी दुकान पालेज में थे, वहाँ भी पढ़ता था।

दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, उसमें कुछ नहीं। यह चीज़ कोई अलग है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, **दर्शन–ज्ञान–चारित्र को ही...** सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र को भी चेत—अनुभव कर। यह मोक्षमार्ग है। मोक्षमार्ग दो नहीं हैं। मोक्षमार्ग एक ही है। कथन दो प्रकार का है। मार्ग एक ही है। इसलिए यहाँ कहा न? आहाहा! अनुभव कर, उसका ही अनुभव कर। आहाहा!

तथा द्रव्य के स्वभाव के वश से (अपने को) प्रतिक्षण जो परिणाम उत्पन्न होते हैं,... क्या कहते हैं? सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, यह पर्याय—परिणाम है। यह परिणामी—त्रिकाली द्रव्य के आश्रय से उत्पन्न होते हैं। फिर से, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, जो निर्मल मोक्ष का मार्ग है, वह परिणामी त्रिकाली भगवान के आश्रय से उत्पन्न होते हैं। आहाहा! अनन्त-अनन्त गुण का समुद्र प्रभु, जिसमें अनन्त शान्ति, अनन्त प्रभुता, अनन्त आनन्द सर्वांग वीर्य भरा है, पूरा वीर्य का पिण्ड है। आहाहा!

कल तो थोड़ा कहा था न? जरा कठिन है। समय हो गया है। वीर्य, प्रभु वीर्य उसे कहते हैं कि जो स्वरूप की निर्मल रचना करे, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की (रचना करे)। जो कोई शुभभाव में आवे, वह नपुंसक है। ऐसा पाठ है। शुभभाव में आवे, वह नपुंसक है। पावैया... हीजड़ा... हीजड़ा है। आहाहा! यह बात तो दिगम्बर मुनि कहे। आहाहा! तेरी वस्तु तेरे पास है तो उसका अनुभव कर न! राग, शुभराग तेरी वस्तु नहीं है तो उस कर्मचेतना, शुभराग (को) छोड़ और शुद्धज्ञानचेतना में आ। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४५५, कलश-२३९, गाथा-४१२ रविवार, श्रावण कृष्ण १३
दिनांक - ०७-०९-१९८०

समयसार, श्लोक-२३९। कलश है। गाथा के ऊपर का कलश है। २३९।

दर्शन-ज्ञान-चारित्र-त्रयात्मा तत्त्व-मात्मनः।
एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा।।२३९।।

नीचे अर्थ। **'आत्मनः तत्त्वम् दर्शन-ज्ञान-चारित्र-त्रय-आत्मा' आत्मा का तत्त्व (स्वरूप) दर्शन-ज्ञान-चारित्रत्रयात्मक है...** आत्मा शुद्धचैतन्य वस्तु है। उसका दर्शन, उसका ज्ञान, उसका चारित्र वह उसका रूप है, वह आत्मा का स्वरूप है। आहाहा! मोक्षमार्ग बताते हैं। आत्मा का तत्त्व दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूप है। **(आत्मा का यथार्थरूप...)** तत्त्व का अर्थ किया। **(दर्शन, ज्ञान और चारित्र के त्रिकस्वरूप है);...** आहाहा!

'मुमुक्षुणा मोक्षमार्गः एकः एव सदा सेव्यः' इसलिए मोक्ष के इच्छुक पुरुष को... मोक्ष के इच्छुक पुरुष को। यह शर्त। जिसे पूर्ण बन्धरहित मोक्षदशा प्रगट करने की भावना है, उसे **(यह दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप) मोक्षमार्ग एक ही सदा सेवन करने योग्य है।** आहाहा! मोक्षमार्ग दो नहीं हैं। निश्चय और व्यवहार दो तो कथनरूप है। वस्तु तो एक ही है। भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य त्रिकाली स्वरूप का अन्दर अनुभव होकर प्रतीति होना, और उसका ज्ञान होना और उसमें लीनता होना, यह तीन ही मोक्ष का मार्ग है और उपाय है। आहाहा! यह आया न?

(यह दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप) मोक्षमार्ग एक ही... 'ही' शब्द आया। एकान्त किया। एक ही। कथंचित् निश्चय और कथंचित् व्यवहार मोक्षमार्ग है, ऐसा नहीं कहा। आहाहा! एक ही। **मोक्षमार्ग एक ही... 'एक ही' सदा सेवन करने योग्य है।** भगवान आत्मा पूर्ण अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्द का पूर, स्वरूप है, उसकी प्रतीति, अनुभव, ज्ञान और रमणता यह एक ही सेवनयोग्य है। आहाहा! यह सब बाहर की प्रवृत्ति कहाँ गयी? भभूतमलजी! इन्होंने मन्दिर में आठ लाख दिये थे। बैंगलोर। आठ लाख (दिये थे)। चार लाख जुगराजजी ने (दिये)। स्थानकवासी करोड़पति है। मुम्बई में महावीर मार्केट है न?

उन्होंने चार लाख (दिये)। आठ लाख इन्होंने दिये और चार लाख उन्होंने दिये, बारह लाख का मन्दिर बनाया। तो कहते हैं कि वह कोई धर्म नहीं है। वह क्रिया बना नहीं सकता तो नहीं परन्तु उसमें जो भाव होता है, वह शुभभाव—पुण्य है। वह मोक्ष का मार्ग नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : बन्धमार्ग है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : बन्धमार्ग है। स्वाश्रय निश्चय मोक्षमार्ग, पराश्रय बन्धमार्ग। दो सिद्धान्त हैं। आहाहा! भगवान आत्मा अनन्त-अनन्त गुण सम्पन्न है। उसमें से सम्यग्दर्शन का अनुभव करके ज्ञान और चारित्र आदि का अन्दर सेवन करना, वह एक ही मोक्ष का मार्ग, अनन्त तीर्थंकरों, अनन्त केवलियों ने यह बात जगत के समक्ष प्रसिद्ध की है। यह अभी झगड़ा (चलता है कि) निश्चय के साथ व्यवहार चाहिए, व्यवहार होता है। होता है, निश्चय के साथ व्यवहार होता है परन्तु व्यवहार होता है, वह बन्ध का कारण है। आहाहा! नहीं तो दो नाम क्यों पड़े ? एक ओर निश्चय तथा एक व्यवहार। दोनों एक ही जाति और एक ही नात और एक ही स्वरूप हो तो दो नाम क्यों पड़े ? आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु! तुम्हारे आठ लाख से धर्म नहीं होगा, ऐसा कहते हैं। आहाहा! यह तो उस दिन वहाँ कहा था। वहाँ बैंगलोर में भी कहा था। आहाहा!

यह वस्तु जो अन्दर भगवान अनन्त-अनन्त गुण सम्पन्न, निर्विकल्प निर्विकारी चीज़ है, उस चीज़ के दर्शन, ज्ञान और उसका चारित्र होना, स्वरूपदर्शन, स्वरूपज्ञान, स्वरूपचारित्र होना, वह एक ही मोक्ष का मार्ग है। दूसरा कोई मार्ग नहीं है। यह कहा। **मोक्षमार्ग एक ही...** एक ही। आहाहा! **सदा...** वापस सदा लिया। किसी समय निश्चय भी सही और किसी समय व्यवहार भी मोक्षमार्ग में आता है, ऐसा नहीं है। बीच में आवे, अशुभ से बचने को शुभभाव आता है परन्तु वह धर्म—मोक्ष का मार्ग नहीं है, वह तो बन्ध का मार्ग है। आहाहा!

मोक्षमार्ग एक ही... ऐसा शब्द है न ? पाठ है न ? **'एकः एव'** पाठ की दूसरी लाईन। **'एकः एव'** अर्थात् एक ही। **'सदा सेव्यः'** आहाहा! धर्मीजीव को सदा एक ही मोक्षमार्ग का सेवन करना। वह त्रिकाली ज्ञायकस्वरूप भगवान का अनुभव करके, प्रतीति

करना और अनुभव का ज्ञान और उसमें लीनता, रमणतारूप चारित्र, यह तीनों एक ही मोक्षमार्ग है, यह एक ही सेवनयोग्य है। आहाहा! सोनगढ़ के सामने यह सब विवाद। सोनगढ़ के सामने। ऐ... अकेली निश्चय की बात करते हैं, व्यवहार की बात नहीं करते। बापू! व्यवहार आता है, व्यवहार होता है परन्तु व्यवहार पुण्यबन्ध का कारण है। भाई! नहीं तो दो नाम क्यों अलग पड़े? निश्चय और व्यवहार, ऐसे दो अलग क्यों पड़े? यदि एक ही हो तो दो नाम नहीं पड़ते और दो जब भिन्न है तो कारण से भी भिन्न है और फल से भी भिन्न है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई!

दुनिया को कहाँ दरकार पड़ी है। यह बाहर की हो...हा... हो...हा... बड़ी रथयात्रा निकले, गजरथ निकाले। हाथी... हाथी... हाथी पर गजरथ। आहाहा! हजारों, पाँच-पाँच, दस-दस हजार लोग इकट्ठे हों। अरे! इस मकान का (परमागम मन्दिर का) जब उद्घाटन किया, तब छब्बीस हजार लोग थे। छब्बीस हजार। यहाँ व्याख्यान चलता नहीं था, अन्यत्र चलता था। यहाँ कहाँ समाये? परन्तु इससे क्या? यह तो एक शुभभाव है। छब्बीस लाख का मकान बनाया, लाखों रुपये किसी ने दिये, उसमें राग की मन्दता की हो तो, शर्त यह। दिये इसलिए पुण्य होगा—ऐसा भी नहीं। क्योंकि वह तो जड़ चीज़ है। जड़ (चीज़) को लेना-देना आत्मा के अधिकार की बात नहीं है। आहाहा! मात्र लेने-देने के समय उसका स्वामीपना छोड़कर यदि राग की मन्दता की हो तो शुभभाव का पुण्यबन्ध होता है। आहाहा! प्रवीणभाई! ऐसी बातें हैं। पैसेवाले को मानो पैसे से मानो धर्म हो जाए। तो फिर बेचारे गरीब को रोना पड़े। गरीब को खोजना कहाँ? बापू! पैसा-बैसा धूल है। उससे तो पुण्य भी नहीं है। उसमें राग की मन्दता की हो तो पुण्य है। आहाहा!

यहाँ यह कहा, **मोक्षमार्ग एक ही सदा**... एक ही ओर सदा। **सदा सेवन करने योग्य है।** किसी काल में भी धर्म के नाम से व्यवहार सेवनयोग्य है, यह बात नहीं है। आहाहा! **अब इसी उपदेश को गाथा द्वारा कहते हैं-** अब कुन्दकुन्दाचार्य गाथा (कहते हैं)। यह श्लोक अमृतचन्द्राचार्य का है।

गाथा-४१२ पर प्रवचन

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेय।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्ण-दव्वेसु।।४१२।।
तूं स्थाप निज को मोक्षपथ में, ध्या, अनुभव तू उसे।
उसमें हि नित्य विहार कर, न विहार कर परद्रव्य में।।४१२।।

टीका – (हे भव्य!)... ऐसा कैसे कहा? कोई कहता है न? मोक्षपन्थ तू कर, तू ऐसा कर। तो सामने कोई जीव है न? **'मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि'** स्थाप। सामने जीव को कहते हैं न? इसलिए 'हे भव्य जीव' इसमें से निकाला। **(हे भव्य!)** आहाहा! **स्वयं अर्थात् अपना आत्मा...** स्वयं अपना आत्मा **अनादि संसार से लेकर...** अरे! अनादि। आदिरहित काल प्रभु तेरा। तेरे संसार की कहीं आदि नहीं। अनादि... अनादि... अनादि... पहले संसार न हो तो संसार आया कहाँ से? संसार की पर्याय, विकारी दशा अनादि काल से है। अनन्त-अनन्त भव में अनन्त बार **अनादि संसार से लेकर अपनी प्रज्ञा के (-बुद्धि के) दोष से...** कर्म के कारण से नहीं। आहाहा! कर्म के कारण से विकार होता है, कर्म के कारण से विकार होता है—जैन में यह विपरीतता घुस गयी है। कर्म के कारण पुण्य-पाप का भाव (होता है)। शास्त्र में भी ऐसा आता है, कर्म के निमित्त से। परन्तु इसका अर्थ (क्या)—(कि) निमित्त के वश होकर। निमित्त से होता है, ऐसा नहीं। ऐसा पाठ है। बहुत जगह है—बस होकर। परचीज़ जो जड़ कर्म है, उसके ऊपर लक्ष्य करके उसके आधीन—वश होकर अनादि से अपने अपराध से मिथ्यात्व और राग-द्वेष का सेवन करता है। यह कहा, देखो!

अपनी प्रज्ञा के दोष से... ज्ञान की दशा—अवस्था के अपराध से। यह अवस्था कर्म के निमित्त के वश होकर राग-द्वेष, पुण्य-पाप अनादि से कर रहा है। आहाहा! यह प्रज्ञा, **अपनी प्रज्ञा के दोष से...** प्रज्ञा अपनी कही। आहाहा! पुण्य से धर्म होता है, ऐसी जो अपनी प्रज्ञा का दोष है, वह मिथ्यात्व है। आहाहा! वह कोई जड़कर्म का दोष है या पर के कारण से तुझे ऐसा दोष उत्पन्न हुआ, ऐसा है नहीं। इस कारण से यहाँ भगवान—

आचार्य महाराज (कहते हैं), **अपनी प्रज्ञा के (–बुद्धि के) दोष से...** आहाहा! तेरी बुद्धि स्वसन्मुख अन्दर आना चाहिए। आनन्द का नाथ प्रभु, जिसकी भूमिका में अकेला आनन्द पड़ा है, आहाहा! उस आनन्द की ओर प्रज्ञा—वर्तमान दशा, प्रज्ञा को उस ओर झुकना चाहिए ऐसे नहीं झुककर उस प्रज्ञा को राग और द्वेष की ओर झुकाकर अपने दोष से **परद्रव्य में–राग–द्वेषादि में निरन्तर...** आहाहा! कर्म को कोई कारण नहीं है।

यह तो संवत १९७१ से यह बात शुरु हुई। लाठी में १९७१ का चातुर्मास था। (संवत्) १९७० में दीक्षा ली थी। पहला चातुर्मास बोटाद में था, दूसरा चातुर्मास १९७१ में लाठी में था। तब से बात बाहर रखी। भगवतीसूत्र पढ़ते हुए पूरा चातुर्मास एकान्तरा अपवास (करते थे)। एक अपवास और एक बार खाना, तीसरे दिन एक अपवास और चौथे एक बार खाना। हमारे हीराजी महाराज साथ में करते थे क्योंकि उस समय वर्षा की खींच बहुत थी। आहाहा! उसमें उस समय भगवती (सूत्र) के तीसरे शतक में से निकाला था कि संशय मिथ्यात्व कर्म से नहीं होता। आहाहा! ऐसा संशय का पाठ है। वह अपने अपराध से होता है। कहा, कर्म से होता है, ऐसा जो कहते हैं, वह बात एकदम मिथ्या है। गुरु सुनते थे, उन्होंने विरोध नहीं किया। दामनगर के दामोदर सेठ थे, उन्होंने विरोध किया था कि ऐसा हमने सुना नहीं, गुरु ने कभी कहा नहीं और तुम कहाँ से लाये? कहा, देखो! प्रभु!

'अपने को आप भूल के हैरान हो गया,' अपनी चीज़ क्या है, उसकी खबर बिना कर्म से विकार होता है तो हम भटकते हैं, रुलते हैं, यह बात अत्यन्त मिथ्यात्व है। आहाहा! कर्म के कारण से, ज्ञानावरणीय कर्म के कारण से ज्ञान रुक गया है, यह बात है नहीं। आहाहा! यह तो (संवत्) १९७१ के वर्ष की बात है। बाहर में खलबलाहट हो गयी। दोपहर में पढ़ने का। अष्टमी और पाखी के प्रोषध करे न? ३०–४० लोग प्रोषध करे। १९७१, लाठी। मनसुखभाई के पिता के पिता। मोहनजी देसाई और वे सब अपवास करे, प्रोषध करने बैठे। ऐई! यह १९७१ की बात है। तेरे पिता के पिता, हों! ऐसे सब ४०–५० हों तो सवेरे हीराजी महाराज वाँचन करे। दोपहर में फिर वे लोग कहे कि महाराज वाँचे, कानजीमुनि वाँचे। तब पढ़ते थे। तब पहले यह कहा कि विकार कर्म से नहीं होता। अभी

तक लोगों में यह प्रवाह चला है कि आत्मा में विकार होता है, वह कर्म से होता है। कर्म जड़ है, प्रभु चैतन्य अरूपी है। अरूपी, जड़ कर्म को स्पर्शा भी नहीं। आहाहा! अपने अपराध से (विकार होता है)।

'अपने को आप भूल के हैरान हो गया।' आहाहा! 'अब हम कबहु न निज घर आये, परघर भ्रमत अनेक नाम धराये।' मैंने पुण्य किया, मैंने पाप किया, मैंने दया पालन की, मैंने व्रत किये, मैंने भक्ति की, ऐसे पर के नाम धराये। आहाहा! 'अब हम कबहु न निज घर आये,' आनन्द का नाथ प्रभु, भगवान निर्मलानन्द निज घर में आया नहीं और पर घर रागादि में भ्रमते चौरासी के अवतार प्रभु! तूने अनन्त किये।

यहाँ यह कहते हैं, **अपनी प्रज्ञा के दोष से...** आहाहा! है इसमें? कर्म का नाम तो इसमें है नहीं। कर्म का निमित्तपना भी नहीं लिया। निमित्त हो। निमित्त उसे कहते हैं कि उससे होता नहीं। दूसरी एक चीज़ है, उसका नाम निमित्त कहते हैं। आहाहा! अरे रे! यहाँ कहते हैं कि **अपनी प्रज्ञा के दोष से...** अनादि काल से निगोद से लेकर एकेन्द्रिय... एकेन्द्रिय... अरे रे! लहसुन, प्याज और पानी में काई होती है न? उसके एक कण में असंख्य शरीर हैं। एक शरीर में अनन्त आत्मा हैं। आहाहा! वह अपने अपराध से वहाँ रहे हैं। कर्म के कारण से वहाँ रहे हैं, ऐसा नहीं है। आहाहा!

अपनी प्रज्ञा के दोष से... अपने ज्ञान के दोष से। ज्ञान जो अपने में आना चाहिए, उसके बदले ज्ञान परद्रव्य में जाता है। आहाहा! ऐसी बात है। **अपनी प्रज्ञा के दोष से परद्रव्य में-राग-द्वेषादि में...** आहाहा! अपना निज स्वरूप छोड़कर परद्रव्य चाहे तो स्त्री, कुटुम्ब, परिवार हो या चाहे तो देव-गुरु-शास्त्र हो, परन्तु वे तो सब परद्रव्य हैं, प्रभु! उस परद्रव्य में तेरा लक्ष्य जायेगा तो राग ही उत्पन्न होता है। आहाहा! अरे! यह बात कैसे जँचे? कुछ विचार किया नहीं। दरकार कहाँ? पूरे दिन यह दुनिया के पाप। कमाना और यह किया और यह किया... और यह किया... अरे रे! प्रभु! तेरी चीज़ कौन है?

कहते हैं कि तेरी प्रज्ञा के अपराध से **परद्रव्य में...** निज द्रव्य छोड़कर। परद्रव्य में देव-गुरु-शास्त्र भी आ गये। आ गये? तो **परद्रव्य में-राग-द्वेषादि में निरन्तर स्थित रहता हुआ भी,...** आहाहा! परद्रव्य के निमित्त से स्वयं के कारण से उत्पन्न हुए राग-

द्वेष में निरन्तर स्थित रहा हुआ। आहाहा! है? **निरन्तर स्थित रहता हुआ भी,...** ऐसा होने पर भी। भले हो, कहते हैं। आहाहा!

अपनी प्रज्ञा के गुण द्वारा... आहाहा! बात गुलाँट खायी है। ऐसे अपराध से पड़ा हो तो प्रभु! उसे छोड़ दे। आहाहा! आया? **अपनी प्रज्ञा के गुण द्वारा...** जैसे अपनी प्रज्ञा के दोष द्वारा परद्रव्य में अनादि से राग-द्वेष करके भटकता था, उसी प्रकार **अपनी प्रज्ञा के गुण द्वारा...** आत्मा ज्ञानस्वरूप है, प्रज्ञाब्रह्म है। जानन... जानन... जानन... ज्ञायकस्वरूप है। आहाहा! **अपनी प्रज्ञा के गुण द्वारा...** गुण शब्द लिया है, वह तो पर्यायवाचक है। यहाँ गुण अर्थात् गुण नहीं। गुण तो त्रिकाली ध्रुव है। यह तो पर्याय है। भूल है और भूल निकल जाती है, यह सब पर्याय में है। वस्तु और गुण तो त्रिकाल एकरूप है। सवेरे आया था। आहाहा! यहाँ गुण शब्द से पर्याय लेना।

अपनी प्रज्ञा के पर्याय के अपराध से, **अपनी प्रज्ञा के गुण द्वारा ही उसमें से पीछे हटाकर...** आहाहा! यह भी क्या कहा? कि प्रज्ञा जो परसन्मुख जाती थी, (उसे) हटाकर, दूसरे देव-गुरु-शास्त्र तुझे मदद करेंगे, ऐसा कुछ है नहीं। आहाहा! है? **अपनी प्रज्ञा के गुण द्वारा ही...** अपने ज्ञान की निर्मल दशा द्वारा ही। 'ही' आया है। एकान्त किया है। आहाहा! **उसमें से पीछे हटाकर...** अनादि से आत्मा का स्वभाव छोड़कर जो राग और द्वेष, पुण्य और पाप में रुक गया है, प्रभु! तू उसे छोड़ दे। **उसमें से पीछे हटाकर...** आहाहा! अर्थात् पर्यायबुद्धि में राग-द्वेष थे तो पर्यायबुद्धि छोड़ दे। आहाहा!

पर्यायबुद्धि में परद्रव्य के लक्ष्य से राग-द्वेष होते थे, लक्ष्य से, हों! परद्रव्य से नहीं। आहाहा! शब्द-शब्द में बहुत अन्तर है, भाई! परद्रव्य से हटकर परद्रव्य की ओर जो तेरा अनादि का झुकाव है, वहाँ से हटाकर। आहाहा! उसे छोड़ दे। प्रभु! उस परद्रव्य के ऊपर तेरा लक्ष्य, दृष्टि है तो उस दोष से तो चार गति में भटकता है। उससे हटाकर। आहाहा! राग और द्वेष जो परसन्मुख के झुकाव से होते हैं, उनसे हटकर।

उसे अति निश्चलतापूर्वक... अति निश्चलतापूर्वक... हटकर करना क्या? आहाहा! मिथ्यात्व और राग-द्वेष के परिणाम जो परद्रव्य परिणामस्वरूप है, उनसे हटकर—छोड़कर करना क्या? आहाहा! **अति निश्चलतापूर्वक दर्शन-ज्ञान-चारित्र में निरन्तर**

स्थापित कर,... आहाहा! जो अनादि से पुण्य और पाप, राग और द्वेष और मिथ्यात्व में तेरी बुद्धि रुकी थी, वह नरक, निगोद का कारण, चार गति परिभ्रमण का कारण है। आहाहा! उससे हटाकर। कर्म घटे तो हटाकर, ऐसा लिखा नहीं। ऐसा वहाँ लिखा नहीं कि कर्म मार्ग दे तो आत्मा पुरुषार्थ कर सकता है। **उसमें से पीछे हटाकर...** अपने पुरुषार्थ से छोड़ दे। आहाहा! समझ में आया? बात बहुत अच्छी आयी।

यह समयसार 'ग्रन्थाधिराज तारामां भावो ब्रह्मांडना भर्या।' 'ग्रन्थाधिराज तारामां भावो ब्रह्मांडना भर्या।' तीन लोक के नाथ के मुख से वाणी निकली, उसे कुन्दकुन्दाचार्य ने साक्षात् सुनी। आठ दिन रहकर आये और यह बनाया। आहाहा! यह तो भगवान के सन्देश हैं। सीमन्धर भगवान तीन लोक के नाथ समवसरण में विराजते हैं, उनका यह सन्देश है।

तेरी प्रज्ञा के दोष से तू भटकता है और वहाँ से हटाकर। कर्म से हटना, कर्म कुछ मन्द पड़े तो हटाकर—ऐसा कहा नहीं। आहाहा! है? **उसमें से पीछे हटाकर उसे अति निश्चलतापूर्वक...** राग और द्वेष, पुण्य और पाप, दया और दान के भाव, शुभ और अशुभ से हटाकर, उनसे हटाकर। आहाहा! कहाँ आना? आहाहा! **निश्चलतापूर्वक दर्शन-ज्ञान-चारित्र में...** भगवान आत्मा के दर्शन, श्रद्धा—प्रतीति, स्वभाव का ज्ञान और आत्मा का चारित्र अर्थात् स्वरूप में रमणता, इसे दर्शन-ज्ञान-चारित्र में निरन्तर स्थापित कर। जैसे सदा... आहाहा! जैसे सदा अपने अपराध से भटकता था, इसी प्रकार अपने पुरुषार्थ से अपने दर्शन-ज्ञान-चारित्र में निरन्तर स्थापित कर। आहाहा! अलौकिक बात है। एक-एक लाईन में कितना भरा है! एक व्यक्ति कहे, महाराज! तुम समयसार को बहुत ऊँची चीज़, ग्रन्थाधिराज (कहते हो) परन्तु मैंने तो पन्द्रह दिन में पढ़ लिया है। पढ़ लिया, उसमें क्या हुआ? आहाहा! उसके भाव अन्तर में समझे बिना अकेले वाँचन से क्या होगा? अनेक बार वाँचन किया, श्रवण भी अनन्त बार किया, प्रभु!

यहाँ तो कहते हैं, यह मिथ्यात्व और राग-द्वेष जो परद्रव्य विकार है, वह तेरा अपराध है, तेरा दोष है, तेरा गुनाह है। उस गुनाह से हटकर, जिसमें अवगुण नहीं—ऐसे दर्शन-ज्ञान-चारित्र में (स्थाप)। है तो वह परिणाम। दोष भी परिणाम थे। वस्तु में कोई परिणाम नहीं है। वस्तु में कोई दोष या निर्दोष—मोक्षमार्ग नहीं, वह तो त्रिकाल ध्रुव एकरूप

है। आहाहा! उसका जो अपराध था, वह तेरी पर्याय में था। उस अपराध को छोड़ना, वह भी तेरी पर्याय में है। आहाहा! पर्याय अर्थात् अवस्था; अवस्था अर्थात् हालत; हालत अर्थात् दशा। आहाहा! अरे! ऐसा मार्ग है।

दर्शन-ज्ञान-चारित्र में निरन्तर स्थापित कर,... कदाचित् अन्दर व्यवहार आया तो विश्राम मिलेगा, पश्चात् निश्चय में जाऊँगा—ऐसा है नहीं। पहले यह प्रश्न आया था। एक था न? क्या नाम? वे ब्रह्मचारी नहीं? छोटालालजी को बात यहाँ बराबर जँची थी। फिर इन्दौर गये तो वापस बदल गये। वहाँ बोलने लगे कि व्यवहार आता है, वहाँ थोड़ा विश्राम मिलता है, पश्चात् निश्चय में जाए। छोटेलालजी! आहाहा! अरे! भगवान! व्यवहार तो राग और विकार और दोष है न! दोष में आवे तो विश्राम मिले? या विश्राम आत्मा में मिलता है? आहाहा! भाषा तो सादी है, भाई! प्रवीणभाई! समझ में आये ऐसा है। आहाहा! परन्तु अन्दर बैठना... अनन्त-अनन्त काल हुआ सत्य बात सुनने को मिली नहीं। अरे! वह कब करे?

कहते हैं कि **निरन्तर...** आहाहा! **स्थाप...** तेरे आत्मा में जो प्रज्ञा का दोष है, परसन्मुख झुकाव है, पुण्य और पाप से धर्म मानना, ऐसी जो तेरी दृष्टि है, उसे छोड़कर, उसे हटाकर अपने आत्मा के दर्शन-ज्ञान-चारित्र, अपने शुद्ध चैतन्य प्रभु के दर्शन-ज्ञान-चारित्र में निरन्तर स्थापित कर। बीच में व्यवहार विश्राम आयेगा, ऐसा नहीं। विश्राम तो यहाँ (आत्मा में) है। आहाहा! वे छोटेलालजी कहते थे। बाद में बदल गये थे। बाद में यहाँ आये थे, मेरी भूल हो गयी। छोटालालजी थे न? इन्दौर में ब्रह्मचारी आश्रम है न? वहाँ थे। वहाँ आश्रम है। आश्रम के अधिकारी आये थे, गये। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, प्रभु! एक बार प्रज्ञा के अपराध से हटकर, तेरी प्रज्ञा चैतन्यमूर्ति भगवान के श्रद्धा-ज्ञान-स्थिरता में निरन्तर स्थापित कर। आहाहा! **निरन्तर स्थाप...** बीच में विघ्न नहीं, बीच में व्यवहार से थोड़ा मिलेगा, (ऐसा नहीं)। आहाहा! यहाँ तो ऐसा कहते हैं। व्यवहार के पक्षवाले को ऐसा (कठिन) लगता है। व्यवहार तो राग है और यह निश्चय है, वह तो वीतरागी निर्मल पर्याय है। उसमें निरन्तर स्थाप। वह तुझे सेवनयोग्य मोक्ष का मार्ग है। आहाहा! निरन्तर सेवन कर। आया न? **निरन्तर स्थाप...**

तथा समस्त अन्य चिन्ता के निरोध द्वारा... समस्त अन्य चिन्ता। अपने द्रव्य के अतिरिक्त, अपनी चीज़ के अतिरिक्त समस्त परद्रव्य की चिन्ता छोड़कर। आहाहा! एक ओर भगवान आत्मा तथा एक ओर पूरी दुनिया। निश्चय में एक ओर प्रभु, एक और विकल्प से (लेकर) लोकालोक व्यवहार, विकल्प से (लेकर) लोकालोक व्यवहार। आहाहा! **तथा समस्त अन्य चिन्ता के निरोध द्वारा...** आहाहा! समस्त चिन्ता ली है न? कोई भगवान की चिन्ता और भगवान अरिहन्त, पंच परमेष्ठी शरण देंगे... आहाहा! मांगलिक में आता है न? अरिहन्ता मंगलं, सिद्धा मंगल, साहू मंगलं, अरिहंता शरणं, सिद्धा शरणं... यह व्यवहार की बात है। वास्तव में तो यह विकल्प है, शुभराग है, वह शरण नहीं। शरण, उत्तम और मांगलिक तो प्रभु आत्मा है। यह नियमसार में आ गया है। नियमसार में एकत्व सप्तति (के आधाररूप से) में यह आया है। आहाहा! निरन्तर तेरे आत्मा में ही स्थाप। यही निश्चय है और यही वस्तु है। देरी लगे तो उकताना नहीं करना, उकताना नहीं। थोड़ी देर लगे परन्तु रास्ता यह है। इस रास्ते जाने का प्रयत्न कर। आहाहा!

भगवान आत्मा अनादि सत् सत्ता अनन्त, सदानन्द, सत्तानन्दस्वरूप विराजता है, वह प्राप्त हुए बिना रहे नहीं। तू पर्यायबुद्धि में राग में अटका है, जो क्षणिक पलटती है, उसमें अनन्त काल व्यतीत किया। जो चीज़ कायम नहीं रहती। कायम रहती चीज़ भगवान आत्मा के सन्मुख निरन्तर (स्थाप)। पर की चिन्ता के निरोध द्वारा। आहाहा! आत्मा के अतिरिक्त पर की चिन्ता का निरोध—रोकना। **निरोध द्वारा अत्यन्त एकाग्र होकर...** ओहोहो! गाथा तो बहुत अच्छी आयी। पहले पढ़ा था। बीच में तो यह नियमसार पढ़ा न? कल पूरा किया, इसलिए आज से यह शुरु हुआ। इसमें चन्दुभाई यह शुरुआत हुई और आ गये। आहाहा!

अन्य चिन्ता के निरोध द्वारा अत्यन्त एकाग्र होकर... अन्दर भगवान आत्मा में अत्यन्त एकाग्र होकर। जिसमें कोई चिन्ता का विकल्प उठे नहीं। आहाहा! इस प्रकार अत्यन्त एकाग्र होकर **दर्शन-ज्ञान-चारित्र का ही ध्यान कर;...** पर्याय का ध्यान कर, (ऐसा) कहा। राग का नहीं, इस अपेक्षा से (कहा है)। आहाहा! पुण्य और पाप के भाव के प्रभु! वह तो संसार—चार गति में भटकने की बात है। कदाचित् कोई पुण्य किया हो और कोई स्वर्ग आदि मिले तो वहाँ से मरकर तिर्यंच / ढोर हो। मरकर नरक में गया।

अनन्त अवतार किये। आहाहा! कोई कहीं शरण नहीं होता। जो शरण चीज़ यहाँ है, वहाँ दृष्टि की खबर नहीं। मांगलिक, उत्तम और शरण तो आत्मा है। अरिहन्त, सिद्ध शरण, उत्तम और मंगल कहे, वह तो व्यवहार की बात है। आहाहा! यह एकत्व सप्तति (पद्मनन्दिपंचविंशतिका) में आया है।

यहाँ यह कहा, **एकाग्र होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र का ही...** देखा? आहाहा! उसे ही, दूसरे कोई विकल्प, चिन्ता को नहीं। आहाहा! **दर्शन-ज्ञान-चारित्र का ही ध्यान कर;...** उसका ध्यान लगा। आहाहा!

मुमुक्षु : पर्याय के ध्यान से तो विकल्प आयेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय का ध्यान लगा। पर्याय का ध्यान... ध्यान। जो आर्त-रौद्र ध्यान था, वह पर्याय थी और यह धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान भी पर्याय है। वस्तु तो त्रिकाल एकरूप है।

मुमुक्षु : पर्याय पर्याय का ध्यान करती है?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यहाँ ऐसा कहते हैं। राग का ध्यान छोड़कर इसका ध्यान कर, ऐसा यहाँ कहना है। आहाहा! समझ में आया? परन्तु उस पर्याय का ध्यान करता है, तब दृष्टि द्रव्य के ऊपर पड़ती है, तभी उसका ध्यान / एकाग्रता होती है। पर्याय के ऊपर रहकर एकाग्र होता है, ऐसा नहीं। यहाँ तो राग-द्वेष से हटकर, विकार से हटकर अविकारी में रहे, ऐसा समझाना है। आहाहा! अविकारी पर्याय।

मुमुक्षु : दर्शन-ज्ञान-चारित्र का ध्यान कर (ऐसा) कहा तो ध्यान की पर्याय दर्शन-ज्ञान-चारित्र से कहीं अलग है?

पूज्य गुरुदेवश्री : तीनों पर्याय तीन पर्याय है, एक नहीं। तीन पर्याय है, वह द्रव्यरूप से एक है। पर्यायरूप से तीन है। पर्यायरूप से तो अनन्त पर्याय बाह्य है। प्रत्येक द्रव्य को अनन्त पर्याय बाह्य है। आहाहा! निगोद का जीव लो, निगोद का, उसके एक शरीर में अनन्त जीव (रहते) हैं, तथापि अनन्त जीव की अनन्त पर्याय प्रगट है। अनन्त पर्याय बिना का कोई द्रव्य नहीं है। आहाहा! यह पर्याय क्या और गुण क्या? आहाहा!

निगोद में लहसुन में, काई के एक टुकड़े में असंख्य शरीर। एक शरीर में अनन्त

द्रव्य, एक द्रव्य में अनन्त गुण, उन अनन्त गुणों की अनन्त विपरीत पर्यायें प्रगट हैं। आहाहा! कोई प्राणी पर्याय बिना एक समय भी है, ऐसा तीन काल में नहीं है। आहाहा! समझ में आया? इस अपेक्षा से यहाँ कहा कि राग-द्वेष और अज्ञान से हटकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र में ध्यान कर। आहाहा! है?

दर्शन-ज्ञान-चारित्र का ही... 'ही' लिया है। उसका ध्यान अर्थात् दृष्टि द्रव्य के ऊपर रही न! द्रव्य के ऊपर दृष्टि रही, तब दर्शन-ज्ञान-चारित्र उत्पन्न हुए न? आहाहा! ऐसा उपदेश। इसमें क्या करना? बाहर का कुछ करने की बात तो है ही नहीं। यह करो, यह करो, दया पालो, व्रत करो, अपवास करो, रात्रिभोजन नहीं करो, छह परबी कन्दमूल नहीं खाओ, छह परबी ब्रह्मचर्य पालन करो... अरे! भगवान! यह तो सब क्रियाओं की बात है, प्रभु! यह तो राग है। आहाहा! अरे रे! यह बात भी सुनी नहीं।

यहाँ परमात्मा ऐसा कहते हैं, उस चारित्र का ही ध्यान कर। दर्शन-ज्ञान-चारित्र है तो पर्याय। राग का ध्यान छोड़कर उसका ध्यान कर। दृष्टि तो द्रव्य के ऊपर पड़ती है। आहाहा! तब दर्शन-ज्ञान-चारित्र का ध्यान होता है। आहाहा!

मुमुक्षु : इसका अर्थ यह हुआ, दर्शन-ज्ञान-चारित्र के विषयभूत आत्मा का ध्यान कर।

पूज्य गुरुदेवश्री : विषय तो वहाँ है परन्तु यह राग में लीन था, उसे छोड़कर यहाँ लीन हो तो इसका अर्थ हुआ कि वहाँ द्रव्य पर दृष्टि है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु! क्या हो?

कोई द्रव्य अनन्त पर्याय बिना का तीन काल में नहीं होता। अनन्त पर्याय, अनन्त गुण की अनन्त प्रगट पर्याय। आहाहा! वह वीतरागी पर्याय प्रगट करने के लिये राग की पर्याय हटकर वीतरागी पर्याय का ध्यान कर, ऐसा कहा है। नहीं तो ध्यान तो द्रव्य का है। आहाहा! क्या हो? सूक्ष्म बात। सम्प्रदाय में चलती नहीं, बाहर में मिलती नहीं और ऐसी बातें कभी कान में पड़े तब... आहाहा! ठीक लगे। जो भव्य जीव, योग्य प्राणी हो, उसे लगे कि बात तो यह सत्य है। मार्ग तो यह है, प्रभु! जन्म-मरणरहित होने का यह मार्ग है। आहाहा!

यहाँ तीन का ध्यान कहा, इसलिए तीन ही पर्याय ध्यान में रहती है और अनन्त नहीं रहती, ऐसा नहीं है। अन्तर में झुकते हैं तो भी एक ही पर्याय झुकती है और अनन्त पर्याय बाहर रहती है, ऐसा नहीं है। और बाहर में एक पर्याय रही और अनन्त पर्यायें भिन्न रहे, ऐसा भी नहीं है। अनन्त पर्याय व्यक्तरूप से, प्रगटरूप से अनादि-अनन्त प्रत्येक को होती है। आहाहा! यह कहते हैं, इसलिए ऐसा लिया। नहीं तो द्रव्य का ध्यान करना है।

अन्य चिन्ता के निरोध द्वारा अत्यन्त एकाग्र होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र का ही ध्यान कर;... आहाहा! पर्याय का ध्यान कर, ऐसा कहा। तथा एक ओर ग्यारहवीं गाथा में ऐसा कहते हैं, '**भूदत्थमस्सिदो खलु**' एक त्रिकाली द्रव्य का आश्रय करने से सम्यग्दर्शन होता है। परन्तु उसमें यह आ गया। राग से हटा तो स्वभावसन्मुख की दृष्टि हुई। पर्याय बिना का द्रव्य तो कभी तीन काल-तीन लोक में होता नहीं। एक पर्याय नहीं, अनन्त पर्याय। अनन्त गुण की अनन्त पर्याय बाहर है। आहाहा! उसमें से राग-द्वेष और मिथ्यात्व की पर्याय में जो रुका है, वहाँ से हटकर, हट जा। आहाहा! सन्तों का आदेश है, यह तो आदेश है। यहाँ से हट जा। आहाहा! खसी जा, यह अपनी (गुजराती) भाषा।

यह तो एक क्षुल्लक थे न? गुजर गये। आदिसागर। आते थे बेचारे, बुद्धि कम थी परन्तु यहाँ का सुनकर प्रेम बहुत (आया था)। फिर दूसरे देश में जाए तो यहाँ की पुस्तकें मँगाये, बहुत दे। फिर थोड़ा-थोड़ा उनसे कहे, देखो! भाई! मुझे बहुत नहीं आता। बहुत (समझना) होवे तो महाराज के पास जाओ। परन्तु मैं संक्षिप्त में ऐसा कहता हूँ कि पर से खस, स्व में वश, इतना बस, यह टुंकुं टच। ऐसा कहते थे। पर से खस, अन्तर में बस, इतना बस। यह टुंकुं टच, ऐसा वे बेचारे कहते थे। बुद्धि बहुत थोड़ी थी, इसलिए बहुत धार सके नहीं परन्तु बात उन्हें सुहाती, रुचती थी। इसलिए दूसरे पूछें तो यह कहे। आहाहा!

पर से खस में एक ही पर्याय आवे? आहाहा! अनन्त पर्यायें पर से हटती हैं। आहाहा! और अनन्त पर्याय में स्थिर हो। परन्तु उसमें मुख्य तो यह चीज़ है। यह चीज़ है, उसमें सब आ गया। आहाहा! **दर्शन-ज्ञान-चारित्र का ही ध्यान कर; तथा समस्त कर्मचेतना और कर्मफलचेतना के त्याग द्वारा...** आहाहा! क्या कहते हैं? कर्मचेतना— पुण्य और पाप के परिणाम, वे कर्मचेतना। कर्म अर्थात् यह विकार का कार्य है। शुभ-

अशुभभाव, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, काम, क्रोध के भाव, वे शुभ और अशुभभाव हैं। दोनों वर्तमान पर्याय है। उन दोनों शुभाशुभभाव से हटकर। है न ? आहाहा ! यह कर्मचेतना। आहाहा ! कठिन बात है, भाई ! मूल वस्तु कठिन है। बाकी ऊपर के चारित्रदोष तो किसी समय आ जाते हैं। वह चारित्रदोष जाए, तब तो ओहोहो ! परन्तु यह चीज़ अन्तर की है। आहाहा !

अन्य-अन्य **अन्य चिन्ता के निरोध द्वारा अत्यन्त एकाग्र होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र का ही ध्यान कर; तथा समस्त कर्मचेतना...** समस्त अर्थात् भगवान के स्मरण का राग, वह भी कर्मचेतना है। कर्म अर्थात् राग, कार्य। कर्म अर्थात् कार्य। वह पर्याय एक कार्य है। रागरूपी पर्याय वह कार्यचेतना—कर्मचेतना है। आहाहा ! दया, दान के परिणाम, वे रागरूप परिणाम कर्मचेतना है। हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग वासना, वह भी कर्मचेतना—पापरूपी कर्मचेतना है। कर्म शब्द से जड़कर्म नहीं। कर्म शब्द से कार्य। यह पुण्य और पाप का पर्याय में जो कार्य होता है (वह कर्मचेतना है)। भगवान त्रिकाली स्वरूप कारण है, वह तो अनादि से अज्ञानी को ऐसे कार्य पर्याय में उत्पन्न होते हैं। आहाहा ! उस पर्याय को राग की चेतना, पुण्य की चेतना, पुण्य का अनुभव, उसको कर्मचेतना कहा है। कर्मचेतना का अर्थ विकाररूपी कार्य में चेतना हुई, उसका नाम कर्मचेतना है। अरे ! प्रभु ! आहाहा ! इसमें परदेश में और हैदराबाद में कहाँ मिले ? भाई ! दामोदरभाई ! कहाँ हैदराबाद ? आहाहा ! इस बार प्रेम से आये हैं। हमारे पुराने परिचित हैं। आहाहा ! अरे ! यह वस्तु बापू ! प्रभु ! आहाहा !

यह दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम को कर्मचेतना कहते हैं। आहाहा ! कर्मचेतना अर्थात् ? कर्म जड़ की चेतना, ऐसा नहीं। कर्म अर्थात् कार्य। जो वस्तु भगवान आत्मा है, वह तो त्रिकाल है परन्तु उसकी पर्याय को कार्य कहा जाता है। कोई द्रव्य निकम्मा नहीं है, ऐसा कहा जाता है। दीपचन्दजी ऐसा कहते थे, सरदारशहर। कि कोई द्रव्य निकम्मा नहीं है। निकम्मा अर्थात् वर्तमान पर्यायरूपी कार्य—कामरहित पदार्थ नहीं है। आहाहा ! यह कर्मचेतना है। कर्म अर्थात् जड़ कर्म से हुआ, ऐसा नहीं। आहाहा ! **कर्मचेतना और कर्मफलचेतना...** और उसका फल विकार, दु:ख। इसका विशेष आयेगा। थोड़े में नहीं समझ में आयेगा.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

प्रवचन नं. ४५६, गाथा-४१२ सोमवार, श्रावण कृष्ण १४
दिनांक - ०८-०९-१९८०

यहाँ कर्मचेतना और कर्मफलचेतना है। वहाँ आया है। अर्थात् क्या? ४१२ (गाथा की टीका की) छठी लाईन। कर्मचेतना अर्थात् क्या? कर्म अर्थात् जड़ (कर्म की) यहाँ बात नहीं है। कर्म अर्थात् कार्य। कार्य अर्थात् अवस्था। ४१२ गाथा की टीका की पाँचवीं लाईन। आहाहा! कर्मचेतना। पुण्य और पाप दोनों भाव (होते हैं), वह कर्म अर्थात् पर्याय है। कर्म अर्थात् कार्य है। वस्तु त्रिकाल है, उसकी यह पर्याय कार्य है। इसलिए कार्य को कर्म कहकर कर्मचेतना कहा है। है न?

एकाग्र होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र का ही ध्यान कर; तथा समस्त कर्मचेतना... आहाहा! राग का—व्यवहार का कण भी कर्मचेतना है, उसे भी दृष्टि में से छोड़ दे। क्या कहा? कि आत्मा में समस्त प्रकार के पर्याय अर्थात् राग आदि, द्वेष आदि पुण्य-पाप के भाव, जितने दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध के भाव होते हैं, उस भाव को कर्म अर्थात् कार्य कहा। वह कार्यचेतना कहो या कर्मचेतना कहो, धर्म करना हो तो उसे छोड़ दे। आहाहा! अब ऐसी बात। नजर न पहुँचे वैसी बात और यहाँ यह सब करना, उसमें नजर पहुँचे। अरे! भगवान!

मुमुक्षु : यही नजर पहुँचे ऐसी बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो नजर पहुँचे, ऐसी अन्दर की बात है। आहाहा! आत्मा में जिस समय में पुण्य और पाप, दया और दान, व्रत और भक्ति, काम और क्रोध परिणाम उत्पन्न होते हैं, उन परिणाम को कर्मचेतना कहा गया है। कर्म अर्थात् कार्य। आहाहा! इसमें कहाँ तुम्हारे स्टील में ऐसा सुना है? दो-दो करोड़ रुपये का स्टील। अब पैसा बढ़ गया है, ऐसा कोई कहता था। धूल बढ़े।

यहाँ आत्मा में क्या करना है? आहाहा! आत्मा में **समस्त कर्मचेतना...** यह पुण्य और पाप के परिणाम को कर्मचेतना कहा जाता है। इतनी तो स्पष्ट बात आती है परन्तु अब क्या करें? **और कर्मफलचेतना...** यह पुण्य और पाप का फल हर्ष और शोक, पुण्य

परिणाम में शुभ में हर्ष आता है, पाप के परिणाम में शोक और दु:ख होता है, वह कर्मफलचेतना है। आहाहा! कर्मफल अर्थात् यहाँ जड़कर्म की बात नहीं है। भावकर्म।

भगवान आत्मा त्रिकाली सच्चिदानन्द प्रभु अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द से पूर्ण सम्पन्न भरपूर है। उसमें जो यह भाव होता है, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, काम, क्रोध, विषयभोग वासना, कमाना, कमायी, इस भाव को यहाँ कर्मचेतना कहते हैं। जिसे धर्म करना हो, उसे इस कर्मचेतना का त्याग करना पड़ेगा। बाह्य त्याग से धर्म नहीं होता। बाह्य त्याग तो अनन्त बार किया। बाह्य ग्रहण-त्याग का स्वभाव आत्मा का है ही नहीं।

आत्मा में एक ऐसा गुण है—त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति। ऐसी ४७ शक्तियों में एक शक्ति है। पर—एक रजकण का भी त्याग और रजकण का ग्रहण, इस त्याग-ग्रहण से आत्मा शून्य है। स्त्री का ग्रहण और स्त्री का त्याग, इन दोनों बात से आत्मा शून्य है। आहाहा! आत्मा का त्यागोपादानशून्यत्व स्वभाव ही ऐसा है। त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति। कि जिसमें आत्मा की निर्मल पर्याय को ग्रहण करना और राग को छोड़ना, यह भी व्यवहार है। आहाहा! निश्चय में यथार्थ में तो चैतन्य भगवान आत्मा अपने स्वरूप में रहना और राग की उत्पत्ति न होना, उसका नाम कर्मचेतना का त्याग कहने में आता है। आहाहा! मूल वस्तु भारी कठिन। मार्ग तो यह है। महँगा पड़े, दुर्लभ पड़े, दूसरी कोई चीज़ नहीं है। आहाहा!

कोई भी परिणाम से किसी के परिणाम बदलना, यह वस्तु के स्वरूप में नहीं है। आहाहा! समझ में आया? यह यहाँ (कहते हैं) कर्मचेतना अर्थात् पुण्य-पाप के परिणाम का कार्य विकारी भाव को यहाँ कर्मचेतना कहा है; और कर्मफलचेतना—विकारी भाव का कल्पना में सुख-दु:ख का वेदन (करना), वह कर्मफलचेतना है। दोनों अरूपी हैं। दोनों आत्मा के स्वभाव से विपरीत हैं। आहाहा! अरे! किस प्रकार वस्तु की स्थिति... ? सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ परमात्मा विराजते हैं, उन्होंने ऐसी बात की है। वह बात यह है। दुनिया को न जँचे और दुनिया को नियतवाद लगे, इससे कहीं वस्तुस्थिति बदल जायेगी? यह वस्तु तो जैसी है, वैसी है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, **समस्त कर्मचेतना और कर्मफलचेतना के त्याग द्वारा..** आहाहा!

इसका नाम त्याग। स्त्री, कुटुम्ब, दुकान छोड़ी, वह त्याग नहीं। क्योंकि उनका त्याग-ग्रहण आत्मा में है ही नहीं। क्योंकि आत्मा परद्रव्य को स्पर्श ही नहीं करता। आहाहा! आत्मा अपने विकार के अतिरिक्त दूसरे किसी भी द्रव्य को स्पर्श ही नहीं करता। आहाहा! अपने में पुण्य और पाप के विकार को वेदन करता है, स्पर्श करता है। तो यहाँ कहते हैं, प्रभु! यदि तुझे धर्म करना हो, जन्म-मरण रहित होना हो, भव का अभाव करना हो तो इस कर्मचेतना और कर्मफलचेतना का त्याग कर। **त्याग द्वारा...** है? आहाहा!

यह तो शान्ति का मार्ग है, प्रभु! यह कहीं हो... हा, बड़ी वार्ता और कथा हो, ऐसा मार्ग नहीं है, प्रभु! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर अनन्त-अनन्त हो गये, अनेक तीर्थंकर वर्तमान में विचरते हैं, भविष्य में अनन्त होंगे, उन अनन्त तीर्थंकरों का यह कथन है। प्रभु! यदि तुझे कल्याण करना हो तो... आहाहा! किसी व्यवहार से अन्दर कुछ होता है, यह बिल्कुल नहीं है। आहाहा! अन्तर में नय का शुभ विकल्प उठे, निश्चय और व्यवहारनय के बहुत भेद हैं, उसमें नय का विकल्प / राग उठे, वह भी कर्मचेतना है। आहाहा! ऐसा मार्ग, प्रभु! यह कर्मचेतना—नय के विकल्प का भी त्याग। आहाहा! पर्यायनय, द्रव्यनय—ऐसे नय तो अनेक प्रकार से हैं परन्तु उस नय का जो विकल्प—राग उठता है, उस राग को यहाँ कर्मचेतना कहा है और उस राग का अनुभव होता है, उसे कर्मफलचेतना कहा है। प्रभु! दोनों चेतना का तेरी दृष्टि में से त्याग कर। आहाहा!

ऐसा मार्ग! लोहे के कारण कभी सुना नहीं। लोहे का ऊँचा (भाव) हुए। दो करोड़ का लोहा था। चालीस लाख की आमदनी हुई। तब हम वहाँ थे। फिर और कुछ अधिक आमदनी (हो गयी), अब तो बहुत है, ऐसा कोई कहता था। धूल इकट्ठी हुई। यह तो करोड़पति है। आहाहा! अरे! किसका पति कहलाये? प्रभु! किसका स्वामी? लक्ष्मीपति! लक्ष्मी जड़, उसका स्वामी? करोड़पति! करोड़ धूल जड़ का पति—स्वामी। कलंक नहीं? आहाहा! नरपति! नर अर्थात् मनुष्य का पति—राजा। यह सब मिथ्या बात है। किसका पति? एक द्रव्य का दूसरा द्रव्य पति कहाँ से आया? एक द्रव्य का दूसरा द्रव्य स्वामी कहाँ से हुआ? प्रभु! आहाहा! कठिन बात है, प्रवीणभाई! इसमें प्रवीणता लाना कठिन बात है। इसमें—लोहे में प्रवीणता घुस गयी है। आहाहा! इसे लोहे का बड़ा व्यापार है। लोहे का है न? टाईल्स... टाईल्स का। 'थाणा' में उतरे थे न? तुम्हारी टाईल्स के मकान

में ही उतरे थे। घर में व्याख्यान दिया था। यह टाईल्स, पत्थर। आहाहा! शान्ति से, धीरज से समझने की बात है, प्रभु! यह कोई कुदक्का और कोलाहल करना और ऐसा करना तथा वैसा करना, ऐसी कोई चीज़ नहीं है।

आत्मा के अतिरिक्त बाह्य के सर्व पदार्थ का तो आत्मा में त्याग ही है। उनका त्याग और ग्रहण आत्मा में है ही नहीं। स्त्री-कुटुम्ब का त्याग और ग्रहण आत्मा में है ही नहीं। आहाहा! व्यापार-धन्धे का त्याग-ग्रहण भी आत्मा में है ही नहीं। आहाहा! मात्र त्याग और ग्रहण, पुण्य और पाप के भाव का त्याग और उसके अनुभव—फल के त्याग द्वारा **शुद्धज्ञानचेतनामय होकर...** लो! यह ग्रहण। आहाहा! यह वार्ता नहीं, प्रभु! यह तो वीतराग के सिद्धान्त हैं। सर्वज्ञदेव की वाणी है, प्रभु! साक्षात् तीन लोक के नाथ, सौ इन्द्र जिनके तलिया चाटते हैं। जिनकी सभा में इन्द्र (आते हैं)। अभी भगवान विराजते हैं। ऐसे पिल्ले का बच्चा जैसे बैठा हो, वैसे सभा में बैठे। भगवान की वाणी सुनते हैं। आहाहा! उनकी यह वाणी है।

कर्म और कर्मफलचेतना के त्याग द्वारा। बाह्य त्याग द्वारा—ऐसी भाषा नहीं ली। स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, दुकान, धन्धे के त्याग द्वारा, ऐसा नहीं लिया। क्योंकि उनका तो त्याग ही है, वे कहाँ अन्दर में हैं? आहाहा! ऐसी बात है, प्रभु! **त्याग द्वारा शुद्धज्ञानचेतनामय होकर...** शुद्धज्ञानचेतनामय। आहाहा! ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा, जाननस्वरूपी शुद्ध ज्ञानचेतना। उस ज्ञान में चेतना अर्थात् अनुभव (होना)। जैसे कर्मचेतना और कर्मफलचेतना का—दुःख का अनुभव था, उसका त्याग करके भगवान शुद्ध ज्ञानचेतना सुखरूप है, उसका परिणमन कर। आहाहा! ऐसी बड़ी बातें। है या नहीं अन्दर?

शुद्धज्ञानचेतना। यह कर्मचेतना और कर्मफलचेतना, वह अशुद्धचेतना है, मलिन है। उसके त्याग द्वारा। आहाहा! निर्णय तो करे, अभी निर्णय तो कर। यह पुण्य और पाप के त्याग द्वारा शुद्धज्ञानचेतना (प्रगट कर)। पुण्य-पाप की कर्मचेतना और कर्मफलचेतना, यह अशुद्ध ज्ञानचेतना थी। उसे छोड़कर **शुद्धज्ञानचेतनामय होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ही चेत...** सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को चेत, **अनुभव...** कर। आहाहा! ऐसी बात है। ऐसा कठिन लगे, इसलिए बाहर के कोई भी साधन (करने लगता है)। अनादि से बाह्यदृष्टि चिपटी है।

इस शरीर के एक रजकण को भी स्पर्शा नहीं, आत्मा स्पर्शा नहीं। यह शरीर तो अनन्त रजकण का पिण्ड है, अनन्त परमाणु का दल है। उसमें एक रजकण को भी आत्मा स्पर्शा नहीं। प्रभु उसे स्पर्शा नहीं तो तू किसकी क्रिया करेगा? जिसे तू स्पर्शा भी नहीं, छुआ भी नहीं, उसकी क्रिया तू कर सकता है? आहाहा! कठिन है, प्रभु! सोनगढ़ के नाम से बाहर में फिर ऐसा कहा जाता है, कितने ही कहते हैं, ऐ..ई..! यह तो अकेली निश्चय की बातें करते हैं। व्यवहावर साधन-फाधन की बात नहीं करते। परन्तु व्यवहार साधन है नहीं। व्यवहार सब राग और द्वेष और कर्मचेतना तथा कर्मफलचेतना है। आहाहा!

उसके **त्याग द्वारा... शुद्धज्ञानचेतनामय होकर...** आहाहा! **दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ही चेत-अनुभव...** सम्यग्दर्शन-शुद्धचेतनास्वरूप त्रिकाली भगवान की प्रतीति—श्रद्धा, उसका अनुभव होकर श्रद्धा, उसका अनुभव होकर प्रतीति, उसका अनुभव होकर स्थिरता होना, वह दर्शन, ज्ञान और चारित्र तीन है। आहाहा! ऐसी बात है, बापू! यह **दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ही...** '**ही**' शब्द पड़ा है। '**ही**' (कहकर) एकान्त कहते हैं। उसका ही सेवन कर। कर्मचेतना व्यवहार को नहीं। इसलिए '**ही**' लिया है। आहाहा! **दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ही चेत...** इसका अनुभव कर। आहाहा!

प्रभु चेतनास्वरूप त्रिकाली ज्ञान और आनन्दकन्द प्रभु है, उसकी श्रद्धा (कर)। राग की कर्मचेतना और कर्मफलचेतना का त्याग करके, वह चैतन्यस्वभाव है, इसके दर्शन, ज्ञान और चारित्र का अनुभव कर। यह है पर्याय। कर्मचेतना और कर्मफलचेतना अशुद्ध चेतना थी। अशुद्ध चेतना थी, वह भी परिणाम थे, यह भी परिणाम है। आहाहा! है? **दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ही...** आहाहा! प्रभु! तुझे हित करना हो तो भगवान आनन्दस्वरूप ज्ञान की मूर्ति प्रभु के दर्शन, ज्ञान और चारित्र चेत और अनुभव कर। जन्म-मरण रहित होने का यह एक उपाय है। व्यवहार बीच में आता है परन्तु वह तो दुःखरूप है। वह तो कर्मचेतना और कर्मफलचेतनारूप है। आहाहा! है या नहीं अन्दर? एकदम सब फेरफार लगे। बाहर सुनता हो, उसमें यह सब (सुने, इसलिए ऐसा लगता है कि) यह क्या? ऐसी बात? कहीं नजर पहुँचती नहीं। कुछ किया नहीं जा सकता, वहाँ करना? और यह किया जा सकता है, वहाँ छोड़ना?

प्रभु! पर का कुछ नहीं किया जा सकता। आँख की पलक भी आत्मा फिरा नहीं

सकता। आहाहा! एक तिनके के दो टुकड़े भी आत्मा कर नहीं सकता। वह करता है, ऐसा माने यह तो मिथ्याभ्रम पाप है। आहाहा! करनेयोग्य तो यह है कि पुण्य और पाप के भाव दृष्टि में से छोड़कर चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा है, उसके दर्शन, ज्ञान और चारित्र, श्रद्धा, ज्ञान और रमणता चेत, अनुभव कर। आहाहा! तो तुझे भवभ्रमण का अन्त आयेगा। नहीं तो भवभ्रमण का अन्त नहीं आयेगा। आहाहा! है या नहीं? चेत—अनुभव कर।

तथा द्रव्य के स्वभाव के वश से... आहाहा! क्या कहते हैं? यह तो गहन विषय है, प्रभु! द्रव्य जो आत्मा है, **द्रव्य के स्वभाव के वश से (अपने को) प्रतिक्षण जो परिणाम उत्पन्न होते हैं,...** निर्मल-निर्मल (परिणाम)। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के निर्मल परिणाम। **द्रव्य के स्वभाव के वश...** आहाहा! द्रव्य के स्वभाव के वश। आहाहा! **द्रव्य के स्वभाव के वश से (अपने को) प्रतिक्षण...** प्रत्येक क्षण... प्रत्येक समय में जो **परिणाम उत्पन्न होते हैं, उनके द्वारा (अर्थात् परिणामीपने के द्वारा तन्मय परिणामवाला) (-दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय परिणामवाला) होकर...** आहाहा! ऐसी कठिन बात है। बाहर से कुछ होता हो (तो किया तो जा सके)। यह तो नय है, नयचक्र के विकल्प हैं, वे भी आत्मा में साधक नहीं हैं। निश्चयनय जो निर्विकल्प है, विकल्परहित है, उस नय की यहाँ बात करते हैं। आहाहा! जो नय में विकल्प होते हैं, वह तो सब राग है, वह कहीं साधन-बाधन नहीं है। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, ऐसे जो परिणाम उत्पन्न होते हैं, उनके द्वारा। **(परिणामीपने के द्वारा...)** अर्थात् आत्मा परिणामीपने द्वारा, परिणमनेवाला, बदलनेवाला हुआ। आहाहा! तन्मय परिणामवाला, उसमें **तन्मय परिणामवाला होकर...** आहाहा! **(-दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय परिणामवाला) होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र में ही विहार कर;...** वहाँ विहार कर। आहाहा! विहार कर, ऐसा पाठ लिया है। अन्दर में दर्शन, ज्ञान और चारित्र जो परिणाम (होते हैं), द्रव्य के स्वभाव के वश से प्रतिक्षण परिणाम उत्पन्न होते हैं। कैसे (परिणाम)? निर्मल दर्शन, ज्ञान और चारित्र। क्योंकि कर्मचेतना और कर्मफलचेतना का त्याग करके अन्दर जहाँ स्वभाव सन्मुख हुआ तो प्रतिक्षण परिणाम द्रव्य के स्वभाव के वश से निर्मल दर्शन, ज्ञान, चारित्र के परिणाम उत्पन्न होते हैं। आहाहा! उसमें विहार कर। आहाहा! विहार कर अर्थात् वहाँ चलने का होगा? अन्दर में एकाग्र कर। आहाहा! ऐसी

बात है। क्या हो ? बाहर में चलता नहीं, इसलिए यहाँ की बात कुछ न कुछ बात एकान्त ही लगती है। क्योंकि व्यवहारनय के प्रकार बहुत पड़ते हैं, उसमें कहे, यह नय का साधन है और इस नय का यह साधन है। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि निश्चयनय नयातिक्रान्त, जिसमें विकल्प नहीं, राग नहीं। आहाहा! ऐसा नयातिक्रान्त स्वभाव द्वारा उसमें विहार कर, उसमें रमणता कर। पूरी बात में सब अन्तर। आहाहा! अभी संसार के काम से, उसके गृहस्थ के काम से निवृत्त नहीं होता, उसमें और इस धर्म के नाम से प्रचलित क्रियाकाण्ड से भी निवृत्त हो। आहाहा! गजब बात है, प्रभु!

दर्शन–ज्ञान–चारित्र में ही विहार कर; तथा ज्ञानरूप को एक को ही अचलतया... एक ज्ञानस्वरूपी भगवान... आहाहा! एक ज्ञानस्वरूपी प्रभु, आहाहा! उसे—**एक को ही...** एक को ही, दूसरा बिल्कुल नहीं। विकल्प, रागमात्र का अंश नहीं। आहाहा! ऐसा है। सुरेशभाई! एक तो इस धन्धे के कारण निवृत्ति नहीं मिलती, उसमें ऐसी बात। उसमें कुछ न कुछ निश्चय के नाम से भी लोग कहीं चढ़ा देते हैं। आहाहा! नय ऐसा है और नय ऐसा है और नय ऐसा है और नय... परन्तु यह सब नय इन्द्रजाल है, ऐसा कहा है। आहाहा! इस इन्द्रजाल को दृष्टि में से छोड़ दे। आहाहा!

एक स्वभाव चैतन्यमूर्ति, चैतन्य निश्चय दर्शन, ज्ञान और चारित्र—उसकी रमणता, वह एक ही ग्रहण कर। आहाहा! उसमें विहार कर। **तथा ज्ञानरूप को एक को ही अचलतया अवलम्बन करता हुआ,...** एक ज्ञानस्वरूपी भगवान... आहाहा! कठिन बात है। यह कहीं सोनगढ़ की बात नहीं है। (लोग) ऐसा कहते हैं कि सोनगढ़वाले निश्चय की (बात) करते हैं। यह तो हजारों वर्ष पहले की टीका है। दो हजार वर्ष पहले के श्लोक हैं और वे भी परमात्मा के पास गये थे, वहाँ से आकर बनाया है। आहाहा! यहाँ परमात्मा द्वारा आया। वहाँ थे, हम भी वहाँ थे। आहाहा! परन्तु देह छूटते (समय) परिणाम समरूप नहीं रहे। यहाँ काठियावाड़ में उमराला में जन्म हो गया। ॐ रह गया। आहाहा! आहाहा! एक गाथा में कितना (भरा है)! गाथा एक। आहाहा!

कहते हैं, **ज्ञानरूप को एक को...** प्रभु आत्मा तो ज्ञान-जाननशक्ति, ज्ञातापना-

दृष्टापना उसका त्रिकाली स्वभाव है। उस एक को ही, एक को ही व्यवहारमात्र को नहीं। आहाहा! **अचलतया अवलम्बन करता हुआ,...** एक को ही अन्दर स्वरूप को, चलित नहीं हो उस प्रकार से **अचलतया अवलम्बन करता हुआ,...** अचलरूप से अन्दर ज्ञानस्वरूप भगवान है, उसका चलित न हो, इस प्रकार से अवलम्बन ले। आहाहा! गजब बात है। **ज्ञानरूप को एक को ही...** स्वरूप ज्ञान त्रिकाल की बात है, हों! वे तीन दर्शन, ज्ञान, चारित्र परिणाम हैं, वे तीन परिणाम हैं। इन तीन के ज्ञानरूप अर्थात् त्रिकाल। त्रिकाल आत्मा को ही, एक को ही। आहाहा!

पहले तो तीन बोल कहे थे—दर्शन, ज्ञान और चारित्र। वह पर्याय है। वह पर्याय निर्मल है परन्तु वह निर्मल पर्याय कैसे होती है ? कि ज्ञानस्वरूपी भगवान त्रिकाल आत्मा, चैतन्य का चन्द्र, चैतन्य का शीतल चन्द्र, शान्ति और प्रकाश का पुंज प्रभु, उसका अचलरूप से अवलम्बन। चलित न हो, इस प्रकार से अवलम्बन लेने से, आहाहा! मार्ग ऐसा है। **अवलम्बन करता हुआ, जो ज्ञेयरूप होने से उपाधिस्वरूप हैं...** आहाहा! यह राग, शरीर, वाणी और मन, ये सब ज्ञेय हैं—ज्ञान में ज्ञात होनेयोग्य हैं, परन्तु वह तो उपाधिरूप है। आहाहा!

जो ज्ञान में **ज्ञेयरूप होने से उपाधिस्वरूप हैं, ऐसे सर्व ओर से फैलते हुए...** आहाहा! राग और विकल्प का एक कण, सूक्ष्म कण भी, नय के एक विकल्प का भी कण, आहाहा! **ज्ञानरूप को एक को ही अचलतया अवलम्बन करता हुआ, जो ज्ञेयरूप होने से उपाधिस्वरूप हैं...** आहाहा! यह राग और राग का बाह्य साधन, सब उपाधि है। आहाहा! गाथा तो बहुत सरस आयी है। आहाहा! जगत को जँचना कठिन। यह निश्चय वस्तु बैठना (कठिन)। कुछ न कुछ, कुछ न कुछ, व्यवहार, व्यवहार, व्यवहार, इसे व्यवहार की लकड़ी अन्दर में घुसी हो, वह उसे निकलना कठिन है। आहाहा! किसी भी प्रकार से व्यवहार दूसरे को समझा सके, तब ही समझे, ऐसा तो व्यवहार चाहिए न ? ऐसा करके व्यवहार पर वजन देता है। आहाहा! दूसरे को समझाने के लिये व्यवहार तो लेना पड़े न ? कौन ले प्रभु! वह व्यवहार आवे, परन्तु वह कहनेवाले और सुननेवाले दोनों को अनुसरण करनेयोग्य नहीं है। 'नानुसर्तव्य:' आठवीं गाथा। आहाहा! आता है, इसलिए

आदरणीय है, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसा मार्ग। अब तो लाखों लोग विचार में चढ़ गये हैं। यह तीस लाख पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। विचार में चढ़े हैं परन्तु अन्दर व्यवहार का विकल्प, किसी प्रकार से विकल्प किंचित् साधन है, यह शल्य नहीं जाती। आहाहा! सूक्ष्म में सूक्ष्म विकल्प भी आत्मा के स्वभाव से अत्यन्त विरुद्ध है। उससे भी किंचित् लाभ होगा... आहाहा! यह मिथ्यात्व का शल्य है। ओहोहो! जतीशभाई है? तुम अकेले आये हो? समझ में आया? आहाहा! ऐसी बात है। ऐसा उपदेश।

भगवान तीर्थंकरदेव तो ऐसा कहते हैं। उसमें से कुछ भी फेरफार (चलता नहीं)। व्यवहार होवे तो निश्चय होता है, यह भी बड़ा शल्य है। आहाहा! व्यवहार आता है, परन्तु वह व्यवहार कर्मचेतना और कर्मफलचेतना में जाता है। वह ज्ञानचेतना में नहीं (आता)। ज्ञानचेतना अर्थात् ज्ञानस्वरूपी प्रभु प्रज्ञाब्रह्म, ज्ञान और आनन्द का कन्द प्रभु का आश्रय लेना है, वहाँ तो विकल्प का अंश भी नहीं है। आहाहा! ऐसे **एक को ही अचलतया अवलम्बन करता हुआ, जो ज्ञेयरूप होने से उपाधिस्वरूप हैं ऐसे सर्व ओर से फैलते हुए...** आहाहा! चारों ओर से राग फैलता है, विकल्प का विस्तार फैलता है। आहाहा! है?

समस्त परद्रव्यों में किञ्चित् मात्र भी विहार मत कर। आहाहा! चारों ओर से जहाँ-जहाँ नजर करेगा तो प्रभु! वहाँ-वहाँ तुझे विकल्प उत्पन्न होगा, राग ही उत्पन्न होगा। आहाहा! चारों ओर में। आहाहा! परमात्मा तो कहते हैं, हम सिद्ध हैं, हमारे ऊपर नजर करेगा तो भी विकल्प उत्पन्न होगा। आहाहा!

कहते हैं, **उपाधिस्वरूप हैं ऐसे... ज्ञेयरूप होने से...** ज्ञेयरूप होने से **उपाधिस्वरूप हैं...** ऐसा कहते हैं, देखो! ज्ञात होनेयोग्य चीज़ है, वह ज्ञेयरूप होने से उपाधिरूप है। आहाहा! **ऐसे सर्व ओर से फैलते हुए...** चारों ओर से विकल्प का जाल विस्तार पाता हुआ, **समस्त परद्रव्यों में किञ्चित्मात्र भी विहार मत कर।** आहाहा! गाथा बहुत सरस है। सूक्ष्म बात है परन्तु वस्तु है। आहाहा! यह करने से ही छुटकारा है। यह करना अपने अधिकार की बात है। अपने से होता है, इसमें किसी पर की आशा नहीं है। आहाहा! कहो, एक गाथा में कल भी चला था। पौने दो घण्टे चला। इतनी टीका में इतना भरा है!

आहाहा ! यह तो वाँचने करने की निवृत्ति भी कहाँ हो ? और पढ़े तो समझ सके नहीं। पहाड़े बोल जाये। आहाहा !

मुमुक्षु : परद्रव्य में तो व्यवहाररत्नत्रय और पंच परमेष्ठी सब आ गये।

पूज्य गुरुदेवश्री : सब, परद्रव्य सब। चारों ओर से किसी भी पर के प्रति लक्ष्य जाएगा तो विकल्प उठेगा। आहाहा ! राग उत्पन्न होगा।

भगवान ज्ञानस्वरूपी ज्ञाता, ज्ञान को पिण्ड प्रभु, वह बाहर में कुछ भी लक्ष्य करेगा... कहा न ? **सर्व ओर से...** चारों ओर से। आहाहा ! **फैलते हुए...** चारों ओर से ज्ञेय के ऊपर नजर करने से तो विकल्प उत्पन्न होगा। आहाहा ! भाषा कैसी ली है ! **जो ज्ञेयरूप होने से उपाधिस्वरूप हैं...** पहले ये शब्द लिये हैं। **ज्ञेयरूप होने से उपाधिस्वरूप हैं...** ऐसा कहा। ज्ञेय है, वह तो जाननेयोग्य है परन्तु वे जाननेयोग्य तब कि, जब अपना ज्ञान होता है, तब पर का ज्ञान होता है। परन्तु अपना ज्ञान छोड़कर... आहाहा ! अकेले परज्ञेयरूप उपाधिस्वरूप है। आहाहा ! गजब बात है।

अपने स्वरूप का निश्चय अनुभव होने के पश्चात् विकल्प आता है, राग होता है, परन्तु उस राग को जाननेवाला है, ऐसा कहना भी व्यवहार है। आहाहा ! वह तो स्वयं अपने को जानता है, उसमें राग का ज्ञान भी अपने जानने में आ जाता है। आहाहा ! इसलिए यहाँ प्रभु ने कहा कि **सर्व ओर से...** अर्थात् सर्व ओर से। सर्व ओर से। तू जहाँ है, वहाँ से चारों ओर से विकल्प उत्पन्न होता है। आहाहा ! चारों ओर से, **सर्व ओर से फैलते हुए समस्त परद्रव्यों में...** किंचित्मात्र राग भी परद्रव्य। **किञ्चित्मात्र भी विहार मत कर।** आहाहा ! अब ऐसी बात ! इसकी गन्ध ही आना मुश्किल। कभी सुना न हो। पूरे दिन दुनिया के प्रपंच के पाप। आहाहा ! पाप के प्रपंच की सब जाल रची है।

यहाँ कहते हैं, चारों ओर से, आहाहा ! **सर्व ओर से...** भगवान ज्ञानस्वरूप में सर्व ओर से फैलते हुए। बाह्य ज्ञेयरूप उपाधि में लक्ष्य करने से चारों ओर की उपाधि फैलते हुए। आहाहा ! **समस्त परद्रव्यों में किञ्चित्मात्र भी विहार मत कर।** इस ओर विहार (कर), विकल्प न कर। आहाहा ! ओहोहो ! टीका तो टीका !! एक श्लोक में पूरे बारह अंग का सार भर दिया है। आहाहा ! कुछ भी बाहर का साधन कुछ भी साधन है, ऐसा मानना, वह एकान्त है। चारों ओर से फैलते विकल्प का त्याग कर। आहाहा ! ऐसा आया ?

सर्व ओर से फैलते हुए समस्त परद्रव्यों में... आहाहा! चाहे तो नय का विकल्प उत्पन्न हो, वह भी परद्रव्य है। आहाहा! गजब बात है। यह बात समझ में नहीं आती, इसलिए फिर सोनगढ़ का एकान्त है, ऐसा है—ऐसा बेचारे कहते हैं। क्या करे? बात बैठती नहीं, इसलिए (ऐसा कहते हैं)। पूरी दिशा फेर बात है। पूरी दिशा, दशा, उस दशा की दिशा फेर है। धर्म की दशा की दिशा फेर और अधर्म की दशा की दिशा फेर है। आहाहा! अर्थात्? कि पुण्य-पाप के, दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के भाव, वह दशा है, उसकी दिशा परसन्मुख है। वह दशा परसन्मुख जाती है। आहाहा! और रागरहित निर्विकल्प दर्शन, ज्ञान, चारित्र (हो), उस दशा की दिशा अन्तर में जाती है। आहाहा! यह तो मन्त्र है। परमात्मा के घर के, त्रिलोकनाथ परमात्मा के अन्तर मन्त्र सुनने का भी अवकाश नहीं। अरे रे! सुने तो भी पक्षपात छोड़ता नहीं। व्यवहार का पक्ष कहीं न कहीं, कहीं न कहीं रखे बिना रहता नहीं। आहाहा! जो व्यवहार पर्याय में, पर्याय का आश्रय भी करनेयोग्य नहीं... आहाहा! उसमें कहाँ व्यवहार के आश्रय से तुझे लाभ होगा? आहाहा! बहुत कठिन बात लगती है।

भावार्थ – परमार्थरूप आत्मा के परिणाम... क्या कहते हैं? परमार्थरूप (अर्थात्) वास्तव में, यथार्थरूप **आत्मा के परिणाम...** आत्मा की पर्याय, आत्मा का भाव, आत्मा की दशा, आत्मा के परिणाम **दर्शन-ज्ञान-चारित्र है;...** आहाहा! आत्मा के परिणाम तो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, वे परिणाम हैं। आहाहा! **वही मोक्षमार्ग है।** आहाहा! आत्मा के जो परिणाम, आत्मा जो परिणामी, परमपारिणामिक अखण्ड स्वभाव... आहाहा! जहाँ चार भाव का भी आश्रय नहीं। उदय, उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक, यह अपने नियमसार की ५०वीं गाथा में आ गया है। चार भाव में क्षायिकभाव का भी आश्रय नहीं। आहाहा! ऐसे आत्मा के परिणाम।

राग, दया, दान वे आत्मा के परिणाम नहीं हैं। वह तो व्यभिचार परिणाम है। आहाहा! आठ लाख रुपये दिये, उसमें राग मन्द किया, वह व्यभिचार है—ऐसा कहते हैं। आहाहा! किसके रुपये? धूल। जगत के पुद्गल के परमाणु। उन अनन्त परमाणु के पिण्ड का... वह क्या कहलाता है? नोट। अनन्त परमाणु का पिण्ड है। उसमें एक-एक परमाणु स्वयं

से स्वतन्त्ररूप से परिणमता है। दूसरे परमाणु को स्पर्श भी नहीं करते। आहाहा! तो आत्मा उन्हें स्पर्श करे और उन्हें स्पर्श कर पैसे से काम करे, ऐसा प्रभु नहीं है। जँचे, न जँचे, प्रभु! वस्तु ऐसी है। अरे! तीन लोक के नाथ का विरह पड़ा, परमात्मा रहे नहीं। अरे! परमात्मपना प्रगट होने का रहा नहीं। परमात्मा तो दूर हो गये परन्तु यहाँ परमात्मा को केवलज्ञान उत्पन्न होने की योग्यता रही नहीं। आहाहा! वह उत्पन्न होने की योग्यता है। दर्शन, ज्ञान और चारित्र जो आत्मा के परिणाम। आत्मा के कहा न?

आत्मा के परिणाम... परिणाम अर्थात् पर्याय; पर्याय अर्थात् अवस्था; अवस्था अर्थात् दशा; दशा अर्थात् भाव। आहाहा! यह **दर्शन-ज्ञान-चारित्र है;...** आत्मा के परिणाम लड़के नहीं, आत्मा के परिणाम पैसा नहीं। आहाहा! आत्मा के परिणाम विकल्प नहीं। आहाहा! ऐसा कहे। क्या हो? मार्ग तो यह है। अरे! देह छूट जाएगी। कहाँ जाना है, प्रभु! आत्मा तो अनादि-अनन्त रहनेवाला है। देह छूटने से कहीं उसका नाश हो, ऐसा नहीं है। कहाँ जायेगा? नाथ! आहाहा! कोई शरण नहीं है। शरण प्रभु का-आत्मा का अन्दर है।

उसके जो परिणाम हैं... आहाहा! व्यवहाररत्नत्रय, देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा या नय के विकल्प, वे आत्मा के परिणाम नहीं। आहाहा! विकल्प उठते हैं, वे आत्मा के परिणाम नहीं। आहाहा! आत्मा के परिणाम दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। **वही मोक्षमार्ग है।** वह एक ही मोक्षमार्ग है। आहाहा! **वही मोक्षमार्ग है।** आत्मा के दर्शन-ज्ञान-चारित्र। निर्मल सम्यक् परिणाम, वह एक ही आत्मा के परिणाम, वही मोक्षमार्ग है। आहाहा! भाषा तो सादी है, भाव बहुत गम्भीर और गहरे हैं। आहाहा!

उसी में (-दर्शन-ज्ञान-चारित्र में ही) आत्मा को स्थापित करना चाहिए,... आहाहा! पहले बोल कहा न? कि **परमार्थरूप आत्मा के परिणाम दर्शन-ज्ञान-चारित्र है; वही मोक्षमार्ग है।** वहाँ स्थापित करना चाहिए। दर्शन-ज्ञान-चारित्र में ही। आहाहा! वह चारित्र अर्थात् यह क्रियाकाण्ड नहीं। अन्तर आनन्दस्वरूप की दृष्टि, अतीन्द्रिय निर्विकल्प ज्ञान और अतीन्द्रिय निर्विकल्प चारित्र की स्थिरता, वीतरागीदशा अन्दर हो, उसे यहाँ चारित्र कहते हैं। आहाहा! बहुत सरस गाथा (आयी है)। यह १९वीं बार सभा में वाँचन होता है। पहले से यह ठेठ तक एक बार, दो बार, अठारह बार वाँचन हो गया है।

यहाँ तक आया था परन्तु फिर तो बीच में नियमसार लिया। लोग बहुत आये न! दो हजार, पच्चीस सौ (लोग)। भोजन में २६५०, इतने लोग आये। आहाहा! दूज के ऊपर। पूर्णिमा और दूज। इसलिए दूसरा—नियमसार लेना पड़ा।

यह समयसार... आहाहा! पीछे के कलश में कहा है न कि भाई! अक्षय चक्षु। भाई! पीछे कहा है। यह समयसार अद्वितीय चक्षु, अजोड़ चक्षु। इसके साथ किसी का मेल हो, ऐसा नहीं है। पीछे है। अजोड़ चक्षु! आहाहा! कितने पृष्ठ पर? २४५ कलश? **'इदमेकं जगच्चक्षुरक्षयं याति पूर्णताम्'** पृष्ठ है ५६६। २४५ (कलश) **'इदमेकं जगच्चक्षु'** आहाहा! आत्मा जगतचक्षु, ज्ञानमूर्ति प्रभु है। वह **'जगच्चक्षुरक्षयं'** क्षय न हो ऐसा है। **'याति पूर्णताम्'** पूर्णता को प्राप्त होता है। **'विज्ञानघनमानन्दमयमध्यक्षतां नयत्'** आहाहा! नीचे (अर्थ) है।

आनन्दमय विज्ञानघन को (–शुद्ध परमात्मा को, समयसार को) प्रत्यक्ष करता हुआ यह एक (–अद्वितीय) अक्षय जगत–चक्षु... आहाहा! अजोड़ चक्षु। इसके साथ किसी का मेल नहीं हो सकता। आहाहा! अद्वितीय अजोड़ चक्षु। ऐसा समयसार। आचार्य महाराज पंच महाव्रतधारी दिगम्बर सन्त अमृतचन्द्राचार्य, अमृतचन्द्राचार्य महा सन्त... आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य के हृदय में जो अभिप्राय था, उस अभिप्राय से टीका की है। उनके अभिप्राय में (था, उसे खोला है)। वे ऐसा कहते हैं कि प्रभु! यह एक अक्षयचक्षु। एक अक्षयचक्षु। यह तो शब्द है परन्तु शब्दों से बतानेवाले अन्दर यह आत्मा अक्षयचक्षु, अद्वितीय चक्षु है, उसके साथ किसी का मिलान करना है नहीं। आहाहा! **'मध्यक्षतां नयत्'** है न? यहाँ पूर्णता को प्राप्त होता है।

अपने यहाँ ४१२ गाथा में आया न? **अन्य द्रव्यों में प्रवर्तन नहीं करना चाहिए।** आहाहा! **यहाँ परमार्थ से यही उपदेश है कि – निश्चयमोक्षमार्ग का सेवन करना चाहिए,...** आहाहा! व्यवहार आवे, उसे जानना; उसका सेवन करना नहीं, आदरणीय नहीं। आहाहा! है? **मोक्षमार्ग का सेवन करना चाहिए, मात्र व्यवहार में ही मूढ़ नहीं रहना चाहिए।** व्यवहार करने में मूढ़ नहीं रहना चाहिए। व्यवहार तो पुण्यबन्ध का कारण है और यह निश्चय, मोक्षमार्ग का कारण है। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश - २४०

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं–

(शार्दूलविक्रीडित)

एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मक-
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति।
तस्मिन्नेव निरन्तरं विहरति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन्,
सोऽवश्यं समयस्य सार-मचिरान्नित्योदयं विन्दति।।२४०।।

श्लोकार्थ : [दृग्-ज्ञप्ति-वृत्ति-आत्मक: य: एष: एक: नियत: मोक्षपथ:] दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप जो यह एक नियत मोक्षमार्ग है, [तत्र एव य: स्थितिम् एति] उसी में जो पुरुष स्थिति प्राप्त करता है अर्थात् स्थित रहता है, [तम् अनिशं ध्यायेत्] उसी का निरन्तर ध्यान करता है, [तं चेतति] उसी को चेतता है–उसी का अनुभव करता है, [च द्रव्यान्तराणि अस्पृशन् तस्मिन् एव निरन्तरं विहरति] और अन्य द्रव्यों को स्पर्श न करता हुआ उसी में निरन्तर विहार करता है, [स: नित्य-उदयं समयस्य सारम् अचिरात् अवश्यं विन्दति] वह पुरुष, जिसका उदय नित्य रहता है, ऐसे समय के सार को (अर्थात् परमात्मा के रूप को) अल्प काल में ही अवश्य प्राप्त करता है, अर्थात् उसका अनुभव करता है।

भावार्थ : निश्चयमोक्षमार्ग के सेवन से अल्प काल में ही मोक्ष की प्राप्ति होती है, यह नियम है।।२४०।।

प्रवचन नं. ४५७, श्लोक - २४०, २४१ मंगलवार, श्रावण कृष्ण अमावस्या
दिनांक - ०९-०९-१९८०

समयसार, कलश-२४०।

एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मक-
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति।
तस्मिन्नेव निरन्तरं विहरति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन्,
सोऽवश्यं समयस्य सार-मचिरान्नित्योदयं विन्दति।।२४०।।

देखा? यहाँ चारित्र को व्रत शब्द में लिया है। व्रत शब्द को चारित्र के अर्थ में लिया है।

श्लोकार्थ — **'दृग्-ज्ञप्ति-वृत्ति-आत्मकः यः एषः एकः नियतः मोक्षपथः'** आहाहा! सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रस्वरूप **जो यह एक नियत मोक्षमार्ग है,...** एक ही निश्चयमोक्षमार्ग है, मोक्षमार्ग दो नहीं है। टोडरमलजी ने सातवें अधिकार में कहा है कि मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार से है, मोक्षमार्ग दो नहीं है। उसका कथन दो प्रकार से आता है। व्यवहार बीच में आता है न? देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा आदि के विकल्प बीच में आते हैं परन्तु यहाँ तो एक ही बात ली है। दर्शन, ज्ञान और चारित्रस्वरूप... निश्चय, हों!

स्वभाव चैतन्यस्वरूप है, उसका अन्तर दर्शन, ज्ञान और चारित्र, यह एक, **यह एक (निश्चय) नियत मोक्षमार्ग है,...** आहाहा! इसमें विवाद (करे कि) व्यवहार मोक्षमार्ग है। ४६ गाथा में आता है न? ४६, यदि तुम व्यवहार नहीं मानो तो शरीर और आत्मा एक हो जायेंगे और यह राग-द्वेष, मोहरहित, तथा बन्ध और मोक्ष कुछ नहीं होगा। है अवश्य, व्यवहार का विषय और व्यवहार है अवश्य परन्तु वह आदरणीय नहीं है। विषय नहीं है, ऐसा नहीं है। निश्चय से विषय लें तो आत्मा के आनन्द और ज्ञानस्वरूप के अतिरिक्त का विकल्प से लेकर लोकालोक सब व्यवहार है। एक निश्चय प्रभु है। आहाहा! व्यवहार है अवश्य, व्यवहार का विषय है। नय है, वह विषयी है, विषयी है तो उसका विषय तो है परन्तु आदरणीय नहीं, वह बन्ध का कारण है। आहाहा!

यहाँ (कहते हैं) निश्चयदर्शन, आत्मदर्शन-निर्विकल्प आत्मप्रतीति, निर्विकल्प आत्मज्ञान, निर्विकल्प स्वरूपचारित्र की रमणता, यह स्वरूप **जो यह एक नियत मोक्षमार्ग है,...** आहाहा! ऐसा तो स्पष्ट है। इसके निर्णय में तो पहले आना चाहिए कि मार्ग तो वहाँ अन्तर में दृष्टि, ज्ञान और चारित्र (होना), वह मोक्षमार्ग है; बाकी सब विकल्प, क्रियाकाण्ड आदि सब बन्ध का कारण है। व्यवहार है, व्यवहार है, परन्तु व्यवहार बन्ध का कारण है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म।

यहाँ कहते हैं, **यह एक...** तीन स्वरूप जो सम्यक् आत्मा, त्रिकाली चैतन्यस्वभाव का अन्तर अनुभव होकर प्रतीति (होना), अनुभव होना, वह चारित्र और उसका ज्ञान होना, यह तीनों होकर एक मोक्षपन्थ है, यह मोक्ष का मार्ग है। आहाहा! **'तत्र एव यः**

स्थितिम् एति' उसी में जो पुरुष... यह सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र (स्वरूप) जो निश्चयमोक्षमार्ग है, **उसी में जो पुरुष स्थिति प्राप्त करता है...** है यह पर्याय, यह निश्चयमोक्षमार्ग है पर्याय, द्रव्य नहीं। द्रव्य की तो दृष्टि करनी है। द्रव्य त्रिकाली ज्ञायकस्वरूप सामान्य की दृष्टि, उसका ज्ञान, उसका चारित्र, यह तीनों पर्याय है, अवस्था है परन्तु इनका विषय है, वह त्रिकाली द्रव्य है। आहाहा!

'तत्र एव यः स्थितिम् एति' उसी में जो पुरुष स्थिति प्राप्त करता है... आहाहा! उसमें ही जो पुरुष स्थिति को प्राप्त होते हैं अर्थात् स्थिर रहता है। आहाहा! आत्मा आनन्दस्वरूप भगवान, अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति प्रभु है। उसमें श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र में जो स्थित रहते हैं, ऐसे आत्मा में जो स्थित रहते हैं, वे स्थित रहते हैं, तब **'तम् अनिशं ध्यायेत्' उसी का निरन्तर ध्यान करता है,...** आहाहा! उसका ही निरन्तर ध्यान करता है। उसे निवृत्ति कब मिले! आहाहा! प्रभु चैतन्यस्वरूप, ज्ञान और आनन्द का सागर भगवान है, उसमें ही निरन्तर ध्यान करता है। पहले स्थिति करता है, ऐसा कहा, पश्चात् ध्यान करता है। आहाहा!

'तं चेतति' उसी को चेतता है-अनुभव करता है,... चेतता है अर्थात् अनुभव करता है। आहाहा! स्वभाव त्रिकाल चैतन्यस्वभाव, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द ऐसी अनन्त शक्तियों का पिण्ड, यह आत्मा, इस आत्मा में स्थित रहना, अनुभव करना है। आहाहा! यह है पर्याय, अनुभव (करना), स्थित रहना, मोक्षमार्ग स्थिति प्राप्त करके ध्यान करता है, वह सब है पर्याय। अभी पर्याय किसे कहना, द्रव्य किसे कहना, इसकी खबर नहीं होती। आहाहा! द्रव्य त्रिकाली भगवान सनातन अनादि-अनन्त सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ परमात्मा ने जो देखा और किया, प्रगट करके केवल(ज्ञान प्रगट) किया, वह वस्तु अनादि-अनन्त है। उस वस्तु का ध्यान, अनुभव होना वह मोक्ष का मार्ग है, वह मोक्ष का मार्ग है। आहाहा! **उसी को चेतता है-अनुभव करता है,...**

'च द्रव्यान्तराणि अस्पृशन् तस्मिन् एव निरन्तरं विहरति' और अन्य द्रव्यों को स्पर्श न करता हुआ... आहाहा! यह दया, दान आदि राग को नहीं स्पर्श करता हुआ। आहाहा! ऐसा मार्ग है। आया न? **'द्रव्यान्तराणि'** अर्थात् **'द्रव्य अन्तराणि'** इस द्रव्य से (पृथक्) दूसरा द्रव्य। अर्थात् पुण्य के भाव, दया, दान, भक्ति आदि, वे सब भाव

द्रव्यान्तर है। अपना द्रव्य नहीं। अपने द्रव्य से-वस्तु से वह भिन्न चीज़ है। उसे **'अस्पृशन्'** उसे स्पर्श नहीं करता, उसे नहीं छूता। आहाहा! है ?

'अस्पृशन् तस्मिन् एव निरन्तरं विहरति' आहाहा! वह मार्ग में निरन्तर विचरता है। ऐसा मार्ग। बाहर का कुछ करना हो तो सूझ पड़े। यह करे तो बाहर की बात तो सब बन्धन की है। भगवान का स्मरण करना, वह बन्धन है। पंच परमेष्ठी को याद रखना, वह विकल्प, राग और बन्धन का कारण है। आहाहा! बन्धन का कारण है। अन्तर में आत्मभगवान पूर्णानन्द के नाथ का स्पर्श करके अन्य द्रव्य का स्पर्श नहीं करता... आहाहा! राग, दया, दान आदि विकल्प का स्पर्श नहीं करता, उसे नहीं छूता। आहाहा!

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता, यह तो बाह्य की बात रह गयी। अन्दर में अब पुण्य और पाप के भाव जो अन्य द्रव्य है, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, काम, क्रोध, वे भाव अन्तर का द्रव्य है, उस अन्तर द्रव्य को नहीं स्पर्शता हुआ। आहाहा! ऐसा मार्ग है, प्रभु! अनादि से चौरासी लाख योनि में कभी किया नहीं। अपूर्व अर्थात् पूर्व में कभी एक समयमात्र किया नहीं। इसलिए इसे अन-अभ्यास से कठिन और अशक्य जैसा लगता है, नहीं हो सकता, ऐसा लगता है परन्तु ऐसा नहीं है। प्रभु विराजता है। सनातन अनादि-अनन्त आत्मा की सत्ता है, उसमें विहार कर। आहाहा! पुण्य और पाप में विहार करता है, वह तो अनादि से करता आया है और उसमें से परिभ्रमण फलित हुआ है। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, **अन्य द्रव्यों को स्पर्श न करता हुआ...** आहाहा! अन्य द्रव्य शब्द से अन्दर रागादि, हों! दया, दान, भक्ति, पूजा का राग आता है, उसे जाने परन्तु उसे स्पर्श करे अर्थात् यह कल्याण का कारण है, ऐसा न माने। व्यवहार आता है। निश्चयपूर्वक व्यवहार आता है, परन्तु वह व्यवहार जाननेयोग्य है। व्यवहार न हो, तब तो शरीर से आत्मा भिन्न, यह तो निश्चय हुआ। शरीर और आत्मा को एक अनादि से मानता है, उस व्यवहार को छुड़ाते हैं। आहाहा!

अन्य द्रव्यों को स्पर्श न करता हुआ उसी में निरन्तर विहार करता है,... आहाहा! भगवान ज्ञानानन्दस्वभाव नित्यानन्द प्रभु में विहार अर्थात् रमता है। आहाहा! पुण्य और पाप के दोनों भाव बन्धन का कारण है, उसे छोड़कर चैतन्यस्वभाव जो अबन्धस्वरूप है, उसके परिणाम भी अबन्धस्वरूप है, उसमें विहार कर। आहाहा!

वह पुरुष, जिसका उदय नित्य रहता है... आहाहा! ऐसा जो आत्मा, इस प्रकार जो करे, वह आत्मा, **जिसका उदय नित्य रहता है...** शाश्वत् रहनेवाला प्रभु। एकरूप रहनेवाला। फिर गति-बति रहती नहीं। आहाहा! **जिसका उदय नित्य रहता है, ऐसे समय के सार को...** ऐसे आत्मा के सार को। समय अर्थात् आत्मा, सार अर्थात् पुण्य और पाप के भाव से रहित, वह सार। आहाहा! ऐसा मार्ग है। फिर पहुँच नहीं सकता इसलिए दूसरे रास्ते जाना, इससे कहीं रास्ता मिल जायेगा? आहाहा!

ऐसे समय के सार को... यह समय अर्थात् आत्मा। ऐसे आत्मा का सार। पूर्णानन्द का नाथ आत्मा, उसके सन्मुख श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र। उस समय के सार को अर्थात् परमात्मा के रूप को। आहाहा! परमात्मा अर्थात् आत्मा। परम आत्मा अर्थात् परम अर्थात् उत्कृष्ट समय—आत्मा। अपना स्वरूप जो पूर्ण है, वैसा यह परमात्मस्वरूप। उसे **अल्प काल में ही अवश्य प्राप्त करता है,...** वह जीव अल्प काल में **'अचिरात्'** है न? अल्प काल में प्राप्त करता है। तो क्रमबद्ध कहाँ गया? प्रत्येक द्रव्य की पर्याय क्रमबद्ध होती है। एक के बाद एक, एक के बाद एक, एक के बाद एक—ऐसे अनादि-अनन्त छहों द्रव्यों की पर्यायें होती हैं।

'अचिरात्' कहा न? उसका अर्थ कि जिसने ऐसी द्रव्यदृष्टि की। समय-समय में पर्याय होती है, वह क्रमबद्ध ही होती है, जिसमें ऐसे ज्ञायकभाव का अनुभव किया, उसे अल्प काल में क्रमबद्ध में केवलज्ञान होगा। आहाहा! उसे क्रमबद्ध में अल्प काल में केवलज्ञान होगा। आहाहा! ऐसा उपदेश। मार्ग तो ऐसा है, भाई! अनअभ्यास से कठिन और अशक्य जैसा लगता है। कभी सुनने को मिलता नहीं। सत्य बात अन्दर क्या है? प्रभु अन्दर कौन है? उसमें क्या स्वभाव है? और वह त्रिकाली तत्त्व क्या है? इसकी खबर नहीं। तो इस खबर बिना कहीं मोक्षमार्ग नहीं होता।

जिसका उदय नित्य रहता है, ऐसे समय के सार को (अर्थात् परमात्मा के रूप को) अल्प काल में ही... इस प्रकार सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र में विचरता है, ध्यान करता है, स्थिर होता है, वह अल्प काल में सिद्धपद को प्राप्त करता है, वह अल्प काल में परमात्मा हो जाता है। आत्मा में से परमात्मा हो जाता है। क्योंकि परमात्मा तो उसका

स्वरूप ही है। आहाहा! कहा न? **(अर्थात् परमात्मा के रूप को)** आहाहा! **अल्प काल में ही...** 'ही' शब्द है न? **अल्प काल में ही अवश्य प्राप्त करता है,...** अर्थात् उसका पूर्ण अनुभव अल्प काल में होता है। मोक्ष। आत्मा के निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में रहनेवाला अल्प काल में मोक्ष की प्राप्ति करता है। आहाहा! यह एक श्लोक हुआ।

भावार्थ – निश्चयमोक्षमार्ग के सेवन से... निश्चयमोक्षमार्ग के सेवन से। व्यवहारमोक्षमार्ग आता है, बीच में राग आता है, परन्तु उसे जानकर उसका सेवन करना नहीं। आहाहा! **निश्चयमोक्षमार्ग के सेवन से अल्प काल में ही...** थोड़े ही काल में **मोक्ष की प्राप्ति होती है, यह नियम है।** यह नियम है। यह वस्तु के स्वभाव का नियम ही ऐसा है। कोई भगवान ने कुछ किया नहीं। भगवान ने तो जैसा है, वैसा जानकर कथन किया है। वस्तु के स्वरूप का नियम ऐसा है कि उस वस्तु के श्रद्धा-ज्ञान में जो रमेगा, वह अल्प काल में मोक्ष प्राप्त करेगा, यह नियम है। आहाहा! यह निश्चय है, वह यथार्थ है। आहाहा! बाकी सब धूलधाणी है। आहाहा!

कलश - २४१

'जो द्रव्यलिंग को ही मोक्षमार्ग मानकर उसमें ममत्व रखते हैं, उन्होंने समयसार को अर्थात् शुद्ध आत्मा को नहीं जाना'–इस प्रकार गाथा द्वारा कहते हैं।

यहाँ प्रथम उसका सूचक काव्य कहते हैं–

(शार्दूलविक्रीडित)

ये त्वेनं परिहृत्य सम्वृतिपथप्रस्थापितेनात्मना,
लिङ्गे द्रव्यमये वहन्ति ममतां तत्त्वावबोध–च्युताः।
नित्योद्योतम–खण्डमेक–मतुलालोकं स्वभाव–प्रभा–
प्राग्भारं समयस्य सार–ममलं नाद्यापि पश्यन्ति ते।।२४१।।

श्लोकार्थ : [ये तु एनं परिहृत्य संवृति-पथ-प्रस्थापितेन आत्मना द्रव्यमये लिंगे ममतां वहन्ति] जो पुरुष इस पूर्वोक्त परमार्थ स्वरूप मोक्षमार्ग को छोड़कर व्यवहार मोक्षमार्ग में स्थापित अपने आत्मा के द्वारा द्रव्यमय लिंग में ममता करते हैं (अर्थात् यह मानते हैं कि यह द्रव्यलिंग ही हमें मोक्ष प्राप्त करा देगा), [ते तत्त्व-अवबोध-च्युता: अद्य अपि समयस्य सारम् न पश्यन्ति] वे पुरुष तत्त्व के यथार्थ ज्ञान से रहित होते हुए अभी तक समय के सार को (अर्थात् शुद्ध आत्मा को) नहीं देखते-अनुभव नहीं करते। वह समयसार शुद्धात्मा कैसा है? [नित्य-उद्योतम्] नित्य प्रकाशमान है (अर्थात् कोई प्रतिपक्षी होकर उसके उदय का नाश नहीं कर सकता), [अखण्डम्] अखण्ड है (अर्थात् जिसमें अन्य ज्ञेय आदि के निमित्त से खण्ड नहीं होते), [एकम्] एक है (अर्थात् पर्यायों से अनेक अवस्थारूप होने पर भी जो एकरूपत्व को नहीं छोड़ता), [अतुल-आलोकं] अतुल (उपमारहित) प्रकाशवाला है (क्योंकि ज्ञानप्रकाश को सूर्यादि के प्रकाश की उपमा नहीं दी जा सकती), [स्वभाव-प्रभा-प्राग्भारं] स्वभाव प्रभा का पुंज है (अर्थात् चैतन्य प्रकाश का समूहरूप है), [अमलं] अमल है (अर्थात् रागादि-विकाररूपी मल से रहित है)।

(इस प्रकार, जो द्रव्यलिंग में ममत्व करते हैं, उन्हें निश्चय-कारणसमयसार का अनुभव नहीं है; तब फिर उनको कार्यसमयसार की प्राप्ति कहाँ से होगी?)।।२४१।।

कलश-२४१ पर प्रवचन

दूसरा श्लोक, २४१।

ये त्वेनं परिहृत्य सम्वृतिपथप्रस्थापितेनात्मना,
लिङ्गे द्रव्यमये वहन्ति ममतां तत्त्वावबोध-च्युता:।
नित्योद्योतम-खण्डमेक-मतुलालोकं स्वभाव-प्रभा-
प्राग्भारं समयस्य सार-ममलं नाद्यापि पश्यन्ति ते।।२४१।।

आहाहा! अमृतचन्द्राचार्य मुनि दिगम्बर सन्त जंगलवासी थे, उनकी यह टीका है, यह श्लोक उनके (बनाये हुए) हैं। मूल गाथा कुन्दकुन्दाचार्यदेव की है, ४१२ गाथा। यह

उसकी टीका अमृतचन्द्राचार्य की है। कुन्दकुन्दाचार्य के बाद एक हजार वर्ष में हुए। पश्चात् यह टीका बनायी। इससे पहले कोई टीका करनेवाला नहीं हुआ। ऐसी गम्भीर चीज़ है। आहाहा! कोई तो और ऐसा कहते हैं कि कोई टीका करनेवाले क्यों नहीं मिले? कि अन्दर चीज़ बहुत गड़बड़वाली है, एकदम निश्चय की (बात की है) इसलिए कोई टीका करनेवाला नहीं निकला, ऐसा लिखा है। अरे..रे..रे..! आहाहा! क्या करता है? प्रभु! परन्तु इस चीज़ के योग्य हो, वह टीका कर सकता है, दूसरा कौन कर सकता है? हजार वर्ष में अमृतचन्द्राचार्य पके हैं। आहाहा! वे इसकी टीका करनेवाले योग्य थे। निश्चय और व्यवहार दोनों चीज़ क्या है? यह समझे बिना टीका करे तो अन्दर में गड़बड़ हो जाए।

यहाँ (कहते हैं), व्यवहार है परन्तु आदरणीय नहीं है। आहाहा! निश्चयस्वरूप एक ही अन्दर (आदरणीय है)। राग और पुण्य और दया, दान के क्रियाकाण्ड से भिन्न अन्दर भगवान आत्मा (विराजमान है), उसके श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र हो, वही मोक्ष का मार्ग है। आहाहा! २४१ (श्लोक)।

जो द्रव्यलिंग को ही मोक्षमार्ग मानकर... यह क्या कहते हैं? नग्नपना, पंच महाव्रत की क्रिया, वह सब द्रव्यलिंग है, बाह्यलिंग है। आहाहा! जैनदर्शन में मुनिपना नग्नपना ही होता है। यह अनादि सनातन सत्य है। इसमें से श्वेताम्बर तो बाद में निकले हैं। भगवान के पश्चात् ५०० वर्ष बाद (निकले हैं)। यह स्थानकवासी तो श्वेताम्बर में से बाद में से अभी निकले हैं। अनादि सनातन सत्य ऐसा जो यह मार्ग, उसे मात्र **द्रव्यलिंग को ही मोक्षमार्ग मानकर...** यह नग्नपना और पंच महाव्रत और समिति, गुप्ति के व्यवहार के क्रियाकाण्ड में ही **मोक्षमार्ग मानकर उसमें ममत्व रखते हैं,...** वह भी मोक्ष का मार्ग है, ऐसा ममत्व रखते हैं।

उन्होंने समयसार को... अर्थात् भगवान आत्मा को **शुद्ध आत्मा को नहीं जाना...** उन्होंने पवित्र शुद्ध आत्मा अन्दर कौन है, (उसे जाना नहीं है)। जो कियाकाण्ड में (मोक्षमार्ग) मानते हैं, उन्हें शुद्ध आत्मा की खबर नहीं है। आहाहा! **इस प्रकार गाथा द्वारा कहते हैं। यहाँ प्रथम उसका सूचक काव्य कहते हैं–**

'ये तु एनं परिहृत्य संवृति–पथ–प्रस्थापितेन आत्मना द्रव्यमये लिंगे ममतां

वहन्ति'... आहाहा! **जो पुरुष इस पूर्वोक्त परमार्थस्वरूप मोक्षमार्ग को छोड़कर...** आहाहा! अन्दर आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु, परमेश्वरस्वरूप ही भगवान है। वीतराग की मूर्ति प्रभु आत्मा है। ऐसे मोक्षमार्ग को छोड़कर। ऐसा जो स्वभाव है, उसकी ओर के श्रद्धा, ज्ञान और रमणता हो, वह मोक्ष का मार्ग है, उसे छोड़कर **व्यवहारमोक्षमार्ग में स्थापित अपने आत्मा...** व्यवहार की पंच महाव्रत आदि की बात साथ में शास्त्र ने स्थापित की है। है। **व्यवहारमोक्षमार्ग में स्थापित अपने आत्मा के द्वारा द्रव्यमय लिंग में ममता करते हैं...** आहाहा! व्यवहार है। नग्नपना, पंच महाव्रत, पाँच समिति, गुप्ति का विकल्प राग है परन्तु उसमें ममता करते हैं। समझ में आया? उसमें ममता करते हैं अर्थात् वह मोक्षमार्ग है, ऐसा मानते हैं। आहाहा! हम धर्म करते हैं। पंच महाव्रत, समिति, गुप्ति आदि पालन करके हम धर्म करते हैं, ऐसी जो ममता करते हैं। **(अर्थात् यह मानते हैं कि यह द्रव्यलिंग ही हमें मोक्ष प्राप्त करा देगा),...** आहाहा! द्रव्यलिंग अर्थात् नग्नपना और पंच महाव्रत और अट्ठाईस मूलगुण विकल्प है, राग है। आहाहा! **यह द्रव्यलिंग ही हमें मोक्ष प्राप्त करा देगा,...** आहाहा!

'ते तत्त्व-अवबोध-च्युताः अद्य अपि समयस्य सारम् न पश्यन्ति' वे पुरुष... (अर्थात्) व्यवहार में मोक्षमार्ग माननेवाले। निश्चयमोक्षमार्ग अन्दर दर्शन, ज्ञान और चारित्र—निर्विकल्प दृष्टि, ज्ञान और चारित्र है, उसे नहीं माननेवाले, द्रव्यलिंग ही मोक्ष प्राप्त करायेगा (ऐसा मानते हैं)। हमारे तो क्रियाकाण्ड करते हैं, उससे मोक्ष होगा, ऐसा अज्ञानी मानते हैं। आहाहा! बाहर में नग्नपने का वेश ले लिया और पंच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण विकल्प राग है, वह हमें मोक्षमार्ग करा देगा, और उससे हमारा मोक्ष होगा, ऐसे मिथ्यादृष्टि व्यवहार को मोक्षमार्ग मानते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं। आहाहा! है? **मोक्ष प्राप्त करा देगा।**

'ते तत्त्व-अवबोध-च्युताः' वे पुरुष तत्त्व के यथार्थ ज्ञान से रहित होते हुए... आहाहा! ऐसा माननेवाले **तत्त्व के यथार्थ ज्ञान से रहित...** चैतन्य तत्त्व जो शुद्ध परमात्मा त्रिकाली विराजमान अन्दर है, उसके ज्ञान से रहित होते हुए। **अभी तक...** अनन्त काल हुआ, अनन्त बार द्रव्यलिंग लिया, अनन्त बार द्रव्यलिंग धारण किया, नग्न मुनि—साधु हुआ। आहाहा! परन्तु **अभी तक समय के सार को (अर्थात् शुद्ध आत्मा को) नहीं**

देखते... नहीं। उस व्यवहार से निश्चय मोक्ष प्राप्त नहीं होता। आहाहा! है या नहीं?

उस व्यवहार में जो ममत्व करते हैं कि इससे धीरे-धीरे हमें क्रम से दर्शन दशा होगी। यह व्यवहार करते-करते सच्ची दशा होगी—ऐसा जो मानते हैं, वे तत्त्व से—यथार्थ ज्ञान से रहित वर्तते हुए। आहाहा! **अभी तक समय के सार को...** समय अर्थात् शुद्ध आत्मा। पुण्य और पाप के राग के विकल्प से रहित है, उसे नहीं देखते, उसे अनुभव नहीं करते, उसे प्राप्त नहीं करते। आहाहा!

अनन्त काल में अनन्त बार द्रव्यलिंग धारण किया परन्तु अभी तक उसे मोक्ष प्राप्त हुआ नहीं। आहाहा! यह तो द्रव्यलिंग अर्थात् नग्नपना, हों! स्थानकवासी और श्वेताम्बर तो यह व्यवहार भी नहीं है। वे तो फिर भ्रष्ट होकर निकले हुए हैं। अनादि सनातन वीतराग मार्ग में से दो हजार वर्ष पहले भ्रष्ट होकर श्वेताम्बर निकले। फिर उसमें से भ्रष्ट होकर स्थानकवासी निकले। उसमें से भ्रष्ट होकर तुलसी—यह तेरापन्थी निकले। वह तो व्यवहार भी नहीं है। आहाहा! कठिन पड़े, प्रभु! क्या हो? खबर नहीं होती अभी क्या चीज़ है।

यहाँ तो कहते हैं, द्रव्यलिंग नग्नपना और पंच महाव्रत तथा अट्ठाईस मूलगुण, पाँच समिति, गुप्ति आदि पालन करने पर भी अभी तक मुक्ति नहीं हुई। आहाहा! ऐसी बात है। जगत को कठिन पड़ती है। विचार भी कब किया है? कहीं निवृत्ति भी कहाँ है? सत्य और असत्य क्या है? 'जे सीं कुले समुपन्ने जे हीं वासं वसे मरे ममाये रुपेय भावे' आहाहा! जिस कुल में जन्मा और जिसका संग रहा, वहाँ माना कि यह हमारा सच्चा है। आहाहा! कठिन बात है, प्रभु!

(यहाँ) तो कहते हैं, द्रव्यलिंग धारण किया। द्रव्य अर्थात् नग्नपना, पंच महाव्रत आदि (पालन किये) ऐसा अनन्त बार किया, नौवें ग्रैवेयक तक गया परन्तु अभी तक मुक्ति प्राप्त नहीं हुई क्योंकि सब व्यवहार तो पुण्यबन्ध का कारण है। स्वर्गादि मिले तो वहाँ से मरकर मनुष्य, ढोर—तिर्यंच आदि होकर चार गति में भटकेगा। आहाहा! बहुत कठिन पड़े।

ऐसा कहते हैं, अभी तक (समय के सार को) अनुभव नहीं किया। **वह समयसार शुद्धात्मा कैसा है?** अन्दर भगवान आत्मा, जिसकी श्रद्धा-ज्ञान और रमणता करनी है, जिसका सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र करना है, वह चीज़ कैसी है? अन्दर में वह चीज़

कैसी है ? आहाहा ! है ? **वह समयसार शुद्धात्मा कैसा है ? 'नित्य-उद्योतम्' नित्य प्रकाशमान है...** आहाहा ! अनादि-अनन्त नित्यानन्द प्रभु है। किसी से उत्पन्न हुआ ही नहीं, किसी से नाश होता नहीं, स्वभाव से कभी खाली रहता नहीं। अनादि-अनन्त-आदि बिना, अन्त बिना और वर्तमान स्वभाव से खाली—रहित नहीं होता। स्वभाव पूर्णानन्द का नाथ, एक समय में अनन्त स्वभाव जिसमें स्थित हैं... आहाहा ! ऐसा आत्मा **नित्य प्रकाशमान है (अर्थात् कोई प्रतिपक्षी होकर उसके उदय का नाश नहीं कर सकता),...** आहाहा !

ज्ञानस्वरूपी प्रकाशमय प्रभु, उसके अन्तर में ज्ञान, श्रद्धा, चारित्र करके पूर्ण प्राप्ति होती है, उस ज्ञानप्रकाश में कोई विरोध करनेवाला नहीं है। आहाहा ! जिसका कोई उदय नाश नहीं कर सकता। मोक्षमार्ग से जो परमात्मदशा प्रगट हुई, उसे नाश करने में कोई समर्थ नहीं है। वह तो नित्यानन्द प्रभु है। नित्य वस्तु त्रिकाली शाश्वत् है। उस शाश्वत की दशा प्रगट की, उसका जगत में कोई नाश करे—ऐसा कोई है नहीं। आहाहा ! ऐसा सूक्ष्म। शान्तिभाई !

मुमुक्षु : आत्मा सूक्ष्म है तो उसकी बात भी सूक्ष्म ही होगी न !

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसी सूक्ष्म बात है, बापू ! आत्मा तो इस परमाणु से पार और अन्दर पुण्य-पाप के राग से भी पार—भिन्न है। उस तत्त्व के ज्ञान और भान बिना अभी तक अनन्त काल से भटकता है। आहाहा !

वह क्या चीज़ है ?—कि **नित्य प्रकाशमान है (अर्थात् कोई प्रतिपक्षी होकर उसके उदय का नाश नहीं कर सकता), अखण्ड है (अर्थात् जिसमें अन्य ज्ञेय आदि के निमित्त से खण्ड नहीं होते),...** आहाहा ! क्या कहते हैं ? कि उसके ज्ञान में परज्ञेय का ज्ञान होता है परन्तु उस ज्ञेय से अपने में खण्ड होता है, ऐसा नहीं है। परज्ञेय का स्वज्ञान में प्रवेश नहीं होता और स्वज्ञान का ज्ञेय में प्रवेश नहीं होता तथा ज्ञेय का स्वज्ञान में प्रवेश नहीं होता।

दर्पण में जो अग्नि और बर्फ दिखाई देती है, उस दर्पण में अग्नि और बर्फ की जो झलक दिखती है, वह तो दर्पण की अवस्था है। वह अग्नि और बर्फ दर्पण में प्रवेश नहीं

करते और दर्पण की अवस्था अग्नि से नहीं होती। आहाहा! ऐसी बात है। कहाँ दरकार की है? मरकर कहाँ जायेगा? आहाहा! मनुष्य... मनुष्य को मार डालते हैं। अफ्रीका नहीं? आहाहा! हबसी लोग मार डालते हैं। यह ऐसे अवतार अनन्त बार किये। अर..र..र..!

यहाँ तो साधुपना अनन्त बार लिया। बाह्य क्रियाकाण्ड, पंच महाव्रत अनन्त बार लिये परन्तु भगवान आत्मा चैतन्य शुद्ध प्रकाश है, उसकी प्राप्ति नहीं हुई। उसे प्राप्त होने पर वह चीज़ कैसी है? कि कोई प्रतिपक्षी होकर उसके उदय का नाश नहीं कर सकता, ऐसा नित्य प्रकाशमान है। चैतन्यप्रकाश का पूर है। आहाहा! चैतन्य अन्दर जो है, वह चैतन्य ज्ञान का पूर है। ज्ञानरूपी नूर का पूर है। आहाहा! भगवान आत्मा जाननस्वभावरूपी नूर अर्थात् तेज का पूर है। आहाहा! ऐसा आत्मा कभी सुना नहीं तो (अनुभव) करे तो कहाँ से? आहाहा! और अनन्त बार (क्रियाएँ) की है। अनन्त काल हुआ, उसमें कभी सुना नहीं। अनन्त बार क्रिया की परन्तु उस प्रकाशमान भगवान की दृष्टि नहीं की। आहाहा!

अखण्ड है (अर्थात् जिसमें अन्य ज्ञेय आदि के निमित्त खण्ड नहीं होते),... ज्ञायकभाव—ज्ञान अन्य को जानता है। अन्य को जानने से अपने में खण्ड नहीं होते। वह तो ज्ञायकभावरूप अपनी पर्याय को अपने में जानता है। ज्ञेय का ज्ञान में प्रवेश नहीं होता। उस अग्नि और बर्फ का दर्पण में प्रवेश नहीं होता। दर्पण में अग्नि और बर्फ दिखायी दे, ज्वाला दिखायी दे परन्तु वह अग्नि वहाँ नहीं है। वह तो दर्पण की अवस्था है। इसी प्रकार ज्ञान में ज्ञेय ज्ञात हो परन्तु ज्ञेय ज्ञान में आते नहीं। आहाहा! बात-बात में अन्तर है। इस बात को कब ग्रहण करना? आहाहा! अरे..रे..! अनन्त काल चला गया है। सत् जो पहले मिलना, सुनने को मिलना मुश्किल है। पश्चात् सुनने के बाद श्रद्धा होना मुश्किल है। यह श्रद्धा होकर पश्चात् अन्दर चारित्र—रमणता करना मुश्किल। आहाहा! इसके बिना कभी मुक्ति नहीं होती। आहाहा!

यह कहते हैं, **अखण्ड है, एक है...** एक क्यों कहा? कि जब ज्ञानस्वरूप में मोक्ष—केवलज्ञान हुआ तो लोकालोक ज्ञात हुए। इससे लोकालोकरूप ज्ञान हुआ नहीं। वह तो अपने ज्ञानस्वरूप में एकरूप में ही रहा है। आहाहा! जैसे दर्पण की स्वच्छता में अग्नि सामने दिखती है, अन्दर ऐसी ज्वाला दिखती है परन्तु वह तो दर्पण की अवस्था है।

उसी प्रकार ज्ञानस्वरूप भगवान दर्पण है, उसमें दुनिया दिखती है परन्तु वह चीज़ अन्दर प्रवेश नहीं करती। आहाहा! यह हीरा-माणिक सब दिखते हैं परन्तु अन्दर प्रवेश नहीं करते, ऐसा कहते हैं।

एक है (अर्थात् पर्यायों से अनेक अवस्थारूप होने पर भी...) आत्मा की अवस्था—दशा—हालत अनेक अवस्थायें (होती हैं)। समय-समय में पर्याय बदलती है। समय-समय में अवस्था बदलती है। ऐसी पर्यायों से **(अनेक अवस्थारूप होने पर भी जो एकरूपत्व को नहीं छोड़ता),...** अन्दर ज्ञायकस्वभावरूप ज्ञानस्वरूप है। अनेक को जानने पर भी अपना एकपना नहीं छोड़ता। आहाहा! ऐसा मिलना मुश्किल पड़ता है। अभी सुनने को मिलता नहीं। आहाहा!

'अतुल-आलोकं' कैसा है ? अतुल है। अन्तर में जहाँ मोक्षमार्ग से मोक्ष हुआ... अतुल—जिसकी किसी के साथ तुलना न हो (ऐसा) अतुल—उपमा या किसी के साथ तुलना नहीं होती, ऐसी चीज़ प्रगट हुई। आहाहा! आत्मा की किसी के साथ तुलना करना (ऐसी कोई चीज़ नहीं है)। उसकी तुलना उसके साथ होती है। आत्मा आत्मा जैसा। आहाहा! दूसरी किसी चीज़ से उसकी तुलना नहीं हो सकती।

(उपमारहित) प्रकाशवाला है (क्योंकि ज्ञानप्रकाश को सूर्यादि के प्रकाश की उपमा नहीं दी जा सकती),... भगवान के ज्ञानप्रकाश को सूर्य, चन्द्र की उपमा नहीं दी जा सकती। सूर्य, चन्द्र तो जड़ का प्रकाश है। आहाहा! सूर्य, चन्द्र का प्रकाश तो जड़ है। भगवान चैतन्यप्रकाश है। चैतन्यप्रकाश को सूर्य के प्रकाश आदि की उपमा नहीं दी जा सकती, उनके साथ तुलना नहीं की जा सकती। आहाहा! यह प्रकाश जो दिखता है, वह तो सब जड़ का (प्रकाश) है, मिट्टी है। प्रभु तो चैतन्य अरूपी ज्ञायक है। मोक्षमार्ग से जहाँ केवलज्ञान प्रगट हुआ तो सबको जानता है, तथापि किसी की उपमा नहीं दी जा सकती। सूर्य के प्रकाश की उपमा भी नहीं दी जा सकती। आहाहा!

'स्वभाव-प्रभा-प्राग्भारं' कैसा है प्रभु ? **स्वभाव प्रभा का पुंज है...** ज्ञानरूपी स्वभाव का पुंज है। आहाहा! जैसे शक्कर मिठास का पुंज है, अग्नि उष्णता का पुंज है; वैसे भगवान आत्मा ज्ञानप्रकाश का पुंज है। आहाहा! यह परमार्थ सत्य की बात है।

आहाहा! **'स्वभाव-प्रभा-प्राग्भारं' स्वभाव प्रभा का पुंज है (अर्थात् चैतन्य प्रकाश का समूहरूप है),...** चैतन्य के प्रकाश का समूह है, चैतन्य के प्रकाश का पिण्ड है। आहाहा! भगवान अन्दर में कभी देखा नहीं, कभी सुना नहीं। ऐसा चैतन्य के प्रकाश का पुंज है, अन्दर आत्मा चैतन्य के प्रकाश का समूह है। आहाहा! ऐसी दशा प्रगट होती है। मोक्षमार्ग से ऐसा मोक्ष होता है। आहाहा!

'अमलं' (अर्थात् रागादि-विकाररूपी मल से रहित है)। संसार के रागादि हैं, परमात्मा हुए, सिद्ध हुए, मोक्ष हुआ, वे राग-द्वेष के मल से रहित है। आहाहा! वीतरागमूर्ति सिद्ध भगवान। अनन्त सिद्ध हुए। चौबीस तीर्थंकर जो थे, वे यहाँ थे, तब अरिहन्त पद में थे। चार कर्म का नाश हुआ था और चार कर्म बाकी थे। अभी तो मोक्ष में हैं। आठ कर्म से रहित णमो सिद्धाणं में हैं। यहाँ थे, तब णमो अरिहन्ताणं थे। सर्व पूर्व (कर्म का) नाश करके पूर्ण प्रकाश प्रगट हुआ, तब णमो सिद्धाणं हुए। सीमन्धरस्वामी भगवान विराजते हैं, वे णमो अरिहन्ताणं में हैं परन्तु चौबीस तीर्थंकर सिद्ध हुए, वे णमो सिद्धाणं में हैं। आहाहा! उन सिद्ध के प्रकाश की क्या बात करना! ऐसा कहते हैं। आहाहा!

जो अमल है। चैतन्यप्रकाश का समूह है और रागादि विकाररूपी मल से रहित है, लो! आहाहा! **इस प्रकार, जो द्रव्यलिंग में ममत्व करते हैं,...** आहाहा! बाहर के क्रियाकाण्ड में दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा के राग में जो ममत्व करते हैं कि यह मेरे मोक्ष का कारण है, मैं धीरे-धीरे मोक्ष में जाऊँगा, ऐसा जो ममत्व करते हैं, **उन्हें निश्चय-कारणसमयसार का अनुभव नहीं है;...** आहाहा! व्यवहार क्रियाकाण्ड में जो ममत्व करते हैं। दया पालो, व्रत करो और अपवास करो... आहाहा! उससे मोक्ष मिलेगा, ऐसी ममता करते हैं... आहाहा! उन्होंने निश्चय कारणसमयसार—त्रिकाली द्रव्य भगवान कारणसमयसार का (अनुभव नहीं है)। सिद्ध तो कार्यसमयसार हो गये। कारण में से कार्य हो गया। कारणसमयसार त्रिकाल का अनुभव नहीं है। आहाहा! **निश्चय-कारणसमयसार का अनुभव नहीं है;...**

जो द्रव्यलिंग में, पुण्य और पाप के विकल्प में—राग में, मेरा है और मुझे लाभ होगा—ऐसा जो ममत्व करते हैं, उन्हें समयसार अर्थात् शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं है। आहाहा! **तब फिर उनको कार्य समयसार की प्राप्ति कहाँ से होगी?** कार्यसमयसार

अर्थात् परमात्मा। जब द्रव्यलिंग में ही ममता करते हैं और आत्मा का तो भान नहीं, आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र नहीं और क्रियाकाण्ड में ममता करते हैं, तो उन्हें कारणसमयसार झूठा है तो सच्चा कार्यसमयसार कहाँ से मिलेगा? आहाहा! कठिन बात है।

अनजाने लोगों को, नये लोगों को लगता है कि यह तो क्या है? ऐसी बात कहाँ से (निकाली)? बापू! नयी नहीं है, भाई! अनादि-अनन्त तीर्थंकर भरत में, ऐरावत में, महाविदेह में और दूसरे धातकीखण्ड आदि में अनन्त तीर्थंकर हुए, अनन्त केवली हुए, अर्ध पुष्कर द्वीप है, उसमें भी अनन्त तीर्थंकर हुए... आहाहा! सबका यह एक मार्ग है। 'एक होय तीन काल में परमारथ का पन्थ' अनन्त तीर्थंकर, अनन्त केवली महाविदेह के हों या धातकीखण्ड के हों... आहाहा! या अर्ध पुष्कर... ढाई द्वीप है न? ढाई द्वीप में मनुष्य क्षेत्र है न? ढाई द्वीप में ही मनुष्य है, ४५ लाख योजन में मनुष्य है। आहाहा! २७ अंक प्रमाण मनुष्य है। अर्थात् क्या? २७... २७... २७... २७... २७... २७... ऐसे २७ अंक प्रमाण ढाई द्वीप में मनुष्यों की संख्या है। क्योंकि मनुष्य तो ढाई द्वीप में थोड़े में है, इसके अतिरिक्त असंख्य द्वीप, समुद्र है, जिसमें सिंह, बाघ, हाथी और घोड़े असंख्य पड़े हैं। उनमें कोई समकिती भी है। ढाई द्वीप के बाहर तिर्यंच हैं। प्रतिक्रमण में आता है।

द्वीप द्वीप के बाहर असंख्य तिर्यंच समकिती हैं। आत्मा का भान है। आहाहा! भले तिर्यंच गति मिली परन्तु अन्तर में संस्कार थे तो अन्तर में जागृत हो गये। एक हजार योजन का मच्छ। चार हजार कोस का लम्बा। स्वयंभूरमण समुद्र में ऐसे तो असंख्य होते हैं। उनमें से कोई असंख्य, असंख्यगुणे में से असंख्य भाग आत्मज्ञानी हैं। तिर्यंच आत्मज्ञानी हैं। आहाहा! यह बात कहते हैं, वह है। वहाँ से स्वर्ग में जायेंगे। आहाहा! भगवान की वाणी में यह आया है। वहाँ से स्वर्ग में जायेंगे और वहाँ से मनुष्य होकर मोक्ष में जायेंगे। आहाहा!

जिसने आत्मा की प्राप्ति की, पश्चात् भले नरक में हो, भले स्वर्ग में हो, भले तिर्यंच में हो या देव, मनुष्य में हो... आहाहा! परन्तु वह अल्प काल में कारणसमयसार का अनुभव करता है। अज्ञानी निश्चय को जानते नहीं। इस **कारणसमयसार का अनुभव नहीं है; तब फिर उनको कार्यसमयसार की प्राप्ति कहाँ से होगी?** उसे केवलज्ञान तो (कहाँ से होनेवाला है)? जहाँ कारण का ठिकाना नहीं तो कार्य तो कहाँ से होनेवाला है? विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा - ४१३

पासंडीलिंगेसु व गिहिलिंगेसु व बहुप्पयारेसु।
कुव्वंति जे ममत्तिं तेहिं ण णादं समयसारं।।४१३।।

पाषण्डिलिङ्गेषु वा गृहिलिङ्गेषु वा बहुप्रकारेषु।
कुर्वन्ति ये ममत्वं तैर्न ज्ञातः समयसारः।।४१३।।

ये खलु श्रमणोऽहं श्रमणोपासकोऽहमिति द्रव्यलिङ्गममकारेण मिथ्याहङ्कारं कुर्वन्ति तेऽनादि-रूढव्यवहारमूढाः प्रौढविवेकं निश्चयमनारूढाः परमार्थसत्यं भगवन्तं समयसारं न पश्यन्ति।।४१३।।

अब इस अर्थ की गाथा कहते हैं-

बहुभांति के मुनिलिंग जो अथवा गृहस्थीलिंग जो।
ममता करे, उनमें नहीं जाना 'समय के सार' को।।४१३।।

गाथार्थ : [ये] जो [बहुप्रकारेषु] बहुत प्रकार के [पाषंडिलिंगेषु वा] मुनिलिंगों में [गृहिलिंगेषु वा] अथवा गृहस्थलिंगों में [ममत्वं कुर्वंति] ममता करते हैं (अर्थात् यह मानते हैं कि यह द्रव्यलिंग ही मोक्ष का दाता है), [तैः समयसारः न ज्ञातः] उन्होंने समयसार को नहीं जाना।

टीका : जो वास्तव में 'मैं श्रमण हूँ, मैं श्रमणोपासक (-श्रावक) हूँ' इस प्रकार द्रव्यलिंग में ममत्वभाव के द्वारा मिथ्या अहंकार करते हैं, वे अनादिरूढ़ (अनादि काल से समागत) व्यवहार में मूढ़ (मोही) होते हुए, प्रौढ़ विवेकवाले निश्चय (-निश्चयनय) पर आरूढ़ न होते हुए, परमार्थ सत्य (-जो परमार्थ से सत्यार्थ है ऐसे) भगवान समयसार को नहीं देखते-अनुभव नहीं करते।

भावार्थ : अनादिकालीन परद्रव्य के संयोग से होनेवाले व्यवहार ही में जो पुरुष मूढ़ अर्थात् मोहित हैं, वे यह मानते हैं कि यह 'यह बाह्य महाव्रतादिरूप वेश ही हमें मोक्ष प्राप्त करा देगा', परन्तु जिससे भेदज्ञान होता है, ऐसे निश्चय को वे नहीं जानते। ऐसे पुरुष सत्यार्थ, परमात्मरूप, शुद्धज्ञानमय समयसार को नहीं देखते।

प्रवचन नं. ४५८, गाथा-४१३, श्लोक-२४२ बुधवार, भाद्र शुक्ल १
दिनांक - १०-०९-१९८०

समयसार, गाथा – ४१३।

पासंडीलिंगेसु व गिहिलिंगेसु व बहुप्पयारेसु।
कुव्वंति जे ममत्तिं तेहिं ण णादं समयसारं।।४१३।।

नीचे हरिगीत।

बहुभांति के मुनिलिंग जो अथवा गृहस्थीलिंग जो।
ममता करे, उनमें नहीं जाना 'समय के सार' को।।४१३।।

अन्तिम गाथायें हैं, इसलिए सार-सार (बात करते हैं)।

टीका – जो वास्तव में 'मैं श्रमण हूँ,'... साधु हो, वह क्रिया करता है, इसलिए मानो हम साधु हैं, हम श्रमण है। **'मैं श्रमणोपासक (–श्रावक) हूँ'**... व्रत आदि की क्रिया करे, वह माने। **इस प्रकार द्रव्यलिंग में**... इस प्रकार, बाह्य क्रियाकाण्ड में। द्रव्यलिंग अर्थात् बाह्य क्रियाकाण्ड। व्रत, तप, भक्ति, पूजा आदि। जो पुण्यबन्ध का कारण है, उसे ही धर्म मानता है। आहाहा! उस **द्रव्यलिंग में ममत्वभाव के द्वारा**... जो क्रियाकाण्ड, पंच महाव्रत या अट्ठाईस मूलगुण या क्रिया, समिति, गुप्ति, देखकर चलना इत्यादि... वह सब क्रिया तो राग की है। आहाहा! **ममत्वभाव के द्वारा मिथ्या अहंकार करते हैं,**... आहाहा!

आचार्य महाराज कुन्दकुन्दाचार्य हैं तो मुनि, नग्न दिगम्बर जंगलवासी, प्रभु के पास गये थे। पश्चात् यह बनाया है कि प्रभु तो ऐसा कहते हैं। मार्ग तो हम जो करते हैं, वह मार्ग है। आहाहा!

मिथ्या अहंकार करते हैं,... बाहर की पंच महाव्रत आदि की क्रिया में अहंकार करते हैं कि हम साधु हैं। श्रावक बारह व्रत धारण करके (अहंकार करता है कि) हम श्रावक हैं। इस तरह **मिथ्या अहंकार करते हैं,**... क्योंकि वह सब तो राग की क्रियाएँ हैं। आहाहा! **वे अनादिरूढ़ (अनादि काल से समागत) व्यवहार में मूढ़**... वह

क्रियाकाण्ड तो अनादि (से) अनन्त बार किये हैं। वह कोई नयी चीज़ नहीं है। वह कोई अन्तर आत्मधर्मस्वरूप नहीं है। अनादि काल से समागत नाम प्राप्त **व्यवहार में मूढ़...** है। यह तो अनादि काल से व्रत ले लिये, क्रिया कर ली। देखकर चलना, विचार कर बोलना, यह सब राग की क्रिया है। इस राग की क्रिया को समागत—प्राप्त करके। आहाहा! **व्यवहार में मूढ़ होते हुए,...** इस क्रियाकाण्ड में धर्म है, ऐसे मूढ़ वर्तते हुए मिथ्यादृष्टि है।

प्रौढ़ विवेकवाले निश्चय (–निश्चयनय) पर आरूढ़ न होते हुए,... प्रौढ़ विवेक। इस राग की क्रिया से भगवान चैतन्यस्वरूप अन्दर अत्यन्त भिन्न है। प्रौढ़ विवेक अर्थात् भेदज्ञान। राग की सभी क्रिया से प्रभु अन्दर भिन्न है, ऐसा प्रौढ़ विवेक अर्थात् भेदज्ञान। आहाहा! **प्रौढ़ विवेकवाले निश्चय (–निश्चयनय) पर आरूढ़ न होते हुए,...** अन्तर भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूपी ज्ञाता-दृष्टा सर्वांग शान्ति और आनन्द से भरपूर प्रभु है, उसका आश्रय नहीं लेकर, उसमें आरूढ़ नहीं होकर। आहाहा! दुनिया से विरुद्ध है।

यह तो कुन्दकुन्दाचार्य का कथन है। आहाहा! कहते हैं कि प्रभु आत्मा अन्दर आनन्द का दल, ज्ञान का सागर, गुण का गोदाम है, ऐसे प्रभु की ओर आरूढ़ नहीं होकर, उसकी स्वसन्मुखता नहीं करके व्यवहार में मूढ़ वर्तते हुए, आहा! पर के ऊपर आरूढ़ वर्तते हुए। निश्चय नहीं। पर आरूढ़ अर्थात् निश्चय पर आरूढ़ नहीं होते हुए। आहाहा! ऐसी बात!

परमार्थ सत्य (–जो परमार्थ से सत्यार्थ है ऐसे)... वास्तव में तो प्रभु अन्दर चैतन्यमूर्ति है। वह पर और राग से अत्यन्त भिन्न है, उसका तो पता लेता नहीं, उसकी ओर (नजर करता नहीं)। सत्यार्थ, परमार्थ सत्यार्थ जो त्रिकाली परमात्मा चीज़ है... आहाहा! उसे—**भगवान समयसार को नहीं देखते...** भगवान समयसार को देखते नहीं। आहाहा! समयसार अर्थात् आत्मा। समय—सम्यक् प्रकार से। अय अर्थात् गमन। समय। अपने स्वरूप में—ज्ञान में परिणमन करना, आनन्द में परिणमन करना, वह समयसार है। आहाहा! पूरी दुनिया से विरुद्ध बात लगे। दूसरी बात सुनी न हो तो क्या करे? अनन्त काल से भटकता है।

कहते हैं कि, भगवान समयसार। अन्दर भगवान अर्थात् भग अर्थात् लक्ष्मी, आनन्द और ज्ञानादि लक्ष्मीवान प्रभु अन्दर है। उसमें कोई पुण्य और पाप के, राग की क्रिया के भाव नहीं है। आहाहा! उसमें तो जाता नहीं और बाहर में, दया, दान, व्रतादि क्रिया करते हुए हम मुनि हैं और श्रावक हैं, ऐसा मानता है, वह मिथ्यादृष्टि—मूढ़ है। आहाहा!

भगवान समयसार! देखो! आहाहा! सबके आत्मा की बात करते हैं। भगवान अन्दर समयसार है। चैतन्यमूर्ति वीतरागस्वरूपी विराजमान है। राग और जो क्रियाकाण्ड करता है, वह तो विकार है। उस विकार से भिन्न अन्दर भगवान समयसार अर्थात् आत्मा का सार, आत्मा का वास्तविक स्वरूप, वास्तविक तत्त्व, ऐसे भगवान समयसार को नहीं देखता। वह क्रियाकाण्ड में ही महाव्रत और चारित्र मानता है। आहाहा! उनसे अन्दर भिन्न भगवान समयसार विराजता है, उसे वह नहीं देखता, देखता नहीं, अनुभव नहीं करता। आहाहा! भारी कठिन। अरे! ऐसा सही, परन्तु इसका कुछ साधन होगा या नहीं ? यह एकदम ऐसी बात ? कुछ इसका कारण साधन-बाधन यह करते हैं... प्रभु! साधन दूसरा नहीं है, भाई!

साधन नाम का तो इसमें गुण है। आत्मा में एक साधन / करण नाम का अनादि-अनन्त गुण है। आहाहा! उस साधन का आश्रय करके जो निर्मल दशा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्राप्त होती है, वही भगवान समयसार पर्याय है। वह पर्याय मोक्ष का कारण है। आहाहा! अब इसमें लोग विरोध करे न! एक ओर क्रियाकाण्ड और पंच महाव्रत आदि राग है, संसार है, घोर संसार है। राग से रहित अन्दर भगवान (विराजता है)। भगवान समयसार, ऐसा कहा। आहाहा! भगवान समयसार! यह पुण्य-पाप तो विकार और दोष तथा क्रियाकाण्ड का राग तो अवगुण है। अन्दर भगवान आत्मा समयसार अर्थात् त्रिकाली शुद्ध चैतन्य को तो देखता नहीं, उस ओर नजर करता नहीं, उस ओर झुकाव करता नहीं, उस ओर झुकता नहीं और क्रियाकाण्ड में सर्वस्व मानकर बैठ गया। हम साधु हैं और हम श्रावक हैं। आहाहा! इतना भान।

भगवान समयसार को नहीं देखते-अनुभव नहीं करते। आहाहा! इस राग का ही अनुभव करता है। पंच महाव्रत की क्रिया, वह तो राग की क्रिया है, वह तो दुःख है। आहाहा! आत्मा आनन्दस्वरूप प्रभु है, उसमें विकल्प उठाना, राग उठाना कि मैं ऐसी अहिंसा करूँ... आहाहा! झूठ न बोलूँ, शरीर से ब्रह्मचर्य पालन करूँ, ऐसा जो पंच महाव्रत

का विकल्प है, वह दु:ख है, वह आत्मा के आनन्द से विपरीत है। आहाहा! कान में पड़ना मुश्किल पड़े। कान में पड़ना, ऐसा कहा। कितनों को तो यह बात कान में भी नहीं पड़ी होगी। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, राग की सब क्रिया—देखकर चलना, निर्दोष आहार लेना, वस्त्र छोड़कर नग्न होना, पंच महाव्रत पालना, यह सब क्रिया व्यवहार मूढ़ होकर (करता है), आहाहा! अपने स्वभाव में आरूढ़ नहीं होकर भगवान समयसार को अनुभव नहीं करते। आहाहा! यहाँ तो इसे भगवान कहा है। प्रभु आत्मा को भगवान कहते हैं। आचार्य महाराज कहते हैं, भगवान समयसार! आहाहा! जिसमें अनन्त-अनन्त शान्ति, आनन्द आदि गुण के भण्डार भरे हैं। उस ओर की सन्मुखता है नहीं और उससे विरुद्ध दया, दान की क्रिया में धर्म मानकर चार गति में अनादि से, अनादि काल से यह क्रिया तो करता आया है। आहाहा!

भावार्थ – अनादिकालीन परद्रव्य के संयोग से होनेवाले... आहाहा! अनादि काल से **परद्रव्य के संयोग से होनेवाले व्यवहार...** यह तो कर्म के निमित्त के आधीन होता है तो यह महाव्रत आदि के परिणाम उत्पन्न होते हैं। आहाहा! ऐसी बात। सवेरे बहुत ऊँची बात बहिन के वचनों में से आयी थी। आहाहा! वही बात यह है।

चैतन्यस्वरूप भगवान अन्दर है, जिसमें पुण्य और पापतत्त्व की गन्ध नहीं है। उसमें उनकी वासना नहीं है। उसरूप प्रभु कभी हुआ नहीं है। परन्तु पुण्य की क्रिया में ही धर्म मानकर... आहाहा! **अनादिकालीन परद्रव्य के संयोग से...** पुण्य-पाप के भाव कर्म के निमित्त के संयोग से उत्पन्न होते हैं, वह स्वभाव से उत्पन्न हुई चीज़ नहीं है। चैतन्य भगवान अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान, इस स्वभाव से (पुण्य-पाप) उत्पन्न नहीं होते परन्तु **परद्रव्य के संयोग से होनेवाले व्यवहार ही में जो...** आहाहा! पराश्रय करने से उत्पन्न हुआ व्यवहार, स्वाश्रय छोड़कर (हुआ व्यवहार)। महाप्रभु चैतन्य भगवान अन्दर महाप्रभु है, उसका आश्रय और अवलम्बन तो लेता नहीं और इस व्यवहार में परद्रव्य के संयोग से... संयोग से अर्थात् उससे नहीं। संयोग करने से, स्वभाव का संयोग नहीं करके। अपनी शुद्ध चैतन्य वस्तु की ओर नहीं झुककर, कर्म के संयोग में झुकने से।

कर्म से नहीं, उस ओर झुकने से। आहाहा! कर्म तो परद्रव्य है, जड़ है, मिट्टी है, धूल है। वे उदय में आते हैं, वह तो मिट्टी है। आहाहा!

यहाँ चैतन्य शुद्ध भगवान का अवलम्बन नहीं है। अनादि से पर का अवलम्बन लिया है। उस **परद्रव्य के संयोग से...** परद्रव्य से नहीं। आहाहा! **परद्रव्य के संयोग से...** अर्थात् परद्रव्य के संयोग के लक्ष्य से। आहाहा! **होनेवाले व्यवहार ही में जो पुरुष मूढ़...** आहाहा! ऐसे व्यवहार ही मे, व्यवहार ही में **जो पुरुष मूढ़ अर्थात् मोहित हैं, वे यह मानते हैं कि यह 'यह बाह्य महाव्रतादिरूप वेश ही हमें मोक्ष प्राप्त करा देगा',...** आहाहा! जगत से अलग है। कितनों ने सुना नहीं होगा। यहाँ तो कहते हैं, **बाह्य महाव्रतादि...** महाव्रत की क्रिया तो सब बाह्य की है, राग की क्रिया है। आहाहा!

मुमुक्षु : ऐसा स्पष्टीकरण है, तथापि मानते क्यों नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : माने, न माने, स्वतन्त्र है। जीव स्वतन्त्र है। जगत को सुनने को मिला नहीं हो और सुनने में आने पर के पश्चात् मानना, न मानना (इसके लिये) स्वतन्त्र है। प्रत्यक्ष लेख है और क्यों नहीं मानते, ऐसा पूछते हैं। आहाहा! कितनों ने तो सुना ही नहीं। आहाहा!

हम भी वहाँ दुकान में रहते थे। इस क्रियाकाण्ड में (थे)। हम भी पर्यूषण में चतुर्विध आहार त्याग अपवास करते थे। पानी नहीं। पूरे दिन दुकान में बैठें। साधु आवे, दें, सब त्याग-ग्रहण। स्थानकवासी में इस क्रियाकाण्ड में सब मानते थे। शाम को प्रतिक्रमण करें, उसमें धर्म मानते थे। सायंकाल प्रतिक्रमण आदि करे। मैं उस समय प्रतिक्रमण कराता था। (संवत्) १९६५-६६ के वर्ष। आहाहा! परन्तु वह तो क्रिया का राग था, विकल्प है। परन्तु हमने धर्म किया, अपवास किया तो हमारे निर्जरा हो गयी, ऐसा मानते थे। आठ दिन में चार अपवास करते थे। बाकी फिर कुछ नहीं। उन पर्यूषण में चार दिन में एक दिन खाना और एक दिन नहीं खाना। चार अपवास। फिर सायंकाल प्रतिक्रमण करें तो मानो ओहो! धर्म किया। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं, **अनादिकालीन परद्रव्य के संयोग से...** परद्रव्य के सम्बन्ध से। परद्रव्य से नहीं। परद्रव्य के संयोग सम्बन्ध से लक्ष्य करके **व्यवहार ही में जो पुरुष...**

उस क्रियाकाण्ड में मूढ़ है। आहाहा! सुनना कठिन पड़े। यह सब हम करते हैं न, बापू! यह सब अनादि काल से करता आया है, यह साधारण बात है। अनादि काल से (करता है)। आहाहा! अन्दर भगवान चैतन्य राग के विकल्प की चीज़ से भी, पुण्यतत्त्व से भी प्रभु तत्त्व—ज्ञायकतत्त्व भिन्न है। उस तत्त्व का आश्रय लिया नहीं, उस तत्त्व की सम्हाल ली नहीं, उस तत्त्व की महिमा आयी नहीं और राग की क्रिया की महिमा में पड़े हुए मूढ़ जीव मोहित हैं। मूढ़ अर्थात् वह मोहित है। आहाहा! अहिंसा पालना, पर की दया पालना, यह क्रिया। **महाव्रतादिरूप वेश...** वह तो बाह्य वेश है। भगवान अन्दर... आहाहा!

समयसार में तो आता है, एक-एक वेश है, उसे छोड़ता जाता है। मोक्ष का वेश भी छोड़ता जाता है। क्योंकि मोक्ष भी पर्याय है। सब जगह आता है। अजीव जीव का वेश लेकर आया तो अजीव का वेश छोड़ दिया, जीव में आ गया। आस्रव का पुण्य-पाप का वेश आया तो उसे छोड़कर अन्दर आया। ऐसे बन्ध का वेश आया तो उसे छोड़कर अन्दर आया। संवर का वेश आया। संवर को भी वेश लिया है। धर्म, पर्याय है न? उसका लक्ष्य छोड़कर अन्दर जाना।

यह सवेरे कहा था कि आत्मा के अवलम्बन से जो शान्ति और आनन्द का वेदन आता है, वह वेदन है... आहाहा! उसका अवलम्बन नहीं, वेदन का अवलम्बन नहीं और जिसका अवलम्बन है, उसका वेदन नहीं। आहाहा! ऐसा सुना भी नहीं हो। और यह तो क्या? ध्रुव चीज़ जो त्रिकाली भगवान अनादि सनातन सत्य है, उसका तो कभी वेदन नहीं होता, वह तो ध्रुव है। ध्रुव का अवलम्बन लेने से निर्मल सम्यग्दर्शन पर्याय उत्पन्न होती है, उसका वेदन है। वेदन है, उसका अवलम्बन नहीं और त्रिकाल भगवान का अवलम्बन है, उसका वेदन नहीं। आहाहा! गजब बात है। अरे! भाई! मार्ग तो यह है। फिर चाहे जो झगड़ा उठाओ, वाद-विवाद करे।

अरे! अन्दर चैतन्यस्वरूप भगवान कहा न? भगवान समयसार! आहाहा! समयसार शब्द नहीं, हों! आत्मा समयसार। समयसार अर्थात् सम्यक् प्रकार से अय अर्थात् परिणमन करना। सार अर्थात् विकाररहित। आहाहा! महाव्रत आदि के परिणाम विकार है। उस विकाररहित निर्विकारी चैतन्य के अवलम्बन से निर्विकारी परिणमन होना, वही धर्म है। आहाहा! कठिन काम। निवृत्ति नहीं मिलती। सत्य (बात) सुनने का समय भी नहीं मिलता।

अरे..रे..! देह की स्थिति पूरी होगी, चला जायेगा। कितना सुनते हैं, अमुक को ऐसा हो गया और अमुक ऐसा हो गया, बैठे थे और देह छूट गयी और ऐसा हुआ। देह तो है, उसकी अवधि है। भगवान के ज्ञान में अवधि है और यहाँ भी अवधि है। उसकी पर्याय की योग्यता की अवधि है कि अमुक समय तक यह पर्याय रहेगी और आत्मा की योग्यता है, तब तक यहाँ रहेगा। वह कर्म से और शरीर के कारण से नहीं। अपनी योग्यता के कारण से रहता है। आहाहा! कर्म के कारण से रहता है और शरीर के कारण से रहता है, ऐसा नहीं है। क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता, छूता नहीं तो पर के कारण से रहता है, ऐसी बात है नहीं। आहाहा! ऐसी बात।

यहाँ कहते हैं, वह मोहित मानता है कि बाह्यक्रिया ही मोक्ष प्राप्त करा देगी। है? यह बाह्य क्रियाकाण्ड, महाव्रत और शरीर से ब्रह्मचर्य पालना, आजीवन शरीर का ब्रह्मचर्य लेना, शरीर से। वह भी शुभभाव है। वह तो जड़ की क्रिया रुक गयी है। अन्दर में दृष्टि विपरीत है। आहाहा! ब्रह्मचर्य तो यह है, ब्रह्म अर्थात् आनन्द, अपने आनन्दस्वरूप में चरना अर्थात् रमना, जमना, उसका नाम ब्रह्मचर्य है। शरीर से ब्रह्मचर्य पाले, वह ब्रह्मचर्य नहीं, वह तो व्यवहार है, शुभभाव है, पुण्य है; धर्म नहीं। आहाहा! ऐसी बात! ओहोहो!

जो पुरुष मूढ़ अर्थात् मोहित हैं, वे यह मानते हैं कि यह 'यह बाह्य महाव्रतादिरूप वेश ही हमें मोक्ष प्राप्त करा देगा', परन्तु जिससे भेदज्ञान होता है... देखो! आया। विवेक आया था न? विवेक (अर्थात्) भेदज्ञान। यह राग के परिणाम होते हैं। महाव्रत के, अहिंसा, सत्य, अचौर्य के (परिणाम होते हैं)। उनसे भी भगवान आत्मा अन्दर भिन्न है। आहाहा! उसकी दृष्टि करना और उसका आश्रय लेना, उससे भेदज्ञान होता है, राग से भिन्न होता है। आहाहा! कभी सुना न हो, उसे तो लगता है, परन्तु यह क्या है? आहाहा! पूरे दिन बेचारे स्त्री, पुत्र छोड़कर, दुकान-धन्धा छोड़कर, लाखों की दुकान की आमदनी छोड़कर साधु हुए... आहाहा! श्रावक भी बारह व्रत की क्रिया करे, सामायिक करे, प्रौषध करे, प्रतिक्रमण करे और वह धर्म नहीं। आहाहा! शुभराग है और उसमें धर्म मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है, मिथ्यात्व है। अनन्त पाप, अनन्त गर्भ, चौरासी के अनन्त गर्भ करे, ऐसा मिथ्यात्वभाव है। आहाहा!

मनुष्य में एक जन्म करना, माता के गर्भ में सवा नौ महीने रहे। वह श्वास किस

प्रकार लेता होगा? आहाहा! शास्त्र में तो यहाँ तक आया है कि किसी-किसी समय तो मनुष्य माता के गर्भ में बारह-बारह वर्ष रहता है। उसे छोड कहते हैं। बारह-बारह वर्ष एक बार (रहता है)। आहाहा! वह बारह वर्ष में जन्म दे। ऐसे भी (जन्म) अनन्त बार किये हैं। बारह वर्ष की गर्भ की कायस्थिति शास्त्र में वर्णन की है। सवा नौ महीने तो साधारण चलता है। अभी एक नमूना तीन वर्ष का देखा था। वढ़वाण के पास गाँव हैं वहाँ। कैसा? वढ़वाण के साथ गाँव है न? ध्रांगध्रा जाते हुए (आता है)। वहाँ एक (स्त्री के) गर्भ में तीन वर्ष लड़का रहा था। तीन वर्ष! तीन वर्ष में जन्म लिया। शास्त्र तो बारह वर्ष कहता है। वह छोड बारह वर्ष तक वहाँ रहता है। आहाहा! यहाँ जरा एक मुँह (बन्द करे तो) ठीक नहीं पड़ता। वह बारह वर्ष माता के गर्भ में कहाँ से श्वास ले? आहाहा! उस दुःख की वेदना का पार नहीं, भाई! इसने विचार कब किया है? आहाहा!

एक बार भावनगर में हम दुकान छोड़कर गये थे। वहाँ एक ध्रुव का नाटक था। ध्रुव... ध्रुव। अपने यहाँ ध्रुव यह (स्वभाव) है। वह ध्रुव, प्रह्लाद। उस प्रह्लाद की माँ गुजर गयी थी। प्रह्लाद के पिता ने नया विवाह किया। फिर प्रह्लाद ने दीक्षा ली। दीक्षा लेने के पश्चात्... यह लकड़ी की होती है न? (उसके ऊपर) बैठे हाथ में रखकर। उसमें एक इन्द्राणी ऊपर से उतरी। यह तो (संवत्) १९६६ की बात है। दोनों ओर इन्द्राणी (उतारी)। नाटक का क्या कहलाता है वह? नाटक का स्थान। बड़ा पर्दा रखा हुआ। ऐसे वन में मानो गहरे-गहरे बैठा हुआ। हरा पर्दा। इन्द्राणी डिगाने के लिये आयी। इन्द्राणी कहती है, हमारा शरीर तो देखो! यह शरीर सुन्दर, यह रूपवान ऐसा शरीर, ऐसा यह (है)। तब अन्यमति ध्रुव... ध्रुव ऐसा जवाब देता था। प्रह्लाद नहीं परन्तु ध्रुव, ऐसा जवाब दिया। भावनगर है, उसका मकान है। ऐसा जवाब दिया, माता! तुम्हारा शरीर बहुत सुन्दर है। यदि मुझे कदाचित् जन्म लेना होगा तो माता! तेरे गर्भ में आऊँगा, दूसरी बात रहने दे। आहाहा! नाटक में ऐसी बात चलती थी। आहाहा! ऐसा बोले थे। ध्रुव छोटी उम्र का लड़का था। त्यागी होकर (जंगल में रहता था)। लकड़ी की होती है न? पावड़ी, उसे हाथ में रखकर जंगल में बैठा हुआ। इन्द्राणियाँ दोनों ओर से आयी। डिगाने आयी। ऐसा जवाब दिया... तब सुना... कहा, ओहोहो! वह बालक राजकुमार था अज्ञानी। आत्मज्ञान जैनदर्शन नहीं।

आहाहा! उसे डिगाने आयी, उसको ऐसा जवाब दिया, माता! तुम्हारा शरीर बहुत सुन्दर है। कदाचित् मेरा इस भव में मोक्ष न हो और दूसरा शरीर धारण करना पड़े तो माता! तुम्हारे गर्भ में आऊँगा, दूसरी बात नहीं। ऐसा तो अन्यमति के नाटक में आता था। आहाहा! नाटक भी देखे हैं न, बहुत देखे हैं। फिल्म भी देखी है और नाटक भी देखे हैं, बहुत सब देखा है। भर्तहरि का नाटक, नरसिंह मेहता के नाटक, अनसूया का नाटक, ऐसे कितने ही नाटक देखे थे। वैराग्य के, हों! सब वैराग्य के। उस समय वैराग्य के नाटक आते थे। अभी सब फिल्में-बिल्में सब (बढ़ गया)। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, प्रभु! तूने वेश तो महाव्रत का लिया परन्तु यह महाव्रत का वेश, प्रभु! वह कुलिंग है, वह कहीं आत्मा का स्वभाव नहीं है। आहाहा! यह मानता है कि इस बाह्यक्रिया से मेरा मोक्ष होगा, मोक्ष प्राप्त करा देगा। **परन्तु जिससे भेदज्ञान होता है, ऐसे निश्चय को वे नहीं जानते।** आहाहा! इस राग से, विकल्प से, महाव्रत के राग से भी भगवान अन्दर भिन्न है। अरे..रे..! अभी शरीर से भिन्न मानना कठिन पड़े। यह शरीर अत्यन्त भिन्न है। जैसे लोटे में पानी अलग चीज़ है। पानी अलग चीज़ है, लोटा अलग चीज़ है। उसी प्रकार यह लोटा जैसा शरीर है, देखो न! भगवान अन्दर अरूपी चैतन्य भिन्न चीज़ है। यह जड़, मिट्टी, धूल भिन्न चीज़ है। इन दोनों की भिन्नता की भी अभी खबर नहीं पड़ती, उसे यहाँ राग और द्वेष के, दया, दान के विकल्प... आहाहा! उनसे भी भिन्न (बताते हैं)। आहाहा!

भेदज्ञान होता है, ऐसे निश्चय को वे नहीं जानते। आहाहा! राग से भिन्न होता है, ऐसा भेदज्ञान आत्मा की चीज़ है। उसकी ओर तो लक्ष्य नहीं, उसका तो ध्यान नहीं, उसकी नजर में यह वर्तता नहीं और **निश्चय को वे नहीं जानते।** सत्य वस्तु भगवान अन्दर पूर्णानन्द विराजता है। आहाहा! उसकी तो कुछ खबर नहीं।

ऐसे पुरुष सत्यार्थ, परमात्मरूप, शुद्धज्ञानमय समयसार को नहीं देखते। आहाहा! इस क्रियाकाण्ड में रुकनेवाले और क्रियाकाण्ड में धर्म माननेवाले पुरुष सत्यार्थ और परमात्मरूप सच्ची चीज़ जो अन्दर त्रिकाली परमात्मस्वरूप स्वयं भगवान है। आहाहा! एक ओर भगवान कहा था, यहाँ परमात्मा कहते है।

अरे! उड़द की दाल सिजोते हुए एकरस न हुई हो, छाछ-मट्ठा और उड़द की दाल ऐसे एकरस न हुई हो तो ढिंचणीयुं* उड़े। किसने बनायी यह दाल? यह बिगड़ गयी। और उसमें कोई समधी सत्ताप्रिय आया हो, पुत्री का ससुर (हो) उसमें यह चूरमा के लड्डू और उड़द की दाल बेडोल जैसी (बनी हो), उसमें भी भाई को पित्तो खिसक जाता है। आहाहा! ऐसे को यह कहना... प्रभु! क्या हो? भाई! यह तो पाप है परन्तु महाव्रत आदि भी पुण्य और विकार और दु:ख है। आहाहा!

एक **सत्यार्थ, परमात्मरूप,...** परमात्मस्वरूप **शुद्धज्ञानमय...** भगवान तो शुद्धज्ञानमय, ज्ञानमय, ज्ञानमय, ज्ञानमय, प्रज्ञा... प्रज्ञा ज्ञानस्वरूपी चैतन्य ध्रुव त्रिकाल है, ऐसे **समयसार को नहीं देखते।** अज्ञानी उसे अनुभव नहीं करते। आहाहा! **अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं–**

कलश - २४२

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं–

(वियोगिनी)

व्यवहार-विमूढ-दृष्टय: परमार्थं कलयन्ति नो जना:।
तुष-बोध-विमुग्ध-बुद्धय: कलयन्तीह तुषं न तण्डुलम्।।२४२।।

श्लोकार्थ : [व्यवहार-विमूढ-दृष्टय: जना: परमार्थ नो कलयन्ति] जिनकी दृष्टि (बुद्धि) व्यवहार में ही मोहित है, ऐसे पुरुष परमार्थ को नहीं जानते, [इह तुष-बोध-विमुग्ध-बुद्धय: तुषं कलयन्ति, न तण्डुलम्] जैसे जगत में जिनकी बुद्धि तुष के ज्ञान में ही मोहित है (-मोह को प्राप्त हुई है), ऐसे पुरुष तुष को ही जानते हैं, तन्दुल (-चावल) को नहीं जानते।

* पुराने समय में भोजन के समय थाली के नीचे एक ओर रखा जानेवाला लकड़ी का टुकड़ा

भावार्थ : जो धान के छिलकों पर ही मोहित हो रहे हैं, उन्हीं को कूटते रहते हैं, उन्होंने चावल को जाना ही नहीं है; इसी प्रकार जो द्रव्यलिंग आदि व्यवहार में मुग्ध हो रहे हैं (अर्थात् जो शरीरादि की क्रिया में ममत्व किया करते हैं), उन्होंने शुद्धात्मानुभवनरूप परमार्थ को जाना ही नहीं है; अर्थात् ऐसे जीव शरीरादि परद्रव्य को ही आत्मा जानते हैं, वे परमार्थ आत्मा के स्वरूप को जानते ही नहीं।।२४२।।

कलश-२४२ पर प्रवचन

व्यवहार-विमूढ-दृष्टय: परमार्थं कलयन्ति नो जना:।
तुष-बोध-विमुग्ध-बुद्धय: कलयन्तीह तुषं न तण्डुलम्।।२४२।।

आहाहा! **'व्यवहार-विमूढ-दृष्टय: जना: परमार्थ नो कलयन्ति' जिनकी दृष्टि (बुद्धि) व्यवहार में ही मोहित है...** आहाहा! अनादि से व्यवहार में ही राग की क्रिया में मूढ़ है। आहाहा! वह भी कोई निवृत्ति लेकर शुभभाव करता है, बाकी तो अशुभभाव में जिन्दगी निकाले और मरकर जाते हैं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि **जिनकी दृष्टि (बुद्धि) व्यवहार में ही मोहित है...** आहाहा! क्रियाकाण्ड में ही जिनकी दृष्टि है, अपने में यह मेरी क्रिया है, ऐसा मानते हैं, वे मोहित हैं, मिथ्यादृष्टि हैं। आहाहा! अन्तिम गाथायें हैं। **ऐसे पुरुष परमार्थ को नहीं जानते,...** परमार्थ अर्थात् क्या? पर को पैसा देना या यह देना परमार्थ, वह परमार्थ नहीं है। परम-अर्थ ऐसा जो भगवान आत्मा, परमार्थ—परम अर्थ ऐसा जो परमात्मा भगवान, पुण्य और पाप के विकल्प अर्थात् राग से रहित, उसे अज्ञानी व्यवहार में मूढ़ जीव उस ओर उसकी समीप जाते नहीं, उसे जानते नहीं, उसे अनुभव करते नहीं। आहाहा! ऐसी कठिन बात इसमें है। फिर दूसरे ऐसा कहते हैं न कि, व्यवहार और निश्चय दो हैं, दोनों चाहिए। दो हैं सही, परन्तु व्यवहार, वह कोई धर्म नहीं है, वह तो शुभभाव है। आता है, शुभभाव आता है। जब तक वीतराग न हो, तब तक सम्यक् अनुभव होने पर भी शुभ और अशुभभाव भी आता है, परन्तु वह बन्ध का कारण है। आहाहा! इसमें सूझ पड़ना मुश्किल पड़ता है। यह क्या कहते हैं?

यहाँ तो कहते हैं कि जो पुरुष व्यवहार दृष्टि में मूढ़ है, वह परमार्थ को नहीं जानते। **'इह तुष-बोध-विमुग्ध-बुद्धयः तुषं कलयन्ति, न तण्डुलम्'** क्या कहते हैं? **जैसे जगत में जिनकी बुद्धि तुष के ज्ञान में ही मोहित है...** छिलका, छिलका। वे चावल को नहीं देखते। आहाहा! एक गृहस्थ महिला थी। लाखोंपति, पहले तो लाखोंपति अर्थात् बहुत कहलाता था। अब फिर लखपति अर्थात् कुछ नहीं। वह चावल खाँडती थी। क्या कहलाता है वह? कमोद... कमोद खाँडती थी। उसमें खाँडते-खाँडते क्या होता है? ऊपर का तुष—छिलका था न? वह ऊपर रह जाते हैं और चावल हों वे नीचे पड़ जाते हैं, नीचे रह जाते हैं। क्या कहलाता है? खायणी। ऊपर छिलका-तुष रह जाता है, नीचे चावल रह जाता है। इतने गरीब महिला बाहर आयी, उसने देखा कि यह बहिन तो छिलके खाँडती है। इसलिए घर जाकर पति को कहा, छिलके ले आओ। छिलके खाँडना है। अरे! परन्तु वह छिलके नहीं खाँडती, चावल तो अन्दर नीचे पड़े हैं।

उसी प्रकार यह पुण्य और पाप को देखकर, देखकर कहता है, वह भी पुण्य-क्रिया तो करते हैं, समकिती भी शुभभाव तो करते हैं, क्रिया देखते हैं परन्तु क्रिया के पीछे दृष्टि फेर है, (उसे अज्ञानी नहीं देखता)। आहाहा! उस छिलके के नीचे चावल अन्दर पड़े हैं, उसे तो देखता नहीं। आहाहा! इसी प्रकार धर्मी जीव शुभभाव में आता है। भक्ति, पूजा आदि करता है परन्तु उसकी दृष्टि निर्मल आनन्द के ऊपर है, उसे नहीं देखता। वह (जो क्रिया) करता है, वह मैं भी करता हूँ। आहाहा!

व्यवहार में मोहित है, **ऐसे पुरुष परमार्थ को नहीं जानते, जैसे जगत में जिनकी बुद्धि तुष के ज्ञान में ही मोहित है...** छिलका, छिलका। **(-मोह को प्राप्त हुई है) ऐसे पुरुष तुष को ही जानते हैं,...** वे छिलके को ही जानते हैं, बस! उसी प्रकार अज्ञानी की बाह्य क्रिया है, वह छिलका है। पंच महाव्रत आदि छिलके के समान हैं, राग की क्रिया है। अन्दर भगवान भिन्न है, उसे नहीं जानते। आहाहा! ऐसी बातें। यहाँ की बात तो अभी अफ्रीका में पहुँच गयी। अफ्रीका में यह चलता है, वाँचन चलता है। ऐसा ही यह, हों! झवेरचन्दभाई है, एक वीरजीभाई है न? वे वाँचन करते हैं। बहुत सरस करते हैं। है सामान्य गृहस्थ। झवेरचन्दभाई तो करोड़पति है। वे तो छोटी उम्र के हैं। वे बहुत प्रेम से

वाँचन करते हैं। यहाँ के जैसा सब चलता है। पाँच हजार रिकॉर्डिंग (प्रवचन) ले गये हैं। यह रिकॉर्डिंग उतरती है न? वह पाँच हजार ले गये हैं। पढ़ते-सुनते हैं, चर्चाएँ करते हैं।

बापू! सुनो तो सही। ऐसा मनुष्यभव मिला। थोड़ा समय तो तेरे लिये निकाल। आहाहा! पर के संयोग के लिये पूरी जिन्दगी (व्यतीत करता है)। परन्तु संयोगरहित तेरी चीज़ क्या है, उस पर तेरी दृष्टि का अभाव! इसका क्या फल आयेगा? प्रभु! संसार में... आहाहा! कहाँ भटकेगा? कहाँ भव करेगा? भवभय से डर चित्त। भव के भय से डरकर कुछ अन्तर में तो जा, भाई! आहाहा! बाहर में तुझे जितनी प्रसन्नता, उत्साह और हर्ष बाहर की चीज़ में वर्तता है... आहाहा! उसे छोड़कर जरा अन्दर चैतन्य भगवान पूर्णानन्द निर्मलानन्द है, उस ओर तेरी दृष्टि तो ले जा, झुकाव तो कर। उस ओर की समीपता तो कर। अनादि काल से दूर रहा है। शुद्ध चीज़ से तो अनादि से दूर रहा है। आहाहा! उस दूर से जरा नजदीक तो जा कि यह अनादि की चीज़ है क्या? आहाहा!

यह कहते हैं, **जिनकी बुद्धि तुष के ज्ञान में ही मोहित है...** इस छिलके में मोहित है। **(-मोह को प्राप्त हुई है) ऐसे पुरुष तुष को ही जानते हैं, तन्दुल (-चावल) को नहीं जानते।** चावल को तो देखते ही नहीं। तन्दुल अर्थात् चावल। चावल कहते हैं न? चावल। चावल को देखते नहीं और ऊपर छिलका... आहाहा! क्या कहा जाता है उसे? छिलका। कमोद... कमोद... उसके ऊपर का छिलका होता है न? कूटते हैं तो छिलका निकल जाता है और चावल पृथक् पड़ जाता है। उसी प्रकार यहाँ पुण्य और पाप के भाव छिलके के समान हैं, भाई! तूने कभी सुना नहीं और तूने कभी अभ्यास नहीं किया और तुष से भिन्न अन्दर चावल भिन्न है, सफेद और मिठास से (पूर्ण है), इसी प्रकार प्रभु अन्दर मिठास और सफेद अर्थात् शुद्ध है। आनन्द और शुद्ध है। आहाहा! उस ओर का विचार कर। आहाहा!

तुष के ज्ञान में ही मोहित है (-मोह को प्राप्त हुई है) ऐसे पुरुष तुष को ही जानते हैं, तन्दुल (-चावल) को नहीं जानते। आहाहा!

भावार्थ - जो धान के छिलकों पर... छिलका। **जो धान के छिलकों पर ही मोहित हो रहे हैं,...** आहाहा! **उन्हीं को कूटते रहते हैं,...** वे छिलकों को ही कूटते हैं।

आहाहा! **उन्होंने चावल को जाना ही नहीं है;...** उन्होंने चावल क्या है, यह जाना ही नहीं है। आहाहा! **इसी प्रकार जो द्रव्यलिंग आदि व्यवहार में मुग्ध हो रहे हैं...** नग्नपना धारण किया, पंच महाव्रत लिये, वह तो सब बाह्य क्रिया है। आहाहा! **द्रव्यलिंग आदि...** अपवास करना, रस छोड़ना आदि क्रिया अनन्त बार की। उस क्रिया में मेरा लाभ है, ऐसा माना। आत्मरस आया नहीं। आहाहा! बाहर का रस (लिया)। आम का रस नहीं लेना, दूसरा नहीं लेना... आहाहा! परन्तु आत्मरस अन्दर क्या है? अतीन्द्रिय आनन्द का रस है, उसकी ओर तो अनादि से इसने नजर नहीं की। आहाहा!

छिलकों पर ही मोहित हो रहे हैं, उन्हीं को कूटते रहते हैं, उन्होंने चावल को जाना ही नहीं है; इसी प्रकार जो द्रव्यलिंग आदि व्यवहार में मुग्ध हो रहे हैं (अर्थात् जो शरीरादि की क्रिया में ममत्व किया करते हैं),... आहाहा! यह हलन-चलन तो शरीर की क्रिया है। पर की दया आदि तो शरीर की क्रिया है। आहाहा! और दया का भाव है, वह तो राग है। पर की दया तो कभी पाल सकता नहीं। परद्रव्य को कभी छूता नहीं। आहाहा! मात्र शरीर की क्रिया को अपनी मानता है। शरीरादि की क्रिया, आदि अर्थात् वाणी की, मन की (क्रिया)। (उसमें) ममत्व किया करता है। आहाहा!

उन्होंने शुद्धात्मानुभवनरूप... शुद्ध आत्मा के अनुभवरूप सम्यग्दर्शन। आहाहा! राग से भिन्न भेदज्ञान करके शुद्धात्मा के अनुभवनरूप, आहाहा! **परमार्थ को जाना ही नहीं है;...** आहाहा! यह परमार्थ। लोग परमार्थ कहते हैं न? गौशाला करते हैं, तो परमार्थ करते हैं, गरीब को कुछ मदद करे तो परमार्थ किया, नंगे मनुष्य को वस्त्र दे तो परमार्थ किया। वह परमार्थ नहीं, वह क्रिया तो अनन्त बार की है, वह तो राग की क्रिया है। आहाहा!

परमार्थ अर्थात् परम पदार्थ प्रभु आत्मा। जिसमें राग की गन्ध नहीं, ऐसे परमार्थ स्वरूप... आहाहा! **शुद्धात्मानुभवनरूप...** यह परमार्थ। आहाहा! यह लोग परमार्थ करते हैं, परमार्थ करते हैं। सबको आहार देते हैं, पानी देते हैं, दवा देते हैं, दवाखाना खोले हैं, गरीब के लिये मुफ्त लाखों रुपये की दवायें देते हैं। आहाहा! है न दवाखाना? सागर में। भगवानदास करोड़पति। यह दो लाख का मकान उन्होंने बनाया है न? उनके छोटे भाई मर गये, बेचारे को प्रेम था, यहाँ आते थे। उनका एक साधारण लड़का है। उसने घर का

दवाखाना बनाया है। कोई गरीब मनुष्य आवे तो मुफ्त (दवा) दे। दवाखाना बनाया। जरा मस्तिष्क में फर्क है, तो भी विवाह किया। आहाहा! बेचारा यहाँ आवे, सुने। करोड़पति व्यक्ति। बेचारा छोटा भाई गुजर गया, शोभालाल। वह तो यहाँ बहुत आते थे, यह मानते थे कि बाहर में फेरफार है। यहाँ अन्तर है, महाराज कहते हैं वह अलग बात है। उनमें तारणस्वामी हुए। जैसे स्थानकवासी में 'लोकाशा' हुए, वैसे उनमें तारणस्वामी (हुए)। और उनका पूरा पन्थ है। आहाहा! परन्तु उसमें भी बाह्य क्रिया में माननेवाले हैं। मन्दिर की पूजा नहीं करते परन्तु शास्त्र की पूजा करते हैं। चैत्यालय। है न? सागर में है। है न? देखा है। परन्तु वह भी राग है। आहाहा! आता है, अशुभ से बचने के लिये, अशुभ से बचने के लिये शुभभाव आता है परन्तु वह भाव धर्म नहीं है।

शुभभाव से भिन्न अपने स्वरूप की दृष्टि और अनुभव होना, वह धर्म है। आहाहा! उसे तो जानते नहीं। **ऐसे जीव शरीरादि परद्रव्य को ही आत्मा जानते हैं, वे परमार्थ आत्मा के स्वरूप को जानते ही नहीं।** लो! विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश - २४३

अब आगामी गाथा का सूचक काव्य कहते हैं–

(स्वागता)

द्रव्यलिङ्गममकारमीलितै–
दृश्यते समयसार एव न।
द्रव्यलिङ्गमिह यत्किलान्यतो
ज्ञानमेकमिदमेव हि स्वतः।।२४३।।

श्लोकार्थ : [द्रव्यलिंग–ममकार–मीलितैः समयसारः एव न दृश्यते] जो द्रव्यलिंग में ममकार के द्वारा अन्ध–विवेकरहित हैं, वे समयसार को ही नहीं देखते; [यत् इह द्रव्यलिंगम् किल अन्यत्:] कारण कि इस जगत में द्रव्यलिंग तो वास्तव में अन्य द्रव्य से होता है, [इदम् ज्ञानम् एव हि एकम् स्वतः] मात्र यह ज्ञान ही निज से (आत्मद्रव्य से) होता है।

भावार्थ : जो द्रव्यलिंग में ममत्व के द्वारा अन्ध हैं, उन्हें शुद्धात्मद्रव्य का अनुभव ही नहीं है, क्योंकि वे व्यवहार को ही परमार्थ मानते हैं; इसलिए परद्रव्य को ही आत्मद्रव्य मानते हैं।।२४३।।

प्रवचन नं. ४५९, श्लोक-२४३, गाथा-४१४ गुरुवार, भाद्र शुक्ल २
दिनांक - ११-०९-१९८०

समयसार, २४३ कलश, कलश है।

द्रव्यलिङ्गममकारमीलितै–
दृश्यते समयसार एव न।
द्रव्यलिङ्गमिह यत्किलान्यतो
ज्ञानमेकमिदमेव हि स्वतः।।२४३।।

'द्रव्यलिंग–ममकार–मीलितैः समयसारः एव न दृश्यते' जो (कोई प्राणी)

द्रव्यलिंग में ममकार के द्वारा अन्ध-विवेक रहित हैं,... आहाहा! बाह्य का जो क्रियाकाण्ड महाव्रतादि, नग्नपना, उसमें जिसकी प्रीति और रुचि है, **द्रव्यलिंग में ममकार के द्वारा अन्ध...** आहाहा! यह पंच महाव्रतादि की बाह्य क्रिया में जो कोई अन्ध है। वह तो राग है, वह कोई धर्म नहीं, वह कोई चारित्र नहीं। वह **ममकार के द्वारा अन्ध-विवेक रहित हैं,...** आहाहा! बहुत गजब बात कठिन।

साधु की जितनी बाह्य क्रिया है, पंच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण, समिति, गुप्ति वह सब जड़ की क्रिया है। आहाहा! उसमें **अन्ध-विवेक रहित हैं,...** उसमें ही अपना स्वरूप धर्म है—ऐसा मानने से **वे समयसार को ही नहीं देखते;...** अन्दर भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप, वीतरागस्वरूप है—ऐसे आत्मा को राग की क्रिया में रच-पचनेवाले अन्तर की चीज़ को नहीं देखते। आहाहा! ऐसी बातें, कठिन बातें। मानो न हो सके, ऐसी यह बात (लगती है) परन्तु वस्तु यह है। न हो सके, ऐसी (नहीं) होती, अनन्त-अनन्त (जीव) मुक्ति को प्राप्त हुए हैं। आहाहा!

अन्तर जो भगवान आत्मा समयसार को जो आनन्द का नाथ है, पूर्ण आनन्द और पूर्ण शान्ति, पूर्ण अरूपी आनन्दस्वभाव की मूर्ति प्रभु आत्मा है, उसे अज्ञानी नहीं देखते। क्रियाकाण्ड को ही सब मानते हैं। आहाहा! **'यत् इह द्रव्यलिंगम् किल अन्यत्:' कारण कि इस जगत में द्रव्यलिंग तो वास्तव में अन्य द्रव्य से होता है,...** आहाहा! यह नग्नपना, मुनिपना... वस्त्रपने में तो मार्ग है ही नहीं, वह तो जैनधर्म में है ही नहीं। वस्त्रसहित साधु तो जैनधर्म में है ही नहीं। आहाहा! कठिन बात। परन्तु नग्नपना और पंच महाव्रत की क्रिया... आहाहा! वह **द्रव्यलिंग तो वास्तव में अन्य द्रव्य से होता है,...** वह क्रिया तो अन्य द्रव्य से होती है, अपने चैतन्यस्वभाव से नहीं। ओहोहो! ऐसा मार्ग है। सूझ-बूझ पड़े बिना अन्तर का पता नहीं लगता और बाहर के क्रियाकाण्ड के आग्रह नहीं छूटते, तब तक आत्मा का भान नहीं होता। आहाहा!

अन्य द्रव्य से होता है,... पंच महाव्रत की क्रिया। देखकर चलना, विचारकर बोलना, समिति, गुप्ति, निर्दोष आहार लेना—यह सब क्रिया तो अन्य द्रव्य की क्रिया है। आहाहा! अपने चैतन्यस्वरूप की यह क्रिया नहीं है। आहाहा! यह तो **अन्य द्रव्य से होता**

है, 'इदम् ज्ञानम् एव हि एकम् स्वत:' मात्र यह ज्ञान ही निज से (आत्मद्रव्य से) होता है। जानन स्वभाव, यह जाननस्वभाव मात्र आत्मा है। जो क्रियाकाण्ड के विकल्प आदि हैं, वे सब परद्रव्य, राग, विकार है। आहाहा! जो किया जा सकता है, उसे तो परद्रव्य कहते हैं। आहाहा! यह तो क्रिया है। पंच महाव्रत तो राग है, परद्रव्य है, परवस्तु है। आहाहा!

नग्नपना, वस्त्ररहितपना, वह जड़ की अवस्था है। यहाँ वस्त्रवाले को तो लिया ही नहीं। क्योंकि वे तो धर्म से च्युत हो गये हैं। वस्त्र में मुनिपना मानते हैं, उन्हें तो अन्यमत में डाला है, जैनमत में नहीं लिया। यहाँ तो जैनमत में नग्नपना रखकर पंच महाव्रत धारण करे और समिति, गुप्ति की क्रिया करे, निर्दोष आहार ले, वह भी परद्रव्य से होता है। आहाहा! मात्र ज्ञान ही निजात्मा से होता है। है? यह जानन... जानन... जानन... ज्ञानस्वरूपी भगवान, वह ज्ञान से ही जानने में आता है; वह क्रियाकाण्ड से जानने में नहीं आता। आहाहा! कठिन बातें, प्रभु! मात्र ऐसी भाषा ली है न? आहाहा! पहले में ऐसा लिया था, **क्योंकि इस जगत में द्रव्यलिंग तो वास्तव में...** वास्तव में **अन्य द्रव्य से होता है,...** आहाहा! दया, दान, व्रत, भक्ति, तप के भाव वास्तव में तो अन्य द्रव्य के भाव हैं; वे चैतन्यद्रव्य के भाव नहीं हैं। आहाहा! अभी तो यही चला है। आहाहा!

यहाँ तो (कहते हैं), मात्र यह ज्ञान आत्मा। ज्ञाता-दृष्टा, जिसमें पुण्य-पाप के विकल्प का अभाव है और वीतरागस्वभाव का सद्भाव है, ऐसा ज्ञानमात्र आत्मा ही। आत्मद्रव्य से कल्याणमात्र यह ज्ञान ही निज से होता है। यह ज्ञानमात्र तो आत्मद्रव्य से ही होता है। आहाहा! यह ज्ञान अर्थात् यह पढ़ना, वह नहीं। अन्दर ज्ञानमूर्ति जाननस्वभाव की मूर्ति है, वह ज्ञानमात्र आत्मद्रव्य से ही होता है। आहाहा! इसमें वाद-विवाद करते हैं। कठिन बात है। कभी सुनी नहीं, उसे तो ऐसी लगती है कि यह क्या है? यह उन वीतराग का मार्ग होगा?

यहाँ कहते हैं कि जितना क्रियाकाण्ड है, वह सब अन्य द्रव्य से उत्पन्न हुआ है और यह आत्मा तो ज्ञानमात्र से उत्पन्न होता है। जाननशक्ति, ज्ञायकभाव एक ही आत्मा है। उसकी दृष्टि करने से ही सम्यग्दर्शन होता है। आहाहा!

भावार्थ - जो द्रव्यलिंग में ममत्व के द्वारा अन्ध हैं... आहाहा! यह तो दिगम्बर की द्रव्यलिंग की क्रिया, हों!

मुमुक्षु : देखा-देखी होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : देखा-देखी होता है, वह तो ठीक परन्तु यह क्रिया की बात चलती है, वह दिगम्बर की चलती है, श्वेताम्बर की बात है ही नहीं है। क्योंकि वह तो भगवान के बाद ५०० वर्ष (पश्चात्) बारह (वर्ष का) दुष्काल पड़ा, निभ नहीं सके। नये शास्त्र बनाये और नया पन्थ चलाया। आहाहा! कठिन बात, प्रभु! दूसरे को दु:ख लगे। सत्य वस्तु तो यह है। आहाहा!

जो द्रव्यलिंग में ममत्व के द्वारा... द्रव्यलिंग अर्थात् नग्नपना और पंच महाव्रत की क्रिया, इसका नाम द्रव्यलिंग। **जो द्रव्यलिंग में ममत्व के द्वारा अन्ध हैं..** आहाहा! अन्ध हैं, **उन्हें शुद्धात्मद्रव्य का अनुभव ही नहीं है,...** अन्दर शुद्ध चैतन्य प्रभु, शुद्ध निर्मल शुद्धात्मद्रव्य निर्मलानन्द का तो अनुभव नहीं। आहाहा! **क्योंकि वे व्यवहार को ही परमार्थ मानते हैं,...** व्यवहार की जो क्रिया है, उसे ही परमार्थ मानते हैं। आहाहा! गजब है। दिगम्बर में भी कठिन पड़े, वहाँ दूसरे की तो (बात क्या करना) ? दिगम्बर में भी नग्न मुनि हो और एक-दूसरे देखा-देखी करे और क्रियाएँ करे, कदाचित् जंगल में रहे, महीने-महीने के अपवास करे, वह कोई वस्तु नहीं है। वह तो परद्रव्य से उत्पन्न होती है। स्वद्रव्य तो ज्ञान, ज्ञान और आनन्द, शान्ति और वीतरागता जो आत्मा में भरी है, उसकी दृष्टि से ही सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन होता है। इसके अतिरिक्त किसी चीज़ से सम्यग्दर्शन नहीं होता। आहाहा!

यहाँ कहते हैं **द्रव्यलिंग में ममत्व के द्वारा अन्ध हैं उन्हें शुद्धात्मद्रव्य का...** उन्हें शुद्ध आत्मा पवित्र प्रभु राग से भिन्न तत्त्व अन्दर है, उस शुद्धात्मतत्त्व का अनुभव ही नहीं है। आहाहा! क्यों ?—कि **वे व्यवहार को ही परमार्थ मानते हैं,...** वे व्यवहार क्रिया को ही परमार्थ धर्म मानते हैं। आहाहा! इसलिए **परद्रव्य को ही आत्मद्रव्य मानते हैं।** देखो! परद्रव्य को ही आत्मद्रव्य मानते हैं। वह परद्रव्य की क्रिया है। परद्रव्य के सम्बन्ध से उत्पन्न हुई, सब क्रिया परद्रव्य की है। आहाहा! परद्रव्य के संग से, सम्बन्ध से जो कुछ विकल्प, रागादि परवश से (होते हैं), पर से नहीं, पर के वश होकर (होते हैं)। पर से नहीं होते, परद्रव्य तो भिन्न है परन्तु परद्रव्य के लक्ष्य से जो भाव होते हैं, वे परद्रव्य के हैं—ऐसा कहा जाता है। आहाहा! भारी कठिन बात।

व्यवहार को ही परमार्थ मानते हैं,... व्यवहार को 'ही' परमार्थ मानते हैं कि हम धर्म करते हैं। आहाहा! वीतराग धर्म परमेश्वर—जैन परमेश्वर का धर्म वीतराग धर्म अलौकिक भिन्न है, जिसमें राग के कण का सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! इसलिए **परद्रव्य को ही आत्मद्रव्य मानते हैं।** व्यवहार को ही परमार्थ मानते हैं न? इसलिए **परद्रव्य को ही आत्मद्रव्य मानते हैं।** उस परद्रव्य को ही आत्मा मानते हैं। आहाहा!

बाहर से तो इसे मर जाना पड़े। कोई मान, सन्मान, दुनिया में इज्जत-कीर्ति (मिले), वह कोई आत्मा की चीज़ में तारण हो, ऐसा नहीं है; वह सब नुकसान करता है। दुनिया के मान-सन्मान की महिमा में से निकलना और सत्य वस्तु को पहुँचना, इसमें अनन्त पुरुषार्थ है। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, **वे व्यवहार को ही परमार्थ मानते हैं, इसलिए परद्रव्य को ही आत्मद्रव्य मानते हैं।** आहाहा! बहुत संक्षिप्त शब्द। **'व्यवहारनय ही मुनिलिंग को और श्रावकलिंग को – दोनों को मोक्षमार्ग कहता है,...** व्यवहारनय भाषा कहता है। **निश्चयनय किसी लिंग को मोक्षमार्ग नहीं कहता...** आहाहा! **यह गाथा द्वारा कहते हैं–** व्यवहारनय द्वारा कथनमात्र कहने में आता है। निश्चयनय उसे मोक्षमार्ग नहीं कहता। यह ४१४ गाथा।

गाथा - ४१४

ववहारिओ पुण णओ दोण्णि वि लिंगाणि भणदि मोक्खपहे।
णिच्छय-णओ ण इच्छदि मोक्ख-पहे सव्व-लिंगाणि।।४१४।।

व्यावहारिकः पुनर्नयो द्वे अपि लिङ्गे भणति मोक्षपथे।
निश्चय-नयो नेच्छति मोक्ष-पथे सर्व-लिङ्गानि।।४१४।।

यः खलु श्रमणश्रमणोपासकभेदेन द्विविधं द्रव्यलिङ्गं भवति मोक्षमार्ग इति प्ररूपणप्रकारः स केवलं व्यवहार एव, न परमार्थः, तस्य स्वयमशुद्धद्रव्यानुभवनात्मकत्वे सति परमार्थत्वाभावात्; यदेव श्रमणश्रमणोपासकविकल्पातिक्रान्तं दृशिज्ञप्तिप्रवृत्तवृत्तिमात्रं शुद्धज्ञानमेवैकमिति निस्तुष-सचेतनं परमार्थः, तस्यैव स्वयं शुद्धद्रव्यानुभवनात्मकत्वे सति परमार्थत्वात्।

ततो ये व्यवहारमेव परमार्थबुद्ध्या चेतयन्ते, ते समयसारमेव न सञ्चेतयन्ते; य एव परमार्थं परमार्थबुद्ध्या चेतयन्ते, ते एव समयसारं चेतयन्ते।।४१४।।

'व्यवहारनय ही मुनिलिंग को और श्रावकलिंग को – दोनों को मोक्षमार्ग कहता है, निश्चयनय किसी लिंग को मोक्षमार्ग नहीं कहता'-यह गाथा द्वारा कहते हैं-

व्यवहारनय, इन लिंग द्वय को मोक्ष के पथ में कहे।
निश्चय नहीं माने कभी को लिंग मुक्तीपंथ में।।४१४।।

गाथार्थ : [व्यावहारिकः नयः पुनः] व्यवहारनय [द्वे लिंगे अपि] दोनों लिंगों को [मोक्षपथे भणति] मोक्षमार्ग में कहता है (अर्थात् व्यवहारनय मुनिलिंग और गृहीलिंग को मोक्षमार्ग कहता है); [निश्चयनयः] निश्चयनय [सर्वलिंगानि] सभी (किसी भी) लिंगों को [मोक्षपथे न इच्छति] मोक्षमार्ग में नहीं मानता।

टीका : श्रमण और श्रमणोपासक के भेद से दो प्रकार के द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग हैं- इस प्रकार का जो प्ररूपण-प्रकार (अर्थात् इस प्रकार की जो प्ररूपणा) वह केवल व्यवहार ही है, परमार्थ नहीं, क्योंकि वह (प्ररूपणा) स्वयं अशुद्ध द्रव्य की अनुभवनस्वरूप है, इसलिए उसको परमार्थता का अभाव है; श्रमण और श्रमणोपासक के भेदों से

अतिक्रान्त, दर्शन-ज्ञान में प्रवृत्तपरिणति मात्र (-मात्र-दर्शन-ज्ञान में प्रवर्तित हुई परिणतिरूप) शुद्ध ज्ञान ही एक है-ऐसा जो निष्तुष (-निर्मल) अनुभवन ही परमार्थ है, क्योंकि वह (अनुभवन) स्वयं शुद्ध द्रव्य का अनुभवस्वरूप होने से उसी के परमार्थत्व है। इसलिए जो व्यवहार को ही परमार्थबुद्धि से (-परमार्थ मानकर) अनुभव करते हैं, वे समयसार का ही अनुभव नहीं करते; जो परमार्थ को परमार्थबुद्धि से अनुभव करते, वे ही समयसार का अनुभव करते हैं।

भावार्थ : व्यवहारनय का विषय तो भेदरूप अशुद्धद्रव्य है, इसलिए वह परमार्थ नहीं है; निश्चयनय का विषय अभेदरूप शुद्धद्रव्य है, इसलिए वही परमार्थ है। इसलिए, जो व्यवहार को ही निश्चय मानकर प्रवर्तन करते हैं, वे समयसार का अनुभव नहीं करते; जो परमार्थ को परमार्थ मानकर प्रवर्तन करते हैं, वे ही समयसार का अनुभव करते हैं, (इसलिए वे ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं)।

गाथा-४१४ पर प्रवचन

ववहारिओ पुण णओ दोण्णि वि लिंगाणि भणदि मोक्खपहे।
णिच्छय-णओ ण इच्छदि मोक्ख-पहे सव्व-लिंगाणि।।४१४।।

यह मूल श्लोक (हुआ), नीचे हरिगीत।

व्यवहारनय, इन लिंग द्वय को मोक्ष के पथ में कहे।
निश्चय नहीं माने कभी को लिंग मुक्तीपंथ में।।४१४।।

यह तो दो हजार वर्ष पहले का कुन्दकुन्दाचार्यदेव का कथन है। (वे) भगवान के पास गये थे, नग्न मुनि थे, सच्चे भावलिंगी थे। कहाँ से गये थे, वह हमने देखा है। वहाँ से उन्हें ध्यान में विचार आया, अरे..रे..! भरतक्षेत्र में महावीर तीर्थंकर का विरह पड़ा। ऐसा विकल्प आया, जाने का भाव आया। देव आकर ले गये, एक ऐसी बात भी आती है। और एक बात (ऐसी आती है कि) उनके पास लब्धि थी, उस लब्धि से भगवान के पास गये थे। आहाहा! कौन सा क्षेत्र? पौन्नूरहिल। वहाँ गये थे न? पौन्नूरहिल में रहते थे। ध्यान में-आनन्द में रहते थे। उसमें से ऐसा विकल्प उठा, अरे! भरतक्षेत्र में परमात्मा का विरह है।

भगवान महाविदेहक्षेत्र में विराजते हैं। ऐसा भाव आया। लब्धि थी और कोई देव (आकर ले गये), ऐसी दोनों बात इतिहास में आती है। देव उन्हें भगवान के पास ले गये।

भगवान के समवसरण में आठ दिन सुना। सुनकर कितनी ही बात तो श्रुतकेवली सन्तों, भावलिंगी सन्तों से (चर्चा करके) निर्णय किया। सब पक्का निर्णय करके... वे तो सन्त समकिती सच्चे मुनि (थे) परन्तु वहाँ जाकर विशेष दृढ़ता (की), ज्ञान की विशेष स्पष्टता की। वहाँ से आकर यह शास्त्र बनाये। आहाहा! भगवान परमात्मा ऐसा कहते हैं। आहाहा! जिनवर ऐसा कहते हैं—ऐसा आता है न गाथा में, जिनवर ऐसा कहते हैं। यह तो स्वयं कहे तो भी वे स्वयं जिनवर हैं। वे जिनवर जैसे ही हैं, तथापि निर्मानरूप से जिनवर प्रभु ऐसा कहते हैं। तीन लोक के नाथ का यह कथन है कि महाव्रत आदि की क्रिया पुण्यबन्ध का कारण है, धर्म नहीं। वह मोक्ष का पंथ नहीं, वह जैनधर्म ही नहीं। आहाहा! कठिन बात है।

व्यवहारनय ही मुनिलिंग को और श्रावकलिंग को – दोनों को मोक्षमार्ग कहता है,... व्यवहारनय दोनों को (मोक्षमार्ग) कहता है। **निश्चयनय किसी लिंग को मोक्षमार्ग नहीं कहता...** यहाँ तो आत्मा के आनन्द और ज्ञान का भान, अनुभव हो, उसे ही मोक्षमार्ग कहता है। व्यवहारनय कहता है, कथन में आता है, वस्तु में वह नहीं है। आहाहा!

टीका – श्रमण और श्रमणोपासक के भेद से... साधु और श्रमणोपासक श्रावक दो भेद से **दो प्रकार के द्रव्यलिंग...** बाह्यक्रिया **मोक्षमार्ग हैं–इस प्रकार का जो प्ररूपण–प्रकार (अर्थात् इस प्रकार की जो प्ररूपणा) वह केवल व्यवहार ही है,...** केवल व्यवहार है, वह परमार्थ नहीं है। आहाहा! कठिन मार्ग! यह परम सत्य वस्तु, सच्चिदानन्द प्रभु, शाश्वत आनन्द, ज्ञान, स्वच्छता, प्रभुता, आनन्द, श्रद्धा, ज्ञान की मूर्ति प्रभु है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, **श्रमण और श्रमणोपासक के भेद से दो प्रकार के द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग हैं...** ऐसा व्यवहारनय कहता है। यह तो व्यवहारनय कहता है, वस्तुस्थिति नहीं है। व्यवहारनय का विषय है परन्तु यह वस्तुस्थिति नहीं है। आहाहा! धर्म नहीं है।

व्यवहारनय का विषय है। द्रव्यलिंग, नग्नपना, पंच महाव्रत होते हैं, परन्तु वह पुण्यबन्ध का कारण है। वह व्यवहारनय का विषय है। नय है, वह ज्ञान है, विषयी है, विषय करनेवाला है। उसका विषय है अवश्य परन्तु वह सत्य मोक्षमार्ग नहीं है। आहाहा!

परमार्थ नहीं,... है? आहाहा! **(इस प्रकार की जो प्ररूपणा) वह केवल व्यवहार ही है,...** केवल व्यवहार है, अकेला व्यवहार है। निश्चय आत्मा के भानसहित यदि व्यवहार हो तो वह पुण्यबन्धन है। यह तो अकेला व्यवहार है। निश्चय आत्मा आनन्दमूर्ति प्रभु की ओर का ध्यान नहीं, लक्ष्य नहीं, अनुभव नहीं और केवल व्यवहार, आहाहा! अकेला व्यवहार (करता है)। ऐसी भाषा है न? **केवल व्यवहार ही है,...** यह क्रियाकाण्ड—पंच महाव्रत आदि, निर्दोष आहार लेना, उसके लिये बनाया हो, वह नहीं लेना, यह सब व्यवहार किया **केवल व्यवहार ही है,...** केवल व्यवहार ही है। आहाहा! उसमें निश्चय की गन्ध नहीं, सत्य का अंश नहीं। आहाहा! परमार्थ नहीं। वह व्यवहार परमार्थ नहीं है, सत्य नहीं है। आहाहा!

क्योंकि वह (प्ररूपणा) स्वयं अशुद्ध द्रव्य की अनुभवनस्वरूप है... आहाहा! आत्मा में यह पंच महाव्रतादि के परिणाम अशुद्ध पर्याय है तो अशुद्ध द्रव्य का अनुभव है। आहाहा! कठिन काम। यह अन्तिम गाथायें हैं। अनन्त काल हुआ, इसने सत्य बात सुनी नहीं और सुनी तो अन्दर रुचि नहीं, अन्दर में रुचि नहीं। बाहर में सुना और ऐसा का ऐसा निकाल डाला। आहाहा! भगवान के पास भी अनन्त बार सुना। महाविदेहक्षेत्र में भी जन्म तो अनन्त बार लिया है और उनके पास सुना है, परन्तु अन्तर में—दृष्टि में यह बात रुचि नहीं, अन्दर में पोषाण नहीं आया। अकेले व्यवहार की रुचि और पोषण हो गया। आहाहा! इसलिए उसे परमार्थ का अभाव है। है?

स्वयं अशुद्ध द्रव्य... अशुद्ध द्रव्य अर्थात् महाव्रतादि के परिणाम मैल है, अशुद्ध है। वह अशुद्ध द्रव्य का अनुभव है। आहाहा! यहाँ तो अभी पंच महाव्रत का ठिकाना नहीं, उसे भी महाव्रत और मुनिव्रत धारण किया है, ऐसा कहते हैं। क्या हो? प्रभु! आहाहा! **स्वयं अशुद्ध द्रव्य की अनुभवनस्वरूप है...** कौन? व्यवहार। आहाहा! शास्त्र में जितनी व्यवहारनय के क्रियाकाण्ड की बात है, वह सब... आहाहा! अशुद्ध द्रव्य के अनुभवनस्वरूप

है। वह तो मलिन परिणाम का वेदन है। आहाहा! यह व्रत के परिणाम भी शुभराग मलिन है। शुभराग है, वह भी विकार है। भगवान आत्मा तो उस शुभराग से भी अन्दर भिन्न है। नव तत्त्व में तो भिन्न आत्मतत्त्व है। आहाहा! नव तत्त्व के नाम कोई समझे, सुने कि जीव, अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष, तो जीव तो भिन्न रह गया। जीव में तो यह आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष उसमें है नहीं। आहाहा! वह तो पर्याय है, विकारी-अविकारी पर्याय है। पुण्य-पाप, आस्रव, बन्ध, वह विकारी पर्याय है। पर्याय अर्थात् अवस्था। संवर, निर्जरा और मोक्ष अविकारी पर्याय है। पर्याय—अवस्था। वस्तु उससे अन्दर भिन्न है। आहाहा! वह शुद्ध और अशुद्ध पर्याय से भिन्न भगवान चैतन्यस्वरूप... आहाहा! उसकी तो खबर नहीं।

क्योंकि वह (प्ररूपणा) स्वयं अशुद्ध द्रव्य की अनुभवनस्वरूप है, इसलिए उसको परमार्थता का अभाव है;... इस क्रियाकाण्ड में परमार्थ का अभाव है, परमार्थ स्वरूप नहीं है। आहाहा! ज्ञानी को भी आता है, परन्तु वह अशुभ से बचने के लिये पुण्य बन्धरूप से है; मोक्षमार्ग नहीं है। आहाहा! ऐसा मार्ग! (अभी तो) एकदम फेरफार (हो गया)। **परमार्थता का अभाव है; श्रमण और श्रमणोपासक के भेदों से...** इन दो भेद से अतिक्रान्त। श्रावकादि के बारह व्रत और मुनि के पंच महाव्रत, इनसे अतिक्रान्त—भिन्न **दर्शनज्ञान में प्रवृत्त परिणतिमात्र...** आहाहा! अन्दर में आत्मा में दर्शन, आत्मा की श्रद्धा, आत्मा का ज्ञान और उसमें प्रवृत्त परिणति—उसमें परिणति—रमणता, यह दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, यह मोक्षमार्ग है। आहाहा! क्या कहा?

श्रमण और श्रमणोपासक के भेदों से... व्यवहार। उससे **अतिक्रान्त,...** भिन्न। **दर्शनज्ञान में प्रवृत्त परिणतिमात्र...** मात्र दर्शन-ज्ञान में प्रवृत्तिमात्र, परिणतिमात्र। **शुद्ध ज्ञान ही एक है...** शुद्ध ज्ञान। अकेला जानपना, ऐसा नहीं। तथा अकेली महाव्रत की क्रिया भी नहीं। शुद्ध ज्ञानस्वरूप जो निर्मल है, उसे पकड़कर, अनुभव करके अनुभव करे, वह शुद्धज्ञान एक है। आहाहा! पंच महाव्रतादि की क्रिया तो अनेक है। यह एक स्वरूप भगवान अन्दर है। चैतन्यमूर्ति प्रभु ज्ञान, आनन्द, ज्ञानानन्द का नाथ देहदेवल में देव विराजता है। आहाहा! इस देव को देव की खबर नहीं। आहाहा! **शुद्ध ज्ञान ही एक**

है–ऐसा जो निष्तुष (–निर्मल) अनुभवन ही परमार्थ है,... आहाहा! अन्दर ज्ञानस्वरूप प्रभु, जाननस्वभाव का अनुभव, वह परमार्थस्वरूप मोक्षमार्ग है। आहाहा!

जैसे चीनी में मिठासस्वरूप, वह चीनी है; उसी प्रकार भगवान आत्मा जानन... जानन... जानन... जानन ज्ञायकस्वरूपी आत्मा है, अकेला जाननस्वरूप आत्मा है। वही अनुभवन, उसका ही अनुभव वही परमार्थ है। आहाहा! है? **शुद्ध ज्ञान ही...** ऐसे शब्द लिये हैं। 'ही' कहकर एकान्त किया है। कथंचित् शुद्ध ज्ञान मोक्षमार्ग और कथंचित् अशुद्ध महाव्रतादि मोक्षमार्ग, यह अनेकान्त है – ऐसा नहीं। आहाहा!

शुद्ध ज्ञान ही एक है... त्रिकाली चैतन्यप्रभु शुद्ध वीतरागमूर्ति भगवान आत्मा है, वह एक है, ऐसा जो निर्मल अनुभवन। आहाहा! कहाँ जाना? अभी बाह्य से निवृत्ति नहीं मिलती और निवृत्ति ले लेवे और क्रियाकाण्ड करे तो भी वह धर्म नहीं है। आहाहा! उससे भी निवृत्ति लेकर अन्दर में जाना। आहाहा!

ऐसा जो निष्तुष (–निर्मल) अनुभवन ही परमार्थ है,... इस राग की क्रिया से रहित ज्ञानस्वरूप, जाननस्वरूप भगवान है, उस जाननस्वरूप में एकाग्रता होना, वह एक ही मोक्ष का परमार्थ मार्ग है। आहाहा! अरे..रे..! अनन्त काल में मनुष्यभव मिला तो भी कहाँ का कहाँ चले, जिन्दगी गँवावे। अरे! व्यवहार में रहे तो भी जिन्दगी गँवा दे। आहाहा! परमार्थस्वरूप ऐसा भगवान आत्मा अन्दर चैतन्यज्योति, ज्ञान और आनन्द की मूर्ति प्रभु अरूपी स्वभाव का सागर... आहाहा! उसका अनुभवन ही परमार्थ है। उसका **अनुभवन ही परमार्थ है,...** बाकी पंच महाव्रत आदि का व्यवहार, वह व्यवहार है; परमार्थ नहीं। पुण्यबन्ध का कारण है। आहाहा!

मुमुक्षु : तीर्थंकर की मौजूदगी में ऐसे द्रव्यलिंगी होते हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, संघ में भी होते हैं। मोक्षमार्गप्रकाशक में आता है। भावलिंगी सन्त होते हैं, उसमें कोई द्रव्यलिंगी होते हैं परन्तु बाहर की आचरण क्रिया बराबर आगम प्रमाण होती है, अन्दर में अन्तर हो, वह जानने में आ जाए परन्तु बाहर प्रसिद्ध करे तो विरोध हो। मोक्षमार्गप्रकाशक में है। उसका व्यवहार सच्चा होता है। आगम प्रमाण व्यवहार क्रिया करता हो, प्ररूपणा, बाहर कहने की श्रद्धा बराबर हो परन्तु अन्तर एक इतना कि अन्दर

स्वरूप का अनुभव नहीं है। इसलिए वह व्यवहार दूसरे जीव को ख्याल में आता है परन्तु बाहर प्रसिद्ध नहीं कर सकते, बाहर प्रसिद्ध हो तो संघ में विरोध हो। आहाहा! क्योंकि लोग व्यवहार को देखनेवाले हैं कि इसमें कहाँ अन्तर है? इसलिए बाहर में बोलता नहीं। मोक्षमार्गप्रकाशक में है। यह लेख है। टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक में हजारों बोलों का स्पष्टीकरण किया है।

मोक्षमार्गप्रकाशक में टोडरमलजी ने हजारो बोलों का स्पष्टीकरण किया है। पहले यह पुस्तक (संवत्) १९८२ में मिली। (संवत्) १९७८ में समयसार मिला, (संवत्) १९८२ में राजकोट में मोक्षमार्गप्रकाशक मिला। पढ़ते-पढ़ते ऐसी धुन लगी कि न खाना भावे, न पीना भावे, न आहार लेने जाना भावे। आहार लेने जाना पड़े। मैं और जीवणलालजी दो ही थे। जीवणलालजी थे न? खसवाले। फिर उन्हें कुत्ते ने काट खाया, इसलिए बेचारे मुश्किल से पानी लेकर आवे। और मैं यह मोक्षमार्गप्रकाशक पढ़ता, मुझे बाहर में कुछ सूझ पढ़े नहीं। एक व्याख्यान देकर एक ओर बैठ जाऊँ। कहा, ओ..हो..! ऐसी चीज़! ऐसी चीज़!! बहुत स्पष्टीकरण (किया है)।

मोक्षमार्गप्रकाशक, आहाहा! १९८२ के वर्ष में प्राप्त हुआ, फिर तो सैकड़ों बार (पढ़ा)। १९८२, कितने वर्ष हुए? ५४ वर्ष हुए। आहाहा! उसमें लिखा है कि संघ में कोई मिथ्यादृष्टि हो, द्रव्यलिंगी हो, भाव न हो—ऐसा ख्याल में भी आ जाए, अन्दर में गहराई में-गहराई में उसमें भूल कहाँ है, यह ख्याल आवे परन्तु उसे बाहर प्रसिद्ध न कर सके। व्यवहार में विरोध आता है। आहाहा! मोक्षमार्गप्रकाशक में है। ऐसी बात है।

क्योंकि वह (अनुभवन) स्वयं शुद्ध द्रव्य का अनुभवस्वरूप होने से... आहाहा! क्योंकि वह अनुभवन चैतन्यस्वभाव का अनुभवन, पुण्य और पाप की क्रिया से रहित (शुद्ध अनुभवन है)। भगवन्त! पहले निर्णय तो कर कि मार्ग तो यह है। पश्चात् अन्दर में जा सकेगा। अभी निर्णय में भी, विकल्प सहित का निर्णय, रागसहित का निर्णय, उसमें भी जिसकी भूल है, प्रभु! वह अन्दर में किस प्रकार जा सकेगा? आहाहा! तो रागसहित, विकल्पसहित तो सच्चा निर्णय कर। आहाहा! कि मार्ग तो यह है। सत् को संख्या की आवश्यकता नहीं कि इसे बहुत लाखों मनुष्य मानें तो सत्य कहलाये और कोई दो-चार, पच्चीस लोग माने, इसलिए असत्य कहलाये-ऐसा नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : बापूजी कहे कि कोई न माने तो भी सत् तो सत् ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कोई न माने तो भी सत् तो सत् ही है। वह सत् कहीं असत्य नहीं होता। आहाहा! कठिन पड़े परन्तु प्रभु! कभी सुना न हो और यह मार्ग अन्दर उतरना... आहाहा! यह अलौकिक बात, लौकिक से अत्यन्त भिन्न है। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं, **स्वयं शुद्ध द्रव्य का अनुभवस्वरूप होने से...** स्वयं अपने से शुद्ध द्रव्य का अनुभव। आहाहा! आनन्द का, वीतरागता का अनुभव, आहाहा! जिसमें राग का, दया, दान के विकल्प का मेल नहीं, मिलान नहीं, सम्बन्ध नहीं, ऐसा भगवान आत्मा अन्तर ज्ञानस्वरूपी प्रभु के **अनुभवस्वरूप होने से उसी के परमार्थत्व है। इसलिए जो व्यवहार को ही...** इसलिए इस कारण से **जो व्यवहार को ही परमार्थबुद्धि से (–परमार्थ मानकर) अनुभव करते हैं,...** आहाहा! बाह्य क्रियाकाण्ड पंच महाव्रतादि; अभी तो है कहाँ? अभी साधु नग्न हो तो उसके लिये चौका बनाते हैं। अरे! वह बेचारा क्या करे? (द्रव्यलिंग) ले लिया हो, निर्दोष तो मिलता नहीं, कहीं जाये तो निर्दोष आहार-पानी (मिलता नहीं)। उसके लिये बना हो, वह लेता है। दूसरा कहाँ से मिले? अरे..! क्या करे? दूसरा कोई उपाय रहा नहीं। उल्टे मार्ग में चढ़ गये। आहाहा! अरे! वह भगवान है, वह आत्मा है। उसे आत्मा देखते हैं। परन्तु अन्दर परमार्थ मिलता नहीं। व्यवहार के कहनेवाले, माननेवाले, प्ररूपण करनेवाले मिलते हैं, इसलिए यह व्यवहार उसे बैठ जाता है। आहाहा!

परमार्थस्वरूप भगवान, जिसमें भव का अभाव हो जाए, वह यहाँ कहते हैं, आहाहा! **इसलिए जो व्यवहार को ही परमार्थबुद्धि से... 'व्यवहार को ही'** ऐसा है न? 'ही'। **परमार्थबुद्धि से (–परमार्थ मानकर)...** यह करते-करते कल्याण हो जाएगा, व्यवहार करते-करते (कल्याण हो जायेगा)। लहसुन खाते-खाते कस्तूरी की डकार आयेगी, ऐसा कभी होता नहीं। लहसुन... लहसुन। ढोकला में खाते हैं न? लहसुन खाकर कस्तूरी का डकार आयेगा, ऐसा मानते हैं। व्यवहार करते-करते निश्चय होगा, ऐसा माननेवाले ऐसे हैं। प्रभु! ऐसा नहीं होता। आहाहा! लहसुन खानेवाले को लहसुन की डकार आयेगी, कस्तूरी की (डकार) नहीं आयेगी। आहाहा! कस्तूरी भिन्न है, लहसुन भिन्न है। इसी प्रकार दया, दान, व्रतादि की क्रिया भिन्न है, परमार्थ प्रभु आत्मा भिन्न है। अरे..रे..! कान में पड़ना मुश्किल पड़ता है। एकान्त है, ऐसा लोगों को हो जाता है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि व्यवहार होता है, आता है। जब तक वीतराग न हो, तब तक निश्चय स्वरूप के भान, अनुभवसहित पंच महाव्रत आदि के विकल्प आते हैं, परन्तु वह बन्ध का कारण है, ऐसा धर्मी जीव समझते हैं। परन्तु ऐसे अपवादमार्ग में न आवे और अन्दर में स्थिर न हो सके तो हठ हो जाए। क्या कहा, समझ में आया? आहाहा! अन्दर में स्थिर नहीं हो सके और यह पंच महाव्रत के विकल्प अपवाद बन्ध का कारण है। आते हैं, न आवे और अन्दर में रह सके नहीं तो भ्रष्ट हो जाए। आहाहा! ऐसा अपवादमार्ग बीच में आता है परन्तु वह धर्म नहीं है, मूल मुक्ति का मार्ग नहीं है। वह तो अन्दर में स्थिर नहीं हो सकता तो अशुभ से बचने के लिये शुभभाव आते हैं, धर्मी को-ज्ञानी को आते हैं। आहाहा! परन्तु है बन्ध का कारण, धर्म नहीं। अरे रे!

इसलिए जो व्यवहार को ही परमार्थबुद्धि से (-परमार्थ मानकर) अनुभव करते हैं, वे समयसार का ही अनुभव नहीं करते;... आहाहा! अन्दर भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति परमात्मस्वरूप शक्ति से विराजमान है। शक्ति से कहो, स्वभाव से कहो, गुण से कहो, भाव से कहो, वह विराजमान है। आहाहा! उसे वे अनुभव नहीं करते। राग की क्रिया को अनुभव करते हैं। आहाहा! **अनुभव नहीं करते;...**

जो परमार्थ को परमार्थबुद्धि से अनुभव करते,... आहाहा! परन्तु जो परमात्मा परमार्थ को जानकर जो आत्मा,... परमात्मा ही आत्मा है। आहाहा! **परमार्थ को परमार्थबुद्धि से अनुभव करते हैं,...** परम पदार्थ प्रभु, चैतन्यस्वरूप की अस्ति पुण्य और पाप के विकल्प से रहित, उसका अनुभव करते हैं, **वे ही समयसार का अनुभव करते हैं।** आहाहा! ऐसा अधिकार आया है। ४१४ गाथा। आहाहा!

यह कहीं यहाँ की बात नहीं, यह कहीं सोनगढ़ की बात नहीं है। आहाहा! तीन लोक के नाथ भगवान के पास से आयी हुई बात है, भगवान का यह सन्देश है कि मार्ग यह है, प्रभु! तू किस रास्ते चढ़ गया, नाथ! तुझे जाना कहाँ है? आहाहा! तुझे किस ओर जाना है? आहाहा! व्यवहार की ओर जाना है तो प्रभु! व्यवहार तो अनन्त बार किया। वह तो परद्रव्य की अशुद्धता है। वह तो संसार का कारण है। आहाहा! आहाहा!

यहाँ कहा न? **समयसार का ही अनुभव नहीं करते; जो परमार्थ को परमार्थ**

–बुद्धि से अनुभव करते हैं,... आहाहा! जो चैतन्यस्वभाव का अनुभव करते हैं **वे ही समयसार का अनुभव करते हैं।** वे ही आत्मा का अर्थात् समयसार का अनुभव करते हैं। आहाहा! यह ४१४ (गाथा है)। बस! ४१५ गाथा है—पूरे समयसार की ४१५ गाथा है। ४११ पहले वाँचन हो गया था, यह अपने ४१२ से शुरु किया है। आहाहा! मक्खन है, अकेला तत्त्व है।

अन्तर में, अरे..रे..! कोई शरण नहीं। शरीर में रोग आवे, कोई शरण नहीं। आहाहा! कैसा रोग हो... आहाहा! जिसका कोई पता लगे नहीं। डॉक्टर भी जान नहीं सके कि यह कौन सा रोग है? ऐसा सुनते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : कैंसर का दर्द होता है, उसमें डॉक्टरों को भी ख्याल नहीं आता।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, ऐसा बहुत लोगों का सुना है। किसी एक को खून गिरता था। कौन? कामदार के दामाद। खून की उल्टी। अब उल्टी किस प्रकार होती है, यह डॉक्टरों ने खूब चीरकर इंजैक्शन लगाकर देखा परन्तु यह उल्टी कैसे आती है, इसकी खबर नहीं पड़ी। आहाहा! मुम्बई के बड़े डॉक्टर! वह क्या करे? प्रभु! डॉक्टर स्वयं भी मर जाता है न! क्या हो? उसने बहुत चीरा, पूरा देखा... अन्त में देह छूट गयी। आहाहा! देह जड़ है। आहाहा! उसकी पर्याय कैसी होना, वह क्रमबद्ध में... आहाहा! क्रमसर में जो पर्याय होनेवाली है, वह होगी। आहाहा! भगवान उससे भिन्न है। उसकी भी अपनी क्रमबद्धपर्याय अपने लक्ष्य से, चैतन्य के लक्ष्य से, ज्ञानमूर्ति के लक्ष्य से क्रमबद्ध होती है, उसे अनुभव करता है। आहाहा!

वे ही समयसार का अनुभव करते हैं। यह समयसार है। समयसार कोई शब्द नहीं। समयसार तो वाचक है। जैसे शक्कर शब्द है, उसमें शक्कर पदार्थ नहीं और शक्कर पदार्थ है, उसमें शक्कर शब्द नहीं। शक्कर शब्द भिन्न है, शक्कर पदार्थ भिन्न है। आहाहा! इसी प्रकार यह समयसार शास्त्र शब्द भिन्न है और आत्मा अन्दर समयसार, वह भिन्न है। आहाहा! अन्तर में यह समयसार नहीं और इस समयसार में आत्मा नहीं। आहाहा!

अरे! शरीर ठीक हो, निरोग हो फिर उसमें चला जाए। आहाहा! कहाँ समय जाता है और कहाँ मैं जाऊँगा? मेरा क्या होगा? मैं अकेला जाऊँगा। अकेला आया, अकेला जाऊँगा, अकेला मरेगा, अकेला मोक्ष जाएगा। आहाहा! गाथा आती है न? यह तो मानता

है कि ये सब स्त्री और पुत्र मेरे हैं। यह तो इसकी मान्यता भूल है, मिथ्या भ्रम है। एक चीज़ दूसरी चीज़ की तीन काल में नहीं होती। आहाहा! एक वस्तु दूसरी वस्तु की तीन काल में नहीं होती। एक चीज़ दूसरी चीज़ को तीन काल में स्पर्श नहीं करती। यह अनादि से मानता है कि यह मेरी स्त्री और यह मेरे पुत्र, मेरे पैसे और मेरा मकान। जगत की चीज़ है। आहाहा! अरे! प्रभु! तू कहाँ जानेवाला है? यह चीज़ कहीं तेरी नहीं है। आहाहा!

यहाँ तो क्रियाकाण्ड भी तेरा नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! यह बाहर की चीज़ तो कहीं रह गयी परन्तु पंच महाव्रत, समिति, गुप्ति आदि के परिणाम, शरीर से ब्रह्मचर्य के परिणाम, शरीर से ब्रह्मचर्य पालन करे, वह भी सब शुभभाव परद्रव्य के परिणाम हैं। आहाहा! **वे ही समयसार का अनुभव करते हैं।** आहाहा!

भावार्थ – व्यवहारनय का विषय तो भेदरूप अशुद्धद्रव्य है,... देखो! क्या कहा? व्यवहारनय भेद पाड़कर विषय करता है, इसलिए वह अशुद्धद्रव्य है। राग और पुण्य-पाप के परिणाम से सहित आत्मा को व्यवहारनय विषय करता है। आहाहा! पुण्य और पाप के भाव मैल है, उनसे सहित आत्मा को व्यवहारनय विषय करता है। आहाहा! उस ओर उसकी दृष्टि है। **इसलिए वह परमार्थ नहीं है;...** इसलिए वह परमार्थ नहीं है। आहाहा!

सभी प्राणियों को सुख चाहिए। सब भगवान है। आहाहा! द्रव्यसंग्रह में तो ऐसा लिया है। अरे रे! मैं आत्मा हूँ, मैं आत्मा हूँ, अल्प काल में मैं आठ कर्म से रहित होऊँगा। मैं निश्चय मोक्ष में जाऊँगा, एक-दो-तीन भव में मेरा मोक्ष है ही। परन्तु सर्व प्राणी भगवान है। आहाहा! अरे! तुम सर्व भगवान आत्मा भी आठ कर्म से रहित होकर प्रभु हो जाओ न नाथ! ऐसा द्रव्य संग्रह में धर्मध्यान के संस्थानविचय, अवायविचय, विपाकविचय और आज्ञाविचय चार भेद आते हैं न? उसमें अवायविचय के अर्थ में यह है। आहाहा! अवाय अर्थात् विचारणा, अवाय अर्थात् निर्णय करना। वहाँ ऐसा कहा कि मैं तो आत्मा हूँ, तो मैं भी एक-दो भव में आठ कर्म से रहित हो जाऊँगा परन्तु प्रभु सब आत्माएँ तुम भगवान हो, प्रभु! तुम्हारे ऊपर नजर करो, नाथ! और अशुद्ध की दृष्टि छोड़ दो, प्रभु! आठ कर्म से रहित होकर तुम भी सिद्ध हो जाओ। आहाहा! ऐसी भावना भाता है। विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४६०, श्लोक-२४४, गाथा-४१५ शुक्रवार, भाद्र शुक्ल ३
दिनांक - १२-०९-१९८०

समयसार, ४१४ (गाथा) का भावार्थ है न? भावार्थ, दो लाईन चली है। **व्यवहारनय का विषय तो भेदरूप अशुद्धद्रव्य है,...** क्या कहा? यह आत्मा वस्तुरूप से शुद्ध है परन्तु निमित्त के सम्बन्ध में वश होकर जो मलिनता, अशुद्धता उत्पन्न होती है, इस कारण से व्यवहारनय का विषय तो अशुद्ध द्रव्य है। क्योंकि भेदरूप हुआ। अखण्ड, अभेद चैतन्य जो स्वभाव, उसका एकरूप त्रिकाली दृष्टि का विषय न लेकर भेदरूप अशुद्धता पुण्य और पाप सहित का आत्मा, वह भेदरूप व्यवहारनय का विषय है। वह वास्तविक वस्तु नहीं। है अवश्य, व्यवहारनय का विषय है अवश्य। है, परन्तु आदरणीय नहीं। आहाहा!

इसलिए वह परमार्थ नहीं है;... एक द्रव्य के, परद्रव्य के निमित्त के आधीन जितनी विकार की दशाएँ होती हैं, वे सब व्यवहार का विषय भेदरूप है। उसका आश्रय लेने योग्य नहीं है। **इसलिए वह परमार्थ नहीं है;...** वह परमार्थ नहीं है। आहाहा! व्रत, नियम, तप आदि के जो विकल्प होते हैं, वह अशुद्ध द्रव्य है। द्रव्य स्वयं अशुद्ध, पर्याय में अशुद्ध, हों! द्रव्य अशुद्ध होता नहीं। अशुद्ध द्रव्य कहते हैं, उसका अर्थ पर्याय में अशुद्धता है, उसे यहाँ अशुद्धद्रव्य कहा जाता है। आहाहा!

अनादि काल से उस अशुद्धद्रव्य पर ही दृष्टि है, वह व्यवहारनय का विषय है, वह परमार्थ नहीं। उसमें आत्मा का कल्याण नहीं और परमार्थ चीज़ नहीं। आहाहा! **निश्चयनय का विषय...** सत्यदृष्टि, सम्यग्ज्ञान का नय का विषय ध्येय **अभेदरूप शुद्धद्रव्य है,...** अभेदरूप शुद्धद्रव्य है। देखा? भेदरूप भी नहीं, अशुद्ध भी नहीं। उसमे लिया था न? भेदरूप अशुद्धद्रव्य लिया था। यह भेदरूप अशुद्ध नहीं; अभेदरूप शुद्ध। आहाहा! लोगों को समझने में भी कठिन पड़े।

यह वस्तु है, वह शुद्ध और अभेद है। भेद और अशुद्धता निमित्त के आधीन होकर होती है। इस कारण से वह व्यवहारनय आश्रय करनेयोग्य नहीं है। आहाहा! आता है, व्यवहारनय है। व्यवहारनय का विषय भी है परन्तु आश्रय करनेयोग्य नहीं है। आहाहा!

और निश्चयनय का विषय अभेदरूप शुद्धद्रव्य है। पहले में भेदरूप अशुद्धद्रव्य कहा था। इसमें अभेद त्रिकाल (कहा)। आहाहा!

त्रिकाली अभेदरूप, जिसमें गुण-गुणी का भेद भी नहीं। वह **निश्चयनय का विषय अभेदरूप शुद्धद्रव्य है,...** आहाहा! वह सम्यग्दर्शन का विषय है। बाकी लाख बात और करोड़ बात चाहे जो आओ, व्यवहार की बातें तो बहुत है। ग्यारहवीं गाथा में कहा है, व्यवहार हस्तावलम्ब जानकर शास्त्र में—जिनवाणी में भी बहुत कहा है, परन्तु उसका फल संसार है। ग्यारहवीं गाथा में है। आहाहा! जिनवाणी में व्यवहारनय का विषय बहुत कहा है, ऐसा पाठ है न? परन्तु उसका फल संसार है। बीच में आता है, इसलिए ज्ञान कराया है परन्तु फल संसार और बन्धन है।

एक **निश्चयनय का विषय अभेदरूप शुद्धद्रव्य है, इसलिए वही परमार्थ है।** आहाहा! परमार्थ अर्थात् यह लौकिक में परमार्थ कहते हैं, वह नहीं। यह तो परमार्थ (अर्थात्) परम पदार्थ। आहाहा! अभेदरूप शुद्ध द्रव्य ही परमार्थ है। आहाहा! वही ध्येय करनेयोग्य है, वही विषय करनेयोग्य है, वह लक्ष्य में लेनेयोग्य है, उस शुद्ध द्रव्य के समीप जानेयोग्य है। आहाहा! निमित्त के समीप जाता है, निमित्त से होता नहीं, परन्तु निमित्त के समीप जाता है तो अशुद्ध होता है; स्वभाव के समीप जाता है तो शुद्धता होती है। ओहोहो! अब ऐसा मार्ग। यहाँ तक तो कल आया था।

इसलिए, जो व्यवहार को ही... इस कारण से जो कोई **व्यवहार को ही निश्चय मानकर प्रवर्तन करते हैं,...** यह भी मोक्षमार्ग है। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, ऐसे व्यवहार को निश्चय मानकर, आहाहा! प्रवर्तते हैं। व्यवहार को निश्चय मानकर प्रवर्तते हैं। आहाहा! व्यवहार को व्यवहार जानकर निश्चय में प्रवर्तन करते हैं और व्यवहार को जानते हैं, यह तो मार्ग है। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं, व्यवहार को ही निश्चय मानकर प्रवर्तते हैं, **वे समयसार का अनुभव नहीं करते;...** आहाहा! वह आत्मा का अनुभव नहीं, वह तो राग का अनुभव है, संसार का अनुभव है। क्रियाकाण्ड, पंच महाव्रत और बाहर का त्याग, बाह्य त्याग तो अन्दर है नहीं परन्तु यह तो लोग मानते हैं न कि इसने वस्त्र छोड़े, पात्र छोड़े, स्त्री छोड़ी, कुटुम्ब छोड़ा। स्त्री छोड़ी, वस्त्र छोड़े, वे भी छोड़नेयोग्य हैं (ऐसा) नहीं है।

वस्त्र छोड़ना आत्मा के अधिकार में नहीं है। आहाहा! क्योंकि आत्मा तो परद्रव्य के त्याग और उपादान (ग्रहण) से शून्य है।

त्याग अर्थात् छोड़ना, उपादान अर्थात् ग्रहण करना। अपने स्वद्रव्य के अतिरिक्त परद्रव्य चाहे तो परमाणु हो या चाहे तो भगवान हो। आहाहा! चाहे तो परमाणु हो या चाहे तो परमात्मा हो... आहाहा! परन्तु वह व्यवहार है। उसे निश्चय मानकर, परमार्थ मानकर प्रवर्तते हैं, **वे समयसार का अनुभव नहीं करते;...**

जो परमार्थ को परमार्थ मानकर प्रवर्तन करते हैं, वे ही समयसार का अनुभव करते हैं... ओहोहो! संक्षिप्त भाषा में तो बहुत (कह दिया है)। **(इसलिए वे ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं)**। २४४ श्लोक।

कलश - २४४

'अधिक कथन से क्या, एक परमार्थ का ही अनुभवन करो'-इस अर्थ का काव्य कहते हैं-

(मालिनी)

अलमल-मतिजल्पै-र्दुर्विकल्पैरनल्पै-
रयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्य-मेकः।
स्वरस-विसर-पूर्णज्ञान-विस्फूर्तिमात्रा-
न्न खलु समयसारादुत्तरं किञ्चिदस्ति ।।२४४।।

श्लोकार्थ : [अतिजल्पैः अनल्पैः दुर्विकल्पैः अलम् अलम्] बहुत कथन से और बहुत दुर्विकल्पों से बस होओ, बस होओ; [इह] यहाँ मात्र इतना ही कहना है कि [अयम् परमार्थः एकः नित्यम् चेत्यताम्] इस एकमात्र परमार्थ का ही निरन्तर अनुभव करो; [स्व-रस-विसर-पूर्ण-ज्ञान-विस्फूर्ति-मात्रात् समयसारात् उत्तरं खलु किञ्चित् न अस्ति] क्योंकि निजरस के प्रसार से पूर्ण जो ज्ञान, उनके स्फुरायमान होनेमात्र जो

समयसार (–परमात्मा) उससे उच्च वास्तव में दूसरा कुछ भी नहीं है (–समयसार के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी सारभूत नहीं है)।

भावार्थ : पूर्णज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव करना चाहिए; इसके अतिरिक्त वास्तव में दूसरा कुछ भी सारभूत नहीं है।।२४४।।

कलश-२४४ पर प्रवचन

अलमल–मतिजल्पै–र्दुर्विकल्पैरनल्पै–
रयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्य–मेकः।
स्वरस–विसर–पूर्णज्ञान–विस्फूर्तिमात्रा–
न्न खलु समयसारादुत्तरं किञ्चिदस्ति।।२४४।।

आहाहा! समयसार से उत्कृष्ट कोई नहीं है। उस समय भाई सहज बोले थे पण्डितजी। तुम नहीं थे, नहीं? थे? भाई थे। वे कहे, नयचक्र ऊँचे में ऊँचा ग्रन्थ है। सार में सार वह है। यहाँ तो यह कहते हैं। भाई तो बैठे थे। क्या नाम? थोड़ी बात हुई थी। व्यवहार का जरा जोर था। ख्याल है। फिर यह पत्र आया है। जतीशभाई लाये हैं। उसमें बहुत नरमाई बतायी है। आहाहा! इसके अतिरिक्त ऊँची चीज़ कोई चीज़ है नहीं। यह आया न? देखो न! आहाहा! यह कहते हैं, देखो!

अलमल–मतिजल्पै–र्दुर्विकल्पैरनल्पै–
रयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्य–मेकः।
स्वरस–विसर–पूर्णज्ञान–विस्फूर्तिमात्रा–
न्न खलु समयसारादुत्तरं किञ्चिदस्ति।।२४४।।

आहाहा! **'अतिजल्पैः अनल्पैः दुर्विकल्पैः अलम् अलम्' 'अतिजल्पैः'** अर्थात् अब बहुत क्या कहना? बहुत-बहुत कहा गया और **बहुत दुर्विकल्पों से...** और विकल्प के भेद की व्यवहार की बात भी बहुत क्या करना? आहाहा! **बस होओ, बस होओ;...** आहाहा! **'अलम् अलम्'** इन विकल्पों की बात अब बस होओ। भेद की बात बस होओ। आहाहा! है?

यहाँ मात्र इतना ही कहना है... 'अनल्पैः' में बहु शब्द लिया न? **'अनल्पैः', 'अतिजल्पैः' 'अनल्पैः'** और **'दुर्विकल्पैः'** तीन शब्द हैं। बहुत वचन से और बहुत दुर्विकल्पों से बस होओ। **'अनल्पैः'** आहाहा! **'अतिजल्पैः'** से बस होओ, **'दुर्विकल्पैः'** से भी बस होओ। आहाहा! व्यवहार के विकल्प के प्रकार से भी बस होओ और उल्टी दृष्टि के तत्त्व से भी बस होओ। आहाहा! **यहाँ मात्र इतना ही कहना है... 'अयम् परमार्थः एकः नित्यम् चेत्यताम्' इस एकमात्र परमार्थ का ही निरन्तर अनुभव करो;...** आहाहा! पूरे बारह अंग का सार, सब शास्त्रों का सार एकमात्र यह, यह एकमात्र। एक ही मात्र तो एकान्त हो गया। कथंचित् एकमात्र और कथंचित् भेद अनेकान्त ऐसा नहीं आया। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, एक ही है। आहाहा! **इस एकमात्र परमार्थ का ही निरन्तर अनुभव करो;...** व्यवहार का नहीं, इसका नाम अनेकान्त है। आहाहा! परमार्थ का भी (अनुभव करो) और व्यवहार का भी करो, दो मिलकर अनेकान्त नहीं है। आहाहा! यहाँ मात्र, मात्र **इतना ही कहना है... 'अयम् परमार्थः एकः नित्यम् चेत्यताम्'** आहाहा! आचार्य की वाणी...! इस एकमात्र भगवान परमार्थ का ही। 'ही' है। एकमात्र में भी एकान्त आया, एकमात्र और परमार्थ का ही। एकमात्र कौन? परमार्थ। आहाहा!

परमार्थ आत्मा अन्दर वस्तु चिद्घन ज्ञानानन्द सहजानन्द पूर्ण वीर्य और पूर्ण शान्ति, आनन्द से भरपूर प्रभु अन्दर है। वस्तु है, वह वस्तु स्वतः अपूर्ण नहीं हो सकती। वस्तु जो है, वह स्वतः अशुद्ध नहीं हो सकती। अपूर्ण नहीं हो सकती और अशुद्ध नहीं हो सकती। स्वतः वस्तु पूर्ण और शुद्ध हो सकती है। समझ में आया? आहाहा! यह कहते हैं, एकमात्र, आहाहा! इतना ही कहना है कि **इस एकमात्र परमार्थ का ही निरन्तर...** परमार्थ का ही एक को ही। एक तो एकमात्र के ऊपर वजन दिया। पाठ में है न? **'अयम् परमार्थः एकः' 'एकः'** और **'नित्यम्'** निरन्तर। **'चेत्यताम्'** अनुभव करो। आहाहा!

भगवान आत्मा अतीन्द्रिय सहजात्मस्वरूप पूर्णानन्द के नाथ की सेवा करो, उसके सन्मुख होओ, उसके समीप जाओ। आहाहा! यह पूरे समयसार का सार है। बाकी व्यवहार की बातें तो बहुत बहुत आती है। आहाहा! कर न सके परन्तु विरोध तो न करो।

निर्णय में तो ले कि बात तो यह है। दूसरा कोई मार्ग नहीं है। अन्तर भगवान पूर्णानन्द के नाथ की ही सेवा अर्थात् एकाग्र होना, वही एक ही मार्ग है। सुख का पन्थ, परमार्थ का रास्ता, मुक्ति का मार्ग यह एक ही है। आहाहा!

एकमात्र परमार्थ का ही निरन्तर अनुभव करो;... आहाहा! **'स्व-रस-विसर-पूर्ण-ज्ञान-विस्फूर्ति-मात्रात् समयसारात् उत्तरं खलु किञ्चित् न अस्ति'** आहाहा! क्यों एकमात्र परमार्थ का ही निरन्तर अनुभव करो? क्यों? कारण क्या?—कि **निजरस के प्रसार से पूर्ण...** भगवान निजरस के फैलाव से परिपूर्ण है। आहाहा! ज्ञानरस से परिपूर्ण है, आनन्दरस से परिपूर्ण है, शान्तरस से परिपूर्ण है। निजरस से प्रसार, विस्तार, फैलाव, निजरस का फैलाव। आहाहा! एक ही मार्ग है और उसकी सूझ पड़ती नहीं। उस व्यवहार की तो सूझ पड़ती है कि यह करो। गजरथ बनाओ, अभी एक आया था। अमुक विद्वान आनेवाले हैं। बड़ा गजरथ करनेवाले हैं। हाथी... हाथी। आहाहा! वह तो परद्रव्य है। परद्रव्य में लक्ष्य जाता है, वह तो राग है। राग है, वह आत्मा का मार्ग नहीं है। वह आत्मा है नहीं, अनात्मा है। आहाहा!

एक स्वरस से भरपूर है। एक की सेवा करना किस कारण से? एक परमात्मस्वरूप की ही सेवा, इसका क्या कारण? हेतु क्या? **क्योंकि निजरस के प्रसार से पूर्ण...** आहाहा! **निजरस के प्रसार से पूर्ण जो ज्ञान...** अन्दर है। आहाहा! निज शक्ति और रस के प्रसार से-विस्तार से परिपूर्ण प्रभु अन्दर है। आहाहा! यह बात लक्ष्य में आवे नहीं, इसलिए बाहर से बुद्धि हटती नहीं। बाहर में अधिक रस लेते हैं। पण्डितों को और सभा को ठीक पड़ता है। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, निरन्तर परमार्थ शुद्ध आत्मा का सेवन करना, (उसमें) एकाग्र होना, इसका कारण क्या? **क्योंकि...** इस व्यवहार में तो राग और द्वेष, विकार और पुण्य-पाप है, इसलिए वह निषेध्य है। इसकी एक की सेवा करने का कारण क्या? आहाहा! वह तो निजरस से, **निजरस के प्रसार से पूर्ण...** आनन्दरस... आहाहा! निज अर्थात् अपना रस, आनन्दरस, शान्तरस, स्वच्छरस, उपशमरस... आहाहा! उसके फैलाव से विशाल। उसका फैलाव, **निजरस के प्रसार से पूर्ण जो ज्ञान...** 'ज्ञान' शब्द से पूरा आत्मा लेना।

निजरस के प्रसार से पूर्ण जो ज्ञान... आहाहा! **उनके स्फुरायमान होनेमात्र...** क्यों उसकी सेवा करना? आत्मा की ओर समीप जाकर उसके सन्मुख क्यों होना? कि उसके समीप होने से शान्ति और आनन्द स्फुरायमान होंगे, शान्ति और आनन्द की धारा बहेगी। पूर्ण जो ज्ञान, उसके स्फुरायमान होने से पूर्ण ज्ञान प्रगट होगा। आहाहा! पूर्ण आनन्द, पूर्ण शान्ति, पूर्ण स्वच्छता, ऐसा पूर्ण स्फुरायमान **होनेमात्र जो समयसार (-परमात्मा) उससे उच्च वास्तव में दूसरा कुछ भी नहीं है...** लो, ठीक! आहाहा!

लोगों को बाहर में व्यवहार में जिसका रस हो, उसे विपरीत चढ़ा देते हैं। व्यवहार के रसवाले व्यवहार में चढ़ा देते हैं, नय के रसवाले नय में (चढ़ा देते हैं)। नय को तो इन्द्रजाल कहा है न, भाई! नय तो इन्द्रजाल है। आहाहा! एक 'निश्चयनयाश्रित मुनिवरो प्राप्ति करे निर्वाण की।' आहाहा!

निजरस के प्रसार से पूर्ण... निजरस के फैलाव से भगवान आत्मा पूर्ण **पूर्ण जो ज्ञान (आत्मा) उनके स्फुरायमान होनेमात्र...** ज्ञान का प्रगट होना, आनन्द का प्रगट होना। **जो समयसार (-परमात्मा) उससे उच्च वास्तव में दूसरा कुछ भी नहीं है...** आहाहा! लो, कोई ग्रन्थ भी नहीं। ऐसा आया या नहीं? कोई आर्यिका है, उसने समयसार का गायन बनाया है, बहुत अच्छा बनाया है। बनाया अच्छा है, उसे बैठे, न बैठे, दूसरी बात। समयसार तो समयसार है। पूरा गायन बनाया है। सात-आठ लाईन।

यहाँ यह कहा, **उससे उच्च वास्तव में...** आहाहा! निजरस का विस्तार, निजरस के फैलाव से पूर्ण प्रभु आत्मा निज शान्ति, आनन्द आदि रस से पूर्ण है। व्यवहार तो रागादि, द्वेषादि विकार से पूर्ण नहीं, वह तो कल्पना, एक समय की दशा है। आहाहा! यह तो स्फुरायमान... आहाहा! **होनेमात्र...** एक ही **स्फुरायमान होनेमात्र... जो समयसार (-परमात्मा) उससे उच्च वास्तव में दूसरा कुछ भी नहीं है...** यथार्थ में, वास्तविकरूप से, यथार्थता में वास्तव में **उससे उच्च वास्तव में दूसरा कुछ भी नहीं है...** आहाहा!

प्रभु आत्मा अन्दर। यह (शरीर) तो जड़-मिट्टी-धूल, रोग की मूर्ति है। श्रीमद् ने लिखा है, वेदना की मूर्ति है, शरीर तो वेदना की मूर्ति है। और कुन्दकुन्दाचार्य ने अष्टपाहुड़ में लिखा है, एक अंगुल में ९६ रोग। इस शरीर के एक अंगुल में ९६ रोग, तो पूरे शरीर

में कितने होंगे? ऐसा पूछा है, ऐसा प्रश्न है। आहाहा! एक अंगुल में ९६ रोग! आहाहा! पूरे शरीर में कितने होंगे? ऐसा प्रश्न है। कुन्दकुन्दाचार्य अष्टपाहुड़ में (लिखते हैं)। आहाहा!

भगवान आत्मा से उत्कृष्ट दूसरा कुछ भी नहीं है। **(–समयसार के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी सारभूत नहीं है)**। आहाहा! अन्तिम श्लोक है न? भगवान समयसार शुद्ध आत्मतत्त्व, पूर्ण आनन्द आदि रस से भरपूर। पूर्ण कहा न? पूर्ण आनन्द आदि रस से भरपूर चैतन्यसमूह भगवान, नित्यानन्द प्रभु से उत्कृष्ट वास्तव में दूसरा कुछ नहीं है। आहाहा! **(–समयसार के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी सारभूत नहीं है)**। आहाहा! चक्रवर्ती के राज और इन्द्र के इन्द्रासन तो कहीं रह गये, परन्तु जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे... आहाहा! इस समयसार के अतिरिक्त दूसरा कुछ सारभूत नहीं है। आहाहा! तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव राग है, वह कहीं आत्मा नहीं है। वह आत्मा रस से फैलाव, विस्तार से पूर्ण ऐसा भगवान के समक्ष राग तो साधारण मैल और दुःख है। आहाहा! मैल और दुःख है। आहाहा! ऐसे समयसार से ऊँची दूसरी कोई चीज़ नहीं है। आहाहा! लोग तो फिर जिस विषय को उठावे, उस विषय को उत्कृष्ट बना दे। ऐसा कि, यह सब ऊँचा है। बापू! ऊँचा है, वह है, भाई! आहाहा! दुनिया तो सुनने में चाहे जो बात हो तो (सुनती है)।

यह शुद्ध चैतन्य अन्तर रस से पूर्ण भरपूर, इसकी दृष्टि करना, वह सम्यग्दर्शन है। इसके अतिरिक्त कोई चीज़ सार नहीं है। इससे विशेष कोई सार या आश्रय करनेयोग्य... आहाहा! और आश्रय करने से सुख मिले, ऐसी चीज़ होवे तो एक आत्मा ही है। आहाहा! अवलम्बन करने से आनन्द मिले तो एक आत्मा ही है। आनन्द का आधार एक आत्मा है। दुनिया को सुख का ध्येय है, सबको सुख चाहिए है। सुख तो इस आत्मा में है, आहाहा! अन्यत्र कहीं नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : पैसा-टका में नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में पैसा... सब दुःखी। पूरे दिन पैसा... पैसा होली। मूर्च्छा-राग की होली सुलगती है। फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमा। होली... होली। आहाहा!

आत्मा पूर्ण आनन्द के रस से विस्ताररूप परिपूर्ण की महत्ता जब तक न आवे,

उसकी महिमा नहीं लगे, तब तक पर की महिमा नहीं छूटती। आहाहा! पर की महिमा नहीं छूटती तो स्व की महिमा नहीं आती। आहाहा! कठिन बात है, परन्तु अपूर्व है। अपूर्व है परन्तु परमार्थ सत्य है। परमार्थ कहा न? यह परमार्थ है। आहाहा!

भावार्थ – पूर्णज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव करना चाहिए;... पूर्ण ज्ञानस्वरूप अथवा अनन्त गुणस्वरूप **आत्मा का अनुभव करना चाहिए;...** आहाहा! उसे अनुसरकर परिणति प्रगट करना चाहिए। आहाहा! निमित्त को और पर को अनुसरकर परिणति उत्पन्न होती है, वह दु:खरूप है। परिणति तो है, पर्याय है परन्तु दु:खरूप है। आहाहा! इस **पूर्णज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव करना चाहिए; इसके अतिरिक्त वास्तव में दूसरा कुछ भी सारभूत नहीं है।** इसके अतिरिक्त दूसरी कोई सार चीज़ नहीं है। आहाहा! आत्मा... आत्मा... आत्मा...

अब अन्तिम गाथा में यह समयसार ग्रन्थ के अभ्यास इत्यादि का फल कहकर... समयसार ग्रन्थ का अभ्यास। इत्यादि अभ्यास अर्थात् अनुभव आदि का फल कहकर **आचार्य भगवान इस ग्रन्थ को पूर्ण करते हैं; उसका सूचक श्लोक पहले कहा जा रहा है–** —२४५ (श्लोक)

कलश - २४५

अब अन्तिम गाथा में यह समयसार ग्रन्थ के अभ्यास इत्यादि का फल कहकर आचार्य भगवान इस ग्रन्थ को पूर्ण करते हैं; उसका सूचक श्लोक पहले कहा जा रहा है–

(अनुष्टुप्)

इदमेकं जगच्चक्षुर-क्षयं याति पूर्णताम्।
विज्ञान-घन-मानन्दमय-मध्यक्षतां नयत्॥२४५॥

श्लोकार्थ : [आनन्दमयम् विज्ञानघनम् अध्यक्षताम् नयत्] आनन्दमय विज्ञानघन को (-शुद्ध परमात्मा को, समयसार को) प्रत्यक्ष करता हुआ, [इदम् एकम् अक्षयं

जगत्-चक्षुः] यह एक (अद्वितीय) अक्षय चक्षु (-समयप्राभृत) [पूर्णताम् याति] पूर्णता को प्राप्त होता है।

भावार्थ : यह समयप्राभृत ग्रन्थ वचनरूप से तथा ज्ञानरूप से-दोनों प्रकार से जगत को अक्षय (अर्थात् जिसका विनाश न हो ऐसे) अद्वितीय नेत्र समान है, क्योंकि जैसे नेत्र घटपटादि को प्रत्यक्ष दिखलाता है, उसी प्रकार समयप्राभृत आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्रत्यक्ष अनुभवगोचर दिखलाता है।।२४५।।

कलश-२४५ पर प्रवचन

इदमेकं जगच्चक्षुर-क्षयं याति पूर्णताम्।
विज्ञान-घन-मानन्दमय-मध्यक्षतां नयत्।।२४५।।

आहाहा! **'आनन्दमयम् विज्ञानघनम् अध्यक्षताम् नयत्' आनन्दमय विज्ञानघन को (-शुद्ध परमात्मा को, समयसार को) प्रत्यक्ष करता हुआ,...** आहाहा! जैसी चीज़ है, वैसी ही पर्याय में प्रगट करता हुआ। आहाहा! **'इदम् एकम् अक्षयं जगत्-चक्षुः' यह एक (अद्वितीय) अक्षय चक्षु...** आहाहा! यह एक ही अक्षय अद्वितीय अजोड़ चक्षु। आहाहा! **(अद्वितीय) अक्षय...** इसके अतिरिक्त दूसरा नहीं, ऐसा **अक्षय चक्षु (-समयप्राभृत) पूर्णता को प्राप्त होता है।** अब पूर्ण होता है। ४१५ गाथा है। कुन्दकुन्दाचार्य महाराज की गाथा का यह समयसार पूर्ण होता है, उसका यह उपोद्घात किया। उसमें आया कि यह आया।

एक तो अक्षय चक्षु। आहाहा! और वह भी आनन्दरूप विज्ञानघन को प्रत्यक्ष करता हुआ, उसे बाहर लाता हुआ। आहाहा! जो अन्दर शक्ति में है... आहाहा! स्वभाव में है, आत्मा अन्दर दल में तो यही है, उसे बाह्य में प्रगट करता हुआ। जैसी शक्ति है, स्वभाव है, वैसी पर्याय में व्यक्त करता हुआ समयसार पूर्णता को प्राप्त होता है। वहाँ आत्मा परमात्मा हो जाता है। पश्चात् उसे कोई भव या कुछ नहीं है। पूर्ण परमात्मा हो जाता है। पश्चात् भव नहीं, संसार नहीं, कुछ है नहीं।

भावार्थ – यह समयप्राभृत ग्रन्थ वचनरूप से तथा ज्ञानरूप से–दोनों प्रकार से... आहाहा! वचनरूप तो ये शब्द और उनका वाच्य आत्मा है। आहाहा! शक्कर, यह वाचक शब्द है; शक्कर वस्तु, वह वाच्य है। इसी प्रकार यहाँ वाचक और वाच्य पूर्ण होता है। शब्द भी पूर्ण होते हैं और वस्तु भी पूर्ण होती है। आहाहा! समझ में आया? **यह समयप्राभृत ग्रन्थ वचनरूप से तथा ज्ञानरूप से–दोनों प्रकार से जगत को अक्षय (अर्थात् जिसका विनाश न हो ऐसे) अद्वितीय नेत्र समान है,...** अजोड़ नेत्र है, उसके साथ दूसरे कोई नेत्र मिलान नहीं किये जा सकते। आहाहा! अद्वितीय नेत्र है, अजोड़ नेत्र है। अद्वितीय—दूसरा कोई नेत्र है ही नहीं, यह एक ही नेत्र है। आहाहा!

जगत को अक्षय (अर्थात् जिसका विनाश न हो ऐसे) अद्वितीय (अजोड़) नेत्र समान है,... अद्वितीय अर्थात् दूसरे के साथ कुछ मिलान खाये नहीं। आहाहा! **अद्वितीय नेत्र समान है, क्योंकि जैसे नेत्र घटपटादि को प्रत्यक्ष दिखलाता है,...** नेत्र घड़ा आदि, वस्त्र आदि को प्रत्यक्ष दिखलाता है। **उसी प्रकार समयप्राभृत आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्रत्यक्ष अनुभवगोचर दिखलाता है।** आहाहा! अनुभवगोचर दिखलाता है कि इस प्रकार से अनुभव होता है। यह तो वाणी है न! **समयप्राभृत आत्मा के शुद्ध स्वरूप को...** आहाहा! **प्रत्यक्ष अनुभवगोचर...**

अनुभवगोचर **दिखलाता है।** यह कलश का भावार्थ हुआ।

गाथा - ४१५

जो समय-पाहुड-मिणं पढिदूणं अत्थ-तच्चदो णादुं।
अत्थे ठाही चेदा सो होही उत्तमं सोक्खं।।४१५।।

य: समयप्राभृतमिदं पठित्वा अर्थ-तत्त्वतो ज्ञात्वा।
अर्थे स्थास्यति चेतयिता स भविष्यत्युत्तमं सौख्यम्।।४१५।।

य: खलु समयसारभूतस्य भगवत: परमात्मनोऽस्य विश्वप्रकाशकत्वेन विश्वसमयस्य प्रतिपादनात् स्वयं शब्दब्रह्मायमाणं शास्त्रमिदमधीत्य, विश्वप्रकाशनसमर्थपरमार्थभूत-चित्प्रकाश-रूपमात्मानं निश्चिन्वन् अर्थतस्तत्त्वतश्च परिच्छिद्य, अस्यैवार्थभूते भगवति एकस्मिन् पूर्णविज्ञान-घने परमब्रह्मणि सर्वारम्भेण स्थास्यति चेतयिता, स साक्षात्तत्क्षण-विजृम्भमाणचिदेकरसनिर्भर-स्वभावसुस्थितनिराकुलात्मरूपतया परमानन्दशब्दवाच्य-मुत्तममनाकुलत्वलक्षणं सौख्यं स्वयमेव भविष्यतीति।

अब, भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव इस ग्रन्थ को पूर्ण करते हैं, इसलिए उसकी महिमा के रूप में उसके अभ्यास इत्यादि का फल इस गाथा में कहते हैं-

यह समयप्राभृत पठन करके जान अर्थ रु तत्त्व से।
ठहरे अरथ में जीव जो वो, सौख्य उत्तम परिणमे।।४१५।।

गाथार्थ : [य: चेतयिता] जो आत्मा (-भव्य जीव) [इदं समयप्राभृतम् पठित्वा] इस समयप्राभृत को पढ़कर, [अर्थतत्त्वत: ज्ञात्वा] अर्थ और तत्त्व से जानकर, [अर्थे स्थास्यति] उसके अर्थ में स्थित होगा, [स:] वह [उत्तमं सौख्यम् भविष्यति] उत्तम सौख्यस्वरूप होगा।

टीका : समयसारभूत भगवान परमात्मा का-जो कि विश्व का प्रकाशक होने से विश्वसमय है उसका-प्रतिपादन करता है, इसलिए जो स्वयं शब्दब्रह्म के समान है, ऐसे इस शास्त्र को जो आत्मा भलीभाँति पढ़कर, विश्व को प्रकाशित करने में समर्थ ऐसे परमार्थभूत, चैतन्य-प्रकाशरूप आत्मा का निश्चय करता हुआ (इस शास्त्र को) अर्थ से और तत्त्व से जानकर, उसी के अर्थभूत भगवान एक पूर्णविज्ञानघन परमब्रह्म में सर्व

उद्यम से स्थित होगा, वह आत्मा, साक्षात् तत्क्षण प्रगट होनेवाला एक चैतन्यरस से परिपूर्ण स्वभाव में सुस्थित और निराकुल (–आकुलता बिना का) होने से जो (सौख्य) 'परमानन्द' शब्द से वाच्य है, उत्तम है और अनाकुलता–लक्षणयुक्त है, ऐसा सौख्यस्वरूप स्वयं ही हो जाएगा।

भावार्थ : इस शास्त्र का नाम समयप्राभृत है। समय का अर्थ है पदार्थ अथवा समय अर्थात् आत्मा। उसका कहनेवाला यह शास्त्र है। और आत्मा तो समस्त पदार्थों का प्रकाशक है। ऐसे विश्वप्रकाशक आत्मा को कहता हुआ होने से यह समयप्राभृत शब्दब्रह्म के समान है; क्योंकि जो समस्त पदार्थों का कहनेवाला होता है, उसे शब्दब्रह्म कहा जाता है। द्वादशांगशास्त्र शब्दब्रह्म है और इस समयप्राभृतशास्त्र को भी शब्दब्रह्म की उपमा दी गई है। यह शब्दब्रह्म (अर्थात् समयप्राभृतशास्त्र) परब्रह्म को (अर्थात् शुद्ध परमात्मा को) साक्षात् दिखाता है। जो इस शास्त्र को पढ़कर उसके यथार्थ अर्थ में स्थित होगा, वह परब्रह्म को प्राप्त करेगा; और उससे जिसे 'परमानन्द' कहा जाता है, ऐसे उत्तम, स्वात्मिक, स्वाधीन, बाधारहित, अविनाशी सुख को प्राप्त करेगा। इसलिए हे भव्य जीवों! तुम अपने कल्याण के लिए इसका अभ्यास करो, इसका श्रवण करो, निरन्तर इसी का स्मरण और ध्यान करो, कि जिससे अविनाशी सुख की प्राप्ति हो। ऐसा श्री गुरुओं का उपदेश है।

गाथा-४१५ पर प्रवचन

अब, भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव इस ग्रन्थ को पूर्ण करते हैं, इसलिए उसकी महिमा के रूप में उसके अभ्यास इत्यादि का फल इस गाथा में कहते हैं–आहाहा!

जो समय–पाहुड–मिणं पढिदूणं अत्थ–तच्चदो णादुं।
अत्थे ठाही चेदा सो होही उत्तमं सोक्खं।।४१५।।

अर्थ से और तत्त्व से अर्थात् भाव से। तत्त्वार्थश्रद्धान है न?

यह समयप्राभृत पठन करके जान अर्थ रु तत्त्व से।
ठहरे अरथ में जीव जो वो, सौख्य उत्तम परिणमे।।४१५।।

तत्त्वार्थ में तत्त्व और अर्थ दोनों लेना। भाव में नहीं लिया, अर्थ में लिया। अर्थ, वह पदार्थ है, भाव तो उसका गुण-शक्ति है। अर्थ लिया। ज्ञान अर्थ और भाव दोनों का करना, परन्तु स्थिर होना अर्थ में, भाव में नहीं। आहाहा! गजब बात है। भाववान जो अर्थ है, तत्त्वार्थसूत्र में भी यह बात की है। तत्त्वार्थ—तत्त्व अर्थात् भाव और अर्थ अर्थात् द्रव्य, गुण और पर्याय। वहाँ तीन लिये हैं। भाई! तत्त्वार्थसूत्र में तीनों लिये हैं। द्रव्य, गुण और पर्याय, अर्थ और उसका भाव, यह तत्त्वार्थ।

यहाँ तो अकेला द्रव्य। आहाहा! तीन भी नहीं। पाठ ऐसा है न? **'अत्थतच्चदो णादुं'** अर्थ से और तत्त्व से जाने परन्तु **'अत्थे ठाही चेदा'** परन्तु अर्थ अर्थात् पदार्थ में स्थित हो, वह आत्मा। आहाहा! **'यह समयप्राभृत पठन करके, जान अर्थरूप भाव से, जाने दोनों, ठहरे अर्थ में जीव जो भी'** पश्चात् तत्त्व नहीं लिया। **'ठहरे अर्थ में आत्मा जो सौख्य उत्तम हो उसे।'** आहाहा!

पहले इसका शब्दार्थ लेते हैं। अन्तिम गाथा है न? **जो आत्मा (-भव्य जीव)...** आहाहा! योग्य जीव। संसार से मुक्ति होने की तैयारीवाला और संसार का अन्त लाने की तैयारीवाला। आहाहा! संसार का अन्त और मोक्ष की शुरुआत (करनेवाला) ऐसा भव्य प्राणी। आहाहा! **इस समयप्राभृत को पढ़कर,...** क्या पढ़कर? **'अर्थतत्त्वतः ज्ञात्वा' अर्थ और तत्त्व से जानकर,...** अर्थ अर्थात् पदार्थ और तत्त्व अर्थात् भाव। पदार्थ और पदार्थ का भाव। आहाहा!

अर्थ और तत्त्व से जानकर, उसके अर्थ में स्थित होगा,... भाव में नहीं। आहाहा! यहाँ तो वस्तु—द्रव्य लिया है। तत्त्वार्थश्रद्धान जहाँ लिया है, वहाँ अर्थ में द्रव्य-गुण-पर्याय लिया है परन्तु यहाँ तो अकेला द्रव्य लेना है। तत्त्वार्थ। अर्थ—द्रव्य, तत्त्व—भाव। इन दोनों को जानकर अर्थ में स्थित होना है। आहाहा! पदार्थ में स्थिर होना है। आत्मपदार्थ में श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र से स्थिर होना है। आहाहा! वह दर्शन-ज्ञान-चारित्र तो भाव है परन्तु इस भाव से आत्मा में स्थित होना है। आहाहा! अरे! ऐसी बात। आहाहा!

जानकर, उसके अर्थ में स्थित होगा,... ऐसा। स्थित होगा। **वह... 'उत्तमं सौख्यम् भविष्यति' उत्तम सौख्यस्वरूप होगा।** वह उत्तम सुखस्वरूप होगा। प्राप्त करेगा, ऐसा

नहीं, उत्तम सुखरूप होगा। आहाहा! वह उत्तम सुखरूप परिणमेगा, ऐसा कहते हैं। आहाहा! उत्तम सुख को प्राप्त करेगा, ऐसा नहीं लिया। आहाहा! उत्तम सुख को... आहाहा! **'अत्थे ठाही चेदा सो होही उत्तमं सोक्खं।'** वह उत्तम सुख को प्राप्त करेगा। आहाहा! भगवान आत्मा और उसका भाव, अर्थ और भाव, दोनों को बराबर जानकर अर्थ में स्थिर होना। द्रव्य में स्थिर होने से भाव प्रगट होता है। आहाहा! अब ऐसा तो स्पष्टीकरण है। अन्तिम गाथा परन्तु यह पुकार करते हैं। इसका निर्णय तो करना चाहिए, भले पहले विकल्प से करे। पहले विकल्प से भी निर्णय तो यह है, ऐसा करना चाहिए न! पक्षपात छोड़ देना चाहिए। आहाहा!

अर्थ और भाव दो शब्द लिये हैं। अर्थ अर्थात् पदार्थ और उसका तत्त्व अर्थात् भाव। आहाहा! दोनों को भलीभाँति जानकर पर्याय में पर्याय को द्रव्य में स्थिर करना, ऐसा कहते हैं। अन्दर स्थिर होना अर्थात् कहीं द्रव्य तो स्थिर होता नहीं। आहाहा! वर्तमान पर्याय द्रव्य में स्थिर करना। आहाहा! ध्रुव तो चलित नहीं होता। स्थिर होना अर्थात् वह ध्रुव कुछ स्थिर नहीं। ध्रुव में ध्रुव स्थिर नहीं होता। चिमनभाई! ऐसी बातें हैं। कठिन लगे परन्तु क्या हो? मार्ग तो यह है। आहाहा!

अर्थ और तत्त्व। पदार्थ और भाव। आहाहा! वेदान्त तो ऐसा ही कहता है, एक ही वस्तु है। भाव और अर्थ दो क्या? आहाहा! यहाँ तो एक पदार्थ है, ऐसे तो अनन्त पदार्थ हैं। उन अनन्त में भी अपना आत्मा एक अर्थ और तत्त्व। आहाहा! उसमें भी दो। परन्तु दोनों को जानकर स्थिर होना अर्थ में। आहाहा! क्योंकि स्थिर होनेवाली चीज़ तो पर्याय है। ध्रुव कोई स्थिर नहीं होता। ध्रुव तो ध्रुव है, अनादि एकरूप है। आहाहा! उसकी पर्याय जो है, वह अन्दर स्थिर होती है। आहाहा! पाठ भी कैसा लिया है? आहाहा!

अर्थ और तत्त्व से जानकर,... जानना दोनों को। आहाहा! **उसके अर्थ में स्थित होगा,...** उस पदार्थ में स्थित होगा। आहाहा! वह पर्याय स्थित होगी। द्रव्य कहीं स्थित नहीं होगा। आहाहा! यह प्रगट पर्याय है, यह सामान्य अर्थ जो है, भाव विशेष है, अर्थ सामान्य है, वह विशेष अर्थ में स्थित होता है। आहाहा! ऐसी बात सुनना मुश्किल पड़ती है। परम सत्य तो यह है, प्रभु! बाकी जन्म-मरणरहित होने का (दूसरा) कोई उपाय नहीं है। आहाहा! ४१५ (गाथा) आहाहा!

टीका – समयसारभूत भगवान परमात्मा का... आहाहा! अमृतचन्द्राचार्य भी यह टीका करते हुए ऐसे खिल जाते हैं। मुनिराज तीन कषाय का अभाव है, आनन्द में झूलते हैं, छठवें-सातवें, छठवें-सातवें गुणस्थान में (झूलते हैं)। आहाहा! वे भी आनन्द के उल्लास में आने पर (कहते हैं), **समयसारभूत भगवान परमात्मा...** आहाहा! यह उनकी टीका है। **समयसारभूत भगवान परमात्मा...** इस परमात्मा को समयसार कहते हैं। ऐसा कहते हैं। भाव; द्रव्य शब्द तो यह समयसार है। यह पहले आ गया है। अभिधेय-अभिधान पहले आ गया है, वाचक और वाच्य। अन्तिम वापस यह लिया। आहाहा! पहले आ गया है, दूसरी गाथा में। आहाहा!

समयसारभूत... समयसारभूत। आहाहा! **भगवान परमात्मा का–जो कि विश्व का प्रकाशक होने से...** उसका आश्रय क्यों लेना? **जो कि विश्व का प्रकाशक होने से विश्वसमय है...** वह विश्वसमय है। आहाहा! वह जगतसमय—जगतचक्षु है। जगतचक्षु आया था न? विश्वसमय कहो, जगतचक्षु कहो। आहाहा! विश्वसमय! आहाहा! विश्व को जाननेवाली आँख, विश्व को जाननेवाला नेत्र भगवान है। आहाहा!

जो कि विश्व का प्रकाशक होने से विश्वसमय है, उसका–प्रतिपादन करता है... यह समयसार उसका प्रतिपादन करता है। देखो! इसमें व्यवहार आता है। ४६ गाथा में व्यवहार आया है कि, यदि व्यवहार न मानो तो ऐसा... भस्म को मसल देने से जैसे पाप नहीं है, वैसे एकेन्द्रिय को मारने से भी पाप नहीं है। व्यवहार न मानो तो बन्ध जो है, वह राग-द्वेष है, वह व्यवहार है। वह है अवश्य, जाननेयोग्य है। आहाहा! स्थित होनेयोग्य तो यहाँ तो भाव में स्थित होने योग्य है, ऐसा नहीं कहा। व्यवहार, विकल्प की बात तो कहीं रह गयी। आहाहा!

वस्तु जो भगवान आत्मा, वह अर्थ है, उसका जो त्रिकाल भाव, जाननेवाली पर्याय है। यह अर्थ है और यह भाव है, उसे जाननेवाली पर्याय है। आहाहा! तीनों आ गये। है? क्यों?—कि **विश्व का प्रकाशक होने से...** यह पर्याय हुई। आहाहा! पर्याय विश्व को प्रकाशित करती है। वह विश्व को प्रकाशित करती है, उस पर्याय का आश्रय द्रव्य है, इस कारण से (प्रकाशित करती है)। आहाहा! समझ में आया? ऐसी वार्ता।

विश्व का प्रकाशक होने से विश्वसमय है... परमात्मा की व्याख्या की है। समयसारभूत भगवान परमात्मा। लाईन है न? लाईन। परमात्मा के पश्चात् लाईन है। समयसारभूत भगवान परमात्मा क्यों? परमात्मा अर्थात् क्या? कि इस **विश्व का प्रकाशक होने से विश्वसमय है...** आहाहा! इसका अर्थ किया। जो शब्द कहा, उसका यह अर्थ है। आहाहा! ऐसा वाँचन करने की फुरसत नहीं मिलती। नहीं, सुमनभाई! समय नहीं मिलता। आहाहा! एक-एक शब्द में, एक-एक अर्थ में कितने भाव भरे हैं! आहाहा!

समयसारभूत भगवान परमात्मा का-जो कि विश्व का प्रकाशक होने से विश्वसमय है उसका... ऐसा। आहाहा! भाव तो आ गया। विश्व का प्रकाशक होने से, ऐसा जो कहा, उसमें पर्याय आ गयी। विश्व का प्रकाशक, यह पर्याय आयी। पर्याय ने द्रव्य का आश्रय लिया, तब पर्याय में प्रकाशकपना प्रगट हुआ, तब वह विश्वसमय हुआ। तब जगत का जाननेवाला-देखनेवाला परमात्मा प्रत्यक्ष हुआ। आहाहा! लो, समय हो गया।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४६१, गाथा-४१५ शनिवार, भाद्र शुक्ल ४
दिनांक - १३-०९-१९८०

समयसार, ४१५ गाथा की टीका। अन्तिम गाथा है। **समयसारभूत भगवान परमात्मा का...** कल एक लाईन चली थी। समयसारभूत भगवान परमात्मा अर्थात् यह आत्मा। आहाहा! कितनी उपमा दी। समयसारभूत भगवान आत्मा। उसमें राग-द्वेष और विकार कुछ है नहीं। अनन्त-अनन्त गुण का भण्डार, ऐसा जो यह भगवान आत्मा **जो कि विश्व का प्रकाशक होने से...** जगत के पदार्थ का, विश्व अर्थात् समस्त, समस्त पदार्थ का प्रकाशक होने से। यह आत्मा किसी का कर्ता नहीं, किसी का हर्ता नहीं, किसी को अपना माननेवाला नहीं परन्तु सर्व का प्रकाशक है। आहाहा!

विश्व का प्रकाशक होने से विश्वसमय है... उसे विश्वसमय कहा जाता है। समस्त को जानता है, इसलिए विश्वसमय समस्त को जाननेवाला, ऐसा कहा जाता है। आहाहा! **उसका-प्रतिपादन करता है...** ऐसे विश्वसमयरूप भगवान आत्मा का यह शास्त्र प्रतिपादन करता है, इसलिए **स्वयं शब्दब्रह्म के समान है...** शब्दब्रह्म। जैसे विश्व प्रकाशक स्वयं सबको प्रकाशित करता है, वैसे यह शब्दब्रह्म समस्त आत्मा को और पूरे तत्त्व को प्रकाशित करता है। आहाहा!

शब्दब्रह्म। आत्मब्रह्म आत्मा और यह वाणी शब्दब्रह्म। इसके वाचक को शब्दब्रह्म कहा और वाच्य वस्तु है, उसे विश्व प्रकाशक भगवान कहा। आहाहा! **ऐसे इस शास्त्र को...** ऐसे इस शास्त्र को **जो आत्मा भलीभाँति पढ़कर,...** भलीभाँति पढ़कर विशेषण दिया। आहाहा! ऐसे का ऐसा पढ़ ले और दुनिया को कहने के लिये या दुनिया में मान लेने के लिये या धारणा के लिये बात को धार ले, इसके लिये नहीं परन्तु **भलीभाँति पढ़कर,...** भलीभाँति इस शास्त्र को आत्मा के लिये पढ़कर। आहाहा!

विश्व को प्रकाशित करने में समर्थ... समस्त पदार्थ को प्रकाशित करने में समर्थ, **ऐसे परमार्थभूत,...** आहाहा! ऐसा जो परमार्थभूत भगवान आत्मा, **चैतन्य-प्रकाशरूप आत्मा का निश्चय करता हुआ...** यह पढ़कर यह करना। आहाहा! पूरा समयसार पढ़कर यह करना है। आहाहा! क्या? **विश्व को प्रकाशित करने में समर्थ**

ऐसे परमार्थभूत, चैतन्य-प्रकाशरूप आत्मा का निश्चय करता हुआ... आहाहा! इस समयसार को पढ़कर, जानकर करना क्या? आहाहा! विश्व को प्रकाशित करने में, यह जगत तीन काल-तीन लोक को जानने में प्रकाशक ऐसा जो आत्मा... आहाहा! **ऐसे परमार्थभूत, चैतन्य-प्रकाशरूप...** आहाहा! **विश्व को प्रकाशित करने में समर्थ ऐसे परमार्थभूत,...** ऐसा। आहाहा! **ऐसे चैतन्य-प्रकाशरूप आत्मा...** चैतन्यप्रकाशरूप आत्मा, उसमें कोई दूसरे राग-द्वेष और शरीर तो लिये नहीं परन्तु दूसरे गुण भी नहीं लिये। उस चैतन्यप्रकाश में सब अनन्त गुण इकट्ठे आ जाते हैं। आहाहा!

चैतन्य-प्रकाशरूप आत्मा का निश्चय करता हुआ... आहाहा! आत्मा का निर्णय करता हुआ। इसमें ऐसा नहीं कहा, नव तत्त्व का निर्णय करता हुआ या देव-गुरु-शास्त्र का निर्णय करता हुआ। आहाहा! यह शास्त्र पढ़कर **विश्व को प्रकाशित करने में समर्थ ऐसे परमार्थभूत, चैतन्य-प्रकाशरूप आत्मा का निश्चय करता हुआ...** यह आत्मा तो चैतन्य, विश्व को प्रकाशित करने में समर्थ है, ऐसा उसका स्वरूप ही है। विश्व तो शब्द लिया है परन्तु विश्व को जानने की सामर्थ्यवाला ही उसका तत्त्व है। आहाहा! यह विश्व है, इसलिए ऐसा तत्त्व है—ऐसा भी नहीं। इस विश्व को जानने के प्रकाश के सामर्थ्यवाला तत्त्व ही यह है। आहाहा! ऐसा **निश्चय करता हुआ...** आहाहा! ऐसा अन्तर में निर्णय करता हुआ। आहाहा!

(इस शास्त्र को) अर्थ से... अर्थात् पदार्थ से **और तत्त्व से...** अर्थात् भाव से। अर्थ से अर्थात् वस्तु—पदार्थ से और उसके तत्त्व के भाव से। **जानकर,...** जानकर दोनों को, (इसमें) तीन आये। **अर्थ से और तत्त्व से जानकर,...** इसमें तीनों आ गये। क्या तीन आये? अर्थ अर्थात् द्रव्य, तत्त्व अर्थात् भाव, जानकर अर्थात् पर्याय। आहाहा! आया या नहीं? आहाहा! **अर्थ से और तत्त्व से...** यह तो दो त्रिकाली वस्तु हुई। पदार्थ और पदार्थ का भाव। उसे जानकर, यह पर्याय हुई। आहाहा! द्रव्य-गुण और पर्याय तीन में यह शब्द ले लिये। आहाहा! अर्थ अर्थात् पदार्थ; तत्त्व अर्थात उसका गुण—भाव, उसकी शक्ति, उसका स्वभाव। आहाहा! उसे जानकर, यह पर्याय हुई। आहाहा! तीन शब्द में पूरा आ गया।

अर्थ से और तत्त्व से जानकर,... आहाहा! पदार्थ को और पदार्थ के गुण अर्थात्

भाव को जानकर अर्थात् पर्याय में उसे जानकर। यह पर्याय आयी। आहाहा! परन्तु बहुत संक्षिप्त, किन्तु किसे जानकर? पर्याय में किसे जानकर? अर्थ को और तत्त्व को दोनों को जानकर। जानने में दोनों को, (ऐसी) बात ली है। वस्तु त्रिकाली अर्थ पदार्थ और उसका त्रिकाली भाव, उसे जानकर। जानकर, दोनों को जानकर लिया। अर्थ और तत्त्व दोनों को जानकर, ऐसा तो लिया। जानने का दोनों का लिया। आहाहा!

उसी के अर्थभूत भगवान एक... आहाहा! जानकर करनेयोग्य क्या? **उसी के अर्थभूत...** पदार्थ। आहाहा! उसका भाव भले जाना परन्तु कहते हैं, स्थिर किसमें होना? आहाहा! **उसी के अर्थभूत...** जरा सूक्ष्म बात है, भाई! अन्तिम गाथा है। शब्द थोड़े और अकेला मक्खन है। आहाहा! **उसी के अर्थभूत भगवान एक पूर्णविज्ञानघन...** अर्थभूत तो भगवान एक परन्तु उसका स्वभाव पूरा पूर्ण विज्ञानघन। आहाहा! पूर्ण विज्ञानघन, समूह, पिण्ड।

परमब्रह्म में... ऐसा जो परमब्रह्म भगवान, आहाहा! **सर्व उद्यम से स्थित होगा,...** प्रयत्न से, यह पर्याय हुई। **विज्ञानघन परमब्रह्म में सर्व उद्यम से...** वर्तमान पर्याय, सर्व उद्यम, वह वर्तमान पर्याय हुई। आहाहा! ऐसा (समझने के लिये) कहाँ निवृत्ति है? एक तो यह बात मीठी नहीं लगती, लूखी लगे, उसे इसका भाव समझने में तो कहाँ प्रयत्न करे? आहाहा! और समझकर वापस उस अर्थ में स्थित होना। अर्थ को—द्रव्य को और भाव को जानकर अर्थ में स्थिर होना। आहाहा! थोड़ा है परन्तु बहुत है—थोड़ा लिखा बहुत जानना। ऐसे थोड़ा कहा, बहुत जानना। आहाहा!

दूसरा सब चाहे जो हो, वह विश्व का प्रकाशक है परन्तु स्वयं उस भगवान को जानना। आहाहा! विश्व का प्रकाशक है, इसलिए विश्व को जानना—ऐसा यहाँ नहीं लिया। वह तो विश्व की प्रकाशक वस्तु ही है। आहाहा! उसे अर्थभूत भगवान। आहाहा! ४१५ गाथा, अन्तिम गाथा सार है। **उसी के अर्थभूत...** अर्थ और तत्त्व को जानकर। आहाहा! **उसी के अर्थभूत...** भाव भले जाने। अब दृष्टि कहाँ करनी है? आहाहा! **उसी के अर्थभूत भगवान एक पूर्णविज्ञानघन...** अब तत्त्व और अर्थ दो नहीं। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात है। बापू! यह तो दिगम्बर सन्तों के हृदय हैं। आहाहा! जिन्होंने केवलज्ञान

को केवली को हाथ में लिया है। आहाहा! प्रत्यक्ष लिया है। केवलज्ञान एकाध-दो भव में प्राप्त होने की शैलीवाले ये सब साधु हैं। आहाहा!

ऐसे तत्त्व को और भाव को। तत्त्व अर्थात् अर्थ—पदार्थ। तत्त्वार्थ में भी यह आया है। तत्त्वार्थश्रद्धान कल कहा था। वहाँ अर्थ में आया है—द्रव्य, गुण और पर्याय तीन। वहाँ तो ज्ञानप्रधान कथन है न, इसलिए द्रव्य, गुण, पर्याय और उसका भाव जानकर तत्त्वार्थ की श्रद्धा होना। यहाँ कहते हैं, उस अर्थरूप एक भगवान आत्मा, आहाहा! एक पूर्ण विज्ञानघन। आहाहा! विश्व को प्रकाशित करता है, इसलिए अनेक हो गया—ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसा धर्म।

वाडा में तो चले, एकेन्द्रिय को ऐसा करो और वैसा करो और अमुक करो, अपवास करो और अपवास के पारणे में अठ्ठम करो, अठ्ठम के पारणे में फ्होर चढ़ाओ तो पच्चीस अपवास का लाभ होगा। अरे! प्रभु! क्या हो? आहाहा! मूल वस्तु को जाने बिना यह सब क्रियाकाण्ड एकड़ारहित शून्य है। लाख शून्य और करोड़ शून्य कोरे कागज में लिखे परन्तु उसका अंक नहीं आता। उन करोड़ शून्य का अंक नहीं होता। अंक तो एक रखे तो अंक आता है। इसी प्रकार सब जानने पर भी उसमें आत्मा भगवान एक को जाने तो सब तत्त्व आता है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। कल से पर्यूषण है। पंचमी, पहला दिन है। सेठ आते हैं तो हिन्दी करना पड़ेगा। सेठ बिचारे (गुजराती) समझते नहीं। तार आया है। चन्दुभाई कहते थे। आहाहा! भगवानलाल तो बेचारे... शोभालाल तो आते थे, सुनते थे, बहुत महीने-महीने रहते थे। क्या करे? करोड़पति व्यक्ति। आहाहा! तीन-तीन लाख रुपये की साधारण धर्मशाला लोगों को उतारने के लिये गाँव में बनायी है। उदार भी ऐसे हैं और पैसे की आमदनी भी बहुत है। आहाहा! क्या कहलाता है? शोभायात्रा नहीं निकली? उसमें सत्कार में प्रत्येक गाँव में सत्कार करते थे। धर्मचक्र। धर्मचक्र घूमते-घूमते वहाँ आया था, वहाँ उनके पुत्र डालचन्द की बहू ने पच्चीस हजार रुपये से सम्मान किया था परन्तु बात यह है कि उस सब चीज़ में प्रसन्न-प्रसन्न हो जाए कि पच्चीस हजार खर्च किये। क्योंकि उसका विश्व का प्रकाशक आत्मा है, उसे मेरा माननेवाला और खर्च करनेवाला, वह आत्मा नहीं है। आहाहा! उस चीज़ का जो प्रयोग होता है, उसका आत्मा जाननेवाला है,

वह भी व्यवहार से है। परन्तु उसका करनेवाला और उसका स्वामी, पर की कुछ क्रिया हो, यह धन्धा आदि हो, उसका स्वामी आत्मा नहीं है। आहाहा!

अरे! एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्शता नहीं करता, प्रभु! यह बात कठिन है। आहाहा! एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। यह वह बात क्या? और क्रमबद्ध, पर्याय क्रमसर होती है परन्तु उसकी दृष्टि यहाँ (अन्दर) जाती है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा माननेवाले की दृष्टि **अर्थभूत भगवान एक पूर्णविज्ञानघन परमब्रह्म में सर्व उद्यम से स्थित होगा,...** आहाहा! इस पुरुषार्थ से, पूर्ण पुरुषार्थ से स्थिर होगा। कुछ भी पुरुषार्थ को कोई शुभराग में, भेद में न रखकर, शुभभाव और भेद में पुरुषार्थ को न रखकर पुरुषार्थ को एक प्रभु में रखकर, स्थापित करते हुए, आहाहा। भेद भी नहीं। आहाहा! पर भी नहीं। आहाहा!

सर्व उद्यम से... एक पूर्ण विज्ञानघन परमब्रह्म में स्थित होगा। यह पूरे समयसार का सार। पूरा समयसार, अरे! तीन लोक के नाथ परमात्मा सर्वज्ञ प्रभु की वाणी जो बारह अंग, उससे तो अधिक वाणी होती नहीं, बारह अंग सिवाय। इस बारह अंग का सार यह है। आहाहा! बारह अंग में यह कहा है। आहाहा! तेरा प्रभु पूर्ण शक्ति से भरपूर है। पूर्ण गुण स्वभाववाला है। वाला है, ऐसा कहना भेद है परन्तु गुणस्वरूप ही है। आहाहा! अरे! ऐसी बात।

जो इसमें स्थित होगा, **वह आत्मा, साक्षात् तत्क्षण प्रगट होनेवाला...** आहाहा! **वह आत्मा, साक्षात् तत्क्षण प्रगट होनेवाला एक चैतन्यरस से परिपूर्ण स्वभाव में...** आहाहा! एक चैतन्यरस। कठिन है, प्रभु! साधारण को तो (ऐसा लगे) यह क्या है ऐसा? सुने परन्तु अन्दर रस नहीं आता, अन्दर प्रेम नहीं आता कि यह चीज़ कोई अलौकिक चीज़ अन्दर है। आहाहा! आत्मा अर्थात्?

मुमुक्षु : माहात्म्य आना चाहिए न।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसे माहात्म्य नहीं आया। अन्दर महाप्रभु... आहाहा! अकेला चैतन्यरस से भरपूर भगवान पूर्णानन्द का नाथ विश्व का प्रकाशक। विश्व का कर्ता नहीं। विश्व का कर्ता नहीं तथा कोई चीज़ अनजानी रह जाए, ऐसा नहीं। विश्व का प्रकाशक।

विश्व अर्थात् समस्त पदार्थ का प्रकाशक। आहाहा! यह दिगम्बर सन्तों की वाणी! आहाहा! केवलज्ञान के पथानुगामी हैं। केवलज्ञान के मार्गानुसारी हैं। आहाहा! आहाहा! इसमें कितना गहरा भरा है! आहाहा!

इसमें ऐसा नहीं कहा कि इसे जानकर तू दूसरे को समझाना, ऐसा भी नहीं कहा। तत्त्व को, भाव को जानकर फिर दुनिया को उपदेश करना, ऐसा भी नहीं कहा। क्योंकि उपदेश, वह तो जड़ है। वह तो वाणी होनेवाली हो तो निकलता है। वह कहीं आत्मा का (कार्य नहीं है)। आहाहा! उस उपदेश वाणी का कर्ता आत्मा नहीं है, प्रभु! उसका प्रकाशक है। आहाहा! पहले से ही प्रकाशित करता है। वाणी निकलने पर भी उसे जाननेवाला ही है। आहाहा! ऐसा आत्मा, प्रभु! तूने सुना नहीं और सुना हो तो अन्दर में अभी इसे माहात्म्य आया नहीं। अन्दर में माहात्म्य आकर... आहाहा! भले वह अरूपी है, भले वह वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शरहित अकेला स्वभावभाव ही है परन्तु वस्तु है, अस्ति है, सत् है, उसका अस्तित्व है। आहाहा!

ऐसा पूर्ण प्रभु अस्तित्व है, उसमें स्थिर होगा, वह **साक्षात् तत्क्षण प्रगट होनेवाला...** वापस कैसा? साक्षात् और तत्क्षण। आहाहा! ऐसे प्रभु आत्मा में स्थिर होगा, उसे ऐसा समझने पर, अनुभव होने में देरी लगेगी, ऐसा नहीं है। आहाहा! **तत्क्षण प्रगट होनेवाला...** यह पर्याय हुई। उसका अनुभव होने पर, उसमें स्थिर होने पर। स्थिर होने पर, यह तो पर्याय हुई। पर्याय होने पर हुआ क्या? कि तत्क्षण प्रगट होनेवाला (यह) पर्याय प्रगट हुई। आहाहा!

एक चैतन्यरस से परिपूर्ण स्वभाव में... आहाहा! **एक चैतन्यरस से परिपूर्ण स्वभाव में सुस्थित...** आहाहा! सुस्थित, सु-स्थित अकेला स्थित नहीं। आहाहा! **चैतन्यरस से परिपूर्ण स्वभाव में सुस्थित...** विशेष सु—भले प्रकार से, सु अर्थात् भले प्रकार से, जैसा है वैसा स्थित, ऐसा कहते हैं। आहाहा! सुस्थित अर्थात् जैसा है, वैसा उसमें रहना। आहाहा! अरे! ऐसी बात भी कहाँ है? प्रभु! बाहर की और बाहर की बात में सब गड़बड़ करके मूलभूत बात पड़ी रही और मूलभूत बात भी अलौकिक। उसे समझना भी अलौकिक। वह तत्त्व भी कोई अलौकिक!

मुमुक्षु : उसका फल अलौकिक।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसके फल की बात क्या करना! उस फल की तो यह बात चलती है। आहाहा!

तत्क्षण प्रगट होनेवाला एक चैतन्यरस से परिपूर्ण स्वभाव में सुस्थित... सुस्थित—भले प्रकार से अन्दर अर्थ—वस्तु में **सुस्थित और निराकुल (–आकुलता बिना का) होने से...** आहाहा! अन्तर में सुस्थित अर्थात् बराबर भले प्रकार से स्थित होकर निराकुल अर्थात् आकुलतारहित होने के कारण। आहाहा! **जो (सौख्य) 'परमानन्द' शब्द से वाच्य है,...** आहाहा! जो परमानन्द शब्द से वाच्य है। परमानन्द, यह तो शब्द है परन्तु उसका वाच्य परमानन्द भाव, वह उसका वाच्य है। आहाहा! गजब बात है। भाग्यशाली को तो कान में पड़ती हैं। आहाहा! और उसका प्रेम तथा रस आवे, वह अलौकिक बात है, भाई! यह सब बाहर के थोथा तो सब जड़ है। पुण्य की क्रिया और मन्दिर और प्रतिमा, यह सब बाहर की बातें हैं। आहाहा!

कहते हैं, फल क्या आयेगा? अर्थ और तत्त्व से जानकर सुस्थित, **चैतन्यरस से परिपूर्ण स्वभाव में सुस्थित...** ऐसा कहा न? **वह आत्मा, साक्षात् तत्क्षण प्रगट होनेवाला एक चैतन्यरस से परिपूर्ण स्वभाव में सुस्थित...** आहाहा! एक चैतन्यरस, आनन्दरस, शान्तरस में सुस्थित **निराकुल होने से जो 'परमानन्द' शब्द से वाच्य है,...** आहाहा! उसे प्राप्त करेगा, ऐसा कहेंगे। आहाहा! गजब बात है। यह कहीं बहियों का नामा नहीं है। आहाहा! यह तो भगवान सर्वज्ञ परमात्मा ने कहा हुआ, जाना हुआ और पश्चात् कहा हुआ, ये सन्त उसे अनुभव करके जगत के पास प्रसिद्ध करते हैं। आहाहा! उसे प्रसिद्ध करते हुए कुछ लेना नहीं तथा यह वाणी मैं करता हूँ, ऐसा भी नहीं। आहाहा! वाणी के कारण से वाणी निकलती है। आहाहा! मैं वाणी का भी कर्ता नहीं। समझाने में बहुत विचक्षणता आयी, इसलिए वाणी भी बहुत ऊँची आयी, ऐसा नहीं है। आहाहा! विचक्षणता तो आत्मा में रह गयी और वाणी जड़ है। आहाहा! ऐसा कहाँ मिले? मुम्बई में मिले? आहाहा! ठीक परन्तु ४१५ गाथा के सार में आये। सुमनभाई और पोपटभाई। अन्तिम गाथा का सार यहाँ है, इसमें बराबर आये हैं। तुम्हारे पिता का जन्मदिवस है। आहाहा! यह जन्मदिवस है। आहाहा! यह उत्पत्ति का दिवस है। आहाहा!

तत्क्षण... यहाँ तो कहते हैं, उसे देरी लगे-ऐसा नहीं है। आहाहा! **प्रगट होनेवाला एक चैतन्यरस से परिपूर्ण स्वभाव में सुस्थित और निराकुल (-आकुलता बिना का) होने से जो 'परमानन्द' शब्द से वाच्य है,...** उसके फलरूप से क्या आया, कहते हैं। परमानन्द आया। **'परमानन्द' शब्द से वाच्य है,...** परमानन्द शब्द है, उससे परमानन्द वाच्य है। परमानन्द शब्द वाचक है और परमानन्द है, वह उसका वाच्य है। आहाहा! ऐसी बात! इसमें बाहर में हो...हा... हो...हा... हो। बाहर में महिमा ले और बड़े अधिकारी हो, इसके जाननेवाले और बड़े पण्डित और... आहाहा!

मुमुक्षु : स्वयं को कहाँ जाना है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वयं को जाने बिना पण्डित भी कैसा ? यह पाठ आता है। समकिती, वह शूरवीर और पण्डित है। वह शूरवीर यह है। आहाहा! लाखों लोगों को जीते, वह शूरवीर नहीं। आहाहा! अपना भगवान आत्मा अन्दर... आहाहा! उसमें जो कुछ भले प्रकार से स्थित हो तो उसके फलरूप से परमानन्द जिसका वाच्य है, ऐसा परमानन्द शब्द... आहाहा! **उत्तम है...** और वह परम **आनन्द उत्तम है और अनाकुलता-लक्षणयुक्त है...** आहाहा! **ऐसा सौख्यस्वरूप स्वयं ही हो जाएगा।** स्वयं ही हो जायेगा। प्राप्त करेगा, ऐसा भी नहीं कहा। ऐसे सुख को प्राप्त करेगा, ऐसा भी नहीं कहा। आहाहा! हो जायेगा, स्वयं ही हो जायेगा। आहाहा! **ऐसा सौख्यस्वरूप स्वयं ही हो जाएगा।** आहाहा!

सभी भगवान आत्मायें हैं। बाहर की देह और वह तो जड़ के-पर की है, अन्दर भगवान आत्मा तो सबका समान प्रभु अन्दर है। स्त्री हो, पुरुष हो, बालक हो, ढोर हो या देव हो या नारकी हो या चींटा हो या चींटी हो। आहाहा! अरे! निगोद के जीव हों तो भी वह प्रभु तो अर्थ—महा आनन्द का धरनेवाला-भरनेवाला वह स्वयं है। परन्तु उसमें स्थिर होने का प्रसंग नहीं है। आहाहा! यहाँ कहते हैं, तुझे स्थिर होने का प्रसंग है। आहाहा!

तुझे सुनने को मिलता है। आहाहा! तू यहाँ तक आया है। आहाहा! ऐसी वीतराग की वाणी, सर्वोत्कृष्ट फलदायक और सर्वोत्कृष्ट वाणी तुझे कान में पड़ी, प्रभु! तो अब अन्दर में जा। आहाहा! आहाहा! जहाँ भगवान विराजता है। अरे! कैसे माने ? यहाँ जरा

सब्जी अच्छी आयी हो, वहाँ तन्मय हो जाता है। आहाहा! हलुवा और चूरमा कुछ अच्छा हो, वहाँ तो ऐसा मानो... आहाहा! वह तो मिट्टी-धूल की सब पर्याय है। मिट्टी की-पुद्गल की पर्याय है। उसका तो आत्मा प्रकाशक है, अभी तो ऐसा कहना है। स्व-परप्रकाशक है न? इस अपेक्षा से स्व-परप्रकाशक उसका स्वभाव है। इसलिए उसका—विश्व का प्रकाशक है, ऐसा कहा है। आहाहा!

ऐसा जो अनाकुलता लक्षणवाला है। ऐसा जो सौख्यरूप स्वयं, **ऐसा सौख्यस्वरूप स्वयं ही हो जाएगा।** कहीं से आयेगा नहीं, कहीं से मिलेगा नहीं। आहाहा! वह स्वयं आनन्दरूप है, वह आनन्दरूप हो जायेगा। आहाहा! स्वयं ही हो जायेगा। यह पर्याय हुई। आहाहा! अरे! यह वाणी करोड़ों रुपये देने से भी मिले, ऐसी नहीं है, बापू! वाणी से वस्तु पार है। आहाहा! उसमें अन्दर में बात बैठना, भले पहले विकल्परूप से निर्णय (करे)। आहाहा! वस्तु तो यह ही है तो वीर्य को अन्तर में जाने का अवकाश एक ही रहा। विकल्प से भी निर्णय करे तो वीर्य को राग में जाना और यह करना, यह बात तो निरर्थक हो गयी। आहाहा! उसे अन्तर में जाना, इस एक बात का निर्णय आ गया। इसलिए उसका पुरुषार्थ ही वहाँ ढलने लगा। आहाहा! परन्तु सुनने को मिलता नहीं और सुनने को मिले वे ऐसा बोलते हैं कि यह तो निश्चय की बातें हैं, यह तो बहुत महँगी बातें हैं, यह तो दूर की बात है, यह तो दूर की बात है... अर र! प्रभु! दूर की नहीं, तेरी है, तेरी बात है। आहाहा! गाथा बहुत ऊँची! सार टीका भी गजब किया है न अमृतचन्द्राचार्य ने... आहाहा!

पाठ में यह है न? **'समयपाहुडमिणं पढिदूणं अत्थतच्चदो णादुं'** है न? अर्थ और तत्त्व से जान। अर्थात् द्रव्य और गुण को पर्याय में जान। **'अत्थे ठाही चेदा'** आत्मा को अर्थ में स्थापित कर। **'सो होही उत्तमं सोक्खं'** तो तुझे उत्तम आनन्द प्राप्त होगा। आहाहा! इसकी तो यह टीका है। हिन्दीवालों को कहीं बहुत कठिन भाषा नहीं है। भाषा गुजराती है। कल से सेठ आते हैं तो कदाचित् हिन्दी करना पड़ेगा। सेठ बेचारे मुश्किल से बहुत समय में आते हैं। बारह वर्ष से आये नहीं। छोटा भाई गुजर गया न? अखबार में आया है, अरे! मुझे अकेला छोड़कर चला गया, ऐसा लिखा है। दो भाई हैं। अकेला छोड़कर गया, बापू! अकेला ही है। कौन छोड़कर जाए और कौन रखे? आहाहा!

अनादि-अनन्त अकेला अकेले में रहा है। दोकला हुआ नहीं, दोकले में गया नहीं। आहाहा! और दोकला का रूप इसका नहीं। इसका तो एक... यहाँ आया न? **एक चैतन्यरस...** आया न अन्दर? आहाहा! टीका में बहुत भरा है। आहाहा! **ऐसा सौख्यस्वरूप स्वयं ही हो जाएगा।** पाठ में ऐसा है, **'होही उत्तमं सोक्खं'** होगा उत्तम सुख। **'होही उत्तमं सोक्खं'** आहाहा! उस उत्तम सुख को पायेगा, ऐसा शब्द नहीं लिया, भाई! आहाहा! **'होही उत्तमं सोक्खं'** वह उत्तम सुख होगा। आहाहा! वह स्वयं आनन्दरूप है, उस आनन्दरूप हो जायेगा। आनन्द को पायेगा, ऐसा भी नहीं लिया। आहाहा! गजब टीका है। आहाहा! **'होही'** होगा उत्तम सुख। उत्तम सुख पायेगा, ऐसा नहीं लिया। आहाहा! एक-एक शब्द में अध्यात्म की वाणी है, प्रभु! इसमें बहुत गहरा अध्यात्मरस भरा है। आहाहा!

ऐसा जिसमें उत्तम (सुख) है, परमानन्द शब्द से वाच्य है, परमानन्द शब्द से वह वाच्य है, उत्तम है, अनाकुलता लक्षणवाला है, ऐसे सुखरूप स्वयं ही हो जायेगा। आहाहा! सुननेवाले को सुनते हुए अन्दर प्रेम आवे तो वहाँ अशुद्धता की निर्जरा हो जाये, आहाहा! इतना जोर है। आहाहा! शान्तिभाई! कहीं नहीं, प्रभु! आहाहा! जो है, वह तू है। जहाँ है, वहाँ तू है। जो है, वह तू है। आहाहा! आहाहा! तेरे अतिरिक्त दूसरा कहीं नहीं है, प्रभु! आहाहा!

सम्यग्दृष्टि होने पर, पाँचवाँ गुणस्थान होने पर भी रौद्रध्यान होता है। आहाहा! उसे यहाँ नहीं लिया। आहाहा! यह तो उसका जाननेवाला-प्रकाशक में लिया। आहाहा! आर्तध्यान, रौद्रध्यान, यह राग आदि, विकार आदि आवे... आहाहा! उनका तो यह प्रकाशक है। उनका करनेवाला नहीं, तथा उनका स्वामी नहीं। आहाहा! ऐसी चीज़ जो है... आहाहा!

सौख्यस्वरूप स्वयं ही... 'होही' है न? अर्थात् **'चेदा सो'** वह आत्मा उत्तम सुखरूप परिणम जायेगा। उत्तम आनन्दरूप हो जायेगा। आनन्द तो अन्दर है, उसमें स्थिर हुआ तो आनन्दरूप हो जायेगा। आनन्द कहीं से मिलेगा, ऐसा भी नहीं है। आनन्दरूप परिणम जायेगा, बस! आहाहा! इस ४१५ गाथा और टीका पौन घण्टे चली। आहाहा! फिर कलश है न? भावार्थ है, कलश तो बाद में है।

भावार्थ – इस शास्त्र का नाम समयप्राभृत है। इस शास्त्र का नाम समयसार है, समयप्राभृत है। **समय का अर्थ है पदार्थ अथवा समय अर्थात् आत्मा।** नहीं तो समय अर्थात् तो छहों पदार्थों को, छह द्रव्यों को समय कहा जाता है परन्तु यहाँ समय अर्थात् आत्मा। **उसका कहनेवाला...** आत्मा का कहनेवाला यह शास्त्र है। आहाहा! **यह शास्त्र है।** आहाहा! उसके द्रव्य, गुण और पर्याय के भेद का कहनेवाला... आहाहा! छह द्रव्य का कहनेवाला है, ऐसा कुछ नहीं लिया। आहाहा! समय अर्थात् आत्मा, उसका कहनेवाला है। आहाहा!

और आत्मा तो समस्त पदार्थों का प्रकाशक है। भगवान आत्मा अपनी सत्ता में सबका प्रकाशक, ऐसी उसकी सत्ता का सामर्थ्य है। आहाहा! उसके अस्तित्व का ही इतना सामर्थ्य है। आहाहा! सबको प्रकाशित करे, ऐसा अपना स्वरूप ही ऐसा है। आहाहा! **ऐसे विश्वप्रकाशक आत्मा को कहता हुआ होने से......** ऐसे विश्व अर्थात् समस्त पदार्थों का प्रकाशक, विश्व का प्रकाशक। विश्व का कर्ता और विश्व का स्वामी, यह नहीं। **विश्वप्रकाशक आत्मा को कहता हुआ होने से...**

और आत्मा तो समस्त पदार्थों का प्रकाशक है। आहाहा! **ऐसे विश्वप्रकाशक आत्मा को कहता हुआ होने से...** सभी पदार्थों का जाननेवाला स्वयं भी तत्त्व एक है। आहाहा! **ऐसे विश्वप्रकाशक आत्मा को कहता हुआ होने से...** ऐसा कहा। **यह समयप्राभृत शब्दब्रह्म के समान है;...** जैसे शब्दब्रह्म सर्व व्यापक, आत्मा जैसे सर्व व्यापक कहते हैं, वैसे यह शब्द सर्व व्यापक अर्थात् पूर्ण को बतलानेवाला है। आहाहा! **समयप्राभृत शब्दब्रह्म के समान है;...** आहाहा! शब्दब्रह्म के समान है, ऐसा कहा। क्योंकि वाणी तो वीतराग की है, उसमें से यह सब आया है। आहाहा! इसलिए **यह समयप्राभृत शब्दब्रह्म के समान है;...** ऐसा कहा। आहाहा! शब्दब्रह्म स्वरूप है, ऐसा न कहकर उसके समान है (ऐसा कहा)। आहाहा!

तीन लोक के नाथ की वाणी... आहाहा! उस दिव्यध्वनि में जो प्रकाशक आवे, ऐसा नहीं परन्तु उसके समान है। आहाहा! तीन लोक के नाथ सीमन्धर भगवान प्रभु केवलज्ञानरूप से वर्तमानपने विराजते हैं, उनकी वाणी समान—ऐसा नहीं कहा। परन्तु

समस्त शब्दब्रह्म समान है। शब्दब्रह्म नहीं कहा, शब्दब्रह्म के समान है। आहाहा! मानो कि वीतराग की ही वाणी हो और सर्व को कहनेवाली हो, ऐसे शब्दब्रह्म के समान है। आहाहा!

क्योंकि जो समस्त पदार्थों का कहनेवाला होता है, उसे शब्दब्रह्म कहा जाता है। यह तो दृष्टान्त है, हों! समस्त पदार्थ का कहनेवाला हो, उसे शब्दब्रह्म कहा जाता है। सबको कहे, वह शब्दब्रह्म। पूरा कहे, उसे शब्दब्रह्म (कहते हैं)। पूरे—सर्व को कहे, वह शब्दब्रह्म अर्थात् सर्व स्वरूप। शब्द सर्व स्वरूप। आहाहा! **क्योंकि जो समस्त पदार्थों का कहनेवाला होता है, उसे शब्दब्रह्म कहा जाता है। द्वादशांगशास्त्र शब्दब्रह्म है...** आहाहा! भगवान की वाणी द्वादशांग शास्त्र शब्दब्रह्म समान नहीं परन्तु शब्दब्रह्म है। आहाहा! त्रिलोकनाथ की वाणी शब्दब्रह्म है **और इस समयप्राभृतशास्त्र को भी शब्दब्रह्म की उपमा दी गई है।** उपमा है। आहाहा! इसीलिए समान कहा है। आहाहा! **शब्दब्रह्म की उपमा दी गई है। यह शब्दब्रह्म (अर्थात् समयप्राभृतशास्त्र) परब्रह्म को (अर्थात् शुद्ध परमात्मा को) साक्षात् दिखाता है।** आहाहा! ठीक! यह वस्तु को, तत्त्व को, आत्मा को ही दिखाता है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म लगे परन्तु वस्तु तो यह है। आहाहा! शब्द ही जहाँ बहुत सूक्ष्म लगे, वहाँ उसके वाच्य की क्या बात करना? प्रभु! आहाहा!

द्वादशांगशास्त्र शब्दब्रह्म है और इस समयप्राभृतशास्त्र को भी शब्दब्रह्म की उपमा दी गई है। यह शब्दब्रह्म (अर्थात् समयप्राभृतशास्त्र) परब्रह्म को (अर्थात् शुद्ध परमात्मा को) साक्षात् दिखाता है। आहाहा! जैसे भगवान की वाणी द्वादशांग शब्दब्रह्म होने से आत्मा को दिखलाती है, वैसे यह भी आत्मा को दिखलाता है।

जो इस शास्त्र को पढ़कर... आहाहा! **उसके यथार्थ अर्थ में स्थित होगा,...** अर्थ में स्थिर होगा, हों! ऐसा कहा है। तत्त्व और अर्थ आया था न? अर्थ—पदार्थ और तत्त्व—भाव। यह नहीं परन्तु पदार्थ में स्थिर होगा। आहाहा! **उसके यथार्थ अर्थ में स्थित होगा,...** भाषा क्या है? देखा? **इस शास्त्र को पढ़कर उसके यथार्थ अर्थ में स्थित होगा,...** यथार्थ अर्थ, वह आत्मा पूरा। आहाहा! कह-कहकर कहना यह है कि यह तो परब्रह्म भगवान परमानन्द ध्रुव। आहाहा! **यथार्थ अर्थ में स्थित होगा,...** वह ध्रुव जो भगवान आत्मा। स्थिर होगा, यह पर्याय हुई। स्थिर होगा ध्रुव में। आहाहा! परमब्रह्म...

आहाहा! **उसके यथार्थ अर्थ में स्थित होगा,...** उसके अर्थ में—पदार्थ में—आत्मा में स्थिर होगा। आहाहा! **वह परब्रह्म को प्राप्त करेगा;...** आहाहा! वह परमब्रह्मस्वरूप भगवान आत्मा को प्राप्त करके भव का अन्त आ जायेगा। आहाहा!

और उससे जिसे 'परमानन्द' कहा जाता है... जिसे परमानन्द शब्द में कहा जाता है—**ऐसे उत्तम, स्वात्मिक,...** स्वस्वरूप। **स्वाधीन,...** अपने स्वाधीन—स्व-आधीन। पर के आधीन नहीं। आहाहा! व्यवहाररत्नत्रय, निमित्त के आधीन नहीं। आहाहा! ऐसी बात है परन्तु अब विरोध (करे), सत्य का भी विरोध करते हैं। दुनिया के रस में पड़ा हो, उसे यह रस आना कठिन पड़ता है, इसलिए इस निश्चय की बात को एकान्त निश्चय... निश्चय... निश्चय एकान्त है, (ऐसा कहता है)। इनके शास्त्र भी एकान्त निश्चय है। अरे! भगवान! प्रभु! तू भी सुखी हो। आहाहा! किसी को विपरीतपना न रहे, प्रभु! आहाहा!

आत्मा अन्दर आनन्द का नाथ है, उस आनन्दरूप हो जा। परमब्रह्म को प्राप्त करेगा। जिससे परमानन्द कहा जाता है, ऐसे **स्वात्मिक, स्वाधीन, बाधारहित,...** आहाहा! एक तो स्वात्मिक अर्थात् स्वस्वरूप, वह भी स्वाधीन, बाधारहित यह नास्ति (कहा), **अविनाशी सुख को प्राप्त करेगा।** आहाहा! **इसलिए हे भव्य जीवों!** आहाहा! टीकाकार कहते हैं, **हे भव्य जीवों! तुम अपने कल्याण के लिए...** तुम अपने कल्याण के लिये। दूसरे का कल्याण हो, इसलिए मैं पढ़ूँ और कहूँ, यह रहने दे।

अपने कल्याण के लिए इसका अभ्यास करो,... अपने कल्याण के लिये इसका अभ्यास करो। आहाहा! **इसका श्रवण करो, निरन्तर इसी का स्मरण...** आहाहा! **और ध्यान करो, कि जिससे अविनाशी सुख की प्राप्ति हो। ऐसा श्री गुरुओं का उपदेश है।** आहाहा! (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश - २४६

(अनुष्टुप्)

इतीदमात्मनस्तत्त्वं ज्ञानमात्रमवस्थितम्।
अखण्ड–मेक–मचलं स्वसम्वेद्य–मबाधितम्।।२४६।।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ सर्वविशुद्धज्ञान–प्ररूपक: नवमोऽङ्क:।

अब, इस सर्वविशुद्धज्ञान के अधिकार की पूर्णता का कलशरूप श्लोक कहते हैं–

श्लोकार्थ : [इति इदम् आत्मन: तत्त्वं ज्ञानमात्रम् अवस्तितम्] इस प्रकार यह आत्मा का तत्त्व (अर्थात् परमार्थभूतस्वरूप) ज्ञानमात्र निश्चित हुआ– [अखण्डम्] कि जो (आत्मा का) ज्ञानमात्र तत्त्व अखण्ड है (अर्थात् अनेक ज्ञेयाकारों से और प्रतिपक्षी कर्मों से यद्यपि खण्डखण्ड दिखाई देता है, तथापि ज्ञानमात्र में खण्ड नहीं है), [एकम्] एक है (अर्थात् अखण्ड होने से एकरूप है), [अचलं] अचल है (अर्थात् ज्ञानरूप से चलित नहीं होता–ज्ञेयरूप नहीं होता), [स्वसंवेद्यम्] स्वसंवेद्य है (अर्थात् अपने से ही ज्ञात होनेयोग्य है), [अबाधितम्] और अबाधित है (अर्थात् किसी मिथ्यायुक्ति से बाधा नहीं पाता)।

भावार्थ : यहाँ आत्मा का निज स्वरूप ज्ञान ही कहा है, इसका कारण यह है– आत्मा में अनन्त धर्म हैं; किन्तु उनमें कितने ही तो साधारण हैं, इसलिए वे अतिव्याप्तियुक्त हैं, उनसे आत्मा को पहिचाना नहीं जा सकता; और कुछ (धर्म) पर्यायाश्रित हैं–किसी अवस्था में होते हैं और किसी अवस्था में नहीं होते, इसलिए वे अव्याप्तियुक्त हैं, उनसे भी आत्मा नहीं पहिचाना जा सकता। चेतनता यद्यपि आत्मा का (अतिव्याप्ति और अव्याप्ति रहित) लक्षण है, तथापि वह शक्तिमात्र है, अदृष्ट है; उसकी व्यक्ति दर्शन और ज्ञान है। उस दर्शन और ज्ञान में भी ज्ञान साकार है, प्रगट अनुभवगोचर है; इसलिए उसके द्वारा ही आत्मा पहिचाना जा सकता है। इसलिए यहाँ इस ज्ञान को ही प्रधान करके आत्मा का तत्त्व कहा है।

यहाँ ऐसा नहीं समझना चाहिए कि 'आत्मा को ज्ञानमात्र तत्त्ववाला कहा है,

इसलिए इतना ही परमार्थ है और अन्य धर्म मिथ्या हैं, वे आत्मा में नहीं हैं;' ऐसा सर्वथा एकान्त ग्रहण करने से तो मिथ्यादृष्टित्व आ जाता है, विज्ञानाद्वैतवादी बौद्धों का और वेदान्तियों का मत आ जाता है; इसलिए ऐसा एकान्त बाधासहित है। ऐसे एकान्त अभिप्राय से कोई मुनिव्रत भी पाले और आत्मा का–ज्ञानमात्र का–ध्यान भी करे, तो भी मिथ्यात्व नहीं कट सकता; मन्द कषायों के कारण भले ही स्वर्ग प्राप्त हो जाए किन्तु मोक्ष का साधन तो नहीं होता। इसलिए स्याद्वाद से यथार्थ समझना चाहिए।।२४६।।

(सवैया)

सरवविशुद्धज्ञानरूप सदा चिदानन्द करता न भोगता न परद्रव्यभाव को,
मूरत अमूरत जे आनद्रव्य लोकमांहि ते भी ज्ञानरूप नहीं न्यारे न अभावको;
यहै जानि ज्ञानी जीव आपकूं भजै सदीव ज्ञानरूप सुखतूप आन न लगावको,
कर्म कर्मफलरूप चेतनाकूं दूरि टारि ज्ञानचेतना अभ्यास करे शुद्ध भाव को।

इस प्रकार श्री समयसार की (श्रीमद्‌भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री समयसार परमागम की) श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित आत्मख्याति नामक टीका में सर्वविशुद्धज्ञान का प्ररूपक नवमाँ अंक समाप्त हुआ।

प्रवचन नं. ४६२, श्लोक-२४६ रविवार, भाद्र शुक्ल ५
दिनांक - १४-०९-१९८०

समयसार, इसमें अन्तिम कलश है।

इतीदमात्मनस्तत्त्वं ज्ञानमात्रमवस्थितम्।
अखण्ड-मेक-मचलं स्वसम्वेद्य-मबाधितम्।।२४६।।

आहाहा! यह 'सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार' की पूर्णता का श्लोक है। सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार पूर्ण होता है, उसका अन्तिम श्लोक है। **'इति इदम् आत्मनः तत्त्वं ज्ञानमात्रम् अवस्तितम्' इस प्रकार यह आत्मा का तत्त्व (अर्थात् परमार्थभूतस्वरूप) ज्ञानमात्र निश्चित हुआ...** भगवान आत्मा तो ज्ञान—प्रज्ञास्वरूपमात्र है। नव (तत्त्व में) यह आत्मतत्त्व है। नव तत्त्व में जीव, अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष, यह सब तो पर्याय है और एक अजीव आदि है।

जीव जिसे कहते हैं, वह तो... आहाहा! **आत्मा का तत्त्व (अर्थात् परमार्थभूत-स्वरूप) ज्ञानमात्र निश्चित हुआ...** वह तो ज्ञानस्वरूपी प्रभु है। आत्मा जगत का नेत्र, जगत का देखनेवाला-जाननेवाला है। आहाहा! कुछ करनेवाला नहीं। अपने अतिरिक्त पर का कुछ करता है, ऐसा तीन काल में नहीं है। निश्चय में तो ऐसी बात है कि अपनी पर्याय का भी कर्ता नहीं है, ऐसी बात है, भाई! बहुत सूक्ष्म बात, बापू! आहाहा! पर्याय पर्याय की कर्ता है। यह कहते हैं।

यह आत्मा का तत्त्व... भाव। तत्त्व अर्थात् भाव। **(परमार्थभूतस्वरूप) ज्ञानमात्र निश्चित हुआ...** वह तो ज्ञानस्वरूपी है। किसी का कर्ता नहीं, किसी को पलटाता नहीं, किसी को अपना मानता नहीं, किसी को जाने बिना रहता नहीं। आहाहा! जरा सूक्ष्म बात है, भाई! अनन्त काल हुआ। चौरासी के अवतार में इसने पंच महाव्रत की क्रिया भी अनन्त बार की, ऐसी (क्रिया) अनन्त बार हुई, वह कोई चीज़ नहीं। आहाहा! भगवान तो ज्ञानमात्र है। प्रज्ञास्वरूप, चक्षु—ज्ञानचक्षु है। जगत चक्षु में ज्ञात होने योग्य है, आत्मा ज्ञानचक्षुमात्र आत्मा है। उसकी दृष्टि और अनुभव करना, यही सम्यग्दर्शन और धर्म है। आहाहा! यह चीज़ है।

ज्ञानमात्र निश्चित हुआ- कि जो (आत्मा का) ज्ञानमात्रतत्त्व का अखण्ड है... आहाहा! क्या कहते हैं? सूक्ष्म बात है, प्रभु! यह ज्ञान ज्ञेय को जानता है तो ज्ञेयाकार हुआ, ऐसा नहीं है। आहाहा! ज्ञानमात्र कहा और ज्ञान ज्ञेय को जानता है, तो ज्ञेय को जानने से ज्ञान ज्ञेयाकार हो जाता है, ऐसा है नहीं। आहाहा! ज्ञेय शब्द से पंच परमेष्ठी परमात्मा भी ज्ञेय हैं। आत्मा ज्ञान है और पूरी दुनिया ज्ञेय है। आहाहा! अपना स्वरूप चैतन्यमूर्ति है और विकल्प शुभराग दया, दान, भक्ति के राग से लेकर पूरी दुनिया, पंच परमेष्ठी भी पर और व्यवहार है। आहाहा! लोगों को मूल तत्त्व (समझने में) कठिनाई पड़ती है। सुना नहीं, किया नहीं और करने की दरकार भी नहीं। अनन्त काल ऐसा का ऐसा भटकता-भटकता चला है।

कहते हैं, वह तो अखण्ड है। अखण्ड क्यों कहा? आत्मा—ज्ञान में ज्ञेय ज्ञात होते हैं तो ज्ञान खण्ड (रूप) हो जाता है, ऐसा नहीं है। शशीभाई! आहाहा! क्या कहा? ऐसा

कहा न? आत्मा ज्ञानमात्र है, परन्तु वह ज्ञान अखण्ड है। अनेक ज्ञेयाकारों से... आहाहा! अपने ज्ञानस्वभाव के अतिरिक्त दया, दान, भक्ति के राग से लेकर पंच परमेष्ठी और पूरी दुनिया का ज्ञेयाकार ज्ञान होता है, परन्तु वह ज्ञान ज्ञेयाकार का पराधीन नहीं है। वह ज्ञानाकार ज्ञेयाकार है। आहाहा! ऐसी बात! क्या कहा?

जैसे आँख में—नेत्र में अग्नि दिखाई दे परन्तु अग्नि नेत्र में नहीं है। आहाहा! नेत्र, नेत्र को देखता है और नेत्र अग्नि को देखता है, ऐसा कहना वह भी व्यवहार है। उस अग्नि का ज्ञान होता है तो अग्नि यहाँ ज्ञान में आ जाती है, अग्नि का ज्ञेयाकार यहाँ ज्ञान हो जाता है, ऐसा नहीं है। सेठ! ऐसी बात है, भगवान!

मुमुक्षु : प्रत्यक्ष दिखता है न!

पूज्य गुरुदेवश्री : सेठ तो बोले। प्रत्यक्ष। ऐसी बात है, प्रभु! क्या कहें?

एक आत्मा परद्रव्य को कभी स्पर्शा नहीं। यह सिद्धान्त है। तीसरी गाथा, समयसार की तीसरी गाथा है। एक द्रव्य चैतन्यभगवान कभी कर्म को, राग को, शरीर को, वाणी को, देव-गुरु-शास्त्र को कभी स्पर्शा नहीं, कभी छुआ नहीं, कभी चुम्बन किया नहीं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को चुम्बन, स्पर्श, छूता है नहीं। सेठ! सूक्ष्म बात है, बापू! आहाहा! मार्ग कोई ऐसा है। अभी तो गड़बड़ हो गयी है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि ज्ञानमात्र आत्मा कहा तो ज्ञान ज्ञेय को जानता है या नहीं? ज्ञेय को जानता है, ऐसा कहना वह भी व्यवहार है। वह तो ज्ञान का अपना स्वभाव स्वपरप्रकाशक अपना सत्त्व अपने से है। उस ज्ञेय को जानने से यहाँ ज्ञान हुआ, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी कठिन बात। निवृत्ति कहाँ है? फुरसत नहीं मिलती। जिन्दगी चली जाती है। आहाहा! यह शोभालाल सेठ चले गये। आहाहा! ऐसे प्रत्येक चले जाते हैं, बापू! अभी तो सुनते हैं न! क्षण-क्षण में जो स्थिति है, उसे छोड़कर चला जाता है, चार गति में भटकने। चार गति में भटकने-रुलने जाता है। आहाहा! क्यों?

प्रभु तो ज्ञानमात्र है और ज्ञान पर को जानता है, इस कारण ज्ञान में ज्ञेय जानने के ज्ञेयाकार आये, ऐसा नहीं है। वह ज्ञान ज्ञानाकार से ज्ञेयाकार ज्ञानाकार हुआ है। आहाहा!

ज्ञान ज्ञान ही रहा है और ज्ञान ज्ञानरूप परिणमा है। वह ज्ञेय को जानता है तो ज्ञेयाकाररूप हुआ नहीं। आहाहा!

ज्ञान।'अखण्ड' शब्द का अर्थ चलता है। अखण्ड शब्द है न? उसका अर्थ होता है। क्यों? कि प्रभु ज्ञानस्वरूप चैतन्य है, वह सबको जानता है तो अवश्य। जानता है तो उन परज्ञेयाकाररूप यहाँ खण्ड-खण्ड होता है? अनन्त को जानने से, ज्ञान अनन्त को जानता है तो अनन्त को जानने से ज्ञान में अनन्तता—खण्ड-खण्ड, भंग, भेद हो जाता है? ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात है, प्रभु! आहाहा! यह तो मुद्दे की रकम की बात है। मूल माल की बात है। ऊपर-ऊपर की सब बातें लोगों ने अनन्त बार की है। आहाहा!

अरे! तीन लोक के नाथ परमात्मा की भक्ति अनन्त बार की है। अरे! समवसरण में जहाँ भगवान विराजते हैं। महाविदेहक्षेत्र में कायम समवसरण में तीर्थंकर तो विराजते हैं। वहाँ भी अनन्त बार जन्म धारण किये हैं और अनन्त बार समवसरण में भी गया है। आहाहा! और प्रभु की वाणी भी सुनी है परन्तु अपने चैतन्य सन्मुख देखा नहीं। परसन्मुख से हटा नहीं, स्वसन्मुख में आया नहीं। सेठ! आहाहा! माणेकचन्दजी! समझ में आया? भाषा तो हिन्दी चलती है। आहाहा!

प्रभु! माल ऐसा है। दो बातें की। पूरे सार में ऐसा कहा कि यह भगवान जो आत्मा अन्दर है, वह ज्ञानस्वरूपी ही है। ज्ञानचक्षु—चैतन्यनेत्र, चैतन्यस्वरूप है। एक बात। दूसरी (बात)—चैतन्य है, वह तो स्व और पर दोनों को जानता है। दोनों को जानता है तो दूसरे को जानने से वहाँ खण्ड हो गया? आहाहा! आपने ज्ञानमात्र कहा कि ज्ञानमात्र भगवान आत्मा है। तो ज्ञान का स्व और पर दोनों को जानने का स्वभाव है।'स्वपरप्रकाशक शक्ति हमारी' स्व और पर को जानने की शक्ति तो आत्मा की है तो पर को जाना तो खण्ड-खण्ड हो गया? आहाहा! गजब बात है, प्रभु! इसने कभी किया नहीं, सुना नहीं और बाहर में हो...हा... हो...हा... में जिन्दगी (निकाल डाली)।

दो बातें हुईं। एक तो प्रभु ज्ञानस्वरूप है। राग नहीं, शरीर नहीं, वाणी नहीं, पंच परमेष्ठीस्वरूप यह आत्मा नहीं। आहाहा! हाँ, इस ज्ञानस्वरूप में पंच परमेष्ठीस्वरूप इसकी शक्ति है। उनके कारण से नहीं। अपना स्वभाव ही पंच परमेष्ठीस्वरूप का स्वभाव शक्ति

है। वह शक्ति ज्ञानमात्र आपने कहा तो प्रभु! वह अखण्ड पर को जानता है या नहीं? पर को जानता है तो पर तो अनन्त चीज़ है। अनन्त चीज़ को जानने से ज्ञान में कोई खण्ड, कमी, टुकड़े, भेद होते हैं? कि, नहीं। बात ऐसी है, सेठ!

अभी तो सब क्या चलता है खबर है। यह तो ९१ वर्ष चलते हैं। शरीर को ९१ (वर्ष चलते हैं)। आहाहा! ९०+१। आहाहा! अठारह वर्ष की उम्र से यह (चलता है)। घर की दुकान थी, वहाँ भी मैं तो यह पढ़ता था। अभी बड़ी दुकान है, पालेज में दुकान है। भरुच और वड़ोदरा के बीच पालेज है, वहाँ दुकान है, अभी भी दुकान है। चालीस लाख रुपये हैं, चार लाख की आमदनी है। अभी लड़के हैं। हमारी बुआ का लड़का हिस्सेदार था। यहाँ तो ९१ हुए, दूसरे सब चले गये, लड़के हैं, वे दुकान चलाते हैं। आहाहा! वहाँ भी मैं तो शास्त्र पढ़ता था। दुकान पर भी शास्त्र पढ़ता था, परन्तु श्वेताम्बर के। श्वेताम्बर थे न? पिताजी श्वेताम्बर थे, स्थानकवासी थे। उसमें हमारा जन्म हुआ था। आहाहा!

हम तो महाविदेह में से आये हैं। हम तो भगवान के पास थे, परन्तु अन्त में परिणाम में थोड़ा फेरफार हो गया तो यहाँ काठियावाड़ में जन्म हो गया। ग्यारह मील दूर उमराला है। आहाहा! अरे! यह बात कहाँ है? प्रभु! हमने तो सब व्यापार भी देखा है और हजारों शास्त्र देखे हैं। करोड़ों श्लोक देखे हैं, पूरी जिन्दगी इसमें ही निकाली है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, पूरे शास्त्र का सार ऐसा कहते हैं। अन्तिम श्लोक है न? बाद में परिशिष्ट आयेगा। आहाहा! एक तो तू प्रभु! ज्ञान के अतिरिक्त तू कोई चीज़ है ही नहीं। उस पर की भक्ति के परिणाम आना, वह भी तेरी चीज़ नहीं है। अब ज्ञान में ज्ञात होता है या नहीं? ज्ञान का तो जानने का स्वभाव है, तो जानने का स्वभाव स्व और पर दोनों को जानेगा या नहीं? दोनों को जानता है। दूसरी चीज़ें तो अनन्त हैं, तो अनन्त को जानने से खण्ड हो जाता है या नहीं? आहाहा! तो कहते हैं, नहीं, अखण्ड है। आहाहा! अखण्ड।

जो (आत्मा का) ज्ञानमात्र तत्त्व का अखण्ड है (अर्थात् अनेक ज्ञेयाकारों से...) आहाहा! अरे! पंच परमेष्ठी—अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु को जानने से यहाँ ज्ञेयाकार पर के कारण से हुए हैं, ऐसा नहीं है। आहाहा! है? आया न? **अनेक ज्ञेयाकारों से...)** आहाहा! अनेक ज्ञेयाकारों में तो विकल्प से लेकर पंच परमेष्ठी, छह

द्रव्य और लोकालोक आये। आहाहा! उन्हें जानता है परन्तु जानने पर भी भेद नहीं पड़ता। अनन्त को जानने पर भी भेद, खण्ड नहीं पड़ते, ऐसा इसका अखण्ड स्वभाव है। आहाहा! अरे! कभी दरकार की नहीं। दुनिया की चिन्ता, दुनिया के व्यवसाय और हम व्यवसाय कर सकते हैं, सब चीज़ों को व्यवस्थित रखने में मैं व्यवस्थापक हूँ। आहाहा! मिथ्या भ्रम है। तेरे कारण से दूसरी चीज़ में कोई अवस्था होती है, ऐसा तीन काल में नहीं है। है?

मुमुक्षु : सब व्यवस्थित ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवस्थित ही है, व्यवस्थित ही है। व्यवस्थित की व्यवस्था करना, यह रहता नहीं। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ तो अभी दो शब्द चले हैं। प्रभु! तू ज्ञान है न! तू दूसरी कोई (चीज़) शरीर, वाणी, मन, कर्म, राग, दया, दान, भगवान की भक्ति यह तू नहीं है। यह तो दूसरा तत्त्व है। तब तू तो ज्ञानमात्र है न! ज्ञानमात्र है तो जानने का स्वभाव है या नहीं? तो पर को (जानते हुए) तू पररूप नहीं होता, पररूप तू नहीं होता परन्तु पररूप का ज्ञान तुझमें होता है तो पर के ज्ञेयाकाररूप होने से ज्ञान इतना पराधीन हो जाता है या नहीं? नहीं। उस ज्ञेयाकार के ज्ञानाकार अपना होता है। अपने ज्ञानाकार में वह जानने में आता है, उन ज्ञेयाकार के कारण नहीं। आहाहा! ऐसी बात। अब, धन्धे के कारण निवृत्त कहाँ? आहाहा! जिन्दगी चली जाती है। क्या कहा?

यह तो भगवान की वाणी है। एक शब्द में तो अनन्त भरा है। एक शब्द में तो अनन्त (भरा है)। आहाहा! एक 'जगत' शब्द कहो। जगत—तीन अक्षर है। जगत में तो सारा ब्रह्माण्ड आ गया। आहाहा! इसी प्रकार यहाँ ज्ञान कहने से तेरी पूरी चीज़ अखण्डानन्द आ गयी। और वह भी पर को जानने से, स्वपरप्रकाशक जानने का तेरा स्वभाव होने से पर को जानने से तुझमें एकरूपता छूटकर ज्ञेयाकाररूपता हो जाती है, ऐसा नहीं है। आहाहा! अरे.. रे..! ऐसा उपदेश। बापू! मार्ग तो यह है, प्रभु! अनन्त काल हुआ, इसने कभी वास्तविक तत्त्व की दृष्टि नहीं की। वास्तविक तत्त्व की ओर झुकाव नहीं किया, समीप आया नहीं। इससे दूर ही वर्त रहा है। आहाहा!

यह कहते हैं, **'अखण्डम्' अखण्ड है (अर्थात् अनेक ज्ञेयाकारों से...)**

ज्ञेयाकाररूप नहीं होता, वह ज्ञानाकाररूप से अपने स्वरूप से है। आहाहा! एक बात। **(प्रतिपक्षी कर्मों से यद्यपि खण्डखण्ड दिखाई देता है...)** है? प्रतिपक्ष कर्म से, निमित्त से, राग, द्वेष, मति, श्रुत, अवधि ऐसा खण्ड-खण्ड ज्ञान दिखता है। निमित्त के आधीन (ऐसा दिखता है परन्तु) है स्वयं के कारण से, हों! निमित्त से नहीं। आहाहा! निमित्त से नहीं परन्तु निमित्त के वश से। आहाहा! है? **(प्रतिपक्षी कर्मों से यद्यपि खण्डखण्ड दिखाई देता है, तथापि ज्ञानमात्र में खण्ड नहीं है),...** अन्दर राग और द्वेष, पुण्य और पाप दिखते हैं, अल्पज्ञपना दिखता है, मति-श्रुत आदि अल्पज्ञपना दिखता है। आहाहा! वह अल्पज्ञपना भी तुझमें नहीं है। आहाहा! तेरा तो पूर्ण स्वरूप है। है? **(ज्ञानमात्र में खण्ड नहीं है),...**

एक है... भाषा देखो! अखण्ड के सामने (यह कहा)। पर को जानता है तो तेरे ज्ञान में अनेकता आ गयी, ऐसा नहीं है। सार में सार अन्तिम श्लोक है। आहाहा! कहते हैं कि तू सबको जानता है और कर्म के निमित्त के आधीन तेरी पर्याय में राग-द्वेष आदि दिखते हैं, वे तेरे नहीं हैं। तू तो उनसे भिन्न एकरूप है। आहाहा! अनेक ज्ञेयाकार तो हुआ नहीं परन्तु कर्म के निमित्त से अनेकपना हुआ है, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! यह तो सन्तों की वाणी, दिगम्बर मुनियों की वाणी! वे भगवान के पास गये थे। कुन्दकुन्दाचार्य दो हजार वर्ष पहले, संवत् ४९ में (भगवान के पास गये थे), वहाँ आठ दिन रहे थे। नग्न दिगम्बर मुनि। आहाहा! आठ दिन सुना। बाकी के समय में; भगवान की वाणी तो सवेरे, दोपहर, सायंकाल ऐसे चलती थी, कहीं पूरे दिन नहीं चलती, तो दूसरे समय में दूसरे सन्त-सच्चे मुनि थे, भावलिंगी सन्त श्रुतकेवलियों के निकट कितना ही निर्णय किया। आहाहा! ऐसे ज्ञान की पुष्टि, यथार्थतः लेकर यहाँ आये और आकर यह शास्त्र बनाये। आहाहा! अरे..रे..!

एक है... एक क्यों कहा? **(अखण्ड होने से एकरूप है),...** अनेक को जानने पर भी अनेकरूप नहीं होता। आहाहा! भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप में अनेक को जानने पर भी अनेकरूप नहीं होता, एकरूप ही है। अखण्ड एकरूप है। आहाहा! उसमें खण्ड भी नहीं हुआ, अनेकता भी नहीं हुई। आहाहा! ऐसा प्रभु अन्दर सच्चिदानन्द प्रभु परमात्मस्वरूप विराजमान आत्मा है। आहाहा! उस ओर दृष्टि कभी नहीं की। बाहर में और बाहर में रुक

गया। दिगम्बर साधु हुआ, अट्ठाईस मूलगुण पालन किये, पंच महाव्रत पालन किये, ग्यारह अंग का पठन किया। आहाहा! एक अंग में अठारह हजार पद, एक पद में इक्यावन करोड़ अधिक श्लोक, ऐसा ग्यारह अंग का पठन किया परन्तु आत्मा क्या है ? आनन्दस्वरूप ज्ञान है, उस ओर दृष्टि नहीं की। आहाहा!

यह कहा न ? 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो।' चौदह ब्रह्माण्ड, चौदह राजुलोक है, उसमें जहाँ ग्रीवा है, ग्रीवा; वहाँ ग्रैवेयक है, उसका नाम ग्रैवेयक कहलाता है। नव ग्रैवेयक है। वहाँ भी अनन्त बार उत्पन्न हुआ। दिगम्बर जैन नग्न साधु (हुआ), क्रियाकाण्ड, पंच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण आदि (पालन) करके, परन्तु वह कोई चीज़ नहीं। आहाहा!

भगवान अन्दर ज्ञानस्वरूपी अखण्ड और एक है। **(अखण्ड होने से एकरूप है),...** आहाहा! तीन विशेषण हुए। एक तो ज्ञानस्वरूप है; दूसरा अखण्ड है; तीसरा एक है। आहाहा! चौथा—**अचल है (अर्थात् ज्ञानरूप से चलित नहीं होता...)** ज्ञेय को जानने पर भी ज्ञेयरूप नहीं होता। आहाहा! अचल। **(अर्थात् ज्ञानरूप से चलित नहीं होता...)** इसका अर्थ—तीन लोक के नाथ पंच परमेष्ठी को जानने पर भी उस ज्ञेयरूप आत्मा नहीं होता। अपने ज्ञानरूप ही रहता है। आहाहा! अब ऐसी बात। धर्म के नाम से बाहर में कुछ चलाया है और उसके प्रमुख होकर उसका वापस अनुमोदन दे, पुष्टि दे। आहाहा! यह मार्ग प्रभु का है।

कहते हैं, **अचल है (अर्थात् ज्ञानरूप से चलित नहीं होता...)** ज्ञेय को अपने ज्ञान में अपने अतिरिक्त सबको जानता है, तथापि उस ज्ञेयरूप नहीं होता। आहाहा! दर्पण में... अरीसा कहते हैं न ? शीशा। दर्पण में अग्नि और बर्फ ऐसे दिखते हैं। यहाँ अग्नि और बर्फ हों। वे अग्नि और बर्फ अन्दर नहीं है। बर्फ पिघले तो बर्फ पिघलता हुआ उसमें दिखता है। अग्नि ऐसे-ऐसे होवे तो वहाँ दिखती है। वह दर्पण की अवस्था है। अग्नि और बर्फ के कारण नहीं। वह तो दर्पण की अवस्था है।

उसी प्रकार आत्म भगवान, ज्ञान-दर्पण लोकालोक जाने, वह तो अपनी पर्याय का स्वरूप है। आहाहा! पर को जानने से, दर्पण में अग्नि घुस नहीं गयी। दर्पण कहते हैं न ?

अग्नि और बर्फ उसमें घुस नहीं गये। उसी प्रकार ज्ञान में यह ज्ञेय ज्ञात होते हैं। वास्तव में तो बात बहुत सूक्ष्म, प्रभु! वह (ज्ञेय) ज्ञात नहीं होता। उस प्रकार की जो परज्ञेय की स्थिति है, वह अपने ज्ञान में जानने की ताकत है, उसे जानता है। आहाहा! है?

अचल है न? अचल। **(ज्ञेयरूप नहीं होता),...** है अन्दर? आहाहा! अचल। अचल—ज्ञानरूप से चलित नहीं होता। आहाहा! अपना ज्ञानस्वरूप छोड़कर परज्ञेय को जानता है, उससे ज्ञेयरूप नहीं होता। ज्ञानरूप रहकर जानता है। आहाहा! ज्ञानरूप रहकर ज्ञान को जानता है। आहाहा! अन्तिम श्लोक है न? ४१५ गाथा में पूरा किया। आहाहा! उसमें क्या कहा, इसका अकेला मक्खन है। आहाहा! सुनने में भी महापुण्य हो तो सुनने में आवे, ऐसी बात है। आहाहा!

यह कहते हैं, वह ज्ञेयरूप हुआ नहीं। तब है क्या? पर को जानता है, उसका स्वरूप क्या? अपने को जानता है और पर को जानता है परन्तु यह तो स्व-परप्रकाशक अपनी शक्ति **स्वसंवेद्य है...** देखो! **स्वसंवेद्य है (अर्थात् अपने से ही ज्ञात होनेयोग्य है),...** अपने से ही स्वयं ज्ञात होता है। आहाहा! है? ज्ञानस्वरूप भगवान परज्ञेय को जानता है, इसलिए पर का वेदन हुआ, ऐसा नहीं है। वह स्वसंवेदन है। अपना और पर के ज्ञानस्वरूप वह स्वयं का-अपना स्वरूप है, वह अपने स्वरूप का वेदन करता है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात। अन्तिम श्लोक। सेठ! अन्तिम श्लोक माल-माल है। आहाहा! शोभालालजी बहुत आते थे, प्रेम था, हों! बहुत प्रेम से सुनते थे, यहाँ बहुत रहते थे। देह की स्थिति पूरी हुई।

क्या कहते हैं? कि प्रभु! तू ज्ञानस्वरूप है। उसमें पर ज्ञात होता है तो क्या अन्दर में पर ज्ञात हुआ? नहीं। परसम्बन्धी अपना ज्ञान है, वह ज्ञान ज्ञात हुआ है। अपना स्वभाव स्व-परप्रकाशक है। वह पर है, इसलिए परप्रकाशक है, ऐसा नहीं है। आहाहा! सुमनभाई! ऐसा कहाँ तुम्हारे मुम्बई में भटकने में (मिले)। छह हजार का वेतन और आठ हजार का वेतन मासिक। रामजीभाई के पुत्र हैं। बहुत पन्द्रह-पन्द्रह हजार के वेतनवाले हैं। दलीचन्दभाई का पुत्र है। मुम्बई में है। अरे रे! वह धूल है। उसे अपना मानना, वह तो मिथ्याभ्रम है, मिथ्यात्व है परन्तु वह चीज़ है, इसलिए मुझे उसके सम्बन्धी का ज्ञान हुआ, यह भ्रम है।

वह चीज़ है तो उस चीज़ की अपेक्षा से मुझमें उसका ज्ञान हुआ, यह भी भ्रम है। आहाहा!

मेरे ज्ञान में ताकत मुझमें मुझसे है। स्व-पर जानने की ताकत मेरी मुझसे है और इस कारण से मैं तो स्वसंवेद्य हूँ। है? **स्वसंवेद्य है (अर्थात् अपने से ही ज्ञात होनेयोग्य है),...** आहाहा! स्वसंवेद्य—स्व अर्थात् स्वयं अपने से वेदन करनेवाला है। वह पर का वेदन नहीं है। पर ज्ञेयाकार हुए परन्तु वह तो ज्ञानाकार है, उसका वेदन है; पर का वेदन नहीं। आहाहा! ऐसा तत्त्व है। यह तो दो हजार वर्ष पहले कुन्दकुन्दाचार्य ने बनाया है। आहाहा! वस्तु तो यह है।

आहाहा! स्वसंवेद्य। उस स्व-पर को पूर्ण जानने पर भी पर का वेदन नहीं। आहाहा! अग्नि का ज्ञान होने से ज्ञान में अग्नि का वेदन नहीं होता। इसी प्रकार ज्ञान में लोकालोक जानने से लोकालोक का वेदन नहीं होता। आहाहा! इस प्रकार से वाँचन करना यह भी कठिन पड़ता है। निवृत्ति नहीं होती, वाँचन करे तो कुछ समझे नहीं। एक व्यक्ति कहता था, महाराज! आप इतनी महँगी बात करते हो, मैं तो पन्द्रह दिन में समयसार पढ़ गया। ठीक बापू! यह चीज़ क्या है? आहाहा!

स्वसंवेद्य। यह पर को जानना भी अपने से जानता है। अपने से अपने में रहकर, अपने को जानता है, उसमें वे ज्ञात हो जाते हैं। आहाहा! अपने से अपने में रहकर अपने को जानता है, उसमें पर का ज्ञान अपने से आ जाता है तो अपना ही वेदन है; पर का वेदन नहीं। ज्ञान में पर ज्ञात हुआ, इससे कहीं पर का वेदन है, ऐसा बिल्कुल नहीं है। आहाहा! ऐसी चीज़ है।

स्वसंवेद्य। **अपने से ही...** अपने से ही। 'ही' है। 'ही' (अर्थात्) निश्चय। ज्ञात होता है। **(अपने से ही ज्ञात होनेयोग्य है),...** किसी पर के कारण से या भगवान के कारण से, पंच परमेष्ठी के कारण से... आहाहा! अरे! भगवान की वाणी के कारण से आत्मा ज्ञान होता है? नहीं। ऐसा कहते हैं। आहाहा! **(अपने से ही ज्ञात होनेयोग्य है),...** 'ही' है न? **'स्वसंवेद्यम्'** स्व—अपने से ही। आहाहा! **(अपने से ही ज्ञात होनेयोग्य है),...**

और अबाधित है... उसमें किसी की बाधा नहीं है। **(अर्थात् किसी मिथ्यायुक्ति**

से बाधा नहीं पाता)। यह चीज़ कही, उससे कोई विरुद्ध मिथ्या युक्ति करे, इससे उसमें बाधा नहीं आती। ऐसा कहे कि यह पर को जानता है तो अन्दर पर का जानना आया या नहीं ? ... मिथ्या युक्तिवाले चाहे जो कहो, परन्तु उस अन्तर चीज़ में बाधा नहीं आती। आहाहा! अरे! **(अर्थात् किसी मिथ्यायुक्ति से...)** ज्ञानस्वरूपी भगवान में पर ज्ञात हुआ, इसलिए पर का वेदन है—ऐसा नहीं है और पर का ज्ञात हुआ, इसलिए खण्ड हो गया—ऐसा नहीं है। स्वयं एकरूप, अखण्डरूप रहता है। वह अखण्ड एकरूप रहने से उसमें स्व-पर एकरूप में ज्ञात होते हैं, तथापि अपने को अपना वेदन है। आहाहा!

ऐसी बातें सुनना मुश्किल पड़े। आहाहा! दुनिया में खिंचे हुए हैं। उसमें बाहर की धूल हो, आहाहा! कहा न ? अफ्रीका में गये थे। सात लाख की आबादी में एक लाख तो मोटर। ४५० करोड़पति। नैरोबी २६ दिन गये थे। वहाँ ४५० तो करोड़पति हैं और १५ तो अरबपति। सौ करोड़। धूल है, बापू! आहाहा! एक श्वेताम्बर अरबपति हमारे पास आया था। बहुत छोटी उम्र का था। उसके भाई गुजर गये थे तो आया था। उसने तो ऐसा प्रश्न किया... यहाँ परदेश में हम जिन्दगी में (पहली बार) गये ९१ वर्ष में। लोगों को बहुत प्रेम। उसे कहाँ ऐसा कहना कि तुम्हारी यह सब श्वेताम्बर की बात मिथ्या है। उसने ऐसा प्रश्न पूछा, महाराज! तुम्हारा यह दिगम्बर मण्डल है, वह हमारे मन्दिर में नहीं आता, मन्दिर के दर्शन नहीं करते, कभी मैं देखता नहीं। वहाँ परदेश में उसे क्या कहना ? इतना कहा, भाई! तत्त्वज्ञान ज्ञान होने के पश्चात् व्यवहार कैसा होता है, इसका ख्याल आता है। वहाँ कहाँ दु:ख हो, ऐसा कहना कि, तुम्हारी बात ही (मिथ्या है), श्वेताम्बरमत ही नया निकला है। दिगम्बर में से (निकला है)। वह मत जैन ही नहीं है। मोक्षमार्गप्रकाशक में टोडरमलजी ने पाँचवें अध्याय में कहा है कि वह तो अन्यमत है। आहाहा! ऐसा कहाँ कहना बेचारे को ? उससे तो ऐसा कहा, भाई! तत्त्वदृष्टि—आत्मदृष्टि होने के पश्चात् व्यवहार कैसा होता है, इसकी सच्ची खबर पड़ेगी। पहले तत्त्वज्ञान हुए बिना व्यवहार की खबर नहीं पड़ेगी। वीरचन्दभाई, तुम थे या नहीं ? वह रतिलाल न ? रतिलाल थे, आये थे। फिर मुम्बई में आया था। हम वहाँ से मुम्बई आये थे तो वहाँ भी आया था। परन्तु यह बात कहाँ है ? जैन सम्प्रदाय में पड़े हैं, उन्हें सुनने को मिलती नहीं। आहाहा! वह कब विचार करे और कब अन्दर में रचे और प्रयोग करे ?

यहाँ यह कहते हैं, **(किसी मिथ्यायुक्ति से बाधा नहीं पाता)**। कोई ऐसा कहता है कि यह ज्ञान तो एकान्त है। एकान्त नहीं, प्रभु! सुन तो सही। ज्ञान कहा तो ज्ञान है तो उसमें अस्ति गुण आया, ज्ञान है तो उसमें श्रद्धागुण आया, ज्ञान है तो उसमें स्थिरता करना, वह चारित्रगुण आया। ज्ञान है, उसकी प्रभुता स्वयं से है, इसलिए उसमें प्रभुत्व गुण आया। वह ज्ञान एक ही आया, इसलिए ज्ञान एक ही है, ऐसा नहीं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! अरे रे!

दुनियों में करोड़ोंपति और अरबोंपति (हों)। शास्त्र में तो उसको वरांका कहा है, भिखारी। क्यों?—कि, माँगता है। लाओ... लाओ... लाओ... यह लाओ, यह लाओ। तुझमें अन्दर महाप्रभु विराजता है। अन्दर में अनन्त ज्ञान लक्ष्मी पड़ी है, उसकी ओर तो तेरी नजर नहीं है। जो चीज़ तुझमें नहीं और वह चीज़ आवे तो उसके कारण से आयेगी। उसे माँगता है कि यह लाओ, यह लाओ। (तू) भिखारी है। आहाहा! शास्त्र में वरांका शब्द आता है। वरांका अर्थात् भिखारी, रंक, रंक। रंक है। यह अरबोंपति रंक-भिखारी है। आहाहा! क्यों? अपनी चीज़ की खबर नहीं। अन्दर लक्ष्मी—अनन्त आनन्द भरा है। अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त शान्ति, अनन्त वीतरागता, अनन्त... अनन्त.. अनन्त... तू अनन्त शक्ति का पिण्ड है। आहाहा! उसकी खबर नहीं और बाहर की सब बातें लगायी है।

इसके लिये यहाँ कहते हैं, **(किसी मिथ्यायुक्ति से बाधा नहीं पाता)**। आहाहा! आज पर्यूषण का पहला दिन है, पंचम और फिर रविवार है। आहाहा! सूर्य... सूर्य, रवि। यह मार्ग ऐसा है। आहाहा!

भावार्थ – यहाँ आत्मा का निज स्वरूप ज्ञान ही कहा है... 'ही' शब्द आया न? **यहाँ आत्मा का निज स्वरूप...** अपना स्वरूप **ज्ञान ही कहा है...** तो एक ही ज्ञानस्वरूप ही है, ऐसा है नहीं, यह कहते हैं। अनन्त स्वरूप अन्दर है। **इसका कारण यह है–आत्मा में अनन्त धर्म हैं;...** एक ज्ञान ही है, ऐसा नहीं। आहाहा! आत्मा को ज्ञान ही कहा। प्रज्ञाब्रह्मस्वरूप प्रभु (कहा) तो एक ज्ञानगुण ही है, ऐसा नहीं। आत्मा में तो अनन्त धर्म है, अनन्त गुण है। आहाहा!

अनन्तानन्त शक्तियाँ हैं। अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, जीवत्व, कर्ता, कर्म, करण,

सम्प्रदान, अपादान, प्रभुत्व—ऐसी-ऐसी तो अनन्त शक्तियाँ हैं। अकेला ज्ञानस्वरूप नहीं। आहाहा! उसमें अनन्त धर्म हैं। **किन्तु उनमें कितने ही तो साधारण हैं,...** साधारण अर्थात् क्या? कि अपने में अस्तित्व है, ऐसा अन्य में भी अस्तित्व है। अस्तित्वगुण। तो उस एक गुण से अपना आत्मा भिन्न जानने में नहीं आता। आहाहा! **उनमें कितने ही तो साधारण हैं,...** साधारण समझे? अपने में भी है और दूसरे द्रव्य में भी है। अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व ये (गुण) अपने में भी है, ऐसे परमाणु में भी है। भगवान ने छह द्रव्य कहे हैं तो छहों द्रव्यों में यह हैं तो साधारण हुए। इसलिए इनसे आत्मा ज्ञात नहीं होता। क्योंकि ये तो दूसरे में भी हैं। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! अन्तिम श्लोक है और अकेला मक्खन है। आहाहा!

इसलिए वे अतिव्याप्तियुक्त हैं,... क्या कहा? कि आत्मा में जो अस्तित्वगुण, वस्तुत्वगुण है, ऐसे अनन्त (गुण) हैं, ऐसे दूसरे द्रव्य में भी है, इसलिए वह तो अतिव्याप्तिवाले हो जाते हैं। अपने में भी है और पर में भी है, इससे अतिव्याप्ति हो जाती है। (अपने में) भी है और दूसरे में भी है तो अतिव्याप्ति हो गयी। अकेला अपना आत्मा वहाँ नहीं रहा। आहाहा! अतिव्याप्तिवाले। अतिव्याप्ति समझे? जो गुण अपने में भी है, ऐसा गुण अन्य द्रव्य में भी है, उसे अतिव्याप्ति कहते हैं। अपने में भी है और दूसरे में भी है, वह अतिव्याप्ति अर्थात् दूसरे में भी है। **इसलिए वे अतिव्याप्तियुक्त हैं,...**

उनसे आत्मा को पहिचाना नहीं जा सकता;... क्योंकि अपने में है, ऐसा गुण परमाणु में भी है। परमाणु में भी अस्तित्व है, शरीर में भी अस्तित्व है। उस गुण से अपना आत्मा ज्ञात नहीं होता। आहाहा! समझ में आया? क्या कहते हैं? तुमने ज्ञानमात्र आत्मा कहा तो उसमें दूसरे कोई धर्म है ही नहीं? दूसरे अनन्त (धर्म) हैं, परन्तु कितने ही तो अपने में भी है और पर में भी हैं। तो ऐसे गुण कहने से आत्मा की भिन्नता भासित नहीं होती। इस कारण से ज्ञान को हमने अतिव्याप्ति, अव्याप्ति (दोषरहित) है, ऐसा कहा है। थोड़ी सूक्ष्म बात है। **अतिव्याप्तियुक्त हैं, उनसे आत्मा को पहिचाना नहीं जा सकता;...**

और कुछ (धर्म) पर्यायाश्रित हैं... क्या कहते हैं? कोई धर्म अर्थात् राग, दया, दान, भक्ति यह पर्यायाश्रित आत्मा में है। आहाहा! परन्तु ये त्रिकाली में नहीं हैं। आहाहा!

कुछ (धर्म)... धर्म अर्थात् स्वभाव **पर्यायाश्रित हैं–किसी अवस्था में होते हैं और किसी अवस्था में नहीं होते,...** कौन ? राग, दया, दान संसार अवस्था में होते हैं, सिद्ध अवस्था में नहीं होते, तो यह अव्याप्ति हुई। अकेले आत्मा में हैं, ऐसा नहीं रहा। पर में भी है तो वह अव्याप्ति हुई। आत्मा का अकेला ज्ञानगुण पर से भिन्न ज्ञात नहीं होता। आहाहा! **किसी अवस्था में नहीं होते,...** सिद्ध अवस्था में नहीं होते। आत्मा में पर्याय में संसार में है। यह तो अव्याप्ति हुई। त्रिकाल नहीं व्यापते, उसे अव्याप्ति कहते हैं। त्रिकाल रहे, उसका नाम वस्तु। बाकी यह रागादि तो त्रिकाल नहीं रहते। दया, दान तो संसार में है, सिद्ध में नहीं। इसलिए वह अव्याप्ति है। आहाहा! अव्याप्तियुक्त है।

उनसे भी आत्मा नहीं पहिचाना जा सकता। आहाहा! अपनी पर्याय में— अवस्था में दया, दान, भक्ति आदि के परिणाम हैं परन्तु इनसे आत्मा पहिचाना नहीं जा सकता। इसलिए जो पर्यायाश्रित है, उनका भी यहाँ निषेध किया। आहाहा! है ? **चेतनता यद्यपि आत्मा का...** आहाहा! जरा सूक्ष्म बात है। चेतनता अर्थात् जानन-देखन शक्ति। शक्ति... शक्ति। चेतनता त्रिकाली शक्ति यद्यपि आत्मा में है। **(अतिव्याप्ति और अव्याप्ति रहित) लक्षण है, तथापि वह शक्तिमात्र है,...** आहाहा! यह जरा सूक्ष्म बात है। विशेष आयेगा...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४६३, श्लोक-२४६ सोमवार, भाद्र शुक्ल ६
दिनांक - १५-०९-१९८०

समयसार, यह अन्तिम अधिकार है न? २४६ कलश है न? उसका भावार्थ। भावार्थ में (थोड़ा) चला है, फिर से लेते हैं। जरा सूक्ष्म बात है। **यहाँ आत्मा का निज स्वरूप ज्ञान ही कहा है...** आत्मा का स्वरूप ज्ञान ही, ऐसा कहा न? **'ज्ञान ही'** आत्मा ज्ञानस्वरूप ही है। **आत्मा में अनन्त धर्म हैं; किन्तु उनमें कितने ही तो साधारण हैं,...** अस्तित्व, वस्तुत्व ऐसे जो गुण हैं, वे अपने में भी है और दूसरे में भी हैं। इसलिए उन गुणों से आत्मा का ज्ञान नहीं हो सकता। अपने में भी है और पर में भी है तो इन गुण से अपना ज्ञान नहीं हो सकता। आहाहा! **इसलिए वे अतिव्याप्तियुक्त हैं,...** अस्तित्व, वस्तुत्व अपने में भी है और पर में भी है। थोड़ी सूक्ष्म बात है। आहाहा!

एक ज्ञानस्वरूप है, ऐसा कहने में आता है, उसका कारण क्या? कि उसमें है तो अनन्त धर्म। इतने ऐसे धर्म हैं, असंख्य धर्म हैं। धर्म अर्थात् शक्ति—गुण, जो अपने में भी हैं और पर में भी हैं, इसलिए उन गुण द्वारा अपना ज्ञान नहीं हो सकता। **और कुछ (धर्म) पर्यायाश्रित हैं...** दया, दान, व्रत, भक्ति, यह कहीं आत्मा का स्वभाव नहीं। यह तो पर्यायाश्रित है, कायम रहनेवाले नहीं हैं; इसलिए इनसे भी आत्मा ज्ञात नहीं होता। सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा! **किसी अवस्था में होते हैं...** संसार अवस्था में (होते हैं)। राग और द्वेष, पुण्य और पाप संसार अवस्था में होते हैं। **और किसी अवस्था में नहीं होते,...** सिद्ध अवस्था में नहीं होते। **इसलिए वे अव्याप्तियुक्त हैं,...** वे आत्मा में व्यापते नहीं हैं। त्रिकाल आत्मा में वे नहीं रहते। आहाहा!

आत्मा ज्ञानस्वरूपी कहा, उसका कारण क्या? उसमें है तो अनन्त धर्म, गुण परन्तु कितने ही गुण अपने में भी हैं और पर में भी हैं, इसलिए आत्मा उनसे ज्ञात नहीं होता। कितने ही (धर्म) अपनी पर्याय में है। राग, द्वेष, पुण्य, पाप, वे अपनी पर्याय में भी है परन्तु उनसे भी आत्मा ज्ञात नहीं होता। आहाहा! **उनसे भी आत्मा नहीं पहिचाना जा सकता।** यहाँ तक आया था। जरा सूक्ष्म है।

चेतनता यद्यपि आत्मा का (अतिव्याप्ति और अव्याप्ति रहित) लक्षण है,...

क्या कहते हैं? इस भगवान आत्मा का चेतनपना लक्षण है, वह आत्मा का लक्षण है। **तथापि वह शक्तिमात्र है,...** चेतनता आत्मा में शक्तिमात्र है। आहाहा! अब निर्णय करने की निवृत्ति कहाँ? कितने ही (धर्म) अपने में नहीं, इससे भी ज्ञानमात्र कहा, कितने ही धर्म अपने में भी है और पर में भी है, इससे भी पर से ज्ञात नहीं होता, इसलिए (ज्ञानमात्र) कहा। अब अपने में चेतनता है। आहाहा! है?

चेतनता यद्यपि आत्मा का (अतिव्याप्ति...) अर्थात् दूसरे में है नहीं तथा आत्मा में सदा ही नहीं, ऐसा नहीं। आहाहा! चेतनता आत्मा में सदा ही है। आहाहा! है? **(अतिव्याप्ति और अव्याप्ति रहित) लक्षण है,... चेतनता यद्यपि आत्मा का लक्षण है,...** वह चेतनता अतिव्याप्ति नहीं, पर में नहीं। अव्याप्ति नहीं (अर्थात्) पर्याय में नहीं। अपना स्वभाव त्रिकाल चैतन्यस्वरूप भगवान है। आहाहा!

अब कहते हैं, **तथापि...** आहाहा! ऐसे चैतन्यलक्षण से ज्ञात होता है, ऐसा लक्षण होने पर भी **शक्तिमात्र है,...** चेतनता तो शक्तिमात्र आत्मा में है, प्रगट नहीं है। आहाहा! समझ में आया? सेठ को (समझ में) आया? चेतनता अपना लक्षण है परन्तु वह **शक्तिमात्र है, अदृष्ट है;...** क्या कहते हैं? आत्मा में चेतनता शक्तिमात्र है। वह उसका लक्षण है, उसका विशिष्ट स्वरूप है। तथापि वह चेतनता शक्तिमात्र होने से उससे आत्मा ज्ञात नहीं होता और वह शक्ति अदृष्ट है। शक्ति ज्ञात नहीं होती। आहाहा! **अदृष्ट है;...** ध्रुव है। आहाहा!

उसकी व्यक्ति... चैतन्य शक्ति जो आत्मा का लक्षण है, उस शक्ति की व्यक्ति, उस शक्ति की प्रगटता। आत्मा है चैतन्यस्वरूप भगवान, किसी को करे नहीं, किसी का ले नहीं, किसी को बनावे नहीं। आहाहा! चैतन्य लक्षण। जानना-देखना ऐसा चैतन्य लक्षण त्रिकाली। परन्तु वह त्रिकाली तो अदृष्ट शक्ति है। अब उसकी शक्ति की व्यक्ति (क्या)? चैतन्य शक्ति की व्यक्ति। ऐसे शब्द तो बनियों की पुस्तकों में कहीं आवे नहीं। आहाहा! वकील को आवे नहीं। आहाहा!

भगवान आत्मा ज्ञानमात्र क्यों कहा? उसकी सिद्धि करते हैं। ज्ञानमात्र ही आत्मा है परन्तु वह क्या है? कि ज्ञान शक्तिमात्र है, वह नहीं। त्रिकाली शक्तिमात्र है, वह तो अदृष्ट

है। उस शक्ति से ज्ञात नहीं होता। शक्ति, जो ध्रुव शक्ति चैतन्य आत्मा में है, उससे ज्ञात नहीं होता। ध्रुव, वह तो ध्रुव है। आहाहा! उसकी व्यक्ति, चैतन्य शक्ति की प्रगटता **दर्शन और ज्ञान है।** आहाहा! वह चैतन्यशक्ति जो भगवान आत्मा, उस शक्ति की व्यक्तता अर्थात् प्रगटता बाह्य दर्शन और ज्ञान है। आहाहा! समझ में आया? बनिये को व्यापार के कारण निवृत्ति नहीं मिलती और यह वस्तु ऐसी सूक्ष्म! आहाहा!

उत्पाद का लिया न? भाई! १०२ (गाथा प्रवचनसार में)। उत्पाद, उत्पाद के कारण से है। तथापि वहाँ लिया है, बहिरंग-अन्तरंग संस्कार। निमित्त हो, निमित्त होता है। अपने में अपने काल से होता है। परन्तु यहाँ कहते हैं कि आत्मा किस प्रकार ज्ञात होता है? अस्तित्वगुण आदि से ज्ञात नहीं होता। क्योंकि अस्तित्वगुण तो दूसरे में भी है। राग और द्वेष से ज्ञात नहीं होता, क्योंकि राग और द्वेष त्रिकाली में नहीं है। अब रही चैतन्यशक्ति। आहाहा! परन्तु वह चैतन्यशक्ति तो अदृष्ट है। आहाहा! है?

वह शक्तिमात्र है, अदृष्ट है;... आहाहा! **उसकी व्यक्ति...** उस चैतन्यशक्ति की प्रगटता **दर्शन और ज्ञान है।** आहाहा! दो में भी दर्शन और ज्ञान में भी। प्रगट दर्शन और ज्ञान है। चैतन्यशक्ति जो आत्मा में है, वह उसका लक्षण है परन्तु वह शक्तिरूप है। व्यक्ति-प्रगटता दर्शन और ज्ञान प्रगट है। आहाहा! अब ऐसी बातें।

उस दर्शन और ज्ञान में भी ज्ञान साकार है,... क्या कहते हैं? ज्ञान पदार्थ को जानने की शक्तिवाला है। दर्शन तो, अस्ति 'है' इतना (ग्रहण करता है)। बस! दर्शन तो अस्तिमात्र को जानता है। परन्तु यह ज्ञान है, यह आत्मा ज्ञान है, वह चैतन्यशक्ति की व्यक्तता, यह दर्शन और ज्ञान प्रगट है, उसमें दर्शन से ज्ञात नहीं होता। क्योंकि दर्शन तो अस्तिमात्र (देखता) है। इस ज्ञान से ज्ञात होता है। आहाहा!

ज्ञान साकार है,... साकार अर्थात् स्व और पर को जानने की ताकत है। दर्शन में ताकत नहीं। दर्शन में तो अस्तित्व है, इतना ज्ञात होता है, बस! और ज्ञान में स्व तथा पर, साकार, दोनों को जानने की शक्ति है। समझ में में आया? भाई! इन व्यापारी को समझाना। आहाहा! माणेकचन्दजी! तुम्हारे व्यापार में तो यह आवे नहीं, बापू! आहाहा!

प्रभु आत्मा ज्ञानस्वरूप है, ऐसा अभी तक ४१५ गाथा में कहा गया है। तो ज्ञानमात्र

ही वह है या दूसरे अनन्त गुण हैं ?—कि उसमें अनन्त गुण हैं। परन्तु कितने ही गुण हैं, वे अपने में भी है और पर में भी है। इसलिए पर में भी हैं तो उनसे स्वयं ज्ञात नहीं होता। पर में भी है और अपने में भी है तो उनसे अपनी भिन्नता नहीं जानी जाती। एक बात।

दूसरी बात। इसकी पर्याय में राग-द्वेष है। दया, दान, व्रत, भक्ति (भाव है) परन्तु इसकी तीन काल की अवस्था में नहीं है। संसार अवस्था में है और सिद्ध में नहीं है, इसलिए भी, इस कारण से भी आत्मा ज्ञात नहीं होता। आहाहा! भगवान! जैनमार्ग अलौकिक है। आहाहा!

अब क्या कहते हैं ? शक्ति की व्यक्ति दर्शन और ज्ञान है परन्तु दर्शन और ज्ञान में भी ज्ञान साकार है। साकार का अर्थ ज्ञान स्व और पर को जानने की ताकत रखता है। दर्शन स्व-पर को नहीं जानता। दर्शन तो 'है' इतना दर्शन देखता है। और यह ज्ञान तो स्व-पर का भेद करके जानता है। आहाहा! एक व्यक्ति कहता है, तुम इतनी बात करते हो परन्तु मैं तो पन्द्रह दिन में पूरा समयसार पढ़ गया। सेठ! ऐसा भी (कहनेवाले) मिलते हैं। भाई! पन्द्रह दिन क्या ? इसकी तो एक-एक लाईन... आहाहा! अलौकिक गम्भीर चीज़ है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि शक्ति में से व्यक्ति तो दर्शन, ज्ञान में है परन्तु ज्ञान साकार है। ज्ञान अपने को और पर को जानने की ताकत रखता है। **प्रगट अनुभवगोचर है;...** ज्ञान की पर्याय व्यक्त-प्रगट है। क्या कहा ? आत्मा वस्तु, उसकी चैतन्यशक्ति, उसकी प्रगट अवस्था दर्शन-ज्ञान बाह्य पर्याय, परन्तु दर्शन है, वह तो अस्तिमात्र जानने (देखने) वाला है और यह ज्ञान है, वह तो स्व-पर को जाननेवाला है। मैं यह राग नहीं, मैं ज्ञान हूँ, मैं परिपूर्ण हूँ—ऐसी जानने की ताकत ज्ञान में है। आहाहा! अब ऐसी बातें, इसलिए लोगों को ऐसा लगता है कि सोनगढ़ की बात निश्चय की बात है, वहाँ तो निश्चय की बात है। ऐसा करके उड़ा देते हैं। बाहर की हो..हा, शोभायात्रा निकले और उसमें सेठिया को सामने बैठावे। इसलिए मानो ओहो! क्या किया! धूल भी बाहर में कुछ नहीं है। आहाहा!

प्रभु अन्दर देह में विराजता भगवान आत्मा अस्तित्व, वस्तुत्वगुण से तो पहिचाना नहीं जा सकता। क्योंकि वे पर में भी है। राग, द्वेष, दया, दान से भी नहीं जाना जा सकता।

क्योंकि वह विकार सर्व अवस्था में नहीं है। आत्मा की प्रत्येक अवस्था में नहीं है। सिद्ध में नहीं और संसार में है, इसलिए उससे भी नहीं जाना जा सकता। तीसरी बात यह रही, अब चैतन्यशक्ति रही, परन्तु वह तो शक्ति है। शक्ति तो अदृश्य है, शक्ति ध्रुव है तो उससे भी नहीं जाना जा सकता। अब शक्ति की प्रगटता दो है। चैतन्यशक्ति की प्रगटता दो है— दर्शन और ज्ञान। दो प्रगट है, उसमें दर्शन में जानने की ताकत नहीं है। दर्शन तो 'है' इतना ही (देखता है), बस! और ज्ञान में तो मैं ज्ञान हूँ, परिपूर्ण हूँ, आनन्द हूँ, अनन्त गुणस्वरूप हूँ, दूसरे रूप नहीं, ऐसी ज्ञान में साकार जानने की ताकत है। आहाहा! सेठ! ऐसी बात है, प्रभु! आहाहा! मार्ग ऐसा सूक्ष्म है। लोगों को हाथ आया नहीं और निवृत्ति मिलती नहीं। आहाहा!

प्रगट अनुभवगोचर है;... क्या कहा? जानने की पर्याय तो प्रगट है, व्यक्त है। पर को जानता है न? तो वह जाननेवाली पर्याय प्रगट है, तो वह प्रगट है तो उससे आत्मा ज्ञात होता है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! **प्रगट अनुभवगोचर है; इसलिए...** प्रगट अनुभवगोचर है, इस कारण **उसके द्वारा ही...** उसके द्वारा ही, उसके द्वारा 'ही' **आत्मा पहिचाना जा सकता है।** आहाहा! ज्ञान, जिस ज्ञान में पर ज्ञात होता है, वह ज्ञान स्व को भी जानने की ताकत रखता है। इसलिए वह ज्ञान ही अपने को जानने की ताकत रखता है। दया, दान के विकल्प नहीं; अस्तित्व, वस्तुत्व आदि गुण नहीं; तथा चैतन्यशक्ति भी नहीं। त्रिकाली शक्ति भी नहीं। उसमें से प्रगट दर्शन-ज्ञान है। उसमें भी दर्शन से (पहिचाना) नहीं जा सकता। आहाहा! समझ में आये ऐसा है, प्रभु! भाषा तो सादी है। कभी अभ्यास नहीं किया हो, कुछ दरकार न की हो, ऐसी की ऐसी जिन्दगी चली जाती है। आहाहा!

अनन्त-अनन्त भव किये। चींटी, कौआ, कुत्ता, सूकर, नरक के भव अनन्त (किये)। निगोद, काई के अनन्त भव किये। आहाहा! जिसमें यह जीव है, ऐसे दूसरे स्वीकार न कर सके, ऐसे अनन्त भव किये। काई, लहसुन में जीव है, ऐसा दूसरे कौन माने? ऐसे अनन्त भव किये। आहाहा! क्योंकि अपने आत्मा का इसने अनादर ही किया है। अनेक प्रकार से अनादर किया है। मैं राग हूँ और मैं पुण्य हूँ और मैं पर का कर्ता हूँ, ऐसे अनादर किया है तो ऐसे स्थान में उत्पन्न हुआ कि यह जीव है या नहीं, इसकी स्वीकृति

दूसरे नहीं कर सकते। आहाहा! समझ में आया? यह तो धीर की बात है, शान्ति की बात है। आहाहा!

इसलिए... ज्ञान प्रगट अनुभव में व्यक्त है, प्रगट है **इसलिए उसके द्वारा ही...** उसके द्वारा ही **आत्मा पहिचाना जा सकता है।** आहाहा! आत्मा का अनुभव एक ज्ञान द्वारा ही होता है, दूसरी किसी चीज़ से नहीं। आहाहा! क्रियाकाण्ड तो नहीं, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा तो (नहीं) परन्तु प्रगट दर्शन जो है, प्रगट है; दर्शन और ज्ञान का पिण्ड आत्मा है, उसमें दर्शन का व्यक्त—प्रगट अंश है परन्तु दर्शन के प्रगट अंश में अपने को जानने की ताकत नहीं है। वह तो अस्तिरूप रहे, बस! जाननेवाले ज्ञान की जो प्रगट दशा है, वही अन्तर जानने की ताकत रखती है। क्योंकि वह पर को भी जानती है और उसमें से निकलकर अपने को जानती है, ऐसी शक्ति ज्ञान में है। समझ में आया? आहाहा!

इसलिए... आहाहा! **यहाँ इस ज्ञान को ही...** इस कारण से यहाँ **इस ज्ञान को ही प्रधान करके...** ज्ञान को मुख्य करके **आत्मा का तत्त्व कहा है।** इस कारण से। ज्ञान, वह आत्मा का तत्त्व है-ऐसा क्यों कहा? कि इस कारण से कहा। नहीं तो आत्मा में तो अनन्त धर्म हैं, अनन्त गुण हैं। अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... गुण हैं परन्तु ज्ञान को ही क्यों कहा? कि ज्ञान में स्व-पर जानने की ताकत है। आहाहा! अस्तित्व, वस्तुत्व तो पर में भी है तो उससे अपनी भिन्नता ज्ञात नहीं होती और दया, दान के परिणाम तो विकार है। वे प्रत्येक अवस्था में व्याप्त नहीं हैं। वे सिद्ध में नहीं हैं। इसलिए वे कहीं आत्मा का मूल स्वभाव नहीं है, अत: उससे भी ज्ञात नहीं होता।

अब ज्ञात होता है, ऐसी चैतन्यशक्ति एक है, परन्तु वह शक्ति तो अन्दर ध्रुवरूप है। वह चैतन्यशक्ति अदृष्ट, ध्रुवरूप है तो ध्रुव से ज्ञात नहीं होता। उस चैतन्यशक्ति की प्रगट व्यक्तता बाह्य दर्शन और ज्ञान है। उन दो में दर्शन और ज्ञान प्रगट है, तथापि दर्शन देखने की चीज़ है। मात्र 'है' ऐसा ही जाने, माने। यह आत्मा है और यह उसका ज्ञान लक्षण है, ऐसा भेद दर्शन में नहीं है। दर्शन अर्थात् समकित नहीं; दर्शनोपयोग (की बात है)। जानना-देखना जो उपयोग है, वह दर्शन। यह दर्शन अर्थात् समकित की बात यहाँ नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

इसलिए यहाँ इस ज्ञान को ही... इस ४१५ गाथा में **इस ज्ञान को ही...** जाननस्वभाव जो प्रगट है कि जिस ज्ञान में पर ज्ञात होता है, वह ज्ञान अपनी पर्याय है, तो उस पर्याय से स्वयं ज्ञात हो, ऐसी उसमें ताकत है। आहाहा! क्योंकि ज्ञान साकार है, सविकल्प है। सविकल्प का अर्थ स्व-पर को जानने की ताकत है। दर्शन निर्विकल्प है। स्व-पर को जानने की ताकत दर्शन में नहीं है। यह समकित की बात नहीं है। दर्शनोपयोग, प्रगट दर्शनोपयोग, उसमें जानने की शक्ति नहीं है। आहाहा!

जानने की शक्ति प्रगट ज्ञान में है। वह ज्ञान ही आत्मा है, ऐसा ४१५ गाथा में कहा गया है। आहाहा! प्रभु! तू तो ज्ञानस्वरूप है न! आहाहा! तेरी चीज़ दूसरे में नहीं है, दूसरी चीज़ तुझमें नहीं है। तेरी पर्याय में रागादि हैं, वे भी तुझमें नहीं है। तुझमें चैतन्यशक्ति है परन्तु वह तो ध्रुवरूप है। आहाहा! उसकी प्रगट शक्ति दर्शन और ज्ञान है। परन्तु दर्शन, ज्ञान में दर्शन साकार नहीं है। साकार अर्थात् स्व-पर को जानने की ताकत नहीं है। दर्शन 'है' बस! इतना (देखता है)। ज्ञान में ही ताकत है कि यह राग है और मैं आत्मा हूँ, मैं आनन्द हूँ, मैं शुद्ध चैतन्य हूँ। आहाहा! यह ज्ञान में ही जानने की ताकत है। यह तो एकान्त हो गया। ज्ञान ही आत्मा को जाने, दूसरी किसी चीज़ से आत्मा ज्ञात नहीं होता। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, काम, क्रोध... आहाहा! भगवान की भक्ति और विशाल मन्दिर करोड़ों के बनावे, इसलिए उनसे आत्मा ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। समझ में आया? आहाहा! कितना स्पष्ट किया है! आहाहा!

ज्ञान जो ज्ञात होता है, ज्ञान में भले वर्तमान में आत्मा को जाने नहीं परन्तु ज्ञान में यह चीज़, यह चीज़, यह चीज़ है, ऐसा जिसकी सत्ता में पर ज्ञात होता है, वह ज्ञान सत्ता स्व की है तो स्व को जानने की ताकत है। आहाहा! अब, ऐसा सुने कौन? यह तो ऐसा करो, व्रत करो, तप करो, अपवास करो, मन्दिर बनाओ, विशाल मेला बनाओ और उसमें सेठिया को प्रमुख ठहरावे। आहाहा!

यहाँ तो प्रभु! प्रमुख ज्ञान है कि जो ज्ञान प्रगट पर्याय में है, वह ज्ञान... आहाहा! उसमें लिया है, भाई! प्रवचनसार (में), उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीनों लिये हैं न? तथापि वहाँ बाह्य और अन्तरंग संस्कार लिये हैं। ऐसा कि निमित्त होता है। पर से कुछ होता नहीं परन्तु

वस्तु होती है। प्रवचनसार १०२ गाथा। आहाहा! अपने में ज्ञान से आत्मा ज्ञात हो, तब भले दूसरी चीज़ हो, विकल्प हो, गुरु हो, देव हो, शास्त्र हो परन्तु उनसे ज्ञात नहीं होता। वे तो हैं, वे है।

जानने में आने में तो एक ज्ञान से ही आत्मा ज्ञात होता है। आहाहा! परन्तु कब? कि उस ज्ञान को स्वसन्मुख करे तब। आहाहा! यह तुम्हारे पैसे-बैसे कमाने में यह कभी सुना नहीं हो। यह करो, यह करो और यह करो और यह करो। तीन लाख की धर्मशाला बनायी है। गजब बात है, प्रभु! इतनी थोड़ी लाईन में कितना भरा है! भाग्यशाली को तो कान में पड़े। आहाहा!

प्रभु! तू किस प्रकार से जानने में आ सकता है? तो प्रभु कहते हैं कि तू तेरी ज्ञान की प्रगट पर्याय है, दर्शन भी प्रगट पर्याय है परन्तु उस दर्शन से तू ज्ञात नहीं होता; ज्ञान है, उससे तू ज्ञात होता है। आहाहा! जो ज्ञान की पर्याय परसन्मुख अनादि से झुकती है, उस पर्याय को स्वसन्मुख झुका दे। आहाहा! समझ में आया? बात सूक्ष्म है परन्तु बात सादी भाषा में है। आहाहा! अरे..रे..!

ज्ञान को ही प्रधान करके... देखा? है तो अनन्त धर्म। आत्मा में अनन्त गुण हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, जीवत्व, अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, प्रभुत्व, परमेश्वरत्व... आहाहा! जीवत्व, चिति, दृशि, ज्ञान, सुख, वीर्य, प्रभुत्व, विभुत्व, सर्वदर्शित्व, सर्वज्ञत्व, स्वच्छत्व, प्रकाश, असंकुचितविकासत्व—ऐसी अनन्त शक्तियाँ आत्मा में है। आहाहा! समझ में आया? शक्ति कहो या गुण कहो; गुण कहो या स्वभाव कहो। स्वभाव कहो या उसमें नित्य रहनेवाली ताकत कहो। आहाहा! अरे रे! मूल चीज़ पर कभी आया नहीं। बाहर में चौरासी में भटका-भटक की है। आहाहा!

यहाँ तो एक ही सिद्धान्त बताया है कि ४१५ गाथा में जहाँ हो, वहाँ ज्ञान आत्मा, ज्ञान आत्मा, ज्ञान आत्मा—ऐसा कहा, इसका कारण क्या? आहाहा! इसका कारण यह है कि वह ज्ञान से ज्ञात होता है। अस्तित्व से ज्ञात नहीं होता, राग से ज्ञात नहीं होता, चैतन्यशक्ति—ध्रुव गुण है, उससे ज्ञात नहीं होता। प्रगट पर्याय ज्ञान, दर्शन है परन्तु दर्शन में ज्ञात नहीं होता। क्योंकि उसकी साकार अर्थात् स्व-परप्रकाशक शक्ति नहीं है। आहाहा!

आज पर्यूषण का दिन है। आहाहा! ऐसी चीज़ भगवान सब आत्मा में विराजती है। प्रत्येक भगवान आत्मा में विराजती है। उसे जानने का उपाय क्या? यह लेंगे। उपाय और उपेय दोनों लेंगे। एक समय की पर्याय में, ज्ञानशक्ति तो त्रिकाल है, उसकी प्रगट एक समय की पर्याय में उपाय भी—मोक्ष का मार्ग भी वह ज्ञान की पर्याय है और पूर्ण ज्ञान की पर्याय—उपेय, वह उसका फल है। समझ में आया? आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बात। ऐसा उपदेश।

इसलिए यहाँ इस ज्ञान को ही... जो प्रगट ज्ञान है, जो जानता है। इस पर को जानता कौन है? इस पर को नहीं जानता। अपनी सत्ता में पर सम्बन्धी का ज्ञान होता है, उसे जानता है। क्या कहा? अपनी ज्ञान की पर्याय की जो प्रगट सत्ता है, उसमें यह जानता है, यह जानता है, वह नहीं। क्योंकि वह तो पर है। उस सम्बन्धी अपना ज्ञान अपने को जानता है। आहाहा! **इसलिए यहाँ इस ज्ञान को ही प्रधान करके...** अर्थात् मुख्य कहकर **आत्मा का तत्त्व कहा है।** लो! इस ओर।

यहाँ ऐसा नहीं समझना... है इस ओर? यहाँ ज्ञानमात्र आत्मा कहा तो **ऐसा नहीं समझना चाहिए कि 'आत्मा को ज्ञानमात्र तत्त्ववाला कहा है, इसलिए इतना ही परमार्थ है...** आत्मा एक ज्ञानस्वरूप ही है, दूसरे अनन्त गुण नहीं हैं—ऐसा नहीं समझना। आहाहा! समझ में आया? **यहाँ ऐसा नहीं समझना चाहिए कि 'आत्मा को ज्ञानमात्र तत्त्ववाला कहा है, इसलिए इतना ही परमार्थ है और अन्य धर्म मिथ्या हैं, वे आत्मा में नहीं हैं;'...** आत्मा में आनन्द, शान्ति, स्वच्छता, प्रभुता, ईश्वरता आदि अनन्त गुण हैं। आहाहा! ज्ञानमात्र आत्मा कहने से एकान्त नहीं लेना कि एक ही ज्ञानस्वरूप ही है। अनन्त धर्म हैं। आहाहा! उसके उसमें रहनेवाले। राग-द्वेष नहीं। आहाहा! अस्तित्व, वस्तुत्व, तत्‌रूप, अतत्। तत्‌रूप है, अतत्‌रूप नहीं, पररूप नहीं—ऐसे अनन्त-अनन्त गुण उसमें है। आहाहा!

'आत्मा को ज्ञानमात्र तत्त्ववाला कहा है, इसलिए इतना ही परमार्थ है और अन्य धर्म मिथ्या हैं, वे आत्मा में नहीं हैं;'... आत्मा में अन्य दर्शन, चारित्र, शान्ति, स्वच्छता, प्रभुता, परमेश्वरता अन्दर में भरी है, वह मिथ्या है—वह आत्मा में नहीं है, **ऐसा सर्वथा एकान्त ग्रहण करने से...** ऐसा सर्वथा एक पक्ष ग्रहण करने से तो मिथ्यादृष्टिपना

आता है। आहाहा! भाषा तो सादी है, प्रभु! तू भी अन्दर सादा है। कभी अन्दर दरकार नहीं की। इस धूल के कारण, यह स्त्री और पुत्र और यह पैसा, मकान, हीरा, माणेक और हजीरा। हजीरा अर्थात् यह बड़े मकान। आहाहा! है न मैसूर में? साढ़े तीन करोड़ का एक मकान। साढ़े तीन करोड़ का। आहाहा!

हम अफ्रीका में गये थे न? जिस मकान में उतरे थे, वह एक मकान पन्द्रह लाख का। एक करोड़पति, ऐसे करोड़पति अपने साठ घर में आठ हैं। साठ घर मुमुक्षु के हैं। नैरोबी, अफ्रीका। आठ तो करोड़पति हैं। एक करोड़पति नहीं। ए.. ई.. ! वीरचन्दभाई! मुझे एकान्त में कहा था। जेठाभाई है न? शिहण के हैं। वे जेठाभाई यह... एकान्त में किसी ने मेरे पास (आकर कहा था कि) इन जेठाभाई ने नब्बे लाख का व्यापार किया। एक वर्ष में नब्बे लाख का। तो नब्बे लाख पैदा हुए हैं। ऐसा किसी ने कहा था। नब्बे लाख के व्यापार में नब्बे लाख पैदा हुए। बात सत्य थी। परन्तु दूसरे लोग विरोध करे न! श्वेताम्बर लोग विरोध करे कि यह दिगम्बर लोग इतने अधिक पैसेवाले!

मुमुक्षु : ऐसी बात सुनकर मुँह में पानी आ गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी कहा नहीं, उसके पास कितने हैं, यह तो कहा नहीं। वह तो मेरे पास आकर कहा कि महाराज! सभा में नहीं कहना परन्तु मेरे पास एक करोड़ का तो मकान है और पाँच करोड़, छह करोड़ रुपये है। बहुत सादा मनुष्य। जेठाभाई शिहण के हैं। यहाँ बहुत बार आते हैं। एक करोड़ रुपये का तो मेरे पास मकान है। पाँच करोड़ रुपये हैं परन्तु बाहर में नहीं कहना। श्वेताम्बर लोग द्वेष करेंगे। उन जेठाभाई का भतीजा न? लन्दन में। झवेरचन्द लन्दन में गया है न? वह वाँचन करता है। बहुत प्रसन्नता बताते हैं। यहाँ का वाँचन करके... आहाहा! यह तो क्या चीज़ है! जिन्दगी में कभी सुनी नहीं। कभी दरकार नहीं की, ऐसी यह चीज़। अरे रे! जन्म को सफल करने का पन्थ यह है, बाकी अफल करने के रास्ते तो अनन्त गये। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, आत्मा को ज्ञानमात्र कहा तो अकेला ज्ञानमात्र है, ऐसा नहीं समझना। उसमें अनन्त धर्म हैं। धर्म अर्थात् गुण। अनन्त शक्ति है। **अन्य धर्म मिथ्या हैं, वे आत्मा में नहीं हैं;' ऐसा सर्वथा एकान्त ग्रहण करने से तो मिथ्यादृष्टित्व आ जाता है,...**

यह तो मिथ्यादृष्टि हो जाता है, जैन नहीं रहता। आहाहा! यह क्या कहा? कि ज्ञानमात्र आत्मा है, ऐसा कहा तो ज्ञानमात्र कहने से एक ज्ञानमात्र ही है और दूसरे उसमें अनन्त-अनन्त गुण हैं, वे नहीं हैं—ऐसा नहीं है। यह तो ज्ञान को प्रधान-मुख्य करके कहा है कि जो स्व-पर जानने की ताकत रखता है। जानने की शक्ति, स्व-पर शक्ति हमारी। आहाहा! ज्ञेयशक्ति, स्व-पर शक्ति। स्व-पर जानने की शक्ति मेरे ज्ञान में है। मैं मेरे स्वज्ञेय को भी जानूँ और परज्ञेय को भी जानूँ। यह भी व्यवहार है। पर को जानने का मेरा स्वभाव है, वह मुझमें है, वह मेरे लिये है। मैं मुझे जानूँ और मैं पर को जानूँ, वह मेरा ज्ञान मुझमें, मुझसे, मेरे कारण से है। आहाहा! रुपये के कारण कभी यह सुना नहीं हो। आहाहा!

अरे रे! ऐसा मनुष्यपना चला जाता है। आहाहा! उसमें ऐसी बात! तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव परमेश्वर, अनन्त तीर्थंकरों की यह आवाज है, अनन्त केवली परमात्माओं की यह दिव्यध्वनि है। आहाहा! उसे समझने के लिये प्रभु! पात्रता चाहिए, योग्यता चाहिए। आहाहा! गरज चाहिए, रस चाहिए। आहाहा! अपने अतिरिक्त परचीज़ में रस घट जाना चाहिए। आहाहा!

विज्ञानाद्वैतवादी बौद्धों का... बौद्ध है न? वे एक ही आत्मा मानते हैं, सर्व व्यापक। विज्ञानअद्वैतवादी बौद्धमत है। चीन में है। पूरा चीन बौद्धमत है। अभी चीन देश है न? वह पूरा बौद्धमति है। दूसरे बौद्ध यहाँ बहुत रहते हैं। विज्ञानाद्वैतवादी—अकेला विज्ञान ही पूरी दुनिया में है, दूसरी कोई चीज़ है ही नहीं है, ऐसा मानते हैं। यहाँ ज्ञानमात्र आत्मा को कहा तो फिर बौद्ध जैसा न हो जाए कि विज्ञान एक ही आत्मा है और आत्मा में दूसरे धर्म नहीं है। धर्म अर्थात् गुण। आहाहा!

विज्ञानाद्वैतवादी बौद्धों का और वेदान्तियों का मत आ जाता है;... वेदान्त है न? वह एक ही सर्वव्यापक आत्मा मानता है। वेदान्ती बहुत हैं। सुधरे हुए लोग तो वेदान्त की बातें करे। एक ही आत्मा है, सर्वव्यापक है। आहाहा! **विज्ञानाद्वैतवादी बौद्धों का...** एक ही विज्ञान को मानते हैं और वेदान्त एक ही आत्मा को मानता है। वे अकेले विज्ञान को माने, ये अकेले आत्मा को माने, दूसरा कुछ नहीं। ऐसी बात यहाँ नहीं है।

यहाँ तो ज्ञानमात्र आत्मा कहा परन्तु उसमें अनन्त धर्म आ जाते हैं। किस प्रकार से

आ जाते हैं, यह कहते हैं। आहाहा! **इसलिए ऐसा एकान्त बाधासहित है। ऐसे एकान्त अभिप्राय से कोई मुनिव्रत भी पाले...** आहाहा! दिगम्बर मुनि भी हो जाए **और आत्मा का–ज्ञानमात्र का–ध्यान भी करे,...** आहाहा! ज्ञान आत्मा, अकेला ज्ञानमात्र का ही ध्यान करे **तो भी मिथ्यात्व नहीं कट सकता;...** मिथ्यात्व का नाश नहीं होता। आहाहा! अनन्त संसार का कारण मिथ्यात्व है। मुनिव्रत भी अनन्त बार लिया, शास्त्र ग्यारह अंग अनन्त बार पढ़ा, परन्तु मिथ्यात्व क्या है, उसकी इसने खबर नहीं की। आहाहा! खबर नहीं की तो फिर मिथ्यात्व टाले कहाँ से? आहाहा! ओहो! **मिथ्यात्व नहीं कट सकता;...**

मन्द कषायों के कारण भले ही स्वर्ग प्राप्त हो जाए... कदाचित् राग की मन्दता करके साधु हो जाए तो भले स्वर्ग में जाए। उसमें क्या हुआ? वह तो चार गति है। आहाहा! भटकने का है। देवलोक में जायेगा, वहाँ से फिर तिर्यंच, मनुष्य होकर नरक में नारकी, ढोर होगा। आहाहा! अनन्त अवतार किये हैं। किन्तु **मोक्ष का साधन तो नहीं होता।** ज्ञान एकान्त ही माने कि ज्ञान ही आत्मा है और उसमें अनन्त गुण नहीं है, ऐसा माने तो उसे मोक्ष नहीं होता। भले वह साधु हो जाए, भले वह पंच महाव्रत पालन करे परन्तु मिथ्यादृष्टिपना नहीं टलता।

इसलिए स्याद्वाद से... स्यात् अर्थात् अपेक्षा। ज्ञानमात्र कहा, वह अपेक्षा से कहा है। क्योंकि स्व-पर को जानने की शक्ति रखता है। अनन्त-अनन्त जाने तो भी उसमें राग नहीं होता, ऐसा ज्ञान का स्वभाव है। इस कारण से स्याद्वाद अर्थात् स्यात्—अपेक्षा, वाद अर्थात् कथन। अपेक्षा से कथन है, ऐसा यथार्थ समझना चाहिए। आहाहा! अब अन्तिम श्लोक है।

सरवविशुद्धज्ञानरूप सदा चिदानन्द करता न भोगता न परद्रव्यभाव को,
मूरत अमूरत जे आनद्रव्य लोकमांहि ते भी ज्ञानरूप नहीं न्यारे न अभाव को;
यहै जानि ज्ञानी जीव आपकूं भजै सदीव ज्ञानरूप सुखतूप आन न लगाव को,
कर्म कर्मफलरूप चेतनाकूं दूरि टारि ज्ञानचेतना अभ्यास करे शुद्ध भाव को।

आहाहा! पूरे समयसार का सार डाला है। ४१५ गाथा। यह तो अठारह बार व्याख्यान में वाँचन हो गया है, यह तो उन्नीसवीं बार चलता है। अब परिशिष्ट बाकी है।

सभा में अठारह बार अक्षर-अक्षर का अर्थ करके पढ़ा है। यह उन्नीसवीं बार पढ़ते हैं। उन्नीसवीं बार में यहाँ तक आये, अब परिशिष्ट बाकी है। आहाहा! ४५ वर्ष यहाँ जंगल में हुए। ४५ वर्ष की उम्र में आये थे, शरीर को ९१ चलते हैं। ९० + १। यह धूल... धूल। शरीर-धूल को ९१ चलता है। भगवान तो अनादि-अनन्त है। आहाहा! आत्मा तो अनादि-अनन्त है। उसकी कोई आदि नहीं और अन्त नहीं। आहाहा!

सरवविशुद्धज्ञानरूप सदा चिदानन्द... कैसा है प्रभु आत्मा? प्रत्येक का। सर्वविशुद्धज्ञान। सर्वविशुद्धज्ञानरूप है। निर्मलानन्द प्रभु अन्दर है। **सदा चिदानन्द...** त्रिकाल चिदानन्द, चिद् अर्थात् ज्ञान और आनन्द। आहाहा! वह त्रिकाल ज्ञान और आनन्दरूप है, प्रभु! दो (गुण) मुख्य लिये, ऐसे तो अनन्त (गुण) हैं। **चिदानन्द करता न भोगता...** ऐसा भगवान आत्मा परद्रव्य को करता नहीं, परद्रव्य को भोगता नहीं। आहाहा! वह पैसे को लावे और प्रयोग करे, यह आत्मा में नहीं है, वे परद्रव्य हैं। है? परद्रव्य का नहीं कर्ता। लक्ष्मी कमाता नहीं, कमाता नहीं, रखता नहीं, ब्याज उपजाता नहीं। वह आत्मा में नहीं है। आहाहा!

यह आत्मा चिदानन्द—ज्ञान और आनन्दस्वरूप है। **करता न भोगता...** अपने अतिरिक्त राग, दया, दान का भी कर्ता नहीं और उसका भोक्ता भी नहीं। जो अपनी शाश्वत चीज़ में नहीं, उस चीज़ का वह कर्ता-भोक्ता नहीं। परचीज़ तो भिन्न ही है, शरीर, वाणी, मन तो पर है परन्तु अपने में होनेवाले दया, दान, राग, द्वेष का भी कर्ता और भोक्ता नहीं है। आहाहा! बहुत कठिन बात। पचाना मुश्किल पड़े, बापू!

चार सेर घी पिलाया हुआ मैसूरपाक खाये तो पचाना मुश्किल पड़ता है या नहीं? यह मैसूर... मैसूर को क्या कहते हैं? चार सेर घी, एक सेर आटा। चने का आटा, चार सेर घी पिलाये तो उसे मैसूर कहते हैं और गेहूँ का एक सेर आटा और चार सेर घी पिलाये, उसे शक्करपारा कहते हैं। दोनों चीज़ है। सब देखा है, सब किया है, सब जाना है।

(संवत्) १९८१ में हमारा गढडा में चातुर्मास था। तब पूरे संघ के लिये शक्करपारा बनाये थे। १९८१, कितने वर्ष हुए? शक्करपारा। एक सेर गेहूँ का आटा और चार शेर घी और शक्कर, इसे शक्करपारा कहते हैं। तब तो सस्ता था। मेरी दीक्षा के समय १९ रुपये

का एक मण घी मिलता था। (संवत्) १९७० में दीक्षा ली। १९ रुपये का भैंस का बढ़िया घी। दीक्षा का निश्चित हुआ तो बड़े भाई ने डिब्बे लिये और साढ़े तीन रुपये की एक मण शक्कर। पतरी की, हों! पतरी की। साढ़े तीन रुपये की मण! मेरी दीक्षा (के समय की बात है)। मेरी बड़ी दीक्षा थी। बड़े भाई ने घर में दी थी। घर से प्रीतिभोज किया था, खर्च किया था। आहाहा! वह जमाना (अलग था)। हमारी दीक्षा हुए को ६६ वर्ष हुए। बड़े भाई ने घर से दीक्षा दी थी, घर का खर्च किया था। उस समय १८०० रुपये खर्च किये थे। अभी तीन गुणे होते हैं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, चिदानन्द प्रभु तो कर्ता न भोक्ता। आहाहा! वह शरीर को करता नहीं, वाणी को करता नहीं। स्त्री, पुत्र, पैसे का कर्ता नहीं और भोक्ता नहीं। अरे! राग और द्वेष का कर्ता और भोक्ता नहीं। आहाहा! ऐसा प्रभु चिदानन्द तेरा स्वभाव है। **करता न भोगता न परद्रव्यभाव को,...** परद्रव्य और परद्रव्य के भाव—दो। परद्रव्य का भी कर्ता-भोक्ता नहीं और परद्रव्य के निमित्त से पुण्य और दया, दान के भाव हुए, उस भाव का भी कर्ता-भोक्ता नहीं। आहाहा! ऐसी बात है, सेठ! अरे..रे..! जिन्दगी चली जाती है। ऐसा मनुष्यभव मिला। आत्मा अनादि-अनन्त है, वह तो अनादि-अनन्त है। देह छूट जाएगी तो कहीं तो जाएगा, अवतार तो लेगा। आहाहा! यह देह छूट जायेगी तो उसकी सत्ता तो अनादि-अनन्त है। आहाहा!

करता न भोगता न परद्रव्यभाव को,... परद्रव्य का कर्ता भी नहीं। गजब बात है। पैसा, स्त्री, पुत्र, मकान का आत्मा कर्ता नहीं और उसका भोक्ता भी नहीं। आहाहा! वह तो चिदानन्द प्रभु है। ज्ञान और आनन्दस्वरूप प्रभु अन्दर है। आहाहा! वह परद्रव्य का कर्ता-भोक्ता नहीं। परद्रव्य के भाव, राग और द्वेष, पुण्य और पाप का भी आत्मा कर्ता-भोक्ता नहीं है, प्रभु! आहाहा! अरे! प्रभु! तूने कभी निर्णय नहीं किया। जिन्दगी चली जाती है। आहाहा! एक लाईन में पूरा सार है, पूरे शास्त्र का सार कह दिया। आहाहा!

मूरत अमूरत जे आनद्रव्य लोकमांहि... मूर्तिक यह परमाणु, शरीरादि। अमूर्त धर्मास्ति आदि, धर्मास्ति-अधर्मास्ति आदि। **आनद्रव्य लोकमांहि ते भी ज्ञानरूप नहीं...** वह आत्मा नहीं। आहाहा! वह चीज़ ज्ञानरूप नहीं। **'न्यारे'** प्रभु! तुझसे भिन्न है। भिन्न होने

पर भी **न अभाव को;** आहाहा! भिन्न होने पर भी नहीं, ऐसा नहीं है। परद्रव्य है। आहाहा! है? **न्यारे न अभाव को...** प्रभु! अन्दर चैतन्य से न्यारा शरीर, वाणी, मन, स्त्री, कुटुम्ब **न अभाव को...** नहीं है, ऐसा नहीं है। वस्तु है (परन्तु) भिन्न है। आहाहा! अरे..रे..! ऐसा सुनने को मिलता नहीं। धूल की धाणी में पूरी जिन्दगी मजदूरी करे। बड़ा मजदूर। मजदूर तो सवेरे आठ से बारह तक चार घण्टे काम करे, दोपहर दो से छह। यह मजदूर तो सवेरे से उठे, वह शाम तक (मजदूरी करे)। रात के दस बजे तक।

हमारे पालेज में गाँव में स्थानकवासी साधु आवे। हम तो पहले स्थानकवासी हमारे पिता थे न? मैं तो दुकान छोड़ दूँ। साधु के पास जाना, उनको आहार-पानी सब दूँ। दूसरे रात को आठ बजे फुरसत हो। नहीं तो दस बजे फुरसत हो परन्तु तब साधु गाँव में होवे तो आठ बजे नामा लिखकर फिर जावे। वे साधु कहे, रातडिया आया। दिन में तो सामने देखा नहीं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि **मूरत अमूरत जे आनद्रव्य लोकमांहि ते भी ज्ञानरूप नहीं...** वह ज्ञानरूप नहीं। परमाणु, शरीर, वाणी, ज्ञानरूप नहीं। तथापि **न्यारे न अभाव को...** वह चीज़ नहीं है, ऐसा नहीं है। वह परचीज़ है परन्तु अपने से न्यारी—भिन्न है। विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४६४, श्लोक-२४६, २४७ मंगलवार, भाद्र शुक्ल ७
दिनांक - १६-०९-१९८०

अन्तिम कलश है न? दो लाईन चली है। फिर से। ४१५ गाथा के साररूप लिखा है। **सरवविशुद्धज्ञानरूप...** कैसा है भगवान आत्मा? सर्वविशुद्धिज्ञान। निर्मल पूर्णानन्द। **चिदानन्द करता न भोगता...** वह चिदानन्द—ज्ञान, चिद् अर्थात् ज्ञान और आनन्दस्वरूपी भगवान आत्मा है। वह न **करता न भोगता...** वह परद्रव्य का तो कर्ता-भोक्ता नहीं परन्तु दया, दान, व्रत, भक्ति के जो शुभ परिणाम होते हैं, उनका भी कर्ता-भोक्ता आत्मा नहीं है। सेठ! **करता न भोगता न परद्रव्यभाव को,...** परद्रव्य का कर्ता-भोक्ता नहीं है। आहाहा! और परभाव का कर्ता-भोक्ता नहीं है।

शरीर, वाणी, मन, कर्म और परपदार्थ स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, मकान, पैसा उस परद्रव्य का कर्ता-हर्ता आत्मा नहीं है। आहाहा! तथा उस परद्रव्य के निमित्त से अपने में अपने से जो विकारभाव होता है, पुण्य और पाप, दया और दान, व्रत और भक्ति, काम और क्रोध, उसका भी कर्ता-भोक्ता आत्मा नहीं है। आहाहा! अब ऐसी बात।

मूरत अमूरत जे आनद्रव्य लोकमांहि... मूर्त अर्थात् यह परमाणु आदि जड़। अमूर्त अर्थात् धर्मास्तिकाय आदि पाँच अमूर्तिक द्रव्य हैं। धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश, काल। आहाहा! यह चार अमूर्त है। ये **आनद्रव्य लोकमांहि...** अन्य हैं। जो **ज्ञानरूप नहीं...** वे ज्ञानरूप नहीं हैं। आहाहा! **न्यारे...** वह सब आत्मा से न्यारी चीज़ है, भिन्न चीज़ है, तथापि **न अभाव को;...** तथापि वह चीज़ नहीं है, ऐसा नहीं है। आहाहा! अपने से भिन्न है परन्तु पर से अभाव है, ऐसा नहीं है। परवस्तु है। पर में पररूप से वस्तु है। अपने से न्यारे, **न अभाव को;...** परन्तु अभाव नहीं है। पाँच द्रव्य हैं, राग-द्वेष है परन्तु आत्मा परमार्थ से प्रभु, उनका कर्ता-भोक्ता नहीं है। ऐसा जाने बिना आत्मा का ज्ञान नहीं होता। आत्मज्ञान हुए बिना जन्म-मरण की गाँठ नहीं टूटती। आहाहा!

जन्म-मरण की गाँठ, वह मिथ्यात्व है। आहाहा! जब तक उस पर का कर्ता-भोक्ता होता है और अपने पुण्य-पाप भाव का कर्ता-भोक्ता होता है, तब तक मिथ्यात्वभाव

जो जन्म-मरण का कारण है, उसकी गाँठ नहीं गलती। आहाहा! यहाँ तक तो आया था, कल आया था, कल यहाँ तक आया था।

यहै जानि ज्ञानी जीव... यहै जानि ज्ञानी जीव आपकूं भजै सदीव... आपकूं भजै सदीव... आहाहा! ऐसा जानकर ज्ञानी—धर्मी जीव... है? **आपकूं भजै सदीव...** अपना आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप प्रभु का भजन करे, उसकी दृष्टि, ज्ञान और रमणता करे। आहाहा! वस्तु जरा महँगी है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! **आपकूं भजै सदीव...** आहाहा! भगवान ज्ञान, आनन्दमूर्ति प्रभु का भजन करे अर्थात् एकाग्र हो। आहाहा! उसका स्वीकार करे। राग-द्वेष और परपदार्थ का स्वीकार छोड़कर जिसे जन्म-मरणरहित होना हो, वह अपने को भजे। भगवान को भी नहीं। भाव आता है, शुभभाव आये बिना नहीं रहता परन्तु वह धर्म नहीं है। पंच महाव्रत के परिणाम, भगवान की भक्ति, मन्दिर, यह अनादि की चीज़ है, नयी चीज़ नहीं है। स्वर्ग में भी असंख्य मन्दिर हैं। आहाहा! सातवें द्वीप में बावन मन्दिर हैं, जिसमें १०८ रत्न की प्रतिमायें हैं। सब वस्तु है। इन्द्र भी वहाँ जाते हैं, भक्ति करते हैं परन्तु वह शुभभाव है, धर्म नहीं। वह अशुभ से बचने के लिये, अशुभ से वंचनार्थ, ऐसा पंचास्तिकाय में पाठ है। अशुभ से वंचनार्थ। अथवा कुस्थान में न जाए इस कारण शुभभाव आता है परन्तु वह शुभभाव धर्म नहीं है; पुण्य है। आहाहा!

लोहे की बेड़ी है, वैसे सोने की बेड़ी है, दोनों बेड़ी है। पाप लोहे की बेड़ी है, पुण्य सोने की (बेड़ी है)। लोहे की बेड़ी से सोने की बेड़ी चिकनाहट और वजनदार होने से अधिक घिसावट करती है। पुण्य की मिठास जगत को पवित्रता का अनादर करती है। शुभभाव का प्रेम और मिठास अन्तर आनन्द का नाथ प्रभु है, उसका पुण्य का प्रेमी अनादर करता है। आहाहा! भाव आता है। समकिती को भी आता है।

मुमुक्षु : मुनि को भी आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मुनि को भी आता है। आहाहा! भगवान को वन्दन, पूजा करने का भाव तो आता है परन्तु उसकी मर्यादा पुण्य है, धर्म नहीं। धर्म तो यहाँ **आपकूं भजै सदीव...**

कैसा है स्वयं? **ज्ञानरूप सुखतूप...** है? कैसा है आत्मा? ज्ञानरूप और सुखरूप,

अतीन्द्रिय आनन्दरूप। **आन न लगाव को,...** अन्य किसी चीज़ का लगाव नहीं। आहाहा! अरे! मूल चीज़ सुनने को मिलती नहीं; इसलिए कठिन पड़ती है। प्रेम नहीं आता। वह अनादि का अभ्यास। अशुभ और शुभभाव का अनादि का अभ्यास है। अनन्त बार अशुभभाव किये और अनन्त बार शुभभाव किये। उनका अभ्यास हो गया है। उनकी मिठास में अपने आत्मा का भजन करना रह गया। विकार का भजन करता है। आहाहा!

कैसा है भगवान आत्मा अन्दर? **ज्ञानरूप सुखतूप...** है? ज्ञानरूप है और आनन्दरूप है। **आन न लगाव को,...** उसे अन्य का लगाव है ही नहीं। आहाहा! यह पूरे समयसार का सार। आहाहा! **कर्म कर्मफलरूप चेतनाकूं दूरि टारि...** आहाहा! पुण्य और पाप भाव, वह कर्मचेतना है। कर्मचेतना शब्द से (आशय) जड़ कर्म नहीं। कर्म अर्थात् कार्य। पुण्य और पाप के शुभाशुभभाव, वह कर्म अर्थात् कार्य, इस कार्य अपेक्षा से पुण्य और पाप को कर्मचेतना कहा जाता है और वह कर्मचेतना तथा कर्मफलरूपचेतना—उनमें सुख-दुःख की कल्पना। आहाहा! कर्मचेतना में सुख-दुःख की कल्पना। शुभभाव सुखरूप, अशुभभाव दुःखरूप, ऐसा अनुभव करना, वह मिथ्यादृष्टि का है। आहाहा!

कर्म और कर्मफल। कर्म शब्द से जड़कर्म नहीं, आठ कर्म नहीं। कर्म शब्द से कार्य। पुण्य-पाप के कार्यरूपी कर्मचेतना और उसके हर्ष-शोक का भोगना, वह कर्मफलचेतना। कर्म जड़ नहीं। आहाहा! वह **कर्मफलरूप चेतनाकूं दूरि टारि...** आहाहा! उसे दूर करके, प्रभु! पुण्य और पाप के भाव, वह कर्मचेतना है और उनमें सुख-दुःख की कल्पना, वह कर्मफलचेतना है। आहाहा! उसे दूर करके। वस्तु ऐसी है, बापू! आहाहा!

सब भगवान आत्मा है। आहाहा! क्या कहा? कितने शब्द में रखा है। **कर्म कर्मफलरूप चेतनाकूं दूरि टारि ज्ञानचेतना अभ्यास करे...** आहाहा! मैं तो ज्ञान-जाननेवाला हूँ। यह **ज्ञानचेतना अभ्यास करे शुद्ध भाव को।** यह कर्म पुण्य-पाप और उनका फल जो सुख-दुःख, वह अशुद्ध है, वह मलिन है, मैल है। उसे टालकर। कर्म-कर्मफलचेतना को टालकर। आहाहा! **ज्ञानचेतना अभ्यास करे...** मैं तो ज्ञानस्वरूप, जाननस्वरूप, आनन्दस्वरूप हूँ। उसका अभ्यास करे। **शुद्धभाव को।** आहाहा! शुद्धभाव का अभ्यास करे, वह धर्म है। पुण्य-पाप दोनों अशुद्धभाव हैं, दोनों अधर्म हैं। आहाहा! ऐसी चीज़ कठिन लगती है। पूरे दिन यह बाहर में मिठास ले। आहाहा!

अन्तर में प्रभु! धर्म के नाम से भी कर्मचेतना, पुण्य के भाव दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि, यात्रा आदि शुभभाव है, वह कर्मचेतना है। आहाहा! आता है, परन्तु दृष्टि में से उसे दूर करके, दृष्टि में उसका आदर नहीं करके, ज्ञानचेतना का अभ्यास करे। मैं तो ज्ञान—जाननेवाला हूँ। शुद्धभाव। कर्मचेतना और कर्मफलचेतना अर्थात् कि पुण्य-पाप के भाव और पुण्य-पाप के भाव का फल अशुद्ध है, मैल है, अपवित्र है। उसे दूर करके शुद्धभाव (करे)। आत्मा जो शुद्धस्वरूप त्रिकाली आनन्दस्वरूप है... आहाहा! उसका अभ्यास करे। अन्तर में ज्ञानानन्द में जाने का अभ्यास करे। अन्तर में यह चीज़ है, प्रभु! पूरी ४१५ गाथा का सार। आहाहा!

इस प्रकार श्री समयसार की (श्रीमद्‌भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री समयसार परमागम की) श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित आत्मख्याति नामक टीका में सर्वविशुद्धज्ञान का प्ररूपक नवमाँ अंक समाप्त हुआ। अब इस ओर। अब २४७ श्लोक। श्लोक है न इसके पीछे? अनुष्टुप श्लोक है। परिशिष्ट पढ़ना है परन्तु पहले श्लोक पढ़ने के बाद।

परिशिष्ट

यहाँ तक भगवान कुन्दकुन्दाचार्य की ४१५ गाथाओं का विवेचन टीकाकार श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने किया है, और उस विवेचन में कलशरूप तथा सूचनिकारूप से २४६ काव्य कहे हैं। अब टीकाकार आचार्यदेव विचारते हैं कि – इस शास्त्र में ज्ञान को प्रधान करके आत्मा को ज्ञानमात्र कहते आये हैं, इसलिए कोई यह तर्क करे कि – 'जैनमत तो स्याद्वाद है; तब क्या आत्मा को ज्ञानमात्र कहने से एकान्त नहीं हो जाता? अर्थात् स्याद्वाद के साथ विरोध नहीं आता? और एक ही ज्ञान में उपायतत्त्व तथा उपेयतत्त्व–दोनों कैसे घटित होते हैं?' ऐसे तर्क का निराकरण करने के लिए टीकाकार आचार्यदेव यहाँ सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार के अन्त में परिशिष्ट रूप से कुछ कहते हैं। उसमें प्रथम श्लोक इस प्रकार है–

प्रवचन

यहाँ तक भगवान कुन्दकुन्दाचार्य की ४१५ गाथाओं का विवेचन टीकाकार श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने किया है, और उस विवेचन में कलशरूप तथा सूचनिकारूप से २४६ काव्य कहे हैं। अब टीकाकार आचार्यदेव विचारते हैं कि – इस शास्त्र में ज्ञान को प्रधान करके... इस शास्त्र में ज्ञान, वही आत्मा; ज्ञान वही आत्मा; ज्ञान, वही आत्मा—ऐसा मुख्य करके **आत्मा को ज्ञानमात्र कहते आये हैं, इसलिए कोई यह तर्क करे कि –'जैनमत तो स्याद्वाद है;...** एक ज्ञानमात्र ही क्यों कहा? है या नहीं?

'जैनमत तो स्याद्वाद है; तब क्या आत्मा को ज्ञानमात्र कहने से एकान्त नहीं हो जाता? आत्मा में तो अनन्त धर्म हैं, अनन्त गुण हैं, तो ज्ञानमात्र कहने से एकान्त नहीं हो जाता? **अर्थात् स्याद्वाद के साथ विरोध नहीं आता?** भगवान का मार्ग तो कथंचित् ज्ञान और कथंचित् दर्शन और कथंचित् आनन्द ऐसे अनन्त गुण हैं। आत्मा में एक ज्ञान ही है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

एक ही ज्ञान में उपायतत्त्व... अब एक बात तो यह स्याद्वाद की है कि वस्तु है, वह स्व से है और पर से नहीं। दो बातें कहेंगे। दूसरी बात, **एक ही ज्ञान में उपायतत्त्व तथा उपेयतत्त्व...** आहाहा! ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा की पर्याय में उपायतत्त्व और उपेयतत्त्व। सामान्य तो ध्रुव है, उसमें उपाय-उपेय नहीं है। आहाहा! सामान्य वस्तु त्रिकाली अनादि-अनन्त ध्रुव है। उसमें जो पर्याय—अवस्था—परिणमन होता है, उस पर्याय में दो प्रकार पड़ते हैं। एक उपाय और एक उपेय। एक मार्ग और एक मार्ग का फल। आहाहा! पर्याय में—विशेष में दो भेद। आहाहा! सामान्य तो त्रिकाल है ही, उसमें तो कोई फेरफार नहीं है। और सामान्य, विशेष बिना तीन काल में कभी होता नहीं। आहाहा!

सामान्य अर्थात् ध्रुव। ध्रुव... ध्रुव...! नित्य... नित्य... नित्य... नित्य... नित्य... वह ध्रुवसामान्य है। और उसकी पर्याय—अवस्था—परिणमन—दशा को यहाँ पर्याय कहते हैं। उस पर्याय में दो भेद लेते हैं। आहाहा! आश्रय भले सामान्य का हो। सूक्ष्म बात है परन्तु जो ज्ञान है, वह ज्ञान शुद्ध ध्रुव का आश्रय लेकर जो मोक्ष का मार्ग सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रगट हुआ, वह ज्ञान उपायतत्त्व है, वह उपाय-मार्ग है, वही उपाय है। मोक्ष का यह एक ही उपाय है। आहाहा!

सामान्य कभी अकेला नहीं रहता। कभी तीन काल में सामान्य, विशेष के बिना नहीं होता। यह आयेगा, अभी कहेंगे, नीचे कहेंगे। यहाँ विशेष के दो भेद हैं। आहाहा! क्या (कहा)? नित्य प्रभु ध्रुव, वह तो सामान्य है। उसमें तो कोई मोक्षमार्ग या मोक्ष की कोई पर्याय होती नहीं। पर्याय विशेष है, उसमें दो भाग हैं। ज्ञानस्वरूपी प्रभु त्रिकाल है, उसका जो त्रिकाल ज्ञान है, वह तो ध्रुव है परन्तु वर्तमान उसकी परिणति—पर्याय—अवस्था—दशा है, उसके दो भेद हैं। एक उपायतत्त्व है, एक उपेयतत्त्व है। आहाहा! यह कहेंगे।

जैन के अतिरिक्त ऐसी चीज़ कहीं है नहीं। एक तो प्रत्येक द्रव्य सामान्य-विशेष है, यह बात भी अन्य में नहीं है। वेदान्त सामान्य अकेला कहता है और बौद्ध विशेष अकेला कहता है। यहाँ तो सामान्य-विशेष दोनों कहेंगे। अभी भावार्थ में आयेगा। वस्तु जो है, वह सामान्य कायम रहनेवाली ध्रुव भी है और उसका विशेष पर्याय—अवस्था (भी है)। विचार जो बदलते हैं, वह पर्याय है। उस ज्ञान की पर्याय में दो भेद। राग नहीं, पुण्य नहीं, दया, दान, भक्ति नहीं। आहाहा!

ज्ञानस्वरूपी भगवान, उसकी पर्याय ज्ञान, आनन्द, शान्ति हो, उस पर्याय में दो भेद हैं। एक तो उपाय, त्रिकाली मोक्ष जो उपेय है, त्रिकाली मोक्ष जो उपेय है-फल है, उस उपेय का उपाय यह पर्याय है, द्रव्य नहीं। द्रव्य में कोई उपाय-उपेय होता नहीं। सामान्य द्रव्य में उपाय-उपेय होता नहीं। आहाहा! सूक्ष्म बात है। हीराभाई कहते थे कि, हमारे परिशिष्ट सुनना है, परन्तु चले गये। क्या कहा?

दो बातें ली हैं। एक तो यह कि आत्मा को ज्ञानमात्र कहने से एकान्त नहीं हो जाता। अनन्त धर्म हैं। ज्ञान कहने में तो ज्ञान की मुख्यता है। ज्ञान, दर्शन, आनन्द, अस्तित्व आदि गुण हैं, ऐसे अनन्त गुण हैं। एक बात। और ज्ञानमात्र कहने से पर्याय में दो भेद पड़ते हैं, वे नहीं हैं-ऐसा नहीं है। ज्ञानमात्र ही कहा तो एक ही प्रकार रहता है, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! सामान्य तो एक ही प्रकार से है। ध्रुव एकरूप तो है परन्तु पर्याय भी एकरूप होती है, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। सेठ! यह बात धन्धे के कारण कभी सुनी नहीं। आहाहा! क्या कहा?

भगवान आत्मा त्रिकाली ज्ञानस्वरूपी प्रभु, वह त्रिकाली ज्ञान तो ध्रुव है। उसमें दो भेद नहीं हैं, परन्तु उसकी पर्याय जो अवस्था है, उस अवस्था में दो भेद है। एक उपाय है, एक उपेय है। एक मार्ग है, एक मार्ग का फल है। ऐसी बात है। सेठ! निर्णय करने के लिये निवृत्ति नहीं मिलती। अरे! जिन्दगी चली जाती है। कहाँ उतारा करेगा? प्रभु! देह छूट जाएगी। आत्मा तो अनादि शाश्वत् है। कहीं तो निवास करेगा। जैसे भाव हों, वैसा उतारा होगा। आहाहा! माँस और शराब खाता (पीता) होवे तो नरक में जायेगा। धर्म नहीं करे और माया, पुण्य और पाप करता हो तो पुण्य हो तो स्वर्ग में जायेगा, कोई मनुष्य में जायेगा, पाप होवे तो कोई ढ़ोर में, पशु में जायेगा। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि पुण्य-पाप से भी भिन्न **एक ही ज्ञान में...** है? एक ही ज्ञान। ज्ञानस्वरूपी प्रभु आत्मा, इस **एक ही ज्ञान में उपायतत्त्व तथा उपेयतत्त्व-दोनों कैसे घटित होते हैं?** उपायतत्त्व अर्थात् मोक्ष का मार्ग, यह पर्याय है; द्रव्य नहीं, सामान्य नहीं; विशेष है। मोक्ष का मार्ग विशेष है। विशेष बिना सामान्य तीन काल में कभी नहीं होता। आहाहा! और विशेष सामान्य बिना नहीं होता। यह क्या कहते हैं?

सामान्य अर्थात् त्रिकाल रहनेवाली ध्रुव चीज़। शाश्वत अनादि-अनन्त रहनेवाला

आत्मतत्त्व, वह सामान्य और उसमें पलटा आवे, विचार पलटते हैं और उसके फलरूप से भव मिलते हैं, उनसे दूर एक ज्ञानरूप आत्मा हूँ, ऐसा लक्ष्य करके ज्ञान की पर्याय में सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, यह ज्ञान की पर्याय है, यह उपाय तत्त्व है। आहाहा! क्या कहा? जो ज्ञानस्वरूपी ध्रुव नित्यानन्द है, वह तो ध्रुव है। उसमें तो दो भेद नहीं हैं। अब उसकी पर्याय है, अवस्था है, उत्पाद-व्यय-ध्रुव युक्तं सत्, उसमें ध्रुव तो त्रिकाल है। अब उत्पाद-व्यय जो दशा है, ज्ञान में, ज्ञान की पर्याय में दो भेद हैं। एक ज्ञान उपायरूप है। त्रिकाली ज्ञान का अवलम्बन लेकर, त्रिकाली ज्ञान का विशेष है, वह अवलम्बन लेकर वर्तमान पर्याय है, वह त्रिकाली का अवलम्बन लेकन जो मोक्ष का मार्ग—उपाय उत्पन्न होता है, उसे उपायतत्त्व कहते हैं। आहाहा! और उसका फल जो पूर्ण आता है केवलज्ञान, सिद्धपद—वह उपेय है। वह उपाय का उपेय है, वह मार्ग का फल है। आहाहा! सूक्ष्म पड़े, प्रभु! आहाहा! इसलिए दुनिया को प्रसन्न रखना, दुनिया बाहर से व्यवहार में फँस गयी है। आहाहा! और प्ररूपणा भी ऐसी करे कि दुनिया प्रसन्न रहे। इसमें क्या समझना?

एक तो ऐसा कहते हैं, दो बातें की हैं। इस पूरे शास्त्र में आत्मा को ज्ञानमात्र कहा तो ज्ञानमात्र एक ही ज्ञान है और उसमें दूसरे गुण नहीं हैं, ऐसा नहीं है। यह तो स्याद्वाद से कहा है। अपेक्षा से कहा है कि ज्ञान है, वह पर से नहीं और अपने से है। दो भेद हुए। अन्दर दर्शन है, वह अपने से है और पर से नहीं, ऐसे दो भेद हो गये। इसी तरह प्रत्येक गुण की पर्याय में दो भेद होते हैं। एक तो त्रिकाली आत्मा ध्रुव का अवलम्बन लेने से... आहाहा! निमित्त का और पुण्य-पाप का अवलम्बन छोड़ने से जो अन्दर ज्ञानचेतना उत्पन्न होती है, वह ज्ञानचेतना पर्याय है, वह विशेष है। ध्रुव है, वह त्रिकाली सामान्य है। आहाहा! इसमें निवृत्त कहाँ? ऐसी बातें हैं।

ध्रुव जो त्रिकाली चीज है, वह तो नित्य है, अनादि-अनन्त आत्मा है। उसका विचार पलटता है, बदलता है, श्रद्धा का-ज्ञान का, विचार का, वह पर्याय है। उस पर्याय में भी यहाँ एक ही निर्मल पर्याय लेना है, राग नहीं, कर्मचेतना नहीं। दया, दान, भक्ति, व्रत, पूजा वह तो बन्ध का कारण है। आहाहा!

उपाय और उपेय दोनों **एक ही ज्ञान में...** ज्ञानस्वरूपी प्रभु एक ही है, उसकी पर्याय में **उपायतत्त्व तथा उपेयतत्त्व-दोनों कैसे घटित होते हैं?** ऐसा यहाँ निश्चय

करना है। अन्यमत में ऐसी बात है नहीं। सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव की वाणी में यह आया है। जैन में जन्मे, उन्हें भी सुनने को मिलता नहीं तो कब यह बात अन्दर रुचे और करे?

यहाँ कहते हैं कि, स्याद्वाद से एक ही ज्ञान है, ऐसा नहीं है। अनन्त गुण में एक गुण की प्रधानता से कथन है। दूसरे गुण हैं, यह तो स्यात्—अपेक्षा से कथन है। तथा दूसरी बात, यह ज्ञान जो पर्याय है, ध्रुव नहीं। उसकी जो पर्याय—अवस्था है, उसमें विशेषता है। उस विशेष के दो प्रकार हैं—एक उपाय तत्त्व और एक उपेय तत्त्व। आहाहा! यह ज्ञानस्वरूपी त्रिकाली भगवान के अवलम्बन से, ध्रुव के अवलम्बन से जो ज्ञान की पर्याय, श्रद्धा की पर्याय, आनन्द की पर्याय उत्पन्न होती है, वह मोक्ष का मार्ग उपायतत्त्व है। आहाहा! ऐसी बात है।

एक तत्त्व में तीन प्रकार लिये। एक तो, ज्ञानगुण एक ही है, वही आत्मा है-ऐसा कहते आये हैं, परन्तु एक ज्ञानगुण ही है, ऐसा नहीं है। उसमें तो अनन्त गुण हैं। यह तो ज्ञान की प्रधानता से कथन करते आये हैं। एक बात। तथा एक ज्ञानगुण में दो अवस्था होती है; राग नहीं, दया, दान, व्रत, भक्ति के विकल्प नहीं। आहाहा! वह विकार विशेष दशा है। यह तो अविकारी विशेष दशा है। ज्ञान की पर्याय में जो निर्मल दशा सम्यग्दर्शन आदि उत्पन्न होते हैं, उस ज्ञान की पर्याय को उपायतत्त्व कहते हैं। उपाय, मोक्ष का मार्ग, यह सब एक ही है। आहाहा!

हीराभाई गये, उसे बेचारे को सुनना था परन्तु वाँचन करने गये। चारों ओर से १९५ गाँवों से वाँचन करने भेजो, वाँचन करने भेजो-ऐसा आया है। सेठ! हमारे यहाँ वहाँ से वाँचन करने भेजो, ऐसा १९५ गाँवों से आया है। १९५! इतने तो तैयार नहीं, १३८ गये हैं। १९५ गाँववालों की माँग थी कि यह सनातन जैनतत्त्व सोनगढ़वाले क्या कहते हैं? आहाहा! यह सुनने के लिये दसलक्षणी पर्व में १९५ गाँवों के १९५ पत्र आये हैं परन्तु इतने तो वाँचनकार है नहीं, १३८ गाँव में भेजे हैं, किसी ने भेजे हैं। हमने तो सुना है, हमें कुछ खबर नहीं, हम कहते नहीं। यह तो सुनाते हैं। जतीशभाई हैं या गये? ये हैं। जतीशभाई कल लाये थे। १९५ गाँवों की माँग है परन्तु १३८ गाँवों में भेजे हैं। अधिक लोग नहीं हैं। जतीशभाई कल लाये थे। हम किसी को कहते नहीं कि यहाँ आओ और यहाँ भेजो और

यहाँ जाओ। हम किसी को नहीं कहते। यह दुनिया, दुनिया का करे।

यहाँ कहते हैं, भगवान! शान्ति से सुनो। इस देह में भिन्न भगवान ज्ञानस्वरूपी आत्मा, ऐसा कहते आये हैं तो एक ज्ञानस्वरूपी ही है, ऐसा नहीं है। उसमें अनन्त-अनन्त धर्म है। ज्ञान, दर्शन, आनन्द, शान्ति, स्वच्छत्व, वस्तुत्व, प्रभुता, ऐसे अनन्त-अनन्त गुण हैं। एक बात यह। यह स्याद्वाद है। अपेक्षा से एक गुण कहा, परन्तु दूसरे भी अनन्त गुण हैं।

दूसरी बात—जो ज्ञानस्वरूपी भगवान त्रिकाल है, उसके विशेष प्रकार बिना तो कभी तीन काल में सामान्य होता ही नहीं, तो वह विशेष जो पर्याय है, उसके दो भेद हैं। एक मोक्ष के मार्ग की अपूर्ण पर्याय, उसे उपायतत्त्व कहते हैं। आहाहा! और उसके फल को उपेयतत्त्व—मोक्ष कहते हैं। मोक्ष के मार्ग को उपायतत्त्व और मोक्ष को उपेयतत्त्व (कहते हैं)। उपेय—फल, यह दोनों एक आत्मा की अवस्था में दोनों होते हैं। आहाहा! कोई ऐसा कहता है कि अकेला सामान्य है तो वह भी मिथ्यादृष्टि है। अकेला विशेष है, (ऐसा कहे), वह भी मिथ्यादृष्टि है। विशेष में भी दो प्रकार हैं। आहाहा! है तो अनन्त प्रकार। प्रत्येक पर्याय में भिन्न-भिन्न, भिन्न-भिन्न, परन्तु जो पर्याय-अवस्था अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप के अवलम्बन से जो प्रगट अवस्था होती है, उसे ज्ञान की पर्याय—आत्मा की पर्याय, उपाय तत्त्व—मोक्ष का मार्ग, उसको कहा जाता है। पर्याय में—विशेष में दो भेद। समझ में आया? और जो विशेष मानते नहीं, उन्हें तो मोक्षमार्ग भी नहीं है और मोक्ष भी नहीं है, एक भी नहीं है। आहाहा!

वेदान्त अकेला सामान्य मानता है। यहाँ तो किसी भी समय में विशेष बिना आत्मा नहीं होता और किसी भी समय में सामान्य बिना वह नहीं होता। आहाहा! सामान्य और विशेष अर्थात् क्या? कायम रहनेवाली चीज़ को सामान्य कहते हैं और पलटती अवस्था को विशेष कहते हैं, उपाय कहते हैं। आहाहा! ऐसा उपदेश। अरे..रे..! सुनने को मिलता नहीं। एकान्त ले जाये।

यह कहते हैं, **एक ही ज्ञान में उपायतत्त्व तथा उपेयतत्त्व-दोनों कैसे घटित होते हैं?' ऐसे तर्क का निराकरण करने के लिए टीकाकार आचार्यदेव (अमृतचन्द्राचार्य) यहाँ सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार के अन्त में परिशिष्ट रूप से कुछ कहते हैं।** अन्तिम अधिकार कहते हैं। **उसमें प्रथम श्लोक इस प्रकार है–** ऊपर है, २४७ (कलश)।

कलश - २४७

(अनुष्टुप्)

अत्र स्याद्वादशुद्ध्यर्थं वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिः।
उपायोपेय-भावश्च मनाग्भूयोऽपि चिन्त्यते।।२४७।।

श्लोकार्थ : [अत्र] यहाँ [स्याद्वाद-शुद्धि-अर्थं] स्याद्वाद को शुद्धि के लिये [वस्तु-तत्त्व-व्यवस्थितिः] वस्तुतत्त्व की व्यवस्था [च] और [उपाय-उपेय-भावः] (एक ही ज्ञान में उपाय-उपेयत्त्व कैसे घटित होता है, यह बतलाने के लिए) उपाय-उपेयभाव का [मनाक् भूयः अपि] जरा फिर से भी [चिन्त्यते] विचार करते हैं।

भावार्थ : वस्तु का स्वरूप सामान्यविशेषात्मक अनेक-धर्मस्वरूप होने से वह स्याद्वाद से ही सिद्ध किया जा सकता है। इस प्रकार स्याद्वाद की शुद्धता (-प्रमाणिकता, सत्यता, निर्दोषता, निर्मलता, अद्वितीयता) सिद्ध करने के लिए इस परिशिष्ट में वस्तुस्वरूप का विचार किया जाता है। (इसमें यह भी बताया जाएगा कि इस शास्त्र में आत्मा को ज्ञानमात्र कहा है, फिर भी स्याद्वाद के साथ विरोध नहीं आता।) और दूसरे, एक ही ज्ञान में साधकत्त्व तथा साध्यत्त्व कैसे बन सकता है, यह समझाने के लिए ज्ञान का उपाय-उपेयभाव अर्थात् साधकसाध्यभाव भी इस परिशिष्ट में विचार किया जावेगा।।२४७।।

कलश-२४७ पर प्रवचन

आहाहा! इसका गुजराती नहीं इसमें। कलश है ? श्लोकार्थ। है ?

अत्र स्याद्वादशुद्ध्यर्थं वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिः।
उपायोपेय-भावश्च मनाग्भूयोऽपि चिन्त्यते।।२४७।।

श्लोकार्थ – यहाँ स्याद्वाद को शुद्धि के लिये... स्याद्वाद अर्थात् अपेक्षा की शुद्धि के लिये अकेला ज्ञान ही है, उसमें आनन्दादि अनन्त गुण नहीं है, ऐसा जो (कहते हैं), उसकी शुद्धि के लिये (कहते हैं), अनन्त गुण हैं। एक ज्ञानमात्र कहा परन्तु उसमें अनन्त गुण हैं। इस **स्याद्वाद को शुद्धि के लिये 'वस्तु-तत्त्व-व्यवस्थितिः' वस्तुतत्त्व**

की व्यवस्था... एक (बात) और दूसरी **'उपाय-उपेय-भाव:' (एक ही ज्ञान में उपाय-उपेयत्त्व कैसे घटित होता है...)** आहाहा! पर्याय है, आत्मा की ज्ञान की पर्याय है, उस पर्याय में दो भाव किस प्रकार घटित होते हैं? समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई!

त्रिकाली चीज़ है, ध्रुव नित्यानन्द प्रभु, वह तो ध्रुव है, वह तो सामान्य है, उसमें भेद नहीं। अब पर्याय विशेष अवस्था है, उसमें दो भेद हैं। यहाँ रागादि की बात नहीं है। व्यवहाररत्नत्रय भी मोक्षमार्ग में है, यह बात तो है ही नहीं। आहाहा! एक ज्ञानस्वरूपी भगवान, ज्ञानरूप परिणमन करे, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय है, वह सामान्य का विशेष है। उस विशेषरूप परिणमन करे, उसे यहाँ उपायतत्त्व कहा गया है। आहाहा! मोक्ष कार्य है, उसका यह उपाय कारण है। मोक्ष उपेय है, उपेय अर्थात् कार्य है, कार्य अर्थात् फल है, उसका उपाय कारण है। आहाहा!

मुमुक्षु : उपाय स्वयं भी कार्य है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : उपाय कार्य है, यह द्रव्य की अपेक्षा से। पूर्व की अपेक्षा से पर्याय उपाय है, अधूरी अपेक्षा से है। है तो वह कार्य। प्रत्येक पर्याय कार्य है परन्तु यह मोक्ष के मार्ग की पर्याय... आहाहा! वैसे तो अज्ञानी है, वह तो अनादि से राग और द्वेष, पुण्य और पाप करता है, वह पर्याय है। वह चार गति में भटकता है। उसकी बात यहाँ नहीं है।

यहाँ तो एक ज्ञानतत्त्व कहते आये हैं, उसमें दो बोल चले। एक ज्ञान ही है, ऐसा नहीं, उसमें अनन्त गुण हैं। ऐसा भगवान का स्याद्वाद है। भगवान का मार्ग एकान्त नहीं, अनेकान्त है। तो अनेक अन्त—धर्म, अन्त अर्थात् धर्म, अनेक धर्म अर्थात् स्वभाव। एक ही द्रव्य में अनेक स्वभाव ध्रुव में है। ऐसा ध्रुव होने पर भी, उसमें मोक्ष का मार्ग और मोक्ष नहीं है। मोक्ष का मार्ग और मोक्ष, वह पर्याय में होता है, विशेष में होता है। आहाहा! समझ में आता है, प्रभु! सूक्ष्म बात है, प्रभु! अरे! कभी दरकार नहीं की। बाहर में हो..हा.. करके जिन्दगी (निकाल डाली)। आहाहा! अरे..रे..!

वह बात वहाँ सुनी थी, नैरोबी की। वहाँ हबसी लोग बहुत क्रूर। अपने करोड़पति लोग हैं, उन सबको भय बहुत। उसमें एक पटेल का घर होगा, उसमें हबसी लोग अन्दर घुसे होंगे। उनमें तीन को तो मार डाला। मार डालकर... क्या कहलाता है? नीचे पानी में

जाता है न? गटर। गटर में डाल दिया। उसमें उनका मूल पटेल आया, उसे मार डाला। अर..र..र..! ऐसे आचरण भी प्रभु! अनन्त बार किये हैं। उसकी बात नहीं है, यह तो बात है कि इस पर्याय में ऐसा भाव अनन्त बार किया है। आहाहा! परन्तु पर्याय में यह बात नहीं की—उपाय और उपेय तत्त्व कभी नहीं किया। आहाहा! समझ में आया? माणेकचन्दजी! भाषा तो तुम्हारी हिन्दी है। आहाहा! तुम्हारे कारण हिन्दी लिया है। घर से बहिन आयी हैं, वे नहीं समझती न? हिन्दी सुने, सब सुने। आहाहा! अरे..रे..! कहाँ बात (है)?

अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि अभी तक ४१५ गाथा में मुख्यरूप से, प्रधानरूप से अर्थात् मुख्यरूप से आत्मा को ज्ञान कहा था। अकेला ज्ञान मानना, यह तो एकान्त मिथ्यात्व है। यह ज्ञान कहा, वह तो अपेक्षा से कहा है। दूसरे भी अनन्त धर्म उसमें हैं। ज्ञान है, यह अस्तित्वगुण भी उस समय में है। ज्ञान पररूप से, ज्ञेयरूप से नहीं है परन्तु यह भी उसमें नास्ति धर्म है। ऐसे अनन्त धर्म हैं परन्तु ज्ञानप्रधानता से कथन किया है। एक बात।

दूसरी बात। विशेष अवस्था में अज्ञानी ऐसा ही मानता है कि विशेष अवस्था है ही नहीं। बौद्ध विशेष अवस्था को ही मानते हैं। वेदान्त विशेष अवस्था को नहीं मानते। इस कारण यहाँ टीकाकार ने (कहा है कि) **स्याद्वाद को शुद्धि के लिये वस्तुतत्त्व की व्यवस्था...** अकेला ज्ञान ही आत्मा नहीं। अन्दर दर्शन, आनन्द आदि तत् और अतत् आदि अनन्त धर्म हैं। और **(एक ही ज्ञान में उपाय-उपेयत्त्व कैसे घटित होता है...)** ज्ञान तो एक ही (हुआ)। ज्ञान अर्थात् वस्तु। वस्तु एकरूप ध्रुव है। उसमें पर्याय में दो बातें किस प्रकार घटित होती है? आहाहा! है? **(एक ही ज्ञान में उपाय...)** कारण और **(उपेयत्त्व...)** कार्य। उपाय मोक्षमार्ग और उपेय मोक्ष। ऐसा एक पर्याय में, पर्याय एक अर्थात्? उसकी पर्याय में **(कैसे घटित होता है यह बतलाने के लिए) उपाय-उपेयभाव का जरा फिर से भी विचार करते हैं।** आहाहा! बहुत संक्षिप्त भाषा। अब भावार्थ। यह श्लोकार्थ हुआ न? इसका भावार्थ।

भावार्थ – वस्तु का स्वरूप... कोई भी आत्मा, कोई भी परमाणु या छह द्रव्य। भगवान ने छह द्रव्य देखे हैं। जीव, परमाणु, धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश और काल—ऐसे छह द्रव्य देखे हैं। छहों द्रव्यों का **वस्तु का स्वरूप सामान्यविशेषात्मक...**

आहाहा ! प्रत्येक तत्त्व का प्रत्येक समय में सामान्य-विशेष स्वरूप है । आहाहा ! सामान्य अर्थात् ? त्रिकाली द्रव्य । विशेष अर्थात् ? वर्तमान पर्याय, वर्तमान अवस्था । आहाहा ! ऐसी बात है । न समझ में आये तो रात्रि में थोड़ा पूछना । आहाहा !

मुमुक्षु : पूछने में हमारी पोल ज्ञात हो जाती है ।

पूज्य गुरुदेवश्री : हमें आता नहीं, की पोल ज्ञात हो जाती है । पोल ज्ञात हो तो उसमें खबर पड़े न ! भूल निकल जाये न ! आहाहा !

यहाँ कहते हैं कि कोई भी चीज़ एक सामान्य ही है, ऐसा तीन काल में नहीं है । तथा पर्याय अकेली विशेष ही है, ऐसा भी तीन काल में नहीं । उसमें यहाँ (कहते हैं), वस्तु का स्वरूप **सामान्यविशेषात्मक...** है ? सामान्य अर्थात् ध्रुव । विशेष अर्थात् उत्पाद-व्यय की पर्याय । आहाहा ! ऐसा (समझने के लिये) कब निवृत्त हो ? संसार के धन्धे के कारण निवृत्त नहीं है, सुनने जाये तो ऐसी बात मिलती नहीं । यह करो, यह करो, यह करो और यह करो । करो परन्तु, करो वहाँ मरो ।

सोगानी में द्रव्यदृष्टि प्रकाश में लिखा है । न्यालचन्द सोगानी । द्रव्यदृष्टिप्रकाश है न ? सेठ ! सेठ के यहाँ तो सभी पुस्तकें पहुँचती है । बड़े लोगों को तो सब मुफ्त भेजते हैं । उसमें ऐसा लिखा है, द्रव्यदृष्टिप्रकाश, उसमें लिख है । सोगानी अजमेर में हो गये । समकिती आत्मज्ञानी (थे) । यहाँ आये थे । पैसेवाले, बहुत लक्ष्मीवाले । लड़के हैं, उनके पास बहुत पैसे हैं, बहुत लाखों हैं । उन्हें यह रस बहुत । सबको बाबा को, साधु को मिले । उसमें यहाँ आये, आये और इतना कहा, भाई ! यह राग का विकल्प है, उससे प्रभु अन्दर भिन्न है । आहाहा ! राग चाहे तो दया, दान, भक्ति, प्रभु की भक्ति चलती हो, माला गिनता हो भगवान... भगवान... भगवान... भगवान, वह सब राग है । राग से प्रभु भिन्न है, कहा । इतना कहा और उन्हें चमक लग गयी । अपने रसोई में (समिति के कमरे में) चले गये । वहाँ जाकर सोये परन्तु रात्रि में नींद नहीं आवे । शाम से सवेरे तक ध्यान में बैठे । सवेरे समकित लेकर खड़े हुए । अन्दर से आत्मा का पता ले लिया । फिर यह द्रव्यदृष्टिप्रकाश बनाया है । आहाहा ! उससे भी यह बहिन के वचन तो अलौकिक ! बहुत सार.. सार, मक्खन... मक्खन (आ गया) । आहाहा !

यहाँ कहते हैं कि वस्तु अकेली सामान्य ध्रुव ही है, ऐसा किसी समय नहीं है। किसी भी समय में अकेली सामान्य है, ऐसा नहीं है। किसी समय अकेली पर्याय विशेष ही है, ऐसा नहीं है। आहाहा! सामान्य अर्थात् द्रव्य, विशेष अर्थात् पर्याय। द्रव्य त्रिकाली कायम बिना की चीज़ नहीं होती और पर्याय विशेष अवस्था बिना कोई चीज़ नहीं होती। आहाहा!

यहाँ कहते हैं **वस्तु का स्वरूप...** कोई भी वस्तु। परमाणु से लेकर आत्मा, परमेश्वर और सिद्ध (सब आ गये)। आहाहा! **सामान्यविशेषात्मक...** कायम रहनेवाला, वह सामान्य। विशेष, वर्तमान परिणति अवस्था होती है, बदलती है, वह विशेष। विशेषात्मक अर्थात् स्वरूप। सामान्य-विशेष स्वरूप, सामान्य-विशेष स्वरूप। ध्रुव, उत्पाद-व्यय स्वरूप। तत्त्वार्थसूत्र में आता है, 'उत्पाद-व्ययध्रुवयुक्तं सत्।' तत्त्वार्थसूत्र है, यह दशलक्षणी पर्व में चलता है न? उत्पादव्ययध्रुवयुक्तं सत् (आता है)। उत्पाद-व्यय पर्याय है और ध्रुव वह त्रिकाली शक्ति है। ध्रुव है वह त्रिकाली द्रव्य है और उत्पाद-व्यय है, वह पर्याय है। यहाँ कहते हैं कि सामान्य है, वह ध्रुव है और विशेष है, वह पर्याय है। आहाहा! अरे रे! भाषा तो बहुत सादी है परन्तु अभ्यास नहीं होता... आहाहा! भाव गम्भीर है, बहुत गम्भीर है। आहाहा!

एक समय की पर्याय तो एक समय की ही है परन्तु पर्याय बिना अनादि-अनन्त (काल में) कभी द्रव्य नहीं होता। उस पर्याय को विशेष कहते हैं और त्रिकाली रहनेवाले को ध्रुव कहते हैं। वह ध्रुव सामान्य है और बदलती पर्याय, मोक्ष के मार्ग की पर्याय, वह विशेष है। आहाहा! वस्तु **सामान्यविशेषात्मक अनेक-धर्मस्वरूप होने से...** आहाहा! धर्म अर्थात्? धारण करनेवाली शक्ति। धर्म अर्थात् यह मोक्ष का मार्ग, ऐसा नहीं।

वस्तु का स्वरूप सामान्यविशेषात्मक... आत्मक अर्थात् स्वरूप। **अनेक-धर्मस्वरूप...** अनेक शक्तिस्वरूप है। गुण है, पर्याय है, सामान्य है, विशेष है, नित्य है, अनित्य है, ध्रुव है, अध्रुव है। आहाहा! अरे..रे..! ऐसे अनेक धर्मस्वरूप (वस्तु है)। धर्म अर्थात् यह सम्यग्दर्शन, ज्ञान, यह नहीं। धर्म अर्थात् इसने धार रखी हुई शक्ति। प्रत्येक पदार्थ में, आत्मा, परमाणु में अपने में जो धार रखी हुई शक्ति है, गुण है, पर्याय है, उसे यहाँ

धर्म कहते हैं। धर्म अर्थात् मोक्षमार्ग की बात अभी नहीं है। वह तो उपाय-उपेय में आयेगी। यहाँ तो अभी एक वस्तु को ज्ञान ही क्यों कहा, उसकी बात पहले चलती है।

वस्तु का स्वरूप सामान्यविशेषात्मक अनेक-धर्मस्वरूप होने से वह स्याद्वाद से... स्याद् अर्थात् अपेक्षा। वीतराग के मार्ग में स्याद्वाद है, अनेकान्त है। उससे ही, **स्याद्वाद से ही सिद्ध किया जा सकता है।** आहाहा! **इस प्रकार स्याद्वाद की शुद्धता...** ज्ञानमात्र कहने पर भी अनन्त गुण और अनन्त पर्याय है। ऐसी **स्याद्वाद की शुद्धता...** स्यात् अर्थात् अपेक्षा से कहना, कथन। उसकी शुद्धता, स्याद्वाद की **(-प्रमाणिकता,...)** आहाहा! स्याद्वाद, वह प्रमाण है, प्रमाणिक है। आहाहा! उसकी **(सत्यता,...)** शुद्धता का अर्थ करते हैं। **स्याद्वाद की शुद्धता (-प्रमाणिकता, सत्यता, निर्दोषता,...)** आहाहा! स्याद्वाद की शुद्धि का अर्थ है। **(निर्मलता, अद्वितीयता)...** अद्वितीयता, अजोड़। उसके साथ किसी का मिलान नहीं खाता, ऐसा भगवान का मार्ग स्याद्वाद है।

(स्याद्वाद की शुद्धता) **सिद्ध करने के लिए इस परिशिष्ट में वस्तुस्वरूप का विचार किया जाता है। (इसमें यह भी बताया जाएगा कि इस शास्त्र में आत्मा को ज्ञानमात्र कहा है, फिर भी स्याद्वाद के साथ विरोध नहीं आता।)** भले ज्ञानमात्र कहा, तथापि उसमें अनन्त धर्म, गुण है, उनके साथ विरोध नहीं आता। **और दूसरे, एक ही ज्ञान में साधकत्त्व तथा साध्यत्त्व...** उपाय-उपेय कहा था न? यह उपाय अर्थात् साधकत्व, साधनपना, साधनपना। उपेय अर्थात् साध्यपना। आहाहा! एक ही ज्ञानपर्याय में **साधकत्त्व तथा साध्यत्त्व कैसे बन सकता है, यह समझाने के लिए ज्ञान का उपाय-उपेयभाव अर्थात् साधकसाध्यभाव भी इस परिशिष्ट में विचार किया जावेगा।** विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

[परिशिष्टम्]

स्याद्वादो हि समस्तवस्तुतत्त्वसाधकमेकमस्खलितं शासनमर्हत्सर्वज्ञस्य। स तु सर्वमनेकान्तात्म-कमित्यनुशास्ति, सर्वस्यापि वस्तुनोऽनेकान्तस्वभावत्वात्। अत्र त्वात्मवस्तुनि ज्ञानमात्रतया अनुशास्य-मानेऽपि न तत्परिकोपः, ज्ञानमात्रस्यात्मवस्तुनः स्वयमेवानेकान्तत्वात्।

तत्र यदेव तत्तदेवातत्, यदेवैकं तदेवानेकं, यदेव सत्तदेवासत्, यदेव नित्यं तदेवानित्यमित्येक-वस्तुवस्तुत्वनिष्पादकपरस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकान्तः।

तत्स्वात्मवस्तुनो ज्ञानमात्रत्वेऽप्यन्तश्चकचकायमानज्ञानस्वरूपेण तत्त्वात्, बहिरुन्मिषदनन्तज्ञेय-तापन्नस्वरूपातिरिक्तपररूपेणातत्त्वात्, सहक्रमप्रवृत्तानन्तचिदन्श-समुदयरूपाविभागद्रव्येणैकत्वात्, अविभागैकद्रव्यव्याप्तसहक्रमप्रवृत्तानन्तचिदन्शरूप-पर्यायैरनेकत्वात्, स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावभवन-शक्तिस्वभावत्वेन सत्त्वात्, परद्रव्यक्षेत्रकाल-भावाभवनशक्तिस्वभाववत्त्वेनाऽसत्त्वात्, अनादि-निधनाविभागैकवृत्तिपरिणतत्वेन नित्यत्वात्, क्रमप्रवृत्तैकसमयावच्छिन्नानेकवृत्त्यन्शपरिणतत्वेना-नित्यत्वात्, तदत-त्त्वमेकानेकत्वं सदसत्त्वं नित्यानित्यत्वं च प्रकाशत एव।

ननु यदि ज्ञानमात्रत्वेऽपि आत्मवस्तुनः स्वयमेवानेकान्त प्रकाशते, तर्हि किमर्थमर्हद्भिस्तत्साधन-त्वेनाऽनुशास्यतेऽनेकान्तः ?

अज्ञानिनां ज्ञानमात्रात्मवस्तुप्रसिद्ध्यर्थमिति ब्रूमः। न खल्वनेकान्तमन्तरेण ज्ञानमात्रमात्मवस्त्वेव प्रसिध्यति।

तथाहि ह्न इह हि स्वभावत एव बहुभावनिर्भरे विश्वे सर्वभावानां स्वभावेनाद्वैतेऽपि द्वैतस्य निषेद्धुमशक्यत्वात् समस्तमेव वस्तु स्वपररूपप्रवृत्तिव्यावृत्तिभ्यामुभयभावाध्या-सितमेव।

(१-२) तत्र यदायं ज्ञानमात्रो भावः शेषभावैः सह स्वरसभरप्रवृत्तज्ञातृज्ञेय-सम्बन्धतयाऽनादिज्ञेय-परिणमनात् ज्ञानतत्त्वं पररूपेण प्रतिपद्याज्ञानी भूत्वा नाशमुपैति, तदा स्वरूपेण तत्त्वं द्योतयित्वा ज्ञातृ-त्वेन परिणमनाज्ज्ञानी कुर्वन्ननेकान्त एव तमुद्गमयति।

यदा तु सर्वं वै खल्विदमात्मेति अज्ञानतत्त्वं स्वरूपेण प्रतिपद्य विश्वोपादानेनात्मानं नाशयति, तदा पररूपेणातत्त्वं द्योतयित्वा विश्वाद्भिन्नं ज्ञानं दर्शयन्ननेकान्त एव नाशयितुं न ददाति।

(३-४) यदानेकज्ञेयाकारैः खण्डितसकलैकज्ञानाकारो नाशमुपैति, तदा द्रव्येणैकत्वं द्योतयन्न-नेकान्त एव तमुज्जीवयति।

यदा त्वेकज्ञानाकारोपादानायानेकज्ञेयाकारत्यागेनात्मानं नाशयति, तदा पर्यायैरनेकत्वं द्योतयन्ननेकान्त एव नाशयितुं न ददाति।

(५-६) यदा ज्ञायमानपरद्रव्यपरिणमनाद् ज्ञातृद्रव्यं परद्रव्यत्वेन प्रतिपद्य नाशमुपैति, तदा स्वद्रव्येण सत्त्वं द्योतयन्ननेकान्त एव तमुज्जीवयति।

यदा तु सर्वद्रव्याणि अहमेवेति परद्रव्यं ज्ञातृद्रव्त्येन प्रतिपद्यात्मानं नाशयति, तदा परद्रव्येणासत्त्वं द्योतयन्ननेकान्त एव नाशयितुं न ददाति।

(७-८) यदा परक्षेत्रगतज्ञेयार्थपरिणमनात् परक्षेत्रेण ज्ञानं सत् प्रतिपद्य नाशमुपैति, तदा स्वक्षेत्रे-णास्तित्वं द्योतयन्ननेकान्त एव तमुज्जीवयति।

यदा तु स्वक्षेत्रे भवनाय परक्षेत्रगतज्ञेयाकारत्यागेन ज्ञानं तुच्छीकुर्वन्नात्मानं नाशयति, तदा स्वक्षेत्र एव ज्ञानस्य परक्षेत्रगतज्ञेयाकारपरिणमनस्वभावत्वात्परक्षेत्रेण नास्तित्वं द्योतयन्ननेकान्त एव नाशयितुं न ददाति।

(९-१०) यदा पूर्वालम्बितार्थविनाशकाले ज्ञानस्यासत्त्वं प्रतिपद्य नाशमुपैति, तदा स्वकालेन सत्त्वं द्योतयन्ननेकान्त एव तमुज्जीवयति।

यदा त्वार्थालम्बनकाल एव ज्ञानस्य सत्त्वं प्रतिपद्यात्मानं नाशयति, तदा परकालेनासत्त्वं द्योतयन्ननेकान्त एव नाशयितुं न ददाति।

(११-१२) यदा ज्ञायमानपरभावपरिणमनात् ज्ञायकभावं परभावत्वेन प्रतिपद्य नाशमुपैति, तदा स्वभावेन सत्त्वं द्योतयन्ननेकान्त एव तमुज्जीवयति।

यदा तु सर्वे भावा अहमेवेति परभावं ज्ञायकभावत्वेन प्रतिपद्यात्मानं नाशयति, तदा परभावेनासत्त्वं द्योतयन्ननेकान्त एव नाशयितुं न ददाति।

(१३-१४) यदाऽनित्यज्ञानविशेषैः खण्डितनित्यज्ञानसामान्यो नाशमुपैति, तदा ज्ञानसामान्य-रूपेण नित्यत्वं द्योतयन्ननेकान्त एव तमुज्जीवयति।

यदा तु नित्यज्ञानसामान्योपादानायानित्यज्ञानविशेषत्यागेनात्मानं नाशयति, तदा ज्ञानविशेष-रूपेणानित्यत्वं द्योतयन्ननेकान्त एव नाशयितुं न ददाति।

(अब प्रथम आचार्यदेव वस्तुस्वरूप के विचार द्वारा स्याद्वाद को सिद्ध करते हैं:-)

स्याद्वाद समस्त वस्तुओं के स्वरूप को सिद्ध करनेवाला, अर्हंत् सर्वज्ञ का एक अस्खलित (–निर्बाध) शासन है। वह (स्याद्वाद) 'सब अनेकान्तात्मक है' इस प्रकार उपदेश करता है, क्योंकि समस्त वस्तु अनेकान्त–स्वभाववाली है। ('सर्व वस्तुऐं अनेकान्तस्वरूप हूँ' इस प्रकार जो स्याद्वाद कहता है, सो वह असत्यार्थ कल्पना से नहीं कहता परन्तु जैसा वस्तु का अनेकान्त स्वभाव है, वैसा ही कहता है।)

यहाँ आत्मा नामक वस्तु को ज्ञानमात्रता से उपदेश करने पर भी स्याद्वाद का कोप नहीं है; क्योंकि ज्ञानमात्र आत्मवस्तु के स्वयमेव अनेकान्तात्मकत्व है। वहाँ (अनेकान्त का ऐसा स्वरूप है कि), जो (वस्तु) तत् है, वही अतत् है; जो (वस्तु) एक है, वही अनेक है; जो सत् है, वही असत् है; जो नित्य है, वही अनित्य है–इस प्रकार 'एक वस्तु में वस्तुत्व की उपजानेवाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकान्त है।' इसलिए अपनी आत्मवस्तु को भी, ज्ञानमात्रता होने पर भी, तत्त्व–अतत्त्व, एकत्त्व–अनेकत्त्व, सत्त्व–असत्त्व, और नित्यत्त्व–अनित्यत्त्वपना प्रकाशता ही है; क्योंकि–उसके (–ज्ञानमात्र आत्मवस्तु के) अन्तरंग में चकचकित प्रकाशते ज्ञानस्वरूप के द्वारा तत्पना है, और बाहर प्रगट होते अनन्त, ज्ञेयत्व को प्राप्त, स्वरूप से भिन्न ऐसे पररूप के द्वारा (–ज्ञानस्वरूप से भिन्न ऐसे परद्रव्य के रूप द्वारा) अतत्पना है (अर्थात् ज्ञान उस–रूप नहीं है); सहभूत (साथ ही) प्रवर्तमान और क्रमशः प्रवर्तमान अनन्त चैतन्य–अंशों के समुदायरूप अविभाग द्रव्य के द्वारा एकत्व है, और अविभाग एक द्रव्य में व्याप्त, सहभूत प्रवर्तमान तथा क्रमशः प्रवर्तमान अनन्त चैतन्य–अंशरूप (चैतन्य के अनन्त अंशोंरूप) पर्यायों के द्वारा अनेकत्व है; अपने द्रव्य–क्षेत्र–काल–भावरूप से होने की शक्तिरूप जो स्वभाव है, उस स्वभाववानपने के द्वारा (अर्थात् ऐसे स्वभाववाली होने से) सत्त्व है, और पर के द्रव्य–क्षेत्र–काल–भावरूप न होने की शक्तिरूप जो स्वभाव है, उस स्वभाववानपने के द्वारा असत्त्व है; अनादिनिधन अविभाग एक वृत्तिरूप से परिणतपने के द्वारा नित्यत्व है, और क्रमशः प्रवर्तमान, एक समय की मर्यादावाले अनेक वृत्ति–अंशोंरूप से परिणतपने के द्वारा अनित्यत्व है। (इस प्रकार ज्ञानमात्र आत्मवस्तु को भी, तत्–अतत्पना इत्यादि दो–दो विरुद्ध शक्तियाँ स्वयमेव प्रकाशित होती हैं, इसलिए अनेकान्त स्वयमेव प्रकाशित होता है।)

(प्रश्न–) यदि आत्मवस्तु को, ज्ञानमात्रता होने पर भी, स्वयमेव अनेकान्त

प्रकाशता है, तब फिर अरहन्त भगवान उसके साधन के रूप में अनेकन्त का (स्याद्वाद का) उपदेश क्यों देते हैं?

(उत्तर–) अज्ञानियों के ज्ञानमात्र आत्मवस्तु की प्रसिद्धि करने के लिए उपदेश देते हैं, ऐसा हम कहते हैं। वास्तव में अनेकान्त (–स्याद्‌वाद) के बिना ज्ञानमात्र आत्मवस्तु ही प्रसिद्ध नहीं हो सकती। इसी को इस प्रकार समझाते हैं–

स्वभाव से ही बहुत से भावों से भरे हुए इस विश्व में सर्व भावों का स्वभाव से अद्वैत होने पर भी, द्वैत का निषेध करना अशक्य होने से समस्त वस्तु स्वरूप में प्रवृत्ति और पररूप से व्यावृत्ति के द्वारा दोनों भावों से अध्यासित है (अर्थात् समस्त वस्तु स्वरूप में प्रवर्तमान होने से और पररूप से भिन्न रहने से प्रत्येक वस्तु में दोनों भाव रह रहे हैं)। वहाँ, जब यह ज्ञानमात्र भाव (आत्मा), शेष (बाकी के) भावों के साथ निज रस के भार से प्रवर्तित ज्ञाता–ज्ञेय के सम्बन्ध के कारण और अनादि काल से ज्ञेयों के परिणमन के कारण ज्ञानतत्त्व को पररूप मानकर (अर्थात् ज्ञेयरूप से अंगीकार करके) अज्ञानी होता हुआ नाश को प्राप्त होता है, तब (उसे ज्ञानमात्र भाव का) स्व–रूप से (–ज्ञानरूप से) तत्‌पना प्रकाशित करके (अर्थात् ज्ञान ज्ञानरूप से ही है, ऐसा प्रगट करके), ज्ञातारूप से परिणमन के कारण ज्ञानी करता हुआ अनेकान्त ही (–स्याद्वाद ही) उसका उद्धार करता है–नाश नहीं होने देता। १।

और जब वह ज्ञानमात्र भाव 'वास्तव में यह सब आत्मा है' इस प्रकार अज्ञानतत्त्व को स्व–रूप से (ज्ञानरूप से) मानकर–अंगीकार करके विश्व के ग्रहण द्वारा अपना नाश करता है (–सर्व जगत को निज रूप मानकर उसका ग्रहण करके जगत् से भिन्न ऐसे अपने को नष्ट करता है), तब (उस ज्ञानमात्र भाव का) पररूप से अतत्‌पना प्रकाशित करके (अर्थात् ज्ञान पररूप नहीं है, यह प्रगट करके) विश्व से भिन्न ज्ञान को दिखाता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना (–ज्ञानमात्र भाव का) नाश नहीं करने देता।२।

जब यह ज्ञानमात्र भाव अनेक ज्ञेयाकारों के द्वारा (–ज्ञेयों के आकारों द्वारा) अपना सकल (अखण्ड, सम्पूर्ण) एक ज्ञान–आकार खण्डित (–खण्ड खण्डरूप) हुआ मानकर नाश को प्राप्त होता है, तब (उस ज्ञानमात्र भाव का) द्रव्य से एकत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जीवित रखता है–नष्ट नहीं होने देता।३।

और जब वह ज्ञानमात्र भाव एक ज्ञान–आकार का ग्रहण करने के लिए अनेक

ज्ञेयाकारों के त्याग द्वारा अपना नाश करता है (अर्थात् ज्ञान में जो अनेक ज्ञेयों के आकार आते हैं, उनका त्याग करके अपने को नष्ट करता है), तब (उस ज्ञानमात्र भाव का) पर्यायों से अनेकत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता।४।

जब यह ज्ञानमात्र भाव, जानने में आनेवाले ऐसे परद्रव्यों के परिणमन के कारण ज्ञातृद्रव्य को परद्रव्यरूप से मानकर-अंगीकार करके नाश को प्राप्त होता है तब, (उस ज्ञानमात्र भाव का) स्वद्रव्य से सत्त्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जिलाता है-नष्ट नहीं होने देता।५।

और जब वह ज्ञानमात्र भाव 'सर्व द्रव्य मैं ही हूँ (अर्थात् सर्व द्रव्य आत्मा ही हैं)' इस प्रकार परद्रव्य का ज्ञातृद्रव्यरूप से मानकर-अंगीकार करके अपना नाश करता है, तब (उस ज्ञानमात्र भाव का) परद्रव्य से असत्त्व प्रकाशित करता हुआ (अर्थात् आत्मा परद्रव्यरूप से नहीं है, इस प्रकार प्रगट करता हुआ) अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता।६।

जब यह ज्ञानमात्र भाव परक्षेत्रगत (-परक्षेत्र में रहे हुए) ज्ञेय पदार्थों के परिणमन के कारण परक्षेत्र से ज्ञान को सत् मानकर-अंगीकार करके नाश को प्राप्त होता है, तब (उस ज्ञानमात्र भाव का) स्वक्षेत्र से अस्तित्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जिलाता है-नष्ट नहीं होने देता।७।

और जब वह ज्ञानमात्र भाव स्वक्षेत्र में होने के लिए (-रहने के लिए, परिणमन के लिए), परक्षेत्रगत ज्ञेयों के आकारों के त्याग द्वारा (अर्थात् ज्ञान में जो परक्षेत्र में रहे हुए ज्ञेयों का आकार आता है, उनका त्याग करके) ज्ञान को तुच्छ करता हुआ अपना नाश करता है, तब स्वक्षेत्र में रहकर ही परक्षेत्रगत ज्ञेयों के आकाररूप से परिणमन करने का ज्ञान का स्वभाव होने से (उस ज्ञानमात्र भाव का) परक्षेत्र से नास्तित्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता।८।

जब यह ज्ञानमात्र भाव पूर्वालम्बित पदार्थों के विनाश काल में (-पूर्व में जिनका आलम्बन किया था, ऐसे ज्ञेय पदार्थों के विनाश के समय) ज्ञान का असत्पना मानकर-अंगीकार करके नाश को प्राप्त होता है, तब (उस ज्ञानमात्रभाव का) स्वकाल से (-ज्ञान के काल से) सत्पना प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जिलाता है-नष्ट नहीं होने देता।९।

और जब वह ज्ञानमात्र भाव पदार्थों के अवलम्बन काल में ही (-मात्र ज्ञेय पदार्थों को जानते समय ही) ज्ञान का सत्पना मानकर-अंगीकार करके अपना नाश करता है, तब (उस ज्ञानमात्र भाव का) परकाल से (-ज्ञेय के काल से) असत्पना प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता।१०।

जब यह ज्ञानमात्र भाव, जानने में आते हुए परभावों के परिणमन के कारण ज्ञायकस्वभाव को परभावरूप से मानकर अंगीकार करके नाश को प्राप्त होता है, तब (उस ज्ञानमात्र भाव का) स्व-भाव से सत्पना प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जिलाता है-नष्ट नहीं होने देता।११।

और जब वह ज्ञानमात्र भाव 'सर्व भाव मैं ही हूँ' इस प्रकार परभाव को ज्ञायकभावरूप से मानकर-अंगीकार करके अपना नाश करता है, तब (उस ज्ञानमात्र भाव का) परभाव से असत्पना प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करते देता।१२।।

जब यह ज्ञानमात्र भाव अनित्यज्ञानविशेषों के द्वारा अपना नित्य ज्ञान सामान्य खण्डित हुआ मानकर नाश को प्राप्त होता है, तब (उस ज्ञानमात्र भाव का) ज्ञान-सामान्यरूप से नित्यत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जिलाता है-नष्ट नहीं होने देता।१३।

और जब वह ज्ञानमात्र भाव नित्य ज्ञानसामान्य का ग्रहण करने के लिए अनित्य ज्ञानविशेषों के त्याग के द्वारा अपना नाश करता है (अर्थात् ज्ञान के विशेषों का त्याग करके अपने को नष्ट करता है), तब (उस ज्ञानमात्रभाव का) ज्ञानविशेषरूप से अनित्यत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता।१४।

(यहाँ तत्-अतत् के २ भंग, एक-अनेक के २ भंग, सत्-असत् के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से ८ भंग, और नित्य-अनित्य के २ भंग - इस प्रकार सब मिलाकर १४ भंग हुए। इन चौदह भंगों में यह बताया है कि - एकान्त से ज्ञानमात्र आत्मा का अभाव होता है और अनेकान्त से आत्मा जीवित रहता है; अर्थात् एकान्त से आत्मा जिस स्वरूप है, उस स्वरूप नहीं समझा जाता, स्वरूप में परिणमित नहीं होता, और अनेकान्त से वह वास्तविक स्वरूप से समझा जाता है, स्वरूप में परिणमित होता है।)

प्रवचन नं. ४६५, परिशिष्ट बुधवार, भाद्र शुक्ल ८
दिनांक - १७-०९-१९८०

समयसार, परिशिष्ट चलता है न? **(अब प्रथम...)** यहाँ से है। **(आचार्यदेव वस्तुस्वरूप के विचार द्वारा स्याद्वाद को सिद्ध करते हैं:-)** स्याद्वाद अर्थात् अपेक्षा से कथन। आत्मा को नित्य कहे तो एकान्त नित्य ही है, ऐसा नहीं है। नित्य भी है और अनित्य भी है। आहाहा! स्याद्वाद=स्यात्—अपेक्षा से, वाद—कथन। वीतराग का मार्ग स्याद्वाद है। आत्मा को नित्य कहे तो ऐसा ही समझ ले, (कि) उसमें अनित्य नहीं, (ऐसा माने तो) वह अनेकान्त नहीं है, एकान्त है। सूक्ष्म बात है, भाई! सब किया परन्तु इसने तत्त्व का विचार और तत्त्व का निर्णय ही नहीं किया। बाकी सब बहुत किया, धर्म के नाम से किया। अभी तो धर्म के नाम से साधारण क्रिया होती है परन्तु धर्म के नाम से भी पंच महाव्रत आदि बहुत किये, परन्तु अन्तर तत्त्व क्या चीज़ है, उसे समझने की दरकार नहीं की, ऐसी की ऐसी जिन्दगी चली जाती है।

यहाँ कहते हैं, **(अब प्रथम आचार्यदेव वस्तुस्वरूप के विचार द्वारा स्याद्वाद (अपेक्षा से) को सिद्ध करते हैं:-)** अपेक्षा से कथन करते हैं। क्योंकि अभी तक आत्मा को ज्ञान कहा जाता रहा है। कहने में आया है कि आत्मा ज्ञान है। परन्तु एकान्त ज्ञान ही है, ऐसा नहीं है। उसमें दूसरे अनन्त गुण भी हैं और वह नित्य भी है तथा अनित्य भी है। कोई कहे कि आत्मा अनित्य? आहाहा!

राजकोट में अन्तिम चातुर्मास (संवत्) १९९९ में था। तब यह चर्चा चलती थी। तब अन्यमति वेदान्ती का एक बाबा आया था। उसे लगा, ऐसी निश्चय की बात जैन में कहाँ से आयी? जैन लोग तो क्रिया करो और यह करो होता है, यह और निश्चय की बात कौन करता है? लाओ न, सुनने जाऊँ। बाबा आया, सुना। मैंने कहा, भाई! आत्मा नित्य भी है और अनित्य भी है। सेठ! वहाँ भड़क गया। हें... आत्मा अनित्य है? फिर भाग गया। आहाहा!

आत्मा परिणाम से अनित्य है। परिणाम—पर्याय, जो पर्याय क्षण-क्षण में पलटती

है, उससे वह अनित्य है और कायम रहनेवाली चीज़ की अपेक्षा से नित्य है। वेदान्ती था। आत्मा की बात सुनते हुए उसे ऐसा लगा, जैन में आत्मा की बात कैसी ? वह तो क्रिया करो, प्रतिक्रमण करो, सामायिक करो और भक्ति करो, पूजा करो, ऐसा कहते हैं। जैन में और यह कौन है ? लाओ न, सुनने जाऊँ। सुनने आया और उसमें यह शब्द आये। संवत् १९९९ की बात है। ९९ की। ३८ वर्ष हुए। कहा, भाई! प्रभु! यह आत्मा जो अन्दर है, वह कायम भी रहनेवाला है, नित्य भी है और पर्याय से अनित्य है। आहाहा! परन्तु कहाँ किसे पड़ी है ?

यहाँ यह कहते हैं, **स्याद्वाद समस्त वस्तुओं के...** स्याद्वाद अर्थात् ? स्यात्— अपेक्षा से कथन करनेवाली वाणी। लिखा है ? माणेकचन्दजी! मिला ? स्याद्वाद अर्थात् स्यात्—अपेक्षा से कथन है। क्या ? **समस्त वस्तुओं के स्वरूप को सिद्ध करनेवाला,...** है। जितने छह द्रव्य हैं... भगवान सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ परमात्मा ने सर्वज्ञ में छह द्रव्य देखे हैं। यह **अर्हंत् सर्वज्ञ का एक अस्खलित (–निर्बाध) शासन है।** आहाहा! ऐसी बात सर्वज्ञ के अतिरिक्त कहीं नहीं है। आहाहा!

अपेक्षा से (कथन)। एक ओर ऐसा कहना कि, आत्मा एकरूप है और दूसरे प्रकार से कहना कि आत्मा अनेकरूप है। वस्तुरूप से एकरूप है और पर्याय से अनेकरूप है। पर्याय जो अवस्था होती है, भिन्न-भिन्न अवस्था—विचार होते हैं, इस अपेक्षा से अनेक है और वस्तुरूप से एक है। एकान्त एक ही है और एकान्त अनेक ही है, यह जैनशासन नहीं है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! तत्त्व का निर्णय, अभी पहले विकल्प से निर्णय करने का अवसर नहीं, उसे सम्यग्दर्शन होने का तो समय कहाँ है ? और इसके बिना जन्म-मरण का अन्त नहीं आता। आहाहा! चार गति चौरासी के अवतार में... आहाहा!

ब्रह्मदत्त जैसा चक्रवर्ती, जिसके घर में छह खण्ड, छियानवें हजार स्त्रियाँ, छियानवें करोड़ सैनिक! आहाहा! जिसके घर में हीरा के... क्या कहलाते हैं सोने का ? पलंग। हीरा के पलंग में सोता था। एक एक हीरा की करोड़ की कीमत, ऐसे हीरा के पलंग में सोता था। वह मरते हुए 'कुरुमति' (बोलते-बोलते मरा)। छियानवें हजार स्त्रियों में एक स्त्री मुख्य थी। जिस स्त्री की एक हजार देव सेवा करते थे। ऐसा चक्रवर्ती में नियम है। उस

स्त्री के प्रति इतना प्रेम... आहाहा! पाप तो बहुत किये थे तो मरते हुए वह 'कुरुमति' ऐसा बोला और मरकर सातवें नरक गया। अभी सातवें नरक में है। अरे रे!

नरक सात है। उसमें पहले नरक में जघन्य में जघन्य, थोड़ी में थोड़ी अवस्था दस हजार वर्ष की है। पहले नरक में। उत्कृष्ट अवस्था एक सागरोपम। एक सागरोपम में दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम जाते है और एक पल्योपम में असंख्य भाग में असंख्य अरब वर्ष जाते हैं। आहाहा! प्रभु... प्रभु... प्रभु...! उस दुःख को याद करे। एक बार नहीं परन्तु अनन्त बार (वे दुःख भोगे हैं)। और जब तक यह मिथ्यात्व नहीं मिटाये, (तब तक दुःख ही है)। आहाहा!

सम्यग्दर्शन, आत्मा पूर्णानन्द का नाथ नित्य भी है और अनित्य भी है, ध्रुव भी है और अध्रुव भी है, ऐसा अनुभव जब तक नहीं करेगा, तब तक चौरासी के अवतार में नरक में और निगोद में जायेगा। आहाहा! अरे रे! और ऐसी चीज़ जिनेश्वरदेव की वाणी, त्रिलोकनाथ परमात्मा सीमन्धर भगवान विराजते हैं, उनकी यह वाणी है। कुन्दकुन्दाचार्य वहाँ गये थे। दिगम्बर साधु थे। आठ दिन रहे थे। आहाहा! समवसरण में आठ दिन सुना और कितनी ही बात दूसरे श्रुतकेवली के निकट (चर्चा की)। महाविदेहक्षेत्र में रहे। आहाहा! वहाँ से आकर यह बनाया है।

त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव ऐसा कहते हैं कि स्याद्वाद मार्ग है। अपेक्षा से कथन है। कहीं किसी जगह आत्मा को एक कहा हो तो एक ही नहीं मानना। स्वरूप से एक है परन्तु गुण-पर्याय से अनेक है। उसमें अनन्त गुण और अनन्त पर्यायें हैं। आहाहा! अरे! कौन विचार करे? दुनिया में ढोर की तरह जन्मा और ढोर की तरह जीता है। अरे रे! तत्त्व क्या चीज़ है? आगे कहेंगे कि तत्त्व को न समझे, वह पशु है। सेठ! आगे कहेंगे। चौदह श्लोक आयेंगे। चौदह श्लोक में पशु (कहा है)। आहाहा! पशु का अर्थ 'पश्यते इति पशु। बध्यते इति पशु।' जो चार गति के कारण और बन्धन करे, (वह पशु है)। आहाहा! आत्मतत्त्व को एकान्त समझे और अनेकान्त—द्रव्य और पर्याय दोनों हैं, (ऐसा न माने, वह पशु है)। किसी भी समय आत्मा द्रव्य बिना नहीं और किसी भी समय आत्मा पर्याय बिना नहीं, इसी तरह छह द्रव्य जो हैं, उन छहों द्रव्य में किसी समय कोई द्रव्य अपने त्रिकाली ध्रुव बिना

नहीं है और अपनी वर्तमान अवस्था—पर्याय बिना का नहीं है। किसने विचार किया ? किसे पड़ी है ? अरे प्रभु ! कहाँ जायेगा, भाई ! आहाहा !

यह कहते हैं, **स्याद्वाद समस्त वस्तुओं के...** समस्त वस्तु। भगवान ने जाति से छह द्रव्य कहे। संख्या से अनन्त हैं। आत्मा अनन्त, उससे अनन्तगुणे परमाणु, असंख्य कालाणु, एक धर्मास्ति, एक अधर्मास्ति, एक आकाश, ऐसे भगवान परमात्मा ने छह द्रव्य देखे हैं, अनन्त तीर्थंकरों ने (ऐसा देखा है)। जाति से छह, संख्या से अनन्त हैं। जीव अनन्त, परमाणु अनन्त। तीन काल के समय अनन्त। आहाहा !

यहाँ कहते हैं, **समस्त वस्तुओं के स्वरूप को सिद्ध करनेवाला,...** 'है', ऐसा निर्णय करनेवाला। **अर्हंत् सर्वज्ञ...** अरिहन्त परमेश्वर, जो सर्वज्ञ भगवान विराजते हैं, उनका **एक अस्खलित (-निर्बाध) शासन है।** दूसरा कोई धर्म है ही नहीं। सर्वज्ञ जैनशासन के अतिरिक्त कहीं कोई धर्म चीज़ नहीं। एक, **सर्वज्ञ का एक अस्खलित...** बाधा न आवे, निर्बाध—ऐसा शासन है। ऐसी भगवान की शिक्षा है। आहाहा ! कथा सुने तो प्रसन्न-प्रसन्न हो जाये। एक राजा था और एक रानी थी। रानी रूठ गयी और राजा मनाने गया, ऐसी बात होवे तो प्रेम से सुनता है। मात्र राग की विकथा। आहाहा ! पापकथा। यह भगवान आत्मा अन्दर कौन है, इसकी बात सुनने में रस नहीं, प्रेम नहीं। अरे रे ! मेरी बात चलती है। मैं कौन हूँ ? कहाँ हूँ ? कैसा हूँ ? यह कहते हैं।

(स्याद्वाद) 'सब अनेकान्तात्मक है'... यह क्या कहा? **(स्याद्वाद) 'सब अनेकान्तात्मक है'...** अर्थात् जो कोई चीज़ है, उसमें अनन्त-अनन्त धर्म है, गुण अनन्त हैं, पर्याय भी अनन्त हैं। कोई भी द्रव्य जो अनन्त है, उस प्रत्येक द्रव्य में अनन्त गुण हैं और अनन्त गुण में अनन्त पर्याय / अवस्था है। आहाहा ! वह अनेकान्त कहा। अनेक—अन्त अर्थात् धर्म। अनेक अन्त अर्थात् धर्म। धर्म अर्थात् धार रखी हुई चीज़। गुण और पर्याय। कायम रहनेवाली शक्ति और पलटती अवस्था। यह प्रत्येक पदार्थ में अनन्त है। समझ में आया ? अनन्त।

इसमें अनन्त परमाणु है। एक परमाणु में भी अनन्त गुण हैं और अनन्त गुणों की अनन्त प्रगट पर्यायें हैं। आहाहा ! ऐसा जैनशासन अस्खलित एक शासन है। आहाहा ! यह

कहते हैं, **'सब अनेकान्तात्मक है'...** अनेक अन्त अर्थात् धर्मस्वरूप। प्रत्येक अनन्त धर्मस्वरूप है। प्रत्येक चीज़ नित्य-अनित्य, एक-अनेक, सत्-असत् ऐसे चौदह बोल लेंगे। आहाहा! **'सब अनेकान्तात्मक है' इस प्रकार उपदेश करता है,...** कौन? सर्वज्ञ का शासन। सर्वज्ञ का शासन। आहाहा! **क्योंकि समस्त वस्तु अनेकान्त-स्वभाववाली है।** ... आहाहा! **समस्त वस्तु अनेकान्त-स्वभाववाली है। ('सर्व वस्तुऐं अनेकान्तस्वरूप हूँ' इस प्रकार जो स्याद्वाद कहता है, सो वह असत्यार्थ कल्पना से नहीं कहता...)** भगवान ने जैसा केवलज्ञान में देखा, वैसा कहता है।

(परन्तु जैसा वस्तु का अनेकान्त स्वभाव है,...) अनेकान्त अर्थात् अनेक धर्म। अनेक धर्म अर्थात् अनेक स्वभाव। गुण और पर्याय। आहाहा! प्रत्येक वस्तु में अनन्त गुण है और प्रत्येक वस्तु में एक समय में अनन्त पर्यायें हैं। आहाहा! समय एक, सेकेण्ड का असंख्यवाँ भाग। एक 'क' बोलें, उसमें असंख्य समय जाते हैं। उसमें का एक समय। आहाहा! यहाँ कहते हैं कि एक समय में प्रत्येक वस्तु में अनन्त गुण है और अनन्त पर्यायें हैं। आहाहा! प्रत्येक वस्तु में ध्रुव भी है और पलटनेवाली पर्याय अनेक भी है, अध्रुव भी है। आहाहा! निर्णय करने की दरकार कहाँ की है? आहाहा! है? **(असत्यार्थ कल्पना से नहीं कहता परन्तु जैसा वस्तु का अनेकान्त स्वभाव है, वैसा ही कहता है।)**

यहाँ आत्मा नामक वस्तु को ज्ञानमात्रता से उपदेश करने पर भी... अभी तक तो आत्मा ज्ञानस्वरूप,... ज्ञानस्वरूप... ज्ञानस्वरूप.. आत्मा चैतन्यस्वरूप है, ऐसा कहते आये हैं परन्तु **स्याद्वाद का कोप नहीं है;...** अपेक्षा के कथन में विरोध नहीं है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात। पूरे समयसार में अभी तक आत्मा को ज्ञानमात्र आत्मा को कहते आये हैं। तो ज्ञानमात्र कहने पर भी... आहाहा! स्याद्वाद अर्थात् अपेक्षा से जो अनन्त धर्म हैं, उसमें अनन्त गुण हैं और अनन्त पर्यायें हैं, उसका कोप नहीं, विरोध नहीं। आहाहा! ऐसा मार्ग। करने का हो, तब तो सूझ पड़े, करे। करे वहाँ मरे।

आत्मा ज्ञानस्वरूप अपने अतिरिक्त किसी भी पर का कर्ता होता है, (वह भटककर मरता है)। 'करे करम सो ही करतारा, जो जाने सो जाननहारा; जाने सो कर्ता नहीं होई, कर्ता सो जाने नहीं कोई।' आहाहा! प्रत्येक समय में आत्मा ज्ञानस्वरूप है। अपने

अतिरिक्त परद्रव्य की किसी भी दशा को करता नहीं और अपने में भी राग है, आता है, उसका भी कर्ता नहीं है। आहाहा! अरे..रे..! ऐसा आत्मा ज्ञानमात्र कहा, तथापि स्याद्वाद का कोप नहीं है।

क्योंकि ज्ञानमात्र आत्मवस्तु के स्वयमेव अनेकान्तात्मकत्व है। ज्ञान भले कहा परन्तु अनन्त गुण हैं और प्रत्येक समय में प्रत्येक पदार्थ की अनन्त पर्यायें हैं। आहाहा! समझ में आया? भाषा तो सादी है परन्तु वस्तु तो बापू! कभी की नहीं। अनन्त काल हुआ, अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अभी तो साधारण है, परन्तु अरबोंपति अनन्त बार हुआ, परन्तु धूलधाणी। मरकर नरक में गया। आहाहा! आत्मा क्या वस्तु है, उसका निर्णय करने का समय—अवसर ही लिया नहीं।

यहाँ यह कहते हैं, **आत्मा नामक वस्तु को ज्ञानमात्रता से उपदेश करने पर भी...** अपेक्षा से जो अनन्त गुण हैं, उसका विरोध नहीं, कोप नहीं। कोप (शब्द) है न? **कोप नहीं है;...** भले ज्ञानमात्र आत्मा को कहा, उसमें विरोध नहीं है। क्यों? **क्योंकि ज्ञानमात्र आत्मवस्तु के स्वयमेव अनेकान्तात्मकत्व है।** ज्ञान कहने से अनेक स्वरूप वस्तु है। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बातें। आत्मा ज्ञानस्वरूपी चैतन्य प्रभु है, ऐसा कहते ही वह **स्वयमेव अनेकान्तात्मकत्व है।** भले ज्ञानमात्र कहा तो भी वह अनेक स्वरूप है।

वहाँ (अनेकान्त का ऐसा स्वरूप है कि), जो (वस्तु) तत् है, वही अतत् है,... आहाहा! क्या कहते हैं? जो वस्तु तत् है—अपने से तत् है, ज्ञान से तत् है, वह ज्ञेय से अतत् है। आहाहा! यह क्या कहा? ज्ञान जो चैतन्यस्वरूप है, उस ज्ञानस्वरूप से तत् अर्थात् वह है और ज्ञान में जो यह शरीर, वाणी, मन, कर्म, कुटुम्ब ज्ञात होते हैं, उनसे तो अतत् है, उनसे वह नहीं। आहाहा! अरे रे! अनन्त काल गया परन्तु मैं एक हूँ, मेरे अतिरिक्त अनन्त चीज़ अनेक है, वह अनेक मैं नहीं, (ऐसा निर्णय नहीं किया)। आहाहा! है?

जो (वस्तु) तत् है, वही अतत् है,... आत्मा अपनी वस्तु से तत् है और ज्ञेय शरीर, वाणी, मन, पैसा, लक्ष्मी, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, मकान, कीर्ति इन सबसे आत्मा अतत् है। आहाहा! पुत्र, पुत्री, स्त्री, कुटुम्ब, कीर्ति इत्यादि से भगवान अतत् है। आत्मा स्वरूप से तत् है—वह है, वह परस्वरूप से अतत् है। आहाहा! है? **जो (वस्तु) तत् है, वही अतत् है,...** आहाहा! स्पष्टीकरण करेंगे।

जो (वस्तु) एक है, वही अनेक है,... वस्तुरूप से आत्मा एक है, तथापि उसमें गुण और पर्यायरूप से अनेक है। आहाहा! वस्तुरूप से एक होने पर भी, गुण-पर्यायरूप से अनेक है। पर्यायरूप से भी कायम अनेक है। आहाहा! किसी भी समय अनेक गुण-पर्याय बिना द्रव्य है, ऐसा नहीं है। आहाहा! तो उसे पर के ऊपर क्या नजर करनी है? अनेकपना भी तुझमें है और एकपना भी तुझमें है। आहाहा! वस्तुरूप से एक है और उसकी शक्ति और पर्यायरूप से अनेक है। पररूप से अनेक है, ऐसा नहीं। आहाहा! अरे रे!

यह कहते हैं, **जो (वस्तु) एक है, वही अनेक है,...** एक है, वही अनेक है। भगवान आत्मा स्वरूप से चैतन्य भिन्न है। शरीर से, वाणी से, मन से, राग-द्वेष से भिन्न है। एकरूप है, वही अनेकरूप है। अनेकरूप का अर्थ—उसमें गुण—शक्ति और पर्यायें अनन्त हैं। एकरूप है, वही अनेकरूप है। मोटाणी! पकड़ में आता है या नहीं? आहाहा! अरे रे! इस देह से भिन्न प्रभु एक है, वही अनेक है। वस्तुरूप से एक है और उसकी शक्ति—गुण और पर्यायरूप से अनेक है। परद्रव्यरूप से अनेक है, ऐसा नहीं है। आत्मा एक है और परद्रव्यरूप से आत्मा अनेक है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

परद्रव्य को तो आत्मा कभी स्पर्शा भी नहीं है। आहाहा! तीसरी गाथा, समयसार। एक तत्त्व अपनी वस्तु ज्ञानस्वरूपी है, उसमें अनन्त गुण और उसकी अनन्त पर्यायें हैं। प्रत्येक समय में अनित्य और नित्य नहीं, ऐसा नहीं है। है? एक-अनेक नहीं, ऐसा नहीं है। प्रत्येक समय वस्तुरूप से एक भी है, पर्याय और गुणरूप से अनेक भी है। पर की अपेक्षा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? यह तो मक्खन है, भाई! कभी दरकार नहीं की। आहाहा!

जो सत् है, वही असत् है,... है? अपने से सत् है, पर से असत् है। आहाहा! आत्मा अपने से है और शरीर, वाणी से है नहीं—असत् है। आहाहा! क्या खबर किसे पड़ी है? यह जिन्दगी निकाल डाली। बैल की तरह, पशु की तरह जिन्दगी निकाली। आहाहा! आगे कहेंगे, पशु कहेंगे। एकान्त माननेवाले पशु हैं, सेठ! वस्तु जो है, वह अनेक गुण और अनेक पर्याय (स्वरूप है)। वस्तुरूप से एक है, गुण-पर्यायरूप से अनेक है। ऐसा जो नहीं मानता, वह पशु है। आहाहा! श्लोक आयेंगे, चौदह श्लोक आयेंगे, प्रत्येक का श्लोक

आयेगा। आहाहा! दुनिया को प्रसन्न रखना, सभा को प्रसन्न करके सभा को इकट्ठी करना, यह अनन्त बार किया है, प्रभु! इसमें कुछ नहीं है। आहाहा!

यह चीज़ एक है, वही अनेक है। क्या कहा? वस्तुरूप से एक है और गुण तथा पर्यायरूप से अनेक है, कायम है। गुण और पर्यायरूप से अनेक कायम है। द्रव्यरूप से कायम एक है। आहाहा! **जो सत् है, वही असत् है,...** आहाहा! अपने से है, वह सत् और पर से नहीं, वह असत्। आहाहा! पहले आया था न? तत् (है), वही अतत् (है)। यहाँ ज्ञान और ज्ञेय दोनों लेना। ज्ञानस्वरूप से तत् है, ज्ञेयस्वरूप से अतत् है। ज्ञेयस्वरूप से, ऐसा लेना। इस तत्-अतत् में ज्ञान और ज्ञेय लेना। यहाँ सत्-असत् में अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव (लेना)। अकेला ज्ञान नहीं।

पहले तो तत् है, वह अतत् नहीं, यह आ गया है, तो यह क्या आया? यह दूसरी बात है। तत्-अतत् में तो ज्ञानस्वरूपी भगवान है। अनन्त ज्ञेय हैं, शरीर, वाणी, मन, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, पैसा, इज्जत इन ज्ञेयरूप कभी नहीं होता। इन ज्ञेयों में कभी नहीं जाता। वह ज्ञानरूप तत्त्व है और ज्ञेय से अतत् है। जाननेयोग्य चीज़ से अतत् है, वह नहीं है। यह ज्ञान और ज्ञेय सम्बन्धी में तत्-अतत्।

यहाँ सत् है, वही असत् है। यहाँ अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव (लेना)। द्रव्य अर्थात् वस्तु, क्षेत्र अर्थात् प्रदेश, काल अर्थात् अपनी अवस्था और भाव अर्थात् गुण—शक्ति। इन अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से सत् है। तत् में तो एक ज्ञान लिया था और अतत् में सब ज्ञेय हैं, उन ज्ञेयरूप तत् नहीं है। ज्ञानस्वरूपी भगवान ज्ञेयस्वरूप नहीं है, इतना लिया था। यहाँ अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से प्रत्येक चीज़ है, प्रत्येक चीज़ द्रव्य-वस्तु है। क्षेत्र अपना है, आत्मा का असंख्य प्रदेशी क्षेत्र। द्रव्य-वस्तु। काल अपनी अवस्था। भाव उसका गुण। इस द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से सत् है और पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से असत् है। आहाहा! अरे..रे..! निजघर की बात, अरे! इसके हित की बात! इसके हित की बात कभी प्रेम से सुनी नहीं, प्रेम से ली नहीं। आहाहा! बेगाररूप से निकाल डाली। आहाहा!

प्रभु आत्मा सत् है। अपना द्रव्य अर्थात् वस्तु, क्षेत्र अर्थात् प्रदेश, काल अर्थात्

वर्तमान पर्याय, भाव अर्थात् गुण, ज्ञान-दर्शन। इन द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से सत् है और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से असत् है। आहाहा! आत्मा अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से सत् है। शरीर, वाणी, मन, कर्म, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार सभी चीज़ों की अपेक्षा से आत्मा असत् है। आहाहा! कब ऐसा पढ़कर दरकार की? आहाहा! है? है या नहीं?

सत् है, वही असत् है। पहले तत् है, वही अतत् है, उसमें ज्ञान और ज्ञेय लेना। ज्ञानस्वरूपी तत् है, वह सर्व ज्ञेय से तत् नहीं, इतना। यह गुण के साथ लेना। यहाँ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से है और पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नहीं है। आहाहा! अरे रे! वीतराग का जैनशासन। ऊपर कह गये न? **अर्हंत् सर्वज्ञ का एक अस्खलित (-निर्बाध) शासन है।** कभी इसने प्रेम से सुना नहीं और सुनकर अन्तर में रुचि नहीं की। आहाहा! सब बाहर के थोथा, धन्धा-पानी, स्त्री, पुत्र, परिवार में मर गया, अपना मरण कर दिया।

मैं ज्ञान हूँ, मैं द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से मुझमें हूँ और पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव हैं, उनसे मैं असत् हूँ। उनसे मैं नहीं हूँ। उनसे वे हैं, उनसे मैं नहीं। आहाहा! भाषा तो सादी है, प्रभु! भाव तो प्रभु के गम्भीर हैं। तीन लोक के नाथ सीमन्धरस्वामी समवसरण में महाविदेहक्षेत्र में विराजमान हैं, अभी विराजते हैं। आहाहा! यह वहाँ से आयी हुई वाणी है। आहाहा! प्रभु विराजते हैं। ऐसी नजर करो तो। आहाहा! महाविदेहक्षेत्र में सीमन्धर प्रभु (विराजते हैं)। सीमं अर्थात् मर्यादा के धरनेवाले, अनन्त केवलज्ञान आदि मर्यादा। आहाहा! सीमन्धर भगवान, सीमं अर्थात् मर्यादा के धारक। अपने अनन्त गुण—शक्ति की मर्यादा को धरनेवाले भगवान विराजते हैं, वहाँ से यह सब आया है। आहाहा!

यह भगवान कहते हैं कि सत् है, वही असत् है। आहाहा! अपने से है, पर से नहीं। शरीर से आत्मा नहीं, कर्म से आत्मा नहीं, राग से आत्मा नहीं, पुण्य, दया, दान के परिणाम से आत्मा नहीं। आहाहा! अरे..रे..! ऐसी बात। सत्-असत् है। **जो सत् है, वही असत् है,...** यह वीतराग कहते हैं। एक है, वह स्वयं से है; पर की अपेक्षा से नहीं है। आहाहा! अपने से भी है और पर से भी हो तो दोनों एक हो जाए। अपने से भी आत्मा है और शरीर, कुटुम्ब, स्त्री, पुत्र से भी आत्मा है तो सब एक हो जाए। एक तो है नहीं। आहाहा!

जो नित्य है... यह तेरहवाँ बोल है। तत्-अतत् दो बोल ये आये, एक-अनेक ये दो होकर चार; सत्-असत् द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के ये आठ बोल आयेंगे। अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से है, परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नहीं, यह आठ बोल हैं, तो आठ और चार बारह हुए, अब दो रहे। **जो नित्य है, वही अनित्य है...** यह चौदहवाँ बोल। आहाहा! जो कोई वस्तु नित्य है, वह कायम अनित्य है। पर्याय से अनित्य है, परिणमन बदलने की अपेक्षा से अनित्य है, वस्तुस्वरूप से त्रिकाली नित्य है। आहाहा! यह चौदह बोल हुए। चौदह बोल की व्याख्या चलेगी, फिर चौदह बोल के श्लोक चलेंगे। आहाहा!

जो नित्य है... भगवान त्रिकाली वस्तु नित्य है, वही परमात्मा स्वयं अनित्य भी है, पर्यायरूप से कायम त्रिकाल अनित्य है। आहाहा! है? **जो नित्य है, वही अनित्य है...** है? आहाहा! ध्रुवरूप से प्रभु नित्य है, परमाणु आदि छहों द्रव्य, यहाँ आत्मा की बात मुख्य लेनी है। जो वस्तु आत्मा नित्य त्रिकाल है, वही वर्तमान पर्याय की अपेक्षा से अनित्य भी है। नित्य और अनित्य होकर वस्तु है। एक नित्य ही है, ऐसा माननेवाला वेदान्त मिथ्यादृष्टि है। वह अनित्य नहीं मानते और बौद्धमति अनित्य मानते हैं, परिणमन मानते हैं प्रत्येक क्षण में; वे नित्य नहीं मानते, वह भी मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! **जो नित्य है...** भगवान शाश्वत् रहनेवाला है, **वही अनित्य...** अर्थात् विचार बदलते हैं, पर्याय से अनित्य है। द्रव्य से नित्य है।

इस प्रकार एक वस्तु में वस्तुत्व की उपजानेवाली... आहाहा! है? **एक वस्तु में...** वस्तुत्व, वस्तुपना। नित्य और अनित्य वस्तुपना। आहाहा! एक और अनेक वस्तुपना। तत् और अतत् एक वस्तुपना। सत् और असत् वस्तुपना। आहाहा! अरे..रे..! कभी सुना न हो, उसे तो कठिन लगे? ऐसा मार्ग वीतराग का होगा? वीतराग का मार्ग तो यह दया पालना, व्रत करना, भक्ति करना, मन्दिर बनाना, पूजा करना यह होता है। आहाहा! यह तो प्रभु! सब होता है परन्तु है राग, यह कोई धर्म नहीं है। आहाहा! तथापि धर्मी को अशुभ से बचने के लिये शुभ आता है परन्तु है बन्ध का कारण। आहाहा! अरे..रे..!

सवेरे कहा था, इन्द्र है, सौधर्म इन्द्र है, सौधर्म इन्द्र देवलोक है, वैमानिक। बत्तीस लाख विमान हैं, एक-एक विमान में असंख्य देव हैं, उन सब विमान का स्वामी शकेन्द्र

वर्तमान में इन्द्र है। भगवान के सिद्धान्त ऐसा कहते हैं कि वह एकावतारी है। क्या कहा? वहाँ से निकलकर मनुष्य होकर मोक्ष जाएगा। आहाहा! सम्यग्दृष्टि है, आत्मा का भान है। उसकी करोड़ों अप्सराएँ हैं, उनमें एक अप्सरा ऐसी है कि वह हमेशा परमात्मा के पास जाती थी। गर्भ कल्याणक, जन्म कल्याणक, दीक्षा कल्याणक, केवल (ज्ञान) कल्याणक (मनाते हैं) उसमें वह समकित पा गयी। वह रानी एकावतारी है। वह भी वहाँ से मनुष्य होकर एक भव में मोक्ष जाएगी। वह भी भगवान की वाणी सुनने जाती है। आहाहा! उसका निर्णय हो गया है। सेठ! आहाहा!

दूसरी बात यह कही थी, भगवान ऋषभदेव परमात्मा अष्टापद पर्वत से मोक्ष पधारे। ऋषभदेव भगवान पहले तीर्थंकर। उनके पुत्र भरत समकिती, ज्ञानी—धर्मात्मा थे, छह खण्ड का राज, छियानवें हजार स्त्रियाँ थीं। जहाँ भगवान का मोक्ष कल्याणक—देह छूटते देखा, वहाँ रोने लगे। ज्ञानी—धर्मात्मा हैं, परन्तु अभी वीतराग नहीं, राग है (तो रोते हैं)। इन्द्र आये, शकेन्द्र इन्द्र उस समय के। अभी तो शकेन्द्र दूसरे हैं। उस समय इन्द्र आये। भगवान मोक्ष पधारे। (इन्द्र कहता है), अरे! भरत! क्यों रोते हो? प्रभु ने कहा नहीं, तुम्हें खबर नहीं कि तुम्हें तो यह अन्तिम देह है। यह देह अन्तिम है और इस देह से तुम्हारी मुक्ति है। इन्द्र कहता है। आहाहा!

इन्द्र भरत को कहता है कि हे भरत! तुम्हें तो यह अन्तिम देह है, केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष जाओगे। मुझे तो अभी एक मनुष्यदेह धारण करनी है। क्यों रोते हो? (भरत कहते हैं) इन्द्र! सुन! राग है, अभी वीतराग हुए नहीं, मैं जानता हूँ कि यह राग पाप है, भले पुण्य है परन्तु धर्मी तो (कहता है), 'पाप पाप को सब कहे, परन्तु अनुभवीजन पुण्य को पाप कहे।' आहाहा!

मुमुक्षु : भरत किसलिए रोते थे?

पूज्य गुरुदेवश्री : राग आया इसलिए। वीतराग नहीं थे न, समकित था।

मुमुक्षु : निर्वाणकल्याणक हो गया इसलिए?

पूज्य गुरुदेवश्री : निर्वाण हो गया, शरीर पड़ा रहा। केवल(ज्ञान) पाकर मोक्ष पधारे। समकिती ज्ञानी उसी भव से मोक्ष जायेंगे, परन्तु राग आया। भगवान का मोक्ष हुआ

तो इन्द्र भी आये। इन्द्र ने कहा, अरे! भरत क्यों रोते हो? तुम तो इस भव में मोक्ष जानेवाले हो। तुम्हारे तो यह अन्तिम देह है। हमारे अभी एक देह धारण करनी पड़ेगी। मनुष्यपना प्राप्त करूँगा और वहाँ से मोक्ष जाऊँगा। (भरत कहते हैं), इन्द्र! सुन, यह सब खबर है। हम इस भव में मोक्ष जानेवाले हैं, यह भी हमें खबर है परन्तु यह राग (आया है), वीतरागता हुई नहीं, मेरी दशा वीतराग नहीं हुई तो यह राग काम करता है। मैं जानता हूँ कि राग बन्ध का कारण है परन्तु मेरी कमजोरी से आये बिना नहीं रहता। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, **एक वस्तु में वस्तुत्व की उपजानेवाली...** क्या कहा? प्रत्येक तत्त्व जो एक है, उसमें वस्तुत्व **उपजानेवाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकान्त है।** अमृतचन्द्राचार्य मुनि महाराज स्वर्ग में गये। एकावतारी हैं, एक भव में मोक्ष जानेवाले मुनिराज कहते हैं कि **एक वस्तु में वस्तुत्व की उपजानेवाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों...** विरुद्ध हुआ न? तत् है, वह अतत् है। स्व से है, यह तत्; पर से नहीं यह अतत्। तत् है, वही अतत् है। वस्तुरूप से एक है, वह गुण-पर्यायरूप से अनेक है। आहाहा! ऐसी **परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकान्त है।** यह वीतराग का मार्ग अनेकान्त है। अनेक अन्त, अनेक धर्म, अनेक शक्ति, अनेक गुण और पर्याय। द्रव्य अनेक, गुण अनेक, पर्याय अनेक परन्तु एक-एक द्रव्य में एक द्रव्य, गुण अनन्त और पर्याय अनन्त है। आहाहा! कहाँ दरकार पड़ी है? नामा लिखे तो ध्यान रखकर लिखता है।

हमारी तो पालेज में दुकान थी न? गाँव में साधु आवे। हमारे पिताजी स्थानकवासी थे, उसमें हमारा जन्म हुआ। साधु आवे, इसलिए मैं तो दुकान छोड़ दूँ। भागीदार थे, वे काम करें। हमारी दो दुकानें थीं। एक कुंवरजीभाई थे, वे तो गाँव में साधु आये हों तो पूरे दिन सामने नहीं देखें। सामने देखे नहीं। आहार-पानी देने आवे नहीं। मैं सर्वत्र जाऊँ। पूरे दिन धन्धा... धन्धा... धन्धा... आठ बजे के बाद नामा लिखकर जाए। साधु कहे कि अरे! यह रातडिया आये। हम तो पहिचानते भी नहीं कि यह कौन है। आहाहा! ऐसी ममता... ममता... ममता...

मैंने तो (संवत्) १९६४ के वर्ष में कह दिया था। देह की अठारह वर्ष की उम्र थी,

अभी तो ९१ है। ९०+१। अठारह वर्ष की उम्र में तो मैंने कह दिया, मैं दुकान भी चलाता था परन्तु उनकी इतनी ममता देखकर ऐसा कहा, कुँवरजीभाई! मरकर ढोर होओगे, याद रखना, पशु होओगे। तुम्हारे देव में जाने के लक्षण लगते नहीं। १९६४ के वर्ष, संवत् १९६४। ऐसे मनुष्यपने के लक्षण लगते नहीं कि यहाँ से मरकर मनुष्य होओगे, नरक में तो अपन जानेवाले नहीं क्योंकि अपने यहाँ माँस और शराब नहीं है। पशु में जाओगे, कहा। आहाहा! मेरे सामने बोले नहीं। उस समय मेरी छाप भगत की थी न! भगत की छाप थी। क्योंकि विवाह करने का इनकार किया। विवाह का प्रसंग आया तो विवाह के लिये इनकार किया कि मुझे विवाह नहीं करना है। छोटे भाई का विवाह कर दो। तब से भगत नाम पड़ा। मेरे सामने कोई बोले नहीं। आवश्यकता के बिना बोले नहीं।

मैंने ऐसे कहा तो दाँत निकाले (हँसे)। क्या ममता, पूरे दिन यह होली सुलगती है। धन्धा... धन्धा... धन्धा... धन्धा... गाँव में साधु आये हों तो दो घड़ी जाना या आहार देना (वह भी नहीं)। उस समय तो उसमें थे न! यह भी निवृत्ति नहीं। क्या करना है? कहाँ जाना है? उसे मरते समय सन्निपात हो गया। (संवत्) २०२१ के वर्ष। दुकान की दो लाख की आमदनी और दस लाख रुपये। उस समय २०२१ के वर्ष की बात है, हों! अभी तो बहुत पैसे हो गये। अभी तो चालीस लाख रुपये हैं, चार लाख की आमदनी है। उस दुकान में मैं था। मैंने पाँच वर्ष दुकान चलायी थी। १९६३ से १९६८। पाप, अकेला पाप। आहाहा! अरे! यह करके तुम्हें कहाँ जाना है? क्या है यह? दो घड़ी, चार घड़ी गाँव में साधु आये, उनके दर्शन भी नहीं, उन्हें आहार-पानी देने का नहीं, उसके लिये समय निकालना नहीं, यह क्या है परन्तु यह? हम तो पहले से स्पष्ट व्यक्ति। किसी को कुछ कहने में कुछ अड़चन नहीं। स्पष्ट कह देते थे। सुने, सामने बोले नहीं। क्या करते हो? बापू! भाई! कहाँ जाना है यहाँ से?

यहाँ यह कहते हैं, **परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकान्त है।** स्व-रूप से है, पर-रूप से नहीं। आहाहा! तेरी दुकान का धन्धा, दुकान, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार से तू नहीं है।

मुमुक्षु : कब से?

पूज्य गुरुदेवश्री : अनादि से। कब से ? अनादि से। अरे..रे.. ! तू तुझसे एक है, तू अनेक है परन्तु गुण और पर्याय से अनेक है। परिवार से, दुकान के धन्धे से तू अनेक है, ऐसा नहीं है। आहाहा ! बहुत सूक्ष्म बात है। एक और अनेक, नित्य और अनित्य दोनों हैं। नित्य आत्मा है और यह सब चीज़ अनित्य है, ऐसा नहीं। तू भी नित्य है, कायम रहनेवाला है और पर्याय में बदलनेवाला कायम पर्याय है। पर्याय बिना का एक समय नहीं है। आहाहा ! प्रभु ! एक बार तू विचार तो कर। तू कौन है ? ऐसा कहते हैं। तेरी जैसी चीज़ है, ऐसा निर्णय नहीं करे तो अन्दर नहीं जा सकेगा, सम्यग्दर्शन नहीं हो सकेगा और सम्यग्दर्शन बिना जन्म-मरण का अन्त आता नहीं। आहाहा ! यहाँ तो स्पष्ट बात है।

यहाँ यह कहा, **इसलिए अपनी आत्मवस्तु को भी,...** है ? **अपनी आत्मवस्तु को भी, ज्ञानमात्रता होने पर भी,** आहाहा ! **तत्त्व-अतत्त्व,...** स्वरूप से तत्, ज्ञेय से अतत्। **एकत्त्व-अनेकत्त्व,...** वस्तु से एक, गुण-पर्याय से अनेक। **सत्त्व-असत्त्व,...** अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से सत्व, परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से असत्व। **नित्यत्त्व-अनित्यत्त्वपना...** कायम रहता है, इसलिए नित्य; समय-समय में पलटने से अनित्यपना। **प्रकाशता ही है;...** तेरी आत्मवस्तु में भी यह चौदह बोल प्रकाशते हैं, ऐसा कहते हैं। आहाहा ! कभी विचार नहीं किया। यह चौदह बोल जो कहे, वे चौदह बोल तुझमें है। आया ?

इसलिए अपनी आत्मवस्तु को भी,... आहाहा ! अपने आत्मा को भी। है ? **ज्ञानमात्रता होने पर भी,...** भले ज्ञान कहा। **तत्त्व-अतत्त्व, एकत्त्व-अनेकत्त्व, सत्त्व-असत्त्व, और नित्यत्त्व-अनित्यत्त्वपना प्रकाशता ही है;...** क्यों ? **क्योंकि-उसके (-ज्ञानमात्र आत्मवस्तु के)** (आहाहा !) **अन्तरंग में चकचकित प्रकाशते ज्ञानस्वरूप के द्वारा तत्पना है,...** भगवान आत्मा में ज्ञानरूप से एक है। कायम जाननेवाला, जाननेवाला, जाननेवाला तत् है। आहाहा ! है ? **अन्तरंग में चकचकित प्रकाशते ज्ञानस्वरूप के द्वारा तत्पना है,...** ज्ञानस्वरूप द्वारा तू तेरेरूप से है। तू तुझमें है।

और बाहर प्रगट होते अनन्त ज्ञेय,... तेरे अतिरिक्त राग, दया, दान, शरीर, वाणी, कर्म, पैसा, लक्ष्मी, स्त्री, पुत्र, परिवार... आहाहा ! यह अनन्त। है ? **अनन्त, ज्ञेयत्व**

को प्राप्त,... यह तो जाननेयोग्य परचीज़ है। **स्वरूप से भिन्न...** अपने स्वरूप से वह ज्ञेय भिन्न है। आहाहा! अपने ज्ञानस्वरूप से राग, शरीर, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, लक्ष्मी, इज्जत, कीर्ति, पैसा सब भिन्न है। वह तो ज्ञेय है, वह ज्ञान नहीं। ज्ञान है, वह आत्मा है और ज्ञेय जो जाननेयोग्य ज्ञेय है, वे वस्तु भिन्न है, वह वस्तु तुझमें नहीं है। आहाहा! यह पैसेवाले कहलाते हैं न? लक्षपति, करोड़पति और धूलपति। क्योंकि करोड़ और लक्ष (पति) पैसा है न? धूल है, धूल है। धूल का पति। नरपति। मनुष्य का पति राजा। धूल भी नहीं किसी का पति। आहाहा!

तेरी चीज़ में परचीज़ का त्रिकाल अभाव है। तेरी चीज़ तेरे ज्ञान में है। पहला बोल। यह ज्ञान लेना है। यह ज्ञान ज्ञानस्वरूप से है और इसके अतिरिक्त... आहाहा! बाहर प्रगट होते अनन्त ज्ञेय को प्राप्त **स्वरूप से भिन्न ऐसे पररूप के द्वारा (–ज्ञानस्वरूप से भिन्न ऐसे परद्रव्य के रूप द्वारा) अतत्पना है...** आहाहा! समझ में आया? ज्ञानस्वरूप—जाननस्वरूप से तू तत् यह है और ज्ञात होनेयोग्य चीज़ से तू यह नहीं। स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, शरीर, लक्ष्मी, इज्जत, कीर्ति, राग, द्वेष यह सब जाननेयोग्य है, वह तू नहीं है। वह तुझमें नहीं, तू नहीं, उसमें तू नहीं। आहाहा! ऐसे आत्मा का ज्ञान और अनुभव करना, वह धर्म है, इसके बिना धर्म नहीं है। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४६६, परिशिष्ट गुरुवार, भाद्र शुक्ल ९
दिनांक - १८-०९-१९८०

समयसार (परिशिष्ट)। यहाँ पूरे शास्त्र का सार चौदह बोल में भर दिया है। चौदह बोल तीन बार लिये हैं। एक तो चौदह के नाम (लिखे हैं)। पश्चात् चौदह (बोल का) थोड़ा गद्य में विस्तार (किया है) और फिर चौदह का पद्य में श्लोक। इन चौदह बोल को तीन बार लिया है। पहले आया है, अनेकान्त यह तत्-अतत्, एक-अनेक ऐसे चौदह नाम पहले आ गये हैं। अब इन चौदह का थोड़ा विस्तार करते हैं। फिर चौदह (बोल के) श्लोक आयेंगे। आहाहा! ऐसी चीज़ है।

मुमुक्षु : यह मुद्दे की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मुद्दे की बात है अर्थात् जरा सूक्ष्म पड़ती है। सेठ को बताओ। यहाँ तक आया है। थोड़ा फिर से लेते हैं। ऊपर से।

इस प्रकार 'एक वस्तु में वस्तुत्व की उपजानेवाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकान्त है।' वीतरागमार्ग अनेकान्त है। अनेक अन्त— अनेक अपेक्षा, अनेक धर्म, अनेक शक्ति, अनेक विस्तार। आहाहा! यहाँ कहते हैं, यह अमृतचन्द्राचार्य के महा शब्द हैं। **एक वस्तु में वस्तुत्व की उपजानेवाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों...** आहाहा! जो नित्य है, वही अनित्य है; एक है, वही अनेक है। आहाहा! ऐसा प्रत्येक तत्त्व में है, उसमें यहाँ आत्मतत्त्व की बात है। उसे **प्रकाशित होना अनेकान्त है।** अनेक अन्त अर्थात् धर्म।

इसलिए अपनी आत्मवस्तु को भी,... अपनी आत्मवस्तु को भी। जब प्रत्येक वस्तु में ऐसा है तो अपने आत्मा में भी **ज्ञानमात्रता होने पर भी,...** आहाहा! ज्ञानमात्र आत्मा जाननस्वभाव, ज्ञायकभाव होने पर भी **तत्त्व-अतत्त्व, एकत्त्व-अनेकत्त्व, सत्त्व-असत्त्व, और नित्यत्त्व-अनित्यत्त्वपना प्रकाशता ही है;...** तथापि चौदह बोल प्रत्येक में प्रकाशता है। पहले नाम आ गये थे, फिर से नाम लिये। अब फिर से इनका विस्तार करते हैं। आहाहा! निकला? छोटाभाई! चिमनभाई को निकला?

क्योंकि–उसके (–ज्ञानमात्र आत्मवस्तु के)... ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा चैतन्यचन्द्र, अन्दर सूर्य शाश्वत् है। तीर्थंकर हो या चाहे तो तीर्थंकर की वाणी हो या चाहे तो शास्त्र हो, चाहे तो साक्षात् भगवान हो, वे अनन्त ज्ञेय हैं। ज्ञान में ज्ञात होने योग्य ज्ञेय हैं। है? **बाहर प्रगट होते अनन्त ज्ञेयत्व को प्राप्त,...** अनन्त ज्ञेय हैं। एक राग का विकल्प, भक्ति का राग का आया, उस राग से लेकर पूरी दुनिया, लोकालोक वह आत्मा के ज्ञान का ज्ञेय है। जाननेयोग्य है, उस ज्ञेयरूप आत्मा नहीं है। समझ में आया? आहाहा! अरे! अपनी चीज़ क्या है, उसे कभी समझण में भी नहीं लिया। तो उसमें स्थिर तो कहाँ से हो? चारित्र तो कहाँ आवे? चारित्र तो अलौकिक चीज़ है। यह समझे बिना चारित्र–फारित्र है नहीं। आहाहा!

कहते हैं कि **अनन्त ज्ञेयत्व को प्राप्त,...** सामने अनन्त ज्ञेय हैं। एक ओर प्रभु ज्ञान है तो सामने अनन्त ज्ञेय हैं। ज्ञान में ज्ञात होनेयोग्य अनन्त ज्ञेय हैं। उस **स्वरूप से भिन्न...** आहाहा! उस ज्ञेयपने को प्राप्त से भिन्न भगवान है। **ऐसे पररूप के द्वारा (–ज्ञानस्वरूप से भिन्न ऐसे परद्रव्य के रूप द्वारा) अतत्पना है...** आहाहा! पर के द्वारा अतत्पना है। शरीर से आत्मा नहीं, कर्म से आत्मा नहीं, राग से आत्मा नहीं, स्त्री, कुटुम्ब–परिवार, लक्ष्मी–पैसा, धूलधाणी से आत्मा नहीं। आहाहा!

इस पहले बोल में ज्ञान और ज्ञेय की बात ली है। द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव की बाद में लेंगे। यहाँ तो पहले यह लिया है, प्रभु! तू ज्ञान है न! तेरा जाननस्वभाव है न! और उस जाननस्वभाव से तेरा तत्पना—उस पना, तेरापना है। उस जाननस्वभाव से तत्पना—तेरापना है और उस ज्ञान से अन्य अनन्त ज्ञेय। है? अनन्त ज्ञेय। आहाहा! वे (भिन्नपने को) प्राप्त। ज्ञेय हैं, परन्तु वे ज्ञेय स्वरूप से भिन्न है। आहाहा! सर्वज्ञ परमात्मा से भी तू भिन्न है। आहाहा! उनकी वाणी से भी तू भिन्न है। शरीर से भिन्न, वाणी से भिन्न, कर्म से भिन्न, राग से भिन्न, ऐसे अनन्त ज्ञेय हैं, अनन्त ज्ञेय, अनन्त सिद्ध से भी तू भिन्न है। आहाहा! यह तो कल आ गया है।

स्वरूप से भिन्न ऐसे पररूप के द्वारा (–ज्ञानस्वरूप से भिन्न ऐसे परद्रव्य के रूप द्वारा) अतत्पना है (अर्थात् ज्ञान उस–रूप नहीं है);... भगवान ज्ञान (स्वरूप है)। जो ज्ञेय ज्ञात होते हैं, अपने अतिरिक्त सर्व चीज़ सर्वज्ञ भी परद्रव्य में जाते हैं।

आहाहा! वे परज्ञेय में जाते हैं, ज्ञान में तो अकेला आत्मा ज्ञानस्वरूप का पिण्ड प्रभु, उस ज्ञान में जो ज्ञात होता है, वे अनन्त ज्ञेय हैं। ज्ञात होनेयोग्य चीज़ अनन्त है परन्तु उन अनन्त चीज़ों से तेरी चीज़ भिन्न है। आहाहा! अरेरे! दरकार कहाँ की है! अनन्त काल चला गया। आहाहा! **अतत्पना है...** यहाँ तक तो आया है। कल आया था। अब दूसरा (बोल)।

(अर्थात् ज्ञान उस-रूप नहीं है);... अतत् अर्थात् ज्ञान ज्ञेयरूप नहीं है। ज्ञेय अर्थात् पंच परमेष्ठी, देव-गुरु-शास्त्र, शरीर, वाणी, कर्म, कुटुम्ब, ये अनन्त ज्ञेय हैं। इन अनन्त ज्ञेयरूप से तू नहीं है। आहाहा! समझ में आया? यह तो कल आया था। अब आज दूसरी बात। अब एक-अनेक। यह तत्-अतत् (था)। अपने-रूप से है और ज्ञान में ज्ञात होनेयोग्य अनन्त ज्ञेय हैं, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, शरीर, कर्म, देव-गुरु-शास्त्र, सर्व अनन्त ज्ञेय हैं, वे पर हैं। उनसे तू अतत् है, उनसे तू नहीं है। आहाहा!

अब ज्ञान और ज्ञेय दो की बात। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव, अपने द्रव्य से है और परद्रव्य से नहीं, यह अभी नहीं। यहाँ तो ज्ञानमात्र। ज्ञान और ज्ञेय। है तो ज्ञान द्रव्य पूरा। आहाहा! जाननस्वभावमात्र भगवान, उस ज्ञानमात्र तू है, वह तत् है, वह है, उसरूप है, तेरेपने है। और उस ज्ञान में जो अनन्त ज्ञेय—राग से लेकर अनन्त ज्ञेय, सर्वज्ञ परमात्मा भी अनन्त ज्ञेय में जाते हैं। उन अनन्त ज्ञेयरूप तू नहीं है। यह अतत्पना है। समझ में आया? दो बोल हुए। अब दूसरे दो बोल। आहाहा! चार बार बात ली है। पहले नाम आ गये, बाद में नाम, उनका विस्तार और बाद में चौदह श्लोक। सार में सार मक्खन है।

सहभूत (साथ ही) प्रवर्तमान और क्रमश: प्रवर्तमान अनन्त चैतन्य-अंशों के समुदायरूप अविभाग द्रव्य के द्वारा एकत्व है,... है सेठ! आया? क्या (कहा)? **सहभूत (साथ ही) प्रवर्तमान...** रहनेवाले गुण। अनन्त गुण साथ में रहते हैं और क्रमश: अनन्त गुण की पर्याय होती है। अनन्त गुण की अनन्त पर्यायें होती हैं। आहाहा! सहभूत प्रवर्तमान, वह गुण है। क्रमश: प्रवर्तमान, यह पर्याय (हुई)। इन दोनों के **अनन्त चैतन्य-अंशों...** यह अनन्त चैतन्य अंश। आत्मा में अनन्त गुण हैं, वे भी अनन्त अंश हुए। आत्मद्रव्य में वे अंश हुए और पर्याय भी, परिणमन भी त्रिकाल की पर्याय किसी समय, कोई द्रव्य पर्याय से खाली नहीं है। आहाहा!

इन **चैतन्य-अंशों के समुदायरूप...** ऐसे गुण और पर्याय का समुदाय। आहाहा!

अविभाग द्रव्य के द्वारा... यह गुण और पर्याय का समुदाय अर्थात् भाग नहीं, वह एकरूप है। आहाहा! समझ में आया? अनन्त गुण और अनन्त पर्यायें प्रत्येक द्रव्य में है, इस अपेक्षा से यहाँ कहा कि अनन्त गुण का समुदाय और अनन्त पर्याय का समुदाय का एकरूप है। इस अपेक्षा से भगवान आत्मा एकरूप है। आहाहा! समुदाय लिया न? **अंशों के समुदायरूप अविभाग...** जिसके भाग नहीं, ऐसे **द्रव्य के द्वारा एकत्व है,...** आहाहा! ऐसे द्रव्य—वस्तु के द्वारा एकपना है। धीरे से तो लिया जाता है, भाई! भाई का— हीराभाई का कहना ऐसा था कि यह परिशिष्ट पढ़ा नहीं। पढ़ा है, वह अभी प्रकाशित नहीं होता। यह नया वाँचन छपाना है। मुम्बई से पुस्तक प्रकाशित होती है न? यह वाँचन हो तो पुस्तक प्रकाशित होगी। टेप में रिकॉर्ड होता है, उसमें से उतारेंगे (प्रकाशित करेंगे)। हीराभाई ने यह कहा था। आहाहा! परिशिष्ट यह तो 19वीं बार नयी बार चलता है। आहाहा!

कहते हैं कि तू—तेरा स्वभाव जो अनन्त गुण—अंश है और अनन्त पर्यायें हैं, वह भी अंश है, उनके समुदायरूप एकरूप है। समझ में आया, सेठ! अनन्त गुण और अनन्त पर्याय, उनका समुदाय, उनका एकरूप है, इस अपेक्षा से आत्मा एक है। आहाहा!

अरे रे! सत्य वस्तु कान में पड़ती नहीं, विचार में आती नहीं, प्रभु! तुझे कहाँ जाना है? अरे रे! चौरासी के अवतार, प्रभु! तूने अनन्त बार किये। कहाँ (किये)? ओहोहो! नरक और निगोद, चींटी और कौआ, कौवे के अनन्त भव किये। और मिल होती है न? सेठ! यह मिल होती है न? कारखाना। उसके लिये हौज में पानी भरते हैं। उस हौज में बिल्ली और कुत्ते पड़कर मर जाते हैं। आहाहा! भले वह पाँच-दस लाख बारह महीने में कमाये परन्तु उस पानी की हौज ऐसी गर्म-गर्म होती है कि कुत्ता निकले और अन्दर पीने जाए तो गिर जाए, मर जाए। आहाहा! बड़े-बड़े मिल मालिक। 'उजमशी' इत्यादि मुम्बई में, यहाँ अहमदाबाद, भावनगर में मिल है। सब यहाँ आते थे। भावनगर जाऐं तो आवे तो सही। आहाहा! श्रीमद् राजचन्द्र के अनुयायी।

यहाँ कहते हैं, प्रभु! साथ में रहनेवाले अनन्त गुण हैं। ज्ञान, दर्शन, आनन्द, शान्ति, स्वच्छता एक साथ आत्मा में रहनेवाले गुण हैं और उनकी अनन्त पर्यायें हैं। अनन्त गुणों की अनन्त अवस्थाऐं, वर्तमान अंश प्रगट है, उन सबका समुदाय एक है। समुदायरूप से एक है। आहाहा! है?

और अविभाग एक द्रव्य में... इस द्रव्य में भाग तो पड़ते नहीं। अविभाग—विभाग नहीं। ऐसे द्रव्य में, आहाहा! व्याप्त, **सहभूत प्रवर्तमान तथा क्रमशः प्रवर्तमान अनन्त चैतन्य-अंशरूप (चैतन्य के अनन्त अंशोंरूप) पर्यायों के द्वारा अनेकत्व है;...** आहाहा! यह क्या कहा? कि अनन्त गुण और अनन्त परिणति, अनन्त पर्याय एक समय में प्रत्येक द्रव्य में होती है। कोई भी पदार्थ अनन्त पर्याय और अनन्त गुण के बिना नहीं है। कहते हैं कि वह अनन्त गुण और अनन्त पर्यायों का समुदाय, वह एकरूप है। इस अपेक्षा से तू एकरूप है। परन्तु गुण और पर्याय के अंश की अपेक्षा से देखें तो तू अनेकरूप है। एक है, वही अनेक है। आहाहा! है? आहाहा! **अनेकत्व है;...**

(चैतन्य के अनन्त अंशोंरूप) पर्यायों के द्वारा... आहाहा! प्रत्येक द्रव्य में किसी समय पर्याय न हो, ऐसा तीन काल में नहीं होता। ऐसी अनन्त पर्याय का समुदाय / पिण्ड और अनन्त गुण का पिण्ड, इस अपेक्षा से समुदायरूप से एक है। परन्तु गुण और पर्याय के अंशभेदरूप से अनेक है। एक है, वही अनेक है। आहाहा! आया? चार बोल हुए। तत्-अतत्, एक-अनेक। चारों एक समय में आत्मा में हैं। ऐसे चौदह बोल एक समय में हैं। आहाहा! ऐसी दृष्टि करे तो सम्यग्दर्शन होता है। आहाहा!

ऐसा तत्त्व जो है, एक-अनेक, तत्-अतत् चार बोल तो हुए। दस बोल बाकी है। अब एक साथ आठ बोल लेंगे। क्या है? देखो! आहाहा! शान्ति से, धीरे से पकड़ना, प्रभु! यह तो अलौकिक धर्म का भाव है। भव का अभाव करने की चीज़ है, प्रभु! बाकी तो भव कर-करके मर गया। नारकी के भव... आहाहा! एक क्षण के दुःख, सात नरक में, प्रभु! अनन्त बार गया। भूल गया है। भूल गया, इसलिए नहीं था? इसका दृष्टान्त तो हम देते हैं। तुम्हारा जन्म हुआ तो बारह महीने में क्या हुआ, खबर है? बताओ! माणेकचन्दजी! क्या कहा? जन्म हुआ, जन्म, पश्चात् बारह महीने माता ने किस तरह नहलाया, दूध पिलाया, इसकी खबर है? खबर नहीं है तो नहीं थी? जिस चीज़ की खबर नहीं, वह चीज़ नहीं थी? ऐसा कौन कहे? कि तू ही नहीं। यहाँ तो प्रभु! मार्ग कोई अलग है, पूरी दुनिया से अलग है। आहाहा!

तू कहेगा कि हमें तो भूतकाल की खबर नहीं पड़ती। खबर नहीं पड़ती, इसलिए नहीं है, ऐसा कैसे कहा जाए? तेरे जन्म के पश्चात् बारह महीने तेरी माता ने तुझे किस

प्रकार जिमाया (इसकी खबर है) ? सेठ ! जंगल (दस्त) करते हैं न ? आठ महीने का, दस महीने का छोटा बालक हो, वह दस्त करता है, वह दस्त किस प्रकार जाता है, यह देखा है ? माता दो पैर लम्बे करके और दो पैर के बीच में ऊपर बैठाती है। देखा है ? हमने तो सब एक-एक बात परीक्षा करके देखी है। छोटा बालक।

मुमुक्षु : बालक का क्या कहा ?

पूज्य गुरुदेवश्री : बालक का यह कहा, बालक है, वह दस्त करता है, वह किस प्रकार करता है, देखा है ? उसकी माता दो पैर लम्बे करे और पैर के ऊपर बैठावे। आहाहा ! इस बात की तुझे खबर है ? नहीं है तो नहीं था ? खबर नहीं है, इसलिए नहीं था—ऐसा कौन कहे ? इसी प्रकार अनन्त भव में अनन्त दुःख भोगे, इसकी खबर नहीं, इसलिए नहीं थे—ऐसा कौन कहे ? आहाहा ! नटुलालजी ! सेठ ! ऐसी बात है, भगवान ! पहले आये हुए, नहीं ? आहाहा !

भूत काल की बात याद नहीं है, इसलिए नहीं था, प्रभु ! ऐसा नहीं कहा जाता। ऐसा कहने में तेरी नास्ति होगी। आहाहा ! अनन्त काल गया, उसे तू भूल गया, तुझे तो खबर नहीं। बालक का जन्म होता है न ? तो वह पहले आँख नहीं खोलता। देखा है कभी ? उसकी माँ को भी खबर नहीं होगी। बालक जन्मे तो पहले आँख नहीं उघाड़ता, पहले ऊं...आ... ऊं...आ... ऐसा करता है, फिर माता जाँचती है कि यह लकड़ी है या लड़का है ? बाद में खबर पड़े। आहाहा !

यहाँ तो दूसरी (बात) करनी है कि यह सब बात आत्मा पर बीत गयी है। अभी खबर नहीं, परन्तु खबर नहीं, इसलिए नहीं था ? आहाहा ! माता को तो सब खबर है कि इस बालक को मैंने किस तरह दूध पिलाया, किस तरह दस्त करायी, किस प्रकार सुलाया, यह सब तो माता को तो खबर है। इसी प्रकार भगवान को तीन काल-तीन लोक की खबर है। आहाहा ! इस लड़के को खबर नहीं, इसलिए नहीं था—ऐसा कैसे कहा जाए ? प्रभु ! ऐसे अनन्त काल भगवान ने त्रिकाल देखा। माता को जैसे बालक की खबर है कि मैंने बालक को ऐसा किया था, उसी प्रकार भगवान तीन काल, तीन लोक देखते हैं। दुनिया न माने तो नहीं था, ऐसा हो जायेगा ? आहाहा ! ऐसी बात है, भगवान ! आहाहा !

यहाँ कहते हैं, पाँचवाँ बोल। अपना द्रव्य; द्रव्य अर्थात् वस्तु। है ? **अपने द्रव्य–**

क्षेत्र... अपने द्रव्य, क्षेत्र। चार बोल आने के बाद। अनेक आया, उसके बाद। अनेक के बाद। **अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप से होने की शक्तिरूप जो स्वभाव है,...** है। यह अनेकपने के बाद आया। आहाहा! क्या कहते हैं? कि, आत्मा... चार बोल तो हो गये। तत्-अतत्, एक-अनेक। अब आठ बोल दूसरे लेते हैं। अपना द्रव्य अर्थात् वस्तु; क्षेत्र अर्थात् असंख्य प्रदेशी; काल अर्थात् त्रिकाल रहनेवाला और भाव अर्थात् शक्ति। ऐसा **होने की शक्तिरूप जो स्वभाव है,... अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप से होने की शक्तिरूप जो स्वभाव है, उस स्वभाववानपने के द्वारा (अर्थात् ऐसे स्वभाववाली होने से) सत्त्व है,...** सत् है। आहाहा! क्या कहा, प्रभु!

अपना द्रव्य जो वस्तु है; अपना जो असंख्य प्रदेशी क्षेत्र है; अपना काल है, वह तीनों काल रहनेवाला अथवा एक समय की अवस्था और अनन्त भाव—गुण है। अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से आत्मा है। अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अपना सत्त्व है, सत् है, सत्त्व है। आहाहा! **सत्त्व है,...** आया न? स्व से सत् है, पर से नहीं। आहाहा!

अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप से होने की... भावरूप से होने की, शक्तिरूप से भी होने की, कालरूप से भी होने की। आहाहा! शक्ति अर्थात् भाव; काल अर्थात् पर्याय। आहाहा! अपना द्रव्य—वस्तु; क्षेत्र—असंख्य प्रदेशी; काल—अपनी पर्याय; भाव—अपना त्रिकाली गुण, इन अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से आत्मा है, वह सत्त्व है। आहाहा! भाषा तो सादी आती है परन्तु प्रभु! कुछ दरकार नहीं की। आहाहा! जैसे संसार में रस आता है, दुकान की पेड़ी पर बैठा हो और, आहाहा! देख लो, पागल! हमने तो सब देखा है। दुकान भी चलायी है। हमने तो पाँच वर्ष दुकान भी चलायी है। (संवत्) १९६३ से १९६८ पाँच वर्ष।

यहाँ जन्म यहाँ से ग्यारह मील दूर उमराला में हुआ था। तेरह वर्ष वहाँ रहे। (संवत्) १९४६ में जन्म। हम १९५९ के वर्ष में पालेज गये। भरूच और बड़ोदरा के बीच पालेज है। १९५९। पिताजी थे। पिताजी चार वर्ष रहे। १९५९ से १९६२। १९६३ में गुजर गये। १९६३ से १९६८ (तक) हमने भागीदारी में दुकान चलायी। अकेले पाप। आहाहा! उगाही करते थे। माल (बेचते)। फिर उगाही को जाते थे। उघराणी को क्या कहते हैं? उगाही कहते हैं न? आहाहा!

यहाँ कहते हैं, प्रभु! तेरा द्रव्य—वस्तु; तेरा क्षेत्र—चौड़ाई; तेरा काल—वर्तमान पर्याय; तेरा भाव—त्रिकाली गुण। आहाहा! इस अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से... है? **अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप से होने की शक्तिरूप...** स्वभाव है। वह तो इसकी शक्तिरूप स्वभाव है। पर्याय होने की भी शक्तिरूप स्वभाव है। गुण का अस्तित्व तो त्रिकाली शक्ति—स्वभाव है। द्रव्यरूप रहने का त्रिकाली स्वभाव है। असंख्य प्रदेशी क्षेत्र वह तेरा स्वभाव है। आहाहा! छोटाभाई! ऐसा सूक्ष्म। आये हैं, बराबर टाईमसर आये हैं। आहाहा! थोड़े में बहुत भरा है। पूरे समयसार का सार इसमें भर दिया है। आहाहा! परन्तु जिसे दरकार है, (उसके लिये है)। कहते हैं, यह पाँच, छह, सात, आठ बोल यहाँ से है। चार बोल आ गये न? तत्-अतत्, एक-अनेक ये चार आये। अब दूसरे चार (कहते हैं)।

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव, ये चार। इन चाररूप से **होने की शक्तिरूप जो स्वभाव है, उस स्वभाववानपने के द्वारा...** इस स्वभाववानपने द्वारा। **(अर्थात् ऐसे स्वभाववाली होने से) सत्त्व है,...** सत्त्व है, सत्त्व है, सत् का सत्त्व है। आहाहा! सत्त्व लिया है, भाई! नहीं तो सत् है, ऐसा कहे, सत्पना है। चार सत्त्व है। आहाहा! धीरे-धीरे समझना, प्रभु! यह तो अलौकिक बात है। आहाहा! दुनिया को प्रसन्न रखने के लिये सभा में ऐसी बातें करे कि दुनिया प्रसन्न-प्रसन्न हो जाये। ऐसा करना और ऐसा करना और ऐसा करना... अरे प्रभु! तेरे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में तू है। उसमें से निकलकर तू बाहर कहाँ जाता है? आहाहा! समझ में आया?

अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से सत्त्व है और **पर के द्रव्य...** स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, भगवान, भगवान की वाणी, वह सब परद्रव्य है। **पर के द्रव्य-क्षेत्र...** आकाशादि में रहनेवाला जो क्षेत्र है, वह भी परक्षेत्र। परकाल—आत्मा के अतिरिक्त की परकाल की अवस्था और परभाव—आत्मा के अतिरिक्त अनन्त द्रव्यों के अनन्त गुण, वे भाव। आहाहा! आत्मा के सिवाय... सिवाय को क्या कहते हैं? अलावा कहते हैं। आहाहा! आत्मा के सिवाय अनन्त **द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप न होने की शक्तिरूप...** इन चाररूप नहीं होने की आत्मा में शक्ति है। आहाहा! है सेठ! क्या कहते हैं? अपनी शक्तिरूप से रहने की शक्ति है, परन्तु डालचन्दभाई रूप से रहने की शक्ति नहीं, ऐसा कहते हैं। यह सेठ का दृष्टान्त दिया, ऐसा प्रत्येक को (लागू होता है)। अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-

भाव से है, पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से आत्मा नहीं। परद्रव्य में तो पुत्र, पैसा, घर-मकान, स्त्री, कुटुम्ब, दागीना अर्थात् गहने, वस्त्र सब परद्रव्य है। परद्रव्य से आत्मा नास्ति है। परद्रव्य से आत्मा असत् है। आहाहा! अरे! कभी दरकार नहीं की। आहाहा!

अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से है; पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नहीं। परद्रव्य में क्या आया? विकल्प से लेकर, दया, दान के विकल्प से लेकर भगवान तीन लोक के नाथ और पंच परमेष्ठी, और स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, मकान, पैसा-लक्ष्मी इन परद्रव्य से तू नहीं है। तेरा द्रव्य तुझसे है, परद्रव्य से तू नहीं है। आहाहा! सादी भाषा है। दरकार नहीं है, सेठ!

एक बार प्रश्न किया था (संवत्) १९८६ के वर्ष में अमरेली में चातुर्मास था। रामजीभाई थे। तब तो दस लाख रुपये थे। बाद में तो आठ करोड़ रुपये हो गये। अमरेली, रामजी हंसराज। तब १९८६ के वर्ष में दस लाख रुपये थे, फिर उनके मकान में मुम्बई में चरण करने ले गये थे। पच्चीस तो बड़े-बड़े अधिकारी मकान में काम करे। हजार-हजार, दो-दो हजार के वेतनवाले पच्चीस व्यक्ति बैठे हुए। हम गये तो सब खड़े हो गये। कहा, ये हैं कौन? तो कहे, सब हमारे लोग हैं। आहाहा! दस लाख की पूँजी थी। हमारा चातुर्मास था तब। ऐसी बात आयी कि महाराज! यह सूक्ष्म बात पचेगी नहीं। ऐसा प्रश्न हुआ क्योंकि पैसेवाले लोग। दस लाख तब १९८६ के वर्ष (में थे)। कितने वर्ष हुए? पचास वर्ष। वे कहे—महाराज..! हमारी तो यही बात पहले से है। व्याख्यान में तीनों भाई आते थे।—तीनो भाई—रामजीभाई, नरभेरामभाई, जमशेदपुर में बड़ी दुकान है। अभी लड़का आया न? पचास हजार दिये। बहिन के वचनामृत उत्कीर्ण कराने में पचास हजार दिये। लड़का आया था।

व्याख्यान में बात चलती थी, उसमें रामजीभाई सेठ बोले, महाराज! सूक्ष्म बात पचती नहीं। प्रभु! रोट-रोटियाँ हमेशा खाते हो... जवाब दिया, उसमें चार सेर घी पिलाया हुआ मैसूर आवे तो तू ऐसा कहेगा कि नहीं पचता, ऐसा कहेगा? हमेशा रोटी-रोट खाता है, उसमें मैसूरपाक आया, रसगुल्ला आये, अरे! शक्करपारा आये, एक सेर गेहूँ और चार सेर आटे के शक्करपारा आये तो तू इनकार करेगा कि नहीं, मुझे नहीं पचते? रामजीभाई तो बेचारे गुजर गये। सात-आठ करोड़ रुपये। यहाँ आने के बहुत भाव थे, आजीवन यहाँ रहना था। गुजर गये, देह छूट गयी। आहाहा! यहाँ आये थे, तब कह गये थे कि अब यहीं

रहना है। बड़ा करोड़पति और दो-दो, पाँच-पाँच लाख रुपये दान में दे। वहाँ फँस गया, हो गया। क्यों नहीं पचता कहा? थाली में ऐसी वस्तु आवे तो इनकार करता है कि नहीं पचता? ऐसा नहीं होता।

इसी प्रकार अभी तक तूने धूल की-बाहर की पुण्य की और पाप की बातें सुनी हैं, यह रोटी-रोट खाये। अब यह नहीं और आत्मा आनन्दमूर्ति है, ऐसी सूक्ष्म बात आती है तो यह तुझे कान में पड़े नहीं। वह वस्तु थाली में आवे तो नहीं पचे, ऐसा कहता है? इसी तरह कान में पड़े तो तू कहता है, नहीं पचेगी? आहाहा! ऐसा कह, धीरे-धीरे, धीमे... धीमे... धीमे... पिघला-पिघला कर खाना। लोग अंग्रेजी में ऐसा कहते हैं न कि पेट में दाँत नहीं है। अंग्रेजी में ऐसा कहते हैं। रामजीभाई कहते थे। पेट में दाँत नहीं है तो यहाँ बराबर पिघला-पिघलाकर चबा, चबाकर, चबा-चबाकर बारीक करके खाना, इससे वह पचे। अंग्रेजी में कहते हैं, पेट में दाँत नहीं है, दाँत यहाँ है। कौन चबाये और कौन ले, प्रभु! दाँत जड़ है, तुझसे हिलते नहीं, चलते नहीं, कहाँ तू चबा सकता है, प्रभु! आहाहा! यहाँ तो यह कहते हैं, परद्रव्य से तेरी नास्ति है। शान्तिभाई! यह सब पैसेवाले, सब लाखोंपति। करोड़पति, धूलपति सब! जवाहरात की बड़ी दुकान है। पच्चीस लोग तो हीरे का काम करते थे। एक-एक को महीने में हजार, पाँच सौ, पन्द्रह सौ देना पड़े, ऐसे पच्चीस (लोग) काम करते थे। मैंने कहा, यह तो मजदूरी है। ऐई! शान्तिभाई! तुम्हारे कमरे पर आये थे न? मजदूरी है। पाप का पोटला बाँधकर कहाँ जाना है?

यहाँ कहते हैं कि अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से है। **पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप न होने की शक्तिरूप जो (अपना) स्वभाव है...** भाषा देखो! आहाहा! परद्रव्यरूप नहीं होने का तेरा स्वभाव, पर के क्षेत्ररूप नहीं होने का तेरा स्वभाव, पर की पर्याय के कालरूप नहीं होने का तेरा स्वभाव और पर के जो गुण अन्दर भरे हैं, उनरूप नहीं होने का तेरा स्वभाव है। सूक्ष्म (बात) है। नटवरलालजी सेठ! परन्तु बात समझनी पड़ेगी, प्रभु! आहाहा! हमारे तो सब प्रभु है, अन्दर भगवान है। आहाहा! अरे रे! क्या कहा?

मैं, मेरा आत्मा, मेरा द्रव्य—वस्तु; क्षेत्र—प्रदेश; काल—अवस्था और भाव। यहाँ तो यह लिया है। अपनी पर्याय ली है, यहाँ काल में एक समय की पर्याय ली है। परन्तु २५२ कलश है, उस कलश में तो ऐसा लिया है... आहाहा! कि यह आत्मा त्रिकालरूप

वस्तु है, वह द्रव्य है और उसमें विकल्प उठाना, वह परद्रव्य है। दूसरे तो परद्रव्य है ही परन्तु अपना द्रव्य जो है, अखण्डानन्द प्रभु में विकल्प उठाना कि यह आत्मा और यह द्रव्य, उस विकल्प को भी परद्रव्य कहा है। परक्षेत्र। आत्मा असंख्य प्रदेशी है, वह एकरूप त्रिकाल है। उसमें असंख्य प्रदेश में यह प्रदेश और यह प्रदेश, ऐसे विकल्प करने का नाम परक्षेत्र है। आहाहा! कलश टीका में २५२ कलश है। सब देखा है। २५२। आहाहा! देखो!

स्वद्रव्य अर्थात् निर्विकल्पमात्र वस्तु... यह द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव आये न? आहाहा! **स्वद्रव्य अर्थात् निर्विकल्पमात्र वस्तु, स्वक्षेत्र अर्थात् आधारमात्र वस्तु का प्रदेश...** यह स्वक्षेत्र। **स्वकाल अर्थात् वस्तुमात्र की मूल अवस्था...** त्रिकाल वस्तु को स्वकाल कहा जाता है। आहाहा! भगवान आत्मा त्रिकाली, वह स्वकाल। **स्वभाव अर्थात् वस्तु की मूल की सहज शक्ति...** आहाहा! ठीक याद आ गया। यह द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में वह याद आ गया। आहाहा!

यहाँ तो इतना ही लिया है कि अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से सत्त्व है और परद्रव्य, विकल्प से लेकर परद्रव्य, परक्षेत्र आकाश आदि या मकान... आहाहा! यहाँ तो मकान का अधिपति वहाँ तक होता है, जहाँ दो-चार मंजिल का मकान बनाया तो ऊपर आसपास में कोई जमीन में बीसवें मंजिल बनावे तो बनाने न दे। यह पूरा आकाश तक मेरा है। आकाश, पाताल तक मेरा है। सेठ! तुम्हारी सब बात जानते हैं, सबकी। आहाहा! बीस मंजिल का मकान बनाया है। १२५ कहते हैं न? १३५ मंजिल का मकान। अब ऐसा कोई अरबोंपति निकले कि दोनों ओर जमीन लेकर १३५ ऊपर (मंजिल चुनावे)। वहाँ बनावे तो बनाने न दे। इस आकाश का अधिकार मेरा है। नीचे से ऊपर तक।

यहाँ कहते हैं... आहाहा! **स्वक्षेत्र अर्थात् आधारमात्र वस्तु का प्रदेश, स्वकाल अर्थात् वस्तुमात्र की मूल अवस्था, स्वभाव अर्थात् वस्तु की मूल की सहज शक्ति; परद्रव्य अर्थात्...** रजकण आदि, स्त्री, कुटुम्बी, पैसा-लक्ष्मी, इज्जत-कीर्ति, शरीर, कर्म तो परद्रव्य है ही परन्तु यहाँ कहते हैं, **परद्रव्य अर्थात् सविकल्प भेद-कल्पना...** आहाहा! एकरूप चीज़ है, उसमें कल्पना करना कि यह आत्मा है, ऐसा विकल्प उठाना, उसे यहाँ परद्रव्य कहते हैं। उस परद्रव्य से भी आत्मा नास्ति है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात है। आहाहा!

अब स्वकाल त्रिकाली वस्तु **स्वक्षेत्र अर्थात् आधारमात्र वस्तु का प्रदेश, और गुण मूल अवस्था त्रिकाल स्वभाव अर्थात् वस्तु की मूल की सहज शक्ति; परद्रव्य अर्थात् सविकल्प भेद-कल्पना...** आहाहा! **परक्षेत्र अर्थात् जो वस्तु का आधारभूत प्रदेश निर्विकल्प असंख्य प्रदेशी, उसमें वस्तुमात्ररूप से कहा था...** वह प्रदेश सविकल्प आधारभूत प्रदेश। असंख्य प्रदेशी में प्रदेश है, ऐसा विकल्प उठाना, वह परक्षेत्र है। २५२ कलश है। शान्तिभाई! आहाहा! परद्रव्य अर्थात् एक स्वद्रव्य में विकल्प उठाना, वह परद्रव्य। असंख्य प्रदेशी क्षेत्र में विकल्प उठाना, वह परक्षेत्र और त्रिकाली वस्तु में... आहाहा! निर्विकल्प अवस्था त्रिकाली है, उसमें **भेदरूप कल्पना से पर काल कहा जाता है...** वर्तमान एक समय की अवस्था, वह त्रिकाल की अपेक्षा से (पर काल है)। त्रिकाल रहनेवाला, वह स्वकाल; वर्तमान एक समय की अवस्था, वह परकाल। आहाहा! ऐसे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नहीं है।

अब **परभाव अर्थात् द्रव्य की सहज शक्ति के पर्यायरूप अनेक अंश...** गुण के अनेक भेद, वह भेद कल्पना। आहाहा! आत्मा में अनन्त गुण—भाव है, वह त्रिकाल स्वभाव। भेद में विचार, विकल्प उठाना कि यह ज्ञान है, यह दर्शन है, उसे परभाव कहते हैं। आहाहा! गजब बात है। **उसे परभाव कहा जाता है।** आहाहा! २५२ कलश है।

यहाँ यह कहते हैं कि अपने द्रव्य के अतिरिक्त सभी द्रव्य, विकल्पमात्र, क्षेत्र के भेदमात्र, काल का एक समयमात्र, भाव में अनन्त गुण हैं, उसमें एक गुण का भेदमात्र, उस सब परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्ति है। आहाहा! ऐसी बात है। इसने दरकार नहीं की। अनादि से जगत का रस चढ़ा है, रस। आहाहा!

परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव, परवस्तु की तो नास्ति है ही परन्तु अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में भेदकल्पना का विचार उठाना, वही परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल, परभाव है। है? **पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप न होने की शक्तिरूप जो स्वभाव है, उस स्वभाववानपने के द्वारा असत्त्व है;...** इस कारण से वह असत् है। अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से सत् है और भेदरूप से द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और पर से असत् है। उसकी दृष्टि त्रिकाली द्रव्य पर जानी चाहिए। आहाहा! इसलिए यह सब कहा जाता है। विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४६७, परिशिष्ट   शुक्रवार, भाद्र शुक्ल १०
दिनांक - १९-०९-१९८०

समयसार, चौदह बोल के अन्तिम दो बोल हैं। बारह बोल चले हैं। बारह क्या? कि आत्मा तत्स्वरूप है और पर की अपेक्षा से अतत्स्वरूप है। ये बोल चल गये हैं। आत्मा अपने द्रव्य-गुण-पर्याय के समुदायरूप से एक है, वही गुण और पर्याय के भेद से अनेक है। आहाहा! चार बोल हुए। अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव—द्रव्य अर्थात् वस्तु, क्षेत्र अर्थात् प्रदेश, काल अर्थात् पर्याय, भाव अर्थात् गुण... आहाहा! अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से है, परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नहीं है। यह बोल आ गये। बारह बोल चल गये। आठ बोल यह हुए, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव अपने और पर के नहीं, ये आठ। सूक्ष्म बात है, भाई! अन्तिम दो बोल रहे। आहाहा!

यहाँ नीचे (आया) है, **अनादिनिधन...** है? अनादि-अनन्त। अनादि, अनादि अर्थात् आदि नहीं, निधन अर्थात् अन्त नहीं, निधन अर्थात् अन्त नहीं। अनादि-अनन्त **अविभाग...** जिसका भाग नहीं ऐसे **एक वृत्तिरूप से परिणतपने के द्वारा...** आहाहा! यहाँ परिणमन कहा तो पर्याय नहीं लेना। त्रिकाली पारिणामिकस्वभाव... आहाहा! त्रिकाली पारिणामिक अनादि-अनन्त स्वभाव वह **एक वृत्तिरूप से...** एक प्रकार से रहनेवाला। एकरूप से रहनेवाला अन्दर भगवान आत्मा है। आहाहा! **एक वृत्तिरूप से परिणतपने के द्वारा...** परिणमन अर्थात् पारिणामिकस्वभाव। परिणमन (अर्थात्) पर्याय नहीं। आहाहा! उसके द्वारा आत्मा को **नित्यत्व है,...** आत्मा नित्य है। आहाहा! दृष्टि वहाँ नित्य के ऊपर करनी है। आहाहा!

दूसरा, अनित्य भी है। **क्रमशः प्रवर्तमान,...** एक समय-समय में बदलती अवस्था। आत्मा में परिणाम—पर्याय, वर्तमान पर्याय क्रमशः, क्रम-क्रम से प्रवर्तमान, वर्तमान रहती **एक समय की मर्यादावाले...** आहाहा! **अनेक वृत्ति-अंशोंरूप से परिणतपने के द्वारा...** उन अनेक वृत्ति अंशोंरूप परिणमन—पर्याय द्वारा। अनन्त पर्याय एक समय में एक द्रव्य में होती है। अरे! ऐसी बात। अन्त में समयसार के सार में सार शब्द

हैं। आहाहा! यह कहीं किसी के घर की बात नहीं है, कल्पना की बात नहीं है। अन्तर की चीज़ ऐसी है। आहाहा!

कहते हैं कि त्रिकाल की अपेक्षा से आत्मा नित्य है और वर्तमान एक समय की मर्यादावाले, वर्तमान पर्याय—अवस्था जो है, उसकी मर्यादा एक समय ही है। दूसरे समय दूसरी होती है, तीसरे समय तीसरी होती है। आहाहा! जिसे सम्यग्दर्शन प्रगट करना हो, धर्म की पहली सीढ़ी (प्रगट करना हो)... आहाहा! उसे आत्मा नित्य-अनित्य दोनों का ज्ञान करके नित्य पर दृष्टि करना चाहिए। आहाहा! क्या हो ? फेरफार बहुत हो गया है।

एक भव्यसागर दिगम्बर साधु है। बीस वर्ष की दीक्षा है। दिगम्बर भव्यसागर। यहाँ का पढ़कर फिर बहुत पत्र आये। हमको एक बार लिखो, महाराज! यहाँ आओ, यहाँ आओ। परन्तु हम तो किसी को आओ-जाओ किसी को कुछ बात (कहते नहीं)। क्या बनता है, वह तो हम जानते नहीं। यह बात दो सौ वर्ष से नहीं थी। ऐसा लिखा। दो सौ वर्ष के बाद यह बात निकाली कहाँ से ? धन्य भाग्य! मैं आपकी सभा में वाँचन सुनने आऊँ, यह मेरा भाग्य होगा। ऐसा लिखते हैं। सेठ! दिगम्बर साधु (ऐसा लिखते हैं)। बापू! प्रभु! बाहर की बात तो अनन्त बार की है परन्तु अन्तर चीज़ दृष्टि का विषय कभी किया नहीं। वे बेचारे लिखते हैं कि मैं तो साधु नहीं। समझ में आया है, (इसलिए कहते हैं) मैं तो साधु नहीं परन्तु हिन्दुस्तान में भावलिंगी साधु कोई हो, ऐसा हम मानते नहीं। ऐसा कहते हैं। आहाहा! ऐसी बात मैंने कभी सुनी नहीं। हमें एक बार कहो, दस पत्र आये। हम तो किसी को पत्र लिखते नहीं, एक अक्षर भी लिखना, वह हमारा काम नहीं। हमारा तो यह व्याख्यान के अतिरिक्त दूसरा कोई काम नहीं है। क्या कहते हैं ?

मुमुक्षु : उन्होंने पत्र लिखा था, मुझे व्याख्यान सुनने बुलाओ।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, दूसरा लिखे, यहाँ नहीं। आहाहा! यहाँ तो इस व्याख्यान में आवे, वह सुने। न आवें वे चले जायें। आहाहा! एक साधु आये थे। ऋषभसागर, इन्दौर में सेठ की नसियां में चातुर्मास था। वहाँ एक नेमीचन्दजी पाटनी है, नेमीचन्दजी पण्डित है। नेमीचन्दजी इन्दौर में है। यहाँ का बराबर जाननेवाले हैं। यहाँ की एक सम्यग्दर्शन पुस्तक है, वह उन्हें बताया, समझाया। तो कहे, अरे रे! यह बात तो हमने कभी सुनी नहीं।

हम तो साधु नहीं परन्तु हिन्दुस्तान में दूसरे साधु हों, ऐसा हम तो मानते नहीं। यहाँ आये थे। दो दिन रहे थे। उम्र बड़ी, ९५ वर्ष। ९५ तो नहीं, ८५ तो होगा। परन्तु गाँव के मनुष्य हों न, गाँव में खबर न रहे। बहुत छोटी उम्र के किसान व्यक्ति, किसान व्यक्ति। क्या कहलाता है वह ? महाराष्ट्र, महाराष्ट्र के हैं। बहुत साधारण, हम गये थे। किसान दिगम्बर, खेती करे, ऐसा करे, सब करे बेचारे और माने यह। अन्दर विशेष बुद्धि नहीं, हम दिगम्बर जैन हैं। बस! अरे! प्रभु! आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा त्रिकाली की अपेक्षा से नित्य है। अपना त्रिकाली पारिणामिक (स्वभाव)। यहाँ परिणमन शब्द लिया है। परिणमन न लेकर, त्रिकाली परिणाम। त्रिकाली परिणाम से आत्मा नित्य है और क्रमश: प्रवर्तमान (अर्थात्) आत्मा में एक के बाद एक प्रवर्तमान **एक समय की मर्यादावाले...** पर्याय की एक समय की मर्यादा है और द्रव्य की अनादिनिधन मर्यादा है। ऊपर आ गया है। अनादिनिधन— अनादि-अनन्त। द्रव्य है, वह अनादि-अनन्त है और पर्याय है, वह एक समय की अवस्था है। वह कायम सामान्य और विशेष अनादि-अनन्त रहता है। आहाहा! विशेष बिना सामान्य नहीं होता और सामान्य बिना विशेष नहीं होता। परन्तु सामान्य द्रव्य जो है, वह अनादि-अनन्त है और पर्याय है, वह एक समय की मर्यादावाली है। आहाहा! है ?

एक समय की मर्यादावाले अनेक वृत्ति-अंशोंरूप... पर्याय में तो अनेक अंश हैं। द्रव्य में अनन्त गुण हैं तो पर्याय में अनन्त पर्याय है। आहाहा! किसे खबर इसमें कहाँ पड़ी है ? द्रव्य जब आत्मा भगवान में अनन्त गुण है तो पर्याय भी अनन्त है। अनन्त पर्याय बिना आत्मा कभी नहीं होता। अरे! कभी कोई द्रव्य नहीं होता। आहाहा! यह कहते हैं।

मुमुक्षु : परिणमन का अन्त कब आवे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : सिद्ध में भी परिणमन है। सिद्ध में भी परिणमन है। सिद्ध आत्मा द्रव्य है, वह त्रिकाल है परन्तु उसकी संसारपर्याय का नाश होकर जो मोक्ष की पर्याय प्रगट हुई, वह तो पर्याय है, वह तो परिणमन है, वह परिणमन सादि-अनन्त रहता है। मर्यादा एक समय की है। सिद्ध की पर्याय की मर्यादा भी एक समय की है। 'क' बोले उसमें असंख्य समय जाते हैं। उसमें असंख्यवें भाग में एक समय की पर्याय है। आहाहा! सिद्ध में भी

पर्याय अनित्य है। आहाहा! कोई भी पदार्थ अनित्य और परिणमन बिना नहीं होता। उसी प्रकार कोई भी चीज़ नित्य और ध्रुव बिना नहीं होती। दोनों बातें हैं। आहाहा!

नित्य भी है, अनादि–अनन्त रहता है और पर्याय में क्रम–क्रम से **एक समय की मर्यादावाले अनेक वृत्ति...** अनेक परिणाम, एक परिणाम नहीं। ऐसे **अंशोंरूप से...** ऐसी एक पर्याय के अंशरूप, भागरूप **परिणतपने के द्वारा...** परिणमन द्वारा **अनित्यत्व है।** अनित्य है। आहाहा! समझ में आया? अनेक पर्याय एक समय में है, उस एक समय की मर्यादा में अनन्त पर्यायें हैं, अनन्त गुण की अनन्त पर्यायें प्रगट हैं। उन पर्याय बिना का द्रव्य तीन काल में कभी नहीं होता। आहाहा! और ध्रुव बिना तो होता ही नहीं। ध्रुव तो वह त्रिकाल रहनेवाली चीज़ है। अरे रे! कहाँ विचार करता है? अरे! कहाँ जाना? आहाहा!

यह सुना नहीं? भाई! चुनीलाल का चिमनभाई। लड़के आये थे न? ६१ वर्ष की उम्र। कुछ नहीं, शरीर देखो तो बड़ा अलमस्त शरीर। पत्नी को कहा, चाय बनाओ। कुछ रोग नहीं, कुछ नहीं। वह चाय बनाकर जहाँ आती है, वहाँ कोई नहीं मिलता। बस! समाप्त हो गया। चुनीलाल हठेचन्द, दामनगरवाले थे, उनके पुत्र चिमनभाई। यह सब काम उसने किये हुए। वजुभाई और वे चिमनभाई। आहाहा! चुनीलाल थे, उनके पुत्र चिमनभाई। एक सेकेण्ड में कुछ खबर नहीं पड़ी। कल लड़के और सब आये थे न? पत्नी को कहा कि चाय बनाओ। चाय बनाकर जहाँ आवे, वहाँ कुछ नहीं मिलता। आहाहा!

पर्याय की स्थिति एक समय की है। एक समय की स्थिति में शरीर पलट जाता है। आहाहा! मृत्यु की देह की स्थिति, आयुष्य के कारण आत्मा शरीर में रहता है—ऐसा नहीं है। क्योंकि आयुष्यकर्म भिन्न चीज़ है। आहाहा! अपनी लायकात और योग्यता से शरीर में रहा है, जो एक समय में पलट जाएगा। आहाहा! भगवान के ज्ञान में तो ज्ञात हुआ है कि इस समय में देह छूटेगी तो अकाल कुछ है नहीं। उसके काल में देह छूटेगी। अकालमरण कहने में आता है, वह तो अपेक्षा से, कर्म की प्रकृति के कारण से (कहा जाता है)। बाकी तो जिस समय में, जिस क्षेत्र में, जिस संयोग से, जिस निमित्त से (देह छूटना है, वह छूटेगी ही)। आहाहा! अनित्य है न? एक क्षण में बदल जाता है। आहाहा!

यहाँ हो बड़ा करोड़पति और माया तथा कषाय की हो तो मरकर दूसरे समय में

सूकर होता है। इस सूकर के पेट में अवतरित होता है। अरे..रे..! अरे प्रभु! ऐसे अनन्त अवतार किये, भाई! वहाँ तेरी सिफारिश काम नहीं आती। आहाहा! सिफारिश को क्या कहते हैं? सीख। सीख कहते हैं? किसी की मदद, सिफारिश काम नहीं आती। कुदरत का जो स्वभाव है, तद्नुसार बनेगा।

यहाँ यह कहा, आहाहा! **एक समय की मर्यादावाले अनेक वृत्ति...** अनेक परिणति। वृत्ति अर्थात् अनेक अंश, उसरूप **परिणतपने के द्वारा...** प्रत्येक द्रव्य में (ऐसा है, ऐसा) यहाँ तो आत्मा लेना है। आत्मा अनित्य है। आहाहा! प्रत्येक समय आत्मा में अनन्त पर्यायें पलटती हैं। आहाहा! जो एक समय में है, वह दूसरे समय में नहीं है, ऐसी एक समय की मर्यादावाली पर्याय है और वस्तु त्रिकाल है। ऐसा अनादि-अनन्त है। यह चौदह बोल हो गये।

(प्रश्न-) अब शिष्य प्रश्न करता है, समझने की इच्छा करता है। **यदि आत्मवस्तु को,...** प्रभु! **आत्मवस्तु को, ज्ञानमात्रता होने पर भी,...** वह तो ज्ञानस्वरूप है, ऐसा होने पर भी **स्वयमेव अनेकान्त प्रकाशता है,...** ज्ञान है, जानपना है, वह आत्मा और वह पररूप नहीं। ऐसा तो ज्ञान प्रकाशित करता है। ज्ञान ही प्रकाशित करता है कि मैं स्व से हूँ और पर से मैं नहीं। ऐसा अनेकान्त अर्थात् अनेक धर्म प्रकाशता है। **तब फिर अरहन्त भगवान...** आहाहा! क्या कहते हैं? सूक्ष्म बात है, भाई!

कहते हैं कि जब आत्मा को ज्ञान कहा तो ज्ञानमात्र कहने से अनेकान्त आ जाता है। क्योंकि ज्ञान है, राग नहीं। ज्ञान है, वह अनन्त ज्ञेय हैं, उनरूप नहीं। ज्ञानमात्र कहने से अनेक धर्म आ जाते हैं, अनेक धर्म अर्थात् उनकी योग्यता। **अरहन्त भगवान उसके साधन के रूप में अनेकन्त का (स्याद्वाद का) उपदेश क्यों देते हैं?** आहाहा! क्या कहा? आत्मा जो है, वह स्वयं से, ज्ञानमात्र वस्तु से है और पर से नहीं। ऐसे दो धर्म, ऐसे अनन्त धर्म हैं, अनन्त ज्ञेयरूप नहीं। अपनेरूप से है और अनन्त ज्ञेयरूप से नहीं है। अनन्त ज्ञेय में देव-गुरु-शास्त्र, कुटुम्ब, पैसा, लक्ष्मी, इज्जत सब (आ गया)। प्रभु! आत्मा को ज्ञानमात्रपना होने पर भी स्वयमेव अनेकान्त प्रकाशित करता है। स्वयमेव प्रकाशित करता है कि मैं हूँ और पर नहीं। ज्ञानमात्र कहने से ऐसा आता है।

तब फिर... ऐसा होने पर भी **अरहन्त भगवान...** सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ

उसके साधन के रूप में अनेकन्त का (स्याद्वाद का) उपदेश क्यों देते हैं? आहाहा! समझ में आया? मैं ज्ञान—आत्मा जाननस्वरूप हूँ। वह जाननस्वरूप हूँ, यही प्रकाशित करता है कि अनेक धर्म हैं। अर्थात् अपने ज्ञानरूप से है और पररूप से नहीं। अनन्त-अनन्त ज्ञेयरूप नहीं। तो ज्ञानमात्र कहने से अनन्त ज्ञेयमात्र नहीं तो अनन्त धर्म—अनेकान्त तो आ जाता है, तो फिर अरहन्त भगवन्तों ने उसे समझाने का साधन अनेकान्त को क्यों कहा? आहाहा! वह तो ज्ञानमात्र कहने से ही अनेकान्त सिद्ध हो जाता है। आहाहा! ज्ञानमात्र कहा तो ज्ञेय नहीं, राग नहीं, पुण्य नहीं, पाप नहीं। अपने ज्ञान के अतिरिक्त दूसरी कोई चीज़ नहीं। एक ज्ञानस्वरूपी भगवान कहने से, भगवान अर्थात् आत्मा, हों! आत्मा ज्ञानस्वरूप है, ऐसा कहते ही पर अनन्त ज्ञेय से नहीं है, ऐसा आ जाता है, तो अनेकान्त अर्थात् स्याद्वाद तो ज्ञानमात्र कहने से आ जाता है।

तब फिर अरहन्त भगवान उसके साधन के रूप में अनेकन्त का (स्याद्वाद का) उपदेश क्यों देते हैं? अनेकान्त तो सिद्ध हो जाता है। है, तू है तो पर से नहीं, ऐसा अनेकान्त तो आ जाता है, स्याद्वाद आ जाता है। ऐसा होने पर भी अरहन्त भगवान **अनेकन्त का (स्याद्वाद का) उपदेश क्यों देते हैं?** ऐसा शिष्य का प्रश्न है। सार में सार है, मक्खन है। आहाहा! नयी पुस्तक बननेवाली है न! यह वाँचन नहीं किया, इसलिए यह लिया है। आहाहा!

शिष्य का यह प्रश्न हुआ तो शिष्य को इतना तो लक्ष्य में आया, यह समयसार सुनकर इतना तो लक्ष्य में आया कि भगवान आत्मा को ज्ञानमात्र कहते हैं। ज्ञानमात्र जहाँ कहा, वहाँ अन्यरूप नहीं, ऐसा अनेकान्त—अनेक धर्म आ जाते हैं। ऐसा होने पर भी अरिहन्त भगवान उसके साधनरूप स्याद्वाद का उपदेश क्यों देते हैं? है? अरे रे! कभी सुना भी न हो, वाँचन भी न किया हो। आहाहा! जिन्दगी पशु की भाँति (जाती है)। जैसे पशु मजदूरी करता है, वैसे यह भी पूरे दिन मजदूरी (करता है)। अरे! मैं कौन हूँ? कहाँ हूँ? कितना हूँ?

शिष्य ने इतना पकड़ लिया। पूरा समयसार सुनकर इतना पकड़ लिया कि ज्ञानमात्र प्रभु, जानन... जानन... जानन... ज्ञानमात्र है। यह ज्ञेय जो ज्ञात होते हैं, उन ज्ञेयरूप आत्मा

नहीं तो उसमें अनेकान्त, स्याद्वाद आ गया। अपने से है और पर से नहीं, ऐसा स्याद्वाद अनेकान्त तो आ गया। तथापि अरिहन्त भगवान... आहाहा! **उसके साधन के रूप में...** किसके (साधनरूप)? आत्मा को समझाने के लिये अनेकान्त का उपदेश क्यों देते हैं? आहाहा! उसका उत्तर। पहले प्रश्न समझना कठिन पड़े। बाहर की बातें—यह करना और यह करना और यह करना। आहाहा!

महाराष्ट्रवाले ऋषभसागर साधु आये थे। वे बेचारे कहते थे। इन्दौर में चातुर्मास में रहे थे। यहाँ की सम्यग्दर्शन पुस्तक है। तो नेमीचन्द पण्डितजी से सुना। सुनकर अन्दर से आया, ओहोहो! यह बात तो हमने कभी सुनी नहीं। हम साधु नहीं। आहाहा! हम नग्नपने की क्रिया करते हैं, परन्तु भार / वजन है, धर्म नहीं। आहाहा! आज भी बहुत विरोध आया है। विद्यासागर है न? विद्यासागर जवान है, ३३ वर्ष के आचार्य हैं। कड़क क्रिया करते हैं, उनका बहुत विरोध आया है। उनने समयसार में जहाँ-जहाँ ज्ञानी लिखा है, वहाँ उसने उसका अर्थ मुनि किया है। पूरे समयसार में ऐसा अर्थ किया है। वह विरुद्ध है।

आज आया है। अजमेर में कोई सुजानमलजी हैं, उन्होंने लेख लिखा है। पहले दिल्ली के हितैषी ने लिखा था। अभी नहीं आते, पहले आते थे। हितैषी नाम से दिल्ली के हैं, उन्होंने पहले विरोध किया कि तुमने आत्मा को ज्ञानमात्र कहा, वहाँ मुनिपने का अर्थ किस प्रकार करते हो? क्योंकि वहाँ तो अज्ञानी को भी समझाया है। तो मुनिपने के लिये ही सब अर्थ इसमें है, ऐसा कहाँ से आया? आज बहुत आया है, बहुत लेख आया है।

मुमुक्षु : अप्रतिबुद्ध को समझाने में आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : गाथा ३८ में ऐसा लिखा है, अप्रतिबुद्ध को—अज्ञानी को समझाया जाता है। मात्र मुनिपने के अर्थ करते हो, जहाँ हो वहाँ ज्ञानी आवे वहाँ मुनि लेना, ज्ञानी आवे वहाँ मुनि लेना—ऐसे अर्थ कैसे करते हो? शास्त्र से विरुद्ध अर्थ है। परन्तु किसे दरकार पड़ी है? आहाहा! सेठिया को व्यापार-धन्धे के कारण निवृत्ति नहीं मिलती और निवृत्त हो, उसे क्रियाकाण्ड से फुरसत नहीं मिलती। सेठ! यह तो एक समझने की बात है। आहाहा! बहुत लिखा है। समयसार में जहाँ-जहाँ ज्ञानी आवे, वहाँ-वहाँ विद्यासागर ने ज्ञानी का अर्थ मुनि किया है। परन्तु यहाँ अप्रतिबुद्ध को—अज्ञानी को समझाते हैं तो वहाँ

क्या मुनि अज्ञानी है ? उसे समझाते हैं ? बहुत लिखा है, आज आया है। आहाहा! प्रभु! दुनिया बाहर के क्रियाकाण्ड में अकेला नग्नपना, वस्त्र नहीं और आहार में ऐसा आहार और ऐसा ले और वैसा ले, यह देखने के लिये सब इकट्ठे होते हैं।...

यहाँ शिष्य ऐसा पूछता है, शिष्य ने इतना तो पकड़ लिया, प्रभु! इस देह में भगवान विराजता है, उसे आपने ज्ञानमात्र कहा तो ज्ञानमात्र कहने में ही पररूप नहीं, यह अनेकान्त आ जाता है। हिम्मतभाई! भाई रामजीभाई! ज्ञानमात्र कहा न ? तो ज्ञानमात्र कहने से दूसरी चीज़ नहीं, तो अनेकान्त आ गया, स्याद्वाद आ गया। कथंचित ज्ञानस्वरूप है, कथंचित् परस्वरूप नहीं है, दोनों आ गये। तो ज्ञानमात्र कहने से अनेकान्त तो आ गया, तथापि अरिहन्त भगवान उसके साधन के लिये अनेकान्त, स्याद्वाद का उपदेश क्यों देते हैं ? आहाहा! गजब बात है। शिष्य का प्रश्न ही ऐसा है। आहाहा!

यह भगवान आत्मा पहले से कहते आये हैं, पहले श्लोक में—कलश में कहा था, **'स्वानुभूत्या चकासते'** भगवान! पहला कलश है न ? **'नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते'** वह तो अपनी अनुभूति से प्रगट होता है। **'स्वानुभूत्या चकासते'** प्रगट होता है। राग और द्वेष बिना की निर्मल पर्याय, वीतरागी पर्याय द्वारा परिणमन—वीतरागी परिणमन द्वारा आत्मा ज्ञात होता है। आहाहा! **'स्वानुभूत्या चकासते'** स्व-अनुभव से प्रकाशित होता है। ऐसा तो आप कहते आये हो, तो ज्ञानमात्र कहने में, ज्ञानमात्र कहने में या अमुक को एक ही पुत्र है, अमुक को एक ही पुत्र है, ऐसा कहने में दो, तीन, चार पुत्र नहीं—ऐसा आ जाता है। सेठ! आहाहा! इसी प्रकार आत्मा को प्रभु ने ज्ञानमात्र कहा तो ज्ञानमात्र जहाँ आया; वहाँ पररूप नहीं, रागरूप नहीं, पुण्यरूप नहीं, शरीररूप नहीं, अनन्त ज्ञेयरूप नहीं—यह ज्ञानमात्र कहने से अननत पर से नहीं, ऐसा अनेकान्त तो आ जाता है, तथापि प्रभु अरिहन्त देव ने आत्मा को समझाने के लिये अनेकान्त स्याद्वाद क्यों कहा ? आहाहा! ऐ... शान्तिभाई! आहाहा! समझ में आया ?

अमुक सेठ को एक ही पुत्र है, एकमात्र पुत्र है। ऐसा कहने में दूसरा नहीं है, यह आ जाता है न ? दो नहीं है। इसी प्रकार ज्ञानमात्र कहने से आत्मा में राग, शरीर, और परज्ञेय, स्त्री, कुटुम्ब और पंच परमेष्ठी नहीं हैं। आहाहा! छोटाभाई! ऐसी बात है, प्रभु! आहाहा!

शिष्य ने इतना तो पकड़ लिया... आहाहा! प्रभु! ज्ञानमात्र। मात्र लिया न! ज्ञानस्वरूपी न कहकर ज्ञानमात्र स्वरूपी। यह प्रभु ज्ञानमात्र है। ऐसा कहने से, प्रभु! वह पररूप नहीं है। शरीररूप, वाणीरूप, मनरूप, कर्मरूप, रागरूप, स्त्रीरूप, परिवाररूप, देशरूप, आहाहा! अनन्त-अनन्त परज्ञेय परमेश्वर, उन परमेश्वररूप भी नहीं। ज्ञानमात्र कहने से अपने में है और पर से नहीं, ऐसा अनेकान्त तो आ गया, इसमें स्याद्वाद तो आ गया। आहाहा!

अरिहन्त भगवान ऐसा कहते हैं, तथापि यह स्याद्वाद, अनेकान्त का साधन कैसे प्ररूपित करते हैं? समझ में आया? सेठ! आहाहा! ऐसा कि, वस्तु स्वयं पुकारती है, वहाँ अरिहन्त भगवान स्याद्वाद अनेकान्त का उपदेश क्यों देते हैं?

(उत्तर-) अज्ञानियों के... आहाहा! इस ओर है? इस ओर लिखा है। **अज्ञानियों के ज्ञानमात्र आत्मवस्तु की प्रसिद्धि करने के लिए उपदेश देते हैं...** जिसे यह खबर नहीं है कि मैं तो एक ज्ञानमात्र हूँ। यह दया, दान, विकार नहीं। शरीर, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार नहीं। ऐसे जिसको खबर नहीं, ऐसे अज्ञानी को। **अज्ञानियों के ज्ञानमात्र आत्मवस्तु की प्रसिद्धि करने के लिए...** आहाहा! जाननस्वभाव चैतन्यप्रकाशस्वरूप है। उस **ज्ञानमात्र आत्मवस्तु की प्रसिद्धि करने के लिए...** किसे? अज्ञानी को। उसने तो सर्वत्र मुनिपना, मुनिपना, मुनिपना (अर्थ किया है)। यहाँ तो यह लिया है, अभी तो अज्ञानी को समझाते हैं। आहाहा! अप्रतिबुद्ध को समझाते हैं। शुरुआत में लिया है। प्रभु! आहाहा! पक्षपात छोड़ना। स्वयं ने जो पकड़ लिया है... जिस कुल में उत्पन्न हुआ, जिसके संग में रहा, उसकी बात बैठ गयी, वह उसे छोड़ना कठिन पड़ती है। आहाहा! सम्प्रदाय बाँधकर बैठे हैं, उन्हें कठिन पड़ती है, प्रभु! तुम्हारा भी प्रभु! कल्याण होओ। किसी का अकल्याण न होओ, प्रभु! ऐसी भावना है। तथापि वस्तु तो ऐसी है। आहाहा!

समयसार में लिया है। बन्ध अधिकार में अन्त में और सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में अन्तिम में दोनों में तथा परमात्मप्रकाश में अन्त में लिया है। क्या? तीन जगत के प्राणी, तीन काल के प्राणी मन, वचन और काया से, करना, कराना और अनुमोदन से रहित हो जाओ। आहाहा! ऐसी टीका है, सेठ! भगवान! हम तो तेरी भूल समझाते हैं। तुम्हारा अपमान, अनादर करने के लिये नहीं कहते। आहाहा! वहाँ समयसार में तो ऐसा कहा है, यह रहा, लो! बन्ध अधिकार है न? बन्ध अधिकार में है और सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार

में है। बड़ी पुस्तक है। बन्ध अधिकार में अन्त में जयसेनाचार्यदेव की (२८३ से २८५ गाथा की) टीका है।

'हेयस्याशेषस्य नरकादिदु:खस्य कारणत्वाद्धेय:। तस्य बंधस्य विनाशार्थं' इस बन्ध के नाश के लिये, इस बन्ध का नाश करने के लिये **'विशेषभावनामाह'** विशेष भावना कही जाती है। क्या? **'सहजशुद्धज्ञानानंदैकस्वभावोऽहं'** आहाहा! टीका है, तीन जगह टीका में यह शब्द है। सर्वविशुद्ध में अन्त में है, बन्ध अधिकार में अन्त में है और परमात्मप्रकाश में अन्त में है। हजारों पुस्तकें देखी हैं। यहाँ कहते हैं, प्रभु! बन्ध के नाश के लिये तू ऐसा विचारकर कि **'सहजशुद्धज्ञानानंदैकस्वभावोऽहं, निर्विकल्पोहं, उदासीनोहं, निरंजननिजशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मक-निर्विकल्पसमाधिसंजात'** निर्विकल्प शान्ति से उत्पन्न होनेवाले **'वीतरागसहजानंदरूप-सुखानुभूतिमात्रलक्षणेन स्वसंवेदनज्ञानेन संवेद्यो गम्य:'** मैं मेरे आनन्द से, ज्ञान से अनुभव में आनेवाला हूँ। आहाहा! ऐसा तू विचार कर, प्रभु! **'प्राप्य:, भरितावस्थोऽहं,'** मैं तो पूर्ण अवस्था से भरपूर हूँ। आहाहा! जैसे पानी से घड़ा भरा होता है। घड़ा को क्या कहते हैं? घट... घट। पानी से भरपूर है। अन्दर आनन्द के पानी से घट अर्थात् आत्मा भरपूर है। आहाहा! **'भरितावस्थोऽहं,'**।

'राग-द्वेष-मोह-क्रोध-मान-माया-लोभ-पंचेंद्रियविषयव्यापार,' रहित, **'मनोवचनकायव्यापार'** रहित, **'द्रव्यकर्म भावकर्म-नोकर्म-ख्याति-पूजा-लाभ-दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानमायामिथ्याशल्यत्रयादिसर्वविभावपरिणामरहित: शून्योऽहं'** आहाहा! पर से **'शून्योऽहं'**। आहाहा! **'जगत्रये'** ऊर्ध्व आदि तीन क्षेत्र **'कालत्रयेपि'** तीन काल में **'मनोवचनकायै: कृतकारितानुमतैश्च शुद्धनिश्चयेन, तथा सर्वे जीवा: इति निरंतर भावना कर्तव्या।'** यह सब भगवान है, ऐसी तू भावना कर, कहते हैं। उनकी भूल है, वह निकल जाए—ऐसी भावना कर। आहाहा! बहुत लम्बा अर्थ है। विस्तार है, गुजराती में लिखा है, पृष्ठ लिखा है। यहाँ तो ऐसा लिखा है। संस्कृत टीका है। जयसेनाचार्य दिगम्बर मुनि हैं, उनकी टीका है।

उसमें लिखा है कि अहो! प्राणियों! तू **'उदासीनोहं'** राग से उदासीन तेरा वीतरागभाव

है न, नाथ! तू तो राग से उदासीन वीतरागभाव है। प्रभु! तू तो मन-वचन-काया से पर है और जगत से तथा तीन काल से भी प्रभु! तेरी चीज़ भिन्न है। करना, कराना और अनुमोदन से भी तेरी चीज़ भिन्न है। आहाहा! सर्व जीव ऐसे हैं, सभी जीव ऐसे हैं—ऐसी भावना कर। आहाहा! किसी प्राणी के प्रति विरोध नहीं। अन्दर सब भगवान है, उसकी खबर नहीं परन्तु तू तो ऐसी भावना कर। आहाहा! ऐसी टीका है, टीका में तीन जगह है।

'सर्वे जीवा:' अरे! अभव्य भी। आहाहा! सब जीव अन्दर आनन्दकन्द शुद्ध चैतन्य वीतराग की मूर्ति है। वे मन, वचन और काया से भिन्न हैं। वे मन, वचन और काया से करना, कराना, अनुमोदन के विकल्प से, राग से भिन्न है। जगतत्रय—तीन लोक और तीन काल में जैसा तेरा आत्मा है, वैसे सर्व आत्मा शुद्ध चैतन्यघन हैं, ऐसी भावना कर्तव्य है। आहाहा! टीका में ऐसा लिखा है। **'सर्वे जीवा:'** आहाहा! पर्याय में भूल है, वह एक समय की है। आहाहा! तुझे जैसे आनन्द को पूर्ण करने का भाव है, और तुझे मोक्ष जाना है, आठ कर्म से रहित तुझे होना है तो सर्व जीव, प्रभु! तुम आठ कर्म से रहित हो जाओ। आहाहा! ऐसी भावना है। समझ में आया? आहाहा!

यहाँ शिष्य ने प्रश्न किया था कि आपने ज्ञानमात्र आत्मा कहा, वहाँ तो ज्ञानमात्र में अनेकान्त आ गया, स्याद्वाद आ गया। ज्ञानमात्र कहने से कथंचित् ज्ञानमात्र है और कथंचित् पररूप नहीं, ऐसा अनेकान्त तो आ गया। ऐसा होने पर भी अरिहन्त भगवान त्रिलोकनाथ परमात्मा आत्मा को समझाने के लिये अनेकान्त का साधन किसलिए करते हैं? वस्तु स्वयं तो अनेकान्तस्वरूप है। आहाहा! शान्तिभाई! आहाहा! यह पर्यूषण के दिन हैं। भगवान हीरा-माणेक, अमृत की धारा भगवान ने बरसायी है। आहाहा! आहाहा! भगवान सर्व जीवों... आहाहा! तू ज्ञानमात्र है न, प्रभु!

शिष्य ने प्रश्न किया, भगवान! आपने कहा, वह मुझे ख्याल में आ गया। ज्ञानमात्र कहने में पररूप, राग, द्वेष, कर्म, शरीर, वाणी, मन, पर, देव-गुरु-शास्त्र से भी नहीं। यह ज्ञानमात्र कहने से ही अनेकान्त तो आ जाता है। अनेकान्त अर्थात्? अनेक धर्म, स्याद्वाद। ज्ञानमात्र कहने से कथंचित् मैं ज्ञानमात्र से हूँ और कथंचित् पर से नहीं, ऐसा ज्ञानमात्र कहने से अनेकान्त, स्याद्वाद आ जाता है, तथापि सर्वज्ञ भगवान ने स्याद्वाद का साधन क्यों कहा? है?

भगवान! यहाँ तो तीन लोक के नाथ की वाणी है, भाई! यहाँ कोई पक्ष नहीं, कोई वाड़ा नहीं। यहाँ कोई पक्ष में है नहीं। आहाहा! तीन लोक के नाथ परमात्मा ने कहा हुआ मार्ग, उस मार्ग में कहते हैं, शिष्य को आपने तो समझाया कि तू ज्ञानमात्र है। उसमें प्रभु! अनेकान्त आ गया। अनेक अन्त। क्यों ?—कि ज्ञानमात्र कहने से ज्ञानमात्र है और अन्य से नहीं। शरीर, वाणी, मन, कर्म, देव-गुरु-शास्त्ररूप नहीं। ऐसा अनेकान्त तो इसमें आ गया। तो भी जैन परमेश्वर आत्मा को अनेकान्त स्याद्वाद के साधन से आत्मा को समझाते हैं, उसका क्या कारण है ? समझ में आया ?

कहते हैं, **अज्ञानियों के...** आहाहा! **अज्ञानियों के ज्ञानमात्र आत्मवस्तु की प्रसिद्धि करने के लिए...** अज्ञानी को तू ज्ञानमात्र है, तू पुण्य, दया, दान नहीं, काम, क्रोध, नहीं; शरीर की क्रिया नहीं (-ऐसा बताने के लिये कहा है)। आहाहा! अज्ञानी को, अब इसमें अकेले मुनि के लिये है, ऐसा कहाँ आया ? यह तो अज्ञानी को आया। मुनि के लिये ही यह कहा है, (ऐसा नहीं)। अप्रतिबुद्ध तो आता है, अप्रतिबुद्ध को समझाते हैं, ऐसी गाथा आती है। अप्रतिबुद्ध को समझाते हैं। आहाहा!

यहाँ यह कहा **अज्ञानियों के...** ज्ञानमात्र चीज़ है तो ऐसी कि पर से तो त्रिकाल नहीं है। स्व से है। ऐसे अनन्त धर्म, अनेकान्त स्याद्वाद तो आ गया परन्तु अज्ञानी को खबर नहीं है। **अज्ञानियों के ज्ञानमात्र आत्मवस्तु की प्रसिद्धि...** ज्ञानमात्र आत्मा की प्रसिद्धि **करने के लिए (भगवान) उपदेश देते हैं...** अरिहन्त भगवान की दिव्यध्वनि में जब ऐसा उपदेश आया कि तू ज्ञानमात्र है और पररूप नहीं। परन्तु यह अज्ञानी को समझ में नहीं आया तो उसे समझाने के लिये यह स्याद्वाद का अर्थ किया है। आहाहा! अरे! ऐसी बात है, प्रभु! आहाहा! पहले यहाँ तो दृष्टि और द्रव्यस्वभाव क्या है, वह पहली चीज़ है। उस चीज़ के बिना सब अंक बिना के शून्य हैं। आहाहा!

ऐसा हम कहते हैं। देखो! आचार्य कहते हैं, अमृतचन्द्राचार्य पंच महाव्रतधारी महामुनि भावलिंगी (सन्त) ऐसा कहते हैं कि हम ऐसा कहते हैं। भगवान अरहन्त तीर्थंकर ज्ञानमात्र वस्तु कहते आये हैं, उसमें अनेकान्त तो आ गया, पर से नहीं—ऐसा तो आ गया; तो अनेकान्त का उपदेश किसलिए देते हैं ? आत्मा का साधन अनेकान्त है, ऐसा

क्यों कहते हैं ? अज्ञानियों को, जिन्हें ज्ञान नहीं... आहाहा ! जिन्हें आत्मा की कुछ खबर ही नहीं... आहाहा ! बहुत अच्छी बात आयी है। आहाहा ! ज्ञानमात्र आत्मवस्तु, ज्ञानमात्र आत्मवस्तु। वस्तु, हों ! वस्तु क्या ? जिसमें अनन्त गुण बसते हैं, वह वस्तु। अनन्त गुण जिसमें बसते हैं, वह वस्तु। वास्तु लेते हैं न ? वास्तु। वह वास्तु पीपल के ऊपर या नीम के ऊपर लेते हैं ? या मकान हो, वहाँ वास्तु लेते हैं ? आहाहा ! उसी प्रकार भगवान आत्मा वस्तु है। क्यों ? कि अनन्त गुण उसमें बसे हैं। वहाँ अनन्त काल से वास्तु लिया है। आहाहा ! अरे ! अरे ! ऐसी बात।

भगवान ! तू वस्तु है न, प्रभु ! तो वस्तु उसे कहते हैं कि उसमें अनन्त गुणों ने वास लिया है। अनन्त गुणों ने वास लिया है। अनन्त गुण वहाँ जम गये हैं। अरे ! ऐसा उपदेश कैसा प्रभु ! अरे ! इन्द्रों के पास और चार ज्ञान के धनी गणधरों के पास वीतराग की वाणी निकलती है, वह कैसी होगी ? आहाहा ! साधारण कथा और साधारण लोग प्रसन्न-प्रसन्न हो जाए, ऐसी बात होगी ? आहाहा !

अज्ञानियों के ज्ञानमात्र आत्मवस्तु की प्रसिद्धि करने के लिए उपदेश देते हैं ऐसा हम कहते हैं। अमृतचन्द्राचार्य मुनि कहते हैं कि भगवान ने ऐसा क्यों कहा ? कि हम कहते हैं कि अज्ञानी को समझाने के लिये कहा है। ज्ञानमात्र आत्मा जो समझते नहीं, उन्हें समझाने के लिये भगवान ने कहा है, ऐसा हम कहते हैं। आहाहा ! शान्ति... शान्ति... शान्ति... शान्ति... आहाहा !

वास्तव में अनेकान्त (-स्याद्‌वाद) के बिना ज्ञानमात्र आत्मवस्तु ही प्रसिद्ध नहीं हो सकती। है ? कारण दिया। **वास्तव में...** वास्तविक रीति से स्याद्‌वाद अर्थात् आत्मा है और पर से नहीं, ऐसे स्यात् अपेक्षा से कथन बिना **ज्ञानमात्र आत्मवस्तु ही प्रसिद्ध नहीं हो सकती। इसी को इस प्रकार समझाते हैं-** आहाहा ! अब कहते हैं।

स्वभाव से ही बहुत से भावों से भरे हुए इस विश्व... विश्व—जगत है, वह स्वभाव से ही है, किसी ने बनाया नहीं। कोई ईश्वर-बिश्वर है नहीं। **स्वभाव से ही...** आहाहा ! **बहुत से भावों से भरे हुए...** बहुत ही भावों से भरे हुए, ऐसा कहा। द्रव्य कहो या भाव कहो। बहुत से द्रव्यों से भरे हुए। आहाहा ! **स्वभाव से ही बहुत से भावों से**

भरे हुए इस विश्व में सर्व भावों का स्वभाव से अद्वैत होने पर भी,... सर्व भाव, वस्तु, स्वभाव से अद्वैत—एक होने पर भी, स्वभाव से एक होने पर भी **द्वैत का निषेध करना अशक्य होने से...** दोपने का निषेध करना अशक्य होने से **समस्त वस्तु स्वरूप में प्रवृत्ति और पररूप से व्यावृत्ति...** ऐसे दो बोल आये बिना नहीं रहते। समझ में आया ? आहाहा ! क्या कहा ?

जगत की समस्त वस्तुएँ। समस्त, हों ! आत्मा, परमाणु, छह द्रव्य। **समस्त वस्तु स्वरूप में प्रवृत्ति...** प्रत्येक चीज़ अपने स्वरूप में प्रवृत्ति **और पररूप से व्यावृत्ति...** निवृत्ति, ऐसे **दोनों भावों से अध्यासित है...** आहाहा ! **(अर्थात् समस्त वस्तु स्वरूप में प्रवर्तमान होने से और पररूप से भिन्न रहने से प्रत्येक वस्तु में दोनों भाव रह रहे हैं)।** आहाहा ! अरे ! क्या कहा ?

प्रत्येक चीज़, अनन्त द्रव्य जो भगवान ने देखे वे, अपने भाव से अद्वैत होने पर भी। वस्तु स्वयं एक होने पर भी, द्वैत का निषेध करना अशक्य है। दोपने का निषेध करना अशक्य है। एक है, वह पर से नहीं—ऐसा द्वैतपना आ जाता है। आहाहा ! ऐसा उपदेश। आहाहा !

स्वभाव से ही... देखा ? 'ही' कहा है। चौदह ब्रह्माण्ड का कोई कर्ता नहीं। **स्वभाव से ही बहुत से भावों से भरे हुए...** बहुत पदार्थों से भरपूर **इस विश्व में...** छह द्रव्य से भरपूर (विश्व में) **सर्व भावों का स्वभाव से अद्वैत...** अपने स्वभाव से एक, अद्वैत अर्थात् एक; द्वैत नहीं। **अद्वैत होने पर भी, द्वैत का निषेध करना अशक्य होने से...** पररूप नहीं, ऐसे द्वैत का निषेध करना अशक्य है। आहाहा !

समस्त वस्तु स्वरूप में प्रवृत्ति और पररूप से व्यावृत्ति के द्वारा **दोनों भावों से अध्यासित है (अर्थात् समस्त वस्तु स्वरूप में प्रवर्तमान होने से और पररूप से भिन्न रहने से...)** आहाहा ! आत्मा ज्ञानस्वरूप से रहने से; आत्मा राग, द्वेष, कर्म, शरीर, वाणी, अन्य पदार्थरूप नहीं होने से। आहाहा ! आया ? **(पररूप से भिन्न रहने से प्रत्येक वस्तु में दोनों भाव रह रहे हैं)।** प्रत्येक वस्तु में दो भाव रहे हुए हैं। अपनेरूप से है, पररूप से नहीं। आहाहा ! विशेष आयेगा.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

प्रवचन नं. ४६८, परिशिष्ट शनिवार, भाद्र शुक्ल ११
दिनांक - २०-०९-१९८०

समयसार, चार लाईनें चली हैं। फिर से (लेते हैं)। डॉक्टर को पैराग्राफ बताओ। **स्वभाव से ही बहुत से भावों से भरे हुए...** है? क्या कहते हैं? यह जगत स्वभाव से ही बहुत से भावों अर्थात् पदार्थों। अनन्त आत्मा, अनन्त रजकण इत्यादि। **बहुत से भावों से भरे हुए इस विश्व में सर्व भावों का स्वभाव से अद्वैत होने पर भी,...** सभी पदार्थ का स्वभाव से एकरूप होने पर भी। आत्मा आत्मारूप, परमाणु परमाणुरूप (होने पर भी)। आहाहा! थोड़ी सूक्ष्म बात है। प्रत्येक वस्तु स्वयं अद्वैत एकरूप होने पर भी **द्वैत का निषेध करना अशक्य होने से...** पर का उसमें अभाव है। आत्मा आत्मा में है, यह अस्ति और आत्मा राग-द्वेष, शरीर, कर्म आदि परपदार्थ से नहीं है, यह नास्ति। आहाहा!

प्रत्येक पदार्थ में अस्ति-नास्ति... कहा न? **समस्त वस्तु स्वरूप में प्रवृत्ति...** प्रत्येक चीज़ अपनी चीज़ में प्रवृत्ति और **पररूप से व्यावृत्ति...** पर से निवृत्ति। आहाहा! **द्वारा दोनों भावों से अध्यासित...** प्रत्येक वस्तु दोनों भावों से (अर्थात्) अपने से है और पर से नहीं। आत्मा आत्मा से है; शरीर, कर्म, पुण्य-पाप के, दया, दान के राग-द्वेष के भाव हैं परन्तु उसरूप आत्मा नहीं। आहाहा!

प्रत्येक चीज़ अपने से होने पर भी, अद्वैत अर्थात् एकरूप प्रत्येक वस्तु होने पर भी द्वैतपने का निषेध नहीं किया जाता। द्वैत का अर्थ? दूसरी चीज़ का उसमें अभाव है। अपने से भाव है और पर से अभाव है, ऐसे दो भाव रखती है। इसकी अज्ञानी को खबर नहीं है। आहाहा! है?

पररूप से व्यावृत्ति के द्वारा दोनों भावों से अध्यासित है (अर्थात् समस्त वस्तु स्वरूप में प्रवर्तमान होने से...) प्रत्येक वस्तु अपनी शक्ति में, अपनी दशा में, अपने गुण में प्रवर्तमान होने से और पररूप से भिन्न रहने से। आहाहा! भगवान आत्मा अपने स्वरूप से है। शरीर, वाणी, मन, पुण्य-पाप आदि भावों से वह वस्तु रहित है। वस्तुरूप से एक है तो भी उसमें द्वैतपना आ जाता है। क्या द्वैतपना? स्व रूप से है और पर रूप से नहीं। आहाहा! **(वस्तु में दोनों भाव रह रहे हैं)**। कल यहाँ तक आया था। आहाहा!

अनन्त चीज़ें हैं तो प्रत्येक चीज़ स्वतन्त्र एकरूप है। वह कोई पररूप नहीं हो गयी। अन्दर आत्मा है, वह शरीररूप, कर्मरूप या पुण्य-पाप के रागरूप नहीं हो गया। वह अपने से है और पर से निवृत्त है। आहाहा! ऐसा कब बैठे? अपनी चीज़ अन्दर सच्चिदानन्द प्रभु, सत् अर्थात् शाश्वत रहनेवाली और चिद् अर्थात् ज्ञान और आनन्द, ज्ञान और आनन्द से आत्मा अपने से भावरूप है, अपने से अस्तिरूप है, तथापि पररूप से नास्ति है। एक अद्वैत होने पर भी पररूप से नहीं है, ऐसा द्वैत प्रत्येक वस्तु में लागू पड़ता है। प्रत्येक चीज़ में दोनों भाव रहते हैं। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई!

अन्दर आत्मा है, वह शरीर से नहीं है परन्तु वह शरीर को स्पर्श भी नहीं करता। जिस वस्तु से वह नहीं, उस चीज़ को वह स्पर्श नहीं करता। आहाहा! यह ऐसी बात है। यह अँगुली है, अँगुली, अँगुली। गाँगुलीजी! यह अँगुली है, वह इस अँगुली से नहीं है। यह अँगुली अँगुलीरूप से अद्वैत एकरूप है, अन्दर है तो अनन्त परमाणु, परन्तु यह तो दृष्टान्त, अपनेरूप से है, यह अपना भाव और उसरूप नहीं, ऐसा नास्तिभाव। अर्थात् एक चीज़ में दो भाव कायम रहते हैं परन्तु एक भाव दूसरेरूप नहीं होता। आहाहा! अस्ति-नास्ति। ऐसी वस्तु है। धर्म के नाम से कभी विचार ही नहीं किया। आहाहा! कल यहाँ तक आया था। **(वस्तु में दोनों भाव रह रहे हैं)**। कोष्ठक में है न? कोष्ठक में। प्रत्येक वस्तु में अपने से है और पर से नहीं, ऐसे दोनों भाव रहे हुए हैं। दोनों भाव उसमें रहते हैं। आहाहा! कल यहाँ तक तो आया था।

वहाँ, जब यह ज्ञानमात्र भाव (आत्मा),... भगवान ज्ञानस्वरूपी आत्मा, प्रज्ञाब्रह्मस्वरूप प्रभु... आहाहा! **शेष (बाकी के) भावों के साथ...** अपने स्वभाव के अतिरिक्त बाकी के सब भावों के साथ—पदार्थों के साथ। शरीर के साथ, राग के साथ, पुण्य के साथ, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, धन्धा आदि से तो आत्मा रहित है। आहाहा! है? **यह ज्ञानमात्र भाव (आत्मा), शेष (बाकी के) भावों के साथ निज रस के भार से प्रवर्तित...** अपने निज रस के भार से प्रवर्तित। **ज्ञाता-ज्ञेय के सम्बन्ध के कारण...** आहाहा! आत्मा तो अपना ज्ञाता—जाननेवाला है और अन्दर दया, दान, भक्ति या शरीर, वाणी, मन सब ज्ञेय हैं। यह ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध है, परन्तु इस ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्ध के कारण **अनादि काल से ज्ञेयों के परिणमन के कारण ज्ञानतत्त्व को...** आहाहा!

यह ज्ञानस्वरूपी भगवान! अनादि से ऐसा मान रहा है कि मैं राग हूँ, शरीर हूँ, पुण्य हूँ, पाप हूँ, जो चीज़ उसमें नहीं, उस चीज़ में स्वयं है—ऐसा मानकर आत्मा का नाश करता है। आहाहा! सूक्ष्म बात है।

अनादि काल से... 'अनन्त काल से भटक रहा बिना भान भगवान, सेये नहीं गुरु सन्त को छोड़ा नहीं अभिमान।' मैं समझता हूँ, मुझे आता है, मुझमें जानकारी है, ऐसे अभिमान में... आहाहा! अपनी चीज़ अन्दर में अपने से है और ज्ञेय से नहीं। ज्ञेय को जानने पर भी ज्ञेयरूप नहीं है, तथापि अज्ञानी उन ज्ञेयों को अपना मानता है। आहाहा! ज्ञानस्वरूपी आत्मा में ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्ध के कारण से। मात्र वह तो जानने योग्य है और आत्मा जाननेवाला है, इतनी बात है। दूसरी कोई चीज़ है नहीं। तथापि **अनादि काल से ज्ञेयों के परिणमन के कारण...** जो ज्ञेयवस्तु शरीर, वाणी, मन, वे ज्ञेय हैं। वह ज्ञान में जाननेयोग्य है। उनके परिणमन के कारण। परपदार्थ पलटते हैं, इस कारण **ज्ञानतत्त्व को पररूप मानकर...** आहाहा!

यह भगवान ज्ञानस्वरूपी प्रज्ञास्वरूपी ब्रह्म, वह अपने को पर के परिणमन को अपनेरूप मानकर, मैं पर को परिणमाता हूँ और वह चीज़ मेरी है, (ऐसा मानता है)। आहाहा! बात बहुत सूक्ष्म है, भाई! पुस्तक है? सोगानी! नहीं है। बहुत दूर से आये हैं तो... है अन्दर? बताओ कहाँ आया है? आहाहा! **ज्ञानतत्त्व को पररूप मानकर...** यह क्या कहते हैं? कि परवस्तु परिणमती है, बदलती है, शरीर, वाणी, मन, कर्म, शरीरादि, यह प्रत्येक वस्तु (बदलती है), वह उसके कारण परिणमती है परन्तु उन **ज्ञेयों के परिणमन के कारण ज्ञानतत्त्व को पररूप मानकर (अर्थात् ज्ञेयरूप से अंगीकार करके)...** आहाहा! मुझे जो चीज़ ज्ञात होती है, वह मेरी है—ऐसा अज्ञानी मानता है। ओहोहो! बहुत कठिन बात। एक चैतन्यतत्त्व सहजात्मस्वरूप प्रभु, सहजानन्दस्वरूप आत्मा, अनन्त गुण से भरपूर सर्वांग ज्ञान और आनन्द से भरपूर है, वह अपने से अस्ति है और दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम से लेकर देव-गुरु-शास्त्र, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, शरीर, वाणी, मन वे ज्ञेय हैं। उन ज्ञेयों का परिणमन बदलता है, वह मुझसे बदलता है और वह चीज़ मेरी है—ऐसे अज्ञानी अपने ज्ञान को भिन्न नहीं मानकर, पररूप मानकर अपना नाश करता है।

आहाहा! डॉक्टर! सूक्ष्म बात है। दवा के एक रजकणरूप भी आत्मा नहीं है, ऐसा कहते हैं। कोलकाता से आये हैं। आहाहा! क्या कहते हैं? प्रभु!

अपने भीतर चैतन्य का अस्तित्व, जानना जिसका शरीर है, यह (जड़) शरीर नहीं, जानन... जानन... जानन... जानन ज्ञायक जिसका स्वरूप है, उसका स्वरूप कहो या शरीर कहो, वस्तु एक है, वह स्वयं से है और पर को जानने की सामर्थ्य है तो पर को जानने से मेरी चीज़ है, ऐसा मान लेता है। स्त्री मेरी, पैसा मेरा, इज्जत मेरी, मकान मेरा या पुत्र मेरा और पुत्री मेरी... आहाहा!

मुमुक्षु : पुत्र-पुत्री किसके?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो उनके हैं। सुमनभाई इनके पुत्र हैं न! आठ हजार का मासिक वेतन मिलता है। मुम्बई अभी आया था। ९८ वर्ष लगा न! भाद्र शुक्ल ४। ९८ वर्ष लगा, १०० में दो कम। आया था। यह कहते हैं कि वह पुत्र मेरा है या नहीं? डालचन्दजी भगवानदास के हैं या नहीं? आहाहा! कोई तत्त्व किसी तत्त्व का तीन काल में नहीं है। आहाहा!

यहाँ यह कहा, **ज्ञाता-ज्ञेय के सम्बन्ध के कारण...** यह जाननेवाला है और राग, शरीर, वाणी, स्त्री, कुटुम्ब ये सब ज्ञेय—जाननेयोग्य है। जाननेवाला आत्मा है और ये चीज़ जाननेयोग्य है। ऐसा नहीं मानकर **अनादि काल से ज्ञेयों के परिणमन के कारण ज्ञानतत्त्व को पररूप मानकर...** यह ज्ञानतत्त्व जो आत्मा है, वह पर को जानता है परन्तु जानने के उपरान्त पर मेरे हैं, ऐसा मानता है। आहाहा! इस जड़ शरीर की क्रिया, एक-एक परमाणु... आहाहा! यह अँगुली जो हिलती है, वह जड़ से है, आत्मा से नहीं। आत्मा स्वतत्त्व से है और परतत्त्व से नहीं है। आहाहा! पर से नहीं है तो पर का क्या कर सके?

मुमुक्षु : पूरी दुनिया को हिला दे।

पूज्य गुरुदेवश्री : पूरी दुनिया पागल, पागल है। आहाहा! तीन लोक के नाथ सर्वज्ञ परमात्मा तीन काल और तीन लोक को जाननेवाला आत्मा प्रभु, वह जिसे प्रगट हो गया, ऐसे सर्वज्ञ परमात्मा त्रिकाल ज्ञानी महाविदेह में विराजते हैं। उस त्रिकाल में पर का ज्ञान होता है परन्तु पर मेरा है, ऐसी चीज़ नहीं है। आहाहा! गजब बात कठिन। एक रजकण,

पुत्र तो क्या परन्तु शरीर का एक रजकण अपना है—ऐसा तीन काल में नहीं है। यह कहते हैं, देखो!

ज्ञानतत्त्व को पररूप मानकर (अर्थात् ज्ञेयरूप से अंगीकार करके)... ज्ञेय—जाननेयोग्य है, उसके बदले (मानता है कि) यह मेरी चीज़ है। आहाहा! ज्ञान में ज्ञेय ज्ञात होते हैं। ज्ञात होते हैं तो ऐसा मानता है कि वह मेरी चीज़ है। मैं उसे जानता हूँ तो वह ज्ञात होनेवाली चीज़ मेरी है, ऐसा अज्ञानी मानता है। कठिन बात है, प्रभु! आहाहा! अनन्त काल से भटका, चौरासी के अवतार, अनन्त-अनन्त अवतार किये। क्योंकि भगवान आत्मा तो शाश्वत है, नित्य है। वह कोई क्षणिक नहीं है। एक भवरूप नहीं, अनन्त भव किये। क्यों किये? कि पर को अपना मानकर इसने भव किये। आहाहा! जिसने पर को अपना माना, वह पर के संयोग से रहित कभी नहीं हो सकता अर्थात् भवरहित कभी नहीं हो सकता। आहाहा! जिसने अपने आत्मा को एक रजकण से भी अपना माना तो वह रजकण के संयोग से कभी रहित नहीं हो सकता, आहाहा! तो उसे कभी धर्म या मुक्ति होगी नहीं। आहाहा! कठिन बात है, सूक्ष्म बात है। यह कहा।

अज्ञानी होता हुआ नाश को प्राप्त होता है,... है? पर को अपना मानकर अज्ञानी होता हुआ, स्वयं पर का जाननेवाला मैं भिन्न हूँ—ऐसा नहीं मानकर, ज्ञात होनेवाली चीज़ ही मेरी है, ऐसा मानकर अपना विनाश करता है। आहाहा! सूक्ष्म बात है। तत्त्व सिद्धान्त है। बहुत सरस बात है। आहाहा!

प्रत्यक्ष दिखता है, एक चीज़ दूसरी चीज़ में नहीं है। शरीर से छूटे तो ऐसा नहीं कहते कि जीव गया? यह मर गया, ऐसा कहते हैं? आत्मा देह में से छूट जाए, क्षण में छूट जाए। ऐ... जीव गया, (ऐसा कहते हैं)। जीव गया परन्तु जीव गया न? रहा न? गया, वहाँ रहा न? आहाहा! यह आत्मा तो जहाँ-तहाँ स्वयं अपने से ही है। आहाहा! यहाँ भी स्वयं से है, जहाँ जाये, वहाँ भी स्वयं से है, पर से तो कभी नहीं है। आहाहा! परन्तु कभी यह बात (सुनी नहीं)। चौथी गाथा है। उस भाई ने लिया है, भूल निकाली है न? विद्यासागर की भूल निकाली है, उसमें बहुत बोल निकाले हैं, उसमें यह लिया है कि, चौथी गाथा में ऐसा आया है न? कि **'सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा'**

यह मुनि की बात है ? यह तो अज्ञानी की बात है। श्रुत, परिचित। सुना है और परिचय पर का है और राग का अनुभव हुआ है। **'सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि काम'** अर्थात् इच्छा और भोग। राग—इच्छा और राग का भोक्ता। सर्व प्राणियों ने अनन्त बार किया है परन्तु... आहाहा! **'सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा। एयत्तस्सुलंभो'** परन्तु पर से मैं भिन्न हूँ, यह बात उसने कभी सुनी नहीं। समयसार की चौथी गाथा है। आहाहा! तो क्या यह मुनि को कहते हैं ? अज्ञानी को कहते हैं। तब वे कहते हैं कि सर्वत्र ज्ञानी लिखा है, ज्ञानी, वह मुनि लेना। ज्ञानी समकिती को भी कहते हैं। पहले आया है। मिथ्यादृष्टि की सभा है। ऐसा अन्दर लिखा है। उसे सम्यग्दृष्टि बतलाता है। है ? उसमें है या नहीं ? पहला अधिकार है शुरुआत में। है ? कहाँ है ?

यहाँ पहले रंगभूमिस्थल कहा। वहाँ देखनेवाले तो सम्यग्दृष्टि पुरुष हैं... हैं ? ७९ पृष्ठ ८० में एक कम (हिन्दी में है)। नीचे का पैराग्राफ। **वहाँ देखनेवाले तो सम्यग्दृष्टि पुरुष हैं और अन्य मिथ्यादृष्टि पुरुषों की सभा है...** है ? आहाहा! **उनको दिखलाते हैं।** है ? सेठ! सेठ को मिला ? यह शास्त्र समकिती, मिथ्यादृष्टि को बतलाते हैं। आहाहा! है ? **वहाँ देखनेवाले तो सम्यग्दृष्टि पुरुष हैं और अन्य मिथ्यादृष्टि पुरुषों की सभा है, उनको दिखलाते हैं।** आहाहा! बस! इतना लेना है। आहाहा!

अपने तो यहाँ चलता है, अन्तिम बात। ...क्या कहते हैं ? कि आत्मा ज्ञाता है, जाननेवाला है। दूसरी चीज़ जाननेयोग्य है। इतना सम्बन्ध नहीं मानकर, दूसरी चीज़ जो जाननेयोग्य है, वह मेरी है—ऐसा मानकर, भिन्न अनुभव नहीं करते। मैं पर से अत्यन्त भिन्न हूँ, शरीर से भिन्न हूँ, वाणी से भिन्न हूँ, कर्म से भिन्न हूँ, मन से भिन्न हूँ, बाकी चीज़ तो कहीं दूर रह गयी। यह स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, यह कोई संसार नहीं। यह कहा था। संसार तो अपनी पर्याय में त्रिकाल को भूलकर राग को अपना मानना, पर को अपना मानना, यह संसार है। संसार स्त्री, कुटुम्ब-परिवार नहीं है। डॉक्टर (गाँगुली) ने तो विवाह नहीं किया, ब्रह्मचारी है। इन्हें तो स्त्री, पुत्र कुछ नहीं है। आहाहा! यहाँ कहते हैं...

मुमुक्षु : दुर्घटना में नहीं पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, दुर्घटना, भाई हुकमचन्दजी ने यह लिखा है। हुकमचन्दजी

की दशलक्षण धर्म पुस्तक है, उसमें लिखा है। अन्तिम तीर्थंकर महावीर भगवान थे, उन्होंने विवाह नहीं किया था। चौबीस तीर्थंकरों में से पाँच तीर्थंकरों ने विवाह नहीं किया। वासुपूज्य, मल्लिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीरस्वामी। इन पाँच भगवान ने विवाह नहीं किया था। महावीर भगवान को पत्नी नहीं थी। श्वेताम्बर लोग सिद्ध करते हैं कि विवाह किया था और उनकी पुत्री थी और पुत्री का दामाद जमाई था। कैसा ? जमाली वे तो बालब्रह्मचारी थे। चौबीस तीर्थंकर में तो पाँच तीर्थंकर तो बाल ब्रह्मचारी थे, वासुपूज्य १२वें, मल्लिनाथ १९वें, नेमिनाथ २२वें, पार्श्वनाथ २३वें, महावीरस्वामी २४वें। आहाहा! १२, १९, २२, २३, २४। इन चौबीस तीर्थंकरों में से पाँच तो बालब्रह्मचारी थे। हुकमचन्दजी ने दशलक्षण धर्म में लिखा है कि विवाह किया उसे दुघटना हो गयी, दुर्घटना ओढ़ी है। उपाधि ओढ़ी है। अब स्त्री के साथ विषय और स्त्री को प्रसन्न रखना और खुश करना। आहाहा! स्त्री से विवाह किया, उसे दुर्घटना हुई। उसे दुर्घटना शुरु हो गयी। आहाहा! ऐसा लिखा है। आहाहा! महावीर भगवान को दुर्घटना नहीं हुई थी। आहाहा! वे तो आत्मा के आनन्द में पहले से बालब्रह्मचारी थे। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि **ज्ञानतत्त्व को पररूप मानकर (अर्थात् ज्ञेयरूप से अंगीकार करके) अज्ञानी होता हुआ नाश को प्राप्त होता है,...** आहाहा! अपने ज्ञान में परचीज़ को जानकर; जैसे दर्पण है दर्पण, दर्पण में परचीज ज्ञात होती है, वह परचीज़ नहीं है। दर्पण है न ? दर्पण। सामने अग्नि और बर्फ हो तो अग्नि और बर्फ अन्दर दर्पण में दिखते हैं। वह अग्नि, बर्फ है ? दर्पण की अवस्था है। उसी प्रकार उस ज्ञान—दर्पण में शरीर, वाणी, मन, रागादि जानता है, ज्ञात होते हैं परन्तु वह चीज़ कहीं पर की नहीं है, ज्ञात हुआ, वह तो अपनी अवस्था है, चीज़ पर है। दर्पण से अग्नि और बर्फ पर है परन्तु अन्दर जो पर्याय हुई है, वह दर्पण की है। ऐसे जानने-देखने की पर्याय, पर को जानने-देखने की पर्याय अपनी है और परचीज़ तो पर में है। आहाहा! ऐसा कहाँ निर्णय करने जाए ?

यहाँ क्या कहते हैं ? **अज्ञानी होता हुआ...** अपने को अपने से ज्ञाता-दृष्टारूप से अन्तर में अनुभव नहीं करके और मैं ज्ञान हूँ, ऐसा नहीं मानकर, ज्ञेय जो वस्तु है, उसे जानता है, जानकर अपनी मानता है, ऐसा अज्ञानी होता हुआ **नाश को प्राप्त होता है,...**

अपना नाश करता है। आहाहा! उस ज्ञेय को जानने का स्वभाव तो अपना स्वभाव है परन्तु कोई ज्ञेय अपने में है और अपना है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : रुपये तो हमारे हैं न?

पूज्य गुरुदेवश्री : सेठ को खबर, सेठ के पास रुपये हैं। रामजीभाई कहते हैं कि रुपये तो हमारे हैं न?

मुमुक्षु : उन्हें आप धूल कहते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल। पुद्गल है न? भाई! पुद्गल कहो, धूल कहो। पैसा पुद्गल है। यह शरीर पुद्गल है। भगवान आत्मा अन्दर (ज्ञान) है और ये ज्ञेय हैं। इन ज्ञेय को जाननेवाला ज्ञान है, परन्तु ज्ञान इन ज्ञेय को अपना मानता है, ऐसा मानकर अपना नाश करता है। आहाहा! शरीर में कुछ हुआ तो मुझमें हुआ, ऐसा मानकर अपने को पररूप मानकर अपना नाश करता है। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म चीज़ व्याख्यान में (आवे)। अधिकार ही ऐसा आया है।

मुमुक्षु : अपना नहीं माने तो डॉक्टर की डॉक्टरी कैसे चलेगी?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन डॉक्टर है? दवा का राग करता है। मैं पर को (निरोगी) करता हूँ। आहाहा! बड़े-बड़े डॉक्टर देखे हैं न! सर्जन डॉक्टर यहाँ थे। भावनगर, बड़ा अस्पताल है। हेमन्तकुमार सर्जन। आये थे, यहाँ दो-तीन बार आये थे। एक बार दाँत के कारण देखने आये थे, एक बार व्याख्यान सुनने आये थे। तीन बार आये थे। वे किसी का ऑपरेशन करते थे। करते-करते (कहा), मुझे कुछ होता है। कुर्सी में बैठे, वहाँ समाप्त! ऑपरेशन करते-करते कहे, मुझे कुछ होता है, ऐसा कहकर कुर्सी पर बैठे वहाँ देह छूट गयी। सर्जन! बड़ा हॉस्पीटल है, भावनगर।

हम अस्पताल में गये हैं। कोई रोगी मनुष्य हो, वहाँ विशेष रूप से बुलाया था। हीराभाई का एक पुत्र था, वहाँ बीमार था तो गये थे। वहाँ दूसरे भी थे। एक हमारे शान्तिभाई सरवैया गढाणी के थे। हम हॉस्पीटल में गये थे, हॉस्पीटल के डॉक्टर भी बहुत प्रेमी थे। हम गये तो कहे, महाराज! मेरे घर आपको चरण करना पड़ेंगे। डॉक्टर। हम तो वहाँ रहे नहीं थे, सवेरे गये थे और वापिस आ गये थे। डॉक्टर कहे, महाराज! मेरे घर में चरण

करना। डॉक्टर कहे। बड़ा डॉक्टर है। हेमन्तकुमार तो गुजर गये। उनके बाद दूसरे डॉक्टर थे। हम गये थे, एक व्यक्ति की अन्तिम स्थिति थी तो उसे दर्शन देने गये थे। डॉक्टर साथ में आये थे। वे कहे, मेरे यहाँ चरण करना पड़ेंगे। फिर घर में गये थे। परन्तु यह चीज़ क्या है? आहाहा! पूरा अस्पताल पर है। उसका परिणमन और उसका अस्तित्व उससे है। इस आत्मा के कारण उसका अस्तित्व है, विद्यमानता है, सब रोगी की अस्ति मेरे कारण से है; रोगी निरोगी होते हैं, वे मेरे कारण से होते हैं, यह भ्रम है। ऐसी बात है। मोटाणी! आहाहा!

द्रव्यदृष्टि प्रकाश है डॉक्टर के पास? द्रव्यदृष्टि प्रकाश, इनके पिताजी का। सोगानी। रमेशभाई के पिताजी थे न? उनका द्रव्यदृष्टि प्रकाश है। दिया है? यह बहिन की पुस्तक मिली? वचनामृत मिल गया? डॉक्टर बड़े ब्रह्मचारी हैं। आजीवन ब्रह्मचारी हैं और बड़े हैं। सैकड़ों लोग ऐसे लाईन से दवा लेने आते हैं। आहाहा! अरे रे!

मुमुक्षु : बहुतों के रोग मिटा देते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह भी ऐसा समझते हैं। उसे मिटने का हो तो मिटता है। आहाहा! ऐसी चीज़ है, भाई!

यहाँ कहते हैं कि **अज्ञानी होता हुआ नाश को प्राप्त होता है, तब (उसे ज्ञानमात्र भाव का) स्व-रूप से (-ज्ञानरूप से) तत्पना प्रकाशित करके...** धर्मी, धर्मी जीव अपने को तो मैं जाननेवाला हूँ, ज्ञात होनेयोग्य चीज़ मुझसे अत्यन्त भिन्न है, मैं वास्तव में उसे जानता ही नहीं। मैं तो वास्तव में उस सम्बन्धी के ज्ञान को, मुझे जानता हूँ। आहाहा! इस अग्नि को ज्ञान जानत है तो क्या अग्निरूप होकर जानता है? या ज्ञानरूप रहकर जानता है? ज्ञानरूप रहकर अग्नि को जानता है, भिन्न रहकर जानता है। अग्नि को तो ज्ञान स्पर्श भी नहीं करता। आहाहा! इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ, प्रत्येक पदार्थ को आत्मा जानता है परन्तु किसी पदार्थ को आत्मा स्पर्श नहीं करता। आहाहा! ऐसा होगा? तुम्हारे तो बड़ा धन्धा है। बड़ा धन्धा, लाखों रुपयों की आमदनी है। आज आये हैं न? अभी लाख रुपये दिये थे न? भावनगर में। इनकी ओर से एक लाख दिये हैं। आहाहा! उसमें क्या है? यहाँ मकान लिया न? दो लाख का लिया है। नवनीतभाई गुजर गये न? शान्तिभाई और ये दो भाई हैं। हांगकांग में लाखों की आमदनी है, आज आये हैं। लाख रुपये दिये हैं। भावनगर में, अपना है न? क्या कहलाता है वह? 'वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट' में लाख रुपये दिये।

दो लाख का यहाँ मकान लिया। नवनीतभाई गुजर गये, यहाँ के प्रमुख थे न? वे गुजर गये, फिर उनके लड़कों को (रस नहीं था)। दो लाख का मकान है न? वह दो लाख का ले लिया। अपने नवनीतभाई थे न? यह सब तो पर की बात है। आहाहा! किसका मकान और किसके पुत्र और किसकी पुत्री?

मुमुक्षु : पैसा देकर लिया और अपना नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसा ही इसका नहीं, वहाँ फिर मकान अपना कहाँ से आया? यह तो यहाँ कहते हैं।

धर्मी जीव **(ज्ञानमात्र भाव का) स्व-रूप से तत्पना प्रकाशित करके...** है? आहाहा! धर्मी जीव तो ऐसा मानता है कि मैं तो ज्ञान और आनन्द आत्मा हूँ। वह चीज़ मुझमें नहीं और वह चीज़ मैं जानता हूँ; इसलिए मुझे उसका ज्ञान होता है, ऐसा भी नहीं। मेरे ज्ञान में उसे जानने की मेरी ताकत से मैं मुझे जानता हूँ। आहाहा! अरे रे! ऐसी बात है। बहुत सूक्ष्म बात, प्रभु! आहाहा!

मुमुक्षु : भेदज्ञान की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : भेदज्ञान। भिन्न चीज़। और अनेक आत्मा है तो इसका अर्थ हुआ न कि भेद है। एक दूसरेरूप नहीं होते। यह परमाणु अनन्त रजकण है। यह अँगुली कहीं एकरूप नहीं। अँगुली अनन्त परमाणुरूप है। उसमें एक-एक पॉइन्ट, रजकण, अन्तिम पॉइन्ट अपने-अपने से वहाँ है, पर से है ही नहीं। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं, धर्मी जीव **(ज्ञानमात्र भाव का) स्व-रूप से तत्पना प्रकाशित करके...** मैं तो जानने-देखनेवाला हूँ। मैं परचीज़ को जानता हूँ, इसलिए परचीज़ मेरी है और पर को जानता हूँ, इसलिए वह ज्ञान पर के कारण से हुआ है, मैं पर को जानता हूँ तो वह ज्ञान पर के कारण से हुआ है—ऐसा नहीं मानते। आहाहा! बहुत सूक्ष्म (बात)।

(अर्थात् ज्ञान ज्ञानरूप से ही है, ऐसा प्रगट करके),... धर्मी, मैं तो आत्मा अपने आत्मा से हूँ। राग से और पर से बिल्कुल नहीं हूँ। ऐसे ज्ञान और ज्ञेय। यहाँ तो इतनी बात लेनी है। ज्ञायकस्वरूप ज्ञान और ज्ञेय जाननेयोग्य चीज़, दोनों अत्यन्त भिन्न है। मैं ज्ञेय को जानने पर भी ज्ञेय का ज्ञान ज्ञेय के कारण से हुआ नहीं। आहाहा! इस पुस्तक का ज्ञान

पुस्तक के कारण से यहाँ नहीं हुआ। आहाहा! क्योंकि पुस्तक की अपने में नास्ति है। उसमें अस्ति है परन्तु अपने में अपनापना—ज्ञानपना है और उस परचीज़ की नास्ति है। सूक्ष्म बात है, भगवान! आहाहा! कभी किया नहीं। अनन्त काल हुआ। आहाहा! परिभ्रमण करते-करते चौरासी की घानी में पिलते-पिलते... चौरासी लाख योनि! आहाहा!

'अनेक भव बीते रे, इसे पन्थ में चलते।' नरसिंह मेहता कहते हैं, 'अनेक भव बीते रे, इसे पन्थ में चलते, नावी नावी आत्मा केरा ज्ञान।' आहाहा! 'अनेक भव बीते रे, इसे पन्थ में...' किसके पन्थ में? राग मेरा, शरीर मेरा, पर जानने योग्य हैं वे मेरे, इसे भव के कारण से। आहाहा! 'अनेक भव बीते रे, इसे पन्थ में चलते रे, नावी नाव्यो रे पन्थडा केरो रे पार, ना आव्यो ना आव्यो पंथडा केरो रे पार।' आहाहा! अनेक पन्थ के भव में भटका, प्रभु! परन्तु पन्थ का पार नहीं आया। क्योंकि अपनी चीज़ को पररूप मानकर और परचीज़ को अपनी मानकर मिथ्या भ्रम में चौरासी के अवतार किये। आहाहा! अब ऐसा उपदेश।

ज्ञातारूप से परिणमन के कारण ज्ञानी करता हुआ... मैं तो ज्ञानस्वरूपी हूँ। पर को जानने के कारण मुझे पर का ज्ञान होता है, ऐसा नहीं। पर को जानने के कारण मेरा ज्ञान पर से होता है, ऐसा नहीं। मेरे ज्ञान का स्वभाव 'स्वपरप्रकाशक शक्ति हमारी, तातैं वचनभेद भ्रम भारी, ज्ञेयशक्ति दुविधा प्रकाशी' जानने योग्य ज्ञेय दो प्रकार के—'निजरूपा पररूपा भासी'। आहाहा! एक ज्ञेय निजरूप है, अपने को जानना, वह ज्ञेय निज है और पर को जानना, वह परज्ञेय है। आहाहा! ज्ञेय के दो प्रकार हैं। आहाहा! ऐसी बातें। यहाँ तो ४६ वाँ चातुर्मास चलता है। यह ४६वाँ पर्यूषण चलता है। दो (पर्यूषण) राजकोट किये थे। (संवत्) १९९५ और १९९९, बाकी ४४ यहाँ। परिवर्तन के बाद ४६ चातुर्मास हुए। उसमें यह ४६वाँ पर्यूषण चलता है। उसमें यह बात है। आहाहा!

ज्ञानी अपने को, पर को जानने पर भी वह ज्ञान पर के कारण से हुआ, ऐसा नहीं है। वह ज्ञान मेरा स्वभाव है, मेरा स्वपरप्रकाशक ज्ञानस्वभाव है, उसके कारण से मैं पर को अपने में, अपने से जानता हूँ। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात। ऐसा **अनेकान्त ही (-स्याद्वाद ही) उसका उद्धार करता है...** मैं पर को जानने पर भी पररूप हुआ नहीं और पर के कारण से मैं पर को नहीं जानता। मेरे ज्ञानस्वभाव का सामर्थ्य इतना है। इसलिए

मैं मुझे और पर को मेरे सामर्थ्य से जानता हूँ। ऐसा माननेवाला आत्मा को जीवन्त रखता है। दूसरे जीव मान्यता में नाश करते हैं। आत्मा का कहीं नाश नहीं होता, आत्मा तो नित्य है। आहाहा!

अपनी जो चीज़ है, उसका निषेध करके परचीज़ मैं हूँ, ऐसा मानकर अपना श्रद्धा में नाश किया। वस्तु तो है। यहाँ अपने में मैं हूँ और अपने में रहकर परसम्बन्धी का ज्ञान मेरी चीज़ से, मेरे सामर्थ्य से मैं करता हूँ। जाननेयोग्य चीज़ से मेरी चीज़ अत्यन्त भिन्न है। जाननेयोग्य चीज़ से मुझमें ज्ञान होता है, ऐसा तीन काल में नहीं है। आहाहा! गजब बात है। कितनों ने तो पूरी जिन्दगी (में) सुनी न हो, कान में पड़े नहीं। कहाँ दुनिया पूरे दिन मजदूरी करे। आहाहा! बड़े मजदूर। मजदूरी तो सवेरे आठ से बारह तक चार घण्टे काम करे और शाम को दो से छह तक। और यह मजदूर तो सवेरे से शाम तक (मजदूरी करता है)।

मुमुक्षु : सवेरे से रात के दस बजे तक।

पूज्य गुरुदेवश्री : रात के दस बजे तक। हमारे यहाँ दुकान पर था न! रात में दस बजे नामा लिखकर दस बजे दुकान छोड़े। पालेज। पाँच वर्ष मैंने भी दुकान चलायी है न!

मुमुक्षु : योगफल करना पड़े न!

पूज्य गुरुदेवश्री : नामा मुझे लिखना पड़े। घर की दुकान थी। पिताजी गुजर गये तो भागीदार के साथ मैं रहा तो पूरे घर का नामा मुझे लिखना पड़ता था। सवेरे से शाम तक कितने पैसे आये, गये? परन्तु यह संवत् १९६३ से १९६८। डॉक्टर! तुम्हारे जन्म से पहले की बात है। संवत् १९६३ से १९६८। आहाहा! वैशाख महीने में छोड़ दिया। यह बड़ी दुकान लगायी। मैं अन्त में मुम्बई माल लेने गया था। माल के लिये नहीं गया था परन्तु हमारे बड़े भाई का विवाह था। विवाह की आमन्त्रण पत्रिका... १९६८ की बात है, संवत् १९६८, पत्रिका छपाने के लिये मैं मुम्बई गया तो साथ में माल भी लाया। चार सौ मण तो चावल लिये थे। डॉक्टर! अन्त में १९६८ के माघ महीने में। वैशाख में दुकान छोड़ दी। माघ महीने में मुम्बई माल लेने गये और बड़े भाई का विवाह था, पत्रिका छपाने मुम्बई गये। चार सौ मण चावल लिये थे और खजूर की बोरियाँ ली थी। बहुत लिये, एक इस चावल

की खबर है, चार सौ मण चावल लिये थे। आहाहा! फिर छोड़ दिया। यह काम हमारा नहीं, यह तो पाप के काम हैं। यह तो ममता और मेरा और तेरा तथा यह और वह। अरे रे! यहाँ से जाना कहा? यह सब पाप के पोटले बँधते हैं।

मुमुक्षु : वह छोड़कर यह पेढी कायम की।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह पेढी की। आहाहा!

प्रभु! तू कौन है? कहते हैं। ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान में तुझसे भिन्न चीज़ जानने में आती है। वह ज्ञात होती है, उस चीज़ के कारण से नहीं। तेरा ज्ञान का स्व-परप्रकाशक स्वभाव है, इसलिए परचीज़ जानते हुए तू तेरी ताकत से तुझे जानता है, पर को नहीं। अरे रे! यह कैसे जँचे? मैं पर को ही जानता हूँ और मुझे नहीं जानता, वह आत्मा का नाश करता है। आत्मा अपने को जानता है और पर को भी अपने कारण से अपने ज्ञान से जानता है, उसने आत्मा का जीवन रखा, आत्मा की अस्ति रखी, आत्मा का जीवन रखा। आहाहा! यह एक (बोल) हुआ।

दूसरा बोल। **और जब वह ज्ञानमात्र भाव 'वास्तव में यह सब आत्मा है'...** आहाहा! अनादि से ऐसा मानता है कि यह सब आत्मा है, सब एक ही है, सब एक ही है। **इस प्रकार अज्ञानतत्त्व को...** अज्ञान अर्थात् कि यह ज्ञान उसमें नहीं है। पर आत्मा और पर परमाणु में यह ज्ञान नहीं है। यह अज्ञानतत्त्व है। आहाहा! गजब बात है। दूसरा पेरेग्राफ है? **और जब वह ज्ञानमात्र भाव 'वास्तव में यह सब आत्मा है'...** सब आत्मा है, सब एक ही है-ऐसा अज्ञानी मानता है। आहाहा! **इस प्रकार अज्ञानतत्त्व को...** विशिष्टता क्या की? कि यह आत्मा पर को मानता है परन्तु पर तो अज्ञान है। अज्ञान का अर्थ—यह ज्ञान उसमें नहीं है। वह भले केवली भगवान हो परन्तु उन्हें यहाँ अज्ञानतत्त्व कहा। क्योंकि अपना ज्ञान उनमें नहीं है। उनका ज्ञान उनमें है। इस ज्ञान की अपेक्षा से यह ज्ञान उनमें है नहीं तो वह अज्ञानतत्त्व हुआ। इस ज्ञान की अपेक्षा से अज्ञान। आहाहा! गजब बात है। है? आहाहा!

जब वह ज्ञानमात्र भाव... वस्तु। **'वास्तव में यह सब आत्मा है'...** सब आत्मा है, हम सब एक ही हैं। **इस प्रकार अज्ञानतत्त्व को स्व-रूप से (ज्ञानरूप से)**

मानकर... दूसरे सब अज्ञानतत्त्व हैं। गजब बात है। आहाहा! इस ज्ञानतत्त्व के अतिरिक्त, यह ज्ञान उनमें नहीं है, इस अपेक्षा से उसे अज्ञानतत्त्व कहा। शास्त्र में दूसरी बात है, स्वद्रव्य की अपेक्षा से स्वद्रव्य है और स्वद्रव्य की अपेक्षा से परद्रव्य है ही नहीं। अपने से है, पर से है नहीं। अपने कारण से वह पर अद्रव्य है, अक्षेत्र है, अकाल है, अ-भाव है। अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव हैं, पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव अपने से है नहीं। आहाहा! ऐसा सुनने को मिलना मुश्किल। सुनकर जँचना कठिन पड़े।

यहाँ तो (कहते हैं), एक आत्मा ज्ञानस्वरूपी प्रभु प्रज्ञाब्रह्म को छोड़कर जितने तत्त्व हैं, वे सब अज्ञान हैं। अज्ञान का अर्थ—यह ज्ञान उनमें नहीं है। भले वे केवली हों, भले वे सिद्ध भगवान हों परन्तु यह ज्ञान उनमें नहीं, इस अपेक्षा से इस ज्ञान के अभावरूपी अज्ञान, इस ज्ञान के अभावरूप से अज्ञान (कहा है)। आहाहा! यह तो अकेला मक्खन है।

अज्ञानतत्त्व को स्व-रूप से (ज्ञानरूप से) मानकर-अंगीकार करके विश्व के ग्रहण द्वारा... सब वस्तुएँ मेरी हैं, इसके द्वारा **अपना नाश करता है...** आहाहा! परवस्तु, वही मेरी है—ऐसा मानकर अपना नाश करता है। **(-सर्व जगत को निज रूप मानकर उसका ग्रहण करके जगत् से भिन्न ऐसे अपने को नष्ट करता है), तब (उस ज्ञानमात्र भाव का) पररूप से अतत्पना...** धर्मी जीव, वह ज्ञानमात्र भाव, ज्ञान में जो भगवान आदि ज्ञेय ज्ञात होते हैं, वह अतत् है। मैं उस तत्‌रूप नहीं हूँ। आहाहा! **अतत्पना प्रकाशित करके (अर्थात् ज्ञान पररूप नहीं है, यह प्रगट करके) विश्व के भिन्न ज्ञान को दिखाता हुआ...** आहाहा! **अनेकान्त ही उसे अपना (-ज्ञानमात्र भाव का) नाश नहीं करने देता।** आहाहा! मैं पर को जानने पर भी पर से मैं हूँ नहीं और मुझसे पर है नहीं। ऐसा ज्ञान अपने को मानता है। अन्तर की दृष्टि में ज्ञानस्वभाव ही मैं हूँ, दूसरी कोई चीज़ मेरी नहीं है। पर को जानता हूँ तो पर को जाननेवाला ज्ञान पर का नहीं है। पर को जाननेवाला ज्ञान मेरा है, ऐसा मानकर आत्मा जीवित है, ऐसा मानता है, वह धर्मी कहलाता है। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४६९, परिशिष्ट रविवार, भाद्र शुक्ल १२
दिनांक - २१-०९-१९८०

समयसार, चौदह बोल का अधिकार सूक्ष्म है। स्थूल बुद्धिवाले को पकड़ना मुश्किल। और अधिकार यह आया और पर्यूषण के दिन हैं। आहाहा! तत्-अतत् दो (बोल) आये। क्या कहा? आत्मा अपने तत् स्वरूप से है और निज स्वरूप के अतिरिक्त जो सब ज्ञेयतत्त्व हैं, इस आत्मा के अतिरिक्त पंच परमेष्ठी भी ज्ञेय है। शरीर, मन, वाणी, कर्म यह सब ज्ञान का परज्ञेय है। उस परज्ञेय को अपना मानता है, वह मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी है। चाहे तो वह पंच महाव्रत पालता हो, तो भी वह अज्ञानी है। ओहोहो! दो बोल आ गये हैं।

अज्ञानतत्त्व को स्व-रूप से मानकर... वास्तव में तो यह आया। आहाहा! अपने ज्ञानस्वरूप के अतिरिक्त सभी पदार्थ यह ज्ञान नहीं है, वह अज्ञानतत्त्व है। आहाहा! पंच परमेष्ठी, देव-गुरु-शास्त्र, वे अपने ज्ञान की अपेक्षा से भिन्न ज्ञेय हैं, इस अपेक्षा से यह ज्ञान नहीं; इसलिए उन सबको अज्ञानतत्त्व कहा गया है। आहाहा! कल आ गया है। दूसरी लाईन, दूसरे बोल की दूसरी लाईन। **अज्ञानतत्त्व को स्व-रूप से मानकर...** देखा? आहाहा! गजब बात है। यह बात कभी सुनी नहीं, विचार नहीं की।

यह ज्ञानतत्त्व आत्मा जो वस्तु है, वह पुण्य-पाप ज्ञेय है, उनसे तो भिन्न ही है। उन पुण्य-पाप को भी यहाँ तो अज्ञान कहा। ज्ञेय जितना है, सबको अज्ञान कहा। यहाँ यह ज्ञानमात्र आत्मा अपने से है और यह ज्ञानस्वभाव अपना है, वह अन्यत्र कहीं नहीं। नहीं पुण्य में, नहीं पाप में, नहीं देव में, नहीं गुरु में, नहीं शास्त्र में, यह ज्ञानतत्त्व दूसरे किसी ज्ञानतत्त्व में नहीं है। यह ज्ञान। वे भले परमेश्वर हो। आहाहा! ऐसी वाणी सूक्ष्म कठिन (पड़ती है)। क्योंकि शास्त्र में तो ऐसा लिखा है, ऐसा आया है कि इस द्रव्य की अपेक्षा से सब द्रव्य अद्रव्य है। आहाहा! अरे रे! कभी...

यह द्रव्य जो वस्तु भगवान आत्मा ज्ञानानन्द आनन्द की नगरी, स्वभाव की नगरी, पूरी अनन्त गुण की (नगरी), इस स्वद्रव्य की अपेक्षा से अपने द्रव्य के अतिरिक्त परद्रव्य अद्रव्य हैं। आहाहा! यह आगे आयेगा, स्वक्षेत्र की अपेक्षा से असंख्य प्रदेशी प्रभु आत्मा, इस स्वक्षेत्र की अस्ति है, परन्तु अपने क्षेत्र के अतिरिक्त दूसरे सबके क्षेत्र को अज्ञानक्षेत्र

कहा। अज्ञान अर्थात् यह ज्ञान वहाँ नहीं, यह क्षेत्र वहाँ नहीं। आहाहा! इस अपेक्षा से उसे अक्षेत्री अज्ञानी कहा। शान्तिभाई! ऐसी बातें बहुत कठिन। आहाहा! पंकज आज आया? आहाहा! यह मार्ग ऐसा है, बापू!

यहाँ दूसरे बोल में आ गया कि यह आत्मा तत् है और दूसरी चीज़ अतत् है। अतत् में तो परमेश्वर भी अतत् में आ गये। आहाहा! परमेश्वर भी इस ज्ञानतत्त्व की अपेक्षा से उस ज्ञेयतत्त्व को अज्ञानतत्त्व कहा। आहाहा! एक ओर राम और एक ओर गाँव। राम को राम कहा तो दूसरी चीज़ को अराम कहा। आहाहा! अरे रे!

यहाँ भेदज्ञान कराना है। पर से भेदज्ञान (कराया है) और ऐसा है। इस कारण से अपना तत्त्व जो ज्ञानतत्त्व। यहाँ द्रव्य नहीं लेना। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में से यहाँ भाव में ज्ञानतत्त्व लेना। पहले दो बोल में ऐसा लेना। ज्ञानतत्त्व से आत्मा है और जिस ज्ञान में जाननेयोग्य परमेश्वर, ईश्वर, दया, दान, व्रत, काम, क्रोधादि, अरे! मन्दिर, प्रतिमा या साक्षात् भगवान और भगवान की वाणी... आहाहा! इस ज्ञानतत्त्व की अपेक्षा से वह अतत्त्व है। उस अतत्त्वरूप आत्मा नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है। किसे दरकार है? अरे! आहाहा! रस्तोगी डॉक्टर के घर से आये थे। गुजर गये न वहाँ? उनकी बहू आयी थी। अधिक प्रसिद्ध है। उन्हें अधिक प्रेम था। उनके घर से आये थे। रस्तोगी गुजर गये परन्तु उनके छोटे भाई भी गुजर गये। आहाहा! इस जगत के भीतर क्या चीज़ है? आहाहा! तुझे किसका उत्साह करना है, प्रभु! आहाहा!

इस आत्मवस्तु की अपेक्षा से इस तत्त्व—ज्ञानतत्त्व की अपेक्षा से सब जितने ज्ञेयतत्त्व हैं, देव-गुरु-शास्त्र, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, पैसा-लक्ष्मी, उन सबको ज्ञानतत्त्व की अपेक्षा से अज्ञानतत्त्व कहा। वह अज्ञानतत्त्व तत्त्वरूप से है परन्तु अपनी अपेक्षा से वह अतत्त्व है। आहाहा! दरकार नहीं, भाई! अरे! देह छूट जायेगी। यह आत्मा चार गति में घूमने भटकेगा। आहाहा! यदि तत्त्वज्ञान यथार्थ नहीं किया, सुई में डोरा पिरोते हैं, सुई कहते हैं न? सुई में डोरा पिरोया होगा तो वह सुई खोयेगी नहीं। कदाचित् चिड़िया उसकी माला में ले जाए तो उसके डोरे द्वारा ख्याल आ जाएगा कि यहाँ अपनी सुई है। इसी प्रकार यह भगवान आत्मा ज्ञान अन्दर चैतन्यस्वरूप पर से अत्यन्त त्रिकाली भिन्न है, ऐसा सम्यग्ज्ञान

का डोरा पिरोया हो तो उसे चौरासी में अवतार नहीं होंगे। आहाहा! और वह सम्यग्ज्ञानरूपी डोरा नहीं पिरोया हो तो जैसे सुई खो जाती है। खोवाई कहते हैं हिन्दी में? गुम (हो जाती है) आहाहा! उसी प्रकार भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूपी, जाननस्वभाव पर से भिन्न और अपने से अभिन्न है, ऐसा अनुभव नहीं करे तो चार गति में भटकेगा। आहाहा! सूक्ष्म बात है परन्तु भाषा तो सादी है।

अब आज तीसरा बोल है। दो बोल आ गये—तत्-अतत्। यह ज्ञानस्वरूप से तत् है, इस ज्ञेयस्वरूप से अतत् है। ज्ञेय—ज्ञान में ज्ञात होनेयोग्य। चाहे तो देव-गुरु और शास्त्र, स्त्री, कुटुम्ब और परिवार, पैसा, लक्ष्मी, पुत्र सब ज्ञेयरूप है, आत्मा (के) ज्ञान (रूप) नहीं है। आहाहा! ये दो बोल आ गये। आज तीसरा बोला।

जब यह ज्ञानमात्र भाव... है तीसरा बोल? **जब यह ज्ञानमात्र भाव...** ज्ञानमात्र ऐसा कहने से दूसरी कोई चीज़ उसमें नहीं है। ज्ञानमात्र कहने से उसमें अनन्त गुण नहीं, ऐसा नहीं। ज्ञानमात्र, चैतन्यस्वरूप प्रज्ञास्वरूप **यह ज्ञानमात्र भाव अनेक ज्ञेयाकारों के द्वारा...** सूक्ष्म तो है, भाई! ज्ञान में, अनन्त जो ज्ञेय हैं—स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, देव-गुरु-शास्त्र ये ज्ञेय हैं, आहाहा! इन ज्ञेयाकारों द्वारा। इन ज्ञेयाकाररूप मेरा ज्ञान हो गया, ज्ञेय के आकार के कारण मुझे ज्ञान हुआ... आहाहा! **ज्ञेयाकारों के द्वारा (-ज्ञेयों के आकारों द्वारा) अपना सकल (अखण्ड, सम्पूर्ण) एक ज्ञान-आकार खण्डित...** मेरे ज्ञान में यह ज्ञेय ज्ञात होते हैं, तो मेरा ज्ञान खण्डित हो गया, ऐसा मानता है। परन्तु ज्ञान का स्वभाव है कि अनन्त को जाने। अनन्त को जानने पर भी एकरूप मिटता नहीं, खण्ड-खण्ड होता नहीं। अरे रे! ऐसी बात?

भगवान चैतन्यसूर्य, अन्दर भगवान चैतन्य आत्मा, वह ज्ञेय को जानने पर भी ज्ञेयरूप नहीं होता। समझ में आया? यहाँ एक-अनेक की बात है। ज्ञानस्वरूपी भगवान अनन्त ज्ञेयों को, अनन्त ज्ञेय में सर्वज्ञ, देव-गुरु-शास्त्र भी ज्ञेय है, उनके आकार ज्ञान होता है, ऐसा जानकर मेरा ज्ञानस्वभाव ही उनके आकार हुआ मेरी चीज़ है, ऐसा नहीं मानकर, उस ज्ञेय को जानने से मुझे ज्ञान हुआ—ऐसा मानकर, अपने आत्मा का नाश करता है। आहाहा! सूक्ष्म बात है परन्तु ख्याल रखे तो (पकड़ में आये ऐसा है)। आहाहा!

ज्ञानमात्र भाव अनेक ज्ञेयाकारों... ज्ञेय है न? देव-गुरु-शास्त्र, स्त्री, कुटुम्ब -परिवार, पैसा लक्ष्मी, शरीर, वाणी, मन, कर्म यह सब ज्ञेय है। इन **ज्ञेयाकारों के द्वारा (-ज्ञेयों के आकारों द्वारा) अपना...** ज्ञेय को जानता है तो मानो कि उस ज्ञेय के आकार आत्मा हो गया, ऐसा अज्ञानी मानता है। इसकी भी कहाँ खबर है कि ऐसा मानता है? आहाहा! यह तो माल... माल है, भाई! ज्ञानस्वरूपी प्रभु, ज्ञानरूपी भाव में ज्ञेय जो अनन्त ज्ञेय हैं, उन अनन्त ज्ञेयों का यहाँ ज्ञान होता है तो अज्ञानी ऐसा मानता है कि वे अनन्त ज्ञेय हैं तो उनसे मुझे ज्ञान हुआ है। अनन्त ज्ञेयों से हुआ तो मेरा ज्ञान खण्ड-खण्ड हो गया। आहाहा! मैं एकरूप और अनन्त ज्ञेयों को जानने से मेरा ज्ञान एकरूप नहीं रहा, खण्ड-खण्ड हो गया। आहाहा! यह तो मुद्दे की बात है।

यहाँ दामनगर है, वहाँ सेठ थे, दामोदर सेठ। इस ओर पैसेवाले वे थे। तब तो दस लाख अर्थात् बहुत। अभी तो दस लाख की कहाँ गिनती है? दस लाख रुपये। सरकार की ओर से हुक्म आया। गायकवाड सरकार। हमारे राज में जितने लोगों ने परक्षेत्र का, पन्द्रह वर्ष, बीस वर्ष, पच्चीस वर्ष से खाया हो, वे छोड़ दे, उसे दे दो। तुम्हारा हक नहीं है। समझ में आया? जो कुछ दूसरे की जमीन थी, उसे पैसा देकर अपनी की हो और वह जमीन अपनी है, ऐसा माने। उस जमीन में जो उपजता है, उसे अपना माने। तो सरकार की ओर से ऐसा हुक्म आया, पूरे देश में जिसने दूसरे की जमीन पैसा देकर ली हो, वह जमीन छोड़ दो। सेठ वहाँ गायकवाड सरकार के पास गये कि साहेब! यह तो गजब किया। हम बीस-बीस, पच्चीस-पच्चीस वर्ष से यह जमीन हमारी है। चार हजार की उपज का एक गाँव घर में था और दस लाख रुपये थे। उस समय दस लाख अर्थात् अभी से तीस गुने। पैसा देकर दूसरे की जमीन ली थी। सरकार ने ऐसा कायदा किया कि उसे छोड़ दो। पर की जमीन के ऊपर अब तुम्हारा हक नहीं है। तो वहाँ दरबार के पास गये। साहेब! यह तो बहुत हुआ। सरकार ने कहा, तुम्हारे एक के लिये यह कायदा है? पूरे राज के लिये है। गायकवाड। तीन करोड़ की उपज। गायकवाड, वड़ोदरा। आहाहा! सबके लिये है।

इसी प्रकार यहाँ कहते हैं, यह ज्ञानमात्र आत्मा ज्ञेय को जानने से मानो मैं ज्ञेयरूप हो गया, ऐसा मानकर अपने ज्ञान का नाश करता है। मोटाणी! कहाँ ऐसा कहीं सुना नहीं हो। आहाहा! अरे!

मुमुक्षु : सुनानेवाले कहाँ हैं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो सेठ भी कहते हैं। यह मुश्किल बात है। भाई! भगवान! सबका कल्याण होओ। परन्तु वस्तु बहुत फेरफार कर डाली। आहाहा!

इस आत्मा का ज्ञानस्वभाव एकरूप है। अनन्त-अनन्त ज्ञानस्वरूप एकरूप है। उस एकरूप में अनन्त ज्ञेयों का ज्ञान होता है तो अज्ञानी मानता है कि मेरा एकरूप ज्ञान खण्ड-खण्ड हो गया। ऐसा नहीं है। वह ज्ञान अनेक को जानने पर भी एकरूप रहता है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! मेरे ज्ञान में यह सब ज्ञात होता है... आहाहा! अरे! मेरे ज्ञान में पर्याय भी ज्ञात होती है तो मेरा ज्ञान खण्ड-खण्ड हो गया। आहाहा! और मुझे ज्ञान में भगवान ज्ञात होते हैं तो भगवान को जानने से मेरा ज्ञान खण्ड हो गया, ऐसा मानकर... देखो!

ज्ञानमात्र भाव अनेक ज्ञेयाकारों के द्वारा (–ज्ञेयों के आकारों द्वारा) अपना सकल (अखण्ड, सम्पूर्ण) एक ज्ञान–आकार खण्डित हुआ मानकर... है? सूक्ष्म बात है, भाई! कभी निवृत्ति नहीं ली और यह बात नहीं की। आहाहा! (ज्ञान आकार खण्डित) **हुआ मानकर नाश को प्राप्त होता है,...** परज्ञेय से मुझमें ज्ञान हुआ। परज्ञेय से मुझमें ज्ञान हुआ तो मेरा ज्ञान एकरूप नहीं रहा, खण्ड-खण्ड हो गया—ऐसा मानकर अपना ज्ञान एकरूप है, उसका नाश करता है। आहाहा! गजब बात है, भाई! शान्ति से लोग सुनते हैं। आहाहा! ऐसी बात कहाँ थी? आहाहा!

अपने को **(–खण्ड खण्डरूप) हुआ मानकर नाश को प्राप्त होता है,...** आहाहा! अपना अखण्ड एकरूप ज्ञायकभाव उन अनेक ज्ञेयों को जानता है, उन्हें जानने से मेरा ज्ञान खण्ड-खण्ड हो गया, मैं अनेक हो गया, ऐसा मानकर एकरूप का नाश करता है। आहाहा! और धर्मीजीव **(उस ज्ञानमात्र भाव का) द्रव्य से एकत्व प्रकाशित करता हुआ...** है? पर को मैं जानता हूँ, तथापि मैं तो द्रव्य हूँ। मेरे द्रव्य में मेरी शक्ति से मैं जानता हूँ। मैं पर को जानता हूँ और पर जाना, इसलिए ज्ञान खण्ड-(खण्ड) हो गया, ऐसा नहीं है। आहाहा! है?

धर्मीजीव **(उस ज्ञानमात्र भाव का) द्रव्य से एकत्व प्रकाशित करता हुआ...**

द्रव्य अर्थात् वस्तु मैं एक ही हूँ, भले अनन्त को जानूँ। अनन्त को जानने पर भी मैं द्रव्य से अनेक हो गया, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी बात, फिर लोग कहे न, सोनगढ़ का निश्चय... निश्चय। निश्चय नहीं, बापू! यह सत्य है। प्रभु! यह सत्य का पुकार परमात्मा के घर का है। आहाहा! प्रभु! तू स्त्री, पुरुष, नपुंसक, तिर्यंच, देव, नारकी तू नहीं है। तेरे ज्ञान में जानने में जो आता है, वह तेरी ज्ञान की पर्याय ज्ञात होती है। पर के कारण से तेरे ज्ञान में अनेक जानने से ज्ञान खण्ड-(खण्ड) हो गया, ऐसा नहीं है। आहाहा!

धर्मीजीव **द्रव्य से एकत्व प्रकाशित करता हुआ...** है? धर्मी जीव... आहाहा! मैं ज्ञायकस्वरूप वस्तु हूँ। अनन्त को जानने पर भी मैं एकरूप हूँ। मेरा खण्ड हुआ ही नहीं। दीपक अनेक घट-पट को प्रकाशित करता है, तो भी दीपक का खण्ड नहीं होता। दीवो। दीवो कहते हैं न हिन्दी में? आहाहा! दीपक सबको प्रकाशित करता है तो भी दीपक का खण्ड नहीं होता। इसी प्रकार भगवान चैतन्य दीपक सबको जानता है। जानने से खण्ड नहीं होता। मैं तो द्रव्यरूप से एकरूप हूँ। आहाहा! ऐसी बात। यह पढ़ा हो तो भी समझ में नहीं आता। मोटाणी! आहाहा!

यह कहते हैं, धर्मीजीव **(उस ज्ञानमात्र भाव का) द्रव्य से एकत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जीवित रखता है...** मैं पर को जानता हूँ; इसलिए मेरे ज्ञान में खण्ड हुए, ऐसा नहीं है। मेरे ज्ञान में स्व-पर जानने की सामर्थ्य से, मैं पर को जानने पर भी द्रव्य से एकरूप हूँ। वस्तुरूप से एकरूप हूँ। अनन्त को जानने पर भी वस्तुरूप से एकरूप हूँ। अज्ञानी अनेक को जानने से मैं अनेकरूप हो गया, (ऐसा मानता है)। आहाहा! ऐसी बात है, सेठ! इस समय सहज आया है, हों! यह पढ़ते हुए बात आ गयी। यहाँ तक उन्नीसवीं बार आया है। शक्ति तो एक बार फिर ली थी न? शक्ति तो एक बार ली थी। शक्ति इस समय बीसवीं बार आयेगी। आहाहा!

द्रव्य से तो मैं एक हूँ। भले अनेक का ज्ञान मुझमें हो, तथापि मेरा ज्ञान कहीं खण्ड नहीं होता। वह तो मेरे ज्ञान का स्वभाव ही है कि स्व और पर को, अनन्त को जाने, तथापि अपने द्रव्य से, वस्तु से एकत्व हूँ। आहाहा! है? **द्रव्य से एकत्व प्रकाशित करता हुआ...** आहाहा! अब यह बनिये को निवृत्ति नहीं मिलती। धन्धा और बहियों के नामा

लिखने में से शाम को निवृत्त नहीं होता। अब यह नामा लिखना। आहाहा! प्रभु! क्या करें? परमात्मा की—त्रिलोकनाथ की यह आज्ञा है। सीमन्धर भगवान परमात्मा, आहाहा! उनके पास यह सब आया था। आहाहा! यह सब बात उनके पास से आयी है। कुन्दकुन्दाचार्यदेव वहाँ गये थे। आहाहा! कहते हैं, यह बात तो अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं परन्तु वे कुन्दकुन्दाचार्य का हृदय कहते हैं। और कुन्दकुन्दाचार्य परमात्मा का हृदय कहते हैं। परमात्मा का अभिप्राय। आहाहा! एक बोल हुआ। **द्रव्य से एकत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही...** देखा? मैं पर को जानने पर भी खण्डरूप नहीं हुआ। द्रव्यरूप रहा हूँ। पर से नास्ति हुआ अपने से अस्ति हुआ। आहाहा! एक बोल हुआ। तीसरा।

चौथा बोल। **और जब वह ज्ञानमात्र भाव एक ज्ञान-आकार का ग्रहण करने के लिए...** आहाहा! क्या कहते हैं? इस ज्ञानस्वरूप में अनेक ज्ञात होते हैं न? तो अज्ञानी को भ्रम हो जाता है कि मैं इन अनेक को जानता हूँ तो मैं एकरूप रहने के लिये इन अनेक को जानना छोड़ दूँ। मैं एकरूप रहने के लिये अनेक को जानपना छोड़ दूँ। ऐसा मूढ़ है। आहाहा! अनेक को जानना, यह तो तेरा स्वभाव है। अनेक को जानने से तू अनेकरूप नहीं होता। वह तो तेरी पर्याय का स्वभाव है। आहाहा! है?

एक ज्ञान-आकार का ग्रहण करने के लिए अनेक ज्ञेयाकारों के त्याग द्वारा... ज्ञान में जो ज्ञेय ज्ञात होते हैं, परमात्मा, देव-गुरु-शास्त्र आदि, ये ज्ञात होते हैं तो इस ज्ञेयाकार को छोड़ दूँ, ये मेरे नहीं हैं, ऐसा करके अज्ञानी अपना नाश करता है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात। **जब वह ज्ञानमात्र भाव एक ज्ञान-आकार का ग्रहण करने के लिए...** मैं एकरूप रहने के लिये। ज्ञान में जानना, वह तो अपना स्वभाव है। अनेक ज्ञानरूप हुआ परन्तु वह तो ज्ञान का स्वभाव है परन्तु अनेकपने को छोड़कर मैं एक होने के कारण, खण्ड-खण्ड ज्ञान हुआ मानकर अनेक को छोड़ देता है। आहाहा! **अनेक ज्ञेयाकारों के त्याग द्वारा अपना नाश करता है...** समझ में आया? आहाहा!

इस ज्ञान में अनन्त ज्ञेय ज्ञात होते हैं तो अज्ञानी ऐसा मानता है कि यह तो मेरा ज्ञान खण्ड-खण्ड हो गया, मुझे तो एकरूप रहना है। वह एकरूप रहने की भावना से... आहाहा! अपना नाश करता है। यह तो अनेक को जानने का अपना स्वभाव है। आहाहा!

(अर्थात् ज्ञान में जो अनेक ज्ञेयों के आकार आते हैं, उनका त्याग करके अपने को नष्ट करता है),... यह ज्ञेयाकार अपने ज्ञान का स्वरूप है। अपनी पर्याय में अनन्त ज्ञेय जानने की सामर्थ्य है। वह तो अपनी पर्याय का स्वभाव है परन्तु उसे नहीं मानकर, मेरा ज्ञान ज्ञेयाकाररूप हुआ तो मैं उसे छोड़ देता हूँ, इसमें अपने आत्मा का नाश करता है। आहाहा! गजब बात है। सुनना मुश्किल पड़ती है। आहाहा!

(अर्थात् ज्ञान में जो अनेक ज्ञेयों के आकार आते हैं, उनका त्याग करके...) ज्ञेय को जानना यह तो ज्ञान का स्वभाव है। यह अपना स्वभाव है, उनके कारण से नहीं है। तथापि ऐसा मानो कि मेरे ज्ञान में यह पर का ज्ञान हुआ, इसलिए उसे छोड़ दूँ। ऐसा करके अपने आत्मा का नाश करता है। आहाहा! अभी तो समझना कठिन पड़े।

तब (उस ज्ञानमात्र भाव का) पर्यायों से अनेकत्व... अब धर्मी **पर्यायों से अनेकत्व प्रकाशित करता हुआ...** मेरी पर्याय में अनेकपना मेरा स्वभाव है। आहाहा! समझ में आया? धीरुभाई! ऐसी बातें हैं। ऐसा धर्म कहाँ से निकाला, कहते हैं। कहीं नया निकाला नहीं, प्रभु! यह तो अनादि का यही मार्ग है। धर्मीजीव अपने ज्ञान में अनेक देव-गुरु-शास्त्र पर्याय में अनन्त-अनन्त जानने से पर्याय से मैं अनेक हूँ, ऐसा मानता है। अज्ञानी वह पर्याय मानता नहीं तो पर्याय में अनेक ज्ञात होते हैं, उसे भी मानता नहीं। पर्याय में अनेक ज्ञात होते हैं तो अपनी पर्याय को ही नहीं माना। आहाहा! समझ में आया? यह तो सात्त्विक माल है। जैनदर्शन सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकीनाथ का मक्खन है। आहाहा! कभी दरकार नहीं की, इसलिए कठिन पड़ता है। आहाहा! क्या कहा?

धर्मीजीव... अज्ञानी तो अपने ज्ञान में अनेक को जानने से मेरा ज्ञान खण्ड हो गया, (ऐसा मानता है) परन्तु ऐसा नहीं है। ज्ञान का स्वभाव अनेक को जानने का है। ज्ञान की पर्याय में अनन्त को जानना, यह पर्याय का स्वभाव है। उस अनेक को जानने से अज्ञानी को ऐसा लगता है कि मैं खण्ड-खण्ड हो गया, पर्याय में मैं खण्ड-खण्ड हो गया। पर्याय में खण्ड-खण्ड हो गया, ऐसा मानकर अपने आत्मा का नाश करता है। आहाहा! और धर्मीजीव **(ज्ञानमात्र भाव का) पर्यायों से अनेकत्व प्रकाशित करता हुआ...** पर्याय से तो मैं त्रिकाल अनेक हूँ। आहाहा! पर्याय और द्रव्य और... आहाहा!

पर्याय, जो ज्ञान की पर्याय, जानन (स्वभाव), केवलज्ञान की पर्याय अनन्त लोकालोक को जानता है। यह तो पर्याय का धर्म है। आहाहा! पर्याय का स्वभाव है। धर्मी **(ज्ञानमात्र भाव का) पर्यायों से अनेकत्व प्रकाशित करता हुआ...** पर्याय से ज्ञान अनेक है। अनन्त को जानता है। अनन्त को जाने, ऐसी स्वयं की सामर्थ्य है। आहाहा! अब यह समझे बिना दया पालो और व्रत पालो, भक्ति करो, पूजा करो, दान करो... सब एक बिना के शून्य हैं। आहाहा! अरे रे! अनन्त-अनन्त काल चला गया। कभी अपनी चीज़ कैसी है? भगवान ने किस प्रकार कह रहे हैं? इसकी दरकार नहीं की। जीवन / जिन्दगी चली जा रही है। आहाहा!

यह कहते हैं, अज्ञानी ज्ञान में एकरूपता रखने को अनेक को जानने का मेरा भाव नहीं, ऐसे खण्ड-खण्ड ज्ञान को पर का जानता है परन्तु वह पर्याय का धर्म है, ऐसा नहीं मानता हुआ अपने आत्मा का नाश करता है। समझ में आया? आहाहा! धर्मीजीव **(ज्ञानमात्र भाव का)...** अब धर्मी की बात करते हैं। **पर्यायों से अनेकत्व प्रकाशित करता हुआ...** मेरी पर्याय में अनेकपना है। मेरी पर्याय अनन्त को जाने, ऐसी है। किसी भी समय यह आत्मा, अनादि-अनन्त आत्मा एक समय भी पर्याय के बिना नहीं रहता; और पर्याय का स्वभाव अनेक को जाने। अनेक को जानना, वह तो मेरा स्वभाव है। ऐसा जानकर... आहाहा! **अनेकत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता।** आहाहा! मेरे ज्ञान में—पर्याय में अनेकपना ज्ञात हुआ। पर्याय का धर्म ऐसा है कि अनादि-अनन्त द्रव्य में किसी भी समय पर्याय बिना का द्रव्य नहीं है और वह पर्याय अनन्त को जाने बिना नहीं रहती। अनन्त को जानना, वह तो मेरा पर्याय धर्म है। ऐसा मानकर ज्ञानी वह ज्ञेयाकार ज्ञान मेरा है, पर का नहीं—ऐसा करके आत्मा को जिलाता है। अरे रे! ऐसी बातें! वस्तु ऐसी है, भाई! परमात्मा तीर्थंकर त्रिलोकनाथ की यह वाणी है। दुनिया को ऊपर-ऊपर से सब मिला है, इसलिए रुक गये हैं। आहाहा! अपनी चीज़ कैसी भगवान सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ कहते हैं, वह सुनने को मिलता नहीं तो ज्ञान तो कहाँ से हो? अरे रे!

यहाँ कहते हैं कि धर्मी जीव... अज्ञानी तो ज्ञान में अनेक ज्ञात होते हैं तो एकरूप रहने के लिये अनेक को छोड़ देता है। अनेक को छोड़ने से अनेक को जाननेवाली पर्याय

को छोड़ देता है। पर्याय को छोड़ देता है तो अपने द्रव्य का नाश करता है। जिसने पर्याय का नाश किया, उसने द्रव्य का नाश कर दिया। आहाहा! क्या आया? चेतनजी! आहाहा! अरे! एक घड़ी, दो घड़ी देखे तो सही यह चीज़ क्या है? तीन लोक के नाथ अनन्त तीर्थंकर और अनन्त केवलियों की यह वाणी है, प्रभु! आहाहा! इस मुद्दे की रकम में तू आता नहीं और ऊपर-ऊपर से (चलता है)। कहा नहीं? गाँव का ब्याज खाया। सरकार ने कहा कि गाँव ही छोड़ दो। आहाहा! इसी प्रकार ऊपरी तौर से राग, द्वेष, पुण्य-पाप और पर को जानना छोड़कर अपना नाश किया। परन्तु मैं पर को जानता हूँ, वह मेरी पर्याय में मैं मुझे अपने को जानता हूँ। पंकज! आहाहा! यह धीरे से समझना, प्रभु! उकताहट नहीं लाना। सूक्ष्म बात है तो कब तक चलेगी? ऐसी उकताहट नहीं लाना, प्रभु! तुझमें पार नहीं, इतनी ताकत है। अनन्त केवलियों को जानने की तुझमें ताकत है। अनन्त केवली! सिद्ध भगवान! आहाहा! तथापि वह ज्ञान अनेकरूप परिणमता है, यह तो उसका स्वभाव है। उसे एकरूप करने के लिये इस अनेकपने का (अज्ञानी) नाश करता है कि यह तो अनेक को जानने से एकपना रहा नहीं। ऐसा मानकर अपने आत्मा का नाश करता है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! व्यापारी वर्ग को तो कुछ तर्क भी ऐसे नहीं होते। एक का एक भाव पूरे दिन।

हमारे हीराचन्द मास्टर कहते थे कि हम मास्टर कैसे कहलाते हैं? पन्तु। क्योंकि एक की एक भाषा पूरे दिन लड़कों को समझाने की है। आड़े-टेड़े कोई विशेष लम्बे तर्क कुछ नहीं। हीराचन्द मास्टर थे। उनके पुत्र रतिभाई मुम्बई है। समझ में आया? हम मास्टर पन्तु (कहलाते हैं)। पन्तु अर्थात् बिना भान के। एक की एक भाषा समझाने की। पहली पुस्तक, दूसरी पुस्तक, तीसरी पुस्तक... वह की वह भाषा। कुछ आड़े-टेड़े तर्क नहीं। वकीलों को तो तर्क करना पड़ते हैं। यहाँ कहते हैं कि समझनेवाले को तर्क करना पड़ते हैं। आहाहा! है?

एक समय की पर्याय में अनन्त को जानता हूँ। जिसने एक पर्याय का नाश किया, उसने आत्मा का नाश किया। आहाहा! ऐसा है, दूसरा क्या करना? इसे कितना हल्का बनाना? उल्टा बनावें तो हल्का बने। उल्टा करें तो हल्का बने। यह तो है, वह है, इस प्रमाण। आहाहा! शान्ति से धीरे से समझे।

मैं अनन्त को जानने से भी द्रव्य का एकपना नहीं छोड़ता और पर्याय में अनन्त को जानने से भी अपनी पर्याय से नहीं छूटता। पर्याय का स्वभाव है कि अनन्त को जानना। एक समय की पर्याय में, अनन्त-अनन्त सिद्ध, तीन काल-तीन लोक को जानना होता है। उस पर्याय को जो नहीं माने, उसके द्रव्य का तो नाश हो गया। आहाहा! क्योंकि पर्याय बिना का द्रव्य तो कभी नहीं रहता। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात। **पर्यायों से अनेकत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता।** चार बोल आये, चार बोल आये। तत्-अतत्, एक-अनेक। आज एक-अनेक आये।

अज्ञानी अपने को एकरूप मानने के लिये, ज्ञान में अनेक को जानने का स्वभाव है, उस स्वभाव का नाश कर देता है कि मुझे तो एक रहना है, मुझे अनन्त को (जानना) नहीं। और पर्याय में अनन्त ज्ञात होते हैं, उन अनन्त को जानने का छोड़ दूँ तो मैं एकरूप रहूँगा, ऐसे अपना नाश करता है। धर्मी जानता है कि अपनी पर्याय में अनेक को जानने का स्वभाव है। आहाहा! किसी भी आत्मा की द्रव्य की पर्याय में अनन्त जानने का स्वभाव है। **पर्यायों से अनेकत्व प्रकाशित करता हुआ...** अरे! सन्तों ने इतनी मेहनत करके टीका बनायी। आहाहा! उन्हें तो कहाँ पड़ी है! विकल्प आया, उसके भी स्वामी नहीं। वे सन्त तो आत्मा के आनन्द का अनुभव करते थे। विकल्प आ गया तो यह शास्त्र बन गया। तथापि (अन्त में लिखा है कि) यह शास्त्र मैंने नहीं बनाया। यह तो जड़ की पर्याय है। आहाहा! पर्याय में ऐसी गम्भीरता आती है। आहाहा!

यह बोल एक-अनेक का है। पहले तत्-अतत् का था, यह एक-अनेक का है। एकान्ती अज्ञानी एकपने को मानने के लिये अनेकपने का नाश कर देता है, वह भी आत्मा का नाश करता है। ज्ञानी (ऐसा मानते हैं कि) अनेकपना जानने का पर्याय का स्वभाव है, पर्याय का स्वभाव है। द्रव्य तो ध्रुव है। पर्याय अनन्त गुण, अनन्त द्रव्य, अनन्त-अनन्त पर्याय को जाने। उस पर्याय से अनेकपना प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता। चार बोल आये। अब दूसरे चार बोल। आहाहा!

पाँचवाँ बोल। **जब यह ज्ञानमात्र भाव, जानने में आनेवाले ऐसे परद्रव्यों के परिणमन के कारण...** परद्रव्य अपनी पर्याय में ज्ञात हुए, इस कारण **ज्ञातृद्रव्य को...**

ज्ञातृद्रव्य अर्थात् आत्मा। उसे **परद्रव्यरूप से मानकर...** आहाहा! क्योंकि पर अपने को ज्ञात हुआ तो उस परद्रव्यरूप मैं हूँ, उस परद्रव्य का ज्ञान हुआ, वह परद्रव्य मैं हूँ, ऐसा मानकर **अंगीकार करके नाश को प्राप्त होता है...** अपने आत्मा का नाश करता है। आहाहा! भाई! अधिकार आते-आते यह तो १९वीं बार सभा में आया है। उसमें यह बराबर पर्यूषण में आया है। अब तो यह ४६वाँ वर्ष है। ४६वाँ चातुर्मास यहाँ है। आहाहा! शरीर को ९१ वर्ष हुए। आहाहा! क्या कहते हैं?

ज्ञानमात्र भाव, जानने में आनेवाले ऐसे परद्रव्यों के... अर्थात् देव-गुरु-शास्त्र, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, लक्ष्मी, शरीर, वाणी, मन, कर्म इन **परद्रव्यों के परिणमन के कारण ज्ञातृद्रव्य को परद्रव्यरूप से मानकर...** यह परद्रव्य परिणमते हैं तो मेरे हैं और उनका परिणमन मैं कराता हूँ, वह चीज़ मेरी है—ऐसा मानकर **अंगीकार करके नाश को प्राप्त होता है...** आहाहा! **ज्ञातृद्रव्य को परद्रव्यरूप से मानकर-अंगीकार करके...** मानकर का अर्थ किया। **अंगीकार करके नाश को प्राप्त होता है तब, (उस ज्ञानमात्र भाव का) स्वद्रव्य से सत्त्व प्रकाशित करता हुआ...** आहाहा! मैं द्रव्यरूप से हूँ। परद्रव्य को जानने पर भी मैं मेरे स्वद्रव्यरूप से हूँ। आहाहा! सूक्ष्म तो पड़े। बहार की बात सब अभी चली है। आहाहा! यह तो परमात्मा के हृदय की बात है। त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव... आहाहा! भगवान रह गये महाविदेह में, भरत में भगवान का विरह पड़ा। आहाहा! उसमें ऐसी सूक्ष्म बात सुनकर लोग अज्ञान से कहते हैं कि ऐसा नहीं होता, यह तो निश्चय... निश्चय... निश्चय है। अरे! प्रभु!

तेरी सत्य बात यह है कि तू द्रव्य से एक है परन्तु पर्याय से अनेक है। आहाहा! पहले तो द्रव्य आया, हों! **(उस ज्ञानमात्र भाव का) स्वद्रव्य से सत्त्व प्रकाशित करता हुआ...** मेरा द्रव्य मुझमें है। ऐसे स्वद्रव्य से अपना अस्तित्व अर्थात् मौजूदगी प्रकाशित करता हुआ अपने आत्मा का नाश नहीं होने देता। है? **अनेकान्त ही उसे जिलाता है-नष्ट नहीं होने देता।**

छठवाँ बोल। **जब वह ज्ञानमात्र भाव 'सर्व द्रव्य मैं ही हूँ...** सर्व द्रव्य मैं हूँ। आहाहा! जगत में ऐसा कहते हैं, कोई मनुष्य मर गया हो न? मर जाने के बाद जाते हैं न?

तुम्हारे क्या कहलाता है ? मुर्दे के साथ लोग जाते हैं ? जलाने के लिये (जाते हैं) । वहाँ उसका पिता कहे, भाई ! पुत्र ! तू जा न । तू, वह मैं ही हूँ न ! तू, वह मैं ही हूँ न ! तू तेरे जा। ऐसा कहते हैं । सब सुना है । उसके पिता को फुरसत न हो और परिवार में नजदीक के कोई रिश्तेदार गुजर गये हों तो जलाने के लिये साथ तो जाना तो पड़े, तो पिताजी ऐसा कहे, बेटा ! तू जा न ! तू, वह मैं ही हूँ न ! सेठ ! ऐसा होता है या नहीं ? ऐसा होता है । ऐसा मानते हैं । आहाहा ! यहाँ तो पूरी दुनिया देखी है । अन्दर के एक एक के रहस्य की बात (देखी है) । आहाहा !

यहाँ तो कहते हैं कि अपने द्रव्य से मैं एक हूँ। अनन्त को जानने पर भी मैं परद्रव्यरूप नहीं होता, ऐसे अपने आत्मा का नाश नहीं होने देता । यह पाँचवाँ बोल कहा ।

छठवाँ (बोल) **जब वह ज्ञानमात्र भाव 'सर्व द्रव्य मैं ही हूँ...** यह शरीर मेरा, कर्म मेरे, राग मेरा, आहाहा ! **(अर्थात् सर्व द्रव्य आत्मा ही हैं)...** वेदान्त व्यापक मानता है न ? वेदान्त मानता है कि एक ही आत्मा है । बौद्ध मानता है—विज्ञानअद्वैत । विज्ञानरूप एक ही तत्त्व जगत में है । वेदान्त मानता है कि एक ही आत्मतत्त्व है । यहाँ सर्वज्ञ भगवान मानते हैं कि ऐसे अनन्त आत्मतत्त्व हैं । आहाहा ! उन अनन्त आत्मतत्त्व में **(सर्व द्रव्य आत्मा ही हैं)...** ऐसा वह मानता है । अपन सब एक ही हैं न ! आहाहा ! ऐसा मानकर, **परद्रव्य का ज्ञातृद्रव्यरूप से मानकर...** परद्रव्य को अपने ज्ञातृद्रव्य अर्थात् अपना द्रव्य, ज्ञातृद्रव्य अर्थात् अपना द्रव्य। परद्रव्य को अपने द्रव्यरूप मानकर **अंगीकार करके अपना नाश करता है, तब (उस ज्ञानमात्र भाव का) परद्रव्य से असत्त्व...** आहाहा ! मैं परद्रव्य से तो असत् हूँ । देव-गुरु-शास्त्र से भी मैं असत् हूँ । उनका सत्त्व उनमें है, मेरा सत्त्व मुझमें है । देव-गुरु के कारण मेरा सत्त्व नहीं है । आहाहा ! यह द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव (चलता है) । यह द्रव्य का बोल आया । आहाहा !

परद्रव्य का ज्ञातृद्रव्यरूप से मानकर-अंगीकार करके अपना नाश करता है, तब (उस ज्ञानमात्र भाव का) परद्रव्य से असत्त्व प्रकाशित करता हुआ... आत्मा परद्रव्य से नहीं है । धर्मी, समकिती मानता है कि मैं शरीर से, राग से, कर्म से, परिवार से, देव-गुरु-शास्त्र से मैं नहीं हूँ । आहाहा ! मैं तो अपने स्वभाव से अनादि-अनन्त हूँ, ऐसा

धर्मी मानता हुआ **परद्रव्य से असत्त्व प्रकाशित करता हुआ...** आहाहा! मेरा द्रव्य पर से असत्त्व है, अभावरूप है। आहाहा! अपने स्वभाव से स्वभावरूप है परन्तु परद्रव्य से अस्वभावरूप है। आहाहा! अरे! ऐसा कान में तो पड़े, प्रभु! अभी देह छोड़कर जाना है। आहाहा!

(आत्मा परद्रव्यरूप से नहीं है, इस प्रकार प्रगट करता हुआ) अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता। मैं परद्रव्य से नहीं हूँ। देव-गुरु-शास्त्र से मैं नहीं हूँ, मैं तो मुझसे हूँ—ऐसा जानकर अपने आत्मा को जीवित रखता है, यथार्थ मानता है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! अब क्षेत्र आया, पहले द्रव्य आया था। परद्रव्य से नहीं, स्वद्रव्य से हूँ। स्वद्रव्य से हूँ, परद्रव्य से नहीं—ये दो बोल आये। अब परक्षेत्र से नहीं और स्वक्षेत्र से हूँ। आहाहा! यह आया, देखो!

जब यह ज्ञानमात्र भाव परक्षेत्रगत (-परक्षेत्र में रहे हुए)... आहाहा! परक्षेत्र में। मकान में कमरा बनाते हैं, एकान्त में रहने के लिये बनाते हैं। यह मेरा है, मेरा है—ऐसा कहे। वह क्षेत्र तो पर है। परक्षेत्र को अपना मानकर... आहाहा! **(-परक्षेत्र में रहे हुए) ज्ञेय पदार्थों के परिणमन के कारण...** परक्षेत्र में रहे हुए पदार्थ का परिणमन तो होता है, बदलते तो हैं, उसके कारण **परक्षेत्र से ज्ञान को सत् मानकर...** परक्षेत्र से आत्मा को मानकर। वह परक्षेत्र परिणमता है तो वह परक्षेत्र मेरा है, (ऐसा मानता है)। आहाहा! अपना स्वक्षेत्र असंख्य प्रदेशी को छोड़कर परक्षेत्र मेरा है। आहाहा! **अंगीकार करके नाश को प्राप्त होता है, तब...** धर्मी...

(उस ज्ञानमात्र भाव का) स्वक्षेत्र से अस्तित्व... मेरे असंख्य प्रदेश,... यह सर्वज्ञ के अतिरिक्त कहीं नहीं है। आत्मा असंख्य प्रदेशी है, यह सर्वज्ञ के अतिरिक्त कहीं नहीं है। जैसे माला में १०८ मोती हैं अथवा क्या कहलाती है वह? चेन। चेन में मकोड़ा, कड़ी... कड़ी बहुत होती है। १००-२०० कड़ी की एक चेन। उसी प्रकार आत्मा क्षेत्र से असंख्य प्रदेशी है। वह अपने क्षेत्र को नहीं मानता, परक्षेत्र मेरा है, ऐसा मानकर आत्मा अपने स्वक्षेत्र का नाश करता है। आहाहा! ऐसी बातें। पर्यूषण के दिन। कितने लोग आये हैं, लो! मार्ग तो यह है। बाकी सब धूलधाणी चला जाएगा, बापू! और शरीर की स्थिति

कैसे बनेगी, यह कुछ खबर है ? आहाहा ! यह तो मिट्टी है। कब बदले, क्या हो ? आहाहा !

उस परक्षेत्र को अपना मानकर... आहाहा ! **नाश को प्राप्त होता है, तब (उस ज्ञानमात्र भाव का) स्वक्षेत्र से अस्तित्व प्रकाशित करता हुआ...** धर्मी। मैं तो मेरे असंख्य प्रदेश में हूँ। मैं परक्षेत्र में नहीं हूँ। आहाहा ! आज तो सवेरे बहुत अच्छी बात आयी थी। ४०१। अरे रे ! दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम आते हैं, मैं यहाँ कहाँ चढ़ गया ? यह मेरी चीज़ नहीं। यह मेरा परिवार नहीं। आहाहा !

यहाँ कहते हैं कि मेरे क्षेत्र में परक्षेत्र नहीं आता। अपना असंख्य प्रदेशी क्षेत्र। है ? **स्वक्षेत्र से अस्तित्व...** अपने असंख्य प्रदेशी क्षेत्र की दृष्टि करके **प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जिलाता है...** आहाहा ! यह क्षेत्र का बोल आया। पहले एक का बोल आया, बाद में अनेक का आया... आहाहा ! फिर द्रव्य का आया, फिर यह क्षेत्र का आया। अब काल का और भाव का (बाकी) है....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

प्रवचन नं. ४७०, परिशिष्ट सोमवार, भाद्र शुक्ल १३
दिनांक - २२-०९-१९८०

समयसार, सात बोल चले हैं, अब आठवाँ बोल। बात ऐसी है कि बात सूक्ष्म लगती है परन्तु यह समझे बिना कोई भी व्रत, तप, भक्ति, पूजा सब बिना एक के शून्य है। अब तो लोग पुकार करते हैं, यहाँ का चलता है तो अब लोग कहते हैं, पत्रिका में आता है। शुभभाव तो पुण्य है। उससे आत्मा में धर्म का लाभ होता है या भव का अभाव (होता है, ऐसा नहीं है)। सूक्ष्म बात है, यह मुद्दे की बात है। सूक्ष्म पड़े परन्तु अभ्यास नहीं, इसलिए अभ्यास करना पड़ेगा। स्थूलरूप से तो अनन्त बार किया। अनन्त बार दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, करोड़ों रुपये के दान (दिये), करोड़ों के मकान, बँगला, मन्दिर अनन्त बार बनाये, उससे आत्मा के जन्म-मरण का अन्त आता है, ऐसा नहीं है।

उन्होंने लिखा है, भाई! कैलाशचन्दजी ने लिखा है कि यह तत्त्वज्ञान सूक्ष्म पड़े और पहुँचा नहीं जा सके, उसकी अपेक्षा व्रत ले ले तो स्वर्ग में तो जाऊँगा। ऐसा करके लोग वहाँ अटकते हैं। ऐसा लिखा है, ठीक लिखा है। आज लेख आया है। जैनसन्देश में लेख आया है कि सोनगढ़ की बात सूक्ष्म पड़े... सोनगढ़ की बात नहीं लिखी परन्तु लोग सोनगढ़ का विरोध करते हैं। आहाहा! यह बात सूक्ष्म पड़े, इसलिए इसे छोड़कर व्रत और तप ले लेना तो स्थूल हो जाए। लोग मानते हैं और अपने को भी सन्तोष हो जाता है और वह भी न करे और तत्त्वदृष्टि होवे नहीं तो इसकी अपेक्षा स्वर्ग में तो जायेंगे, ऐसा अज्ञानी मानता है। ऐसा लिखा है। बात तो ऐसी है। मूल बात समझे बिना जन्म-मरण की गाँठ नहीं गलती। बड़ा वृक्ष है परन्तु वृक्ष का मूल काटे बिना डालियाँ, पत्ते, फल, फूल नहीं जाते हैं। आहाहा! और डालियाँ, पंखुड़ियाँ तोड़ेगा तो मूल सुरक्षित है तो वापिस पल्लवित हो जायेंगे। इसी प्रकार तत्त्वज्ञान बिना, सम्यग्दर्शन बिना व्रत, तप, भक्ति, पूजा और लाखों का दान तथा क्रियाकाण्ड करे, वह सब मूल काटे बिना की बात है। आहाहा! सूक्ष्म पड़े परन्तु तत्त्व तो यह है। यह समझने के बाद, सम्यग्दर्शन के बाद व्रतादि का विकल्प आता है, परन्तु वह व्रत का विकल्प भी बन्ध का कारण है।

सम्यग्दर्शन होने के बाद स्वरूप में स्थिर होना, ज्ञायकभाव में स्थिर रहना, इसका

नाम चारित्र है। उन्होंने दृष्टान्त दिया है। भाई! समाधिशतक में आता है न? ऐसा कि एक मनुष्य दूसरे किसी मनुष्य की राह देखता है तो धूप में खड़ा है, इसकी अपेक्षा वड़ की छाया में खड़ा रहे तो शीतलता तो रहे। समाधिशतक में आ गया। वहाँ ऐसा लिया है कि अव्रती की अपेक्षा व्रती तो अच्छा है। अव्रती तो धूप में खड़ा है और व्रती तो छाया में खड़ा है। परन्तु इसमें से यह नहीं निकालते कि सम्यग्दर्शन बिना व्रत होते ही नहीं। यह टीका की है। कैलाशचन्दजी का बड़ा लेख है। इसमें से यह निकालते हैं कि देखो! इसमें लिखा है। अव्रत से धूप में खड़ा है और व्रत ले तो छाया में खड़ा है। परन्तु व्रत किसे होते हैं? अभी आत्मा ज्ञायकस्वरूप चिदानन्दस्वरूप भगवान, यह अभी जहाँ दृष्टि में आया नहीं, उसके माल की कीमत की नहीं, उसमें जो माल है, उस माल की चमत्कारिक चीज़ क्या है, ऐसा चमत्कार हृदय में आया नहीं, आहाहा! वहाँ तक तो सब क्रियाकाण्ड, व्रत, नियम, अनादि काल का संसार है, सब अनादि काल से करता है।

मुमुक्षु : बाल व्रत और बाल तप है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बाल व्रत और बाल तप सब शून्य है। आहाहा! कठिन बात है, भाई! अपने चौदह बोल में सात बोल चल गये हैं। चौदह बोल हैं उनमें आठवाँ बोल आज है। आठवाँ है? इसमें दूसरी ओर है।

और जब वह ज्ञानमात्र भाव... क्या कहते हैं? पहले सातवें बोल में यह आया कि आत्मा स्वक्षेत्र में है, परक्षेत्र में नहीं। समझ में आया? आहाहा! स्वक्षेत्र में है, परक्षेत्र में नहीं। यहाँ यह कहते हैं कि परक्षेत्र में नहीं और स्वक्षेत्र में है। आहाहा! ऐसी बात। क्षेत्र क्या? क्या कहते हैं? देखो!

और जब वह ज्ञानमात्र भाव... आत्मा **ज्ञानमात्र भाव स्वक्षेत्र में होने के लिए...** पर का जानना होता है तो मैं भ्रष्ट हो जाता हूँ। परक्षेत्र को जानता हूँ तो मैं मुझसे भ्रष्ट होता हूँ, ऐसा मानता है। परन्तु परक्षेत्र का जानना वह अपना स्वभाव है। परक्षेत्र को जानता है, इसलिए परक्षेत्ररूप हो गया, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी बात। **ज्ञानमात्र भाव स्वक्षेत्र में होने के लिए...** अज्ञानी **(-रहने के लिए, परिणमन के लिए), परक्षेत्रगत ज्ञेयों के आकारों के त्याग द्वारा...** क्या कहते हैं? ज्ञान में पर का जो क्षेत्र है, उसका

ज्ञान होता है, वह ज्ञान होता है तो यह ऐसा मानता है कि पर के कारण से ज्ञान हुआ तो उस परज्ञेय के ज्ञान का त्याग करना चाहता है। तब तो ज्ञान का त्याग हुआ। अरे रे! समझ में आया? सूक्ष्म बात तो है, भाई! यह कब लेगा? कब मिलेगा? आहाहा!

ज्ञानमात्र भाव अर्थात् आत्मा **स्वक्षेत्र में होने के लिए...** अज्ञानी ऐसा मानता है कि मैं मेरे क्षेत्र में रहूँ, वैसे **(–रहने के लिए, परिणमन के लिए), परक्षेत्रगत ज्ञेयों के आकारों के त्याग द्वारा...** परक्षेत्र का यहाँ ज्ञान होता है, वह ज्ञान अपना है, वह परक्षेत्र का नहीं। अपना स्व का भी ज्ञान है और परक्षेत्र का भी ज्ञान होता है, वह तो अपना ज्ञान है, परन्तु अज्ञानी ऐसा जानता है कि मुझे पर का ज्ञान होता है तो मैं उसे छोड़ दूँ। पर के ज्ञान के ज्ञानाकार छोड़ने से तेरी पर्याय छूट जायेगी। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

स्वक्षेत्र में होने के लिए (–रहने के लिए, परिणमन के लिए), परक्षेत्रगत ज्ञेयों के आकारों के त्याग द्वारा... अपने अतिरिक्त परक्षेत्र में रहनेवाली जो चीज़ें हैं, उनका यहाँ ज्ञान होता है तो ऐसा मानता है कि वह परक्षेत्र का ही ज्ञान है। ऐसा अज्ञानी मानता है। परन्तु परक्षेत्र का ज्ञान है, वह अपना है। स्वक्षेत्र का ज्ञान भी अपना है और परक्षेत्र का ज्ञान भी अपना है। बहुत सूक्ष्म बात, बापू! आहाहा!

परक्षेत्रगत ज्ञेयों के आकारों के त्याग द्वारा... अपने ज्ञान में परक्षेत्र ज्ञात होता है। मेरुपर्वत, देवलोक, स्वर्ग, नरक, स्त्री, कुटुम्ब–परिवार ज्ञान में ज्ञेयरूप से ज्ञात होते हैं तो अज्ञानी को ऐसा लगता है कि यह तो ज्ञान में परज्ञेय ज्ञात हुआ तो मेरे ज्ञान का खण्ड हो गया। तो पर के आकार के त्याग द्वारा। उस पर को जानने का छोड़ दूँ। क्या छोड़े? वह तो तेरा स्वभाव है। स्व और पर को जानना, वह तो तेरा स्वभाव है। पर को जानना छोड़ने से तो तू छूट जायेगा। आहाहा!

(ज्ञान में जो परक्षेत्र में रहे हुए ज्ञेयों का आकार आता है...) परक्षेत्र में रहे हुए हैं, ऐसे ज्ञान में ज्ञात होते हैं, **(उनका त्याग करके) ज्ञान को तुच्छ करता हुआ...** ज्ञान में स्व और पर जानने की शक्ति है, वह अपना स्वरूप है। परन्तु पर ज्ञात होते हैं, उसे छोड़ देने से ज्ञान अपने आत्मा को तुच्छ कर डालता है। आहाहा! ऐसा पढ़ा भी कब हो? सत्य वस्तु मूल चीज़ है, मूल चीज। यह तो जैनदर्शन का पाया (मूल) है। आहाहा! इस

मूल के बिना महल नहीं चीना जा सकेगा। नींव सूक्ष्म पड़ेगी परन्तु नींव पक्की (करना)। आहाहा! शीशा डालकर नींव पक्की करते हैं। महल बनाते हैं न? महल, मकान तो नीचे शीशा डालते हैं। पत्थर और शीशा। पत्थर और शीशा। ईंट और शीशा (डालते हैं, इसलिए) मजबूत (होता है)। इसी प्रकार आत्मा में यह ज्ञान स्वरूप भगवान परक्षेत्र का ज्ञान होता है, वह तो अपना ज्ञान है, परन्तु यह मानता है कि परक्षेत्र का ज्ञान हुआ वह पर से हुआ है, इसलिए पर का है। वह परक्षेत्र का ज्ञान छोड़कर अपने ज्ञान को तुच्छ मानता है। आहाहा! अरे! यह अभी सुनने में कठिन पड़े। कुछ दरकार नहीं की है। अनन्त काल (गया)। आहाहा! आया?

मुमुक्षु : आपकी बात सुनी हो, उसे कठिन नहीं पड़ता।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं पड़ता। यहाँ तो ४५-४६ वर्ष से चलता है। यह तो ४६वाँ पर्यूषण है। सम्प्रदाय छोड़ने के (बाद)। स्थानकवासी सम्प्रदाय में हमारे पिताजी थे न, इसलिए हमने उसमें दीक्षा ली। फिर तो पूर्व के संस्कार थे तो अन्दर में ॐध्वनि आयी। वहाँ सुनी थी, वह ॐध्वनि अन्दर आयी। ज्येष्ठ कृष्ण ८ (गुजराती वैशाख कृष्ण ८), संवत् १९७८ के वर्ष। ओहो! यह क्या? स्थानकवासी तो ॐ मानता नहीं। ॐ ब्राह्मण का है, ऐसा मानता है। आहाहा! परन्तु ॐ तो भगवान की वाणी है। 'ॐकार ध्वनि सुनी अर्थ गणधर विचारे, ॐकार ध्वनि सुनि अर्थ गणधर विचारे, रचि आगम उपदेश भविक जीव संशय निवारे।' आहाहा! बनारसीदास समकिती थे, ज्ञानी थे। बहुत जोरदार थे। समयसार नाटक कोई ऐसा बनाया... ओहो!

अपने द्रव्य में, ज्ञानस्वभावी द्रव्य में परक्षेत्र का जानना हुआ, उसे अज्ञानी ऐसा मानता है कि यह परक्षेत्र का ज्ञान हुआ, वह तो उपाधि हुई। तो उस परक्षेत्र का ज्ञान छोड़ दूँ और अकेले ज्ञानरूप रहूँ। परन्तु किस प्रकार रहे? तेरा ज्ञान का स्वभाव ही स्वपरप्रकाशक है। परक्षेत्र का ज्ञान तू छोड़ देगा तो तेरा आत्मा छूट जाएगा। अरे! ऐसी बात कब सुनी है? भाई! आहाहा! लोग प्रसन्न हो, लोकरंजन हो, ऐसी बातें करे, इसलिए लोग प्रसन्न हों। अरे रे! जिन्दगी चली जाती है। आहाहा! यह ऐसा भव कब मिलेगा? अनन्त काल में यह बात मिली है।

यहाँ यह कहते हैं, **तुच्छ करता हुआ अपना नाश करता है,...** बराबर है ? मधु! क्या कहा यह ? अपने ज्ञानस्वभाव में पर का जानना हुआ, वह पर के कारण से नहीं। अपना ज्ञान का स्वभाव है तो परक्षेत्र का ज्ञान अपने क्षेत्र में होता है। अज्ञानी परक्षेत्र के ज्ञान को छोड़कर तुच्छ करता है। अपने स्वपरप्रकाशक आत्मा को खाली कर डाला, छोड़ दिया। आहाहा! वह अज्ञानी आत्मा का नाश करता है। भाषा तो सादी है, प्रभु! भाव तो है वह है। यह तो १९वीं बार पढ़ा जाता है। सभा में १९वीं बार वाँचन होता है। शुरुआत तो सम्प्रदाय में की थी। सम्प्रदाय में ही शुरु कर दिया था। संवत १९८६ के वर्ष में अमरेली में शुरु किया था और संवत् १९९० के वर्ष में राजकोट। सम्प्रदाय में मुँहपत्ती थी, तब (शुरु किया था)। राजकोट सदर में हजारो लोग सुनने आते थे। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, प्रभु! एक बार सुन। तुझे खबर नहीं कि यह क्या चीज़ है ? और मैं क्या नहीं ? आहाहा! तेरे ज्ञान में परक्षेत्र में रहे हुए क्षेत्र का ज्ञान होता है, वह तो तेरे ज्ञान की सामर्थ्य की दशा है। अज्ञानी परक्षेत्र का ज्ञान छोड़कर आत्मा को तुच्छ कर डालता है, आत्मा का नाश कर डालता है। है ?

तब स्वक्षेत्र में रहकर... अब धर्मी **स्वक्षेत्र में रहकर...** अपने क्षेत्र में ही रहकर **परक्षेत्रगत ज्ञेयों के आकाररूप से परिणमन करने का ज्ञान का स्वभाव...** आहाहा! क्या कहा ? जैसे आँख अग्नि को देखती है तो अग्नि का क्षेत्र और आँख का क्षेत्र भिन्न है। अग्नि को देखने से अग्नि का क्षेत्र यहाँ आ जाता है, ऐसा नहीं है। और अग्नि को जानने का स्वक्षेत्र में स्वभाव है, उसे छोड़ दे तो तेरा ज्ञानस्वभाव छूट जाता है। धर्मी जीव ज्ञान का आकार हुआ, वह तो अपना स्वभाव है, (ऐसा मानता है)। परक्षेत्र को जानना, वह तो मेरा स्वभाव है। आहाहा! परक्षेत्र को अपना मानना, वह मिथ्यात्व है। आहाहा! परन्तु परक्षेत्र को जानना, वह तो अपना स्वभाव है। क्योंकि स्व-पर जानने की शक्ति आत्मा की अपनी है। तो पर को जानने का छोड़ दे तो उसने ज्ञान को ही छोड़ दिया। आहाहा!

धर्मी जीव **परक्षेत्रगत ज्ञेयों के आकाररूप से परिणमन करने का ज्ञान का स्वभाव होने से (उस ज्ञानमात्र भाव का) परक्षेत्र से नास्तित्व प्रकाशित करता हुआ...** परक्षेत्र से मुझे परक्षेत्र का ज्ञान हुआ नहीं। परक्षेत्र का ज्ञान परक्षेत्र से मुझमें हुआ

नहीं, मेरा ज्ञान तो मुझसे हुआ है। आहाहा! अरे रे! मुद्दे की रकम की बात सुनने मिलती नहीं। यह हीरा और माणिक की भस्म, बापू! तेरे शरीर की भस्म हो जाएगी राख की। आहाहा! अभी सेठ ने बताया था न? शोभालालजी का। मृत्यु के बाद फोटो लिये हैं। आहाहा! वह तो राख के हैं। आत्मा चला गया। आहाहा! समझ में आया?

धर्मी जीव वह ज्ञेयाकार, परक्षेत्र का ज्ञान मुझमें होता है, वह मेरा स्वभाव है, (ऐसा मानता है)। उस परक्षेत्र के कारण से मैं पर को जानता हूँ, ऐसा नहीं है। परक्षेत्र को जानने का मेरा स्वभाव है। ऐसा जानकर **ज्ञान का स्वभाव होने से (उस ज्ञानमात्र भाव का) परक्षेत्र से नास्तित्व...** मैं परक्षेत्र से नहीं। मैं तो मेरे स्वक्षेत्र से हूँ। है? **प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता।** आहाहा! एक-एक बोल में पूरी दुनिया की बात, चौदह ब्रह्माण्ड की बात समाहित कर देते हैं। एक-एक बोल में! सन्तों की, दिगम्बर सन्तों की वाणी गजब काम करती है। आहाहा! यह आठवाँ बोल हुआ।

अब इससे भी थोड़ा अधिक सूक्ष्म आया। **जब यह ज्ञानमात्र भाव पूर्वालम्बित पदार्थों के विनाश काल में...** जैसे कि ज्ञान में घट जाना। ज्ञान में घट (जाना)। घट का नाश होने से मेरी पर्याय का भी नाश हो गया, ऐसा मानता है। आहाहा! क्या कहा? इसमें स्वकाल (लेना) है। स्वकाल आया। अपने काल में अपने ज्ञान से है। पर का ज्ञान करने से वह ज्ञान पर का नहीं है। घट के ज्ञान के समय घट का ज्ञान होता है, परन्तु अपने स्वभाव में उस काल में घट को जानने की ताकत (अपनी है)। घट की अपेक्षा भी नहीं, ऐसा उसका स्वभाव है। आहाहा! ऐसा कब (समझे)?

ज्ञानमात्र भाव पूर्वालम्बित पदार्थों के... ज्ञान में पूर्व में जो पदार्थ ज्ञात हुए थे... अब काल लिया। उसके **विनाश काल में...** यह घट पदार्थ ज्ञात हुआ। यहाँ घट का ज्ञान हुआ, वह ज्ञान घट का नहीं। वह ज्ञान तो अपना है। परन्तु घट का नाश होने से घट सम्बन्धी ज्ञान का भी नाश हो गया, ऐसा अज्ञानी मानता है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! चौदह तत्त्व गम्भीर है। आहाहा! सूक्ष्म तो है परन्तु आ गये। इस बार यह आ गया है। कान में तो पड़े। ऐसा मनुष्यभव मिला, बापू! बाहर की बात में (रचपच गया)। आहाहा!

विनाश काल में (-पूर्व में जिनका आलम्बन किया था, ऐसे ज्ञेय पदार्थों के

विनाश के समय) ज्ञान का असत्पना मानकर... पर का जानना हुआ और परवस्तु का नाश हुआ तो साथ ही मेरा भी नाश हो गया। परन्तु पर को जानने का काल तो मेरा है। पहले क्षेत्र की बात थी, अब काल की बात है। आहाहा! पर को जानने के काल में घटज्ञान घट से होता है, ऐसा मानता है। यदि घट का ज्ञान घट से होता हो तो घट के पास स्तम्भ रखो, पत्थर रखो तो पत्थर को ज्ञान हो जाना चाहिए, यदि घट से ज्ञान होता होवे तो। क्या कहा?

यदि पर से, शास्त्र से, पुस्तक से, पृष्ठ से ज्ञान होता हो तो यहाँ अँगुली लगाओ तो अँगुली को भी ज्ञान होना चाहिए। घट के ज्ञान के समय घट का ज्ञान करने का अपना स्वभाव है। स्वकाल है। उस घट का नाश होने से मेरे काल की पर्याय भी नाश हो गयी। उसे जानने की पर्याय नाश हो गयी, फिर दूसरी जानने की पर्याय हुई। परन्तु यह तो स्वकाल का स्वभाव है। घट के ज्ञान के समय अपना ज्ञान घटरूप ही जानता है। पट के ज्ञान के समय अपना ज्ञान पटरूप जानता है, परन्तु यह जानना घट के, पट के कारण नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें।

ज्ञानमात्र भाव पूर्वालम्बित पदार्थों के विनाश काल में (–पूर्व में जिनका आलम्बन किया था, ऐसे ज्ञेय पदार्थों के विनाश के समय)... जिनकी अवलम्बन लिया था, ख्याल में आया था कि यह घड़ा घी का घड़ा है, यह स्त्री है। लो न! स्त्री का ज्ञान हुआ। स्त्री मर गयी तो मेरा ज्ञान भी मर गया, (ऐसा मानता है)। उसे जानने की पर्याय तो अपनी थी। आहाहा! स्त्री ज्ञान की नहीं थी और स्त्री से ज्ञान नहीं हुआ था। स्त्री से ज्ञान हुआ हो तो स्त्री के पास स्तम्भ रखो, लकड़ी रखो तो (उसे भी ज्ञान होना चाहिए)। यहाँ ज्ञान है तो स्त्री का ज्ञान यहाँ होता है परन्तु उस स्त्री सम्बन्धी का ज्ञान अपना है, स्त्री का नहीं। आहाहा! और स्त्री का नाश होने होने से, अज्ञानी उसके सम्बन्धी का ज्ञान था, उस ज्ञान का भी नाश हो गया, ऐसा मानता है। आहाहा! बहुत कठिन बात है। यह अमृतचन्द्राचार्य सन्त मुनि जिन्होंने टीका की, समयसार की, प्रवचनसार की, पंचास्तिकाय की टीका की, इसके अतिरिक्त तत्त्वार्थसार, पुरुषार्थसिद्धि उपाय पुस्तक (ग्रन्थ) बनाये। परन्तु एक-एक में गम्भीरता का पार नहीं है। ओहोहो!

यह कहते हैं, **पूर्वालम्बित पदार्थों के विनाश काल में (-पूर्व में जिनका आलम्बन किया था...)** काल **(ऐसे ज्ञेय पदार्थों के विनाश के समय)...** समय **ज्ञान का असत्पना मानकर...** उसका नाश हुआ तो मेरे ज्ञान का भी नाश हो गया। मेरा ज्ञान भी असत् हुआ। आहाहा! **अंगीकार करके नाश को प्राप्त होता है, तब (उस ज्ञानमात्रभाव का) स्वकाल से (-ज्ञान के काल से)...** यह घट के ज्ञान के काल में घट का ज्ञान हुआ, वह स्वयं से हुआ है और घट का नाश होकर पट आया तो पट का ज्ञान भी वह अपने स्वकाल से हुआ है। आहाहा! ऐसी बात। पूरे जैनशासन की चाबी है। पूरे जैनदर्शन की....

एक लड़का था, वह बोलता था, कोई सात-आठ वर्ष का छोटा लड़का था। वह बोलता था, ज्ञायकभाव वह सब ताला खोलने की चाबी है। उसकी बहिन ने कुछ सिखाया होगा। ज्ञायकभाव, मैं तो जाननेवाला हूँ, स्व-परप्रकाशक हूँ, यह सब ताला खोलने की चाबी है। वह बोलता था। उसे बेचारे को तो खबर नहीं होगी। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं कि पर का ज्ञान करने के काल में मानो पर से मुझे ज्ञान हुआ तो पर का जब नाश होता है तो अपना ज्ञान भी नाश हो गया, ऐसा अपना असत्पना मानकर, ऐसा **अंगीकार करके नाश को प्राप्त होता है,...** अब यह अपने आप पढ़े तो कभी खबर भी नहीं पड़े। इसकी बहियाँ पूरे दिन फिराया करता है। इस पुस्तक की एक लाईन समझता नहीं कि किस प्रकार से है। आहाहा!

धर्मी **(उस ज्ञानमात्रभाव का) स्वकाल से (-ज्ञान के काल से) सत्पना प्रकाशित करता हुआ...** यह घट का ज्ञान और पट का ज्ञान तो अपना है। वह अपनी पर्याय का ज्ञान है, पर का ज्ञान है नहीं। समझ में आया? अपनी पर्याय में... आहाहा! उसमें लिखा है न? कलश-टीका में, अपनी पर्याय को जो नहीं मानता, अपनी पर्याय में यह पर को जानने की पर्याय होती है, पर के कारण मेरी पर्याय होती है, उस पर्याय को पर के कारण मानता है, वह छह द्रव्य को नहीं मानता। पाठ आया है न? कलश-टीका में है। यह कितना बोल है? कितने में है?

यहाँ कहते हैं, देखो! २४९ कलश है, अब आयेगा। **कोई मिथ्यादृष्टि ऐसा**

मानता है कि ज्ञान को द्रव्यरूप मानता है, पर्यायरूप नहीं मानता... अपनी पर्याय भिन्न-भिन्न परपदार्थ को जानती है तो उस परपदार्थ के कारण से नहीं। समझ में आया? उस पर की पर्याय को नहीं मानता, अपनी पर्याय को नहीं मानता। अपनी पर्याय में भगवान को जानता है, उस पर्याय को नहीं मानता तो वह भगवान को नहीं मानता। आहाहा! कलश-टीका, २४९वाँ कलश है। उसमें आया है, देखो!

कोई मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा है कि ज्ञान को द्रव्यरूप मानता है,... ज्ञानस्वरूप मैं द्रव्यरूप हूँ अर्थात् मैं कायम रहनेवाला हूँ, परन्तु पर्याय को नहीं मानता। अवस्था बदलती है, उसे नहीं मानता। सामान्य को मानता है और विशेष को नहीं मानता। आहाहा! ज्ञानस्वरूपी भगवान, पर्यायरूप नहीं मानता। **इससे जैसे जीवद्रव्य को ज्ञानवस्तुरूप मानता है, वैसे ज्ञेय जो पुद्गल-धर्म-अधर्म-आकाश-कालद्रव्य को भी ज्ञेयवस्तुरूप नहीं मानता...** अपनी पर्याय को मानता है, वह ज्ञेय को मानता ही नहीं। क्योंकि अपनी पर्याय में ज्ञेय को जानने का स्वकाल का स्वभाव है। आहाहा! शान्तिभाई! कभी कुछ आया नहीं वहाँ हीरा, माणेक में धूल में।

मुमुक्षु : यह हीरा, माणेक अलग प्रकार के हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह हीरा, माणेक अलग प्रकार के हैं। आहाहा! अरे! यह काल कब आवे, बापू! सूक्ष्म लगता है। मेरे ख्याल में है, बहुत सूक्ष्म लगे तो ऐसा होता है कि यह कब तक चलेगा? तो पृष्ठ घुमावे। सब ख्याल है। इस पूरी दुनिया को जानते हैं न, प्रभु! धर्म के नाम से भी सन्तोष मानकर सत्य तत्त्व का कभी विचार और मन्थन नहीं करते। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि जो कोई **पर्यायरूप नहीं मानता...** अपनी पर्याय में छह द्रव्य को जानने की सामर्थ्य है। पर्याय में छह द्रव्य जानने की ताकत है। उस पर्याय को नहीं मानता **इससे जैसे जीवद्रव्य को ज्ञानवस्तुरूप मानता है। वैसे ज्ञेय जो पुद्गल-धर्म-अधर्म-आकाश-कालद्रव्य उन्हें भी ज्ञेयवस्तु नहीं मानता।** आहाहा! वास्तव में तो पर्याय में सर्व वस्तु को जानने का अपना स्वकाल है। स्वकाल में सर्व जानने की अपने में शक्ति है परन्तु ऐसा नहीं मानता, पर काल का नाश होने पर, जो चीज़ जानने में आयी,

वह पलट गयी तो मैं भी पलट गया, (ऐसा मानता है)। आहाहा! ऐसा मानकर अपना नाश मानता है। समझ में आया या नहीं? आहाहा! भाषा तो सादी है, प्रभु! हमारे धर्मचन्द मास्टर ऐसा कहे, चार पुस्तक पढ़ा हुआ भी समझे। सेठ भी ऐसा बोले थे, दो पुस्तक का पढ़ा हुआ भी समझे। क्या कहते हैं, यह तो समझे न? और फिर जँचना, वह अलग बात। आहाहा! क्या कहा?

यहाँ तो कहते हैं कि जो कोई पर्याय को नहीं मानता, वह पर्याय में सब छह द्रव्य का ज्ञान होता है, वह पर्याय का स्वभाव है, ध्रुव का स्वभाव नहीं। ध्रुव में जानने की शक्ति ध्रुवरूप से है। परिणमन में छह द्रव्य को जानने की शक्ति है। उस पर्याय को जो नहीं मानता, वह द्रव्य को नहीं मानता। आहाहा! बहुत लम्बी बात है। २४९ कलश आयेगा। आहाहा!

(उस ज्ञानमात्रभाव का) स्वकाल से (–ज्ञान के काल से) सत्पना प्रकाशित करता हुआ... क्या कहते हैं? कि अपनी पर्याय—अवस्था में जो चीज़ ज्ञात हो, वह जानने की पर्याय तो अपना स्वभाव है। उस ज्ञेय के कारण से यह ज्ञान हुआ, ऐसा नहीं है। घड़ा का ज्ञान घड़े के कारण से यहाँ होता हो तो घड़े के नजदीक लकड़ी रखो तो उसे भी ज्ञान होना चाहिए। परन्तु घड़ा का ज्ञान होता है, वह तो यहाँ ज्ञानस्वरूप आत्मा है, उसके कारण से घड़ा का ज्ञान स्वयं के कारण से होता है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु! भोगीभाई! आहाहा! घाटकोपर के प्रमुख हैं न? इस पर्यूषण में आ गये, लाभ लिया। आहाहा!

धर्मी जीव, स्वकाल से **सत्पना प्रकाशित करता हुआ...** पर के आलम्बन काल में जो पर का नाश हुआ तो मेरी पर्याय का नाश हुआ, ऐसा नहीं है। मेरी पर्याय बदलकर दूसरी पर्याय हुई। उसके कारण मेरी पर्याय का नाश हो गया, (ऐसा नहीं है)। जिसे जानता है, उसके पलटने से मेरी पर्याय भी उसके कारण से पलट गयी, ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि अपने स्वरूप का नाश करता है। आहाहा! यह नववाँ बोल हुआ।

दसवाँ बोल। **और जब वह ज्ञानमात्र भाव पदार्थों के अवलम्बन काल में ही (–मात्र ज्ञेय पदार्थों को जानते समय ही) ज्ञान का सत्पना मानकर...** क्या कहते हैं? ज्ञान की पर्याय जब ज्ञेय है, उतना ही ज्ञान है, जितना ज्ञेय है, उतना ही ज्ञान है, ऐसा

मानकर पर्याय को माने परन्तु द्रव्य को नहीं माने। आहाहा! फिर से। यह तो सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ परमेश्वर की वाणी है। आहाहा! वह भी सन्त कहते हैं। भगवान की साक्षात् वाणी तो कैसा आता होगा! आहाहा! सूक्ष्म... सूक्ष्म... सूक्ष्म... इन्द्र और गणधर भी वहाँ पिल्ले के बच्चे की भाँति नम्रता से सुनते हैं। वह चीज़ कैसी होगी? इन्द्र तीन ज्ञान के धनी हैं, एकावतारी है, एक भव से मोक्ष जानेवाले हैं। वे भगवान के निकट सुनने जाते हैं। तथा आठवाँ नन्दीश्वरद्वीप है, जहाँ बावन शाश्वत जिनालय है, वहाँ एकावतारी इन्द्र आठ-आठ दिन जाते हैं। अषाढ़ शुक्ल अष्टमी से पूर्णिमा, कार्तिक शुक्ल अष्टमी से पूर्णिमा और फाल्गुन शुक्ल अष्टमी से पूर्णिमा। तीन बार। बारह महीने में तीन बार जाते हैं। आहाहा! वे इस वस्तु को ऐसा जानते हैं कि भगवान के अवलम्बन से यह मेरा ज्ञान हुआ और मेरी दृष्टि वहाँ से हट गयी और शास्त्र का अवलम्बन आया तो यह पर्याय पर के कारण हुई थी, पर का नाश होने से मेरी पर्याय का नाश हो गया, ऐसा नहीं मानता। आहाहा! है? दसवाँ बोल है न?

और जब वह ज्ञानमात्र भाव पदार्थों के अवलम्बन काल में ही (-मात्र ज्ञेय पदार्थों को जानते समय ही) ज्ञान का सत्पना मानकर... पर को जानना, वही मेरी चीज़ है। आहाहा! परन्तु पर को जानना, वह तो एक समय की पर्याय है और आत्मा तो त्रिकाली स्व और पर को जाननेवाला आत्मा है। आहाहा! अरे! ऐसा कब सुने? इस बार और इस पर्यूषण में आया। ४६ वर्ष हो गये, अब क्या होगा? खबर नहीं। आहाहा!

जब वह ज्ञानमात्र भाव पदार्थों के अवलम्बन काल में ही (-मात्र ज्ञेय पदार्थों को जानते समय ही) ज्ञान का सत्पना मानकर... उस ज्ञेय को जानूं तब तक ही मेरा ज्ञान है, ज्ञेय का नाश होता है तो मेरा भी नाश हो जाता है। ऐसा मानकर **अंगीकार करके अपना नाश करता है, तब (उस ज्ञानमात्र भाव का) परकाल से (-ज्ञेय के काल से) असत्पना...** पर को जानता हूँ, तथापि मैं पर से असत् हूँ, मैं पर से नहीं हूँ, आहाहा! स्वकाल से अस्ति, परकाल से नास्ति, यह बोल है। आहाहा! धीरे-धीरे विचारना, भाई! यह संस्कार डालना। यह सूक्ष्म लगे, इसलिए इसे छोड़कर व्रत, नियम, तप और भक्ति में चला जाए तो उसके भव कभी घटेंगे नहीं। यह कदाचित् न मिले तो भी इसके

संस्कार डालकर जाए, करते... करते... करते... करते तो अन्य भव में भी प्राप्त होगा। आहाहा! परन्तु यह व्रत नियम, तप और भक्ति लाख-करोड़ करते-करते परभव में भी समकित होगा, ऐसा तीन काल में नहीं है। आहाहा! यह दसवाँ बोल हुआ? क्या आया?

परकाल से नहीं है। पर की पर्याय से मेरी पर्याय नहीं है। पर की पर्याय का मेरी पर्याय में ज्ञान होता है परन्तु वह तो मेरा ज्ञान है। पर का नाश होता है तो परसम्बन्धी मेरे ज्ञान का भी नाश होगा, ऐसा नहीं मानता। वह तो मेरी पर्याय का पलटने का स्वभाव है। एक को जानकर दूसरे को जाने, यह तो मेरी पर्याय का पलटने का स्वभाव है। आहाहा! ध्यान रखे बिना यह पकड़ में आये, ऐसा नहीं है। यह कहीं वार्ता नहीं है, कहीं कथा नहीं है। यह तो भगवान के घर की, भगवान के पेट की बातें हैं, प्रभु! तीन लोक के नाथ सर्वज्ञ परमेश्वर वस्तु का स्वरूप जैसा है, वैसा समझाते हैं। उससे विरुद्ध समझे, वह चार गति में परिभ्रमण करेगा। आहाहा! गजब बात है। यह तो समझ में आये ऐसा है, छोटाभाई! छोटाभाई तो बुद्धिवाले हैं।

अब 'भाव' आया। पहले परद्रव्य से मैं अस्ति हूँ, ऐसा नहीं। स्वद्रव्य से अस्ति हूँ, परद्रव्य से नास्ति हूँ। पश्चात् दूसरे में आया, परक्षेत्र से नास्ति हूँ, स्वक्षेत्र से अस्ति हूँ, परक्षेत्र से नास्ति हूँ। फिर आया, स्वकाल अपनी पर्याय से मैं अस्ति हूँ, परन्तु पर के काल से मैं नास्ति हूँ। यह संक्षिप्त शब्द। अब अपने भाव से मैं अस्ति हूँ, पर के भाव से मैं नास्ति हूँ। यह भाव का बोल आता है। आहाहा!

पहले तत्-अतत् आया। ज्ञान तत्स्वरूप से है, वह अतत्-ज्ञेयस्वरूप से नहीं। बस, इतना। वहाँ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव नहीं। यह ज्ञान और ज्ञेय। गुण और ज्ञेय। बाद में आया, मेरा स्वरूप अनन्त गुण और पर्यायरूप होने पर भी मैं एकरूप हूँ। फिर आया कि गुण और पर्याय अनेक है तो मैं अनेकरूप भी हूँ। एकरूप भी हूँ, अनेकरूप भी हूँ, तत्रूप भी हूँ और अतत् अर्थात् ज्ञेयरूप नहीं। फिर आया कि स्वद्रव्य से हूँ, परद्रव्य से नहीं। फिर आया, स्वक्षेत्र से हूँ, परक्षेत्र से नहीं। बाद में आया, मेरी स्वकाल की पर्याय से हूँ परन्तु परकाल की पर्याय से मैं नहीं। आहाहा! अब ऐसा कब सुने और धूल में से निकले कब? धूल... धूल। ऐई! मधुभाई! इसको बड़ी आमदनी है। धन्धे (के लिये) ऐसे गाँव में चढ़

गये, हांगकांग। हांगकांग कहाँ होगा? कितनी दूर होगा? पाँच हजार मील। तीन हजार मील तो अफ्रीका है। आहाहा! क्या कहा?

अब यह बोल आया कि मैं मेरे भाव से हूँ परन्तु अज्ञानी, **जब यह ज्ञानमात्र भाव, जानने में आते हुए परभावों के परिणमन के कारण...** परभाव है न? राग-द्वेष, पुण्य-पाप, परद्रव्य की शक्ति... आहाहा! अरे! परद्रव्य केवलज्ञान का भाव अपने जानने में आया तो **ज्ञायकस्वभाव को परभावरूप से मानकर...** वह तो पर के कारण से मुझे ज्ञान हुआ, ऐसा अज्ञानी मानता है। भाव। पर के भाव मैंने जाने तो परभाव से मेरा भाव है, ऐसा मानकर अपना नाश करता है। आहाहा! है? **जब यह ज्ञानमात्र भाव, जानने में आते हुए परभाव...** ज्ञान के अतिरिक्त परभाव। स्त्री, कुटुम्ब, देव-गुरु-शास्त्र आदि सब परभाव, उनके भाव। उन परभावों के परिणमन के कारण। अपनी शक्ति में परभाव जानने की परिणमन शक्ति है परन्तु इस कारण से **ज्ञायकस्वभाव को परभावरूप से मानकर...** मानो उस परभाव के कारण मुझे परभाव का परिणमन होता है। आहाहा! मैं अरिहन्त को जानता हूँ तो अरिहन्त के कारण मेरी पर्याय परिणमन करती है, ऐसा मानता है, वह अपने भाव का नाश करता है। परभाव से अपना भाव मानता है। परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल अब परभाव आया। आहाहा! कभी सुना नहीं। वाँचन करे तो समझे क्या इसमें? आहाहा!

अज्ञानी **जब यह ज्ञानमात्र भाव, जानने में आते हुए परभावों के परिणमन के कारण ज्ञायकस्वभाव को परभावरूप से मानकर अंगीकार करके नाश को प्राप्त होता है,...** मैं परभावस्वरूप हूँ, मुझे परभाव ज्ञात होता है, इसलिए परभाव से मैं नहीं— ऐसा नहीं मानता। परभाव ज्ञात होता है तो परभाव से मैं हूँ, (ऐसा मानकर) अपना नाश करता है। **तब (उस ज्ञानमात्र भाव का) स्व-भाव से सत्पना प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जिलाता है...** मैं तो मेरे सत् से हूँ, मेरे भाव से हूँ, परभाव से नहीं। पहले स्वद्रव्य से हूँ, परद्रव्य से नहीं; स्वक्षेत्र से हूँ, परक्षेत्र से नहीं; स्वकाल पर्याय के स्वकाल से हूँ, परकाल से नहीं। अब मेरे परभाव से मैं हूँ, ऐसा अज्ञानी मानता है। आहाहा! अरे! कभी सुनने को मिलता नहीं। यह करो। पर्यूषण के दिन... भक्ति करो, पूजा करो... स्वाहा (करो)। दान के अंक लिखाओ। दान यात्रा में, अमुक में... होता है परन्तु वह कोई जन्म-मरण रहित होने की चीज़ नहीं है, प्रभु! आहाहा!

मुमुक्षु : धन मिलेगा परन्तु अवसर नहीं मिलेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : सत्य बात है। ऐसा बोलते हैं। यह ऐसा बोलते हैं कि धन मिलेगा परन्तु अवसर नहीं मिलेगा, ऐसा कहते हैं। ऐसा कहकर पैसा उगाहते हैं। धन मिलेगा परन्तु अवसर नहीं मिलेगा। यहाँ तो कहते हैं, धन भी मिलता नहीं और अवसर भी मिलता नहीं। अपनी पर्याय से स्वयं है। इन सेठियाओं को चढ़ावे। ऐसे प्रसंग हो (तो ऐसा कहे), सेठ! धन मिलेगा परन्तु ऐसा अवसर नहीं मिलेगा, इसलिए लिखाओ। थोड़ी रकम लिखावे तो और नकार करे। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, प्रभु! तेरा भाव ज्ञानस्वभाव और परभाव जो भगवान का भाव और अनन्त शरीर, वाणी, मन का भाव, उस परभाव से मेरा ज्ञान है—ऐसा अज्ञानी मानते हैं। क्योंकि परभाव ज्ञात होते हैं तो ज्ञात हुआ तो परभाव से मेरा भाव है, परभाव से मेरा भाव है—ऐसा अज्ञानी मानता है और अपना नाश करता है। आहाहा! **तब (उस ज्ञानमात्र भाव का) स्व-भाव से सत्पना प्रकाशित करता हुआ...** मेरा ज्ञानमात्र भाव तो मुझसे है, ऐसा **अनेकान्त ही उसे जिलाता है...** पर को जानने के काल में भी भाव मेरा है, उसे जानने का भाव मेरा है। उसके कारण से मैं पर को जानता हूँ, ऐसा नहीं। मेरे भाव से मैं पर को जानता हूँ, ऐसा मेरा स्वभाव है। ऐसे स्व को और पर को जानने का मेरा स्वभाव है, ऐसा जानकर अपने आत्मा को जीवित रखता है। पर का नाश होने से मेरा भी नाश हो गया, ऐसा माननेवाला आत्मा का नाश करता है। अब बारहवाँ बोल। आहाहा! यह क्या कहा? ज्ञानमात्र से सत् हूँ।

अब, ज्ञानमात्र मैं पर से असत् हूँ (इसका बोल है)। आहाहा! चाहे तो देव, गुरु और शास्त्र हो। आहाहा! **जब वह ज्ञानमात्र भाव 'सर्व भाव मैं ही हूँ'...** देखो! सर्व भाव। भगवान ही मैं हूँ, परमात्मा मैं हूँ। परन्तु वह तो परचीज़ है। **'सर्व भाव मैं ही हूँ'...** भाव की बात है, हों! द्रव्य-क्षेत्र-काल नहीं। **इस प्रकार परभाव को ज्ञायकभावरूप से मानकर-अंगीकार करके अपना नाश करता है,...** अज्ञानी अनादि से अपने आत्मा का इस प्रकार से नाश करता है। आहाहा! परभाव मुझे ज्ञात होता है, इसलिए परभाव से मेरा भाव है, ऐसा मानकर (अज्ञानी) अपना नाश करता है। आहाहा!

तब (उस ज्ञानमात्र भाव का) परभाव से असत्पना प्रकाशित करता हुआ... परभाव से मैं असत् हूँ। स्वभाव से सत् हूँ, परभाव से असत् हूँ। भले परभाव मुझे ज्ञात होते हैं परन्तु वह तो मेरा ज्ञानस्वभाव है परन्तु परभाव से तो मैं असत् हूँ। आहाहा! ऐसी बात। **अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता।** आहाहा!

तेरहवाँ बोल। **जब यह ज्ञानमात्र भाव अनित्यज्ञानविशेषों के द्वारा अपना नित्य ज्ञान सामान्य खण्डित हुआ मानकर...** अज्ञानी ज्ञान को सामान्य रखने के लिये, पर्याय विशेष है, इससे मेरा (ज्ञान) नाश हो जायेगा, (ऐसा मानता है)। आहाहा! **जब यह ज्ञानमात्र भाव अनित्यज्ञानविशेष...** वह पर्याय है, उसके द्वारा **अपना नित्य ज्ञान सामान्य खण्डित हुआ मानकर...** यदि मैं पर को जानूँ तो मेरा ज्ञान खण्डित होता है ऐसा मानता है। परन्तु पर का ज्ञान हुआ, वह ज्ञान तेरा है। आहाहा! यह नित्य-अनित्य का बोल है।

अनित्यज्ञानविशेषों के द्वारा अपना नित्य ज्ञान सामान्य खण्डित हुआ मानकर... पर्याय में भिन्न-भिन्न ज्ञात होते हैं तो मेरा ज्ञान खण्डित हो गया ऐसा मानकर। आहाहा! **ज्ञान सामान्य खण्डित हुआ मानकर नाश को प्राप्त होता है,...** अपने को खण्डित हुआ मानकर नाश पाता है। आहाहा! क्या कहा? अपने ज्ञानभाव में परभाव ज्ञात हुए तो उस परभाव से मैं हूँ, ऐसे परभाव से मैं हूँ—ऐसा माननेवाला अपने आत्मा का नाश करता है। आहाहा! है?

ज्ञान-सामान्यरूप से नित्यत्व प्रकाशित करता हुआ... मैं तो सामान्य ही हूँ, विशेष नहीं। **अनेकान्त ही उसे जिलाता है...** आहाहा! नित्य हूँ। भले पर्याय में अनन्त ज्ञात हो, तथापि वस्तुरूप से मैं नित्य हूँ। आहाहा!

चौदहवाँ बोल। **और जब वह ज्ञानमात्र भाव नित्य ज्ञानसामान्य का ग्रहण करने के लिए अनित्य ज्ञानविशेषों के त्याग के द्वारा...** सामान्यरूप जो ज्ञान है, वही मैं हूँ, विशेष नहीं, पर्याय नहीं। ऐसा माननेवाला... आहाहा! अनित्यपने का जो भाव, ज्ञान है, वह मैं नहीं। ऐसे **ज्ञानविशेषों के त्याग के द्वारा अपना नाश करता है...** आहाहा! ऐसी बात है। अपने ज्ञान में विशेष स्वभाव है। जानने का तो विशेष त्रिकाल स्वभाव है

परन्तु वह विशेषपना मुझसे हुआ नहीं, पर से हुआ है—ऐसा मानकर अपने नित्यपने का नाश करता है। आहाहा! समझ में आया?

ज्ञानसामान्य का ग्रहण करने के लिए अनित्य ज्ञानविशेषों के त्याग के द्वारा अपना नाश करता है (अर्थात् ज्ञान के विशेषों का त्याग करके अपने को नष्ट करता है),... यह पर्याय हुई, वह क्या? पर्याय नहीं, मैं तो एक द्रव्य ही हूँ, ऐसा मानकर अपना नाश करता है। आहाहा! अन्तिम बोल है। **तब (उस ज्ञानमात्रभाव का) ज्ञानविशेषरूप से अनित्यत्व प्रकाशित करता हुआ (अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता।)** धर्मी तो जानता है कि मेरी पर्याय अनित्य है, वस्तुरूप से नित्य हूँ, पर्यायरूप से त्रिकाल अनित्य हूँ। इस अनित्य से मेरा कुछ नाश नहीं होता। इस पर्याय का अनित्य स्वभाव है। इस प्रकार आत्मा को नित्य और अनित्य दो प्रकार से मानकर यथार्थ आत्मा का स्वरूप मानता है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४७१, परिशिष्ट, श्लोक-२४८-२५० मंगलवार, भाद्र शुक्ल १४
दिनांक - २३-०९-१९८०

समयसार चौदह बोल हो गये। कोष्ठक में आया न? तत्-अतत् ये दो भंग आ गये, एक अनेक दो भंग आ गये; सत्-असत् के (दो भंग आये)। स्व रूप से है और पर रूप से नहीं। ऐसे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के आठ भंग और नित्य-अनित्य के दो भंग, ऐसे मिलकर चौदह भंग हुए। यह तत्त्व की बात एकदम माल है। **इन चौदह भंगों में यह बताया है कि - एकान्त से ज्ञानमात्र आत्मा का अभाव होता है...** एकान्त माननेवाले को ऐसा लगता है कि ज्ञान में परचीज़ ज्ञात होती है, वह पर के कारण ज्ञात होती है। ऐसा मानने से ज्ञानमात्र का नाश होता है। समझ में आया? आहाहा!

एकान्त से ज्ञानमात्र आत्मा का अभाव होता है और अनेकान्त से आत्मा जीवित रहता है;... जीवित अर्थात् अनुभव में प्रगट होता है। **अर्थात् एकान्त से आत्मा जिस स्वरूप है, उस स्वरूप नहीं समझा जाता, स्वरूप में परिणमित नहीं होता,...** एकान्त से। एकान्त किसे कहना और अनेकान्त किसे कहना, यह चौदह भंग में सब आ गया। अब इसके कलश आयेंगे। **और अनेकान्त से वह वास्तविक स्वरूप से समझा जाता है, स्वरूप में परिणमित होता है।**

यहाँ निम्न प्रकार से (चौदह भंगों के कलशरूप) चौदह काव्य भी कहे जा रहे हैं-(उनमें से पहले, प्रथम भंग का कलशरूप काव्य इस प्रकार है-) २४८।

कलश - २४८

यहाँ निम्न प्रकार से (चौदह भंगों के कलशरूप) चौदह काव्य भी कहे जा रहे हैं-उनमें से पहले, प्रथम भंग का कलशरूप काव्य इस प्रकार है-

(शार्दूलविक्रीडित)

बाह्यार्थैः परिपीत-मुज्झितनिजप्रव्यक्तिरिक्तीभवद्,
विश्रान्तं पररूप एव परितो ज्ञानं पशोः सीदति।
यत्तत्तत्तदिह स्वरूपत इति स्याद्वादिनस्तत्पुन-
र्दूरोन्मग्न-घन-स्वभाव-भरतः पूर्णं समुन्मज्जति।।२४८।।

श्लोकार्थ : [बाह्य-अर्थैः परिपीतम्] बाह्य पदार्थों के द्वारा सम्पूर्णतया पिया गया [उज्झित-निज-प्रव्यक्ति-रिक्तीभवत्] अपनी व्यक्ति (प्रगटता) को छोड़ देने से रिक्त (शून्य) हुआ, [परितः पररूपे एव विश्रान्तं] सम्पूर्णतया पररूप में ही विश्रान्त (अर्थात् पररूप के ऊपर ही आधार रखता हुआ) ऐसे [पशोः ज्ञानं] पशु का ज्ञान (-पशुवत् एकान्तवादी का ज्ञान) [सीदति] नाश को प्राप्त होता है; [स्याद्वादिनः तत् पुनः] और स्याद्वादी का ज्ञान तो, ['यत् तत् तत् इह स्वरूपतः तत्' इति] जो तत् है, वह स्वरूप से तत् है (अर्थात् प्रत्येक तत्त्व को-वस्तु को स्वरूप से तत्पना है)' ऐसी मान्यता के कारण [दूर-उन्मग्न-घन-स्वभाव-भरतः] अत्यन्त प्रगट हुए ज्ञानघनरूप स्वभाव के भार से, [पूर्णं समुन्मज्जतिं] सम्पूर्ण उदित (प्रगट) होता है।

भावार्थ : कोई सर्वथा एकान्तवादी तो यह मानता है कि-घटज्ञान घट के आधार से ही होता है, इसलिए ज्ञान सब प्रकार से ज्ञेयों पर ही आधार रखता है। ऐसा माननेवाले एकान्तवादी के ज्ञान को तो ज्ञेय पी गये हैं, ज्ञान स्वयं कुछ नहीं रहा। स्याद्वादी तो ऐसा मानते हैं कि - ज्ञान अपने स्वरूप से तत्स्वरूप (ज्ञानस्वरूप) ही है, ज्ञेयाकार होने पर भी ज्ञानतत्त्व को नहीं छोड़ता। ऐसी यथार्थ अनेकान्त समझ के कारण स्याद्वादी को ज्ञान (अर्थात् ज्ञानस्वरूप आत्मा) प्रगट प्रकाशित होता है।

इस प्रकार स्वरूप से तत्पने का भंग होता है।२४८।

कलश - २४८ पर प्रवचन

बाह्यार्थैः परिपीत-मुज्झितनिजप्रव्यक्तिरिक्तीभवद्,
विश्रान्तं पररूप एव परितो ज्ञानं पशोः सीदति।
यत्तत्तत्तदिह स्वरूपत इति स्याद्वादिनस्तत्पुन-
र्दूरोन्मग्न-घन-स्वभाव-भरतः पूर्णं समुन्मज्जति।।२४८।।

आहाहा! अकेला मक्खन है। जैनदर्शन का रहस्य है। आहाहा!

श्लोकार्थ – 'बाह्य-अर्थैः परिपीतम्' बाह्य पदार्थों के द्वारा सम्पूर्णतया पिया गया... क्या कहा? है? सेठ! श्लोक आया? **बाह्य पदार्थों के द्वारा...** अपना स्वरूप चैतन्यस्वरूप अनन्तगुण स्वरूपी है, ऐसा नहीं मानकर बाह्य पदार्थों से ही मैं हूँ, बाह्य पदार्थों का (मुझे) ज्ञान होता है, तो उनसे मैं हूँ, वह **द्वारा सम्पूर्णतया पिया गया...**

'उज्झित-निज-प्रव्यक्ति-रिक्तीभवत्' अपनी व्यक्ति (प्रगटता) को छोड़ देने से... आहाहा! अपना ज्ञानस्वरूप भगवान परज्ञेय से है, पर का ज्ञान करने से मानो कि पररूप से आत्मा है, ऐसा मानकर अपने आत्मा को छोड़ दिया। आहाहा! ऐसी बात। यह श्लोक है। आचार्य अमृतचन्द्राचार्य महाराज महामुनि भावलिंगी सन्त जिन्होंने टीका बनायी। कुन्दकुन्दाचार्य के शास्त्र—समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय। आहाहा! इसके अतिरिक्त तत्त्वार्थसार, पुरुषार्थसिद्धिउपाय (शास्त्रों की रचना की)। एक-एक में गम्भीर तत्त्व, एक-एक शब्द में गम्भीरता के भाव भरे हैं।

यह कहते हैं, समस्त **बाह्य पदार्थों के द्वारा...** अपना स्वरूप पर को जानता है तो बाह्य पदार्थ द्वारा पी गया (अर्थात्) उन बाह्य पदार्थ से ही मैं हूँ, (ऐसा माना)। आहाहा! अपना ज्ञानस्वरूप पर को जानता है तो परवस्तु पूरे आत्मा को पी गयी। परवस्तु पी गयी। आहाहा! है? **बाह्य पदार्थों के द्वारा सम्पूर्णतया पिया गया अपनी व्यक्ति (प्रगटता) को छोड़ देने से...** मैं आनन्द और ज्ञानस्वरूप हूँ, पर को जानने पर भी मैं मेरी शक्ति से भिन्न नहीं हूँ। पर को जानना और स्व को जानना, वह अपना स्वभाव है। पर के कारण पर को जानता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी बात!

अमृतचन्द्राचार्य कुन्दकुन्दाचार्य के पश्चात् एक हजार वर्ष के पश्चात् टीका की है। टीका करनेवाला कोई हुआ नहीं, ऐसी चीज़ है। ये दोनों भावलिंगी सन्त हैं। आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य भी भावलिंगी छठवें-सातवें में आनन्द में झूलनेवाले सन्त हैं, उन्हें सन्त कहते हैं। उनकी टीका करनेवाले अमृतचन्द्राचार्य भी छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले (सन्त हैं)। सम्यग्दर्शन तो है ही, परन्तु तदुपरान्त छठी-सातवीं भूमिका हजारों बार एक दिन में आती है, इसका नाम भावलिंगी सन्त कहा जाता है।

वे भावलिंगी सन्त कहते हैं, प्रभु! पर को जानते हुए मानो तेरा ज्ञान पूरा पर में चला गया, (ऐसा माना)। तेरे ज्ञानस्वभाव से तू रिक्त-खाली हो गया। आहाहा! है? **सम्पूर्णतया पररूप में ही विश्रान्त (अर्थात् पररूप के ऊपर ही आधार रखता हुआ)...** आहाहा! शास्त्र, वाणी, मन, कुटुम्ब, कबीला इन सब चीज़ों के ऊपर तू आधार रखता है कि उनका ज्ञान हुआ, वह उनके आधार से हुआ। ऐसा मानकर **पशु...** आहाहा! पशु कहा। जैसे पशु को घास और चूरमे के भेद की (खबर) नहीं; उसी प्रकार अज्ञानी को पर को जानना वह मेरा स्वभाव है, पर को जानने से मैं पर में चला गया, ऐसा नहीं है। आहाहा! मूल बात समझे बिना अनन्त काल भटकने में गया। भटका.. भटका। आहाहा!

यह कहते हैं **(पररूप के ऊपर आधार रखता हुआ)...** अज्ञानी तो ज्ञान होने में पर के ऊपर आधार रखता है। परचीज़ हो—पुस्तक हो, शास्त्र हो, वाणी हो, भगवान हो तो मुझे ज्ञान होता है, परवस्तु होवे तो मुझे ज्ञान होता है... आहाहा! ऐसा अज्ञानी मानता है। भाषा तो सादी है न! सेठ! तुमने कहा था कि दो पुस्तक पढ़नेवाला भी समझ सकता है। बात तो ऐसी है। सादी भाषा है। आहाहा!

श्रोता : एक हजार वर्ष में टीका करनेवाला कोई नहीं मिला?

पूज्य गुरुदेवश्री : अलौकिक शास्त्र है। शास्त्र अलौकिक है, इसलिए उसकी टीका करने का साधारण प्राणी का काम नहीं है। आहाहा!

श्रोता : एक हजार वर्ष के बाद आपने इसका उद्घाटन किया है। आपका स्पष्टीकरण आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : रात्रि में कहा था न? भाई! एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं

करता। आहाहा! एक तत्त्व दूसरे तत्त्व को स्पर्श नहीं करता, स्पर्श नहीं करता और एक द्रव्य में उत्पाद-व्यय-ध्रुव होता है। नयी पर्याय उत्पन्न हो, पुरानी व्यय हो और ध्रुव रहे, उसमें एक-एक पर्याय को दूसरी (पर्याय का) आधार नहीं है। उत्पाद को ध्रुव द्रव्य का आधार नहीं है। आहाहा! और वह उत्पाद भी प्रत्येक द्रव्य में क्रमसर होता है। एक के बाद एक, एक के बाद एक क्रमसर, आगे-पीछे नहीं। आहाहा! गजब बात है।

प्रत्येक द्रव्य की पर्याय समय-समय में स्वयं से षट्कारक के परिणमन से होती है। प्रत्येक द्रव्य की पर्याय पर से नहीं होती। अपने कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण से (होती है)। कर्ता पर्याय करनेवाला, पर्याय कार्य, कर्म अर्थात् कार्य; पर्याय करण अर्थात् साधन; पर्याय का पर्याय साधन, पर्याय का साधन द्रव्य नहीं। अरर! आहाहा! पर्याय का कर्म तो साधन नहीं, पर्याय जो आत्मा की है, उसका परद्रव्य तो साधन नहीं परन्तु पर्याय का द्रव्य साधन नहीं। अरे! यह बात कैसे पचे? कर्ता, कर्म, करण, तीन हुए। सम्प्रदान—प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्याय को करके अपने में रखता है। दाता भी आत्मा और पात्र भी आत्मा। वह पर्याय जो उत्पन्न हुई, वह पात्र और वह पर्याय रखी, वह दाता ने दी। देनेवाला और लेनेवाला एक ही समय की पर्याय है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भगवान!

अपादान—प्रत्येक द्रव्य की पर्याय उसी समय में क्रमसर में पर्याय के आधार से पर्याय हुई है। पर्याय अपादान-पर्याय से पर्याय हुई है, यह अपादान। पर्याय से पर्याय है, यह अपादान। द्रव्य से नहीं, निमित्त से नहीं, संयोग से नहीं। आहाहा! और उस पर्याय का आधार पर्याय है। पर्याय का आधार स्वद्रव्य नहीं तो परद्रव्य, भगवान आदि का आधार तो कहाँ से आया? आहाहा! गजब बात है।

यहाँ यह कहते हैं, अज्ञानी सम्पूर्णरूप से अपने को पररूप ही मानता है। भगवान के वचन मिलें तो मुझे ज्ञान हो, भगवान के दर्शन हों तो मुझे आत्मा का भान हो—ऐसे पर के ऊपर ही अपना सब अर्पण कर दिया है। अपनी स्वतन्त्र चीज़ है, उसे छोड़ दिया है। पशु (कहा), सेठ! पशु है न?

'पशोः ज्ञानं' पशु का ज्ञान (-पशुवत् एकान्तवादी का ज्ञान)... आहाहा! उसे पशु कहा। मुझे पर से ज्ञान होता है, इस शास्त्र के पृष्ठ से मुझे ज्ञान होता है, ऐसा

माननेवाले को पशु कहा। मुनि को कुछ दरकार नहीं। नागा बादशाह से आघा। उन्हें बादशाह की भी दरकार नहीं। समाज में दो भाग पड़ जाएँगे या नहीं, उसकी भी उन्हें दरकार नहीं। आहाहा! पशुतुल्य। पशु तो है नहीं। पशुतुल्य—पशुवत्। एकान्तवादियों का ज्ञान, पर से ही मुझे ज्ञान होता है – ऐसा माननेवाले पशुवत्—पशु हैं। **नाश को प्राप्त होता है;...** आहाहा! मुझे पर से ज्ञान होता है, ऐसा मानकर नाश पाते हैं।

'स्याद्वादिन:' स्याद्वादी अर्थात् धर्मी अनेकान्तवादी, वीतरागमार्ग के रहस्य को जाननेवाला स्यात् अर्थात् अपेक्षा से कथन जाननेवाला। **स्याद्वादी का ज्ञान तो, जो तत् है, वह स्वरूप से तत् है...** आहाहा! अपने स्वरूप से है। पर को जानता है तो वह ज्ञान पर से नहीं। पर को जानने पर भी वह ज्ञान पर से नहीं, अपना ज्ञान अपने से है और ज्ञेय-ज्ञेय है। ज्ञेय ज्ञान में ज्ञात हुआ तो ज्ञेय से ज्ञान हुआ, ऐसा कभी नहीं है। आहाहा! अन्त में तो यह अमृतचन्द्राचार्य जैसों ने दो-दो बार, तीन-तीन बार कहकर श्लोक बनाये, इसमें माल है। आहाहा!

स्याद्वादी धर्मी जीव, **जो तत् है, वह स्वरूप से तत् है...** मैं पर को जानता हूँ तो वह ज्ञान पर से नहीं है। पर को जानता हूँ, वह ज्ञान मेरे स्व से है। ऐसे स्व के तत्त्व से तत्त्व मानकर **(प्रत्येक तत्व को-वस्तु को स्वरूप से तत्पना है) ऐसी मान्यता के कारण... 'दूर-उन्मग्न-घन-स्वभाव-भरत:'** आहाहा! **'दूर-उन्मग्न' अत्यन्त प्रगट हुए...** आहाहा! **'दूर'** का अर्थ अत्यन्त किया, **'उन्मग्न'** का अर्थ प्रगट हुए किया। **'घन' ज्ञानघनरूप स्वभाव के भार से,...** ज्ञान का घन प्रभु, मैं तो ज्ञान का घन हूँ। पर को जानता हूँ, वह भी पर से नहीं, पर का ज्ञान नहीं, मेरे ज्ञान में पर और स्व को जानने का स्वभाव है, ऐसे ज्ञानघनरूप मैं हूँ। इसका नाम ज्ञानी और सम्यग्दृष्टि-धर्मी कहा जाता है। आहाहा! बहुत शर्तें, शर्तें बहुत। आहाहा!

अत्यन्त प्रगट हुए ज्ञानघनरूप स्वभाव के भार से, सम्पूर्ण उदित (प्रगट) होता है। मैं तो मेरे ज्ञान से ही स्व और पर को जानता हूँ। पर के कारण से पर को जाना और पर के कारण से ज्ञान हुआ, वह (ज्ञान) मैंने छोड़ दिया, ऐसा नहीं। आहाहा! ऐसा है। सुनने को मिलना मुश्किल, बापू!

भावार्थ – कोई सर्वथा एकान्तवादी तो यह मानता है कि-घटज्ञान घट के

आधार से ही होता है... है ? क्या कहा ?-कि यह घड़ी है न, घड़ी ? घड़ी से घड़ी का ज्ञान होता है। यहाँ घड़ी का ज्ञान होता है न! वह घड़ी से घड़ी का ज्ञान होता है, ऐसा अज्ञानी मानता है। आहाहा! पर का ज्ञान मुझमें होता है, वह पर से होता है, ऐसा अज्ञानी मूढ़ मानता है। गजब बात है। आहाहा! एकान्तवादी ऐसा मानता है कि **घटज्ञान घट के आधार से ही होता है...** घड़ा है न, घड़ा ? घड़े के पास बैठा तो यहाँ घड़े का ज्ञान हुआ तो अज्ञानी मानता है कि घड़ा है तो घड़े का ज्ञान हुआ। दूसरे का ज्ञान क्यों नहीं हुआ ? दूसरे का ज्ञान क्यों नहीं हुआ ? पट का, वस्त्र का, आहार का, पानी का, स्त्री का (ज्ञान क्यों नहीं हुआ) ? घड़े का ज्ञान ही मुझमें हुआ तो यह घड़ा है तो घड़े से मुझमें ज्ञान हुआ, ऐसा अज्ञानी मानता है। आहाहा!

इसलिए ज्ञान सब प्रकार से ज्ञेयों पर ही आधार रखता है। है ? भाषा बहुत सादी है। **इसलिए ज्ञान सब प्रकार से ज्ञेयों पर ही आधार रखता है।** ज्ञान अर्थात् आत्मा का ज्ञान **इसलिए ज्ञान...** चारों ओर से ज्ञेयों पर ही आधार रखता है। आहाहा! मुझे अनुकूल ज्ञेय मिलें, तो मुझे ज्ञान होता है। अनुकूल बाह्य साधन मुझे मिल जाएँ तो मुझे ज्ञान होता है, ऐसा एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि पर से अपने ज्ञान को मानकर अपने ज्ञान का नाश करता है। आहाहा! ऐसी बात कब निकले ? किसी समय निकले।

ऐसा माननेवाले एकान्तवादी के ज्ञान को तो ज्ञेय पी गये हैं,... ज्ञेय ज्ञात हुए तो उनके कारण मुझे ज्ञान हुआ तो इस ज्ञान को तो ज्ञेय पी गया। आहाहा! अपना ज्ञान भिन्न रहा नहीं। **ज्ञान स्वयं कुछ नहीं रहा।** अज्ञानी अनादि से ऐसा मानता है। परन्तु यह विचार भी कभी किया नहीं। आहाहा!

स्याद्वादी... धर्मी-धर्मी—समकिती तो ऐसा मानता है कि **ज्ञान अपने स्वरूप से तत्स्वरूप (ज्ञानस्वरूप) ही है,...** पर को जानने पर भी मैं मुझे जानता हूँ। इस पर को जानना हुआ, वह पर के कारण से नहीं हुआ। आहाहा! पर का ज्ञान करने में भी मेरा तत्स्वरूप है, उस तत्स्वरूप ही मैं हूँ; जिस स्वरूप से मैं हूँ, उस स्वरूप से ही मैं हूँ। पर को जानने पर भी मैं तो मेरे स्वरूप में ही हूँ। परस्वरूप से मेरा स्वरूप है, ऐसा नहीं है। अरे! ऐसी बातें! अमृतचन्द्राचार्य! आहाहा! हजार वर्ष पहले टीका करते हैं। भावलिंगी सन्त। ओहोहो!

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता और पर्याय क्रमबद्ध होती है और प्रत्येक द्रव्य में जिस समय में जो पर्याय हुई, उस पर्याय का आधार अपना द्रव्य भी नहीं है, ऐसी बात, प्रभु! वीतराग के सिवाय कहीं नहीं है। आहाहा! दुनिया को कहाँ पड़ी है कि मेरा क्या होगा? आहाहा! यह कहते हैं।

स्याद्वादी तो ऐसा मानते हैं कि-ज्ञान अपने स्वरूप से तत्स्वरूप ही है,... मैं पर को जानता हूँ, तथापि मैं तत्स्वरूप हूँ। पर के कारण से मुझे पर का ज्ञान हुआ, ऐसा नहीं है। पर का ज्ञान पर से हुआ, ऐसा नहीं है। मेरे ज्ञान का स्वभाव पर को और स्व को जानने का है तो अपने से जाना है। आहाहा! ऐसी बात कहाँ है? बैठना कठिन पड़े। यह रुपये का रस, धूल का रस, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, पुत्र-पुत्री, आहाहा! ऐसे लड़के हों तो सिर पर हाथ फिरावे, ऐसे सिर पर हाथ फिरावे, चुम्बन करे। आहाहा! यहाँ कहते हैं, प्रभु! तू क्या करता है, इसकी तुझे खबर है? तेरा ज्ञान पर को स्पर्शा ही नहीं है। तेरा आत्मा पर को स्पर्शा ही नहीं है। ऐसी चीज़ तुझमें है। आहाहा!

ऐसी यथार्थ अनेकान्त समझ के कारण स्याद्वादी को ज्ञान (अर्थात् ज्ञानस्वरूप आत्मा) प्रगट प्रकाशित होता है। धर्मी को तो ज्ञान, ज्ञान से हुआ है; उस ज्ञेय से ज्ञान हुआ नहीं, ऐसा ज्ञान प्रगट-प्रसिद्ध होता है। ओहोहो! ज्ञानस्वरूपी प्रभु, ज्ञान का पिण्ड, यह सुनने से भी ज्ञान प्रगट नहीं होता। अरे रे! गजब बात है। शास्त्र से भी ज्ञान प्रगट नहीं होता। क्योंकि परपदार्थ है। आहाहा! **ज्ञानतत्त्व को नहीं छोड़ता।** धर्मी तो जानता है कि मेरा ज्ञान अपने को भी जानता है और पर को भी अपने में रहकर जानता है। पर के कारण से मुझे पर का ज्ञान होता है, ऐसा वह नहीं मानता। आहाहा! एक-एक बात को पहुँचना...

प्रकाश प्रकाशित होता है। धर्मी को तो ज्ञानस्वरूप ही मैं हूँ, मेरे कारण से ही मेरा ज्ञान प्रगट हुआ है। पर को जानने का ज्ञान हुआ, वह मेरे कारण से प्रगट हुआ है, पर के कारण से प्रगट हुआ है - ऐसा नहीं है। थोड़ा कठिन पड़ता है, प्रभु! परन्तु यह वस्तु ऐसी है। पर्यूषण के दिनों में ऐसी मक्खन जैसी बात कभी सुनी नहीं, तो उस मार्ग में तो जाए कहाँ से? जो बात सुनी नहीं तो उस रास्ते जाए कहाँ से। आहाहा! एक बोल हुआ।

इस प्रकार स्वरूप से तत्पने का भंग कहा है। अपने स्वरूप से तत् है। पर को जानने पर भी, वह अपने स्वरूप से ही है। पर को जाना, इसलिए पर के कारण से यहाँ

अपना ज्ञान हुआ, ऐसा नहीं है। आहाहा! अमृतचन्द्राचार्य तो अन्तिम श्लोक में कहते हैं कि हे जीवो! यह टीका मैंने बनायी है, ऐसा न मानो। ऐसा नहीं मानना। आहाहा! और यह टीका सुनने से तुम्हें जो ज्ञान होता है, वह सुनने से होता है, ऐसा न मानो। आहाहा! गजब बात है। पूरी दुनिया डाँवाडोल हो गयी है। आहाहा!

अन्तिम श्लोक में ऐसा कहते हैं, आहाहा! यह टीका मैंने बनायी, ऐसा नहीं मानना। क्योंकि यह तो शब्द की-जड़ की पर्याय है। शास्त्र है, वह जड़ की पर्याय है। आहाहा! पर से मुझे ज्ञान हुआ, ऐसा न मानो। मुझे वाणी निकली और टीका हुई, ऐसा नहीं मानो और उस वाणी से तुम्हें ज्ञान उत्पन्न हुआ, ऐसा न मानो। इस प्रकार मोह से न नाचो, ऐसा है। मोह से-मिथ्यात्व से न नाचो, नाथ! आहाहा! ऐसी बात तीन लोक के नाथ सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ की वाणी है। आहाहा! दूसरा भंग—२४९ (श्लोक)।

कलश - २४९

(अब, दूसरे भंग का कलशरूप काव्य कहते हैं-)

(शार्दूलविक्रीडित)

विश्वं ज्ञानमिति प्रतर्क्य सकलं दृष्ट्वा स्वतत्त्वाशया,
भूत्वा विश्वमयः पशुः पशुरिव स्वच्छन्दमाचेष्टते।
यत्तत्तत्पररूपतो न तदिति स्याद्वाददर्शी पुन-
र्विश्वाद्भिन्नमविश्वविश्वघटितं तस्य स्वतत्त्वं स्पृशेत्।।२४९।।

श्लोकार्थ : [पशुः] पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, ['विश्वं ज्ञानम्' इति प्रतर्क्य] 'विश्व ज्ञान है (अर्थात् सर्व ज्ञेयपदार्थ आत्मा हैं)' ऐसा विचार करके [सकलं स्वतत्त्व-आशया दृष्ट्वा] सबको (-समस्त विश्व को) निजतत्त्व की आशा से देखकर [विश्वमयः भूत्वा] विश्वमय (-समस्त ज्ञेयपदार्थमय) होकर, [पशुः इव स्वच्छंदम् आचेष्टते] पशु की भाँति स्वच्छन्दतया चेष्टा करता है-प्रवृत्त होता है; [पुनः]

और [स्याद्वाददर्शी] स्याद्वाद का देखनेवाला तो यह मानता है कि- ['यत् तत् तत् पररूपत: न तत् इति'] 'जो तत् है, वह पररूप से तत् नहीं है (अर्थात् प्रत्येक तत्त्व को स्वरूप से तत्पना होने पर भी पररूप से अतत्पना है),' इसलिए [विश्वात् भिन्नम् अविश्वविश्व-घटितं] विश्व से भिन्न ऐसे तथा विश्व से (-विश्व के निमित्त से) रचित होने पर भी विश्वरूप न होनेवाले ऐसे (अर्थात् समस्त ज्ञेय वस्तुओं के आकाररूप होने पर भी समस्त ज्ञेय वस्तु से भिन्न ऐसा [तस्य स्वतत्त्वं स्पृशेत्] अपने तत्त्व का स्पर्श-अनुभव करता है।

भावार्थ : एकान्तवादी यह मानता है कि-विश्व (समस्त वस्तुऐं) ज्ञानरूप अर्थात् निजरूप है। इस प्रकार निज को और विश्व को अभिन्न मानकर, अपने को विश्वमय मानकर, एकान्तवादी, पशु की भाँति हेय-उपादेय के विवेक के बिना सर्वत्र स्वच्छन्दतया प्रवृत्ति करता है। स्याद्वादी तो यह मानता है कि-जो वस्तु अपने स्वरूप से तत्स्वरूप है, वही वस्तु पर के स्वरूप से अतत्स्वरूप है; इसलिए ज्ञान अपने स्वरूप से तत्स्वरूप है, परन्तु परज्ञेयों के स्वरूप से अतत्स्वरूप है, अर्थात् पर ज्ञेयों के आकाररूप होने पर भी उनसे भिन्न है।

इस प्रकार पररूप से अतत्पने का भंग कहा है।२४९।

कलश - २४९ पर प्रवचन

विश्वं ज्ञानमिति प्रतर्क्य सकलं दृष्ट्वा स्वतत्त्वाशया,
भूत्वा विश्वमय: पशु: पशुरिव स्वच्छन्दमाचेष्टते।
यत्तत्तत्पररूपतो न तदिति स्याद्वाददर्शी पुन-
र्विश्वाद्भिन्नमविश्वविश्वघटितं तस्य स्वतत्त्वं स्पृशेत्।।२४९।।

श्लोकार्थ - पशु... पशु कहकर बुलाया है। अरे! जैसे पशु को कुछ विवेक नहीं कि घास क्या है और चूरमा क्या है? चूरमा कहते हैं न? चूरमा। घास होती है न? क्या कहलाते हैं घास के लम्बे? पड़छा उसमें चूरमा इकट्ठा करके खाता है। चूरमा और घास भिन्न है, ऐसा नहीं मानता। इसी प्रकार परद्रव्य और मेरी चीज़ अत्यन्त भिन्न है, ऐसा नहीं

मानता। परद्रव्य से मुझमें कुछ तो होता है, मैं मेरे गाँव में था, तब यह ज्ञान कहाँ था? यहाँ सुनने से यह ज्ञान होता है, ऐसा प्रत्यक्ष दिखता है और तुम इनकार करते हो? तू भगवान को कह कि प्रभु! तुम क्यों इनकार करते हो? आहाहा! शास्त्र के करोड़ों श्लोक के ढ़ेर पड़े हों, उन्हें वन्दन करने से यहाँ ज्ञान होता है, ऐसा तीन काल में नहीं है। वन्दन करने से तो शुभराग होता है। अपने स्वभाव को छोड़कर परद्रव्य को नमना, वह शुभराग है। आहाहा! कठिन बात है।

एक ओर कहते हैं कि सत्‌श्रवण करो। गुरुगम से सत् समझो। क्योंकि यह निमित्ता से कथन तो आता है, परन्तु ऐसा बनता है - ऐसा नहीं। बनता है तो अपनी ज्ञान की पर्याय की योग्यता है, तो वहाँ उत्पन्न होता है। निमित्त से, वाणी से और गुरुगम से (ज्ञान होता है, ऐसा नहीं है।) आहाहा! तथापि ऐसा भी आता है कि अपने ज्ञान में जो भगवान, वाणी, आदि निमित्त है, उनका उपकार भी भूलना नहीं। आया न? नियमसार। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, पशु! पशु शब्द से बुलाया है। है? पहला शब्द, पशु है? **पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी,... 'विश्वं ज्ञानम् इति प्रतर्क्य' विश्व ज्ञान है (अर्थात् सर्व ज्ञेयपदार्थ आत्मा हैं) ऐसा विचार करके...** आहाहा! यह मेरे ज्ञान में जो ज्ञात होता है, वह सब चीज़ ज्ञान है और उससे ही मुझे ज्ञान होता है। **ऐसा विचार करके सबको (समस्त विश्व को) निजतत्त्व की आशा से देखकर...** समस्त विश्व। आहाहा! देव, गुरु और शास्त्र भी आ गये, सर्वज्ञ भगवान भी आ गये। आहाहा! नटुलालजी! ऐसी बात है, भगवान! वहाँ कभी सुनी नहीं। आहाहा!

श्रोता : अभी हम सुनने के लिये आये हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : बात तो सत्य है। आहाहा! यह बात, इसे एकान्त करके उड़ा देते हैं। प्रभु! आहाहा! कैलाशचन्दजी ने तो कहा है कि सोनगढ़ का तत्त्व निश्चयतम है। निश्चयतर भी नहीं, अकेला निश्चय नहीं; निश्चय नहीं, निश्चयतर नहीं; निश्चयतम है। ऐसा मासिक में आया है। उसमें क्या कहना है, वह तो ठीक परन्तु अपने तो यह बराबर समझ लेना कि बात तो निश्चयतम है। आहाहा!

पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, 'विश्व ज्ञान है (अर्थात् सर्व

ज्ञेयपदार्थ आत्मा हैं)'... सर्व जाननेयोग्य हैं, उनसे मुझे ज्ञान होता है। **ऐसा विचार करके सबको (समस्त विश्व को) निजतत्त्व की आशा से देखकर...** विश्वमय होकर, वह तो पररूप ही हो गया। मुझे पर से ज्ञान हुआ, वह पररूप हो गया, स्वयं तो खो गया। आहाहा! **'पशुः इव स्वच्छन्दम् आचेष्टते'** दो बार (पशु) लिया। पहले पशु एकान्तवादी कहा, पश्चात् पशु की तरह (कहा)। **'पशुः इव स्वच्छन्दम् आचेष्टते' पशु की भाँति स्वच्छन्दतया चेष्टा करता है–प्रवृत्त होता है;...** पर से ही मुझे (ज्ञान) होता है, ऐसा स्वच्छन्दी। पशु की भाँति प्रवर्तन करता है। आहाहा! ऐसी बात। सन्त पंच महाव्रतधारी भावलिंगी, अज्ञानी को पशुरूप से कहते हैं। पशु कहकर ऐसा कहते हैं कि उसे छोड़ दे, प्रभु! वह तेरी चीज़ नहीं है, तू पर से नहीं है। तेरे तत्त्व से तेरा तत्त्व है, परज्ञेय तत्त्व से तेरा ज्ञान नहीं है। हम तो ज्ञेय हैं। भगवान और शास्त्र ऐसा कहते हैं कि हम तो तेरे ज्ञान के ज्ञेय हैं। तेरा ज्ञान मुझमें नहीं और मुझसे तुझे ज्ञान होता है, ऐसा नहीं। आहाहा!

अब तो लोग सुनने आते हैं। मुम्बई में, सेठ के गाँव में भी पन्द्रह हजार लोग आये थे। सेठ की इज्जत बहुत है और सेठ को प्रेम है। पन्द्रह-पन्द्रह हजार लोग, परन्तु बात यह। भिण्ड के थे न? भिण्ड के। क्या नाम? नन्दलालजी, भिण्ड के। वे (संवत्) १९९९ के वर्ष में यहाँ आये थे। यहाँ समयसार पढ़ते थे। तब इतने लोग नहीं थे। १५० व्यक्ति थे। ओहोहो! इस समयसार के वाँचन में १५० लोग! हम तो समयसार लेकर बैठें तो दो-तीन व्यक्ति बैठें, ऐसा कहते थे। अभी तो हजारों लोग (सुनते हैं)। वे इतने भाग्यशाली हैं कि जिनके कान में यह बात पड़ती है। आहाहा!

सोगानी लिख गये हैं, सोगानी—निहालचन्द्र सोगानी द्रव्यदृष्टिप्रकाश में (लिखते हैं), यहाँ के समझनेवाले, सुननेवाले बहुत भाग लोग मोक्ष में जाएँगे, ऐसा लिखा है। द्रव्यदृष्टिप्रकाश। आहाहा! यह चीज़... यह चीज़... आहाहा! अमृतस्वरूप भगवान तीन लोक के नाथ यह बात जगत के समक्ष प्रसिद्ध करते हैं। उन्होंने ऐसा लिखा है कि सोनगढ़ की यह बात सुननेवाले बहुभाग तो मोक्ष जाएँगे। बहुभाग लिखा है। उन्हें प्रेम है, रस है और अन्दर रस से सुनते हैं तो आगे रस बढ़ जाएगा तो सर्वज्ञपना पाकर (केवली होकर) मोक्ष पायेंगे। आहाहा!

निज तत्त्व की आशा से देखकर **विश्वमय होकर, पशु की भाँति स्वच्छन्दतया चेष्टा करता है–प्रवृत्त होता है...** आहाहा! मुझे पर से ज्ञान हुआ, मुझे पर से हुआ (ऐसा मानते हैं)। आहाहा! **और स्याद्वाद का देखनेवाला (धर्मी जीव) तो यह मानता है कि – 'जो तत् है, वह पररूप से तत् नहीं है...'** मुझमें जो ज्ञान होता है, वह पर से नहीं होता। आहाहा! शब्द को सुनने से भी ज्ञान होता है, ऐसा नहीं है। इस प्रकार धर्मी अतत् मानता है। आहाहा! अतत्—जो ज्ञेय मुझमें नहीं और ज्ञेय के कारण से मुझमें ज्ञान नहीं होता। आहाहा! है? **पररूप से तत् नहीं है...** मैं तत्रूप से हूँ, पररूप से नहीं।

(अर्थात् प्रत्येक तत्त्व को स्वरूप से तत्पना होने पर भी पररूप से अतत्पना है)... स्वरूप से है और पररूप से नहीं है। आहाहा! अरे रे! ऐसी बातें। **ऐसा मानता है...** आहाहा! **'विश्वात् भिन्नम् अविश्वविश्वघटितं' विश्व से भिन्न ऐसे...** सब चीज़ से भगवान तो भिन्न है। राग, दया, दान, व्रत के परिणाम से लगाकर भगवान त्रिलोकनाथ तीर्थंकर से भी मैं भिन्न हूँ। विश्व से भिन्न हूँ, ऐसा कहा न? विश्व में सब आ गया। आहाहा! **विश्व से (विश्व के निमित्त से) रचित होने पर भी विश्वरूप न होनेवाले ऐसे...** क्या कहते हैं? **(विश्व के निमित्त से) रचित होने पर भी विश्वरूप न होनेवाले ऐसे (अर्थात् समस्त ज्ञेय वस्तुओं के आकाररूप होने पर भी...)** ऐसा। ज्ञान में ज्ञेय के आकार ज्ञात होते हैं। आहाहा! विश्व के निमित्त से अर्थात् दूसरे चीज़ है। अपने में ज्ञान होता है, वह निमित्त से नहीं। अपने में ज्ञान अपने से होता है।

(विश्व के निमित्त से) रचित होने पर भी विश्वरूप न होनेवाले... पर को जानता है तथापि, पररूप नहीं होनेवाला। आहाहा! आत्मा भगवान पर को जानता है, तथापि पररूप नहीं होता। **समस्त ज्ञेय वस्तुओं के आकाररूप होने पर भी...** देखो! समस्त ज्ञेय—स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, पैसा, लक्ष्मी, देव, गुरु, शास्त्र... आहाहा! ये सब ज्ञेयरूप हैं। इन **समस्त ज्ञेय वस्तुओं के आकाररूप होने पर भी...** यह ज्ञेय को जाननेवाली पर्याय अपने में होने पर भी। आहाहा! **विश्वरूप न होनेवाले ऐसे (अर्थात् समस्त ज्ञेय वस्तुओं के आकाररूप होने पर भी समस्त ज्ञेय वस्तु से भिन्न ऐसा)...** जानने की चीज़ से मैं भिन्न हूँ, ऐसे **अपने निजतत्त्व का स्पर्श–अनुभव करता है।** आहाहा! पर को जानने पर भी मैं पररूप होकर जानता हूँ, ऐसा नहीं। मैं मुझमें मेरे कारण

से स्व-परप्रकाशक (शक्ति के) कारण से स्व को और पर को अपने कारण से अपने में जानता हूँ। आहाहा! अकेला मक्खन भरा है। 'कथा सुनी अरु फूटे कान' ऐसा आता है न? 'तो भी आया नहीं हरि का भान।' आहाहा! यह अन्यमति में आता है। 'कथा सुनी अरु फूटे कान तो भी नहीं आया ब्रह्मज्ञान।' (अन्य में आता है।) ब्रह्म अर्थात् आत्मा। 'कथा सुनी अरु फूटे कान तो भी नहीं आया ब्रह्मज्ञान।' कहीं पर में से कुछ आता है? आहाहा!

अपने निजतत्त्व का स्पर्श-अनुभव करता है। धर्मी पर को जानने पर भी मैं अपने ज्ञान से जानता हूँ, मैं पर के कारण से पर को जानता हूँ, ऐसा नहीं है; इस प्रकार अपने ज्ञान को स्पर्श करके अपने ज्ञान को अनुभव करता है। पर को कभी स्पर्श नहीं करता। आहाहा!

भावार्थ - एकान्तवादी यह मानता है कि... एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि, जिसे पहले पशु कहा था न? वह। कि **विश्व (समस्त वस्तुएें) ज्ञानरूप अर्थात् निजरूप है।** पूरी दुनिया मेरे ज्ञानरूप है। मेरे ज्ञान में सब ज्ञात होता है तो मैं वह ज्ञानरूप ही हूँ। **इस प्रकार निज को और विश्व को अभिन्न मानकर,...** निज अर्थात् अपने को और विश्व अर्थात् पर। विकल्प से लेकर देव-गुरु-शास्त्र। पूरे **विश्व को अभिन्न मानकर,...** आत्मा में उसे एकरूप मानता है। उससे मुझमें किंचित् लाभ हुआ है। आहाहा!

अपने को विश्वमय मानकर, एकान्तवादी, पशु की भाँति हेय-उपादेय के विवेक के बिना... पर का जानना होने पर भी परवस्तु हेय है और परसम्बन्धी का अपना ज्ञान अपने में हुआ है, वही उपादेय है। आहाहा! मधुभाई! ऐसा वहाँ कहाँ है? वहाँ धूल है। लाखों रुपये पैदा करते हैं। धूल में।

श्रोता : वास्तविक इकट्ठा करने का यहाँ है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह है, दुकान ही यह है। आहाहा!

वीतराग त्रिलोकनाथ कहते हैं कि **हेय-उपादेय के विवेक के बिना...** कौन सी चीज़ छोड़नेयोग्य है और कौन सी चीज़ आदनेयोग्य है, इसके विवेक बिना। **सर्वत्र स्वच्छन्दतया प्रवृत्ति करता है।** बस! मुझे पर से ही लाभ होता है। मुझे मेरे से भी लाभ होता और मुझे पर से भी लाभ होता है, ऐसी स्वच्छन्दपूर्वक प्रवृत्ति करता है। आहाहा! और

उस पर को लक्ष्य में रखकर अपनी जिन्दगी निकालता है, परन्तु अपना स्वरूप उससे भिन्न है और पर को जानना, वह भी मेरा स्वभाव है, पर के कारण से नहीं, ऐसा नहीं मानकर विश्व में अपनी जिन्दगी निकाल डालता है। आहाहा! ऐसी बात है।

मैंने तो कहा था, मेरे भागीदार बुआ के पुत्र (हमारे भाई थे) उन्हें भी (संवत्) १९६४ के वर्ष में कहा था। कितने वर्ष हुए? ७२ वर्ष। ७२ वर्ष पहले, १८ वर्ष की उम्र थी, तब भी कहा था। हम तो शास्त्र पढ़ते थे। पूर्व के संस्कार थे, भगवान के पास से आये हैं। आहाहा! शास्त्र पढ़ते थे। हमारी बुआ का पुत्र भागीदार था। ऐसा का ऐसा पूरे दिन लड़ते-लड़ते (रहे)। अरे! प्रभु! तू क्या करता है? तुझे कहाँ जाना है? पूरे दिन यह गाँव में साधु आवे तो सुनने का समय नहीं मिलता, दर्शन करने का समय नहीं मिलता। तब तो वह मानते थे न? उन्हें भी साधु मानते थे न! तब तो वस्त्रसहित को साधु मानते थे। उसमें थे न! आहाहा! उन्हें सुने नहीं और रात्रि में आठ बजे जाए। सवेरे आठ-नौ बजे साधु आये हों तो भी पूरे दिन सामने देखे नहीं। आहार-पानी देने में भी स्वयं न आवे। मैं दुकान छोड़कर सबको आहार-पानी (देता था)। वह सब तो मिथ्यात्व था, परन्तु उस समय तो उन्हें मानते थे न! आहाहा! पिताजी का वह धर्म था न! आहाहा!

यहाँ कहते हैं, **वही वस्तु पर के स्वरूप से अतत्स्वरूप है;... स्याद्वादी तो मानता है कि – जो वस्तु अपने स्वरूप से तत्स्वरूप है,...** आत्मा, **वही वस्तु पर के स्वरूप से अतत्स्वरूप है;...** पर से नहीं है। आहाहा! वाणी से ज्ञान होता ही नहीं। आहाहा! वाणी से आत्मा अतत् है। अपने ज्ञान से तत् है। आहाहा!

श्रोता : ज्ञान स्वयं से होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ ज्ञान ज्ञान से होता है। आहाहा! दुनिया गहल-पागल कहे कि यह क्या कहते हैं? प्रभु! सुन तो सही। वीतराग जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ की दिव्यध्वनि में यह आया है। त्रिलोकनाथ की दिव्यध्वनि में यह आया है। सीमन्धरस्वामी भगवान महाविदेह में विराजते हैं। आहाहा! उनकी यह वाणी है। कुन्दकुन्दाचार्यदेव वहाँ गये थे और वहाँ से लाये हैं। आहाहा!

कहते हैं, **परज्ञेयों के आकाररूप होने पर भी उनसे भिन्न है।** ऐसा ज्ञानी मानते

हैं। आहाहा! ज्ञानी, पर का जानना होने पर भी मैं पर से भिन्न हूँ, वह पर का जानपना होने पर भी वह पर के कारण से नहीं होता। पर का जानपना होना, वह भी मेरे स्वभाव से मुझसे मुझमें होता है। क्योंकि मेरा ज्ञान ही स्व-परप्रकाशक है। **इस प्रकार पररूप से अतत्पने का भंग कहा है।** दो भंग हुए। चौदह में से दो हुए। एकदम ले लेते हैं, क्योंकि पहले बहुत बार आ गया है। तीसरे भंग का कलश—२५०

कलश - २५०

(अब, तीसरे भंग का कलशरूप काव्य कहते हैं-)

(शार्दूलविक्रीडित)

बाह्यार्थग्रहणस्वभावभरतो विष्वग्विचित्रोल्लस-
ज्ज्ञेयाकारविशीर्णशक्तिरभितस्त्रुट्यन्पशुर्नश्यति ।
एक-द्रव्यतया सदाप्युदितया भेद-भ्रमं ध्वन्सय-
न्नेकं ज्ञान-मबाधितानुभवनं पश्यत्यनेकान्तवित् ।।२५०।।

श्लोकार्थ : [पशुः] पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, [बाह्य-अर्थ ग्रहण-स्वभाव-भरतः] बाह्य पदार्थों को ग्रहण करने के (ज्ञान के) स्वभाव की अतिशयता के कारण, [विष्वग्-विचित्र-उल्लसत्-ज्ञेयाकार-विशीर्ण-शक्तिः] चारों ओर (सर्वत्र) प्रगट होनेवाले अनेक प्रकार के ज्ञेयाकारों से जिसकी शक्ति विशीर्ण (-छिन्न-भिन्न) हो गई है, ऐसा होकर (अर्थात् अनेक ज्ञेयों के आकारों ज्ञान में ज्ञात होने पर ज्ञान की शक्ति को छिन्न-भिन्न-खण्डखण्डरूप-हो गई मानकर) [अभितः त्रुट्यन्] सम्पूर्णतया खण्ड-खण्डरूप होता हुआ (अर्थात् खण्डखण्डरूप-अनेकरूप-होता हुआ) [नश्यति] नष्ट हो जाता है; [अनेकान्तवित्] और अनेकान्त का जानकार तो, [सदा अपि उदितया एक द्रव्यतया] सदा उदित (-प्रकाशमान) एक द्रव्यत्व के कारण [भेदभ्रमं ध्वंसयन्] भेद के भ्रम को नष्ट करता हुआ (अर्थात् ज्ञेयों के भेद से ज्ञान में सर्वथा भेद पड़ जाता है, ऐसे

भ्रम को नाश करता हुआ), [एकम् अबाधित-अनुभवनं ज्ञानम्] जो एक है (सर्वथा अनेक नहीं है) और जिसका अनुभवन निर्बाध है, ऐसे ज्ञान को [पश्यति] देखता है- अनुभव करता है।

भावार्थ : ज्ञान है, वह ज्ञेयों के आकाररूप परिणमित होने से अनेक दिखायी देता है, इसलिए सर्वथा एकान्तवादी उस ज्ञान को सर्वथा अनेक-खण्डखण्डरूप-देखता हुआ ज्ञानमय ऐसा निज का नाश करता है; और स्याद्वादी तो ज्ञान को, ज्ञेयाकार होने पर भी, सदा उदयमान द्रव्यत्व के द्वारा एक देखता है।

इस प्रकार एकत्व का भंग कहा है।२५०।

कलश - २५० पर प्रवचन

बाह्यार्थग्रहणस्वभावभरतो विष्वग्विचित्रोल्लस-
ज्ज्ञेयाकारविशीर्णशक्तिरभितस्त्रुट्यन्पशुर्नश्यति ।
एक-द्रव्यतया सदाप्युदितया भेद-भ्रमं ध्वन्सय-
न्नेकं ज्ञान-मबाधितानुभवनं पश्यत्यनेकान्तवित् ।।२५०।।

यह एक का अधिकार है। पहले तत्-अतत् का था। पहला श्लोक तत् का था। मैं तत् हूँ, पर से नहीं। दूसरा अतत् हूँ। पर से मैं नहीं। अब इसमें कहते हैं, मैं तो एकरूप हूँ। आहाहा! वस्तुरूप से एकरूप हूँ। भले... आहाहा! फिर पर्यायरूप से अनेकरूप हूँ, ऐसा ज्ञान भी करता तो है। पर्याय से अनेकरूप हूँ, गुण से अनेकरूप हूँ परन्तु गुणपर्याय के पिण्ड से मैं एकरूप हूँ। पहले एक मानता है। नियमसार में तो यहाँ तक कहा है कि जो कोई प्राणी अपने द्रव्य, गुण और पर्याय तीन को विचारता है, वह विकल्प और राग है तथा पराधीन है। अर र! ऐसी बात। यह बात यहाँ ऐसा कहते हैं, पर्याय अपनी है, ऐसा कहते हैं। ज्ञान कराते हैं। वहाँ तो दृष्टि का विषय बताना है तो (ऐसा कहा कि) द्रव्य—आत्मा, गुण—ज्ञान और पर्याय तीन का विचार करने से तो राग उत्पन्न होता है। उसे छोड़कर एकरूप चिदानन्द प्रभु त्रिकाली भगवान एकरूप हूँ, ऐसी अन्तर्दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन होता है। यह बात करते हैं।

पशु... आहाहा! **अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी,... 'बाह्य-अर्थ ग्रहण-स्वभाव-भरत:' बाह्य पदार्थों को ग्रहण करने के (ज्ञान के) स्वभाव की अतिशयता के कारण,...** यह तो स्वभाव की विशेषता है। अपने ज्ञानस्वभाव की खास विशेषता है कि पर को जानने पर भी अनेकरूप हो जाता है, ऐसा है नहीं। पर को जानने पर भी अपना एकपना छूट जाता है, ऐसा है नहीं। आहाहा!

'विष्वग्-विचित्र-उल्लसत्-ज्ञेयाकार-विशीर्ण-शक्ति:' चारों ओर (सर्वत्र) प्रगट होनेवाले अनेक प्रकार के ज्ञेयाकारों से... आहाहा! त्रिलोकनाथ तीर्थंकर भगवान भी ज्ञेय हैं, वे अपना आत्मा नहीं। आहाहा! **ज्ञेयाकारों से जिसकी शक्ति विशीर्ण हो गयी है...** अपने ज्ञान में परवस्तु ज्ञात होती है, तो अज्ञानी ऐसा मानता है कि पर के कारण से मेरा ज्ञान अनेकरूप हो गया, पर के कारण से मेरा ज्ञान अनेकरूप हो गया। **(अर्थात् अनेक ज्ञेयों के आकारों ज्ञान में ज्ञात होने पर ज्ञान की शक्ति को छिन्नभिन्न-खण्ड-खण्डरूप-हो गयी मानकर)...** अरे! मैं पर को बहुत जानता हूँ तो मेरा ज्ञान खण्ड-खण्ड हो जाता है, ऐसा अज्ञानी मानता है।

'अभित: त्रुट्यन्' सम्पूर्णतया खण्ड-खण्डरूप होता हुआ (अर्थात् खण्ड-खण्डरूप-अनेकरूप-होता हुआ) नाश हो जाता है;... आहाहा! एकरूप वस्तु है, उसमें अनेकपने का ख्याल आता है तो मेरे एकपने का नाश हो जाता है, ऐसा अज्ञानी मानता है। इसकी भी कहाँ खबर है। आहाहा! आत्मा ज्ञानस्वभावी अनन्तरूप एकरूप, गुण-पर्याय से अभेद एकरूप है। पर को जानने पर भी अनेकरूप नहीं हो जाता।

यह कहते हैं, **चारों ओर (सर्वत्र) प्रगट होनेवाले अनेक प्रकार के ज्ञेयाकारों से जिसकी शक्ति विशीर्ण (छिन्न-भिन्न) हो गयी है, ऐसा होकर (अर्थात् अनेक ज्ञेयों के आकारों ज्ञान में ज्ञात होने पर ज्ञान की शक्ति को छिन्न-भिन्न-खण्डखण्डरूप-हो गयी मानकर) सम्पूर्णतया खण्ड-खण्डरूप होता हुआ...** आहाहा! मेरी वस्तु खण्ड-खण्डरूप हो गयी। पर को जानने से **(अनेकरूप होता हुआ) नष्ट हो जाता है;...** अपनी चीज का नाश कर डालता है। आहाहा! ऐसी बात कान में पड़ना मुश्किल। आहाहा! **नष्ट हो जाता है;...** ऐसा अज्ञानी मानता है।

'अनेकान्तवित्' और अनेकान्त का जानकार... धर्मी जीव। आहाहा! **'सदा अपि उदितया एक द्रव्यतया' सदा उदित (प्रकाशमान) एक द्रव्यत्व के कारण...** मैं पर को और स्व को जानता हूँ, तथापि मैं तो एकरूप ही हूँ। एकरूपपना छोड़कर अनेकरूप हो गया, ऐसा नहीं है। आहाहा! **अनेकान्त को जानकर...**धर्मी जीव। अनेकान्त अर्थात् अनेक अन्त अर्थात् धर्म। आहाहा! एकरूप से भी हूँ और अनेकरूप से भी हूँ परन्तु एकपना अपने कारण से है, किसी पर के कारण से एकपना है, ऐसा नहीं है। एकपना रखने के लिये अनेक ज्ञेयाकार जो अपने में होते हैं, उनका नाश करता है। क्या कहा? अपने में एकपना मानने के लिये अज्ञानी को ज्ञान में जो अनेक ज्ञेय ज्ञात होते हैं तो ऐसा (मानता है) कि अरे रे! मैं तो खण्ड-खण्ड अनेक हो गया, ऐसा मानकर पर को जानने के अपने ज्ञान को छोड़ देता है और मैं एकरूप हूँ, ऐसा अज्ञानी मानता हुआ अपने स्वरूप का नाश करता है। आहाहा! किस प्रकार की व्याख्या? दूसरी सब बातें बहुत बार सुनी, यह बात (सुनी नहीं)। आहाहा!

यह एक का भंग है, वह ऐसा मानता है कि पर को जानने से मैं अनेक हो गया, परन्तु पर को जानना और स्व को जानना, वह तो अपनी एकरूप शक्ति में है, एकरूप रहकर जानता है। पर को जानता है, इसलिए अनेक हो जाता है—ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी सब बातें। **नष्ट हो जाता है;... (खण्डखण्डरूप-अनेकरूप-होता हुआ) नष्ट हो जाता है; अनेकान्त का जानकार...** धर्मी जीव। आहाहा! अनेक अन्त का जाननेवाला धर्मी। **'सदा अपि उदितया एक द्रव्यतया' सदा उदित (-प्रकाशमान) एक द्रव्यत्व के कारण...** मेरा द्रव्य तो एकरूप है। मैं भले अनेक को जानता हूँ, परन्तु वह तो मेरी पर्याय में मेरी जानने की ताकत है। मैं तो एकरूप ही हूँ। आहाहा! इस प्रकार धर्मी जीव अपने को एकरूप जानकर अपने को जीवन्त रखता है और अज्ञानी अपने में एकरूपपना रखने के लिये, ज्ञेय का आकार होना, वह मेरा स्वभाव है, ऐसा नहीं मानकर ज्ञेय के आकारों को छोड़कर तुच्छ होता है। आहाहा! कैसी भाषा? वे तो व्रत पालो, भक्ति करो, शास्त्र बनाओ, मन्दिर बनाओ, भक्ति करो, व्रत करो, तप करो, अपवास करो, दशलक्षणी में दस-दस अपवास करो। प्रभु! यह होता है परन्तु यह सब शुभभाव है, पुण्यभाव है; धर्म नहीं। आहाहा!

यहाँ तो यह कहते हैं, अनेकान्तवादी जीव, आहाहा! **एक द्रव्यत्व के कारण भेद के भ्रम को नष्ट करता हुआ...** पर को जानने से भले भेद होता है, परन्तु मैं तो एकरूप ज्ञानरूप हूँ। **(अर्थात् ज्ञेयों के भेद से ज्ञान में सर्वथा भेद पड़ जाता है, ऐसे भ्रम को नाश करता हुआ), जो एक है (–सर्वथा अनेक नहीं है)...** स्वरूप से एक हूँ। **और जिसका अनुभवन निर्बाध है, ऐसे ज्ञान को देखता है–अनुभव करता है।** यह तीसरा भंग हुआ।

भावार्थ – ज्ञान है, वह ज्ञेयों के आकाररूप परिणमित होने से अनेक दिखाई देता है, इसलिए सर्वथा एकान्तवादी उस ज्ञान को सर्वथा अनेक–खण्डखण्डरूप–देखता हुआ ज्ञानमय ऐसा निज का नाश करता है; और स्याद्वादी (धर्मी) तो ज्ञान को, ज्ञेयाकार होने पर भी, सदा उदयमान द्रव्यत्व के द्वारा एक देखता है। अनेक पर को जानने पर भी मैं तो एकरूप हूँ। विशेष आयेगा...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश - २५१

(अब, चौथे भंग का कलशरूप काव्य कहा जाता है-)

(शार्दूलविक्रीडित)

ज्ञेयाकार-कलङ्क-मेचक-मिति प्रक्षालनं कल्पय-
न्नेकाकार-चिकीर्षया स्फुट-मपि ज्ञानं पशुर्नेच्छति।
वैचित्र्येऽप्यविचित्रतामुपगतं ज्ञानं स्वतःक्षालितं,
पर्यायैस्तदनेकतां परिमृशन् पश्यत्यनेकान्तवित्।।२५१।।

भावार्थ : [पशुः] पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, [ज्ञेयाकार-कलंक-मेचक-चिति प्रक्षालनं कल्पयन्] ज्ञेयाकार-रूपी कलंक से (अनेकाकाररूप) मलिन ऐसा चेतन में प्रक्षालन की कल्पना करता हुआ (अर्थात् चेतन की अनेकाकाररूप मलिनता को धो डालने की कल्पना करता हुआ), [एकाकार-चिकीर्षया स्फुटम् अपिज्ञानं न इच्छति] एकाकार करने की इच्छा से ज्ञान को-यद्यपि वह ज्ञान अनेकाकाररूप से प्रगट है तथापि-नहीं चाहता (अर्थात् ज्ञान को सर्वथा एकाकार मानकर ज्ञान का अभाव करता है); [अनेकान्तवित्] और अनेकान्त का जाननेवाला तो, [पर्यायैः तद्-अनेकतां परिमृशन्] पर्यायों से ज्ञान की अनेकता को जानता (अनुभवता) हुआ, [वैचित्र्ये अपि अविचित्रताम् उपगतं ज्ञानम्] विचित्र होने पर भी अविचित्रता को प्राप्त (अर्थात् अनेकरूप होने पर भी एकरूप) ऐसे ज्ञान के [स्वतः क्षालितं] स्वतः क्षालित (स्वयमेव धोया हुआ शुद्ध) [पश्यति] अनुभव करता है।

भावार्थ : एकान्तवादी ज्ञेयाकाररूप (अनेकाकाररूप) ज्ञान को मलिन जानकर, उसे धोकर-उसमें से ज्ञेयाकारों को दूर करके, ज्ञान को ज्ञेयाकारों से रहित एक आकाररूप करने को चाहता हुआ, ज्ञान का नाश करता है; और अनेकान्ती तो सत्यार्थ वस्तुस्वभाव को जानता है, इसलिए ज्ञान का स्वरूप से ही अनेकाकारपना मानता है।

इस प्रकार अनेकत्व का भंग कहा है।२५१।

प्रवचन नं. ४७२, श्लोक-२५१-२५२ बुधवार, भाद्र शुक्ल १५
दिनांक - २४-०९-१९८०

समयसार, २५१ कलश है, २५१। वस्तु जरा सूक्ष्म पड़े परन्तु प्रभु! मार्ग तो यह है। इसके बिना बाहर की सब चमक से प्रभावित होकर धर्म है, ऐसा माने तो सत्य (हाथ) नहीं आयेगा, बापू! वीतराग का रहस्य, पूरे जैनदर्शन का रहस्य इन चौदह बोल में भर दिया है। आहाहा! समझने में जरा सूक्ष्म बात लगे, प्रभु! परन्तु दूसरा उपाय नहीं है। उपाय ही यह एक है। आहाहा! इसके अतिरिक्त लाख बात (आवे)... छहढाला में आता है न? 'लाख बात की बात...' आहाहा! 'लाख बात की बात यही निश्चय उर लाओ।' छहढाला में आता है। लाख क्या, करोड़ क्या, अनन्त बात की बात 'निश्चय उर लाओ, छोड़ी जगत द्वंद्व फंद निज आतम ध्याओ।' आहाहा! प्रभु! मार्ग तो यह है। बहुत ख्याल में आता है कि सूक्ष्म पड़ता है परन्तु यह लोगों को ख्याल ही नहीं है। अनादि काल से इसने ख्याल नहीं किया। बाहर ही बाहर की बातें। एक तो संसार की प्रवृत्ति से निवृत्त नहीं होता और धर्म के नाम से आवे तो धर्म की प्रवृत्ति में शुभभाव की वृत्ति में रुक जाता है। अरे रे! कब इसे यह तत्त्व मिले और जन्म-मरण से रहित हो? सिर पर जन्म-मरण का... आहाहा! बड़ा डंका बजता है। आहाहा! उससे छूटना हो तो प्रभु! यह बात है।

अपने यह चौथा भंग है। तत्-अतत् और एक के तीन भंग हो गये। अब यह अनेक का भंग है। २५१

ज्ञेयाकार-कलङ्क-मेचक-मिति प्रक्षालनं कल्पय-
न्नेकाकार-चिकीर्षया स्फुट-मपि ज्ञानं पशुर्नेच्छति।
वैचित्र्येऽप्यविचित्रतामुपगतं ज्ञानं स्वतःक्षालितं,
पर्यायैस्तदनेकतां परिमृशन् पश्यत्यनेकान्तवित्।।२५१।।

आहाहा! सन्तों ने जंगल में रहकर दुनिया को करुणा करके... अरे! दुनिया कहाँ भटकती है और कहाँ से कहाँ भवभ्रमण करती है, इसे कैसे भवभ्रमण टले, इस अपेक्षा से सन्तों ने जगत में सत् को प्रसिद्ध किया है। आहाहा! २५१ है न? भाई! नीचे।

(अब, चौथे भंग का कलशरूप काव्य कहा जाता है–) है ? ऊपर शीर्षक। **चौथे भंग का कलशरूप...** चौथा भंग अर्थात् ? आत्मा अनेक स्वरूप है। आहाहा ! उसे एकान्त से एक ही स्वरूप माने तो वह मिथ्याभ्रान्ति अज्ञान है। आहाहा ! एक स्वरूप है, यह बात आ गयी। वस्तुरूप से एक स्वरूप है परन्तु पर्यायरूप से अनेक स्वरूप है। गुण और पर्याय उसमें अनेक है। आहाहा ! उन अनेक गुण और पर्याय को न माने, वह भी मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी है। चाहे तो शास्त्र पढ़ा हो ग्यारह अंग या चाहे तो दिगम्बर मुनि होकर अट्ठाईस मूलगुण पालता हो, तथापि वह मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी है। आहाहा ! ऐसी कठिन बातें।

यहाँ तो आचार्य (कहते हैं) जो यह आत्मा अनन्त गुण–पर्याय से एकरूप है, वही गुण और पर्याय से अनेकरूप भी है। जो यह आत्मा अन्तर में अपनी शक्ति और अवस्था से एकरूप भी है और उसमें एक में अनेक गुण और अनन्त पर्याय है तो अनेकरूप भी है। अनेकरूप न माने तो वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा ! एकान्त से एकरूप ही माने, एक स्वरूप ही मैं हूँ, ऐसा माने और उसमें गुणभेद और पर्यायें, अनन्त पर्यायें एक समय में प्रगट हैं, एक समय में अनन्त गुण की अनन्त पर्यायें प्रगट हैं और अनन्त गुण ध्रुवरूप से हैं, उसे एक ही रूप मानना, वह एकान्त है। वह एक भी है और अनेक भी है। आहाहा ! ऐसी बात। कुछ करने का हो तो सूझ तो पड़े। परन्तु प्रभु ! यह करने का नहीं अन्दर ? आहाहा ! अरे ! जिन्दगी चली जा रही है। बाहर की ममता और बाहर में (चला जाता है)। फिर मनुष्यपने का ऐसा अवतार कब मिले ? उसमें वीतराग तीन लोक के नाथ के अन्तर का रहस्य जो वस्तु, उस वस्तु का रहस्य अनन्त काल में समझ में कब आवे ?

यहाँ यह कहा, **पशु...** पशुरूप से ही बुलाते हैं। यह किसका भंग है ? कि आत्मा एकरूप भी है और अनेकरूप भी है। एकरूप है, यह भंग आ गया। अब आत्मा अनेकरूप भी है। अनन्त गुण है, अनन्त गुण की अनन्त पर्यायें हैं। रात्रि में बहुत बात हुई थी। सेठ ! पकड़ सके नहीं इतनी बातें थीं, बापू ! आहाहा ! अरे ! ऐसा मार्ग, दिगम्बर में गृहस्थ स्पष्ट कर गये हैं। आहाहा ! उसे यह समझने के लिये दरकार भी न हो। आहाहा !

कहते हैं, **पशु अर्थात् एकान्तवादी अज्ञानी,...** मिथ्यादृष्टि अज्ञानी। अज्ञानी

क्यों कहा? **'ज्ञेयाकार-कलंक-मेचक-चिति प्रक्षालनं कल्पयन्' ज्ञेयाकार-रूपी कलंक से...** मेरे ज्ञान की पर्याय में अनेकपना ज्ञात होता है, तो वह अनेकपने की पर्याय कलंक है, ऐसा अज्ञानी मानता है। आहाहा! ऐसी सादी बात लगे परन्तु गम्भीर है। आहाहा! इसने अनन्त काल में कभी दरकार नहीं की।

यह कहते हैं **एकान्तवादी...** एक ही रूप एक ही हूँ और अन्दर गुण तथा पर्याय अनन्त हैं, वह अनन्त पर्याय, प्रत्येक द्रव्य की अनन्त पर्यायें प्रगट हैं और अनन्त गुण, वे अप्रगट हैं। गुण ध्रुव है, पर्याय अध्रुव है। परन्तु गुण और पर्याय अनेक हैं, वह भी उसका स्वभाव है। आहाहा! गुण और पर्याय से एकरूप है, यह भी इसका एक स्वभाव है। तथा अनन्त गुण और अनन्त पर्यायें एक द्रव्य में प्रगट है, वह भी प्रत्यक्ष है। उसे जो नहीं मानता, वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! अरे! ऐसे शास्त्र के भाव अन्दर में समझे बिना शास्त्र के अर्थ करना भी नहीं आता, बापू! आहाहा! क्या हो?

प्रभु! 'अनन्त काल से भटक रहा बिना भान भगवान, सेये नहीं गुरु-सन्त को...' गुरु को-सन्त को माना नहीं। अपने अभिमान में—हम जानते हैं, हम जानते हैं, हमें आता है, आहाहा! ऐसी अपनी जानकारी और समझ के अभिमान में... आहाहा! सत् का प्रसंग मिला, तब भी सत् की बात का आदर नहीं किया। आहाहा!

एकान्तवादी अज्ञानी, ज्ञेयाकार-रूपी कलंक से... क्या कहते हैं? कि इस ज्ञान में जो ज्ञेय ज्ञात होते हैं, वह कलंक है, ऐसा अज्ञानी मानता है। आहाहा! **ज्ञेयाकार-रूपी कलंक से (अनेकाकाररूप) मलिन ऐसा चेतन में प्रक्षालन...** अर्थात् धोने की **कल्पना करता हुआ (अर्थात् चेतन की अनेकाकाररूप मलिनता को धो डालने की कल्पना करता हुआ),...** आहाहा! क्या कहते हैं? यह भगवान आत्मा वस्तुरूप से एक है। दूसरे द्रव्य के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। परन्तु स्वयं एक होने पर भी उसमें गुण और पर्याय (अनन्त है), अनन्त गुण है और अनन्त गुणों की प्रगट पर्याय, प्रत्येक द्रव्य की प्रगट पर्याय अनन्त प्रगट है। आहाहा! उस पर्याय को कलंक मानता है। यह आया?

ज्ञेयाकार-रूपी कलंक से (अनेकाकाररूप) मलिन ऐसा चेतन में प्रक्षालन की **कल्पना करता हुआ (अर्थात् चेतन की अनेकाकाररूप मलिनता को धो डालने**

की कल्पना करता हुआ), एकाकार करने की इच्छा से ज्ञान को... आहाहा! अरे! मेरे ज्ञान में यह अनेक ज्ञात होते हैं, तो मैं अनेक हो गया, इसलिए एक नहीं रहूँ। यह अनेक आकार जो ज्ञान में ज्ञात होते हैं, उन्हें मैं धो डालूँ, छोड़ दूँ। आहाहा! ऐसा मानकर एकपने के तत्त्व को मानता है और उसकी अनन्त पर्याय को, अनन्त गुण को नहीं मानता, वह भी एकान्त मिथ्यादृष्टि जैन नहीं है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु! मुनि ऐसी बात कह गये। अरे! इस बात को ख्याल में भी न लेकर, यह सूक्ष्म बात है, सूक्ष्म बात है, सूक्ष्म है—ऐसा करके निकाल डालता है। प्रभु! आहाहा!

यह आत्मा वस्तुरूप से एक है परन्तु गुण और पर्याय अनन्त है। आहाहा! रात्रि में तो बहुत बात आयी थी। थोड़ी विशेष बात कल आयेगी न? राजकोटवाले कल आयेंगे। राजकोट से ३०० लोग आनेवाले हैं। दूसरे आयेंगे, ऐसा करके कल बहुत लोग आयेंगे। अब कैसे रहे क्या हो? आहाहा! अभी शरीर की स्थिति बिगड़ गयी थी। अन्दर में वायु और चक्कर और एकदम... वायु आवे, वायु। वह तो देह का धर्म है। देह का स्वभाव है परन्तु देह के स्वभाव से प्रभु तो भिन्न है। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं, अज्ञानी अपने ज्ञानस्वरूप में अनेक चीज़ें ज्ञात होती है तो वे अनेक (चीज़ें) जानने में आयी तो मेरी पर्याय अनेकरूप हो गयी। वह अनेकरूप हुई, वह कलंक है, ऐसा अज्ञानी मानता है। आहाहा! अनेकरूप, अनन्त रूप पर्याय (होती है)। अरे! भाई! आहाहा! रात्रि में निकाला था, नहीं? एक-एक गुण की एक-एक पर्याय में इतने भेद कहे हैं, आहाहा! दीपचन्दजी गृहस्थाश्रमी। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि एक आत्मा में अनन्त गुण और अनन्त पर्याय को जानते हुए उसे ऐसा लगता है कि अरे रे! ऐसी अनन्त पर्याय! यह तो कलंक है, इसे धो डालूँ, पर्याय को धो डालूँ। आहाहा! उसे **(धो डालने की कल्पना करता हुआ), [एकाकार-चिकीर्षया स्फुटम् अपिज्ञानं न इच्छति] एकाकार करने की इच्छा से ज्ञान को...** मैं एकरूप रहूँ तो वह धर्म, तो वह आत्मा। अनेकरूप पर्याय हो तो वह आत्मा नहीं, ऐसा अज्ञानी मानता है। आहाहा! यह बात कहीं चतुराई की बातें नहीं हैं, बापू! आहाहा! यह अन्तर की बातें हैं।

एकरूप भी है। पहले तो कह गये। ज्ञान—आत्मा तत्‌रूप है और भगवान आदि ज्ञेय हैं, उनरूप आत्मा नहीं है। यह तो ज्ञानगुण और ज्ञेय दो की बात हुई। समझ में आया? आहाहा! फिर आत्मा अनन्त गुण का रूप एकरूप है, वह भी उसका स्वभाव है। यह तीसरे भंग में आया। चौथे भंग में (ऐसा आया कि) वह एकरूप होने पर भी वह अनेकरूप है। अज्ञानी को जँचता नहीं। जो एकरूप हो, वह अनेकरूप? तत् हो, वह अतत्‌रूप? स्वयं अपने से है, वह पर से नहीं? पर से नहीं, मैं तीन काल में पर से नहीं। इसी तरह यह एक है, तथापि अनेक है। पर्याय में अनेकपना, अनन्तपना है। आहाहा! अनन्त गुण की एक समय में अनन्त पर्याय है। उसकी एक-एक पर्याय में अनन्त-अनन्त समृद्धि / ऋद्धि भरी है। आहाहा! समझ में आया?

यह कहते हैं कि इस (अनेकपने की) मलिनता को धो डालने की इच्छा से **यद्यपि वह ज्ञान अनेकाकाररूप से प्रगट है...** क्या कहा? आत्मा ज्ञानस्वरूप है, वह अनेक पर्याय में अनन्त को जाने, ऐसी अनेकाकाररूप तो है ही, उसका स्वभाव ही ऐसा है। आहाहा! अरे रे! ऐसी रत्न जैसी चीज पड़ी है और वाँचन करने का भी समय न मिले और धूल के हीरे और माणिक रत्न के (पीछे दौड़े)। ऐई! आहाहा!

प्रभु! कहते हैं, अज्ञानी ज्ञान में मैं एकरूप हूँ, ऐसा सिद्ध करने के लिये पर्याय में अनन्त ज्ञात होता है, अनन्त-अनन्त ज्ञात होता है, (उसे धो डालने की कल्पना करता है)। बहुत वर्ष पहले एक बार तो ऐसा भी कहा था और अभी भी कहा था, एक समय की ज्ञान की पर्याय है... शान्ति से सुनो! एक समय की ज्ञान की एक पर्याय है, वह पर्याय अपने द्रव्य-गुण को भी जाने, त्रिकाली द्रव्य-गुण को जाने, अनन्त पर्याय प्रगट हुई, उसकी अनन्त पर्याय को भी एक पर्याय जाने, वह एक पर्याय तीन काल और तीन लोक को भी जाने। ऐसी एक समय की पर्याय की इतनी ताकत है, प्रभु! आहाहा! बहुत वर्ष पहले भी कहा था परन्तु लोगों को सूक्ष्म बहुत पड़ता है। क्रमबद्ध सूक्ष्म पड़ता है। पहले बाहर में प्रसिद्ध करना था (कारणशुद्धपर्याय का) परन्तु फिर नक्शा रह गया अन्दर। बड़े पण्डितों को बतलाया तो बड़े पण्डितों को जँचे नहीं। आहाहा!

स्वद्रव्य परद्रव्य को छूता नहीं। यह कौन माने? पूरे दिन इस शरीर को ऐसा करे

और स्पर्शे नहीं छुए नहीं ? आहाहा ! प्रत्येक द्रव्य में पर्याय क्रमबद्ध होती है, वह पर्याय तीन काल में बदलती नहीं। जिस समय जो पर्याय होनी है (वह होनी है)। यहाँ तो कहते हैं, अनेक पर्यायें होती हैं। एक समय में आत्मा में अनन्त गुण हैं तो अनन्तपने में भी अनेकपना आया और अनन्त पर्यायें हुईं, उसमें भी अनेकपना आया। वह अनेकपना अज्ञानी को खटकता है। यह अनेक क्या आया ? मैं एकरूप रहूँ, उसमें यह अनेक ज्ञात हो। परन्तु यह ज्ञानाकार जानने का स्वभाव है। अनेक, अनन्त को जानने का ज्ञेय को वह ज्ञानपर्याय का स्वभाव है। यह कहा, देखा ?

अनेकाकाररूप से प्रगट है... अनेकाकाररूप प्रगट है। आहाहा! अब ऐसी बातें। दोपहर में जरा विचार ऐसा आ गया था, भाई ! दोपहर में बहिन के वचन पढ़ना। फिर और (ऐसा हुआ कि) यह कब सुनेंगे ? सुने तो सही। दोपहर में यह विचार आया था कि बहिन के वचन पढ़ें तो लोगों को ठीक पड़े। सवेरे सब मेहमान आनेवाले हैं न ? सवेरे तो बहुत लोग आनेवाले हैं। ५००-७०० लोग आयेंगे।

मुमुक्षु : ८०० आनेवाले हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : ८०० आनेवाले हैं, लो ! आहाहा ! बहिन के जन्म (जयन्ती) के अवसर पर २३५० लोग ! यह भाद्र कृष्ण दूज (गुजराती श्रावण कृष्ण दूज)। लोग आते हैं परन्तु यह बात ऐसी सूक्ष्म, इसलिए कदाचित् सुनते हुए सुने तो सही, वापस बाहर निकले वहाँ इस कान से सुनकर इस कान से निकाल डाले। सूक्ष्म बहुत... सूक्ष्म बहुत... परन्तु बापू ! तेरा कल्याण करना हो तो बापू ! यह वस्तु है। आत्मा अरूपी है या सूक्ष्म है या स्थूल है ? वह तो अरूपी है और अरूपी में भी उसके गुण अरूपी और उसकी पर्याय भी अरूपी। आहाहा ! वह पर्याय अनन्त एक-एक द्रव्य में है।

एक-एक आत्मा में अनादि-अनन्त एक समय में अनन्त पर्यायें प्रगट हैं। उसे एकरूप मानने जाता है। वह एकाकाररूप प्रगट है, अनेकाकाररूप प्रगट है तो भी एकरूप मानने जाता है, वह मिथ्यादृष्टि है। **तथापि-नहीं चाहता...** क्या कहते हैं ? ज्ञान तो अनेकाकाररूप है, अपनी पर्याय में अनेक जाने, ऐसा स्वभाव है। आहाहा ! ऐसा सुना भी न हो, इसने दरकार भी नहीं की। अवतार ऐसे चला जाता है और फिर चौरासी के अवतार में, आहाहा ! कहाँ जाये और कहाँ भटके ? आहाहा !

यहाँ कहते हैं, भगवान आत्मा का ज्ञान अनेकाकाररूप प्रगट है। उस ज्ञान में अनन्त जानता है, वह प्रगट है। वह कहीं गुप्त नहीं है। आहाहा! है? **तथापि–नहीं चाहता...** तथापि अज्ञानी, मैं अनेकरूप हूँ, ऐसा कभी नहीं चाहता। मैं तो एक हूँ, एक हूँ, एक हूँ। उसे खबर भी कहाँ है कि मैं एक हूँ। मैं किस प्रकार से एक ओर किस प्रकार से अनेक (हूँ, इसकी खबर नहीं)। आहाहा! **(ज्ञान को सर्वथा एकाकार मानकर ज्ञान का अभाव करता है);...** अज्ञानी अनादि से (ऐसा मानता है)।

'अनेकान्तवित्' अब अनेकान्त के जाननेवाले धर्मी समकिती, जिसे जैनधर्म ज्ञात हुआ है, ऐसे (धर्मी)। जैनधर्म अनन्त त्रिलोकनाथ अनन्त तीर्थंकरों का मार्ग जिसे जानने में आया है, वह अनेकान्त के जाननेवाला है। मैं एकरूप भी हूँ और अनन्तरूप भी हूँ। आहाहा! है? **'पर्यायैः तद्–अनेकतां परिमृशन्' पर्यायों से ज्ञान की अनेकता को जानता...** आहाहा! अब ऐसी बात। द्रव्यस्वरूप से एक परन्तु पर्यायस्वरूप से अनन्त। है? **पर्यायों से ज्ञान की अनेकता को जानता...** धर्मी। आहाहा! मेरी पर्याय में अनन्तपना कायम है। किसी समय भी पर्याय का अनन्तपना नहीं, ऐसा नहीं। रसिकभाई! ऐसी बात है। वहाँ कलकत्ता में कहीं नहीं मिलती। धर्मी जीव वह अनेकाकाररूप प्रगट है, उसे जानता है। पर्यायों से ज्ञान अर्थात् आत्मा, उसकी अनेकता को जानता हुआ, अनेकता को अनुभवता हुआ। क्योंकि अनुभव है, वह पर्याय है। आहाहा!

यहाँ तक कहा था न? कठिन पड़े। अलिंगग्रहण के २० बोल हैं न? प्रवचनसार। उसमें बीसवें बोल में ऐसा है कि यह प्रत्येक.... आत्मा है ऐसी नित्य वस्तु है। वह नित्य वस्तु को स्पर्शता नहीं और अपनी पर्याय के वेदन को स्पर्शता है तो वह पर्यायमात्र ही आत्मा है। ऐसा वहाँ कहा है। आहाहा! फिर से, प्रवचनसार १७२ गाथा के बीस बोल। एक 'अलिंगग्रहण'—छह अक्षर में से बीस बोल निकाले हैं। व्याख्यान हो गये हैं, सब प्रकाशित होंगे। मुम्बई से। समझ में आया? क्या कहा? कि एक समय में जो पर्याय है, वह अनन्त है। एक-एक समय में प्रत्येक पर्याय प्रत्येक द्रव्य में अनन्त है। आहाहा! क्या कहा?

वहाँ बीसवें बोल में ऐसा कहा कि द्रव्य तो भले एकरूप त्रिकाल वस्तु है, परन्तु मेरे वेदन में पर्याय आयी, वह मैं हूँ। क्योंकि वेदन में पर्याय आती है। वेदन में ध्रुव द्रव्य

नहीं आता। जो पर्याय को नहीं माने तो उसे आत्मा का वेदन ही नहीं है। आहाहा! आत्मा का वेदन तो नहीं परन्तु आत्मा नहीं। आहाहा! ऐसा तो जयन्तीभाई कब सुना है? लोगों को प्रसन्न करने में रुक जाए। आहाहा! तीनों भाई हैं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, प्रभु! आत्मा ज्ञानस्वरूप होने पर भी अनन्त पदार्थ को ज्ञान जानता है, ऐसा पर्याय का स्वभाव है। वह पर्याय अनन्त को जानती है तो अज्ञानी मानता है कि यह अनन्त को जानती है, तो यह मेरे कलंक है। मैं एकरूप रहना चाहता हूँ और यह अनन्त कहाँ ज्ञात हुआ? कलंक है। यहाँ तो कहते हैं कि वह तो ज्ञान अनेकाकाररूप प्रगट है, वह उसका स्वरूप है। एक इस आत्मा का ज्ञान नहीं परन्तु प्रत्येक द्रव्य में, प्रत्येक पदार्थ की अनन्त पर्याय है। आहाहा!

ज्ञानी अनेकान्त के जाननेवाले तो **पर्यायों से ज्ञान की अनेकता को जानता (अनुभवता) हुआ,...** है? **पर्यायों से ज्ञान की अनेकता को जानता (अनुभवता) हुआ,...** आहाहा! पर्यायों से, पर्याय से आत्मा ज्ञान की अनेकता को जानता हुआ **विचित्र होने पर भी...** आहाहा! पर्याय में अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त पर्याय। आहाहा! और वह भी पर्याय का स्वभाव रात्रि में पढ़ा। ओहोहो! एक पर्याय में अनन्त केवली ज्ञात होते हैं। एक समय की पर्याय में अनन्त केवली ज्ञात होते हैं। तीन काल-तीन लोक ज्ञात हों, ऐसा पर्याय का सामर्थ्य है। आहाहा! अब एक पर्याय में अनन्त केवली ज्ञात हों तो एक केवली ने अनन्त द्रव्य-गुण-पर्याय देखे, उनकी सत्ता भी ज्ञान की पर्याय में आ गयी। पर्याय में उनकी सत्ता का ज्ञान आ गया। आहाहा! थोड़ी सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा!

यहाँ धर्मी जीव आत्मा को **पर्यायों से ज्ञान की...** अर्थात् आत्मा की **अनेकता को जानता (अनुभवता) हुआ,...** पर्याय से तो मैं अनेक हूँ। अनन्त पर्याय मुझमें है। आहाहा! जिसे ऐसी दृष्टि है, उसे मैं एकरूप भी हूँ, अनेकरूप भी हूँ, ऐसा अनेकान्त—अनेक अन्त अर्थात् उसकी योग्यता के धर्म वीतराग मार्ग में कहे, वे है। आहाहा! **विचित्र होने पर भी...** क्या कहते हैं? पर्याय में विचित्रता। आहाहा! अनन्त निगोद के जीव को जाने, निगोद के जीव एक-एक अँगुल के असंख्य भाग में निगोद के असंख्य शरीर, ऐसा पूरा चौदह ब्रह्माण्ड भरा है। यहाँ अनन्त-अनन्त निगोद के जीव सब जगह है। पूरे लोक

प्रमाण अँगुल के असंख्य भाग में निगोद के असंख्य शरीर हैं। उसमें एक शरीर में अनन्त जीव। आहाहा! उस एक जीव के साथ तैजस और कार्मण दो शरीर। ऐसे अनन्त अंगुल के असंख्य भाग में हैं। ऐसा पूरा लोक भरा है। आहाहा! ऐसी विचित्रता ज्ञान में जानने की शक्ति होने पर भी। यह विचित्र लगे। है न?

होने पर भी अविचित्रता को प्राप्त (अर्थात् अनेकरूप होने पर भी...) विचित्र अर्थात् अनेकरूप होने पर भी। आहाहा! अविचित्र अर्थात् एकरूप ऐसे **ज्ञान के स्वतः क्षालित...** स्वत: निर्मल है। ज्ञान में पर चीज़ ज्ञात होती है, उसे धो डालूँ, निकाल डालूँ तो मैं निर्मल रहूँ, ऐसा नहीं। **स्वतः क्षालित (स्वयमेव धोया हुआ शुद्ध) अनुभव करता है।** आहाहा! समकिती-धर्मीजीव ऐसा अनुभव करता है। भगवान! सूक्ष्म बात तो है। आहाहा! अरे! मनुष्यभव चला जाता है।

भावार्थ-एकान्तवादी ज्ञेयाकाररूप (अनेकाकाररूप) ज्ञान को मलिन जानकर,... ज्ञान में अनेक ज्ञात होते हैं तो मेरा ज्ञान मलिन है, ज्ञान मलिन हो गया, अनेकपना ज्ञात हुआ तो मेरा ज्ञान मलिन हो गया, ऐसा अज्ञानी मानता है। **उसे धोकर-उसमें से ज्ञेयाकारों को दूर करके,...** जाननेयोग्य जो ज्ञेयाकार, उसको दूर करके **ज्ञान को ज्ञेयाकारों से रहित एक आकाररूप करने को चाहता हुआ, ज्ञान का नाश करता है;...** आहाहा! यह कभी पढ़ा नहीं, सेठ! रुपये में घुस गये। ऐ... माणेकचन्दजी! आहाहा! ऐसे सब हैं न, बापू! आहाहा! ऐसी बात शास्त्र में पड़ी है।

एकान्तवादी ज्ञेयाकाररूप (अनेकाकाररूप) ज्ञान को मलिन जानकर, उसे धोकर-उसमें से ज्ञेयाकारों को दूर करके, ज्ञान को ज्ञेयाकारों से रहित एक आकाररूप करने को चाहता हुआ, ज्ञान का नाश करता है;... वह अपने स्वरूप का नाश करता है। **और अनेकान्ती...** अर्थात् धर्मी जीव। **सत्यार्थ वस्तुस्वभाव को जानता है,...** वह तो सत्यार्थ जानता है कि मैं तो एकरूप भी हूँ। अनेक पर का ज्ञान हुआ तो वह पर के कारण हुआ नहीं है। वह तो मेरी ज्ञान की ताकत के कारण पर का ज्ञान हुआ है। उस पर के ज्ञान को मेरी पर्याय में से धो डालूँ, तब तो पर्याय का नाश हो जायेगा। आहाहा! **ज्ञान का स्वरूप से ही अनेकाकारपना मानता है।** यह भगवान आत्मा अनन्त को जानता

है तो अनेकाकाररूप भी आत्मा को मानता है। एकरूप भी मानता है और अनेकरूप भी मानता है। **इस प्रकार अनेकत्व का भंग कहा है।** अब पाँचवाँ भंग। यह चौथा भंग हो गया।

अपने द्रव्य से आत्मा है, परद्रव्य से नहीं, यह बात है। पहले आयी थी, वह दूसरी बात थी। तत् और अतत्। ज्ञान ज्ञान से है और ज्ञेय से नहीं। यह ज्ञानगुण और ज्ञेय से कहा। तत्—ज्ञानरूप है और अतत्—ज्ञेयरूप नहीं। यह ज्ञान और परज्ञेय दोनों के सम्बन्धी कहा गया और यहाँ आया, उसमें पूरा द्रव्य लिया है। समझ में आया?

पहले तत्-अतत् में आया था, उसमें तो ज्ञानस्वरूपी भगवान ज्ञेय को जानता है, तथापि ज्ञेय से अतत् है। ज्ञेयरूप नहीं। और अपने ज्ञानरूप है। यह ज्ञान और ज्ञेय की बात पहले दो भंग में कही। यहाँ पूरा द्रव्य, चीज़ ली है। पहले में एक ही ज्ञानगुण और ज्ञेय लिया था। आहाहा! पाँचवाँ भंग—२५२ (कलश)।

कलश - २५२

(अब, पाँचवें भंग का कलशरूप काव्य कहते हैं-)

(शार्दूलविक्रीडित)

प्रत्यक्षालिखितस्फुटस्थिरपरद्रव्यास्तितावञ्चित:,
स्वद्रव्या-नवलोकनेन परित: शून्य: पशुर्नश्यति।
स्वद्रव्यास्तितया निरूप्य निपुणं सद्य: समुन्मज्जता,
स्याद्वादी तु विशुद्धबोधमहसा पूर्णो भवन् जीवति।।२५२।।

श्लोकार्थ : [पशु:] पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, [प्रत्यक्ष-आलिखित-स्फुट-स्थिर-परद्रव्य-अस्तिता-वंचित:] प्रत्यक्ष *आलिखित ऐसे प्रगट (स्थूल) और स्थिर (-निश्चल) परद्रव्यों के अस्तित्व से ठगाया हुआ, [स्वद्रव्य

* आलिखित=आलेखन किया हुआ; चित्रित; स्पर्शित; ज्ञात।

अनवलोकनेन परितः शून्यः] स्वद्रव्य को (–स्वद्रव्य के अस्तित्व को) नहीं देखता होने से सम्पूर्णतया शून्य होता हुआ [नश्यति] नाश को प्राप्त होता है; [स्याद्वादी तु] और स्याद्वादी तो [स्वद्रव्य–अस्तितया निपुणं निरूप्य] आत्मा को स्वद्रव्यरूप से अस्तिपने से निपुणतया देखता है इसलिए [सद्यः समुन्मज्जता विशुद्ध–बोध–महसा पूर्णः भवन्] तत्काल प्रगट विशुद्ध ज्ञानप्रकाश के द्वारा पूर्ण होता हुआ [जीवति] जीता है –नाश को प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ : एकान्ती बाह्य परद्रव्य को प्रत्यक्ष देखकर उसके अस्तित्व को मानता है, परन्तु अपने आत्मद्रव्य को इन्द्रियप्रत्यक्ष नहीं देखता, इसलिए उसे शून्य मानकर आत्मा का नाश करता है। स्याद्वादी तो ज्ञानरूपी तेज से अपने आत्मा का स्वद्रव्य से अस्तित्व अवलोकन करता है, इसलिए जीता है–अपना नाश नहीं करता।

इस प्रकार स्वद्रव्य–अपेक्षा से अस्तित्व का (सत्पने का) भंग कहा है।२५२।

कलश-२५२ पर प्रवचन

प्रत्यक्षालिखितस्फुटस्थिरपरद्रव्यास्तितावञ्चितः,
स्वद्रव्या–नवलोकनेन परितः शून्यः पशुर्नश्यति।
स्वद्रव्यास्तितया निरूप्य निपुणं सद्यः समुन्मज्जता,
स्याद्वादी तु विशुद्धबोधमहसा पूर्णो भवन् जीवति।।२५२।।

श्लोकार्थ – पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी,... 'प्रत्यक्ष–आलिखित' ज्ञान में ऐसे प्रत्यक्ष परद्रव्य दिखाई दे तो वह परद्रव्य ही मैं हूँ। अन्दर में द्रव्य भिन्न है, उसका भान नहीं करता। आहाहा! है? **सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी,... 'प्रत्यक्ष–आलिखित'** (आलिखित अर्थात्) आलिखित, चित्रित। ऐसे बाहर में प्रत्यक्ष दिखते हैं। **प्रत्यक्ष आलिखित ऐसे प्रगट (स्थूल) और स्थिर (–निश्चल)...** आहाहा! **परद्रव्यों के अस्तित्व से ठगाया हुआ,...** यह क्या कहते हैं? मैं तो परद्रव्य से हूँ। आहाहा! अपने द्रव्य में परद्रव्य का ज्ञान होता है। अब द्रव्य की बात है। पहले ज्ञान–ज्ञेय की बात थी। पहले तत्–अतत् में ज्ञानगुण और ज्ञेय की बात थी। यह तो पूरा द्रव्य–वस्तु

ली है। अब ऐसी बातें। यह तो और इतने पुण्य है तो लोग इकट्ठे होते हैं। नहीं तो... वह भिण्डवाला नन्दलाल कहता था न ? कि आपकी ऐसी सूक्ष्म बात सुनने के लिये इतने लोग इकट्ठे होते हैं। यहाँ तो अब हजारों लोग इकट्ठे होते हैं। सेठ! सेठ कहाँ से आये हैं ? ठेठ सागर से, लो! बापू! आत्मा की बात है, प्रभु! सूक्ष्म पड़ती है परन्तु जन्म-मरण के अन्त की बातें हैं, बापू! आहाहा!

भगवान! भगवानरूप से बुलाया है। आहाहा! भगवान! तू स्वद्रव्य से है, ऐसा नहीं मानकर परद्रव्य तुझे ज्ञात होता है तो उससे मैं हूँ, (ऐसा मानता है)। आहाहा! है ? **अज्ञानी, प्रत्यक्ष आलिखित ऐसे प्रगट (स्थूल)...** स्थूल बाहर में सब प्रत्यक्ष दिखता है। पैसा, लक्ष्मी, इज्जत-कीर्ति, मकान, शरीर, वाणी, मन सब स्थूल... स्थूल प्रगट बाह्य चीज़। आहाहा! **(स्थूल) और स्थिर...** वहाँ रहते हैं न ? स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, पैसा अमुक (काल) रहे, परन्तु वह तो पर है, वह तो परद्रव्य है। **और स्थिर (-निश्चल) परद्रव्यों के अस्तित्व से ठगाया हुआ,...** क्या कहते हैं ? अपना अस्तित्व—मौजूदगी का स्वीकार नहीं करके पर का अस्तित्व—सत्ता दिखती है तो उस सत्ता का स्वीकार करके वही मैं हूँ, ऐसे आत्मा को **ठगाया हुआ,...** अर र र! ऐसी बातें हैं। बादाम, पिस्ता और चिरौंजी का धन्धा हो तो एक चिरौंजी यहाँ से यहाँ जाए, वह आत्मा से नहीं। आहाहा! समझ में आया ? हमारे भी धन्धा था न ? बादाम, पिस्ता, चिरौंजी। हम खाते तो थे एक बार... हो गया था। दुकान में खजूर, मूँगफली दाने और बादाम तथा खोपरे के ढ़ेर पड़े हों।

यहाँ कहा न ? प्रगट है न! प्रगट है परन्तु उसके कारण से है, तुझसे नहीं। वह तेरी चीज़ है ही नहीं। आहाहा! है ? वह स्थूल है, आत्मा सूक्ष्मरूप द्रव्य नजर में नहीं आता और स्थूल नजर में आता है। **और स्थिर...** थोड़े समय रहे। ऐसे रहे न ? लक्ष्मी रहे, स्त्री रहे, परिवार रहे, यह शरीर रहे। **स्थिर (-निश्चल) परद्रव्यों के अस्तित्व से ठगाया हुआ,...** उस परद्रव्य की अस्ति से ठगा गया है। आहाहा! समझ में आया ? यह कहीं वार्ता नहीं कि झट पूरा हो जाए। आहाहा! तीन लोक के नाथ तीर्थंकरों का हृदय है, तीर्थंकरों का पेट है। आहाहा! महिलाओं में रोने में रोवे तब बोले न ? मेरा पेट... माँ का पेट। पुत्र मर जाए तब (बोलते हैं)। कोई मर जाए तब रोते है न ? मेरा पेट... माँ का पेट... पेट कैसा ? सब सुना है न! आहाहा!

यहाँ कहते हैं, **परद्रव्यों के अस्तित्व से ठगाया हुआ,...** अपने द्रव्य पर दृष्टि नहीं और परद्रव्य की दृष्टि है तो परद्रव्य प्रत्यक्ष दिखता है। प्रत्यक्ष आयेगा। आहाहा! उसे देखकर वही मैं हूँ, इस प्रकार **परद्रव्यों के अस्तित्व से ठगाया हुआ,...** आहाहा! **स्वद्रव्य को (–स्वद्रव्य के अस्तित्व को) नहीं देखता...** आहाहा! है? अन्दर स्वद्रव्य जो भगवान आत्मा है, परद्रव्य प्रत्यक्ष बाहर में दिखता है, उसकी अस्ति से और वह स्थूल है और टिकता है परन्तु मैं टिकनेवाला नित्य हूँ और बदलती पर्यायवाला भी मैं हूँ, ऐसा नहीं मानकर परद्रव्य से ठगाया हुआ। आहाहा! आत्मा के अतिरिक्त कोई भी राग या दया, दान या शरीर, वाणी, कुटुम्ब, पुत्र, पुत्री, मेरे, ये मेरे (–ऐसा मानकर) ठगा गया है, प्रभु! आहाहा! है?

परद्रव्यों के अस्तित्व से ठगाया हुआ,... अस्तित्व अर्थात् मौजूदगी। आहाहा! परद्रव्य की मौजूदगी दिखती है परन्तु इस आत्मा की मौजूदगी अन्दर भिन्न है, उसकी ओर तो नजर भी नहीं करता। आहाहा! ऐसी बातें हैं। आचार्य जंगल में रहकर मुनि सिद्ध के साथ बातें करते हैं। भगवान! आप सिद्ध हो गये, अब हम सिद्ध होकर आते हैं, हों! आपकी जाति में मैं आनेवाला हूँ। आहाहा! इस परद्रव्य को मैं मेरा नहीं मानता, हों! प्रभु! मेरी चीज़ परद्रव्य का अस्तित्व है तो मैं हूँ, इस प्रकार से ठगा जाता है। आहाहा!

स्वद्रव्य को (–स्वद्रव्य के अस्तित्व को) नहीं देखता... अपनी द्रव्य वस्तु जो पदार्थ है, उसको नहीं देखता। **नहीं देखता होने से सम्पूर्णतया शून्य होता हुआ...** आहाहा! परद्रव्य से मैं हूँ और अपने से शून्य हूँ (ऐसा मानता है)। आहाहा! समझ में आया? भाषा तो सादी है, भाई! हमारे सेठ भी कहते हैं न कि दो पुस्तक पढ़ा हो, उसे भी समझ में आये ऐसा है। यह कहीं कोई व्याकरण और संस्कृत नहीं है। यह कोई ऐसा व्याकरण और संस्कृत नहीं है। सादी भाषा है। किस प्रकार? प्रभु!

तेरा द्रव्य जो अन्दर है, उसकी तुझे प्रतीति नहीं, उस ओर तेरी नजर नहीं और यह प्रत्यक्ष परद्रव्य दिखाई दे, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, मकान, पैसा, हजीरा, हजीरा अर्थात् बड़ा मकान (हो, उसकी प्रतीति है)। आहाहा! कहा नहीं? रमणीकभाई मुम्बई के मकान में उतरे थे। समुद्र के किनारे एक मकान सत्तर लाख का। सत्तर लाख का! बड़े गृहस्थ हैं,

बहुत करोड़ोंपति। दिगम्बर है, बहुत प्रेम है। उनके मकान में उतरे थे। सत्तर लाख का तो एक मकान। अब उसमें... हम कैसे मानो तवंगर कैसे हम पैसेवाले! परन्तु परद्रव्य से ठगा गया। परद्रव्य की अस्ति से तेरी अस्ति ठगा गयी। तू ठग है, आहाहा! ठगा गया है। आहाहा!

नियमसार में तो ऐसा लिखा है कि यह स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, पुत्र, पुत्री मिले हैं, वह ठगों की टोली है। नियमसार में पाठ है। पद्मप्रभमलधारिदेव। ठगों की टोली है, बापू! तेरा जीवन लूट लेते हैं और तू भी उत्साह से लुटाता है। आहाहा! अरे रे! अनन्त-अनन्त परद्रव्य से निवृत्तरूप स्वद्रव्य। परद्रव्य की अस्ति से अपनी अस्ति का अभाव है। अपनी अस्ति से अपनी अस्ति है। उस स्वद्रव्य से देखता नहीं। अज्ञानी सम्पूर्णरूप से शून्य हो जाता है। अपनी चीज़ पर से देखता है परन्तु अपने से नहीं देखता। पर की अस्ति को मानता है और अपनी अस्ति को नहीं मानता तो अपने को शून्य मानता है। आहाहा! **नाश को प्राप्त होता है;...** वह आत्मा का नाश कर डालता है। आहाहा!

और स्याद्वादी... धर्मी **आत्मा को स्वद्रव्यरूप से अस्तिपने से निपुणतया देखता है...** आहाहा! धर्मी जीव उसे कहते हैं और कल्याण के पंथ में स्थित उसे कहते हैं कि अपनी अस्ति को स्वद्रव्यरूप से निपुण रीति से, प्रवीणरूप से अपना अस्तित्व देखता है। पर के कारण से, पर की अस्ति से मेरी अस्ति है ही नहीं। परचीज़ का अस्तित्व है तो मेरा अस्तित्व है, ऐसा है ही नहीं। आहाहा! मेरे अस्तित्व की अस्ति की निपुणता मैं जानता हूँ कि मुझसे मेरा अस्तित्व है, मेरी अस्ति मुझसे है, पर से नहीं। अब ऐसी बातें। आहाहा! एक-एक बोल में क्या-क्या अन्तर है! आहाहा! आया?

धर्मी जीव **स्याद्वादी...** अर्थात् धर्मी। स्याद्वादी अर्थात् अपेक्षा से जाननेवाला। मैं परद्रव्य से नहीं, मैं अपने से हूँ। ऐसे स्व से मैं अस्तिरूप हूँ और पर से मैं नास्तिरूप हूँ। ऐसा जाननेवाला। परद्रव्य है परन्तु मेरा स्वद्रव्य परद्रव्य से नास्तिरूप है। मैं मुझसे अस्तिरूप हूँ। आहाहा! ऐसा **स्याद्वादी तो आत्मा को स्वद्रव्यरूप से अस्तिपने से निपुणतया...** आहाहा! मेरी चीज़ तो आत्मा आनन्दकन्द प्रभु अस्तिरूप है। इसमें मेरा अस्तित्व है, उसमें मेरा अस्तित्व है, वह मेरी सत्ता है। पर की सत्ता से मेरी सत्ता है-ऐसा

ज्ञानी नहीं मानते। आहाहा! ज्ञानी **निपुणतया देखता है, इसलिए तत्काल प्रगट विशुद्ध ज्ञानप्रकाश के द्वारा...** आहाहा! क्या लेख!

परद्रव्य से अपनी दृष्टि हटाकर, कोई भी परमात्मा त्रिलोकनाथ तीर्थंकर से भी मेरी चीज़ नहीं है। मेरी चीज़ तो परद्रव्य से अभावस्वरूप है। आहाहा! ऐसा **तत्काल प्रगट विशुद्ध ज्ञानप्रकाश...** अपनी वस्तु पर जहाँ नजर पड़ी और परद्रव्य से मैं नहीं, वहाँ **तत्काल प्रगट विशुद्ध ज्ञानप्रकाश के द्वारा पूर्ण होता हुआ...** मैं पूर्ण द्रव्यस्वरूप हूँ। पर के कारण से नहीं। पर के कारण से मैं तो नहीं परन्तु पर के कारण से मैं अपूर्ण भी नहीं। आहाहा! अपूर्णता, वह मेरी पर्याय में मुझसे है परन्तु वह मेरे द्रव्य में नहीं। आहाहा! इसमें कितना याद रखना। वस्तु ऐसी है।

जीता है... देखो! ऐसे अपने अस्तित्व को अपने से मानकर पर के अस्तित्व से मैं नहीं हूँ, ऐसा मानकर जीता है, अपना जीवन रखता है। **नाश को प्राप्त नहीं होता।** आत्मा का नाश नहीं करता। अज्ञानी तो आत्मा का नाश कर देता है। आहाहा! भाई! पैसे के बिना कहीं सब्जी मिलती है? रामजीभाई प्रश्न करते हैं न? परन्तु पैसा पर, सब्जी पर। उसका आना-जाना, वह कहीं तेरे आधीन नहीं है। आहाहा! पैसे बिना कपड़े मिलें? आहाहा!!

मुमुक्षु : रेलवे की टिकिट नहीं मिलती।

पूज्य गुरुदेवश्री: टिकिट नहीं मिलती। आहाहा! वह टिकिट परवस्तु है, अनन्त परमाणु का पिण्ड है। वे जब आनेवाले होंगे, तब आयेंगे। नहीं आनेवाले नहीं आयेंगे। उसके कारण से तेरी चीज़ की अस्ति है, ऐसा नहीं है। आहाहा! नैरोबी में तो २५-२५, ३०-३० लाख रुपये के कपड़े एक-एक दुकान में। ऐसे भरे हों, ऐसे भरे हों, ऐसे ऊपर भरे हों। अपने मुमुक्षु हैं, साठ घर हैं। आठ तो करोड़पति हैं। उसमें एक तो जेठाभाई नाम से है, उनके पास छह करोड़ रुपये हैं। एक करोड़ का तो मकान है। मुझे एकान्त में कहा था, हों! एकान्त में। उसमें हेतु था। उसमें एक व्यक्ति ने मुझे ऐसा कहा कि महाराज! इन जेठाभाई ने नब्बे लाख का व्यापार एक वर्ष में किया। नब्बे लाख का व्यापार, उसमें नब्बे लाख की आमदनी। नब्बे लाख के व्यापार में नब्बे लाख की आमदनी। आहाहा! है ऐसा

वहाँ। बड़ा मकान, कीमत बहुत। एक यह क्या कहलाता है ? सेब। एक-एक सेब का पाँच-पाँच रुपया। बहुत महँगा, बहुत कीमत का। आहाहा! उस चीज़ में लवलीन हो जाए। आहाहा! बाहर के दिखाव। मकान में देखो तो कपड़े... कपड़े।

मुमुक्षु : इन सबकी धूल निकाली।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल निकाली! भगवान! सन्त ऐसा कहते हैं। आहाहा! वे सुनते थे, प्रेम से। तीन-तीन, चार-चार हजार लोग। दोपहर में ढाई-तीन हजार बहिनें आती थीं। दोपहर में पकाने का नहीं होता न! सवेरे पकाने का होता है। बहुत लोग, ढ़ेरों लोग। शान्ति से सुने, एक हुंकार नहीं। सब शान्ति से सुने। भाई! यह तो तुम्हारे कारण से आया हूँ। यहाँ तो शरीर को ९१ वर्ष हो गये। परदेश अफ्रीका तीन हजार मील दूर तुम्हारा प्रेम था और तुम्हारी माँग थी, इसलिए (आये हैं)। सुनते थे। आहाहा!

तत्काल प्रगट... मैं परद्रव्य से नहीं हूँ, मैं भगवान से भी नहीं हूँ। भगवान की वाणी से भी मैं नहीं हूँ। आहाहा! भगवान के शास्त्र से भी मैं नहीं हूँ। ऐसे परद्रव्य के नास्तित्व को अवलोकता हुआ **प्रगट विशुद्ध ज्ञानप्रकाश के द्वारा पूर्ण होता हुआ जीता है-नाश को प्राप्त नहीं होता।** आहाहा!

भावार्थ - एकान्ती बाह्य परद्रव्य को प्रत्यक्ष देखकर... देखा ? बाह्य परद्रव्य को प्रत्यक्ष देखकर। भावार्थ में है न ? **उसके अस्तित्व को मानता है,...** उसकी सत्ता को माने। **परन्तु अपने आत्मद्रव्य को इन्द्रियप्रत्यक्ष नहीं देखता...** इन्द्रिय प्रत्यक्ष में नहीं आता। इसलिए **उसे शून्य मानकर आत्मा का नाश करता है।** आहाहा! नाश करता है अर्थात् आत्मा का नाश नहीं होता परन्तु स्वयं नाश मानता है। मैं हूँ नहीं, मैं हूँ नहीं। **स्याद्वादी...** धर्मी **ज्ञानरूपी तेज से...** आहाहा! मेरे ज्ञानरूपी नूर से, पूर के तेज से **अपने आत्मा का स्वद्रव्य से अस्तित्व अवलोकन करता है..** अपने आत्मा की अस्ति स्वद्रव्य से अवलोकता है, इसलिए **जीता है-अपना नाश नहीं करता।**

इस प्रकार स्वद्रव्य-अपेक्षा से अस्तित्व... मैं स्वद्रव्य की अपेक्षा से हूँ, परद्रव्य से मैं नहीं, यह **भंग कहा है।** विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश - २५३

(अब छट्ठे भंग का कलशरूप काव्य कहते हैं-)

(शार्दूलविक्रीडित)

सर्व-द्रव्य-मयं प्रपद्य पुरुषं दुर्वासना-वासितः,
स्व-द्रव्य-भ्रमतः पशुः किल परद्रव्येषु विश्राम्यति।
स्याद्वादी तु समस्त-वस्तुषु परद्रव्यात्मना नास्तितां,
जानन्निर्मलशुद्धबोधमहिमा स्वद्रव्यमेवाश्रयेत् ।।२५३।।

श्लोकार्थ : [पशुः] पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, [दुर्वासनावासितः] दुर्वासना से (कुनय की वासना से) वासित होता हुआ, [पुरुषं सर्वद्रव्यमयं प्रपद्य] आत्मा को सर्व द्रव्यमय मानकर, [स्वद्रव्य-भ्रमतः परद्रव्येषु किल विश्राम्यति] (परद्रव्यों में) स्वद्रव्य के भ्रम से परद्रव्यों में विश्रान्त करता है; [स्याद्वादी तु] और स्याद्वादी तो, [समस्तवस्तुषु परद्रव्यात्मना नास्तितां जानन्] समस्त वस्तुओं में परद्रव्यस्वरूप से नास्तित्व को जानता हुआ, [निर्मल-शुद्ध-बोध-महिमा] जिसकी शुद्धज्ञान महिमा निर्मल है, ऐसा वर्तता हुआ, [स्वद्रव्यम् एव आश्रयेत्] स्वद्रव्य का ही आश्रय करता है।

भावार्थ : एकान्तवादी आत्मा को सर्व द्रव्यमय मानकर, आत्मा में जो परद्रव्य की अपेक्षा से नास्तित्व है, उसका लोप करता है; और स्याद्वादी तो समस्त पदार्थों में परद्रव्य की अपेक्षा से नास्तित्व मानकर निज द्रव्य में रमता है।

इस प्रकार परद्रव्य की अपेक्षा से नास्तित्व का (-असत्पने का) भंग कहा है।२५३।

प्रवचन नं. ४७३, श्लोक-२५३-२५४ गुरुवार, भाद्र कृष्ण १
दिनांक - २५-०९-१९८०

समयसार, कलश २५३। परद्रव्य से नास्ति का भंग है। स्वद्रव्य से अस्ति है, यह भंग आ गया। सूक्ष्म बात आयेगी।

सर्व-द्रव्य-मयं प्रपद्य पुरुषं दुर्वासना-वासितः,
स्व-द्रव्य-भ्रमतः पशुः किल परद्रव्येषु विश्राम्यति।
स्याद्वादी तु समस्त-वस्तुषु परद्रव्यात्मना नास्तितां,
जानन्निर्मलशुद्धबोधमहिमा स्वद्रव्यमेवाश्रयेत् ।।२५३।।

श्लोकार्थ – पशु... अर्थात्? पशु कहकर ही बुलाया है। जैसे ७२ गाथा में भगवानरूप से बुलाया है, सबको भगवानरूप से बुलाया है, ऐसे यहाँ एकान्त माननेवाले को पशु कहकर बुलाया है। दोनों शब्द आचार्य के हैं। जैसे पशु को घास और मैसूर का या चूरमा का जैसे विवेक नहीं है, वैसे जिसे एकान्त और अनेकान्त का विवेक नहीं (कि) आत्मा स्वद्रव्यरूप से है और परद्रव्यरूप से नहीं।

पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, दुर्वासना से (कुनय की वासना से) वासित होता हुआ,... आहाहा! परद्रव्य से मुझे लाभ होगा, ऐसी दुर्वासना से वासित हुआ है। आहाहा! यहाँ तो देव, गुरु और शास्त्र से भी आत्मा को लाभ होगा, ऐसी मान्यता मिथ्यात्व, भ्रम और अज्ञान है। गुजराती आ जाता है। आहाहा! **पशु सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, कुनय की वासना से वासित होता हुआ,... 'पुरुषं सर्वद्रव्यमयं प्रपद्य'** पुरुष अर्थात् आत्मा, **आत्मा को सर्व द्रव्यमय मानकर,...** अपने द्रव्य को नहीं मानकर, दूसरे अनन्त द्रव्य हैं, उन्हें अपना मानकर, अपने द्रव्य का स्वयं श्रद्धा में नाश करता है। आहाहा! सूक्ष्म बात है। नास्ति का भंग है न!

देव, गुरु और शास्त्र से भी आत्मा को लाभ नहीं होता। नास्ति (का भंग) है। छठा भंग है न? **आत्मा को सर्व द्रव्यमय मानकर,...** अज्ञानी जीव सर्व आत्मा के अतिरिक्त सभी पदार्थ—स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, लक्ष्मी, देव-गुरु-शास्त्र और देव-गुरु की प्रतिमा, उनके शास्त्र, उनके मन्दिर, यह सब चीज़ स्वद्रव्य से भिन्न चीज़ है। आहाहा! उसे अपने स्वद्रव्यमय मानकर। आहाहा! वस्तुस्थिति ऐसी है कि देव, गुरु, धर्म और शास्त्र निमित्त है। अर्थात् कि अनुकूल है और आत्मा की पर्याय अनुरूप है। सूक्ष्म बात है। ध्यान रखना।

जैसे घड़ा बनने में कुम्हार अनुकूल है और घड़ा बना, वह कुम्हार को अनुरूप है। यह क्या? आहाहा! ८६ गाथा, समयसार की ८६ गाथा। लालचन्दभाई! ८६ गाथा। सूक्ष्म

बात है, प्रभु! क्या कहा? घड़ा बनने में कुम्हार अनुकूल है परन्तु घड़ा कुम्हार से नहीं होता। आहाहा! समझ में आया?

देखो! यह चीज़ आयी, यह निमित्त है। और घड़ा बना उसमें उसके परिणाम में कुम्हार के परिणाम निमित्त हैं अर्थात् अनुकूल है और परिणाम हुए वे अनुरूप हैं। घड़ा के परिणाम हुए, वे कुम्हार के निमित्त की अनुकूलता में अनुरूप है। उससे हुए नहीं। आहाहा! जैसे रोटी होने में, रोटी होने में स्त्री, बेलन वह अनुकूल है। अनुकूल अर्थात् निमित्त है। निमित्त को अनुकूल कहा जाता है और सामने नैमित्तिक अवस्था को अनुरूप कहा जाता है। आहाहा! ऐसी बात कहाँ है?

यह चीज़ यहाँ से यहाँ आयी, उसमें अँगुली अनुकूल है। अनुकूल का अर्थ निमित्त। और यह पर्याय हुई, वह निमित्त को अनुरूप है। क्योंकि इस निमित्तपने में उसका अभाव है, तथापि उसके परिणाम काल में यह परिणाम निमित्तरूप है, इस कारण से परिणाम को निमित्त कहकर उसे ही नैमित्तिक अनुरूप कहा जाता है। प्रत्येक पदार्थ में निमित्त चीज़ है, उसे अनुकूल कहा जाता है और प्रत्येक चीज़ में परिणाम को निमित्त को अनुरूप कहा जाता है। आहाहा! ऐसी बातें। ऐसी चीज़ है, उस चीज़ की दृष्टि हुई नहीं, उसका ज्ञान हुआ नहीं, इससे पहले धर्म कहाँ से आया? आहाहा! उसके जन्म-मरण का अन्त आवे कहाँ से?

यहाँ यह कहते हैं, भगवान आत्मा में दर्शन, ज्ञान, चारित्र (परिणाम है) उसका आश्रय आत्मा है। वे परिणाम आत्मा को अपना उपादान है अर्थात् कि नैमित्तिक है। अर्थात् कि वे परिणाम अनुरूप हैं। देव, गुरु और शास्त्र की वाणी तथा देव, गुरु और शास्त्र निमित्त है, इसलिए अनुकूल है, तथापि वह अनुकूल अनुरूप को रचते नहीं हैं और अनुरूप की पर्याय अनुकूल को लाती नहीं है। अरे रे! ऐसी बातें हैं। समझ में आया? यह छठवाँ भंग है। है?

आत्मा को सर्व द्रव्यमय मानकर,... तीसरी लाईन। **आत्मा को सर्व द्रव्यमय मानकर,...** आहाहा! कोई भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में अपनी पर्याय अपने से होती है, तथापि वह निमित्त से होती है, वह निमित्त उसे अनुकूल है। अपनी पर्याय में-अनुरूप में वह अनुकूल है, तथापि वह अनुकूल अनुरूप को नहीं करता। आहाहा! यह पूरी दुनिया

का बँटवारा है। चौदह ब्रह्माण्ड में जितने अनन्त द्रव्य हैं, वह एक द्रव्य। दूसरे द्रव्य की पर्याय में निमित्तरूप से अनुकूल कहलाता है परन्तु उससे वह हो, ऐसा नहीं है। वह यह भंग है। है ?

अज्ञानी **आत्मा को सर्व द्रव्यमय मानकर,...** **'स्वद्रव्य-भ्रमतः' स्वद्रव्य के भ्रम से परद्रव्यों में विश्रान्त करता है;...** अपने सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र के लिये देव-गुरु-शास्त्र को मानो अवलम्बन करूँ तो मुझे प्रगट होगा, ऐसे परद्रव्य के अवलम्बन को जो निमित्तरूप है, अनुकूल है परन्तु अनुकूल से यहाँ अनुरूप होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! अब ऐसी बात। अज्ञानी **आत्मा को सर्व द्रव्यमय मानकर,...** देव, गुरु, भगवान अरिहन्त थे तो मुझे ज्ञान हुआ, ऐसा अज्ञानी मानता है। आहाहा! अरिहन्त के शास्त्र थे तो मुझे ज्ञान हुआ, ऐसा मानता है। इस प्रकार परद्रव्यमय मानकर, इस प्रकार परद्रव्य को अपना मानता है। आहाहा! गजब बात है। देव, गुरु, शास्त्र की जहाँ निमित्तता होने पर भी उस निमित्त से इसमें कुछ नहीं होता और उस निमित्त को यह अनुरूप होने पर भी, निमित्त को अनुरूप (होने पर भी)। देव, गुरु, शास्त्र अनुकूल है और यहाँ परिणाम होते हैं, वे अनुरूप हैं, तथापि अनुरूप को निमित्त कुछ नहीं करता। आहाहा! ऐसा कब जँचे ? अनन्त काल हुआ।

मैं स्वद्रव्य में हूँ और परद्रव्य से तीन काल में नहीं। चाहे तो देव, गुरु और शास्त्र, केवली तीन लोक के नाथ उपस्थित हों परन्तु उनसे मुझमें कुछ हो, (ऐसा नहीं है)। हाँ, वे मेरी दशा में निमित्तरूप से कहने में आते हैं परन्तु निमित्त के सामने यहाँ अनुरूप जो है, वह निमित्त से होता है -(ऐसा नहीं है)। यहाँ सम्यग्दर्शन आदि जो पर्याय होती है, उस पर्याय में देव-गुरु निमित्त अनुकूल है परन्तु वह अनुकूल है; इसलिए यहाँ अनुरूप पर्याय हुई, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी बात।

तब यह सब सुनने किसलिए चले आते हैं ? सेठ! यह प्रश्न हुआ था। वढवाण के केशवलाल हैं न ? उनसे एक व्यक्ति ने प्रश्न किया था कि निमित्त है, उससे पर में कुछ नहीं होता ? तो फिर वहाँ किसलिए जाते हो ? वढवाण में केशवलाल है। अनाज का व्यापारी है ? अनाज का। है न ? नवविवाहित है। नई के लड़के हैं। उसे यह वाँचन है और दूसरे एक ने कहा, निमित्त से तो होता नहीं तो सोनगढ़ दूसरा निमित्त है या नहीं ? तो

सोनगढ़ क्या करने जाते हो ? तब उसने जवाब दिया कि निमित्त से नहीं होता, यह दृढ़ करने जाते हैं। सेठ ! निमित्त से नहीं होता, परद्रव्य से मुझमें नास्ति है, यह अधिकार है न यह ?

परद्रव्य से मुझमें नास्ति है, यह वह गाथा है। स्वद्रव्य से अस्ति है। आहाहा ! अपना आत्मा अपने से है। आहाहा ! उसमें परद्रव्य अनुकूल होने पर भी उसे निमित्त कहने में आने पर भी उस निमित्त से इस नैमित्तिक में कुछ नहीं होता, तथापि अज्ञानी अपनी पर्याय में निमित्त देखकर उससे मुझमें हुआ, उससे मुझमें हुआ; इस तरह परद्रव्य को स्वद्रव्यरूप अंगीकार करता है। आहाहा ! समझ में आया ? गाथा तो ऐसी आयी है। आहाहा ! अनुकूल और अनुरूप है न ? समयसार ८६ गाथा। यह समयसार है न ? समयसार है न ? ८६ गाथा।

८६ गाथा में (ऐसा कहा कि) **अपने परिणाम को अनुरूप...** यहाँ सम्यग्दर्शन... **अपने परिणाम को अनुरूप...** है ? **पुद्गल के परिणाम को–कि जो पुद्गल से अभिन्न है और पुद्गल से अभिन्न परिणतिमात्र क्रिया से किये जाते हैं, उन्हें– करता प्रतिभासित नहीं होता।** इस ओर से लो तो, पुद्गल के परिणाम को अनुकूल। मात्र अज्ञानभाव, अज्ञानी के राग-द्वेष अनुकूल हैं। आहाहा ! अरे रे ! ऐसी बात। सेठ को हाथ आया ? माणेकचन्दजी को मिला ? आहाहा ! क्या कहा ?

पुद्गलकर्मरूप परिणाम को अनुकूल... आहाहा ! कौन ? जो कर्म बँधते हैं, वह कर्म की पर्याय है उसे। आहाहा ! **पुद्गलकर्मरूप परिणाम को अनुकूल अपने परिणाम...** अज्ञानी के अज्ञान और राग-द्वेष के परिणाम, कर्म बँधते हैं, उसे वे अनुकूल हैं और कर्म बँधते हैं, वे इस अनुकूल परिणाम को अनुरूप हैं। क्योंकि जैसा इसका अज्ञानभाव था, उसी प्रकार से कर्म के परिणाम कर्म के कारण से (हुए हैं)। आहाहा ! ज्ञानावरणीय छह प्रकार से बँधे, ऐसा शास्त्र में लेख है। वे छह प्रकार जो हैं, वे नये कर्म को अनुकूल हैं और उस अनुकूल को कर्म के बँधे हुए परिणाम अनुरूप हैं। आहाहा ! ऐसा मार्ग सुनने में आता नहीं। आहाहा ! मूल चीज़ बहुत कठिन पड़ गयी।

यहाँ यह कहा, देखो ! है ? **पुद्गलकर्मरूप परिणाम को अनुकूल अपने परिणाम...** अर्थात् अज्ञानी के अज्ञान (परिणाम) **कि जो अपने से अभिन्न है...** पुण्य और पाप का कर्ता अज्ञानी है, वे अज्ञान के परिणाम आत्मा से अज्ञान के कारण अभिन्न है। है तो पर्याय। समझ में आया ? **और अपनी अभिन्न परिणतिमात्र क्रिया से किये जाते हैं, उन्हें**

करता प्रतिभासित होता है... जीव तो अज्ञान से पर को अपना मानकर पर से मुझे लाभ होता है, पर से नुकसान होता है, पर को मुझसे लाभ–नुकसान होता है, ऐसे जो परिणाम हैं, उन्हें कर्ता प्रतिभासित हो, उन परिणाम का कर्ता है। दूसरे को तुझसे लाभ हो या उससे तुझमें लाभ हो, ऐसी चीज़ दो में है नहीं। आहाहा!

यह तो पंगु हो गया। पंगु कहा है। परमात्मप्रकाश में आत्मा को पंगु कहा है। वहाँ तो थोड़ी दूसरी बात है। कर्म के कारण जाता है और कर्म के कारण आता है, है तो निमित्त से कथन। परमात्मप्रकाश में है, कर्म के कारण जाए, कर्म के कारण आवे। आत्मा तो पंगु है। अर्थात् आत्मा कहीं कर्म के कारण जाता है या आता है, आत्मा तो पंगु है। अर्थात् आत्मा कर्म के कारण जाता है और आता है, कर्म के कारण है नहीं, वह तो अपनी पर्याय के कारण है और वह भी वह पर्याय उसके द्रव्यस्वभाव की नहीं है। आहाहा!

श्रेणिक राजा अभी नरक में गये। उसे ऐसा कहे कि उन्हें नरकानुपूर्वी का उदय आया, इसलिए नरक में गये। ऐसा नहीं है। नरकानुपूर्वी निमित्त है अवश्य परन्तु उस निमित्त को अनुरूप परिणाम तो इनके अपने हैं। स्वयं अपने परिणाम से नरक में जाता है। आहाहा! शशीभाई! ऐसी बात है। श्रेणिक राजा, क्षायिक समकिती, तीर्थंकरगोत्र बाँधते हैं। उस समय भी तीर्थंकरगोत्र बाँधते हैं। आहाहा! समझ में आया? यहाँ यह कहते हैं, नरक में गये, वे नरकानुपूर्वी और नरकगति के कारण गये? तो कहते हैं, नहीं। वे नरकगति के परिणाम उसे यह परिणाम अनुकूल–निमित्त है और इस परिणाम को वे अनुकूल हैं। बाकी तो अपने परिणाम से गये हैं। आहाहा! उस नरकगति के कारण नरक में गये नहीं।

दूसरी बात, यह आत्मा जो अभी शरीर के अन्दर रहा है, वह आयुष्य के कारण नहीं। लोग कहते हैं कि आयुष्य होगा, तब तक रहेगा। यह सब निमित्त के कथन हैं। आहाहा! अपनी योग्यता प्रमाण जो परिणाम में आयुष्य अनुकूल निमित्त हो, उस आयुष्य के परिणाम यहाँ रहने में अनुकूल हो, परन्तु उससे यह आत्मा यहाँ रहता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! इस अनुकूल को अनुरूप हो। क्या कहा? अरे! आयुष्य का उदय निमित्त हो, अनुकूल हो परन्तु अनुरूप तो आत्मा के परिणाम यहाँ रहने के योग्य हैं; इसलिए रहता है। आत्मा के परिणाम हैं उसे निमित्त अनुकूल आयुष्य है और आयुष्य को अनुरूप यहाँ रहने के आत्मा के परिणाम हैं। ऐसा कभी सुना नहीं हो। अनुकूल और अनुरूप। ८६ गाथा में है। आहाहा!

शास्त्र में एक शब्द भी लिखा जाता है, उस शब्द में अनन्त परमाणु है। एक भगवान बोले, उसमें 'भ' (अक्षर) अनन्त परमाणुओं से बना हुआ है। इस भगवान के 'भ' के परिणाम जीव के परिणाम को निमित्त अनुकूल है परन्तु भगवान के परिणाम, भगवान के शब्द से आत्मा का भगवान के परिणाम हुए, ऐसा नहीं है। आहाहा! तथा यहाँ भगवान के परिणाम हुए इसलिए वहाँ पुण्य बँधा ऐसा नहीं है। भगवान के परिणाम वे निमित्त हैं, अनुकूल है और उसे अनुरूप वहाँ तीर्थंकर प्रकृति बँधने में उसे यह प्रकृति निमित्त को उसे यह अनुरूप है। आहाहा! किसे यह सब पड़ी है?

यहाँ यह कहते हैं, देखो! अज्ञानी **आत्मा को सर्व द्रव्यमय मानकर,...** देखा? **सर्व द्रव्यमय मानकर,...** अब चलता अधिकार। आहाहा! **आत्मा को सर्व द्रव्यमय...** सर्व द्रव्य में सिद्ध बाकी रहे? अरिहन्त? पंच परमेष्ठी? आहाहा! **आत्मा को सर्व द्रव्यमय...** परद्रव्य है, पंच परमेष्ठी है तो मुझमें भक्ति का भाव हुआ... आहाहा! ऐसा अज्ञानी मानता है। भगवान की भक्ति का भाव मुझे हुआ तो वे भगवान हैं तो मुझे भक्ति का भाव हुआ, ऐसा अज्ञानी मानता है। आहाहा! भक्ति के भाव को वे निमित्त हैं, और उस निमित्त को अनुरूप वीतराग के परिणाम स्वयं करे, वह अनुरूप है। परन्तु वे वीतराग के परिणाम निमित्त-अनुकूल से होते हैं, ऐसा तीन काल में नहीं है। आहाहा! ऐसा है तो फिर यह सब पूरे दिन...? सामायिक करना, प्रौषध करना और प्रतिक्रमण करना और यह करना... यह सब जड़ की क्रियायें हैं, बापू! अन्दर इसका भाव है, वह शुभ हो परन्तु वह शुभभाव है, वह नये कर्म को निमित्त है और नये कर्म उसे अनुरूप है। बाकी उसमें धर्म-बर्म नहीं है। आहाहा! धर्म—आत्मा का सम्यग्दर्शन उसे अनुकूल निश्चय से लें तो द्रव्य है और व्यवहार से लें तो दर्शनमोह का अभाव होना, वह निमित्त है। उसे यह नैमित्तिक है। आहाहा! समझ में आया?

अज्ञानी **आत्मा को सर्व द्रव्यमय मानकर, स्वद्रव्य के भ्रम से...** मानो मेरा द्रव्य, मेरा तत्त्व पर के कारण से है। भगवान के कारण मुझे भक्ति का भाव आता है, भगवान के कारण मैं तिरनेवाला हूँ—ऐसा अज्ञानी भ्रम से मानता है। आहाहा! है? **(परद्रव्यों में) स्वद्रव्य के भ्रम से (अज्ञानी) परद्रव्यों में विश्रान्त करता है;...** परद्रव्य में उसका लक्ष्य स्थिर होता है। आहाहा! स्वद्रव्य जो आनन्दस्वरूप भगवान, उस ओर उसका लक्ष्य

नहीं जाता। मेरा अस्तित्व मेरे कारण से है और पर भगवान आदि से मेरा अस्तित्व नास्तिरूप है। आहाहा! उसका यह कलश है। परद्रव्य से मेरा द्रव्य नास्तिरूप है। आहाहा!

बहुत सूक्ष्म बात लें तो परद्रव्य से यह द्रव्य अद्रव्य है। लालचन्दभाई! परद्रव्य से यह द्रव्य अद्रव्य है और इस द्रव्य से परद्रव्य-भगवान भी अद्रव्य है। आहाहा

मुमुक्षु : भगवान को अद्रव्य कहना?

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान को अज्ञान कहा था। उसमें आ गया है। अज्ञान नहीं आया उसमें? अपने आ गया है। किसमें? किस कलश में आया था?

जब वह ज्ञानमात्र भाव 'वास्तव में यह सब आत्मा है' ऐसे अज्ञानतत्त्व को स्वरूप से... चन्दुभाई! अज्ञानतत्त्व कहा। है? आहाहा! **जब वह ज्ञानमात्र भाव...** यह आत्मा **वास्तव में यह सब आत्मा है...** सब आत्मा है, **ऐसे अज्ञानतत्त्व को...** अर्थात् जो यह ज्ञानतत्त्व है, उससे दूसरे सब अज्ञानतत्त्व है। यह ज्ञान उसमें नहीं, इस अपेक्षा से। उसकी अपेक्षा से ज्ञानतत्त्व है। अरे रे! स्वद्रव्य की अपेक्षा से परद्रव्य अद्रव्य है। स्वक्षेत्र की अपेक्षा से परक्षेत्र अक्षेत्र है। स्वकाल की अपेक्षा से परकाल अकाल है और स्वभाव की अपेक्षा से सब परभाव, वह अभाव है। आहाहा! अरे! किसे यह पड़ी है?

दृष्टि को समेटना है। आत्मा के अतिरिक्त जितने अनन्त पदार्थ हैं, उन सबसे उसकी दृष्टि को (समेटना है)। क्योंकि वे पदार्थ आत्मा में नास्ति हैं। वह भंग है न यह? आहाहा! यहाँ कहा न? आहाहा! दूसरे में कहा न? **जब वह ज्ञानमात्र भाव 'वास्तव में यह सब आत्मा है' ऐसे अज्ञानतत्त्व को स्व-रूप मानकर...** है? अर्थात् क्या? कि यह ज्ञानतत्त्व जो है, इसकी अपेक्षा से दूसरे सब, इस ज्ञान की अपेक्षा के अभाव से अज्ञानतत्त्व है। उनकी अपेक्षा से भगवान सर्वज्ञ तत्त्व है परन्तु इस ज्ञान की अपेक्षा से इस ज्ञान का उनमें अभाव है। है लाचन्दभाई! सूक्ष्म है, भाई!

ऐसे पर्यूषण के बड़े दिन गये। अन्तिम अब यह क्षमापना, परन्तु आत्मा की क्षमापना भगवान के पास स्वयं की लेनी है। हे नाथ! मैंने पर को अपना माना और मैंने मुझे पर माना, प्रभु! क्षमा करना। ऐसा यहाँ करना है, हों! और आहाहा! वादीराजमुनि तो ऐसा कहते हैं, आहाहा! प्रभु! मैं जहाँ पूर्व के दुःख को याद करता हूँ... अब दुःख है, वह तो

विकृत पर्याय है और ये तो मुनि हैं, तथापि मैं नरक के और निगोद के दुःख को याद करता हूँ, प्रभु! मुझे चोट लगती है। आहाहा! यह दुःख मेरा स्वरूप नहीं है, तो भी मैंने यह दुःख भोगे हैं। आहाहा! यह नरक और निगोद में मैंने दुःख भोगे, वे संयोग के दुःख नहीं।

यह सवेरे कहा था। यहाँ लकड़ी की अग्नि आयी, इसलिए यहाँ दुःख हुआ, ऐसा नहीं है। लकड़ी की अग्नि तो यहाँ स्पर्शी नहीं। आहाहा! यहाँ अपने भाव में यह चमड़ी गर्म होने का स्वयं का पर्याय का धर्म है। इस क्रमबद्ध में वह आनेवाली थी, वह आयी है। अरे रे! ऐसा सुनते हुए कठिन पड़े। कभी सुना नहीं, करे तो कब? आहाहा!

यहाँ यह कहा, अभी चलता है, वह बाद में, हों! यह पहले की बात (चलती है)। **जब वह ज्ञानमात्र भाव 'वास्तव में यह सब आत्मा है'**... है न? है चन्दुभाई! अज्ञानतत्त्व अर्थात्? यह ज्ञानस्वरूपी भगवान, यह ज्ञान दूसरे में तीन काल में नहीं है, केवली में यह ज्ञान नहीं है। केवली में केवलज्ञान का ज्ञान है। उसी प्रकार इस ज्ञान की अपेक्षा से अज्ञानतत्त्व है। आहाहा! देव-गुरु-शास्त्र को भी अद्रव्य कहा गया है। मुक्तिशिला के मोक्ष का क्षेत्र, वह स्वक्षेत्र की अपेक्षा से अक्षेत्र कहा गया है। आहाहा! एक तो २५२ कलश में आ गया है। यहाँ तो अपने अज्ञान लिया।

अपने यहाँ छठवाँ भंग चलता है। चलता है न? स्वद्रव्य की अपेक्षा से स्वद्रव्य से अस्ति है। परद्रव्य से नास्ति है। यह कहने से परद्रव्य से यह ज्ञानतत्त्व नहीं है। इसलिए उस अज्ञानतत्त्व को, जो अपने से भिन्न है, जो अपना महा अनन्त गुण का भण्डार भगवान है, जिसके एक-एक गुण में अनन्त-अनन्त गुण का रूप है, जिसकी एक-एक पर्याय में अनन्त पर्याय, आनन्द का रूप है और एक-एक पर्याय में... आहाहा! एक-एक पर्याय अपनी शक्ति से अपने प्रदेश में अपने वीर्य से हुई है। उसे यहाँ अपने से हुई, उसे अस्ति कहते हैं। आहाहा! और परद्रव्य से पर्याय चाहे तो केवलज्ञान की पर्याय हो परन्तु इस पर्याय की अपेक्षा से उसे अज्ञानपर्याय कहा जाता है। गजब बात है। आहाहा! समझ में आया?

यह चार भंग हैं। स्वद्रव्यरूप से है, परद्रव्यरूप से नहीं। फिर आयेगा स्वक्षेत्ररूप से है, परक्षेत्ररूप से नहीं। आहाहा! सिद्ध जो रहे हैं, वे स्वक्षेत्र में रहे हैं। सिद्ध वहाँ मुक्तिशिला का क्षेत्र है, उसरूप रहे नहीं। आहाहा! क्या कहा? हें? है कुछ? हें?

प्रवचन नं. ४७४, श्लोक-२५३-२५४ शुक्रवार, भाद्र कृष्ण २
दिनांक - २६-०९-१९८०

चौदह भंग हैं। उसमें मानों एक का एक है, ऐसा लगे परन्तु ऐसा नहीं है। चौदह भंग हैं, अकेला माल-माल है। तत्-अतत्, एक-अनेक, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्ति है, परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्ति है, नित्य-अनित्य—ऐसे चौदह भंग हैं। उनमें अपने पाँच भंग तो आ गये हैं। यह वह के वह आते हैं, ऐसा नहीं समझना। प्रत्येक में भिन्न-भिन्न बात है। आहाहा! छठवाँ भंग।

पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी,... छठवाँ भंग है? छठवें भंग का कलश। बताओ इनको। **अब छट्ठे भंग का कलशरूप काव्य कहते हैं–** है? पशु। यहाँ तो पशु कहकर बुलाया है। जो कोई एकान्त मानता है, परद्रव्य से मुझे लाभ होता है, ऐसा माननेवाले को पशु कहा है। आहाहा! अपना स्वद्रव्य है...

पहले तत्-अतत् में ऐसा आया कि यह ज्ञान है, वह अपने स्वरूप से है और ज्ञेय है, वे पर हैं। चाहे तो भगवान अरिहन्त देव-गुरु हो परन्तु वे पर हैं। वे ज्ञेय हैं, उनसे आत्मा अतत् है। उनसे आत्मा नहीं है। ज्ञेय, देव-गुरु-शास्त्र से आत्मा में कुछ भी धर्म का लाभ होता है, ऐसा नहीं है। ऐसी बात है। पहले तत्-अतत् में आ गया है।

एक-अनेक में ऐसा आया कि वस्तुरूप से एक है और गुण-पर्यायरूप से अनेक है। पर्याय की बात तो कल रात्रि में बहुत की थी। कोई ऐसा कहता है कि ये लोग पर्याय व्यवहार को मानते नहीं। तो यह पर्याय के भेद माने, वह क्या है? व्यवहार है अवश्य, व्यवहार नहीं है—ऐसा नहीं है, व्यवहार का तो पार नहीं होता। एक समय की पर्याय में कितने भंग! सवेरे कहा था। आहाहा! एक समय की एक पर्याय, ऐसी तो अनन्त पर्यायें! ऐसी एक पर्याय में अनन्त द्रव्य-गुण-पर्याय ज्ञात होते हैं, अनन्त केवली ज्ञात होते हैं। एक पर्याय में अनन्त के भेद तो इस प्रकार से हो गये। वह है व्यवहार, हों! पर्याय है न? व्यवहार नहीं मानते, ऐसा नहीं है, व्यवहार है परन्तु व्यवहार आश्रय करनेयोग्य नहीं है। व्यवहार आश्रय करनेयोग्य नहीं है। आहाहा! परन्तु व्यवहार न माने, वह मिथ्यादृष्टि है,

और व्यवहार के आश्रय से लाभ मानना, वह भी मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! कठिन बात है। यह बात करते हैं, देखो!

एकान्तवादी अज्ञानी, दुर्वासना से (कुनय की वासना से) वासित होता हुआ,... अर्थात्? अपने में जो परद्रव्य ज्ञात होते हैं, देव-गुरु-शास्त्र, स्त्री, कुटुम्ब सब परद्रव्य को जानता है तो वह परद्रव्य मैं हूँ, वे परद्रव्य मेरे हैं, परद्रव्य से मैं हूँ, (ऐसा मानता है)। आहाहा! ऐसी बात है। **दुर्वासना से वासित होता हुआ, आत्मा को...** देखो! **सर्व द्रव्यमय मानकर,...** है? ये शब्द हैं। **सर्व द्रव्यमय मानकर,...** इस आत्मा के अतिरिक्त अपना चैतन्यस्वरूप, स्वद्रव्य को भूलकर परद्रव्य जो देव-गुरु-शास्त्र, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार पूरी दुनिया को अपने मानकर, वह मैं हूँ—ऐसा मानकर पर से नास्ति नहीं मानता। पर से अपना अस्तित्व है, ऐसा मानता है। आहाहा! ऐसी भाषा है।

आत्मा को सर्व द्रव्यमय मानकर,... आहाहा! अरिहन्त और देव-गुरु से भी लाभ होता है—ऐसा मानता है, वह परद्रव्य को अपना मानता है। आहाहा! समझ में आया? बात सूक्ष्म है। पहले स्वद्रव्य का भंग तो पाँचवाँ आ गया। स्वद्रव्य से है, परद्रव्य से नहीं। अब यहाँ परद्रव्य से नहीं और अपने स्वद्रव्य से है, यह भंग है। आहाहा! **आत्मा को सर्व द्रव्यमय...** सर्वद्रव्यमय में भगवान आये, देव आये, गुरु आये, शास्त्र आये। आहाहा! स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, पुण्य और पापादि भाव सब परद्रव्य है। **आत्मा को सर्व द्रव्यमय मानकर,...** आहाहा! है? ऐसी सूक्ष्म बात है। अरिहन्त को मानूँगा तो मुझे उनसे लाभ होगा, मुझे उनसे लाभ होगा, वह परद्रव्य को अपना मानता है। आहाहा! गजब बात!

चौदह भंग हैं। जैनशासन का पेट (हार्द) है, जैनदर्शन का मर्म है। एक की एक बात नहीं है। प्रत्येक भंग भिन्न-भिन्न है। पहले तत्-अतत् था, पश्चात् एक-अनेक था, फिर स्वद्रव्य से है, ऐसा था, अब इसमें परद्रव्य से नहीं है, ऐसा है। आहाहा! समझ में आया? अज्ञानी सर्व परद्रव्य, सभी परद्रव्य मेरे हैं, मुझे परद्रव्य से लाभ होता है, मैं अकेला क्या करूँ? आहाहा! ऐसे अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जैन नहीं है। वह जैन नहीं है। आहाहा!

आत्मा को सर्व द्रव्यमय... सव द्रव्य में देव-गुरु-शास्त्र, सिद्ध, पंच परमेष्ठी से मुझे लाभ होगा... आहाहा! गजब बात है। धर्म का लाभ होगा, उनके दर्शनादि से शुभभाव

होता है, वह भी कुछ उनसे, पर से नहीं होता। वह शुभभाव होता है, वह स्वयं से होता है। परन्तु यहाँ तो यह भी नहीं कहना। यहाँ तो परद्रव्य से भिन्न आत्मा है। चाहे तो अरिहन्त हो, सिद्ध हो, आचार्य हो, उपाध्याय, साधु या सिद्ध हो... आहाहा! **आत्मा को सर्व द्रव्यमय...** परद्रव्य से मुझे लाभ होगा, उनसे मुझे लाभ होगा, उससे मुझे लाभ होगा, मुझे भगवान मिले तो भगवान से लाभ होगा, भगवान की वाणी से मुझे लाभ होगा, भगवान के मन्दिर से लाभ अर्थात् धर्म, हों! शुभभाव तो स्वयं से होता है, तब निमित्त कहने में आता है।

कल यह कहा था। निमित्त है, वह अनुकूल है और इस ओर की नैमित्तिक अवस्था हो, वह अनुरूप है। भगवान पंच परमेष्ठी निमित्त है, अनुकूल है परन्तु उनसे आत्मा में कुछ धर्मलाभ होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! गजब बात! यह निमित्त है, अनुकूल है परन्तु अनुरूप तो आत्मा की पर्याय स्वयं से है। आहाहा! ऐसी बात। क्या हो?

जीवन चला जाता है। आज वह बात आयी, भाई! जडावबेन गुजर गयी। जडावबेन नहीं? चन्द्रकान्त की माँ। दो हजार का वेतन है न कुछ? दो-ढाई हजार का वेतन है, मुम्बई में। उनका पत्र था। यहाँ से ले गये थे। यहाँ रहती थीं। यहाँ उन्हें हृदय का दम हो गया। हृदय का दम, कहो! आहाहा! यह जड़, मिट्टी किस प्रकार से रहेगी, इसका विश्वास क्या? आज पत्र था। हमारे आना है, हमारी माँ गुजर गयी। यहाँ हमेशा रहती थीं। अरे! कौन किसका? सब पड़ा रहा। उनके पुत्र को दो-ढाई हजार का मासिक वेतन है। क्या कहलाता है वह? ऐ सो। पेट्रोल ऐ सो अब नहीं है। अब एस.एम. हो गया। दूसरे ने ले लिया। सरकार ने कम्पनी ले ली। उसमें नौकर है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि अज्ञानी आत्मा को सर्वद्रव्यमय मानकर। आहाहा! है? **(परद्रव्यों में) स्वद्रव्य के भ्रम से...** है? **स्वद्रव्य के भ्रम से परद्रव्यों में...** स्वद्रव्य के भ्रम से परद्रव्यों में। परद्रव्य की पर्याय से मुझे लाभ होगा, ऐसे पर में स्वद्रव्य के भ्रम से, पर से स्वद्रव्य का लाभ होगा, ऐसे भ्रम से। आहाहा! **स्वद्रव्य के भ्रम से परद्रव्यों में विश्रान्त करता है;...** आहाहा! अज्ञानी तो परद्रव्य, अपने द्रव्य को छोड़कर परद्रव्य में विश्राम करता है। उससे मुझे लाभ होगा। वे सब सहायक है, निमित्त है, अनुकूल है तो उनसे मुझे कभी तो लाभ होगा—ऐसा मूढ़ अज्ञानी मिथ्यादृष्टि अनादि से मानता है। आहाहा! हिन्दी

भाषा तो गुजरातीवालों को समझ में आये ऐसी है, ऐसी (कठिन) भाषा नहीं है। सेठ आये हैं न? सेठ ने कहा कि हिन्दी पढ़ो। आहाहा! क्या कहा?

आत्मा को सर्व द्रव्यमय मानकर, 'स्वद्रव्य-भ्रमतः परद्रव्येषु किल विश्राम्यति' स्वद्रव्य के भ्रम से... मुझे परद्रव्य से कुछ लाभ होगा, ऐसे भ्रम से **परद्रव्यों में विश्रान्त करता है;...** देव-गुरु शास्त्र, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार उन परद्रव्य में कुछ भी अन्दर विश्वास करके रुक जाता है। आहाहा! ओहोहो! चाहे तो अरिहन्त देव-गुरु-शास्त्र या उनकी वाणी, उनसे कुछ लाभ होगा, कुछ तो लाभ होगा, ऐसे परद्रव्य में विश्रान्त करता हुआ। अपने में दृष्टि करना चाहिए, अपनी चीज़ में उन्मुखता, झुकाव होना चाहिए, उस झुकाव को छोड़कर परद्रव्य से मुझे लाभ होगा, ऐसा मानकर अज्ञानी विश्रान्त करता है। अपने आत्मा का नाश करता है। आहाहा!

धर्मी जीव **स्याद्वादी...** स्याद्वादी अर्थात् धर्मी। है न? स्याद्वादी अर्थात् धर्मी अर्थात् समकिती अर्थात् जैन। सच्चा जैन ऐसा मानता है कि, स्याद्वादी अर्थात् वह। आहाहा! **'समस्तवस्तुषु परद्रव्यात्मना नास्तितां जानन्' समस्त वस्तुओं में परद्रव्यस्वरूप से नास्तित्व को जानता हुआ,...** आहाहा! धर्मी जीव तो ऐसा मानता है, मेरे द्रव्य से समस्त जितनी वस्तुएँ बाहर की हैं, वे परद्रव्य से नास्तित्व है। मुझमें परद्रव्य से तो नास्ति है। आहाहा! मेरी पर्याय भी परद्रव्य से नास्तिरूप है। मेरे द्रव्य में अस्ति है। आहाहा! पर्याय की बात तो बहुत की थी। कितने ढंग, रंग, कला और... यह सब व्यवहार है, परन्तु व्यवहार है। वह व्यवहार न माने तो भी अज्ञानी है और व्यवहार से निश्चय होगा, ऐसा माने तो भी अज्ञानी है। अब यह बात... आहाहा! समझ में आया?

यहाँ कहते हैं कि धर्मी जीव, स्याद्वादी अर्थात् धर्मी। **समस्त वस्तुओं में परद्रव्यस्वरूप से नास्तित्व को जानता हुआ,...** समस्त परद्रव्य। चाहे तो तीन लोक के नाथ और उनकी वाणी हो या उनके बनाये हुए शास्त्र हो या उनकी प्रतिमा हो या मन्दिर हो, आहाहा! सब परद्रव्य है। उन **समस्त वस्तुओं में परद्रव्यस्वरूप से नास्तित्व...** परद्रव्यस्वरूप से मुझमें कुछ नहीं है। नास्तित्व अर्थात् कुछ नहीं है। है? परद्रव्यस्वरूप से नास्तित्व है। आहाहा! **जानता हुआ,...** धर्मी। **परद्रव्यस्वरूप से नास्तित्व को जानता हुआ,...** आहाहा! तथापि शुभभाव आता है। देव-गुरु-शास्त्र (सम्बन्धित

शुभभाव आता है) परन्तु उस शुभभाव से आत्मा की नास्ति है। शुभभाव में आत्मा नहीं है और आत्मा में शुभभाव नहीं है। अर र र! ऐसी बात। यहाँ तो शुभभाव भी परद्रव्य और परभाव में जाते हैं। यह आगे लेंगे। आहाहा! अभी यहाँ तो परद्रव्य सम्बन्धित बात है। पश्चात् जो शुभ आदि भाव हैं, वे भी परभाव हैं। आहाहा! वे अपने भाव नहीं, अपने भाव में उनसे लाभ नहीं। आहाहा! यह तो भाव की बात हुई, अभी द्रव्य की बात है। आहाहा!

ज्ञानी **समस्त वस्तुओं में परद्रव्यस्वरूप से...** ऐसा। है न? समस्त वस्तु। कोई भी अरिहन्त और सिद्ध भी बाकी नहीं रखे। वे सब परद्रव्य हैं। **समस्त वस्तुओं में परद्रव्यस्वरूप से नास्तित्व को जानता हुआ,...** परद्रव्य से तो मुझमें नास्ति है। आहाहा! कभी भी परद्रव्य से मुझमें लाभ—धर्म—समकित होगा, ऐसा तीन काल-तीन लोक में नहीं है। आहाहा! यह कहते हैं, **जानता हुआ, जिसकी शुद्धज्ञान महिमा निर्मल है...** आहाहा! जिसकी शुद्धज्ञानमहिमा निर्मल है। वे पंच परमेष्ठी आदि निमित्त हैं परन्तु निमित्त अपने में नहीं है। अपने को उनसे लाभ नहीं होता। उनसे अपने में अपने को कुछ भी सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का अंश प्रगट नहीं होता। आहाहा!

धर्मी जीव **समस्त वस्तुओं में परद्रव्यस्वरूप से नास्तित्व...** मेरे द्रव्य से सभी परद्रव्य हैं परन्तु उनसे मैं नास्तित्व हूँ, वे मुझमें नहीं है। आहाहा! ऐसा सुनने को मिलना मुश्किल है और उसमें वापस पक्ष पड़े। पक्ष पड़े, पक्ष। आहाहा! अरे रे! अनन्त काल भटकते क्षण में देह पड़ जाती है। लो, कल कैसी बात रात्रि में चलती थी, वहाँ बहिन को... आहाहा! उनकी स्थिति दूसरी ही है। वे तो धर्मरत्न हैं, अन्दर आनन्दस्वरूप में मस्त है। अब तो अभी नहीं आवे। पहले तो अन्तिम पच्चीस-तीस मिनिट आते थे। दोपहर में आते, सवेरे नहीं। अभी तो आराम करना है, डॉक्टर ने इनकार किया है। चन्दुभाई और तीन डॉक्टर थे न! चन्दुभाई, प्रवीणभाई और प्रवीणभाई की बहू प्रवीणभाई से अधिक पढ़ी हुई। बड़ी डॉक्टर है, तीनों पूरी रात यहाँ रुके थे, सवेरे गये। क्षण में कुछ हो एक क्षण में। आहाहा! परन्तु तेरी चीज़ में पर के कारण से कुछ नहीं होता। आहाहा! लाभ भी नहीं होता और परद्रव्य से तुझमें नुकसान भी नहीं होता। परद्रव्य से नुकसान नहीं होता। तू परद्रव्य की ओर ढलान-झुकाव करता है और राग करता है, उससे नुकसान होता है।

मुमुक्षु : उसमें ज्ञात होने की शक्ति है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पर को अपना मानकर उस ओर झुकाव करता है, वह दोष है। पर से दोष भी नहीं और पर से लाभ भी नहीं। आहाहा! समझ में आया? निर्मल बुद्धिवाले धर्मीजीव शुद्धज्ञानमय में निर्मल वर्तता ऐसा **स्वद्रव्य का ही आश्रय करता है।** देखो! वह तो स्वद्रव्य का ही आश्रय करता है। आश्रय आया, भाई! लालचन्दभाई! **'भूदत्थमस्सिदो'** ११वीं गाथा। आहाहा! ११वीं गाथा—समकिती जीव को समकित प्राप्त करना हो तो भूतार्थ अर्थात् त्रिकाली ज्ञायकभाव का अवलम्बन लो, यह यहाँ आया।

स्वद्रव्य का ही... 'ही' शब्द है? देखो! एकान्त है। कथंचित् स्वद्रव्य और कथंचित् परद्रव्य, ऐसा नहीं। परद्रव्य है परन्तु उससे कथंचित् लाभ होगा, (ऐसा नहीं है)। वीतराग का अनेकान्त मार्ग है, स्याद्वाद मार्ग है। स्याद्वाद मार्ग है तो क्या हुआ? स्याद्वाद मार्ग तो ऐसा कहता है कि तू तुझसे है और पर से तू नहीं है, ऐसा कहता है। स्याद्वाद ऐसा कहता है कि तुझसे भी तुझे लाभ होगा और पर से भी तुझे लाभ होगा? यहाँ स्याद्वाद तो यह आया। आहाहा! धर्मी **स्वद्रव्य का ही आश्रय करता है।** आहाहा!

भावार्थ – एकान्तवादी... एक ही पक्ष को माननेवाला, पर से मुझे लाभ होगा, ऐसा माननेवाले **आत्मा को सर्व द्रव्यमय मानकर,...** आत्मा को सर्व द्रव्यमय मानकर। जगत के सब पदार्थ, देव-गुरु-शास्त्र, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार सब मेरे हैं और उनसे मेरी रक्षा होती है। आहाहा! यदि स्त्री हो तो नंगे, भूखे हो तो रक्षा करेगी, दूसरा कौन करे? ऐसा लोग बोलते हैं। आहाहा! सब अज्ञानी की भ्रमणा है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि एक पक्ष को माननेवाले। अपेक्षा से माने, वह अलग बात है कि परद्रव्य है परन्तु मुझमें परद्रव्य की नास्ति है। स्वद्रव्य से मैं हूँ, परद्रव्य से मैं नास्ति हूँ। ऐसा नहीं माननेवाले **एकान्तवादी आत्मा को सर्व द्रव्यमय मानकर,...** सर्व द्रव्य। आहाहा! सिद्ध और अरिहन्त भी मैं हूँ, यह तो विकल्प है। पर को अपना मानना, यह तो विकल्प, राग है। आहाहा! मिथ्यात्व है। **आत्मा में जो परद्रव्य की अपेक्षा से नास्तित्व है...** आत्मा में परद्रव्य अर्थात् अरिहन्त, सिद्ध आदि सब। उन सबसे अपेक्षा से नास्तित्व है **उसका लोप करता है;...** अज्ञानी उसका नाश करता है। आहाहा! **और स्याद्वादी...**

अनेकान्त को माननेवाला। स्याद्वादी कहो या अनेकान्तवादी कहो। अनेकान्त को माननेवाले तो **समस्त पदार्थों में परद्रव्य की अपेक्षा से नास्तित्व मानकर...** सब पदार्थों का परद्रव्य की अपेक्षा से नास्तित्व मानकर **निज द्रव्य में रमता है।** आहाहा!

धर्मी जीव, ज्ञानी, सम्यग्दृष्टि जैन उसे कहते हैं कि परद्रव्य से मुझमें कुछ नहीं होगा, ऐसे नास्तित्व मानकर अपने द्रव्य के अस्तित्व में रहता है। आहाहा! यह चक्रवर्ती के राज करता है, इन्द्र के बत्तीस लाख विमान सब पर... पर... पर... है। मुझमें यह कोई चीज़ नहीं है, ऐसा समकिती अन्दर में मानता है। उससे मुझे कुछ भी लाभ है, ऐसा नहीं मानता। आहाहा! है न? **समस्त पदार्थों में परद्रव्य की अपेक्षा से नास्तित्व मानकर निज द्रव्य में रमता है।** निजद्रव्य। अपना जो पदार्थ—द्रव्य में रमता है, कहा है। पर्याय में, गुण में (रमता) नहीं। अनन्त पर्याय है।

रात्रि में कहा था, एक ज्ञान की पर्याय अनन्त सिद्ध को जाने। एक सिद्ध के केवलज्ञान में तीन काल ज्ञात हो, ऐसे अनन्त सिद्ध को ज्ञान की एक पर्याय जाने। आहाहा! एक पर्याय में तीन काल तीन लोक जाने। ऐसी पर्याय की ताकत होने पर भी पर्याय का आश्रय नहीं। आहाहा! वह पर्याय व्यवहार है अवश्य। व्यवहार नहीं है—ऐसा माने तो भी नास्तिक है। आहाहा! पर्याय नहीं है, वेदान्त मानता है कि पर्याय नहीं है क्योंकि द्रव्य और पर्याय? पर्याय? पलटना? अरे! पलटे वह तत्त्व? ऐसा मानकर उड़ा देते हैं। प्रत्येक द्रव्य समय-समय में पलटता तो है परन्तु एक पर्याय में अनन्त गुण ज्ञात होते हैं और एक-एक गुण तीन काल की पर्यायों का पिण्ड है, ऐसा गुण पर्याय में ज्ञात होता है। वह पर्याय है अवश्य, पर्याय नहीं है—ऐसा माने तो वह नास्तिक है। तथा उस पर्याय के आश्रय से धर्म होगा, (ऐसा माने तो) वह भी मिथ्यादृष्टि है।

इसलिए कहते हैं, **निज द्रव्य में रमता है।** है? **समस्त पदार्थों में परद्रव्य की अपेक्षा से नास्तित्व मानकर निज द्रव्य में रमता है।** आहाहा! एक-एक भंग...! **इस प्रकार परद्रव्य की अपेक्षा से नास्तित्व का (-असत्पने का) भंग कहा है।** अब सातवाँ भंग। अब जरा सूक्ष्म आयेगा। क्षेत्र। २५४ है न?

कलश - २५४

(अब सातवें भंग का कलशरूप काव्य कहते हैं-)

(शार्दूलविक्रीडित)

भिन्नक्षेत्र-निषण्ण-बोध्य-नियत-व्यापारनिष्ठः सदा,
सीदत्येव बहिः पतन्तमभितः पश्यन्पुमान्सं पशुः।
स्वक्षेत्रास्तितया निरुद्ध-रभसः स्याद्वाद-वेदी पुन-
स्तिष्ठत्यात्मनिखातबोध्यनियतव्यापारशक्तिर्भवन् ।।२५४।।

श्लोकार्थ : [पशुः] पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, [भिन्न-क्षेत्र-निषण्ण-बोध्य-नियत-व्यापार-निष्ठः] भिन्न क्षेत्र में रहे हुए ज्ञेयपदार्थों में जो ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्धरूप निश्चित व्यापार है, उसमें प्रवर्तता हुआ, [पुमांसम् अभितः बहिः पतन्तम् पश्यन्] आत्मा को सम्पूर्णतया बाहर (परक्षेत्र में) पड़ता देखकर (-स्वक्षेत्र से आत्मा का अस्तित्व न मानकर) [सदा सीदति एव] सदा नाश को प्राप्त होता है; [स्याद्वादवेदी पुनः] और स्याद्वाद के जाननेवाले तो [स्वक्षेत्र-अस्तितया निरुद्ध रभसः] स्वक्षेत्र से अस्तित्व के कारण जिसका वेग रुका हुआ है, ऐसा होता हुआ (अर्थात् स्वक्षेत्र में वर्तता हुआ), [आत्म-निखात-बोध्य-नियत-व्यापार-शक्तिः भवन्] आत्मा में ही आकाररूप हुए ज्ञेयों में निश्चित व्यापार की शक्तिवाला होकर, [तिष्ठति] टिकता है-जीता है (नाश को प्राप्त नहीं होता)।

भावार्थ : एकान्तवादी भिन्न क्षेत्र में रहे हुए ज्ञेय पदार्थों को जानने के कार्य में प्रवृत्त होने पर आत्मा को बाहर पड़ता ही मानकर, (स्वक्षेत्र से अस्तित्व न मानकर), अपने को नष्ट करता है; और स्याद्वादी तो, 'परक्षेत्र में रहे हुए ज्ञेयों को जानता हुआ अपने क्षेत्र में रहा हुआ आत्मा स्वक्षेत्र से अस्तित्व धारण करता है' ऐसा मानता हुआ टिकता है-नाश को प्राप्त नहीं होता।

इस प्रकार स्वक्षेत्र से अस्तित्व का भंग कहा है।।२५४।।

कलश - २५४ पर प्रवचन

भिन्नक्षेत्र-निषण्ण-बोध्य-नियत-व्यापारनिष्ठः सदा,
सीदत्येव बहिः पतन्तमभितः पश्यन्पुमान्सं पशुः।
स्वक्षेत्रास्तितया निरुद्ध-रभसः स्याद्वाद-वेदी पुन-
स्तिष्ठत्यात्मनिखातबोध्यनियतव्यापारशक्तिर्भवन् ।।२५४।।

पशु... अज्ञानी, एक ही पक्ष को माननेवाला क्या (मानता है) ? '**भिन्न-क्षेत्र-निषण्ण-बोध्य-नियत-व्यापार-निष्ठः' भिन्न क्षेत्र में रहे हुए**... अपने क्षेत्र से भिन्न क्षेत्र में रहे हुए। आहाहा! **ज्ञेयपदार्थों में**... भिन्न क्षेत्र में तो अरिहन्त और पंच परमेष्ठी भी आये। आहाहा! मुक्तिशिला पर सिद्ध भगवान रहते हैं। आहाहा! उस परक्षेत्र से भी मुझमें नास्ति है। मेरे स्वक्षेत्र से अस्ति है, परक्षेत्र से नास्तित्व है। आहाहा! ऐसा नहीं मानकर पर **भिन्न क्षेत्र में रहे हुए ज्ञेयपदार्थों में जो ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्धरूप निश्चित व्यापार है**... हाँ, वह ज्ञेय है और तू ज्ञान है, ऐसा निमित्त-निमित्त सम्बन्ध है। सम्बन्ध होने पर भी... आहाहा! **निश्चित व्यापार है, उसमें प्रवर्तता हुआ, आत्मा को सम्पूर्णतया बाहर (परक्षेत्र में) पड़ता देखकर**... परक्षेत्र को जानकर अपना आत्मा भी मानो पर में चला गया, (ऐसा देखता है)। अपने में रहकर पर को जानता है, ऐसा नहीं मानकर... आहाहा! ऐसा उपदेश सभा में ठीक नहीं पड़ता तो सभा ठीक से भरती नहीं। फिर लोग प्रसन्न हों ऐसा कहें। भटकने के रास्ते हैं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, एकान्तवादी **भिन्न क्षेत्र में रहे हुए**... अपना क्षेत्र जो असंख्य प्रदेश है, उससे भिन्न क्षेत्र, उसमें रहे हुए ज्ञेयपदार्थ। भिन्न क्षेत्र में रहे हुए ज्ञेय पदार्थ सब आ गये। अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, पंच परमेष्ठी परक्षेत्र में रहते हैं। आहाहा! गजब बात है। अरे रे! आत्मा की दरकार (नहीं की)। अभी सुनकर संस्कार डालना, इसका भी समय नहीं मिलता। आहाहा! जिन्दगी चली जाती है। देखो न! अकस्मात् कितने सुनते हैं। अमुक एक क्षण में मर गये, अमुक एक क्षण में मर गये। जडावबेन यहाँ हमेशा रहती थी। उनके पुत्र चन्द्रकान्त नहीं? मुम्बई में नौकरी है। सुमनभाई को नौकरी थी न? उसमें नौकरी थी। सुमनभाई तो उसमें से निकल गये। ये उसमें होंगे। खबर नहीं। उसमें है?

ऐसो। आहाहा! चन्द्रकान्त। यहाँ कहते हैं, क्षण में देह छूट गयी। आहाहा! परन्तु वह तो पर है तो पृथक् ही है।

यहाँ तो कहते हैं, परक्षेत्र में रहे हुए... है? **भिन्न क्षेत्र में रहे हुए ज्ञेयपदार्थों में जो ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्धरूप...** वे जाननेयोग्य है और आत्मा जाननेवाला है। इतने सम्बन्धरूप **निश्चित व्यापार है, उसमें प्रवर्तता हुआ, आत्मा को सम्पूर्णतया बाहर (परक्षेत्र में) पड़ता देखकर...** आत्मा बाहर चला जाता है, पर को जानते हुए आत्मा बाहर में चला जाता है, ऐसा अज्ञानी मानता है। आहाहा! **(-स्वक्षेत्र से आत्मा का अस्तित्व न मानकर)...** मेरा क्षेत्र जो असंख्य प्रदेश है, उसमें मैं हूँ। मैं भले परक्षेत्र को जानूँ, तथापि परक्षेत्र में मेरी चीज़ चली नहीं जाती। मैं तो परक्षेत्र को जाननेवाला मुझमें रहकर जानता हूँ। अपने क्षेत्र में रहकर परक्षेत्र को जानता हूँ। परक्षेत्र को जानने से मैं परक्षेत्रमय हो गया, ऐसा नहीं है। आहाहा!

आत्मा को सम्पूर्णतया बाहर (परक्षेत्र में) पड़ता देखकर... देखा? सम्पूर्ण। सब चीज़ मानो एक-एक क्षेत्र, उस सब क्षेत्र को अपना मानता हुआ। आहाहा! **आत्मा को सम्पूर्णतया बाहर (परक्षेत्र में) पड़ता देखकर (-स्वक्षेत्र से आत्मा का अस्तित्व न मानकर)...** अपना तो असंख्य प्रदेशी अनन्त गुण के पिण्ड प्रभु का स्वक्षेत्र यहाँ है। वह अपना स्वक्षेत्र है। परक्षेत्र जो यह मकान, बाग, बगीचा, वह धूल तो कहीं रह गयी। वह क्षेत्र तो कहीं दूसरे रह गये। बाग, बगीचा बनाते हैं न? सवेरे वहाँ दो घण्टे-घण्टाभर रहता है। अच्छी हवा आवे, फूल, वृक्ष (हों)। वड़ोदरा में है। बड़ा बाग देखा है। (संवत्) १९६३ के वर्ष। हमारे केस चलता था। एक महीना, सवा महीना अफीम का झूठा केस था।

हमारी दुकान पर बक्षीस लेने आया। क्या कहलाता है वह? बोणी। बक्षीस कहते हैं? क्या कहते हैं? हिन्दी में क्या कहते हैं। बोणी। वह कहे कि एक रुपया दो। हमारे पिताजी कहे आठ आने दूँगा। इसमें बड़ा विवाद हुआ। विवाद हुआ तो ७०० रुपये खर्च हुए। वडोदरा में सवा महीने तक केस चला था। उस समय, १९६३ के वर्ष। उस समय वहाँ का... क्या कहलाता है? भाई! प्रेसीडेन्ट। तब एक महीने का तीन हजार वेतन। तब! अब तीस गुना हो गया। फिर अफीमवाले को रुपया नहीं दिया तो उसने झूठा केस किया

कि यह लड़का अफीम का पोटला लेकर दूसरा आता था, उसे लेकर गया। झूठा, झूठा। सवा महीने केस चला। प्रेसीडेन्ट और उसके नीचे रहनेवाले लोग... क्या कहलाते हैं वे? उनका काम करनेवाले... क्या कहलाते हैं? शिरसदार। ऑफिस में घुसने पर हमें जहाँ देखा... वह केस चले तब लकड़ी में अन्दर खड़े रखते हैं। कठघरे में खड़ा रखते हैं परन्तु हमें जहाँ देखा, प्रसीडेन्ट और उसके शिरसदार कहे, यह क्या? इसका मुँह तो देखो! यह अफीम की चोरी करे? यह बनिया अफीम की चोरी करे? इसको अन्दर खड़ा नहीं रखो, बाहर खड़ा रखो। तुम्हें देखकर हमें ऐसा लगता है कि यह गुनाह झूठा है। वह केस सवा महीने चला। ७०० रुपयो का खर्च। अन्त में उस प्रेसीडेन्ट को ऐसा लगा...

१९६३ (का) वर्ष, सवा महीने झूठा कैस चला, परन्तु प्रेसीडेन्ट ऐसा व्यक्ति कि (उसने कहा), यह केस झूठा है। जिस जगह केस हुआ, वहाँ कोर्ट लेकर जाओ। वड़ोदरा का ऑफिस, जिस जगह यह पुलिस केस हुआ, वहाँ ऑफिस ले जाओ। हम भी आते हैं और हमारे शिरसदार भी आते हैं। पड़ाव डाला। वहाँ पालेज में वड़ के नीचे है। मेरी दुकान थोड़ी दूर है। यह केस चलते... चलते... चलते... उसने चलाया कि केस बिल्कुल झूठा है। सेठ! और जिस पुलिस ने तुम्हारे ऊपर यह केस किया, यह खर्च उससे ले लो, क्योंकि यह झूठा केस है। (हमने सोचा) अरे भाई! रहने दो न, बेचारा गरीब व्यक्ति है, परन्तु सहज ऐसा बना कि कोई व्यक्ति ऐसा निकला कि उसे मार डाला।उसे मार डाला। जिसने हमारे पर केस किया था, उसे अन्य कोई विरोधी होगा, उसने मार डाला। आहाहा! यह सब परक्षेत्र में हुआ, वह मेरे क्षेत्र में नहीं। आहाहा! हमारे पिताजी भी थे। सुन्दर रूपवान शरीर, गृहस्थ के पुत्र, वह केस देखकर हाय... हाय... हो गया। गुजर गये, उसमें देह छूट गयी। कभी देखा नहीं। रूपवान शरीर था, गृहस्थ के पुत्र, उनके पिता गीगाभाई, गढडा में बड़ी इज्जत। तब तो दस हजार रुपये पूँजी, इसलिए बहुत कहलाये न! बड़े 'गीगा कुरा' कौन कहलाये? ओहोहो! यह केस हुआ तो हमारे पिताजी से सहन नहीं हुआ, देह छूट गयी। आहाहा! वह कहीं परक्षेत्र के कारण नहीं हुआ, अपने में भ्रमण हुई। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं, आया न? कहाँ आया? **सम्पूर्णतया बाहर पड़ता देखकर...** परक्षेत्र को जानने से मानो मैं बाहर चला जाता हूँ। परक्षेत्र को जानने से मानो मैं बाहर चला जाता हूँ। ऐसे **आत्मा को सम्पूर्णतया बाहर पड़ता देखकर (-स्वक्षेत्र से आत्मा का**

अस्तित्व न मानकर)... मेरे क्षेत्र से मैं हूँ, ऐसा नहीं मानकर। **'सदा सीदति एव' सदा नाश को प्राप्त होता है;**... आहाहा! यह परक्षेत्र अनुकूल हो तो मुझे (ठीक) रहे। बाग, बगीचा, फूल, फूल के वृक्ष हों तो मुझे ठीक रहे, ऐसा माननेवाला आत्मा का नाश करता है। परक्षेत्र में तेरी चीज़ नहीं। परक्षेत्र से तो तू नास्ति है। आहाहा!

मुमुक्षु : मकान अच्छा बनाना या खराब बनाना?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन बनावे? वह बनने की चीज़ होगी तो बनेगी। आहाहा! यह २६ लाख का मकान (परमागममन्दिर)। किसने किया? छह वर्ष हुए। यह बनने की पर्याय जिस क्षण में होनेवाली हो, वह होती है। कौन करे? रामजीभाई भी करे नहीं और वजुभाई भी करे नहीं, इंजीनियर भी करे नहीं और प्रमुख भी करे नहीं। आहाहा! कठिन बात है, प्रभु! यह तो वीतराग का मार्ग है। परक्षेत्र से मैं नहीं, परक्षेत्र तो परक्षेत्र में है। उस परक्षेत्र में मुझे ठीक पड़ेगा! आहाहा!

मुमुक्षु : महाबलेश्वर हवा खाने जाए तो ठीक रहे।

पूज्य गुरुदेवश्री : हवा खाने जाता है, यह नीम के नीचे खाट डालकर रहता है, नीम की हवा ठण्डी आवे न? ऐसा रोग होवे तो नीम के नीचे खाट डाल-डालकर पूरी रात छह-छह महीने, बारह-बारह महीने तक रहे। सब सुना है और सब खबर है न! परन्तु परक्षेत्र की तुझमें नास्ति है, ऐसा नहीं मानकर अपना आत्मा मानो परक्षेत्र में चला जाता है, ऐसा मानकर अपना नाश करता है। **नाश को प्राप्त होता है;**... है?

और स्याद्वाद के जाननेवाले... धर्मी। स्याद्वाद अर्थात् अनेकान्त। मैं मेरे क्षेत्र में हूँ और परक्षेत्र में नहीं, यह अनेकान्त, यह स्याद्वाद है। आहाहा! स्याद्वाद को जाननेवाला तो **स्वक्षेत्र से अस्तित्व के कारण**... मैं तो मेरे असंख्य प्रदेश में हूँ, वह मेरा स्वक्षेत्र है। आहाहा! वह असंख्य प्रदेश का क्षेत्र सर्वज्ञ भगवान के अतिरिक्त किसी ने कहीं कहा नहीं और है नहीं। आत्मा असंख्य प्रदेशी क्षेत्र है। जैसे चैन में कड़ी होती है न सोने की। सौ-दो सौ कड़ी। उसी प्रकार आत्मा में असंख्य प्रदेश हैं, परन्तु वे सब प्रदेश एकरूप हैं। आहाहा! आत्मा के हैं, आत्मा से भिन्न नहीं परन्तु एक प्रदेश दूसरे प्रदेशरूप नहीं होता। आहाहा! पर के क्षेत्र से तो नास्ति है। आहाहा! गजब बात, प्रभु! आचार्यों की शैली,

गम्भीरता का पार नहीं होता। चाहे जितना निकालें तो भी अन्दर पार का पार नहीं होता, इतनी गम्भीरता भरी है।

परक्षेत्र से मैं नहीं। यह २५२ में आ गया, भाई! २५२ कलश है, उसमें ऐसा लिखा है कि मैं द्रव्य जो हूँ, वह स्वद्रव्य से हूँ और द्रव्य है, ऐसा विकल्प उठता है, उस परद्रव्य से मैं नहीं हूँ। आहाहा! कलश टीका है, २५२ कलश है। देखो! **स्वद्रव्य अर्थात् निर्विकल्पमात्र वस्तु...** स्व भगवान आत्मा अभेद वस्तु अन्दर, उसमें भेद नहीं। मैं यह द्रव्य हूँ, ऐसा विकल्प भी जिसमें नहीं। आहाहा! **स्वद्रव्य अर्थात् निर्विकल्पमात्र वस्तु; स्वक्षेत्र अर्थात् आधारमात्र वस्तु का प्रदेश...** असंख्यप्रदेशी। २५२ श्लोक है। **स्वकाल अर्थात् वस्तुमात्र की मूल अवस्था...** त्रिकाली। त्रिकाली, वह स्वकाल। मेरा काल मुझसे पृथक् नहीं है, मैं तो त्रिकाल रहनेवाला स्वकाल हूँ। **स्वभाव अर्थात् वस्तु की मूल की सहज शक्ति...** अन्दर आत्मा के स्वभाव की, गुण की शक्ति, वह स्वभाव।

अब **परद्रव्य अर्थात्...** आहाहा! **परद्रव्य अर्थात् सविकल्प भेद-कल्पना...** परद्रव्य तो मुझमें है ही नहीं। स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, देव-गुरु-शास्त्र तो नहीं, नहीं और नहीं ही परन्तु **परद्रव्य अर्थात् सविकल्प भेद-कल्पना...** विकल्प उठता है, उसे ही परद्रव्य कहते हैं। आहाहा! २५२ कलश है। २३७ पृष्ठ है। स्वद्रव्य अर्थात् समझ में आया? **परद्रव्य अर्थात् सविकल्प भेद-कल्पना...** परद्रव्य दूसरे नहीं, दूसरे तो पृथक् कहीं रह गये। यहाँ तो एक द्रव्य में यह द्रव्य हूँ, ऐसी वृत्ति / विकल्प उठता है, उसे यहाँ परद्रव्य कहा गया है। इससे भी सूक्ष्म है, चलते अधिकार से भी यह सूक्ष्म है। आहाहा!

परक्षेत्र अर्थात् जो वस्तु का आधारभूत प्रदेश निर्विकल्प वस्तुमात्ररूप से कहा था, वही प्रदेश सविकल्प भेद-कल्पना... आहाहा! विकल्प में लक्ष्य करना कि यह असंख्य प्रदेश है, वही परक्षेत्र है। आहाहा! गजब है। कभी सुना नहीं। यहाँ तो बहुत वर्ष से यह रखा है, सब चिह्न किये हैं, सब चिह्न किये हुए हैं। आहाहा! **परक्षेत्र अर्थात् जो वस्तु का आधारभूत प्रदेश...** असंख्य प्रदेशी। उसमें से कहा, वही प्रदेश सविकल्प भेद कल्पना। भेद करना कि यह असंख्य प्रदेश है, ऐसा विकल्प करना, वही परक्षेत्र है। आहाहा!

परकाल अर्थात् द्रव्य की मूल की निर्विकल्प अवस्था... द्रव्य जो वस्तु की त्रिकाल अवस्था वह स्वकाल। और परकाल **वही अवस्थान्तर भेदरूप कल्पना से परकाल कहा जाता है...** एक समय की पर्याय त्रिकाल की अपेक्षा से स्वकाल है और एक समय की पर्याय की अपेक्षा से मैं परकाल हूँ। क्योंकि एक समय की पर्याय मुझमें शाश्वत् नहीं रहती। आहाहा! मैं तो शाश्वत् रहनेवाला हूँ। एक समय की मेरी पर्याय भी शाश्वत् नहीं रहती, इसलिए वह परकाल है। अरे रे! ऐसी बात!

परभाव अर्थात् द्रव्य की सहज शक्ति के पर्यायरूप अनेक अंश द्वारा भेद-कल्पना... आहाहा! स्त्री, कुटुम्ब, शरीर, देव-गुरु-शास्त्र, ये सब तो परभाव है ही, परन्तु यहाँ तो जो अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु है, उसमें कल्पना करना... आहाहा! कि मैं यह भावरूप हूँ, ऐसा विकल्प, वह परभाव है। आहाहा! है? **परभाव अर्थात् द्रव्य की सहज शक्ति के पर्यायरूप अनेक अंश द्वारा भेद-कल्पना, उसे परभाव कहा जाता है।** त्रिकाली गुण की पर्याय को ही परभाव कहते हैं। आहाहा! यह कलश टीका है। देखो! यह लाल चिह्न किये हैं, दिखते हैं? लाल चिह्न हैं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, अज्ञानी परक्षेत्र को देखकर... सम्मेदशिखर, गिरनार, शत्रुंजय। आहाहा! इस परक्षेत्र को देखकर इस क्षेत्र में ही मैं हूँ, (ऐसा मानता है)। परन्तु इस क्षेत्र से मेरा क्षेत्र भिन्न है, ऐसा अज्ञानी जानता नहीं। आहाहा! क्या कहलाता है यह? सम्मेदशिखर। एक बार एक साधु आये थे, कैसे? महावीरकीर्ति। तब यह मकान नहीं था, कमरा था। वहाँ उतरे थे। बाद में बात हुई कि इस परवस्तु से आत्मा नहीं है। तब उन्होंने कहा, मेरे पास एक सम्मेदशिखर की महिमा की एक पुस्तक है। श्वेताम्बर में शत्रुंजय माहात्म्य की एक पुस्तक है। यह कहे, अपने दिगम्बर में सम्मेदशिखर की महिमा की एक पुस्तक है। उस सम्मेदशिखर के माहात्म्य में ऐसा लिखा है कि उसके दर्शन करे तो ४८ भव में मोक्ष जाए। मैंने कहा, यह वचन वीतराग के नहीं हैं। महावीरकीर्ति। यह वीतराग के वचन नहीं हैं। परद्रव्य से भव का अभाव होता है, यह वचन वीतराग का नहीं है। परक्षेत्र के दर्शन से भव का अभाव? सम्मेदशिखर तो परक्षेत्र है। यहाँ किसी का पक्ष नहीं है, यहाँ कोई वाड़ा नहीं है। यहाँ तो समाज अधिक बँधे और बहुत इकट्ठा हो, यह यहाँ कुछ नहीं है। यहाँ तो सत्य यह है। जिसे बैठना हो, उसे बैठे; न बैठना हो तो अनादि से स्वतन्त्र है।

मुमुक्षु : इसलिए कहा कि वहाँ वन्दना करने सब जाते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : जाते हैं न। इसलिए उन्होंने कहा कि सम्मेदशिखर के दर्शन करे वह ४८ भव में मोक्ष जाता है। कहा, यह बात वीतराग की नहीं है। परद्रव्य के दर्शन से भव घटें, यह वीतराग का वचन नहीं है।

यहाँ यह कहते हैं, परक्षेत्र से मुझमें नास्ति है। है ? आहाहा! स्याद्‌वादी **स्याद्वाद के जाननेवाले तो स्वक्षेत्र से अस्तित्व के कारण जिसका वेग रुका हुआ है...** मैं तो मेरे क्षेत्र में हूँ। सम्मेदशिखर में भी मैं नहीं। मुझमें तो सम्मेदशिखर से नास्ति है। आहाहा! व्यवहार है अवश्य, परन्तु व्यवहार की स्वभाव में नास्ति है। पर्याय की कल कितनी बात की थी! वह सब व्यवहार है, परन्तु व्यवहार है, है परन्तु आदरणीय नहीं है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि धर्मीजीव **स्वक्षेत्र से अस्तित्व के कारण जिसका वेग रुका हुआ है...** मेरे क्षेत्र से बाहर मैं गया ही नहीं। सम्मेदशिखर के दर्शन मैंने किये ही नहीं। मेरे परिणाम में भाव आया, वह भी मेरी चीज़ नहीं। सम्मेदशिखर के दर्शन करने से स्वयं के कारण से शुभभाव आया है, वह भी मेरी चीज़ नहीं है, वह भी भाव मेरा नहीं है। मेरा भव तो त्रिकाली आनन्द का नाथ, अनन्त गुण का धनी—स्वभाव, वह मेरा भाव है और उस भाव में एक विकल्प उठाना, वह परभाव है। आहाहा! लो, सेठ! यह हिन्दी वाँचन किया, आज दोपहर में तुम्हारा स्वप्न आया था। यह बात अन्दर है। आहाहा! मार्ग तो यह है।

स्वक्षेत्र से अस्तित्व के कारण जिसका वेग रुका हुआ है, ऐसा होता हुआ (अर्थात् स्वक्षेत्र में वर्तता हुआ), आत्मा में ही आकाररूप हुए... क्या कहते हैं अब ? आत्मा में परक्षेत्र का ज्ञान होता है, वह ज्ञान अपना है। आत्मा के ज्ञान में परक्षेत्र का ज्ञान होता है परन्तु वह ज्ञान परक्षेत्र का नहीं है, वह ज्ञान अपना है। आहाहा! यह कहते हैं, देखो! **आत्मा में ही आकाररूप हुए ज्ञेयों में निश्चित व्यापार की शक्तिवाला होकर,...** यह तो मेरे ज्ञान का स्वभाव है कि परक्षेत्र को मैं अपने में रहकर जानूँ। परक्षेत्र को मैं अपने में रहकर जानूँ, यह मेरा स्वभाव है, ऐसा धर्मी जानता है। आहाहा! देखो!

आत्मा में ही आकाररूप हुए ज्ञेयों में... यह क्षेत्र का आकार यहाँ ज्ञात हुआ, वह **निश्चित व्यापार की शक्तिवाला होकर,...** वह व्यापार मेरा है। वह पर को जानने

का भाव आया, वह भाव मेरा है। पर का व्यापार, पर का जानना पर से हुआ, ऐसा नहीं है। मैं मुझे अपने को ही, पर की अपेक्षा का जो ज्ञान हुआ, उस स्वयं से स्वयं को जानता हूँ। आहाहा! ऐसा उपदेश अब। **टिकता है-जीता है (नाश को प्राप्त नहीं होता)।**

भावार्थ – एकान्तवादी भिन्न क्षेत्र में रहे हुए ज्ञेय पदार्थों को... अपना क्षेत्र असंख्य प्रदेश है। उससे **भिन्न क्षेत्र में रहे हुए ज्ञेय पदार्थों को जानने के कार्य में प्रवृत्त होने पर आत्मा को बाहर पड़ता ही मानकर,...** आत्मा मानो परक्षेत्र में चला जाता है और परक्षेत्र से ही मुझे ज्ञान होता है। **(स्वक्षेत्र से अस्तित्व न मानकर),...** आहाहा! **अपने को नष्ट करता है;...** आत्मा के अस्तित्व का नाश कर देता है। आहाहा! चौदह बोल वीतराग के रहस्य की बात है। आहाहा!

और स्याद्वादी तो,... अनेकान्तवादी। अनेकान्तवादी अर्थात् धर्मी, जैनधर्म के रहस्य को जाननेवाले स्याद्वादी। स्यात् अर्थात् अपेक्षा से जाननेवाले। **परक्षेत्र में रहे हुए ज्ञेयों को जानता हुआ...** परक्षेत्र में रहे हुए ज्ञेय को जाने, तथापि **अपने क्षेत्र में रहा हुआ आत्मा स्वक्षेत्र से अस्तित्व धारण करता है...** परक्षेत्र का ज्ञान मेरे क्षेत्र में मुझसे हुआ है। आहाहा! परक्षेत्र का ज्ञान परक्षेत्र से नहीं हुआ। आहाहा! ऐसा बनियों को याद रखना। व्यापार के कारण निवृत्ति नहीं मिलती। **'परक्षेत्र में रहे हुए ज्ञेयों को जानता हुआ अपने क्षेत्र में रहा हुआ आत्मा स्वक्षेत्र से अस्तित्व धारण करता है'...** धर्मी (की बात है)। भले परक्षेत्र को जानो, ये जानना हुआ वह परक्षेत्र का ज्ञान नहीं है। परक्षेत्र और स्वक्षेत्र का ज्ञान तो मेरा है। **ऐसा मानता हुआ टिकता है...** अपने आत्मा को पर से भिन्न टिका रखता है। परक्षेत्र का जानना हुआ परन्तु वह ज्ञेयाकार ज्ञान मेरा स्वभाव है। परक्षेत्र के आकार से ज्ञान हुआ, वह मेरा ज्ञान है। उस परक्षेत्र से मेरा ज्ञानाकार हुआ, ऐसा नहीं। आहाहा! वह **नाश को प्राप्त नहीं होता।** यह विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४७५, श्लोक-२५५, २५६, २५७ शनिवार, भाद्र कृष्ण ३
दिनांक - २७-०९-१९८०

समयसार, आठवाँ भंग है। बात ऐसी है, प्रभु! अनजाने व्यक्ति को बात सूक्ष्म लगती है। यह क्या कहते हैं? यह तो कोई बात है? वीतराग का मूल रहस्य इन चौदह बोल में है। आहाहा! बारह अंग का रहस्य इन चौदह बोल में है। सूक्ष्म तो है, प्रभु! उकताहट नहीं लाना, वह की वह बात आती है, ऐसा नहीं है। प्रत्येक श्लोक में भिन्न-भिन्न अर्थ है परन्तु जिसे समझ में आया नहीं, उसे वह की वह बात मानो आती है, ऐसा लगता है। आहाहा! तत्त्व की सूक्ष्म बात ऐसी है। अनन्त काल हुआ। अनन्त चौबीसी व्यतीत हो गयी, उसमें भगवान के समवसरण में अनन्त बार गया परन्तु यह तत्त्व सूक्ष्म अन्दर क्या है? सूक्ष्म तत्त्व है।

यहाँ जो भंग कहे, कि तत् अर्थात् उसस्वरूप से भगवान ज्ञायक है, वह ज्ञेयस्वरूप नहीं है। आहाहा! पहला ज्ञानस्वरूप से है... आहाहा! उस ज्ञान में जो ज्ञेय ज्ञात होते हैं, चाहे तो देव-गुरु-शास्त्र हो या भगवान की प्रतिमा हो या मन्दिर हो या भगवान की वाणी हो, वह सब ज्ञेय है। आहाहा! जानने‌योग्य है, यह भी व्यवहार से जानने‌योग्य है। निश्चय से तो अपने ज्ञान में इस ज्ञेय का जो ज्ञान होता है, उस ज्ञानाकार ज्ञान को आत्मा जानता है। अरे रे! ऐसी बातें दुनिया को मिलती नहीं, क्या करे? इससे ऐसा लगता है कि यह तो वह की वह बात आती है। बापू! ऐसा नहीं है, भाई! आहाहा! यह तो सन्त, मुनि परमेश्वर के—पंच परमेष्ठी के पद में हैं, उन पंच परमेष्ठी के पद में रहे हुए करुणा से जगत को प्रसिद्ध करते हैं। आहाहा! उसे सूक्ष्म है, ऐसा जानकर अनादर नहीं करना, प्रभु! वह की वह बात आती है, ऐसा जानकर अनादर नहीं करना। वह की वह बात नहीं आती।

पहले तत् कहा। ज्ञान और ज्ञेय, बस! यह ज्ञानस्वरूप भगवान है और ज्ञेय पंच परमेष्ठी ज्ञेय है, साक्षात् जीवन्त समवसरण में विराजमान (हों) उस ज्ञेयरूप से भी आत्मा नहीं है। आहाहा! सूक्ष्म पड़े, प्रभु! क्या हो? कभी आत्मा की दरकार नहीं की। जब लोगों का मरण सुनते हैं, यहाँ यह मर गया, यहाँ यह... अरे रे! मनुष्य देह चली जाती है। सवेरे यह आया था। मरण तो अवश्य आनेवाला ही है। आहाहा!

यहाँ आठवें भंग में कलश कहते हैं। क्या कहते हैं? पहले तत्-अतत् आया, पश्चात् एक-अनेक आया। स्वरूप से एक हूँ, यह द्रव्यदृष्टि से होने पर भी पर्यायदृष्टि से गुण और पर्याय अनन्त है तो अनेक (अनन्त) भी हूँ। पर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! एक-अनेक आ गया, तत्-अतत् ऐसे चार (भंग) आ गये। अब द्रव्य से-वस्तु से देखें तो अपना भगवान अपने से है, परद्रव्य त्रिलोकनाथ तीर्थंकर से भी यह आत्मा नहीं है। यह द्रव्य। वह अपने से है, पर से नहीं। ऐसे द्रव्य के दो भंग आ गये। क्षेत्र का एक भंग आया कि मेरे क्षेत्र में मैं हूँ, मेरे क्षेत्र में अर्थात् असंख्य प्रदेश में परक्षेत्र ज्ञात होता है, वह तो मेरे ज्ञान का स्वभाव ज्ञात हुआ है, परक्षेत्र तो निमित्तमात्र है। परक्षेत्र का यहाँ ज्ञान होता है, वह अपने ज्ञान का स्वभाव, स्व और पर का जानने का स्वभाव होने से परक्षेत्र का ज्ञान होता है परन्तु वह तो ज्ञान की पर्याय स्वयं की है। वह कहीं परक्षेत्र के कारण परक्षेत्र का ज्ञान नहीं होता। आहाहा! यह स्वक्षेत्र से अस्ति (कही)। यह आया।

देखो यहाँ, परक्षेत्र से नास्ति का आठवाँ भंग है। है? २५५ कलश।

कलश - २५५

(अब, आठवें भंग का कलशरूप काव्य कहते हैं-)

(शार्दूलविक्रीडित)

स्वक्षेत्रस्थितये पृथग्विधपरक्षेत्रस्थितार्थोज्झनात्,
तुच्छीभूय पशुः प्रणश्यति चिदाकारान् सहार्थैर्वमन्।
स्याद्वादी तु वसन् स्वधामनि परक्षेत्रे विदन्नास्तितां,
त्यक्तार्थोऽपि न तुच्छतामनुभवत्याकारकर्षी परान्।।२५५।।

श्लोकार्थ : [पशुः] पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, [स्वक्षेत्र-स्थितये पृथग्विध-परक्षेत्र-स्थित-अर्थ-उज्झनात्] स्वक्षेत्र में रहने के लिये भिन्न-भिन्न परक्षेत्र में रहे हुए ज्ञेय पदार्थों को छोड़ने से, [अर्थैः सह चिद् आकारान वमन्] ज्ञेय पदार्थों के

साथ चैतन्य के आकारों का भी वमन करता हुआ (अर्थात् ज्ञेय पदार्थों के निमित्त से चैतन्य में जो आकार होता है, उनको भी छोड़ता हुआ) [तुच्छीभूय] तुच्छ होकर [प्रणश्यति] नाश को प्राप्त होता है; [स्याद्वादी तु] और स्याद्वादी तो [स्वधामनि वसन्] स्वक्षेत्र में रहता हुआ, [परक्षेत्रे नास्तितां विदन्] परक्षेत्र में अपना नास्तित्व जानता हुआ [त्यक्त-अर्थः अपि] (परक्षेत्र में रहे हुए) ज्ञेय पदार्थों को छोड़ता हुआ भी [परान् आकारकर्षी] वह पर पदार्थों में से चैतन्य के आकारों को खींचता है (अर्थात् ज्ञेयपदार्थों के निमित्त से होनेवाले चैतन्य के आकारों को नहीं छोड़ता) [तुच्छताम् अनुभवति न] इसलिए तुच्छता को प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ – 'परक्षेत्र में रहे हुए ज्ञेय पदार्थों के आकाररूप चैतन्य के आकार होते हैं, उन्हें यदि मैं अपना बनाऊँगा तो स्वक्षेत्र में ही रहने के स्थान पर परक्षेत्र में भी व्याप्त हो जाऊँगा, ऐसा मानकर अज्ञानी एकान्तवादी परक्षेत्र में रहे हुए ज्ञेय पदार्थों के साथ ही साथ चैतन्य के आकारों को भी छोड़ देता है; इस प्रकार स्वयं चैतन्य के आकारों से रहित तुच्छ होता है, नाश को प्राप्त होता है। और स्याद्वादी तो स्वक्षेत्र में रहता हुआ, परक्षेत्र में अपने नास्तित्व को जानता हुआ, ज्ञेय पदार्थों को छोड़कर भी चैतन्य के आकारों को नहीं छोड़ता; इसलिए वह तुच्छ नहीं होता, नष्ट नहीं होता।'

इस प्रकार परक्षेत्र की अपेक्षा से नास्तित्व का भंग कहा है।।२५५।।

कलश-२५५ पर प्रवचन

स्वक्षेत्रस्थितये पृथग्विधपरक्षेत्रस्थितार्थोज्झनात्,
तुच्छीभूय पशुः प्रणश्यति चिदाकारान् सहार्थैर्वमन्।
स्याद्वादी तु वसन् स्वधामनि परक्षेत्रे विदन्नास्तितां,
त्यक्तार्थोऽपि न तुच्छतामनुभवत्याकारकर्षी परान् ।।२५५।।

आहाहा! **पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी,...** आठवाँ भंग। परक्षेत्र का आया ? सूक्ष्म बात है, प्रभु! पूरे बारह अंग का सार है। यह आत्मा असंख्य प्रदेशी अपने में है। इन असंख्य प्रदेश में अनन्त गुण हैं। तो वे अपने स्वक्षेत्र में है। परक्षेत्र का ज्ञान करता

है, वह परक्षेत्र का ज्ञान नहीं है। परक्षेत्र का ज्ञान अपनी ज्ञान की पर्याय में होता है, वह अपना स्वभाव है। वह परक्षेत्र का जानना नहीं है। परक्षेत्र ज्ञानाकार में ज्ञात हुआ, वह ज्ञान की अपनी पर्याय है। वह परक्षेत्र ज्ञात हुआ है, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें हैं, प्रभु! अरे! ऐसा काल कब आवे? यह कहते हैं। देखो!

पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी,... 'स्वक्षेत्रस्थितये' स्वक्षेत्र में रहने के लिये भिन्न-भिन्न परक्षेत्र में रहे हुए... अपने अतिरिक्त परक्षेत्र में भगवान समवसरण में विराजते हैं परन्तु उस परक्षेत्र में रहे हुए **ज्ञेय पदार्थों को छोड़ने से,...** क्या कहते हैं? अपने ज्ञान क्षेत्र में रहने के लिये परक्षेत्र में रहे हुए का जो ज्ञान है, उस ज्ञान को छोड़ दूँ तो मैं स्वक्षेत्र में रह सकूँगा। आहाहा! प्रभु! शान्ति से सुनना। ख्याल में है। सेठ के घर से बहिन आयी बेचारी परन्तु यह सूक्ष्म बात है, माँ! सुने तो सही। आहाहा! हमारे तो सब माता है, सब भगवान है। आहाहा! सूक्ष्म बत है, भाई!

यहाँ क्या कहते हैं? कि **स्वक्षेत्र में रहने के लिये...** अज्ञानी। अपने स्वक्षेत्र में जो परक्षेत्र का ज्ञान होता है, उस ज्ञान को निकाल डालूँ तो मैं स्वक्षेत्र में रहूँ। आहाहा! ऐसा वीतराग का मार्ग है। आहाहा! अरे! भगवान! तू तेरे क्षेत्र में है। तेरे असंख्य प्रदेश के क्षेत्र में रहने से परक्षेत्र का ज्ञेयाकार स्वयं के ज्ञानस्वभाव के कारण से होता है परन्तु उस परक्षेत्र के कारण नहीं है। परक्षेत्र का ज्ञान यहाँ ज्ञानाकार होने में स्वक्षेत्र और पर को जानने का स्व का स्वभाव होने से परक्षेत्र का जानना होता है, वह जानना परक्षेत्र का नहीं है। वह परक्षेत्र का ज्ञान हुआ, वह अपने स्वक्षेत्र का ज्ञान है। परन्तु अज्ञानी ऐसा मानता है कि यह परक्षेत्र का ज्ञान हुआ, उसे छोड़ दूँ। वह परक्षेत्र की चीज़ छोड़ दूँ। उसे छोड़ देने में परक्षेत्र की ज्ञानाकार पर्याय हुई, उसे भी छोड़ देता है। ऐसी बातें, भगवान! आहाहा! अरे! यह किस दिन मिले? आहाहा! भाई!

श्रीमद् कहते हैं, मनुष्य का एक समय... आहाहा! कौस्तुभमणि कहा न? कौस्तुभ मणि की करोड़ों की कीमत। उसकी कीमत के समक्ष इस मनुष्य की एक समय की कीमत तो... आहाहा! कौस्तुभमणि की कीमत कुछ नहीं है। मनुष्य का एक समय, प्रभु! आहाहा! उसमें भी अपने क्षेत्र में रहने के लिये अज्ञानी परक्षेत्र का जो ज्ञान होता है, वह

परक्षेत्र का ज्ञान, पर को छोड़ने से परक्षेत्र की ज्ञान की पर्याय जो अपने में अपने से होती है, उसे भी छोड़ देता है। आहाहा! अब ऐसी बात सूक्ष्म लगती है। क्या हो, प्रभु!

अनन्त काल हुआ, अनन्त अवतार हुए। निगोद के अनन्त अवतार, नरक के अनन्त अवतार। एक नरक के क्षण के दुःख... आहाहा! परमात्मा वर्णन करते हैं। पहली नरक की दस हजार वर्ष की स्थिति, उत्कृष्ट एक सागर की स्थिति। ऐसी तैंतीस सागर की (स्थिति) सातवें नरक में है। प्रत्येक समय दस हजार की स्थिति से अनन्त बार उत्पन्न होगा। दस हजार और एक समय की स्थिति से अनन्त बार उत्पन्न हुआ। ऐसे दो समय, तीन समय, चार समय करते-करते अन्तर्मुहूर्त... प्रत्येक समय में अनन्त बार उत्पन्न हुआ। आहाहा! अरे! मिथ्यात्व के कारण (उत्पन्न हुआ)। यह मिथ्यात्व बहुत सूक्ष्म चीज़ है, इस मिथ्यात्व के गर्भ में अनन्त नरक और निगोद के भव करने की ताकत है।

यहाँ यह कहते हैं कि अज्ञानी अपने क्षेत्र में रहने के लिये, परक्षेत्र का ज्ञान तो अपना है परन्तु उस परक्षेत्र को छोड़कर, परक्षेत्र सम्बन्धी जो अपना ज्ञान अपने में परक्षेत्र का होता है, उसे भी छोड़ देता है। समझ में आया? प्रभु! प्रभु! तेरे घर की बात है, भाई! माताओ! आहाहा! सूक्ष्म बात है, भगवान! भगवान रह गये महाविदेह में, उनकी बात रह गयी भरतक्षेत्र में। आहाहा! क्या कहा, समझ में आया?

अज्ञानी, स्वक्षेत्र में रहने के लिये भिन्न-भिन्न परक्षेत्र में रहे हुए ज्ञेय पदार्थों को छोड़ने से,... जो ज्ञात होता है, वह चीज़ तो मेरी नहीं है, ऐसे अज्ञानी छोड़ देता है परन्तु **ज्ञेय पदार्थों के साथ चैतन्य के आकारों का भी वमन करता हुआ...** आहाहा! इस ज्ञान में परक्षेत्र का ज्ञान स्वयं से होता है, परक्षेत्र का ज्ञान होता है स्वयं से। उस परक्षेत्र को छोड़ देने से, परक्षेत्र का ज्ञान जो अपना ज्ञानाकार ज्ञान अपने से हुआ, उसे भी छोड़ देता है कि वह परक्षेत्र का ज्ञान है। अरे! प्रभु! परक्षेत्र सम्बन्धी तेरा ज्ञान तुझ में है। आहाहा! ऐसी बात है, प्रभु! ख्याल है, प्रभु! सभा साधारण है परन्तु यह बात कभी लक्ष्य में नहीं ली। आहाहा!

मैं मेरे क्षेत्र में ही हूँ। मेरे क्षेत्र में रहकर, असंख्य प्रदेश में रहकर मेरे ज्ञान, आनन्द आदि स्वभाव है। ज्ञान उस परक्षेत्र को जानता है, तथापि परक्षेत्ररूप नहीं होता। परक्षेत्र का

ज्ञान जो हुआ, वह ज्ञान परक्षेत्र के कारण से नहीं हुआ। वह तो अपने स्व-परप्रकाशक ज्ञान के कारण से परक्षेत्र का ज्ञानाकाररूप ज्ञान जो होता है, वह अपनी पर्याय है। आहाहा! सेठ! यह कभी सुना नहीं ऐसी बात है, बापू! आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात। आहाहा! अरे! ऐसा अवसर...

स्वक्षेत्र में रहने के लिए अज्ञानी परक्षेत्र में रहे हुए ज्ञेय को छोड़ देता है परन्तु वह ज्ञेय पदार्थ का ज्ञान जो स्वयं से हुआ, वह ज्ञेयाकार ज्ञान हुआ, वह अपना है। उस ज्ञानाकार को भी छोड़ देता है कि यह परक्षेत्र का ज्ञान है। वह परक्षेत्र का ज्ञान नहीं, प्रभु! तेरे ज्ञान में परक्षेत्र सम्बन्धी ज्ञानाकार होना, वह तो तेरा स्वभाव है। आहाहा!

ज्ञेय पदार्थों के साथ चैतन्य के आकारों का... देखा? चैतन्य का आकार अर्थात् आत्मा में परक्षेत्र ज्ञात होता है, वह अपने चैतन्य का आकार है, वह चैतन्य का स्वरूप है। उस परक्षेत्र के कारण से नहीं। अज्ञानी उन **चैतन्य के आकारों का भी वमन करता हुआ...** —छोड़ देता है। आहाहा! **(अर्थात् ज्ञेय पदार्थों के निमित्त से चैतन्य में जो आकार होता है,...)** अर्थात् ज्ञानाकार ज्ञान परिणमता है **(उनको भी छोड़ता हुआ)...** आहाहा! परक्षेत्र से आँख मींचता है, परक्षेत्र के ज्ञान की पर्याय से भी आँख मींचता है। आहाहा! ऐसी बातें हैं, प्रभु!

अरे रे! एक-एक मृत्यु छोटी उम्र की सुनते हैं। पैंतीस-पैंतीस वर्ष, चालीस-चालीस वर्ष के हार्टफेल हो गया, यह हो गया। आज किसी की बात आयी। किसी की लड़की है न? लड़की के वर की। हेमचन्दभाई ... बड़े भाई के पुत्र के पुत्र। भूपेन्द्र डाईंग एण्ड प्रिन्टर्स मुम्बई में बड़ा है। चार भाई इकट्ठे थे, तब तो एक दिन की पाँच हजार की आमदनी। बड़ी दुकान थी। अब अलग हो गये। उनकी लड़की का पति अभी मर गया। कोई यहाँ कहता था। पैंतीस वर्ष की छोटी उम्र। ओहोहो! देह की स्थिति इतनी थी। बापू! जिस समय जितना काल यहाँ आत्मा की रहने की योग्यता है, उतना काल रहेगा। वह कर्म से या परक्षेत्र के कारण से नहीं। अपनी योग्यता से रहता है।

यहाँ अज्ञानी पर को छोड़ता है तो पर के ज्ञानाकार को भी छोड़ देता है। उसमें **तुच्छ होकर नाश को प्राप्त होता है;...** अपना नाश कर देता है। है न लालचन्दभाई! क्या

कहा? अपने ज्ञान में परक्षेत्र का ज्ञान स्वयं के कारण से होता है। अपना स्वभाव स्व-परप्रकाशक होने से परक्षेत्र को छोड़ दूँ तो मैं मेरे स्वक्षेत्र में रह सकूँगा, ऐसा जानकर परक्षेत्र को तो छोड़ता है, परन्तु उसके साथ परक्षेत्र के निमित्त से अपने में परक्षेत्र के ज्ञानाकार हुए, उन्हें भी छोड़ देता है, वमन कर डालता है। (ऐसा करने से वह) तुच्छ हुआ। आत्मा आत्मारूप से रहा नहीं। आहाहा! शान्तिभाई! ऐसी बात कहाँ है, बापू!

यह तो बीच में मुसाफिर है। पच्चीस कोस जाना हो... पहले तो गाड़ियाँ थी न? गाड़ियाँ और एका (थे), घोड़ागाड़ी भी नहीं थी। हमारे गाँव से बारह कोस दूर गारियाधार है। हमारी बहिन वहाँ थीं। सवेरे जायें। ऐका हो, एक ही बैल हाँके। सवेरे से निकलें तो शाम को बारह कोस पहुँचें। ऐसा तब था न! रेल नहीं, कुछ नहीं। आहाहा! अभी इतने साधन हो गये। तो भी वे साधन अपने नहीं हैं। आहाहा! उनके क्षेत्र को छोड़ देता है कि, यह मेरा नहीं परन्तु अज्ञानी साथ ही साथ परक्षेत्र के ज्ञानाकार स्वयं के कारण से हुए हैं, तो परक्षेत्र को छोड़ देता है और परक्षेत्र सम्बन्धी ज्ञानाकार चैतन्य को भी छोड़ देता है। अपने स्वक्षेत्र में रहने के लिये इसको (भी) परक्षेत्र मानता है। आहाहा! अभी समझना कठिन पड़े। आहाहा! है? **तुच्छ होकर नाश को प्राप्त होता है;...**

और स्याद्वादी... धर्मी। स्याद्वादी है न? स्यात् अर्थात् अपेक्षा से जाननेवाला। पर का ज्ञान भी है, ऐसा अपेक्षा से कहा है। वह पर का ज्ञान नहीं है। सामने अग्नि है तो यहाँ अग्नि का ज्ञान हुआ, वह अग्नि से नहीं। वह अग्नि से नहीं। अपनी पर्याय में उस समय में स्व का और अग्नि का ज्ञान होने की ताकत थी तो स्वयं से ज्ञान हुआ है, अग्नि से नहीं। आहाहा! परन्तु अज्ञानी अग्नि को छोड़ते समय अग्नि के ज्ञान, ज्ञेयाकार ज्ञानरूप पर्याय अपने में हुई, उसे भी छोड़ देता है और आत्मा तुच्छ होकर अपना नाश करता है। आहाहा! ऐसी बात है।

स्याद्वादी तो स्वक्षेत्र में रहता हुआ,... अपने क्षेत्र में रहता हुआ। अपना क्षेत्र कौन सा? असंख्य प्रदेश। देह से भिन्न, राग से भिन्न असंख्य प्रदेश। उसमें रहता हुआ **परक्षेत्र में अपना नास्तित्व जानता हुआ...** परक्षेत्र में अपना तो नास्तित्व है। परक्षेत्र से मैं नहीं हूँ। आहाहा! चाहे तो सम्मेदशिखर हो या चाहे तो गिरनार या शत्रुंजय हो, परन्तु

परक्षेत्र से तो मैं हूँ ही नहीं। वहाँ सम्मेदशिखर में दर्शन किये, वह पर्याय अपनी अपने से उत्पन्न होती है। यद्यपि वह शुभभाव है परन्तु वह शुभभाव बन्ध का कारण है। परन्तु धर्मीजीव परक्षेत्र को तो दृष्टि में से छोड़ता है परन्तु परक्षेत्र के ज्ञान की पर्याय को अपनी मानकर अपने में रखता है। परक्षेत्र के ज्ञान की पर्याय परक्षेत्र के कारण से नहीं हुई, वह तो स्वयं के कारण से हुई है। आहाहा! ऐसा उपदेश अब। अरे! जिन्दगी में करोड़ों रुपये महीने की आमदनी, बनिया को पाँच-पाँच करोड़ की आमदनी एक-एक वर्ष की, ऐसे बनिया अभी हैं। आहाहा! उससे क्या हुआ? आमदनी, हों! पूँजी का बात नहीं। पूँजी तो अरबों रुपये। आहाहा! यह क्या चीज़ है?

अपनी चीज में वह क्षेत्र ज्ञात होता है तो उस क्षेत्राकार जो ज्ञान हुआ, वह अपनी पर्याय अपने से हुई है। अज्ञानी परक्षेत्र को छोड़कर परक्षेत्र की अपनी ज्ञान की पर्याय हुई, उसे भी छोड़ देता है। ज्ञानी **पर पदार्थों में से चैतन्य के आकारों को खींचता है...** है? **परक्षेत्र में अपना नास्तित्व जानता हुआ, (परक्षेत्र में रहे हुए) ज्ञेय पदार्थों को छोड़ता हुआ...** आहाहा! ज्ञान में परक्षेत्र ज्ञात होता है, वह परक्षेत्र तो मैं नहीं, सम्मेदशिखर, गिरनार, शत्रुंजय तो मैं नहीं। है? **पर पदार्थों में से चैतन्य के आकारों को खींचता है...** परपदार्थ सम्बन्धी अपना जो ज्ञान हुआ, उस ज्ञान को खींचता है, पर से दूर खींचता है और अपने में रखता है। आहाहा! ऐसी बात मक्खन है। वीतराग तीन लोक के नाथ सर्वज्ञ परमेश्वर सीमन्धरस्वामी भगवान विराजते हैं, उनका यह तत्त्व मक्खन है। आहाहा! वहाँ से यह बात आयी है। यहाँ आकर मुनिराज ने बनाया। यह तो अमृतचन्द्राचार्य, भले भगवान के पास गये नहीं थे परन्तु इस भगवान के पास अन्दर में गये थे। आहाहा!

कहते हैं कि धर्मीजीव परपदार्थों में से चैतन्य के आकारों को खींचता है। परपदार्थ सम्बन्धी चैतन्य के आकार हों, वह तो अपना है। उस परक्षेत्र सम्बन्धी पर को और स्व को जानने का मेरा स्वभाव है, वह तो मेरा है। वह पर को जानने की पर्याय अपने में खींचकर रखता है और स्वक्षेत्र में रहता है। आहाहा! ऐसी बात सूक्ष्म पड़े, परन्तु बापू! यह मूल तत्त्व रह गया है। अनन्त काल गया। साधु हुआ, ग्यारह अंग पढ़ा, पंच महाव्रत की क्रिया की, नग्न मुनि (हुआ), अकेला जंगल में (रहा)। यह क्या है?

अन्दर में चैतन्य भगवान... यहाँ तो कहते हैं कि राग आया तो उस राग सम्बन्धी

ज्ञानाकार ज्ञान हुआ, वह स्वयं से हुआ है। उस राग को छोड़े परन्तु राग सम्बन्धी अपना ज्ञान है, उसे नहीं छोड़ता। यह भाव में आयेगा। समझ में आया? यहाँ तो क्षेत्र की बात है। **(ज्ञेयपदार्थों के निमित्त से होनेवाले चैतन्य के आकारों को नहीं छोड़ता), इसलिए तुच्छता को प्राप्त नहीं होता।** आत्मा चैतन्यस्वभाव से रहित नहीं होता। परक्षेत्र का ज्ञान अपना है। परक्षेत्र को छोड़ता हूँ परन्तु परक्षेत्र सम्बन्धी मेरा ज्ञान हुआ, उसे नहीं छोड़ता। इससे तुच्छ नहीं होता। अपने अस्तित्व में अपने आनन्द में रहता है। आहाहा! चाहे जिस परक्षेत्र में हो, परन्तु वह अपने क्षेत्र में आनन्द में रहता है। उसका नाम धर्मी है। आहाहा! ऐसी बात अब कहाँ?

भावार्थ – परक्षेत्र में रहे हुए ज्ञेय पदार्थों के आकाररूप (विशेष) चैतन्य के आकार होते हैं,... वह परक्षेत्र जो है, तद्नुसार चैतन्य में ज्ञान होता है। **उन्हें यदि मैं अपना बनाऊँगा...** अज्ञानी (ऐसा मानता है) **स्वक्षेत्र में ही रहने के स्थान पर परक्षेत्र में भी व्याप्त हो जाऊँगा,...** ऐसा अज्ञानी मानता है। पर का ज्ञान करने से, मैं पर का ज्ञान करूँगा तो मैं अपने में नहीं रह सकूँगा, इसलिए पर का ज्ञान छोड़ दूँ। परन्तु पर का ज्ञान, वह ज्ञान तो तेरी चीज़ है। आहाहा! धीरुभाई! ऐसी बातें हैं। आहाहा!

एक तो यहाँ सुनने आना मुश्किल है, आवे तो वापस ऐसी बात। आहाहा! इसमें कहीं मस्तिष्क काम नहीं करता। पूरे दिन दुनिया का व्यापार-धन्धा... आहाहा! महिलाओं को पूरे दिन लड़के-लड़कियों को सम्हालना, पकाना... आहाहा! यहाँ तो कहते हैं, वह कुछ कर नहीं सकता परन्तु वह परक्षेत्र मकान, बँगला है, उस परक्षेत्र में आत्मा है ही नहीं। उस परक्षेत्र को तो ज्ञानी छोड़ता है कि वह तो मैं हूँ नहीं परन्तु परक्षेत्र सम्बन्धी अपना ज्ञान है, उसमें मैं हूँ। वह तो मेरा ज्ञान है। अपने ज्ञान में रहने से अपनी स्थिति को छोड़ता नहीं। आहाहा!

अज्ञानी **स्वक्षेत्र में ही रहने के स्थान पर परक्षेत्र में भी व्याप्त हो जाऊँगा, ऐसा मानकर अज्ञानी एकान्तवादी परक्षेत्र में रहे हुए ज्ञेय पदार्थों के साथ...** परक्षेत्र में जो भगवान आदि रहे हों, उन्हें छोड़ता है **साथ ही साथ चैतन्य के आकारों को भी छोड़ देता है;...** अपने चैतन्य में परक्षेत्र का जानना अपने से है, उसे भी छोड़ देता है। यह पढ़े कहाँ और समझे कहाँ? पढ़ा है या नहीं कभी? आहाहा! बड़ा झवेरी है। आहाहा!

इस प्रकार स्वयं चैतन्य के आकारों से रहित तुच्छ होता है, नाश को प्राप्त होता है।

स्याद्वादी... ज्ञानी **तो स्वक्षेत्र में रहता हुआ, परक्षेत्र में अपने नास्तित्व को जानता हुआ,...** मैं परक्षेत्र से नहीं। परक्षेत्र सम्बन्धी मेरा ज्ञान है, तथापि मेरा ज्ञान परक्षेत्र से नहीं। आहाहा! सामने पुस्तक है या नहीं? **परक्षेत्र में अपने नास्तित्व को जानता हुआ, ज्ञेय पदार्थों को छोड़कर भी...** ज्ञान में ज्ञेय... आहाहा! भगवान जहाँ विराजते हैं और भगवान जहाँ से मोक्ष पधारे, उस क्षेत्र को ज्ञान में से छोड़ने पर भी उस सम्बन्धी अपने ज्ञान की पर्याय हुई, उसे नहीं छोड़ता। आहाहा! धीरे-धीरे शान्ति से (समझना)। यह तो अलौकिक बातें हैं, बापू! अनन्त काल में लोग प्रसन्न कैसे हों, ऐसा उपदेश मिले, ऐसे शास्त्र बनावे। मूल बात रह गयी। आहाहा! **चैतन्य के आकारों को नहीं छोड़ता; इसलिए वह तुच्छ नहीं होता, (नष्ट नहीं होता)। इस प्रकार परक्षेत्र की अपेक्षा से नास्तित्व का भंग कहा है।** मैं परक्षेत्र से नहीं। पहले सातवें में स्वक्षेत्र से हूँ, ऐसा कहा, इसमें—आठवें भंग में परक्षेत्र से नहीं, (ऐसा कहा)। (अब) नौवाँ। आहाहा!

कलश - २५६

(अब, नवमें भंग का कलशरूप काव्य कहते हैं-)

(शार्दूलविक्रीडित)

पूर्वालम्बित-बोध्य-नाश-समये ज्ञानस्य नाशं विदन्,
सीदत्येव न किञ्चनापि कलयन्नत्यन्ततुच्छः पशुः।
अस्तित्वं निजकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुनः,
पूर्णस्तिष्ठति बाह्यवस्तुषु मुहुर्भूत्वा विनश्यत्स्वपि ।।२५६।।

श्लोकार्थ : [पशुः] पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, [पूर्व-आलम्बित-बोध्य-नाश-समये ज्ञानस्य नाशं विदन्] पूर्वालम्बित ज्ञेय पदार्थों के नाश के समय ज्ञान का भी नाश जानता हुआ, [न किञ्चन अपि कलयन्] और इस प्रकार ज्ञान को कुछ भी (वस्तु) न जानता हुआ (अर्थात् ज्ञानवस्तु का अस्तित्व ही नहीं मानता हुआ),

[अत्यन्त-तुच्छः] अत्यन्त तुच्छ होता हुआ [सीदति एव] नाश को प्राप्त होता है; [स्याद्वादवेदी पुनः] और स्याद्वाद का ज्ञाता तो [अस्य निज-कालतः अस्तित्वं कलयन्] आत्मा का निज काल से अस्तित्व जानता हुआ, [बाह्यवस्तुषु मुहुः भूत्वा विनश्यत्सु अपि] बाह्य वस्तुऐं बारम्बार होकर नाश को प्राप्त होती हैं, फिर भी [पूर्णः तिष्ठति] स्वयं पूर्ण रहता है।

भावार्थ – पहले जिन ज्ञेय पदार्थों को जाने थे, वे उत्तर काल में नष्ट हो गये; उन्हें देखकर एकान्तवादी अपने ज्ञान का भी नाश मानकर अज्ञानी होता हुआ आत्मा का नाश करता है। और स्याद्वादी तो, ज्ञेय पदार्थों के नष्ट होने पर भी, अपना अस्तित्व अपने काल से ही मानता हुआ नष्ट नहीं होता।

इस प्रकार स्वकाल की अपेक्षा से अस्तित्व का भंग कहा है।।२५६।।

कलश-२५६ पर प्रवचन

---

२५६ (कलश)

पूर्वालम्बित-बोध्य-नाश-समये ज्ञानस्य नाशं विदन्,
सीदत्येव न किञ्चनापि कलयन्नत्यन्ततुच्छः पशुः।
अस्तित्वं निजकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुनः,
पूर्णस्तिष्ठति बाह्यवस्तुषु मुहुर्भूत्वा विनश्यत्स्वपि।।२५६।।

श्लोकार्थ : पशु अर्थात् एकान्तवादी अज्ञानी,... एक को ही देखनेवाला। **पूर्वालम्बित ज्ञेय पदार्थों के नाश के समय...** अब क्या कहते हैं ? ज्ञान में परपदार्थ की अवस्था जानने में आयी। परपदार्थ की अवस्था वर्तमान ज्ञान में ज्ञात हुई। वह परपदार्थ की अवस्था जहाँ बदल गयी, तो मेरा ज्ञान भी उसके कारण से बदल गया, ऐसा मानता है। आहाहा! **पूर्वालम्बित ज्ञेय पदार्थों के नाश के समय...** ज्ञान में पूर्व में जो पदार्थ ज्ञात हुआ था, वह बदल गया, उसमें ज्ञान का भी नाश जानता हुआ। अरे! मैं जाननेवाला उसे मैं जानता था, उसका नाश हुआ तो मेरा भी नाश हो गया, ऐसा अज्ञानी मानता है। यह काल की बात है। पहले द्रव्य, क्षेत्र की बात कही थी। आहाहा! सन्तों ने करुणा करके ऐसी बात

भरतक्षेत्र में प्रवाहित की है। वह प्रवाह पीनेवाले पी लेते हैं। आहाहा! बाकी तुच्छ होकर चले जाते हैं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, पूर्व में ज्ञान में जिस ज्ञेय पदार्थ का ख्याल आया था, उस परपदार्थ की पर्याय पलट गयी, उसके नाश के समय **ज्ञान का भी नाश जानता हुआ,...** ज्ञान की पर्याय में जैसे कि भगवान देखे। वह भगवान देखने की पर्याय छूट गयी। वहाँ से चले गये तो भगवान छूट गये तो उस सम्बन्धी ज्ञान की पर्याय भी छूट जाती है, ऐसा मानता है। परन्तु वह पर्याय तो अपनी थी। वह भगवान को देखने से ज्ञान की पर्याय हुई है, ऐसा नहीं है। आहाहा! और वह ज्ञान की पर्याय बदल गयी, वह तो अपने स्वकाल के कारण से बदल गयी, पर के कारण से नहीं। आहाहा!

स्वकाल। मैं त्रिकाल मेरा स्वरूप अनन्त आनन्द आदि हूँ। वह परकाल में पर अवलम्बन जो ख्याल में आता है, वह चीज़ पलट जाती है, उस समय भी मैं तो त्रिकाली ज्ञायक हूँ, ऐसा ज्ञानी जानता है। आहाहा! अज्ञानी पर का अवलम्बन लेता है तो इस पर का नाश होने से मेरा भी नाश हो गया, (ऐसा मानता है)। आहाहा!

जैसे दर्पण में अग्नि दिखती है और अग्नि निकल गयी तो वहाँ की पर्याय भी निकल गयी। इसलिए मानो दर्पण की पर्याय भी अग्नि गयी तो गयी, परन्तु वह तो दर्पण की पर्याय थी। वह दर्पण की पर्याय पलटकर दूसरी पर्याय अपने में हुई। इसी प्रकार आत्मा में अपने ज्ञान में परपदार्थ का काल ज्ञात होता है, वह अपनी पर्याय है। परपदार्थ का नाश हुआ तो भी अपनी पर्याय का नाश नहीं होता। और बदलती है तो अपनी पर्याय के कारण से बदलती है। आहाहा! परपदार्थ बदल गया, इसलिए अपनी पर्याय बदल गयी, ऐसा नहीं है। अरे रे! ऐसी बात।

पूर्वालम्बित ज्ञेय पदार्थों के नाश के समय ज्ञान का भी नाश जानता हुआ,... आहाहा! जिस समय परपदार्थ का ज्ञान था, उस परपदार्थ से मुझे ज्ञान हुआ, यह स्वकाल; पर के काल से अपने में स्वकाल मानता है। ऐसा मानकर अपनी ज्ञान की पर्याय का नाश करता है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बात है, प्रभु! आहाहा! अकेला मक्खन है। जैनदर्शन का पेट है। अनन्त तीर्थंकरों का हृदय है, अनन्त तीर्थंकरों का हृदय! आहाहा!

इस प्रकार ज्ञान को कुछ भी (वस्तु) न जानता हुआ (अर्थात् ज्ञानवस्तु का अस्तित्व ही नहीं मानता हुआ),... मेरे ज्ञान में परकाल को जानने की शक्ति मुझसे है। परकाल बदल गया तो मैं बदल गया भले परन्तु वह बदल गया परन्तु मेरी पर्याय मेरे कारण से बदली है। वह परवस्तु बदल गयी, इसलिए मेरी पर्याय बदली, ऐसा नहीं है। आहाहा! अमृत बरसता है भगवान का! आहाहा! कभी किया नहीं; इसलिए कठिन लगता है। माता, बहिनें, छोटी उम्र की हो, वृद्ध हो, बहुत पढ़े-गुने न हो, उन्हें ऐसी बातें (कठिन लगे)। बहिन! माता! तुम भी भगवान हो न! आहाहा!

तेरे ज्ञान में वर्तमान काल में जो चीज़ ज्ञात होती है, वह ज्ञान अपना है, परन्तु अज्ञानी को ऐसा लगता है कि यह वस्तु है तो मुझे ज्ञान हुआ। यह वस्तु है तो मुझे वस्तु का ज्ञान होता है। ज्ञानी ऐसा जानता है... देखो! आया? **इस प्रकार ज्ञान को कुछ भी (वस्तु) न जानता हुआ, अत्यन्त तुच्छ होता हुआ...** ज्ञान की पर्याय में पर को जानता है, काल... काल... समय, उस समय की अवस्था बदल गयी तो मैं भी पूरा बदल गया, ऐसा अज्ञानी मानता है। उसकी दृष्टि पर के ऊपर है। अपना ज्ञायकस्वरूप त्रिकाल है तो मेरी पर्याय में उस सम्बन्धी का ज्ञान था तो दूसरे समय में दूसरे सम्बन्धी का अपना ज्ञान था। उसका नाश हुआ तो मेरी पर्याय का नाश हो गया, ऐसा नहीं है। भगवान! शान्ति से सुनना। कठिन बात है, सब ख्याल है। आहाहा! और मानो वह की वह बात आती हो, ऐसा लगे, परन्तु ऐसा नहीं है। पहले द्रव्य की बात थी, फिर क्षेत्र की थी, अब यह काल की (बात) है, पश्चात् भाव की (बात) आयेगी। आहाहा!

इस प्रकार ज्ञान को कुछ भी (वस्तु) न जानता हुआ (अर्थात् ज्ञानवस्तु का अस्तित्व ही नहीं मानता हुआ), अत्यन्त तुच्छ होता हुआ नाश को प्राप्त होता है;... आत्मा का ही नाश कर डालता है। पर की अवस्था जानने में पर की अवस्था पलटती है तो अपना भी नाश हो गया, ऐसा मानता है, परन्तु वह अपनी पर्याय का काल ही पर को जानने का था और स्व को जानने का था, वही पर्याय पलटकर दूसरे समय में उत्पाद-उत्पाद की अपेक्षा से हुआ है। आहाहा! यह परकाल का लक्ष्य है, अवलम्बन है तो यहाँ ज्ञान की पर्याय उत्पन्न हुई, ऐसा नहीं है। अपनी ज्ञान की पर्याय का उत्पाद, पर को

और स्व को जानती हुई उत्पन्न होती है। पर की अपेक्षा से जानती है, ऐसा नहीं है। आहाहा! अरे रे! ऐसी बात बाहर में नहीं आवे फिर... यहाँ तो बहुत पुस्तकें प्रकाशित हो गयी हैं। तीस लाख पुस्तकें तो प्रकाशित हो गयी है और सात लाख रुपये की मुम्बई से प्रकाशित करनेवाले हैं। दो पुस्तकें आयी हैं, अभी बहुत आयेगी। परन्तु पढ़नेवाले को अपनी दृष्टि बराबर निर्मल न हो तो पढ़े कुछ और गड़बड़ बोले। आहाहा!

स्याद्वादी धर्मीजीव... है? **स्याद्वाद का ज्ञाता...** अपेक्षा से जाननेवाला। पर के काल को मैं जानता हूँ, परन्तु पर के कारण से नहीं, मेरे कारण से मैं मुझे जानता हूँ। परकाल बदलने पर भी मैं पर के कारण से बदल गया, ऐसा नहीं है। अब ऐसी बात। वह तो सीधी बात थी—एकेन्द्रिय की दया पालना, व्रत पालना, भक्ति करना, पूजा करना, मन्दिर बनाना, गजरथ निकालना। आहाहा! राग और पुण्य है। राग और पुण्य है, प्रभु! आहाहा!

धर्मी जीव ज्ञाता तो **आत्मा का निज काल से अस्तित्व जानता हुआ,...** २५२ कलश में लिया था कि पर के कारण से तो मेरी पर्याय है नहीं, परन्तु अपनी जो स्वकाल की पर्याय है, वह भी त्रिकाली की अपेक्षा से तो परकाल है। आहाहा! २५२ कलश में बताया था। पर का ज्ञान अपनी पर्याय में अपने से होता है, वह स्वकाल। परन्तु वह स्वकाल भी त्रिकाल की अपेक्षा से परकाल है। आहाहा! क्या कहा? अपनी ज्ञान की पर्याय में जो पर की अवस्था ज्ञात होती है, वह अपनी पर्याय स्वकाल है और परकाल—अवस्था जो है, उसकी उसमें नास्ति है, उसे स्वकाल कहा परन्तु उससे भी आगे जाकर भगवान ने तो ऐसा लिया कि पर को जानने की तेरी जो पर्याय है, वह पर्याय भी परकाल है। एक समय की अवस्था है और स्वकाल तो त्रिकाली वस्तु, वह स्वकाल है। आहाहा! ऐसी बात है, प्रभु! कान में तो पड़े।

अरे! जाना कहाँ है? आहाहा! कोई शरण नहीं। चौरासी के अवतार में कहीं नजर डालो कोई मदद करे, सहायता करे—ऐसी कोई चीज़ नहीं है। तेरी शरण तुझमें है। आहाहा! अरिहन्ता शरणां, सिद्धा शरणं—ऐसा मांगलिक में जो कहा, वह भी व्यवहार की बात है, प्रभु! वह तो शुभभाव की बात है। आहाहा! उससे भी भिन्न अपने काल में भगवान की पर्याय को जाना, भगवान का लक्ष्य छोड़ दिया तो जो ज्ञान की पर्याय है, उसे भी छोड़

देता है। परन्तु यहाँ ज्ञानी तो कहते हैं कि वह तो अपने ज्ञान की पर्याय थी। पर को, भगवान को जाना, वह मेरी ज्ञान की पर्याय थी। अपनी पर्याय भी अपने स्वकाल से त्रिकाल से उत्पन्न होती है। वह कहीं पर के काल से उत्पन्न नहीं हुई। ऐसा जानकर **आत्मा का निज काल से अस्तित्व जानता हुआ,...** आहाहा! है?

बाह्य वस्तुएँ बारम्बार होकर नाश को प्राप्त होती हैं,... बाह्य वस्तु तो समय-समय में पलटती है। **फिर भी... 'पूर्णः तिष्ठति' स्वयं पूर्ण रहता है।** बाह्य चीज़ पलटकर मेरी ज्ञान की पर्याय पलटी तो मेरा नाश हो गया, ऐसा नहीं है। मैं तो ज्ञानानन्द सहजानन्द पूर्ण हूँ, ऐसे अपने स्वकाल में त्रिकाल को अपना मानकर और अपनी पर्याय अपने से-त्रिकाल से, त्रिकाली के अवलम्बन से उत्पन्न हुई है, पर के अवलम्बन से उत्पन्न नहीं हुई, (ऐसा ज्ञानी जानता है)। आहाहा! है?

बाह्य वस्तुएँ बारम्बार होकर नाश को प्राप्त होती हैं, फिर भी... धर्मी तो **स्वयं पूर्ण रहता है।** मुझमें पर के कारण से कोई नाश नहीं होता। आहाहा! अरे रे! कभी सुना न हो, जिन्दगी में वाँचन किया हो तो बाहर में यह किया और यह किया और यह किया और यह किया... कौन करे प्रभु! एक रजकण भी बदलने की आत्मा की ताकत नहीं है। उस रजकण सम्बन्धी काल का ज्ञान भी अपना ज्ञान है, उस पर के कारण रजकण का ज्ञान नहीं हुआ। आहाहा! सूक्ष्म लगे परन्तु प्रभु! बात तो तेरे घर की है। आहाहा! तेरे घर की बात है। स्वयं पूर्ण (रहता है)।

भावार्थ - पहले जिन ज्ञेय पदार्थों को जाने थे... पहले जो ज्ञेय पदार्थों को जाने थे **वे उत्तर काल में नष्ट हो गये;...** पर्याय बदल गयी। **उन्हें देखकर एकान्तवादी अपने ज्ञान का भी नाश मानकर...** है भावार्थ? आहाहा! अरे! सन्त ऐसे निधान छोड़ गये। इसके पिता उत्तराधिकार छोड़ गये हों... आहाहा!

एक बार ऐसा बना था। हरजीवनदास मास्टर थे, नाग्नेश में। बहुत वर्ष पहले गुजर गये। उन्होंने विवाह नहीं किया था, स्त्री नहीं थी। उनके भाई थे, वे जहाँ गुजर गये तो उनके पास जो पैसा था और चाबी थी, उनके पुत्र ने न लेकर भाई ने ले ली। यह बनी हुई बात है। हरजीवन मास्टर बहुत प्रसिद्ध थे, जैनशाला पढ़ाते थे। बहुत वर्ष हुए। उनके साथ भी

बहुत चर्चा हुई थी। वे जब गुजर गये, तब उनके पास जो चाबी थी, वह उनका पुत्र न ले ले, इसलिए उनके छोटे भाई ने चाबी एकदम ले ली। अभी मुर्दा पड़ा है। आहाहा! देखो! यह संसार!! आहाहा! पश्चात् तो थोड़े भाग किये, थोड़ा-थोड़ा दिया। परन्तु उनके छोटे भाई ने कहा, मेरा भाई है न! मेरे भाई की पूँजी है न, तो मैं उस पूँजी का हकदार हूँ, लड़का बाद में। यहाँ तो कहते हैं कि किसी का हकदार नहीं। आहाहा! उस पूँजी की जो पर्याय है, उस पर्याय का ज्ञान यहाँ होता है, वह ज्ञान अपना है, वह पूँजी का ज्ञान नहीं है और पूँजी पलटती है तो अपनी पर्याय भी पलटती है, वह अपने स्वभाव का लक्ष्य है, उस लक्ष्य से पर्याय पलटती है, पर के लक्ष्य से पर्याय पलटती है, ऐसा नहीं है। यह काल की बात चलती है।

उत्तर काल में नष्ट हो गये; उन्हें देखकर एकान्तवादी अपने ज्ञान का भी नाश मानकर अज्ञानी होता हुआ आत्मा का नाश करता है। और स्याद्वादी तो, ज्ञेय पदार्थों के नष्ट होने पर भी, अपना अस्तित्व अपने काल से ही मानता हुआ नष्ट नहीं होता। अपना अस्तित्व तो अपने काल से अपनी पर्याय से है, मैं त्रिकाली हूँ। उसके आश्रय से पर्याय होती है, उसका अस्तित्व मुझमें है, परकाल के कारण और परद्रव्य की पर्याय के कारण यहाँ पर्याय होती है, ऐसा धर्मीजीव नहीं मानते। आहाहा! **इस प्रकार स्वकाल की अपेक्षा से अस्तित्व का भंग कहा है।** स्वकाल। स्वकाल किसे कहा? पर्याय को अथवा त्रिकाली चीज़ को। त्रिकाली चीज़ को स्वकाल कहा और वर्तमान पर्याय को भी पर की अपेक्षा से स्वकाल कहा। स्व की अपेक्षा से परकाल। आहाहा! गजब बात है। क्या कहा?

फिर से, भगवान आत्मा तो त्रिकाली है, वह उसका स्वकाल है। स्वकाल अर्थात् अपनी मर्यादा में वह है। और परकाल से जो ज्ञान हुआ, वह अपनी पर्याय में अपने से है तो पर की अपेक्षा से (स्वकाल हुआ), वह ज्ञान की पर्याय अपनी पर्याय में स्वकाल से हुई है परन्तु वह स्वकाल है, वह परकाल की अपेक्षा से स्वकाल है और त्रिकाल की अपेक्षा से उस पर्याय का काल भी परकाल है। आहाहा! पर को जानने की बात तो है ही नहीं। समझ में आया? आहाहा! यह भंग (पूरा) हुआ। दसवाँ भंग। २५७ (कलश) है न?

कलश - २५७

(अब, दशवें भंग का कलशरूप काव्य कहते हैं-)

(शार्दूलविक्रीडित)

अर्थालम्बनकाल एव कलयन् ज्ञानस्य सत्त्वं बहि-
र्ज्ञेयालम्बन-लालसेन मनसा भ्राम्यन् पशुर्नश्यति।
नास्तित्वं परकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुन-
स्तिष्ठत्यात्मनिखातनित्यसहजज्ञानैकपुञ्जीभवन् ।।२५७।।

श्लोकार्थ : [पशु:] पशु अर्थात् अज्ञानी एकान्तवादी, [अर्थ-आलम्बन-काले एव ज्ञानस्य सत्त्वं कलयन्] ज्ञेय पदार्थों के आलम्बन काल में ही ज्ञान का अस्तित्व जानता हुआ, [बहि: ज्ञेय-आलम्बन-लालसेन-मनसा भ्राम्यन्] बाह्य ज्ञेयों के आलम्बन की लालसावाले चित्त से (बाहर) भ्रमण करता हुआ [नश्यति] नाश को प्राप्त होता है; [स्याद्वादवेदी पुन:] और स्याद्वाद का ज्ञाता तो [पर-कालत: अस्य नास्तित्वं कलयन्] पर काल से आत्मा का नास्तित्व जानता हुआ, [आत्म-निखात-नित्य-सहज-ज्ञान-एक-पुञ्जीभवन्] आत्मा में दृढ़तया रहा हुआ नित्य सहज ज्ञान के पुंजरूप वर्तता हुआ [तिष्ठति] टिकता है-नष्ट नहीं होता।

भावार्थ : एकान्तवादी ज्ञेयों के आलम्बन काल में ही ज्ञान का सत्पना जानता है, इसलिए ज्ञेयों के आलम्बन में मन को लगाकर बाहर भ्रमण करता हुआ नष्ट हो जाता है। स्याद्वादी तो परज्ञेयों के काल से अपने नास्तित्व को जानता है, अपने ही काल से अपने अस्तित्व को जानता है; इसलिए ज्ञेयों से भिन्न ऐसा ज्ञान के पुंजरूप वर्तता हुआ नाश को प्राप्त नहीं होता।

इस प्रकार परकाल की अपेक्षा से नास्तित्व का भंग कहा है।२५७।

कलश-२५७ पर प्रवचन

अर्थालम्बनकाल एव कलयन् ज्ञानस्य सत्त्वं बहि-
र्ज्ञेयालम्बन-लालसेन मनसा भ्राम्यन् पशुर्नश्यति।

नास्तित्वं परकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुन-
स्तिष्ठत्यात्मनिखातनित्यसहजज्ञानैकपुञ्जीभवन् ।।२५७।।

श्लोकार्थ – पशु अर्थात् अज्ञानी एकान्तवादी, ज्ञेय पदार्थों के आलम्बन काल में ही ज्ञान का अस्तित्व जानता हुआ,... परपदार्थ का ख्याल आया, वहाँ तक मैं हूँ, पदार्थ का नाश होता है तो मेरा भी नाश होता है, ऐसा मानता है। आहाहा! मेरा क्षेत्र, मेरा काल, मेरा भाव... आहाहा! सब चीज़ की पर्याय को जानता है, उस जानने के काल **में ज्ञेय पदार्थों के आलम्बन काल में ही ज्ञान का अस्तित्व जानता हुआ,...** अज्ञानी **बाह्य ज्ञेयों के आलम्बन की लालसावाले चित्त से...** बाह्य ज्ञेय को पकड़ने की लालसावाला अज्ञानी **(बाहर) भ्रमण करता हुआ...** बाह्य में भ्रमण करता है। इसे जाना, इसे जाना, इसे जाना, इसे जाना। आहाहा!

नाश को प्राप्त होता है;... अपने अस्तित्व का—मौजूदगी का (नाश करता है)। मैं तो मुझसे जानता हूँ, परपदार्थ पलट गये तो मैं भी पलट गया, ऐसा नहीं है। आहाहा! और पलट गये तो मेरी त्रिकाली वस्तु है, उसके आश्रय से मेरी पर्याय में पलट गया। परवस्तु का नाश हुआ और गयी; इसलिए पलट गया—ऐसा ज्ञानी नहीं मानता। अरे रे! ऐसी बात। एक बार कहा था न? आचार्य कहते हैं, हम बात करते हैं, प्रभु! तुझे समझ में न आये तो अरुचि नहीं करना, हमें माफ करना। हमारे पास तो यह चीज़ है, दूसरी चीज़ क्या कहें? आहाहा! माफ करना, ऐसा कहा। आहाहा!

यहाँ यह कहा, **बाह्य ज्ञेयों के आलम्बन की लालसावाले चित्त से (बाहर) भ्रमण करता हुआ नाश को प्राप्त होता है; और स्याद्वाद का ज्ञाता...** स्याद्वादी अर्थात् धर्मी (ऐसा मानता है कि) जाननेवाला तो मैं हूँ। **परकाल से आत्मा का नास्तित्व जानता हुआ,...** परकाल से मेरी चीज़ नहीं। परचीज़ बदल जाओ, मकान का नाश हो जाओ, पूरी चीज़ नाश पाओ; मेरा नाश कभी नहीं होता। मेरी पर्याय का नाश भी पर के कारण से नहीं होता। आहाहा! **परकाल से आत्मा का नास्तित्व जानता हुआ, आत्मा में दृढ़तया रहा हुआ...** धर्मी **नित्य सहज ज्ञान के पुंजरूप वर्तता हुआ...** मैं तो स्वाभाविक ज्ञान का त्रिकाली पुंज हूँ। पर के कारण से मुझमें ज्ञान है, ऐसा नहीं है। ऐसे **'तिष्ठति' टिकता है–नष्ट नहीं होता।** आत्मा का नाश नहीं होने देता।

भावार्थ – एकान्तवादी (अज्ञानी) ज्ञेयों के आलम्बन काल में ही ज्ञान का सत्पना जानता है,... ज्ञान में वह ज्ञात होता है, तब तक मेरा ज्ञान है। आहाहा! **इसलिए ज्ञेयों के आलम्बन में मन को लगाकर बाहर भ्रमण करता हुआ नष्ट हो जाता है।** आहाहा! यह लिया और यह लिया और यह लिया यह लिया और गिरनार के दर्शन किये, शत्रुंजय के किये तथा सम्मेदशिखर के किये और मन वहाँ लगा दिया।

स्याद्वादी तो परज्ञेयों के काल से अपने नास्तित्व को जानता है, अपने ही काल से अपने अस्तित्व को जानता है; इसलिए ज्ञेयों से... आत्मा के ज्ञान में जो परमेश्वर भी ज्ञात हुए, उनसे भी मैं भिन्न हूँ, ऐसे भिन्न **ऐसा ज्ञान के पुंजरूप वर्तता हुआ नाश को प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार परकाल की अपेक्षा से नास्तित्व का भंग कहा है।** अब ग्यारहवें भंग के कलशरूप काव्य कहेंगे। दस हुए।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश - २५८

(अब ग्यारहवें भंग का कलशरूप काव्य कहते हैं-)

(शार्दूलविक्रीडित)

विश्रान्तः परभावभावकलनान्नित्यं बहिर्वस्तुषु,
नश्यत्येव पशुः स्वभावमहिमन्येकान्तनिश्चेतनः।
सर्वस्मान्नियत-स्वभाव-भवन-ज्ञानाद्विभक्तो भवन्,
स्याद्वादी तु न नाशमेति सहजस्पष्टीकृतप्रत्ययः।।२५८।।

श्लोकार्थ : [पशुः] पशु अर्थात् एकान्तवादी अज्ञानी, [परभाव-भाव-कलनात्] परभावों के भवन (अस्तित्वक-परिणमन) को ही जानता है (अर्थात् परभाव से ही अपना अस्तित्व मानता है,) इसलिए [नित्यं बहिः-वस्तुषु विश्रान्तः] सदा बाह्य वस्तुओं में विश्राम करता हुआ, [स्वभाव-महिमनि एकान्त-निश्चेतनः] (अपने) स्वभाव की महिमा में अत्यन्त निश्चेतन (जड़) वर्तता हुआ, [नश्यति एव] नाश को प्राप्त होता है; [स्याद्वादी तु] और स्याद्वादी तो [नियत-स्वभाव-भवन-ज्ञानात् सर्वस्मात्-विभक्तः भवन्] (अपने) नियत स्वभाव के भवनस्वरूप (-परिणमनस्वरूप) ज्ञान के कारण सब (परभावों) से भिन्न वर्तता हुआ, [सहज-स्पष्टीकृत-प्रत्ययः] जिसने सहज स्वभाव का प्रतीतिरूप ज्ञातृत्व स्पष्ट-प्रत्यक्ष-अनुभवरूप किया है ऐसा होता हुआ, [नाशम् एति न] नाश को प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ : एकान्तवादी परभावों से ही अपना सत्पना मानता है, इसलिए बाह्य वस्तुओं में विश्राम करता हुआ आत्मा का नाश करता है; और स्याद्वादी तो, ज्ञानभाव ज्ञेयाकार होने पर भी ज्ञानभाव का स्वभाव से अस्तित्व जानता हुआ, आत्मा का नाश नहीं करता।

इस प्रकार स्व-भाव की (अपने भाव की) अपेक्षा से अस्तित्व का भंग कहा है।२५८।

प्रवचन नं. ४७६, श्लोक-२५८, २५९, २६० रविवार, भाद्र कृष्ण ४
दिनांक - २८-०९-१९८०

समयसार, ग्यारहवाँ भंग है। दस हो गये। चार बाकी हैं, चार। ग्यारह, बारह, तेरह और चौदह—चार बाकी हैं। **अब ग्यारहवें भंग का कलशरूप काव्य कहते हैं–** २५८।

विश्रान्तः परभावभावकलनान्नित्यं बहिर्वस्तुषु,
नश्यत्येव पशुः स्वभावमहिमन्येकान्तनिश्चेतनः।
सर्वस्मान्नियत-स्वभाव-भवन-ज्ञानाद्विभक्तो भवन्,
स्याद्वादी तु न नाशमेति सहजस्पष्टीकृतप्रत्ययः।।२५८।।

यह क्या अधिकार है ? कि आत्मा स्वभाव से अस्ति है और परभाव से नास्ति है, यह बाद में आयेगा। आहाहा! ऐसे तो साधारण बात है परन्तु गूढ़ बात है। क्या कहते हैं ? देखो! **पशु अर्थात् एकान्तवादी अज्ञानी,...** जिसे तत्त्व की दृष्टि की खबर नहीं, उसे तो यहाँ पशु कहकर बुलाया है। आहाहा! एकान्तवादी अर्थात् एक ओर ही नजर है। वस्तु का स्वभाव स्वयं से ज्ञान, दर्शन, आनन्द है—ऐसा नहीं मानकर परभाव से मेरा भाव है, ऐसा मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! यह कहते हैं।

एकान्तवादी अज्ञानी, परभावों के भवन को ही जानता है... रंग, गन्ध, रस, स्पर्श ये पुद्गल के भाव हैं। आहाहा! इस शरीर में भी जो यह रस, गन्ध, स्पर्श है, वह पुद्गल के भाव हैं और भगवान के तथा दूसरे आत्मा के ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द पर के भाव हैं। चेतन-अचेतन जो दो पदार्थ हैं, उनके जो भाव हैं, उसे अज्ञानी अपने अस्तित्व को नहीं मानकर पर के अस्तित्व के भाव से मैं हूँ, ऐसा मानता है। आहाहा! अब ऐसी बात। है ?

परभावों के भवन को ही जानता है... देखा ? यह रंग, गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द को जानता है। उनसे मैं हूँ। वे भाव मेरे हैं, ऐसा अज्ञानी मानता है। आहाहा! क्या कहा, समझ में आया ? ज्ञान में परपदार्थ के भाव, जड़ और चैतन्य के भाव पर में पर के हैं, उसे

अज्ञानी अपने ज्ञान में मानकर वे पर के भाव मेरे हैं, (ऐसा मानता है)। आहाहा! बहुत थोड़े शब्द हैं।

परभाव—उस परभाव में ये शब्द आये। रंग, गन्ध, रस, स्पर्श आदि शब्द से मैं हूँ। मेरा अस्तित्व उनसे है, ऐसा अज्ञानी मानता है। जब तक मैं बोल सकूँ, जब तक शरीर में रंग, गन्ध आदि हो या मेरे पास जब तक रंग, गन्ध आदि के पदार्थ हों, और मेरे पास जो आत्मा आदि है या दूर आत्मा है, उसके भाव के ऊपर लक्ष्य होने से वह भाव ही मैं हूँ, पर के भाव ही मैं हूँ। परभाव—इतने शब्द हैं। आहाहा! पहली लाईन, पहली पंक्ति।

परभावों के भवन... परभावों का होना, परिणमना। परभावों का अस्तित्व होकर रहे हुए परिणमन को ही जानता है। उसे ही जानता है कि ये भाव ही मेरे हैं। आहाहा! द्रव्य-क्षेत्र-काल तो आ गये, यह भाव आया। आहाहा! इस शरीर में रंग, रूप आदि है, वे जड़ के भाव हैं। अज्ञानी वे भाव मेरे हैं, ऐसा मानता है। आहाहा! शब्द, धीमे से बोलो या ऊँचे स्वर से बोले परन्तु वे सब पुद्गल के भाव हैं। शब्द, वह पुद्गल का भाव है। उसे अज्ञानी यह मेरे भाव हैं, यह शब्द मेरे हैं, यह रंग मेरा है... आहाहा! पुत्र रूपवान हो तो कहे, पुत्र रूपवान है। रूपवान का भाव तो उसका है, उसके शरीर का है। हमारा पुत्र रूपवान है, हमारी पुत्री रूपवान है। आहाहा!

अज्ञानी परभाव को अपने भाव मानता है। इस शब्द का स्पष्टीकरण है। आहाहा! अपने भाव में परभाव का ज्ञान होता है, वह ज्ञान परभाव का नहीं। अपने ज्ञान के स्वभाव में अपने भाव को और परभाव को जानना, वह अपना स्वभाव है, ऐसा नहीं मानकर परभाव का भवन—अस्तित्व, परिणमन को ही जानता है। **(अर्थात् परभाव से ही अपना अस्तित्व मानता है,)...** है कोष्ठक में? अन्तिम लाईन। आहाहा! यह झट चले, ऐसा कुछ नहीं है। एक-एक पंक्ति में बहुत भरा है। परभाव से ही अपना अस्तित्व मानता है। आहाहा!

यह सब शरीर, वाणी, मन, रंग, गन्ध, रस, स्पर्श, पर आत्मा के भाव, ये सब हैं तो मैं हूँ। इस प्रकार परभावों से अपना भाव मानता है। भाव की बात है। द्रव्य की बात चल गयी, क्षेत्र की चल गयी, काल की चल गयी, यह भाव (की चलती है)। एक की एक जैसी लगे परन्तु ऐसा नहीं है। यह चौथा भंग भाव का है। आहाहा! कोई सुन्दर चीज़

देखकर ऐसा माने कि यह हमारी चीज़ है। मकान में भी चित्राम आदि करके... रूप, रंग आदि करते हैं न? यह मेरा भाव है, यह मेरा मकान है, (ऐसा मानता है)। आहाहा!

जूनागढ़ की बात है न? एक दीवान था, मकान बनाया। दीवान बड़े गृहस्थ थे, इसलिए बड़ा मकान बनाया। बड़ा मकान बनाकर वास्तु किया। वास्तु में बड़े-बड़े सेठिया, अमलदार, अधिकारियों को बुलाया। वहाँ कहे, देखो! मेरा मकान देखो! कितने लाख का होगा। आहाहा! उस दिन देखा, दूसरे दिन देह छूट गयी। हम राजकोट थे, भाई! चातुर्मास था न, चातुर्मास? फिर बाहर मोरबीवाले का मकान बाहर नदी के किनारे (था)। नाम भूल गये। वनेचन्द, वनेचन्दभाई का मकान बाहर नदी के किनारे था। चौमासा पूरा हो गया था, पश्चात् शरीर को ठीक नहीं था, इसलिए वहाँ रहे थे। वहाँ रहे तब सामने नदी के किनारे लोग श्मशान में जाने निकले। उसमें उस व्यक्ति का जो मुर्दा था, उसके ऊपर ऐसी ऊँची चीज़ ढाँकी हुई। कपड़ा बहुत ऊँचा। मैने कहा, यह कौन है? तब कहे, कल जिसने वास्तु लिया था। बड़ा मकान बनाकर बड़े-बड़े सेठिया और अधिकारियों को बुलाया था, आज यह देह छूट गयी। आहाहा! हम तो नदी के किनारे थे, बड़ी नदी है न? राजकोट। सामने किनारे थे। सामने श्मशान की ओर मुर्दा जा रहा था। कहा, यह कौन है? ऊपर ऐसे चकचकाहट कपड़ा ऐसा डाला हुआ। आहाहा! परन्तु वह परभाव इस आत्मा का भाव है ही नहीं। वह मकान का रंग-रोगन और चित्राम और... आहाहा! मकान में पुरुषाकार स्वयं बनावे। पुरुष का पुतला स्वयं मकान में बनावे। पुरुष का पुतला बनावे। यह मेरा है, यह मेरा है। अरे! प्रभु! वह चीज़ तो पर है न! वह भाव तेरा आया कहाँ से? आहाहा! कागज में चित्राम करते हैं न? कपड़े में करते हैं, दीवार में करते हैं। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं कि इन दो लाईनों में इतना है। अज्ञानी परभावों के अस्तित्व को ही, परभाव को अस्तित्व को ही... इस ओर पहली लाइन। परभावों को ही अपना अस्तित्व मानता है। आहाहा! सूक्ष्म बात है। बहुत मुद्दे की बात है। अब इस ओर। **'नित्यं बहिः' सदा बाह्य वस्तुओं में विश्राम करता हुआ,...** अब इस ओर। परभाव को अपना मानता है, इस कारण से **'नित्यं बहिः-वस्तुषु विश्रान्तः' सदा बाह्य वस्तुओं में विश्राम करता हुआ,...** वहाँ ही उसका धाम (मानता है)। आहाहा! मेरा धाम है, यह मेरा मकान है, मेरा सन्दूक है, आहाहा! मेरा चित्र है। यह रंग, गन्ध, वर्ण, रस, स्पर्श और

शब्द, यह परभाव है और दूसरे आत्मा का ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि अनन्त भाव, वे पर के हैं। उन पर के भाव को अपने मानता है। क्योंकि अपने चीज के भाव की खबर नहीं है। अपने में अनन्त भाव भरे हैं—ज्ञान, दर्शन, आनन्द, शान्ति—इन अनन्त भाव की ओर का लक्ष्य नहीं होने से परभाव को ही अपना भाव मानकर। आहाहा! **सदा बाह्य वस्तुओं में विश्राम करता हुआ, (अपने) स्वभाव की महिमा में अत्यन्त निश्चेतन...** आहाहा! अपना स्वभाव जो आनन्द, ज्ञान और शान्ति है, उस ओर तो निश्चेतन—जड़ हो गया है। उस ओर की महिमा की तो खबर ही नहीं। आहाहा! थोड़े शब्द में आचार्य अमृतचन्द्राचार्य दिगम्बर सन्त जिन्होंने तीन शास्त्रों की टीका बनायी। समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय। इसके अतिरिक्त ग्रन्थ बनाये—पुरुषार्थसिद्धि उपाय, तत्त्वार्थसार। ओहोहो! मात्र मक्खन है। यह टीका उन्होंने बनायी है।

अज्ञानी **सदा बाह्य वस्तुओं में विश्राम करता हुआ, (अपने) स्वभाव की महिमा में अत्यन्त निश्चेतन...** अन्तर अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ प्रभु, अतीन्द्रिय सर्वांग ज्ञान से भरपूर ऐसे निजभाव में निश्चेतन होता हुआ, निजभाव में निश्चेतन—अचेतन। परभाव में मैं नहीं-ऐसा नहीं मानता। आहाहा! है? **स्वभाव की महिमा में अत्यन्त निश्चेतन (जड़) वर्तता हुआ,...** आहाहा! बात थोड़ी है, शब्द थोड़े हैं, भाव गहरे और मर्म बहुत है। आहाहा! अपने में अनन्त भाव भरे हैं, उनका तो लक्ष्य, दृष्टि नहीं और परद्रव्य के भाव से अपना अस्तित्व है, परभाव की अस्ति से मेरी अस्ति है... आहाहा! शरीर ठीक रहे तो मैं ठीक रहूँगा, वाणी ठीक हो तो मुझे विश्राम मिलेगा। आहाहा!

स्वभाव की महिमा में अत्यन्त निश्चेतन... परभावों को अपना मानकर अपने स्वभाव में निश्चेतन—अचेतन (होता हुआ), आहाहा! **नाश को प्राप्त होता है;...** अपनी चीज़ का तो नाश कर देता है। परभाव की महिमा करते-करते अपने चैतन्यभाव का नाश करता है। आहाहा। यह क्या कहते हैं?

स्याद्वादी... अब धर्मी। पहले एकान्ती अज्ञानी लिये, अब स्याद्वादी अर्थात् ज्ञानी। **स्याद्वादी तो 'नियत-स्वभाव-भवन-ज्ञानात् सर्वस्मात्-विभक्तः भवन्' (अपने) नियत स्वभाव के भवनस्वरूप ज्ञान के कारण...** धर्मी ऐसा मानता है कि मेरे ज्ञान का स्वभाव है तो स्वभाव में परभाव ज्ञात होता है, इससे परभाव मेरा है—ऐसा है

नहीं। मैं तो स्वभाव और परभाव को जाननेवाला मैं हूँ। स्वभाव का और परभाव का जाननेवाला मैं हूँ, ऐसा धर्मी मानता है। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बातें। मार्ग बहुत अलग प्रकार का है, भाई!

स्याद्वादी तो (अपने) नियत स्वभाव के भवनस्वरूप... परिणमनस्वरूप **ज्ञान के कारण...** परभाव का तो आत्मा ज्ञान करता है। वह परभाव का ज्ञान नहीं, अपने ज्ञान में वह स्व-पर ज्ञात होता है। अपने भाव में अपना भाव और परभाव ज्ञात होते हैं, वह तो अपना भाव है। अज्ञानी परभाव जानता है तो ऐसा मानता है कि मानो वह मुझमें आ गया और उनके कारण मुझमें परभाव का ज्ञान हुआ। ऐसा मानकर आत्मा को अचेतन मानता है। आहाहा!

धर्मी जीव **(अपने) नियत स्वभाव के भवनस्वरूप...** निश्चय जो ज्ञानानन्दस्वभाव के भवन—परिणमनस्वरूप ज्ञान के कारण। पर्याय ली है। जो अपना त्रिकाली भाव है, उसका परिणमन। परभाव को जानता है, अपने को जानता है, वह सब अपना (ज्ञान) है। उस परभाव को जानता है तो परभाव का ज्ञान नहीं है। आहाहा! अब ऐसी बातें। अभी झेल नहीं सकता, कठिन पड़ती है।

परभाव का जानना, वह अपना स्वभाव है। वह परभाव के कारण से नहीं है। परभाव का जानना और स्वभाव का जानना, यह दोनों स्वभाव अपने में अपने कारण से है। ऐसा नहीं मानकर अज्ञानी पर के कारण मेरा परिणमन है, (ऐसा मानता है)। धर्मी ऐसा मानता है कि **नियत स्वभाव के भवनस्वरूप...** वह तो मेरे स्वभाव में पर ज्ञात होते हैं, वह तो मेरी पर्याय की ताकत है। समझ में आया? अब ऐसा उपदेश। आहाहा! सूझ-बूझ पड़ती नहीं। अनन्त काल हुआ बाहर में मानकर जिन्दगी—जीवन निकाला है। अन्तर तत्त्व की क्या चीज़ है, उस ओर का पक्ष और समीपता, झुकाव भी किया नहीं। सवेरे आया था न? समीप! आहाहा! सन्मुखता। परसन्मुख भी नहीं और परसमीप भी नहीं। अज्ञानी परसमीप और परसन्मुखता को अपना मानता है। आहाहा!

ज्ञानी, **जिसने सहज स्वभाव का प्रतीतिरूप ज्ञातृत्व स्पष्ट-प्रत्यक्ष-अनुभवरूप किया है...** देखो! है? **नियत स्वभाव के भवनस्वरूप ज्ञान के कारण...** यह तो ज्ञान का स्वभाव है कि परभाव को जाने। वह परभाव के कारण से नहीं। वह अपने ज्ञानस्वभाव

का ज्ञान और परभाव का ज्ञान, इन दोनों को जानना, यह तो मेरा अपना स्वभाव है। दूसरे को जाना, इसलिए वह दूसरे का ज्ञान है—ऐसा है नहीं। आहाहा!

ज्ञान के कारण सब (परभावों) से भिन्न वर्तता हुआ,... धर्मी। सब रंग, गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द, शरीर और यह दूसरे आत्मा का ज्ञान, भगवान का केवलज्ञान भी मुझसे भिन्न है। भगवान के केवलज्ञान के भाव के कारण मुझमें भाव है, ऐसा नहीं है। आहाहा! अरे! ऐसी बातें कौन करे? मुश्किल पड़े। यह तो और इतने पुण्य और लोग सुनते हैं कि यह क्या कहते हैं? हमें क्या करना, यह सूझता नहीं। सूझता नहीं परन्तु करने का यहाँ करना है या बाहर करना है? यह हीरा, माणेक का जानपना, हीरा-माणेक के भाव का जानपना अपना अपने से है। तो अज्ञानी मानता है कि उसके भाव से मुझमें भाव है। यह पच्चीस हजार के, पचास हजार के, लाख के... अस्सी हजार का एक हीरा देखा था। बेचरभाई वहाँ राजकोट लाये थे। (संवत्) १९९९ के वर्ष। (संवत्) १९९९ का चौमासा था न वहाँ? वहाँ अस्सी हजार का हीरा डिब्बी में लाये थे। कहा, है तो ऊँचा। इसमें जरा एक पासा में मैल है। नहीं तो इसकी कीमत लाख, दो लाख हो जाए। आहाहा! इसी प्रकार भगवान में अनन्त पासा-अनन्त भाव भरे हैं। उस परभाव से मेरा भाव माने, वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा!

धर्मी जीव **ज्ञान के कारण सब (परभावों) से भिन्न वर्तता हुआ,...** परभाव का ज्ञान करता है, वह तो अपनी सामर्थ्य है परन्तु परभाव से भिन्न वर्तता हुआ। है? **जिसने सहज स्वभाव का प्रतीतिरूप ज्ञातृत्व...** जाननेवाले भगवान को प्रत्यक्ष किया है। राग का भी जहाँ अवलम्बन नहीं, निमित्त का अवलम्बन नहीं, पर्याय का अवलम्बन नहीं। आहाहा! पर्याय का अवलम्बन द्रव्य है। यह कहा, देखो! **ज्ञातृत्व स्पष्ट-प्रत्यक्ष-अनुभवरूप किया है...** आहाहा! इतने शब्द में कितना भरा है! है?

इतना ज्ञातृभाव, उसमें अनन्त भाव आ गये। ज्ञाता के भाव में अनन्त भाव (आये), वह मैं हूँ। मेरे ज्ञान में दूसरे के भाव ज्ञात होते हैं, वे भाव दूसरे के ज्ञात हुए—ऐसा नहीं। वह तो मेरी चीज़ ही है कि अपने भाव को भी जाने और परभाव को भी जाने। अपने में जानने का अपना स्वभाव है। अज्ञानी परभाव को जानता है तो परभाव है तो उसके कारण

से मुझे ज्ञान हुआ, (ऐसा मानता है)। ज्ञानी जानता है कि मुझे परभाव और स्वभाव का ज्ञान होता है, वह मेरा मुझमें है। आहाहा!

स्पष्ट... आचार्य ने जरा... धर्मी जीव ने **जिसने सहज स्वभाव का प्रतीतिरूप...** अकेली प्रतीति नहीं **ज्ञातृत्व स्पष्ट–प्रत्यक्ष...** (किया है)। आहाहा! जाननेवाला जो भाव—आत्मा है, उसका जिसने स्पष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष... किया है न? लाईन करके प्रत्यक्ष लिखा है। स्पष्ट का लाईन करके फिर अर्थ किया है। लाईन का अर्थ यह होता है। **ज्ञातृत्व स्पष्ट–प्रत्यक्ष–अनुभवरूप किया है, ऐसा होता हुआ, नाश को प्राप्त नहीं होता।** आहाहा! धर्मी जीव तो अपने भाव में परभाव का ज्ञान होता है, वह अपना है, वह परभाव के कारण अपना ज्ञान होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसे अपने भाव को प्रत्यक्ष ज्ञानरूप अनुभव करता हुआ। आहाहा! है? **नाश को प्राप्त नहीं होता।** अपना स्वरूप जो स्वपरप्रकाशक है, उसे अपने से जानता हुआ, पर के भाव जाने, वह कहीं परभाव के कारण से नहीं जाने हैं। वह तो अपनी शक्ति में 'स्वपरप्रकाशक शक्ति हमारी, तातैं वचन भेद भ्रम भारी।' आहाहा! स्व–पर भाव का भासन मेरे ज्ञान में मुझे प्रत्यक्ष हुआ है, वह मैं हूँ—ऐसा जानकर स्वयं नाश नहीं पाता। अपने को जीवन्त रखता है कि मैं तो ध्रुव चैतन्यमूर्ति स्व और पर को अपने में रहकर जाननेवाला हूँ। आहाहा! ऐसा उपदेश। सेठ! सेठ कहे, प्रचार है। बात सत्य है। यह सूक्ष्म वस्तु है। प्रचार के लिये अपने पर्यूषण के लिये निकले हैं। १९५ गाँव की माँग थी। १९५। इतने सब वाँचनकार नहीं मिलते। १३८ गाँव में तो गये हैं। १३८। आहाहा! सागर में कोई गया होगा। गया है?

मुमुक्षु : भोपालवाले ब्रह्मचारी हेमचन्दजी गये हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, हेमचन्दजी। १३८ गये हैं।

भावार्थ—भावार्थ है न? **एकान्तवादी...** अर्थात् एक ही परभावों से अपना सत्पना मानता है। वह एकान्तवादी। **परभावों से ही अपना सत्पना मानता है,...** परभाव से ही अपना अस्तित्व मानता है। इसलिए **बाह्य वस्तुओं में विश्राम करता हुआ...** बाह्य वस्तुओं में ही लक्ष्य फिराया करता है। जैसे मैं विशेष–विशेष करूँगा तो मुझे विशेष भाव होंगे, ऐसा करके बाहर में ही भटकाभटक करता है। आहाहा! **बाह्य वस्तुओं**

में विश्राम करता हुआ... विश्राम अर्थात्? बाह्य रंग, गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द आदि पर के, वे ही मेरे हैं—ऐसा विश्राम करते-करते अपनी चीज़ को भूल जाता है। अपने में अनन्त भाव भरे हैं, उस ओर की सन्मुखता और समीपता नहीं करता और परसन्मुख की समीपता तथा सन्मुखता करके अपने में यह परचीज़, परभाव है—ऐसा मानता है। आहाहा! ऐसा करके **आत्मा का नाश करता है;...**

स्याद्वादी तो, ज्ञानभाव ज्ञेयाकार होने पर भी... क्या कहते हैं? मेरा ज्ञान परज्ञेयरूप जानने के आकार होने पर भी, मैं पररूप हुआ नहीं। क्या कहा? ज्ञानस्वरूपी भगवान परभाव को जानने का आकार अपने में अपने कारण से होता है, तो उस आकार को छोड़ते नहीं। वह मेरी चीज़ ही है। मैं मुझे जानूँ, पर को जानूँ, वह मेरी चीज़ है। आहाहा! उस पर के कारण से मैं पर को जानू, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है। चौदह बोल में एकदम मक्खन डाला है। जैनदर्शन के प्राण हैं। आहाहा! अमृतचन्द्राचार्य अर्थात्, आहाहा! उनकी टीका का सानी कहीं मिले, ऐसा नहीं—ऐसी टीका है!! भले जयसेनाचार्य ने दूसरी टीका की है परन्तु अमृतचन्द्राचार्य की टीका और उनके श्लोक... ओहोहो!

कहते हैं कि एकान्तवादी तो पर से अपने को मानता है। **बाह्य वस्तुओं में विश्राम करता हुआ आत्मा का नाश करता है;...** मैं तो हूँ ही नहीं, उसके कारण से मैं हूँ। आहाहा! मेरे भाव में स्व और पर के भाव को जानने के भावरूप मेरी सत्ता—अस्तित्व है। ऐसी सत्ता नहीं मानकर पर को जानता है, वह चीज़ ही मैं हूँ, पर को जानता हूँ, वह चीज़ ही मेरी है—ऐसा मानकर स्व-पर जानने के अपने स्वभाव की सत्ता का नाश करता है। आहाहा! इस समय बराबर यह बोल आये। **नाश करता है;...**

और स्याद्वादी... धर्मी जीव—समकिती। यहाँ स्याद्वादी अर्थात् समकिती। भावार्थ में। **ज्ञानभाव ज्ञेयाकार होने पर भी...** मेरा ज्ञान, ज्ञेयाकार ज्ञान, ज्ञेय के आकार अपने में होने पर भी; भगवान को जानता हूँ, वह भी मेरी पर्याय है। आहाहा! रंग, गन्ध, रस, स्पर्श को जानता हूँ, वह तो मेरी पर्याय है। मेरा भाव है। उसको नहीं जानता। आहाहा! **बाह्य वस्तुओं में विश्राम करता हुआ (अज्ञानी) आत्मा का नाश करता है;...**

स्याद्वादी तो, ज्ञानभाव ज्ञेयाकार होने पर भी... ज्ञान में ज्ञेयों का ज्ञान होने पर

भी मैं पर के कारण से जानता हूँ और परभाव मेरे हैं, ऐसा ज्ञानी नहीं मानते। आहाहा! क्या कहा? देखो! **ज्ञानभाव ज्ञेयाकार होने पर भी...** ज्ञेय के भाव आया, ज्ञान हुआ वह तो स्वभाव है। स्व-पर जानने का तो स्वभाव है। वह ज्ञानभाव अपना ज्ञेयाकार अरिहन्त, पंच परमेष्ठी से लेकर निगोद के जीव और परमाणु से लेकर अनन्त परमाणु के अनन्त स्कन्ध, सब ज्ञेयाकार होने पर भी, उस ज्ञेय के स्वभाव से परिणमन होने पर भी **ज्ञानभाव का स्वभाव से अस्तित्व जानता हुआ,...** स्व और पर को जानता है, वह तो मेरा अस्तित्व है, मेरी मौजूदगी है। आहाहा! अब यह कब सुना हो? अकेली मजदूरी की हो। इसमें यह सुनने का मिलता नहीं, सुने बिना समझे कब? आहाहा!

ज्ञानभाव का स्वभाव से अस्तित्व जानता हुआ, आत्मा का नाश नहीं करता। अपने अस्तित्व से भाव है। परभाव के अस्तित्व से अपना भाव नहीं है, यह दूसरा बोल हुआ। **इस प्रकार स्व-भाव की (अपने भाव की) अपेक्षा से अस्तित्व का भंग कहा है।** है? इस प्रकार स्व—अपने भाव की अपेक्षा से अस्तित्व है। मेरे भाव से मेरा अस्तित्व है। मैं परभाव को जानूँ, यह भी मेरे अस्तित्व में है। उस पर के कारण से मुझे पर का ज्ञान नहीं होता। पर भाव ज्ञान का होता है, वह भी मेरा ज्ञान है। ऐसे अपने अस्तित्व में रहकर... आहाहा! है न? **ज्ञेयाकार होने पर भी ज्ञानभाव का स्वभाव से अस्तित्व जानता हुआ, आत्मा का नाश नहीं करता। इस प्रकार स्व-भाव की (अपने भाव की) अपेक्षा से अस्तित्व का भंग कहा है।** अब बारहवें भंग का कलश। अब क्या आया?

ग्यारहवें भंग में स्व के अस्तित्व से मैं हूँ, ऐसा आया। उसमें आया कि पर के अस्तित्व से मैं नहीं हूँ। वह इस भंग में आया। मेरे ज्ञान में पर की अस्ति ज्ञात होने पर भी पर के कारण से मैं हूँ, ज्ञान ने उस पर को जाना तो पर के कारण से मैंने जाना—ऐसा नहीं है। वह जानना मेरा स्वभाव है। अपने में रहकर स्व-पर जानने का स्वभाव है, पर की अपेक्षा रखे बिना। ऐसे परभाव के नास्तित्व का यह भंग है। पहले तो स्वभाव के अस्तित्व से है और अब **बारहवें भंग का कलशरूप काव्य कहते हैं–** २५९ है न?

कलश - २५९

(अब बारहवें भंग का कलशरूप काव्य कहते हैं-)

(शार्दूलविक्रीडित)

अध्यास्यात्मनि सर्वभावभवनं शुद्धस्वभावच्युतः,
सर्वत्राप्यनिवारितो गत-भयः स्वैरं पशुः क्रीडति।
स्याद्वादी तु विशुद्ध एव लसति स्वस्य स्वभावं भरा-
दारूढः परभाव-भाव-विरहव्यालोक-निष्कम्पितः।।२५९।।

श्लोकार्थ : [पशुः] पशु अर्थात् अज्ञानी एकान्तवादी, [सर्व-भाव-भवनं आत्मनि अध्यास शुद्ध-स्वभाव-च्युतः] सर्व भावरूप भवन का आत्मा में अध्यास करके (अर्थात् आत्मा सर्व ज्ञेय पदार्थों के भावरूप है, ऐसा मानकर) शुद्ध स्वभाव से च्युत होता हुआ, [अनिवारितः सर्वत्र अपि स्वैरं गतभयः क्रीडति] किसी परभाव को शेष रखे बिना सर्व परभावों में स्वच्छन्दतापूर्वक निर्भयता से (निःशंकतया) क्रीड़ा करता है; [स्याद्वादी तु] और स्याद्वादी तो [स्वस्य स्वभावं भरात् आरूढः] अपने स्वभाव में अत्यन्त आरूढ़ होता हुआ, [परभाव-भाव-विरह-व्यालोक-निष्कम्पितः] परभावरूप भवन के अभाव की दृष्टि के कारण (अर्थात् आत्मा परद्रव्यों के भावोंरूप से नहीं है-ऐसा जानता होने से) निष्कम्प वर्तता हुआ, [विशुद्धः एव लसति] शुद्ध ही विराजित रहता है।

भावार्थ : एकान्तवादी सर्व परभावों को निजरूप जानकर अपने शुद्ध स्वभाव से च्युत होता हुआ सर्वत्र (सर्व परभावों में) स्वेच्छाचारिता से निःशंकतया प्रवृत्त होता है; और स्याद्वादी तो, परभावों को जानता हुआ भी, अपने शुद्ध ज्ञान-स्वभाव को सर्व परभावों से भिन्न अनुभव करता हुआ शोभित होता है।

इस प्रकार परभाव की अपेक्षा से नास्तित्व का भंग कहा है।२५९।

कलश-२५९ पर प्रवचन

अध्यास्यात्मनि सर्वभावभवनं शुद्धस्वभावच्युतः,
सर्वत्राप्यनिवारितो गत-भयः स्वैरं पशुः क्रीडति।
स्याद्वादी तु विशुद्ध एव लसति स्वस्य स्वभावं भरा-
दारूढः परभाव-भाव-विरहव्यालोक-निष्कम्पितः ।।२५९।।

श्लोकार्थ – अज्ञानी एकान्तवादी, सर्व भावरूप भवन का आत्मा में अध्यास करके... अपने अतिरिक्त सर्व भाव का अध्यास, आत्मा सर्व ज्ञेय पदार्थ के भावरूप है, आत्मा सर्व ज्ञेय जाननेयोग्य है, उनके भावरूप है—ऐसा मानकर। ओहोहो! अरिहन्त को जाना तो ऐसा जाना कि अरिहन्त को जाना, वही मेरा भाव है। परन्तु मेरा भाव मुझसे जाना है। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बात है, भाई! समयसार अर्थात् आहाहा! 'ग्रन्थाधिराज तारामां भावो ब्रह्माण्डना भर्या'। आहाहा! एक-एक कड़ी, एक-एक लाईन, पंक्ति, आहाहा! इसे दरकार नहीं है।

यह कहते हैं, अज्ञानी **सर्व भावरूप भवन का आत्मा में अध्यास करके...** पर का भाव मेरा है, ऐसा अनादि का अध्यास अज्ञानी को है। अपने भाव के ऊपर तो नजर दी नहीं। अपने में जो अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि भाव है, उस ओर का तो लक्ष्य भी नहीं। परभाव को जानने से मैं हूँ, परभाव से मैं हूँ—ऐसा जानकर परभाव से मैं नहीं—ऐसी नहीं मानता। अपना नाश करता है। आहाहा! शशीभाई! ऐसा कहाँ तुम्हारे वैष्णव में था कब? वैष्णव है, मोढ। मुम्बई में वाँचन करने जाते हैं। अरे! यह कहाँ है? अभी तो जैन में भी मुश्किल हो गयी है।

कहते हैं, अज्ञानी **सर्व भावरूप भवन का आत्मा में अध्यास करके...** हरा और पीला रंग और शरीर, वाणी, मन और पर अरिहन्त और सिद्ध सब मेरे भाव हैं। वे मेरे भाव हैं। वे तो मुझे ज्ञात होते हैं, उसमें मेरा-तेरा कहाँ से हो गया? जानने का तो तेरा स्वभाव है। आहाहा! अज्ञानी **सर्व भावरूप भवन...** सर्व भावरूप होनेरूप। **आत्मा में अध्यास करके...** अनादि से आत्मा में यह अध्यास करता है। परभाव, वह मैं हूँ—ऐसा अनादि का

अध्यास है। क्योंकि स्वभाव त्रिकाली आनन्द का नाथ, उस ओर का तो लक्ष्य और समीपता से दूर वर्तता है और परपदार्थ के भाव से नजदीक वर्तता है। आहाहा! भाषा तो सादी है, प्रभु! न समझ में आये, ऐसी भाषा नहीं है। वस्तु तो गम्भीर है। दूसरा कहाँ से लाना? प्रभु! तीन लोक के नाथ सर्वज्ञदेव एक समय में अपने में अस्ति और पर से नास्ति, ऐसा अनुभव किया और केवलज्ञान हुआ, उस केवलज्ञान में यह बात आयी। उसे मुनि-सन्तों ने शास्त्र में रचना की। आहाहा!

सर्व भावरूप भवन का आत्मा में अध्यास करके... क्या कहा? **(अर्थात् आत्मा सर्व ज्ञेय पदार्थों के भावरूप है,...)** मैं तो पर को जानता हूँ, वही मैं हूँ। मैं कहाँ ज्ञात होता हूँ? अरे! प्रभु! परन्तु तेरी नजर कहाँ है? मैं कहाँ ज्ञात होता हूँ, ऐसा निर्णय किसने किया? मैं मुझे जान सकता हूँ, ऐसा निर्णय किसने किया? यह तेरी सत्ता में निर्णय हुआ है। सेठ! भाषा तो सादी है, प्रभु! परन्तु भाव तो कठिन है। आहाहा! सेठानी बैठी है वहाँ? ठीक। बेन को जरा बात सूक्ष्म पड़े। अभ्यास नहीं होवे न! आहाहा!

सर्व भावरूप भवन का आत्मा में अध्यास करके (अर्थात् आत्मा सर्व ज्ञेय पदार्थों के भावरूप है, ऐसा मानकर)... आहाहा! मैं तो अरिहन्त के लिये हूँ, मैं तो सिद्ध के लिये हूँ, मैं तो मेरे परिवार की अनुकूलता के लिये मेरी अस्ति है। वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द आदि अनुकूलता से मेरी अस्ति है, ऐसा अज्ञानी मानता है। ऐसा मानकर **शुद्ध स्वभाव से च्युत होता हुआ,...** अपना शुद्ध चैतन्यस्वभाव... आहाहा! निर्मल शुद्ध कैसे कहा? शुभ और अशुभभाव भी नहीं। शुभ-अशुभभाव भी परज्ञेय में जाते हैं। आहाहा! उसके पास नजदीक में थोड़ी चीज़ है परन्तु एक परभाव को जिसने अपना माना, उसने पूरा लोक, परलोक अनन्त परभाव हैं, उन्हें अपना माना है। आहाहा!

शास्त्र में एक जगह एक शब्द है, एक राग का भी कर्ता होता है तो पूरी दुनिया का उसे कर्ता मानना। एक का कर्ता होता है, अपने ज्ञानस्वरूप को छोड़कर एक भी राग का, दया का, दान का, व्रत का, भक्ति का कर्ता माने, वह पूरे लोक का कर्ता मानता है। आहाहा! ऐसी चीज़ है।

शुद्ध स्वभाव से च्युत होता हुआ, किसी परभाव को शेष रखे बिना... किसी

परभाव को बाकी रखे बिना। **सर्व परभावों में स्वच्छन्दतापूर्वक...** '**स्वैरं**' है न? '**स्वैरं**'.. '**स्वैरं' परभावों में स्वच्छन्दता पूर्वक निर्भयता से (निःशंकतया) क्रीड़ा करता है;...** आहाहा! अज्ञान को परभाव के प्रति झुकाववाले भाव से वहाँ रमता है। अपनी चीज़ की ओर तो दृष्टि करता नहीं, लक्ष्य करता नहीं। आहाहा! उसके सन्मुख होने से अपना कल्याण होगा, ऐसा निर्णय भी नहीं करता। परभाव को ही अपने मानकर अपने को लाभ होगा, ऐसा मानकर जीवन निष्फल करता है। आहाहा! समझ में आया इसमें?

अज्ञानी **किसी परभाव को शेष रखे बिना...** कुछ भी बाकी रखे बिना, **सर्व परभावों में स्वच्छन्दतापूर्वक निर्भयता से (निःशंकतया) क्रीड़ा करता है;...** वह निर्भयरूप से, निडररूप से पर में रमता है। धर्मीजीव तो **अपने स्वभाव में अत्यन्त आरूढ़ होता हुआ,...** आहाहा! मैं तो ज्ञान और आनन्दस्वरूप हूँ। 'स्वपरप्रकाशक शक्ति हमारी' इससे पर ज्ञात होते हैं। वह परचीज़ है तो ज्ञात होती है, ऐसा नहीं। मेरी स्व-पर जानने की शक्ति / सामर्थ्य है, ऐसा मानकर **अपने स्वभाव में अत्यन्त आरूढ़ होता हुआ,...** अपने स्व-भाव आनन्द-ज्ञान में अत्यन्त-अत्यन्त आरूढ़ होता हुआ। आहाहा!

परभावरूप भवन के अभाव की दृष्टि के कारण... परभाव का एक अंश भी मुझमें नहीं है। आहाहा! पंच परमेष्ठी का अंश भी मुझमें नहीं है। पंच परमेष्ठी का अस्तित्व भिन्न है, मेरा अस्तित्व भिन्न है। आहाहा! ऐसी बातें। है? **परभावरूप भवन के अभाव की दृष्टि के कारण (अर्थात् आत्मा परद्रव्यों के भावोंरूप से नहीं है–ऐसा जानता होने से)...** समकिती—धर्मी। **निष्कम्प वर्तता हुआ, शुद्ध ही विराजित रहता है।** मैं शुद्ध हूँ, मैं तो पर को नहीं जानता, मैं तो अपने को जानता हूँ। आहाहा!

भावार्थ – एकान्तवादी सर्व परभावों को निजरूप जानकर... सर्व परभाव को निजरूप जानकर **अपने शुद्ध स्वभाव से च्युत होता हुआ...** अपने शुद्ध स्वभाव से च्युत होता हुआ **(सर्व परभावों में) स्वेच्छाचारिता से...** स्वच्छन्दी। सभी परभाव मेरे हैं। आहाहा! एक भी चीज़, तेरे ज्ञानानन्द के अतिरिक्त एक भी परचीज़ तेरी नहीं है। तीर्थंकर गोत्र बँधे, ऐसी इच्छा, राग भी तेरा नहीं है। आहाहा! वह भाव भी परभाव है। ज्ञानी निःशंक वर्तता हुआ शुद्ध ही विराजता है।

शुद्ध ही विराजित रहता है। भाषा ली है न? शुभ-अशुभभाव से रहित। पर के

भाव मुझमें जानने में, मेरे ज्ञान में आया, तथापि वह परभाव का ज्ञान नहीं है, ज्ञान तो मेरा है। मेरा ज्ञान और पर का ज्ञान, वह मेरी चीज़ है। उसमें एकाकार रहता हुआ शुद्ध ही विराजता है। आहाहा! धर्मी शुद्ध में रहता है, शुभ में नहीं। आहाहा! ऐसी बात करे, वहाँ फिर लोगों को ऐसा लगता है न कि यह निषेध हो जाता है। निषेध ही है, प्रभु! तेरे द्रव्य के अतिरिक्त दूसरे द्रव्य भिन्न हैं; तेरे क्षेत्र के अतिरिक्त दूसरा क्षेत्र भिन्न है; तेरे काल की पर्याय के अतिरिक्त दूसरे काल की पर्याय भिन्न है; तेरे भाव से पर का भाव भिन्न हैं। आहाहा! ऐसी तो सादी भाषा है।

सेठ तो ऐसा कहते थे कि दो पुस्तक पढ़ा हुआ समझ ले, ऐसी भाषा है। हमारे धर्मचन्द मास्टर कहे, चार पुस्तक पढ़ा हुआ हो, वह यह समझ सके, ऐसी भाषा है। उसमें और सेठ तो अधिक निकले। दो पुस्तक पढ़ा हुआ, बात सच्ची है। भाषा तो सादी है। इसमें कोई संस्कृत और व्याकरण है नहीं। आहाहा!

एकान्तवादी सर्व परभावों को निजरूप जानकर अपने शुद्ध स्वभाव से च्युत होता हुआ सर्वत्र (सर्व परभावों में) स्वेच्छाचारिता से निःशंकतया प्रवृत्त होता है;... राग में, पुण्य में, पर में प्रवर्तता है। पर में कुछ जाता नहीं परन्तु परसम्बन्धी जो राग होता है, उस राग में वर्तता है और ज्ञानी **स्याद्वादी तो, परभावों को जानता हुआ भी,...** परभाव को जानता हुआ भी **अपने शुद्ध ज्ञान-स्वभाव को सर्व परभावों से भिन्न...** अपने शुद्ध ज्ञायकभाव को सर्व भावों से भिन्न **अनुभव करता हुआ शोभित होता है।** आहाहा! सम्यग्दृष्टि जीव, सम्यग्ज्ञानी जीव पर को जानना, वह मेरा स्वभाव है, वह तो मेरा स्वभाव है, पर के कारण से नहीं है। ऐसे **स्याद्वादी तो, परभावों को जानता हुआ भी, अपने शुद्ध ज्ञान-स्वभाव को सर्व परभावों से भिन्न अनुभव करता हुआ शोभित होता है।** आहाहा! दो भंग हुए। **इस प्रकार परभाव की अपेक्षा से नास्तित्व का भंग कहा है।** दो (भंग) रहे, अब दो रहे। २६० न?

कलश - २६०

(अब तेरहवें भंग का कलशरूप काव्य कहते हैं-)

(शार्दूलविक्रीडित)

प्रादुर्भाव-विराम-मुद्रित-वहज्ज्ञानान्श-नानात्मना,
निर्ज्ञानात्क्षणभङ्गसङ्गपतितः प्रायः पशुर्नश्यति ।
स्याद्वादी तु चिदात्मना परिमृशन्श्चिद्वस्तु नित्योदितं,
टङ्कोत्कीर्णघनस्वभावमहिम ज्ञानं भवन् जीवति ।।२६०।।

श्लोकार्थ : [पशुः] पशु अर्थात् एकान्तवादी अज्ञानी, [प्रादुर्भाव-विराम-मुद्रित-वहत्-ज्ञान-अंश-नाना-आत्मना निर्ज्ञानात्] उत्पाद-व्यय से लक्षित ऐसे बहते (-परिणमित होते) हुए ज्ञान के अंशरूप अनेकात्मक के द्वारा ही (आत्मा का) निर्णय अर्थात् ज्ञान करता हुआ, [क्षणभंग-संग-पतितः] *क्षणभंग के संग में पड़ा हुआ, [प्रायः नश्यति] बहुलता से नाश को प्राप्त होता है, [स्याद्वादी तु] और स्याद्वादी तो [चिद्-आत्मना चिद्-वस्तु नित्य-उदितं परिमृशन्] चैतन्यात्मकता के द्वारा चैतन्य वस्तु को नित्य-उदित-अनुभव करता हुआ, [टंकोत्कीर्ण-घन-स्वभाव-महिम ज्ञानं-भवन] टंकोत्कीर्णघनस्वभाव (टंकोत्कीर्ण पिण्डरूप स्वभाव) जिसकी महिमा है, ऐसे ज्ञानरूप वर्तता हुआ, [जीवति] जीता है।

भावार्थ : एकान्तवादी ज्ञेयों के आकारानुसार ज्ञान को उत्पन्न और नष्ट होता हुआ देखकर, अनित्य पर्यायों के द्वारा आत्मा को सर्वथा अनित्य मानता हुआ, अपने को नष्ट करता है; और स्याद्वादी तो, यद्यपि ज्ञान ज्ञेयानुसार उत्पन्न-विनष्ट होता है फिर भी, चैतन्यभाव का नित्य उदय अनुभव करता हुआ जीता है-नाश को प्राप्त नहीं होता।

इस प्रकार नित्यत्व का भंग कहा है।२६०।

* क्षणभंग=क्षण-क्षण में, होता हुआ नाश; क्षणभंगुरता; अनित्यता।

कलश-२६० पर प्रवचन

प्रादुर्भाव-विराम-मुद्रित-वहज्ज्ञानान्श-नानात्मना,
निर्ज्ञानात्क्षणभङ्गसङ्गपतितः प्रायः पशुर्नश्यति।
स्याद्वादी तु चिदात्मना परिमृशन्श्चिद्वस्तु नित्योदितं,
टङ्कोत्कीर्णघनस्वभावमहिम ज्ञानं भवन् जीवति।।२६०।।

देखा? '**प्रायः**' कहा है न? तो भी प्रायः का अर्थ यहाँ दूसरा किया। प्रायः अर्थात् बाहुल्यता से। भाई! प्रायः अर्थात् बाहुल्यता से ऐसा अर्थ किया है। प्रायः अर्थात् कथंचित् नहीं। बहु, बहुत प्रकार से, बाहुल्यता से पर को अपना जानता है। यह क्या कहते हैं? आत्मा अपने से नित्य है, उसका बोल है। पर की नित्यता के कारण अपनी नित्यता नहीं है। परपदार्थ शाश्वत् रहता है तो उसके कारण मैं शाश्वत् रहता हूँ, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें रचे... सभा इकट्ठी करनी हो... दस-दस हजार लोग हों। अरे! प्रभु! आहाहा!

पशु अर्थात् एकान्तवादी अज्ञानी,... है अर्थ? **उत्पाद-व्यय से लक्षित ऐसे बहते (-परिणमित होते)...** है? आत्मा में उत्पाद-व्यय तो होता है। आत्मा उत्पादव्ययध्रुवयुक्तं सत् है। ध्रुव भी है और नयी अवस्था उत्पन्न होती है और पूर्व की अवस्था व्यय होती है। आहाहा! अनन्त गुण की पर्याय एक समय में प्रगट है। वह अनन्त गुण की पर्याय एक समय में जो उत्पन्न हुई, वह उत्पाद। दूसरे समय में उस पर्याय का व्यय होता है और नया अनन्त उत्पाद होता है। आहाहा!

अज्ञानी **उत्पाद-व्यय से लक्षित ऐसे बहते (-परिणमित होते)...** यह तो पर्यायदृष्टि रखकर उसके ऊपर ही अज्ञानी का लक्ष्य है। क्या कहा? आत्मा में जो उत्पाद और व्यय पर्याय का धर्म है, वह उत्पन्न होता है तो अज्ञानी वही मैं पूरा आत्मा हूँ, ऐसा मानता है। आहाहा! अनित्य को नित्य मानता है, यह बतलाना है। यह नित्य का भंग है। यह सब अनित्य है। अपनी पर्याय उत्पाद-व्यय है, वह भी अनित्य है। आहाहा! है?

अज्ञानी **उत्पाद-व्यय से लक्षित ऐसे बहते (-परिणमित होते) हुए ज्ञान के अंशरूप अनेकात्मक के द्वारा...** वह तो आत्मा की पर्याय का उत्पाद-व्यय स्वभाव है।

उत्पाद-व्यय होना, यह पर्याय का स्वभाव है। कोई भी द्रव्य अनादि-अनन्त द्रव्य में किसी भी समय द्रव्य उत्पाद-व्यय बिना का नहीं होता। आहाहा! है यह? **उत्पाद-व्यय से लक्षित ऐसे बहते (-परिणमित होते) हुए ज्ञान के अंशरूप अनेकात्मक के द्वारा...** पर्याय के जो भंग होते हैं, वही मैं हूँ, ऐसा **निर्णय अर्थात् ज्ञान करता हुआ,...** क्षणिक भंग मैं हूँ। आहाहा! पर्याय में तो उत्पन्न होता है, विनष्ट होता है। सबको जाने, वह पर्याय उत्पन्न हुई और दूसरे समय में उसका नाश होता है। उसे ही—पूरी एक समय की पर्याय को अपना आत्मा मानता है। समझ में आया?

आत्मा तो नित्य-अनित्य दोनों है। अज्ञानी अनित्य ही मानता है, नित्य नहीं मानता। पर्याय में जो पलटना होता है, वही मैं हूँ। परन्तु मैं त्रिकाली हूँ, ऐसी उसकी दृष्टि नहीं है। वह अनित्य को नित्य मानता है। अपनी अनित्यता, हों! पर की नहीं। आहाहा! नित्य लेना है न?

अज्ञानी नित्यरूप मैं हूँ, ऐसा नहीं मानता हुआ, अनित्य जो उत्पाद-व्यय पर्याय होती है, उस अनित्य को अपना मानता है। उत्पाद-व्यय मानता है, यह अनित्य में फिर आयेगा परन्तु यह तो नित्य की दृष्टिसहित पर्याय में उत्पाद-व्यय है, उसे मानता है। अज्ञानी तो उत्पाद-व्यय को ही मानता है और नित्य को तो मानता नहीं। आहाहा! समझ में आया? **उत्पाद-व्यय से लक्षित ऐसे बहते (-परिणमित होते)...** जो उत्पाद-व्यय से ज्ञात होते हैं, ऐसे **ज्ञान के अंशरूप अनेकात्मक के द्वारा ही (आत्मा का) निर्णय अर्थात् ज्ञान करता हुआ,...** उस पर्याय जितना ही मैं हूँ, ऐसे **क्षणभंग के संग में पड़ा हुआ,...** क्षणभंग। उत्पाद-व्यय क्षण में उत्पन्न होता है और नाश पाता है। आहाहा! उस **क्षणभंग के संग में पड़ा हुआ,...** अनित्य पर्याय के संग में पड़ा हुआ। आहाहा!

बहुलता से नाश को प्राप्त होता है,... प्रायः नाश पाता है। वस्तु का कहाँ नाश होता है। पर्याय को ही अपनी मानता है परन्तु द्रव्य को अपना नहीं मानता। आहाहा! पर की बात दूर रही। अपने में उत्पाद-व्यय समय-समय में उत्पन्न होते हैं, वही मैं हूँ, उतना ही मैं हूँ। वह तो पर्याय है। मेरा नित्य द्रव्य है, उसे नहीं मानता। वह अज्ञानी **बहुलता से नाश को प्राप्त होता है,...**

धर्मी जीव **स्याद्वादी...** अर्थात् धर्मी **चैतन्यात्मकता के द्वारा चैतन्य वस्तु को नित्य-उदित-अनुभव करता हुआ,...** आहाहा! **टंकोत्कीर्णघनस्वभाव (टंकोत्कीर्ण पिण्डरूप स्वभाव) जिसकी महिमा है, ऐसे ज्ञानरूप वर्तता हुआ, जीता है।** उत्पाद-व्यय होने पर भी मेरी चीज़ इतनी नहीं। मैं तो त्रिकाली नित्य ध्रुव ही हूँ। ऐसा माननेवाला जीव... है? जीता है, अपने को जीवन्त रखता है। अनित्य को ही माने, वह अपना नाश करता है। भावार्थ का आ गया।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४७७, श्लोक-२६०-२६१ सोमवार, भाद्र कृष्ण ५
दिनांक - २९-०९-१९८०

समयसार, १३वें भंग का भावार्थ। १३वें भंग का भावार्थ। आया ? भाई नरेन्द्र! है ? एक ओर नरेश तथा एक ओर नरेन्द्र दोनों समान कहलाते हैं। नर के इन्द्र और नर के ईश। आहाहा! नरेन्द्र तो यह आत्मा है। यह यहाँ कहते हैं।

भावार्थ – एकान्तवादी ज्ञेयों के आकारानुसार... है ? यह भगवान आत्मा तो तीर्थंकरदेव सर्वज्ञ परमात्मा ने ज्ञान और आनन्दस्वरूप देखा है। सच्चिदानन्दस्वरूप अन्दर है। आहाहा! जैसे स्फटिकमणि निर्मल और स्वच्छ है, वैसे भगवान आत्मा अन्दर सर्वज्ञ तीर्थंकरदेव ने देखा, कहा और है। निर्मलानन्द प्रभु आत्मा है। वह निर्मलानन्द आत्मा **ज्ञेयों के आकारानुसार...** थोड़ी सूक्ष्म बात है। अपने ज्ञान में जो ज्ञेय ज्ञात होते हैं, उन ज्ञेयपने का आकार यहाँ जो ज्ञात होता है, उस **ज्ञान को उत्पन्न और नष्ट होता हुआ देखकर,...** आहाहा! वह जो परचीज़ है, वह पर्याय—अवस्था में उत्पन्न होती है पर्याय अवस्था और नाश पाती है, वह ज्ञान में ज्ञात होती है तो अज्ञानी ऐसा मानता है कि मेरा ज्ञान ही नष्ट हुआ। मेरा ज्ञान ही उत्पन्न हुआ और नष्ट हुआ। परचीज़ नहीं, मेरा ज्ञान नष्ट हुआ, ऐसा मानता है। सूक्ष्म बात है, भगवान!

अनन्त काल हुआ कभी सत्य बात सुनी नहीं। अन्दर सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव सीमन्धरस्वामी भगवान तो महाविदेहक्षेत्र में अभी विराजते हैं, समवसरण में विराजते हैं। बीस तीर्थंकर विराजते हैं, लाखों केवली महाविदेहक्षेत्र में विराजते हैं। वहाँ से आयी हुई यह बात है। क्या कहते हैं ?

अज्ञानी **एकान्तवादी...** अर्थात् अज्ञानी। **ज्ञेयों...** अर्थात् इस ज्ञान में जाननेयोग्य चीज़। शरीर, वाणी, मन, स्त्री, कुटुम्ब, पैसा, लक्ष्मी, इज्जत, कीर्ति सब। अरे! देव, गुरु और शास्त्र, अपने ज्ञान में जानने में आती हुई वह चीज़। प्रवीणभाई! तुम तो यह हिन्दी समझते होंगे। मुम्बई में रहते हैं, कितने वर्ष हुए ? आहाहा! **ज्ञेयों के आकार...** जाननेयोग्य यह जो बाह्य चीज़ है, वह इस ज्ञान में ज्ञात होती है, वह चीज़ नहीं ज्ञात होती। वास्तव में

तो उस चीज़ सम्बन्धी का अपना ज्ञान ज्ञात होता है। परन्तु अज्ञानी मानता है कि मेरा पर के कारण से हुआ है। ऐसा मानकर अपने ज्ञान का नाश कर देता है। आहाहा! यह धर्म। धर्म–अधर्म यह है।

एकान्तवादी... अर्थात् अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि। **ज्ञेयों...** अर्थात् ज्ञान में जाननेयोग्य चीज़। देव, गुरु, शास्त्र, स्त्री, कुटुम्ब–परिवार, पैसा, लक्ष्मी, मकान, धूल। पैसा अर्थात् धूल। वह सब ज्ञान में ज्ञेयरूप से जाननेयोग्य है। मेरेरूप से मानने योग्य नहीं। आहाहा! अनादि काल से चौरासी के अवतार में भटकता है। वह **ज्ञेयों के आकारानुसार ज्ञान को उत्पन्न और नष्ट होता हुआ देखकर,...** वह ज्ञेय जानने से उन ज्ञेय के कारण मुझे ज्ञान हुआ और ज्ञेय का नाश होता है तो मेरी पर्याय भी नाश पाती है, इसलिए उस ज्ञेयाकार के कारण से मेरा ज्ञान है, ऐसे अज्ञानी अपने को पर ज्ञेयाकार से मैं हूँ, ऐसा मानकर नित्य वस्तु का नाश करता है और अनित्य को उत्पन्न करता है। वह अनित्य भी पर से उत्पन्न हुआ, ऐसा मानता है। आहाहा! ऐसी बात कहाँ (मिले)? धूल के कारण निवृत्ति कहाँ है?

मुमुक्षु : धूल के बिना चलता नहीं न!

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे! एक पाई बिना क्या, राग बिना चले ऐसा प्रभु है। भगवान तीन लोक के नाथ सीमन्धरस्वामी भगवान विराजते हैं, वहाँ कुन्दकुन्दाचार्य मुनि संवत् ४९ में गये थे। दो हजार वर्ष पहले वहाँ गये थे, आठ दिन रहे थे। हम भी वहाँ साथ में थे। शान्ति से सुनो। मैं भी वहाँ भगवान के पास था। राजकुमार था... पिताजी को अरबों की आमदनी थी। हाथी, घोड़े (थे) और दो हजार वर्ष पहले यहाँ से कुन्दकुन्दाचार्य दर्शन करने गये, तब हम भी हाथी के होदे भगवान के दर्शन करने गये थे। परन्तु अन्त में परिणाम में... कोमल शरीर, राजकुमार, वर्ष की अरबों की आमदनी, हाथी–घोड़ा का राज बड़ा। देह छूटते समय परिणाम बराबर ठीक नहीं रहे तो इस उमराला में जन्म हो गया। यहाँ से ११ मील दूर उमराला है, वहाँ जन्म हो गया। आहाहा! यह बात भगवान के पास से आयी है। समझ में आया? यह कहते हैं।

अज्ञानी **एकान्तवादी...** अर्थात् एक ही पक्ष माननेवाला **ज्ञेयों...** अर्थात् जाननेयोग्य चीज़ के **आकारानुसार ज्ञान को उत्पन्न और नष्ट होता हुआ देखकर,...** आहाहा!

यह सूक्ष्म बात है, प्रभु! यह ज्ञान में जो ज्ञेय चीज़ (ज्ञात होती है), शरीर, वाणी, मन, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, देव-गुरु-शास्त्र, पुण्य और पाप, सब इस ज्ञान में ज्ञेय है। ज्ञान में जाननेयोग्य वह चीज़ है परन्तु उस जाननेयोग्य के आकार का ज्ञान अपने ज्ञान में हुआ तो अज्ञानी ऐसा जानता है कि यह ज्ञान पर के कारण से हुआ। मेरी अनित्य दशा के कारण से ज्ञान हुआ, वह पर को जानती मेरी वर्तमान पर्याय-अवस्था, उस सम्बन्धी जाननेरूप परिणमी, वह मेरी पर्याय है-ऐसा नहीं मानकर उस पर के आकार ज्ञान हुआ, इसलिए पर का (ज्ञान) है, ऐसा करके अनित्य को छोड़ देता है। सूक्ष्म बात है, भगवान! परमात्मा की बात सूक्ष्म है। अभी तो जैन के नाम से भी खबर नहीं होती। हम जैन हैं, हम जैन हैं, परन्तु जैन किसे कहना?

जैन—जीते, वह जैन। चैतन्य भगवान ज्ञानस्वरूपी प्रभु की दृष्टि करके परज्ञेय जाननेयोग्य चीज़ मुझसे भिन्न है। तीर्थंकर तीन लोक के नाथ, पंच परमेष्ठी भी मुझसे तो भिन्न है। आहाहा! कठिन बात है, प्रभु! ऐसा नहीं मानकर उस ज्ञान में जो परज्ञेय परमात्मा, अरिहन्त आदि अरे! पैसा, धूल, मकान आदि ज्ञान में ज्ञात होते हैं, वह ज्ञेयाकार (ज्ञात होते हैं)। ज्ञेय अर्थात् जाननेयोग्य ज्ञात होते हैं। उसे उत्पन्न होता देखकर उसके कारण से मुझे ज्ञान हुआ और उसके कारण मेरे ज्ञान का नाश हुआ, ऐसा देखकर **अनित्य पर्यायों के द्वारा आत्मा को सर्वथा अनित्य मानता हुआ,...** आहाहा! क्या कहते हैं?

अपना ज्ञान—आत्म भगवान नित्य और अनित्य दोनों स्वरूप है। नित्य ध्रुव है और अनित्य उत्पाद-व्यय की पर्याय—अवस्था है। वह अवस्था पर से उत्पन्न होती है, ऐसा मानकर अज्ञानी नित्य पर दृष्टि नहीं करता। सच्चिदानन्द प्रभु सर्वज्ञ परमात्मा ने देखा, वह, हों! अन्यमति कहते हैं, वह नहीं। तीर्थंकर सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ ने जो आत्मा अन्दर नित्यानन्द प्रभु शुद्ध ध्रुव (देखा), उसके साथ अपनी पर्याय निमित्त का ज्ञान करने से अपने को ज्ञान होता है परन्तु वह ज्ञान निमित्त से हुआ, ऐसा जानकर उस ज्ञान का नाश करता है, वह ज्ञान पर्याय मेरी नहीं। आहाहा! ऐसी वस्तु है। हसमुखभाई! इसमें कहाँ तुम्हारे टाईल्स के पत्थर थाणा में... ? आहाहा!

यह जन्म-मरणरहित होने की यहाँ तो बात है। जन्म-मरण करते-करते अनन्त

काल से मर गया है। 'अनन्त काल से भटक रहा बिना भान भगवान' भगवान आत्मा का स्वरूप तीर्थंकरदेव ने कहा, जैसा जाने बिना चौरासी के अवतार में अनन्त बार परिभ्रमण किया। अनन्त बार नरक में, अनन्त बार निगोद में (गया)। निगोद समझे? लील फूग— काई और लहसुन, प्याज के एक टुकड़े में असंख्य शरीर और एक शरीर में अनन्त जीव। ऐसे अवतार अनन्त किये, प्रभु! परन्तु भूल गया। इस बाहर की धूल में, बाहर की इज्जत और कीर्ति, पुत्र, पत्नी, पुत्र इज्जत, वे मेरे प्राण हैं, ऐसा माना। वह प्राण यहाँ है, ऐसा नहीं माना। प्राणभाई! यह स्त्री, पुत्र, परिवार, पैसा, धूल, धूल यह पैसा, वे सब मेरे प्राण हैं। यह प्राण अन्दर चैतन्य, आनन्द प्राण है, अन्दर ज्ञानस्वरूपी भगवान, ज्ञान के पूर के नूर के— तेज से भरपूर भगवान आत्मा है। आहाहा! अरे रे! यह देह तो मिट्टी धूल है। श्मशान में राख होनेवाली है, राख और अग्नि उड़नेवाली है। यह धूल है। बाहर के पैसे, इज्जत, कीर्ति तो कहीं बाहर की चीज़ है।

यह बाहर की चीज़ जानने के काल में जो ज्ञेय जाननेयोग्य आते हैं, वह पर्याय पर के कारण हुई, ऐसा मानकर अपनी अनित्यता का ज्ञान का नाश करता है। अरे रे! सुनना मुश्किल पड़े, बापू! आहाहा! **देखकर, अनित्य पर्यायों के द्वारा आत्मा को सर्वथा अनित्य मानता हुआ,...** देखो! मैं तो अनित्य ही हूँ। यह चीज़ पलटती है तो उसके कारण से मैं भी पलट जाता हूँ, ऐसा मानता हुआ **अपने को नष्ट करता है;...** आहाहा! अपनी चैतन्यमूर्ति ध्रुव नित्यानन्द, यह वर्तमान परिणमन मेरा है। यह ज्ञेय ज्ञात हुआ तो वह परिणमन ज्ञेय का नहीं, मेरी दशा है। ऐसा नहीं मानकर पर के कारण यह दशा हुई तो पर का नाश हुआ तो मेरी पर्याय का भी नाश हो गया। आहाहा! अरे! यह शब्द भी कहाँ (सुनने को मिले)?

भगवान तीन लोक के नाथ महाविदेह में विराजते हैं। वर्तमान समवसरण में इन्द्र, नरेन्द्र जाते हैं। बाघ और सिंह सुनने जाते हैं। आहाहा! वह बात कोई अलौकिक है। अनन्त काल में कभी रुचि से सुनी नहीं। सुनी है, महाविदेहक्षेत्र में भी अनन्त बार जन्मा है। अनन्त काल हुआ न? महाविदेह में जहाँ भगवान विराजते हैं, वहाँ...

मुमुक्षु : हम सब वहाँ थे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : तुमने पूर्व में अनन्त बार भव किये। हमारे साथ नहीं थे। पूर्व में वहाँ महाविदेह में सब थे। अनन्त बार भगवान के समवसरण में गया परन्तु उस अनित्य चीज़ को देखकर और अनित्य चीज़ को पलटती देखकर अनित्य का ज्ञान भी पलट गया, नाश हो गया—ऐसा वह मानता है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा!

यहाँ तो शरीर को ९१ वर्ष हुए। ९१, ९०+१। यहाँ तो १८ वर्ष की उम्र से यह धन्धा है। अठारह वर्ष की उम्र से। पालेज में दुकान है न! भरुच और वड़ोदरा के बीच पालेज है, वहाँ पिताजी की दुकान है। नौ वर्ष वहाँ रहे। परन्तु मैं तो शास्त्र पढ़ता था। पूर्व के संस्कार थे न! भागीदार होवे तो मैं तो पढ़ूँ, भागीदार न हो तो मुझे दुकान में बैठना पड़े। मैं शास्त्र पढ़ता था, उसमें जहाँ यह समयसार संवत् १९७८ में हाथ आया... ओहोहो! शरीररहित होने की चीज और सिद्ध होने की चीज़ होवे तो यह है। क्या करना? किसे कहना? आहाहा!

यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि सामने चीज़ मन्दिर हो या भगवान हो या समवसरण में त्रिलोकनाथ हो, उन्हें देखकर उनकी पर्याय पलटती है तो इस अपने ज्ञान में उनकी पर्याय ज्ञात होती है, वह पलटती है तो उसके कारण मेरी पर्याय का भी नाश हो गया। ऐसा मानकर, अनित्यता को नहीं मानकर अकेले नित्य को मानता है, वह अज्ञानी है। प्रभु आत्मा नित्य-अनित्य दोनों है। ध्रुव भी है और उत्पाद-व्यय की पर्याय, यह जो अवस्था विचार बदलते हैं न? अवस्था बदलती है। आहाहा! सोना सोनेरूप है, वह नित्य ध्रुव है, उसमें कड़ा, कुण्डल, अँगूठी आदि होती है, वह पर्याय है। उसी प्रकार भगवान आत्मा सोना की भाँति—स्वर्ण की भाँति अन्दर ध्रुव है और यह अन्दर विचार पलटते हैं, वह सब अवस्था है। कड़ा, कुण्डल, जैसे बनते हैं, वह अवस्था है। वह अवस्था पर से होती है, ऐसा मानकर अपनी अवस्था का नाश करता है। नष्ट होता है। अन्दर मेरी पर्याय मुझमें है, मेरे कारण से है, (ऐसा नहीं मानता)। परन्तु वह पर्याय क्या और द्रव्य क्या? आहाहा! अरे रे! अनन्त काल गया।

यह कहते हैं, **अनित्य पर्यायों के द्वारा आत्मा को सर्वथा अनित्य मानता हुआ,...** यह अनित्य पर्याय जो अनित्य है, लक्ष्मी, पैसा, इज्जत, कीर्ति, शरीर, वाणी, मन,

सब। इस अनित्य पर्याय को मानता हुआ **अपने को नष्ट करता है; और...** धर्मी जीव **स्याद्वादी...** अर्थात् धर्मी—समकिती। **यद्यपि ज्ञान ज्ञेयानुसार उत्पन्न-विनष्ट होता है...** पर्याय में ज्ञेय ज्ञात होते हैं और पर्याय में उत्पन्न होते हैं और विनाश भी होती हैं **फिर भी, चैतन्यभाव का नित्य उदय अनुभव करता हुआ...** मैं पर्याय जितना नहीं। मैं तो अन्दर ध्रुव चैतन्यमूर्ति भगवान हूँ। मेरी सत्ता अनादि-अनन्त है। मेरी सत्ता की उत्पत्ति भी नहीं और मेरी सत्ता का नाश भी कभी नहीं। मैं अनादि-अनन्त मेरी स्वसत्ता से विराजमान हूँ। धर्मी-सम्यग्दृष्टि द्रव्य पर दृष्टि करके द्रव्य को भी मानता है और दृष्टि की तो पर्याय को भी मानता है। क्या कहा? द्रव्य और पर्याय। द्रव्य अर्थात् यह तुम्हारा पैसा—धूल नहीं, हों! अभी गये थे, अफ्रीका गये थे न? २६ दिन रहे थे। वहाँ बहुत प्रेमी हैं, बहुत पैसेवाले। अपने देश के छह हजार महाजन लोग हैं।

मुमुक्षु : पुण्य, वह धर्म नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : पुण्य वह दूसरी बेड़ी है। जैसे लोहे की बेड़ी है, वैसे सोने की बेड़ी है। अशुभभाव लोहे की बेड़ी है और शुभभाव सोने की बेड़ी है। आहाहा! बेड़ी समझते हो? लोहे से सोने की बेड़ी तो अधिक नुकसान करती है। लोहे का बहुत तोल नहीं है। सोने की चिकनाई चमड़ी की घिसावट कर डालती है। इसी प्रकार शुभभाव मेरा मानकर अनन्त काल मिथ्यात्व में व्यतीत हुआ परन्तु मैं शुभभाव से भिन्न हूँ, ऐसी दृष्टि करने का प्रयत्न कभी नहीं किया। आहाहा! भाषा तो सादी है। नरेशभाई! हिन्दी है परन्तु भाषा सादी है। तुम्हारे मुम्बई में तो सब चलता है न! आहाहा!

इस समय दो बार (मुम्बई) गये थे। अफ्रीका जाना था, तब वहाँ गये थे और ९१वीं जन्मजयन्ती मलाड में हुई न? ऐसे दो बार तो गये थे। यह तीसरी बार परसों के दिन जाना है। शरीर में फोटो लेने। अन्दर में क्या है? शरीर में रोग है। शरीर को ठीक नहीं। दिखाव लगे परन्तु शरीर को ठीक नहीं है। पेशाब उतरने में २०-२० मिनिट, २५ मिनिट हो जाते हैं, उतरता नहीं। ऐसा कुछ हो गया है। शरीर की स्थिति ऐसी बदल गयी है। यह तो नाशवान चीज़ है। इसके नाश से कहीं आत्मा की पर्याय का नाश होता है? आहाहा!

यह कहते हैं, धर्मी **स्याद्वादी...** अर्थात् धर्मी। **यद्यपि ज्ञान...** इस आत्मा का ज्ञान

ज्ञेयानुसार उत्पन्न–विनष्ट होता है... जानने योग्य की अपेक्षा से उत्पन्न और विनष्ट होता है **फिर भी, चैतन्यभाव का नित्य उदय अनुभव करता हुआ...** धर्मी तो, मैं नित्य आनन्दस्वरूप हूँ। मुझमें सर्वांग आनन्द भरा है। जैसे चीनी में सर्वांग मिठास भरी है। चीनी में सर्वांग मिठास भरी है, उसी प्रकार मुझमें... अरे रे! अतीन्द्रिय आनन्द सर्वांग अन्दर भरा है। उसमें दृष्टि करके धर्मी जीव **चैतन्यभाव का नित्य उदय अनुभव करता हुआ...** भले पर्याय में पर ज्ञात होते हैं, वह पर्याय मेरी है, परन्तु मैं तो नित्य त्रिकाल हूँ, ऐसा नित्य उदय अनुभवता हुआ **जीता है–नाश को प्राप्त नहीं होता।** आहाहा!

अब अन्तिम भंग है। चौदहवाँ भंग। है? चौदहवाँ। अन्तिम भंग। २६१ न?

कलश - २६१

(अब, चौदहवें भंग का कलशरूप काव्य कहते हैं–)

(शार्दूलविक्रीडित)

टङ्कोत्कीर्णविशुद्धबोधविसराकारात्मतत्त्वाशया,
वाञ्छत्युच्छलदच्छचित्परिणतेर्भिन्नं पशुः किञ्चन्।
ज्ञानं नित्यमनित्यतापरिगमेऽप्यासादयत्युज्ज्वलं,
स्याद्वादी तदनित्यतां परिमृन्शश्चिद्वस्तु–वृत्तिक्रमात्।।२६१।।

भावार्थ : [पशुः] पशु अर्थात् एकान्तवादी अज्ञानी, [टंकोत्कीर्ण विशुद्ध–बोध–विसर–आकार–आत्म–तत्त्व–आशया] टंकोत्कीर्ण विशुद्ध ज्ञान के विस्ताररूप एक–आकार (सर्वथा नित्य) आत्मतत्त्व की आशा से, [उच्छलत्–अच्छ–चित्परिणतेः भिन्नं किञ्चन वाञ्छति] उछलती हुई निर्मल चैतन्य परिणति से भिन्न कुछ (आत्मतत्त्व को) चाहता है (किन्तु ऐसा कोई आत्मतत्त्व है नहीं), [स्याद्वादी] और स्याद्वादी तो, [चिद्–वस्तु–वृत्ति–क्रमात् तद्–अनित्यतां परिमृशन्] चैतन्य वस्तु की वृत्ति के (–परिणति के, पर्याय के) क्रम द्वारा उसकी अनित्यता का अनुभव करता हुआ, [नित्यम् ज्ञानं

अनित्यता परिगमे अपि उज्ज्वलम् आसादयति] नित्य ऐसे ज्ञान को अनित्यता से व्याप्त होने पर भी उज्ज्वल (–निर्मल) मानता है–अनुभव करता है।

भावार्थ : एकान्तवादी ज्ञान को सर्वथा एकाकार–नित्य प्राप्त करने की वाँछा से, उत्पन्न होनेवाली और नाश होनेवाली चैतन्यपरिणति से पृथक् कुछ ज्ञान को चाहता है; परन्तु परिणाम के अतिरिक्त कोई पृथक् परिणामी तो नहीं होता। स्याद्वादी तो यह मानता है कि–यद्यपि द्रव्यापेक्षा से ज्ञान नित्य है, तथापि क्रमश: उत्पन्न होनेवाली और नष्ट होनेवाली चैतन्यपरिणति के क्रम के कारण ज्ञान अनित्य भी है; ऐसा ही वस्तुस्वभाव है।

इस प्रकार अनित्यत्व का भंग कहा गया।२६१।

कलश-२६१ पर प्रवचन

टङ्कोत्कीर्णविशुद्धबोधविसराकारात्मतत्त्वाशया,
वाञ्छत्युच्छलदच्छचित्परिणतेर्भिन्नं पशुः किञ्चन्।
ज्ञानं नित्यमनित्यतापरिगमेऽप्यासादयत्युज्ज्वलं,
स्याद्वादी तदनित्यतां परिमृन्शश्चिद्वस्तु–वृत्तिक्रमात्।।२६१।।

श्लोकार्थ : पशुः... आहाहा! जैसे पशु को... क्या कहलाता है? पडछा... पडछा। घास का पडछा नहीं होता? घास का पडछा होता है। बड़ा चौड़ा होता है। उस पडछा को हिन्दी में क्या कहते हैं? पडछा होता है न चौड़ा? घास... घास—घास। वह डाला हो और चूरमा डाला हो। वह पडछा में चूरमा मिलाकर खाता है परन्तु यह चूरमा अलग और पडछा अलग है, (उसकी खबर नहीं है)। आहाहा!

इसी प्रकार अज्ञानी पशु जैसा। यहाँ तो ऐसा लिया है। पशु जैसा **एकान्तवादी अज्ञानी, टंकोत्कीर्ण विशुद्ध ज्ञान के विस्ताररूप एक–आकार (सर्वथा नित्य) आत्मतत्त्व की आशा से,...** अब क्या कहते हैं? जरा सूक्ष्म बात है, भगवान! यह आत्मा नित्य तो है परन्तु पर्याय में अनित्य है। पर्याय—अवस्था बदलती है। सोना, सोनेरूप से कायम है परन्तु कुण्डल, कड़ा, अँगूठी से बदलता है। उसी प्रकार भगवान आत्मा ध्रुव तो कायम है परन्तु पर्याय, विचार अवस्था बदलती है। वह अवस्था बदलती

है, वही मैं हूँ, वह पलटती अवस्था क्षणिक है, वहीं मैं हूँ परन्तु त्रिकाली नित्य है, ऐसा नहीं मानता और अनित्य को ही मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है। सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा! यहाँ तो देव, गुरु, और शास्त्र, भक्ति, व्रत, तप और यह और वह... बाहर की धमाल में जिन्दगी निकाल डालता है। यह तो कोई शुभभाव हो परन्तु जन्म-मरण का अन्त लाने की चीज़ नहीं है। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं, अज्ञानी **टंकोत्कीर्ण विशुद्ध ज्ञान के विस्ताररूप एक-आकार (सर्वथा नित्य)...** आत्मा। यह नित्य ही एकान्त है, ऐसा मानकर अनित्य में जो पर्याय पलटती है, उसे वह नहीं मानता। पहले में यह था कि पर्याय को मानता था और नित्य को नहीं मानता था। यहाँ इस पर्याय को मानता है और नित्य को नहीं मानता। पहले में नित्य को मानता है और पर्याय को नहीं मानता, ऐसा था। यहाँ तो पहले दो उल्टे-सीधे हैं न? **आत्मतत्त्व की आशा से,...** क्या कहा? **टंकोत्कीर्ण विशुद्ध ज्ञान के विस्ताररूप एक-आकार (सर्वथा नित्य)...** मानकर। अपनी पर्याय में अनित्यता भिन्न-भिन्न ज्ञान की दशा होती है, उसे नहीं मानता, वह भी मिथ्यादृष्टि अज्ञानी अजैन है। आहाहा!

फिर से, इस आत्मा में नित्यरूप त्रिकाली को मानकर पर्याय में जो पलटना होता है और पर्याय में अनेक प्रकार का ज्ञान पलटनेरूप अपनी दशा होती है, उस पर्याय को नहीं मानकर अकेला नित्य हूँ, ऐसा मानता है, वह भी मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! है? **आत्मतत्त्व की आशा से,...** पर्याय को छोड़ देता है। मैं तो नित्य हूँ। परन्तु नित्य हूँ—ऐसा मानता कौन है? नित्य, पर्याय मानती है या नित्य, नित्य मानता है? नित्य तो ध्रुव है। यह भी खबर कहाँ है? आत्मा उत्पादव्ययध्रुवयुक्तं सत्। तत्त्वार्थसूत्र का वचन है। नयी अवस्था से पर्याय में उत्पन्न होता है, पुरानी अवस्था से व्यय होता है और ध्रुवरूप से कायम रहता है। परन्तु अज्ञानी... आहाहा! अकेला नित्य माननेवाला **आत्मतत्त्व की आशा से, उछलती हुई निर्मल चैतन्य परिणति से भिन्न...** आहाहा! चैतन्य की पर्याय चैतन्य के लक्ष्य से नयी-नयी उत्पन्न होती है। उसे तो अज्ञानी मानता नहीं। सूक्ष्म बात है, भाई! है?

उछलती हुई निर्मल चैतन्य परिणति से भिन्न कुछ (आत्मतत्त्व को) चाहता है... चैतन्य की जानने की जो दशा है, उससे अज्ञानी दूसरी कोई चीज़ इच्छता है। यह नहीं। यह पर्याय नहीं, पर्याय नहीं, मैं तो नित्य हूँ, ध्रुव हूँ। आहाहा! अकेला ध्रुव हूँ, ऐसा

मानता है परन्तु ध्रुव को माननेवाली तो पर्याय है। पर्याय और द्रव्य यह क्या है? अरे! दुनिया को... ऐई हसमुखभाई! दोनों भाई आये हैं न? नरेशभाई के सम्बन्ध के कारण आये हैं। आहाहा! क्या कहते हैं?

भगवान आत्मा अन्दर चैतन्यध्रुव है, उसकी वर्तमान पर्याय में परिणति निर्मल भिन्न-भिन्न होती है। उस भिन्न-भिन्न पर्याय को नहीं मानकर, मैं नित्य ही हूँ—ऐसा मानकर मिथ्यादृष्टि होता है। समझ में आया? आहाहा! यह अनित्य का भंग है। वस्तु नित्य है परन्तु उस नित्य को जाननेवाली पर्याय अनित्य है। वस्तु नित्य ध्रुव है परन्तु ध्रुव वह कहीं जानता नहीं। ध्रुव तो ध्रुव है, नित्य है। जाननेवाली पर्याय / अवस्था है, वह अवस्था ध्रुव को जानती है। वह अवस्था ही मैं हूँ, मैं अवस्था ही हूँ, मैं नित्य नहीं। आहाहा! यह तो पहले आ गया। यहाँ तो कहते हैं, वह अवस्था है, उसे नहीं मानता। आहाहा! वेदान्त है न? वेदान्त अकेला ध्रुव मानता है। पर्याय में भिन्न-भिन्न अवस्था होती है, वह नहीं... नहीं... नहीं। परन्तु वह पर्याय अपना स्वभाव है। क्षण-क्षण में उत्पाद-व्ययरूप बदलती है, वह अपनी पर्याय का धर्म है। आहाहा!

यह कहते हैं, अपनी पर्याय में अज्ञानी आत्मा की नित्यपने की आशा से, अकेला नित्य एकान्त मानने की आशा के कारण अज्ञानी जो उछलती पर्याय नयी-नयी अवस्था होती है, उसे नहीं मानता। **उछलती हुई निर्मल चैतन्य परिणति से भिन्न कुछ चाहता है...** आहाहा! शरीर, वाणी, मन से तो भिन्न है परन्तु यह पर्याय में निर्मल परिणति उत्पन्न होती है, उसे अज्ञानी नहीं मानता। उससे भिन्न अकेला द्रव्य ही मैं हूँ, ऐसा मानूँ, मैं तो अकेला द्रव्य ही हूँ। और पर्याय को नहीं मानता, वह भी मिथ्यादृष्टि है। अरे! ऐसी बात है। क्या करना?

यह भगवान आत्मा, पहले अनित्य को मानकर नित्य को नहीं मानता था। यहाँ अकेले नित्य को ही मानता है। समझ में आया? पहले में अनित्य को मानता था। यहाँ अनित्य को नहीं मानता। अपना ज्ञानस्वरूप ध्रुव है। चैतन्य तो अनादि सत्ता है। कभी कोई ईश्वर नहीं कि उसने बनाया हो। यह वस्तु तो अनादि है। यह सत्ता ध्रुव तो अनादि है, परन्तु इस ध्रुव में-नित्य में जो पर्याय पलटती है, वह पर्याय पलटती है, उसे नहीं मानकर, यह

चैतन्य परिणति क्षण-क्षण में प्रत्येक आत्मा में उत्पन्न होती है, अरे! जड़ में भी होती है, तो यह निर्मल पर्याय... यहाँ निर्मल ली है।

मुमुक्षु : बहुत सूक्ष्म आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ कभी किया ही नहीं। वह बात यह है। आत्मा है, वह नित्य-अनित्य है। नित्य भी है, अनित्य भी है। कायम रहनेवाला भी है और बदलनेवाला भी है। अज्ञानी इस बदलती चीज़ को—परिणति को नहीं मानता। अरे! यह तो पलटती है। यह कहा न?

उछलती हुई... समय-समय में द्रव्य में अनन्त पर्यायें उछलती हैं। अनन्त गुण की अनन्त पर्यायें प्रत्येक द्रव्य में (होती है)। आहाहा! यह **उछलती हुई निर्मल चैतन्य परिणति से भिन्न...** निर्मल परिणति। यहाँ तो यह ली है। देखो! मलिन नहीं ली। आहाहा! जानने की पर्याय में अनेक प्रकार का जानना होता है। अनित्य... अनित्य... अनित्य... इस अनित्य को नहीं मानकर अकेले नित्य को मानता है, वह भी मिथ्यादृष्टि है। भाषा तो सादी है, प्रभु! परन्तु कभी दरकार नहीं की। आहाहा!

भाषा कैसी है? कि आत्मा नित्य तो है परन्तु अपनी पर्याय में, अपनी अवस्था में, अपनी दशा में उछलती हुई... अन्दर से पर्याय उछलती है। जैसे पानी में तरंग उठे, तरंग; वैसे नित्य आत्मा में अनित्यता उछलती है। अज्ञानी नित्य की आशा से उछलती हुई पर्याय को नहीं मानता। आहाहा! यह तो सादी भाषा है।

वस्तु भगवान सच्चिदानन्द प्रभु, सत् चिद् अर्थात् ज्ञान और आनन्द का भण्डार है। भगवान तो अनन्त चैतन्य रत्नाकर भगवान समुद्र है परन्तु इस समुद्र-सागर को जाननेवाली जो पर्याय है, वह समय-समय में अनन्त पर्याय, अनन्त गुण की अनन्त पर्यायें उछलती हुई हैं। भाषा ऐसी ली है न? उछलती, उत्पन्न होती है। आहाहा! उस **निर्मल चैतन्य परिणति से भिन्न...** यह पर्याय नहीं, यह नहीं, यह नहीं, मैं तो इससे भिन्न हूँ। इस तरह अज्ञानी पर्याय को नहीं मानता, द्रव्य को मानने जाता है तो मिथ्यादृष्टि हो जाता है। प्राणभाई!

यह कहते हैं कि आत्मा नित्य है परन्तु पर्याय में अनित्यता है। अनन्त गुण की अनन्त पर्याय है। उन उछलती अनन्त पर्यायों को नहीं मानकर नित्य हूँ, ऐसा माने, वह

मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ का मार्ग ही बहुत सूक्ष्म है। आहाहा! अनन्त काल हुआ, जैन में जन्म हुआ, जैन में शास्त्र पढ़ा, क्रियाकाण्ड पंच महाव्रत आदि अनन्त बार लिये, परन्तु आत्मा अन्दर नित्यानित्य कौन है, इसका अनुभव नहीं किया। आहाहा! प्रवीणभाई!

नैरोबी में पन्द्रह व्यक्ति अरबपति हैं। एक श्वेताम्बर अरबपति हमारे पास आया। यहाँ के मुमुक्षु के साठ घर हैं। यहाँ से पाँच हजार रिकॉर्डिंग ले गये हैं। यह रिकॉर्डिंग उतरती है न? पाँच हजार ले गये हैं। हमेशा रिकॉर्डिंग और हमेशा वाँचन (चलता है)। वहाँ नैरोबी में बहुत प्रचार है। वहाँ भी ऐसा कहते थे कि आत्मा नित्य है तो उसे अकेले अनित्य मानना, वह भी मिथ्यात्व है और नित्य है तथा साथ में अनित्य भी है, उस अनित्य को न मानना, वह भी मिथ्यात्व है।

मुमुक्षु : घड़ीक में नित्य कहते हो और घड़ीक में अनित्य कहते हो...

पूज्य : दोनों बात है न अन्दर! अकेले अनित्य को मानने से तो नित्य को भूल जाता है, अकेले नित्य को मानने से अनित्य को भूल जाता है। अरे रे! शक्कर मिठास से भरी है परन्तु पानी गिरे , तत्प्रमाण मिठास पतली हो जाती है। उसी प्रकार भगवान आत्मा नित्यानन्द तो है ही परन्तु वर्तमान पर्याय में उसका बदलना, पलटना स्वभाव है। उत्पाद-व्यय होता है। अकेला ध्रुव आत्मा है, ऐसा नहीं। नित्य भी है और अनित्य भी है। आहाहा!

पर्याय में **उछलती हुई निर्मल चैतन्य परिणति से भिन्न कुछ (आत्मतत्त्व को) चाहता है...** अज्ञानी। **(किन्तु ऐसा कोई आत्मतत्त्व है नहीं),...** आहाहा! नित्य भी है। दृष्टि को विषय नित्य है परन्तु दृष्टि नित्य को मानती है, तथापि साथ में ज्ञान है, दृष्टि और ज्ञान है, वह पर्याय है, पर्याय नित्य को जानती है। नित्य को नित्य नहीं जानता, ध्रुव को ध्रुव नहीं जानता। ध्रुव तो ध्रुव है। ध्रुव को जाननेवाली पर्याय है, अनन्त निर्मल पर्यायें एक-एक समय में उत्पन्न होती हैं। अनन्त गुण हैं न? आहाहा!

एक आत्मा में अनन्त गुण हैं। एक-एक आत्मा में अनन्त... अनन्त... अनन्त... गुण हैं और जितने गुण हैं, उतनी पर्यायें हैं। आहाहा! पर्याय अर्थात् अवस्था। यह उछलती हुई अवस्था, अकेले नित्य को माननेवाले वेदान्ती; वेदान्ती हैं, वे अकेला नित्य ही मानते

हैं, पर्याय नहीं मानते। इसी प्रकार जैन में रहे हुए अकेले नित्य को माने परन्तु समय-समय में अनन्त अनित्य निर्मल पर्यायें उछलती हैं, उसे छोड़कर मैं आत्मा नित्य हूँ, ऐसा मानने जाने से मिथ्यादृष्टि हो जाता है। अरे! अब ऐसा उपदेश। वीतराग का मार्ग, सर्वज्ञ का मार्ग, बापू! धर्म अलग चीज़ है। कोई बाह्य पैसे से, लक्ष्मी से या इज्जत से या करोड़, दो करोड़ के मकान—मन्दिर बनाये तो धर्म हो गया, (ऐसा) बिल्कुल नहीं है, जरा भी नहीं है। बहुत सूक्ष्म बात है, प्रभु!

भगवान तीर्थंकरदेव त्रिलोकनाथ तो ऐसा फरमाते हैं, समयसार तीसरी गाथा, कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को कभी स्पर्श नहीं करता, छूता नहीं। समझ में आया? है? पुस्तक है न? तीसरी गाथा लो, तीसरी गाथा। आहाहा! है? इसमें बीच में है। **धर्म...** एक धर्मास्तिकाय नाम का तत्त्व है, भगवान ने देखा है। **अधर्म...** एक तत्त्व है। तत्त्व, हों! धर्म-अधर्म पर्याय नहीं। **आकाश-काल-पुद्गल-जीवद्रव्यस्वरूप लोक में सर्वत्र जो कुछ जितने-जितने पदार्थ हैं, वे सभी निश्चय से (निश्चित) एकत्वनिश्चय को प्राप्त होने से ही सुन्दरता को पाते हैं, क्योंकि अन्य प्रकार से वे...** आहाहा! **दोष आ पड़ते हैं। वे सर्व पदार्थ अपने द्रव्य में रहे हुए अपने अनन्त धर्मों के चक्र को (समूह को) चुम्बन करते हैं...** अपनी शक्ति और पर्याय को स्पर्श करते हैं। है? **तथापि जो परस्पर एक-दूसरे को स्पर्श नहीं करते,...** आहाहा! गजब बात है। तीसरी गाथा में बीच में है।

एक द्रव्य, प्रत्येक पदार्थ—आत्मा और प्रत्येक परमाणु अपने में रहे हुए अनन्त गुण और अनन्त पर्याय को स्पर्शते हैं परन्तु वे द्रव्य परद्रव्य को कभी स्पर्श नहीं करते। ऐसा स्वभाव भिन्न-भिन्न द्रव्य है। अर र र! ऐसा कभी सुना न हो, ऐसी चीज़ है। एक द्रव्य—पदार्थ अपनी शक्ति जो अनन्त गुण हैं, और उनकी अनन्त निर्मल पर्यायें उछलती हैं, उस पर्याय और गुण को वह द्रव्य चूमता है, स्पर्शता है, छूता है परन्तु परद्रव्य को तो कभी स्पर्श नहीं करता। आत्मा कर्म को स्पर्श नहीं करता, शरीर को स्पर्श नहीं करता, वाणी को स्पर्श नहीं करता, स्त्री को स्पर्श नहीं करता, कभी किसी को स्पर्श नहीं करता। अर र र! यह क्या है? समझ में आया? प्राणभाई! क्या कहते हैं? कि आत्मा शरीर को स्पर्श नहीं करता। वह जड़ है, मिट्टी-धूल है यह तो। आत्मा अरूपी है। आत्मा में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श नहीं

है। वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श को कभी छूता नहीं है। अज्ञानी मानता है कि मैं शरीर को स्पर्श करता हूँ, मैं शरीर से काम लेता हूँ। वह तो मिथ्यादृष्टि अजैन मानता है। वह जैन नहीं है। अर र र!

मुमुक्षु : प्रतिदिन रुपयों को गिनते हैं और आप इनकार करते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में रुपये नहीं। सब देखा है, नहीं देखा? वहाँ हमारी दुकान थी और अभी बड़ी दुकान है। चालीस लाख रुपये हैं, चार लाख की आमदनी है। पालेज, पालेज भरुच और वड़ोदरा के बीच वह स्टेशन आता है। मैं वहाँ नौ वर्ष रहा। छोटी उम्र में—१३ से २२ (वर्ष)। १३ वर्ष की उम्र से २२ वर्ष। अभी शरीर को ९१ हुए, ९१। १०० में ९ कम। सब देखा है, बहुत देखा है। पाँच वर्ष व्यापार भी किया था, उगाही की थी, सब किया था। फिर वैशाख में छोड़ दिया। (संवत्) १९६८ के वैशाख में दुकान छोड़ दी और १९७० में दीक्षा (ली)। आहाहा! सब देखा है। सब पुस्तकें पढ़ी हैं, सब देखा है। यह कोई दूसरी अन्तर की चीज़ है, भाई!

एक द्रव्य दूसरे को स्पर्श नहीं करता। यह अँगुली इस पुस्तक को छूती नहीं, स्पर्शती नहीं, ऐसा कहते हैं। कैसे मानने में आवे? है अन्दर? **एक-दूसरे को स्पर्श नहीं करते,...** चुम्बन नहीं करते, स्पर्श नहीं करते, ऐसा अन्दर आता है।

मुमुक्षु : स्पर्शते नहीं, ऐसा कहाँ लिखा है? स्पर्श करते नहीं, ऐसा लिखा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : स्पर्श नहीं करते अर्थात् छूते नहीं, स्पर्शते नहीं। स्पर्श नहीं करते। आत्मा में स्पर्श है? इसलिए परद्रव्य को छूता ही नहीं। आहाहा! अरे रे! यह तो एकाध बोल है। ऐसे तो दस बोल हैं। जैन के सूक्ष्म बोल हैं, बहुत सूक्ष्म हैं। बहुत विस्तार करने जायें तो लोगों को ख्याल आवे नहीं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि अज्ञानी आत्मा जो द्रव्य है, वह तो त्रिकाली ध्रुव है और उसकी पर्याय में अनन्त अवस्था उछलती है। उत्पादव्ययध्रुवयुक्तं सत्। भगवान की वाणी तत्त्वार्थसूत्र में है। तो वह उत्पाद-व्यय की अनन्त पर्यायें उछलती हैं। अज्ञानी उस उछलती पर्याय को छोड़कर, मैं ध्रुव हूँ-ऐसा मानकर मिथ्यादृष्टि होता है। कहो, नरेन्द्रभाई! यह धूल के मकान बनाना और नये बनाना और बेचने में मजा आवे, पैसा दिखाई दे, धूल! आहाहा!

मुमुक्षु : आपको धूल लगती है परन्तु हमको धूल नहीं लगती न!

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल न लगे, इससे कहीं धूल मिट जाती है? हमारे बोटाद में ऐसा बना था। बोटाद सम्प्रदाय में दीक्षा ली थी न? स्थानकवासी। वहाँ एक मोढ़ रहते हैं। मोढ़। मोढ़ की माँ तो गुजर गयी परन्तु नयी माँ थी। वह स्त्री बाहर कपड़ा धोने गयी। उसकी नयी माँ स्त्री के कपड़े पहनकर सो रही थी। उसकी स्त्री के—पत्नी के कपड़े। उसके कपड़े धोना ले गयी थी। उस लड़के को विषयवासना आयी। माना कि यह मेरी स्त्री है और कोई नहीं। ठल्ला देकर जगाया। वहाँ नयी माँ थी। नयी माँ समझे? वह समझ गयी (और बोली), क्यों बेटा? बहू नहाने गयी है। ऐसा जहाँ कहा, वहाँ उसका विचार बदल गया। अरे रे! यह तो मेरी माता! एक जहाँ ख्याल में आया कि यह चीज़ मेरी नहीं, यह स्त्री नहीं, यह तो मेरी माता है। आहाहा! विचार एकदम बदल गया। जो विषयभोग के भाव थे... यह माता है। इसी प्रकार जब आत्मा अपनी नित्य चीज़ को देखता है और देखनेवाली चीज़ को भी मानता है। देखनेवाली चीज़ तो पर्याय है। आहाहा! कठिन बातें हैं, बापू!

यह कहते हैं, **उछलती हुई निर्मल चैतन्य परिणति...** पर्याय, उससे **भिन्न कुछ चाहता है...** यह पर्याय मेरी नहीं, मैं तो भिन्न ध्रुव हूँ। मैं तो ध्रुव हूँ—ऐसा अज्ञानी मानता है। परन्तु ध्रुव हूँ, यह जाना किसने? ध्रुव ने जाना या पर्याय ने जाना? कहाँ ध्रुव और कहाँ पर्याय? किसे पड़ी है? अरे रे! जीवन चला जाता है। आहाहा! मृत्यु के समीप जाता है, बापू! मृत्यु का समय तो निश्चित है कि इस समय देह छूटने का, उस प्रकार ही छूटनी है। अब यह मृत्यु के समीप जाता है और यह जानता है कि मैं बढ़ता जाता हूँ।

मुमुक्षु : रुपये जितने कमाने हो, उतने कमा ले न!

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में कमाते नहीं। हम दुकान में थे न! पालेज में दो दुकानें थी। लड़के इकट्ठे थे। चालीस लाख रुपये हैं, चार लाख की आमदनी है परन्तु लड़के अब अलग हुए। हमारी बुआ के पुत्र भाई भागीदार थे, उनको इतनी ममता थी कि मैं करूँ... मैं करूँ... मैं करूँ... मैं करूँ... मैंने तो संवत् १९६४ के वर्ष में कह दिया, १९६४ के वर्ष में मेरी १८ वर्ष की उम्र थी। दुकान तो मैं भी चलाता था। दो दुकानें थीं। तीस लोग थे,

एक रसोई में जीमते थे। १९६४ की बात है। अरे! कुँवरजीभाई! गाँव में साधु आवे तो सामने देखे नहीं। आहार दे नहीं, आहार देने को रसोई में आवे नहीं, दुकान छोड़े ही नहीं, क्या करता है तू यह? कहा। मुझसे चार वर्ष बड़ा था। मेरे सामने बोले नहीं। यह भगत है, भगत है। मेरी छाप पहले से भगत की है। अरे! यह क्या करता है पूरे दिन? गाँव में साधु आवे तो दर्शन भी नहीं, उस समय उसमें थे न! और आहार-पानी देने के समय तुम्हारी उपस्थिति नहीं। वे साधु आवे तो मैं अपनी रसोई में ले जाऊँ। क्योंकि हमारी एक रसोई में तीस लोग जीमते थे। तीस लोग थे। दो दुकानें थीं। वहाँ ले जाकर आहार-पानी बाकी होवे तो श्वेताम्बर के घर में ले जाऊँ परन्तु यह तुम पूरे दिन क्या करते हो? धन्धा... धन्धा... धन्धा... तुझे मरकर कहाँ जाना है? ऐसा कहा था। जरा बहुत कठिन बात है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि अज्ञानी अपने को नित्य मानने जाता है, वहाँ अनित्य जो पर्याय है, उसे नहीं मानता। क्योंकि नित्य आत्मा ध्रुव है, वह ध्रुव जाने? जानती तो पर्याय है। पर्याय—अवस्था जानती है कि यह ध्रुव है। ध्रुव तो ध्रुव कायम अनादि-अनन्त एकरूप चीज़ है। जानना, ऐसी पर्याय उसमें नहीं है। आहाहा! भाषा तो कैसी ली है? उछलती निर्मल (पर्याय) ली है, मलिन पर्याय नहीं। **उछलती हुई निर्मल चैतन्य परिणति से भिन्न कुछ चाहता है...** अज्ञानी। वह परिणति-पर्याय है, पर्याय है, इसे नहीं... नहीं... नहीं... परन्तु पर्याय तेरी है, तुझमें है, ऐसा नहीं मानकर आत्मा का नाश करता है।

धर्मीजीव **स्याद्वादी...** स्याद्वादी है न? धर्मी। **चैतन्य वस्तु की वृत्ति के (-परिणति के, पर्याय के) क्रम द्वारा...** आहाहा! धर्मी उसे कहते हैं कि नित्य प्रभु आत्मा है, ऐसा मानता है परन्तु पर्याय-अवस्था में क्रम से... क्रम से... क्रम से... क्रमसर पर्याय होती है। एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह, सात जैसा क्रम है, वैसा आत्मा में अवस्था भी क्रमसर होती है। देखो! क्रम आया। है? आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई!

धर्मीजीव **चैतन्य वस्तु की वृत्ति के (-परिणति के, पर्याय के)...** यह चैतन्यवस्तु की पर्याय है। पर्याय बिना का द्रव्य कभी होता ही नहीं। उस **(-परिणति के, पर्याय के) क्रम द्वारा...** क्रम-क्रम से पर्याय—अवस्था होती है। एक समय में एक (हो), अनन्त पर्याय परन्तु एक समय, दूसरे समय में अनन्त दूसरी, तीसरे समय में अनन्त तीसरी, ऐसी अनन्त गुण की अनन्त पर्यायें—अवस्थायें होती हैं। आहाहा! उस अवस्था

को धर्मी अपनी मानता है कि मुझसे हुई है। मेरे त्रिकाली चैतन्य भगवान पर दृष्टि है तो निर्मल मुझसे पर्याय में उत्पन्न हुई है और निर्मल पर्याय अनित्य है; इसलिए मैं नहीं—ऐसा नहीं है। ध्रुव भी हूँ और अनित्य भी हूँ। आहाहा! ऐसी बात है, भाई! है ?

क्रम द्वारा उसकी अनित्यता का अनुभव करता हुआ,... धर्मी जीव उसे कहते हैं कि अपनी नित्य दृष्टि रखकर अनित्य का अनुभव करता है। अनुभव तो अनित्य का होता है, अनुभव ध्रुव का नहीं होता। अरे! ऐसी बातें। **अनित्यता का अनुभव करता हुआ,...** देखो! भाई ने ऐसा लिया है, अनुभव अनित्य का है। नयी-नयी पर्याय शुद्ध चैतन्य भगवान के पर दृष्टि होने से पर्याय में निर्मलता आनन्द, शान्ति और वीतरागता होती है, वह वीतराग पर्याय है, पर्याय का अनुभव करता हुआ धर्मी **नित्य ऐसे ज्ञान को...** आहाहा! **अनित्यता से व्याप्त होने पर भी...** नयी-नयी अवस्था होने पर भी **उज्ज्वल (-निर्मल) मानता है...** वह निर्मल परिणति से मलिन हो गया, नयी-नयी पर्याय है तो मेरा खण्ड-खण्ड हो गया, ऐसा ज्ञानी नहीं मानता। यह किस प्रकार का उपदेश ? बापू! प्रभु का मार्ग अलग है। वीर का मार्ग कोई अलग है। अरे! इसकी दरकार कभी की नहीं और धर्मी यह करता है।

उज्ज्वल (-निर्मल) मानता है-अनुभव करता है। क्या कहते हैं ? धर्मी जीव अपने आत्मा को नित्य मानकर पर्याय में निर्मल पर्याय होती है, उसका अनुभव करता है। उस पर्याय का अनुभव, वह मैं हूँ। अलिंगग्रहण के बीसवें बोल में तो ऐसा आया है कि मुझमें जो यह पर्याय का वेदन होता है, वही मैं हूँ। वेदन ध्रुव का तो होता नहीं। ध्रुव तो नित्य वस्तु है परन्तु वेदन में आती है, वह पर्याय आती है। अनुभव में—वेदन में—भोगने में पर्याय आती है। वह अनुभव की पर्याय, वही मैं हूँ। आहाहा! ऐसा अनजाने लोगों को... जिस पन्थ में चला ही नहीं, उस पन्थ में चले, वहाँ उसे सब नया लगता है।

अज्ञानी अनित्य पर्याय को नहीं मानकर अकेला नित्य मानता है और ज्ञानी अनित्य पर्याय का अनुभव करता होने पर भी अपने आत्मा को नित्य भी मानता है और अनित्य भी मानता है। इसका नाम सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन है। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४७८, श्लोक-२६१, २६२, २६३ मंगलवार, भाद्र कृष्ण ६
दिनांक - ३०-०९-१९८०

समयसार, भावार्थ है न? २६१ कलश का भावार्थ। भावार्थ है न? सेठ को बताओ। क्या कहते हैं? देखो! एकान्तवादी ज्ञान—आत्मा को अनित्य नहीं माननेवाला... आहाहा! आत्मा नित्य ही है, ऐसा एकान्त माननेवाला, पर्याय को नहीं माननेवाला, उसे यहाँ एकान्तवादी कहा गया है। उस एकान्तवादी की व्याख्या। आत्मा को अकेला नित्य ही माननेवाला परन्तु पर्याय में अनित्य है और निर्मल पर्याय प्रगट होती है, वह अवस्था है, उसे नहीं मानता और अकेले सामान्य को मानने जाता है, तो आत्मा का नाश करता है। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बात है।

एकान्तवादी ज्ञान को... अर्थात् आत्मा को। **सर्वथा एकाकार...** सर्वथा एक स्वरूप माननेवाला। क्या कहते हैं? एक पक्षी नित्य ही मानता है और अन्दर अनित्य जो पर्याय है, उसे मानता ही नहीं। वेदान्त है। जैन में भी कितने ही अन्दर निश्चयाभासी हो गये हैं। एकरूप ही है, पर्याय-फर्याय नहीं। अनित्य जो है, वह अनित्य हो गया, पर्याय तो अनित्य है। अनित्य को मानने से क्षणिक हो गया। ऐसा मानने से अज्ञानी **ज्ञान को सर्वथा एकाकार-नित्य प्राप्त करने की वाँछा से,...** मैं तो नित्य ही हूँ, ऐसे (नित्य) प्राप्त करने की वांछा। परन्तु प्राप्त करने की वांछा, वह भी पर्याय हुई। आहाहा! सूक्ष्म बात है। वैसे तो साधारण लोग (समझ सके) परन्तु बात यह अन्दर वस्तु है, चैतन्यमूर्ति प्रकाश का पुंज, उसका परिणमन, जो परिणमन पर्याय, अवस्था का परिणमन है, वही मोक्षमार्ग है, वही संसार है और वही सिद्ध है। क्योंकि पर्याय में ही मोक्षमार्ग है, पर्याय में ही संसार है, पर्याय में ही मोक्ष है।

संसार आत्मा से भिन्न नहीं रहता। आहाहा! संसार आत्मा की विकारी पर्याय है। आहाहा! संसार कोई स्त्री, कुटुम्ब, पैसा, मकान, वह कोई संसार नहीं, वह तो परचीज़ है, जड़ है। आहाहा! संसार 'संसरण इति संसार' ऐसा पाठ है प्रवचनसार भगवान की वाणी। अपना जो नित्य स्वरूप है, उसमें से संसरण—निकलता है और पर्याय में विकार करता है, तो यह मानता है कि यह संसार स्त्री, कुटुम्ब-परिवार वह संसार है, परन्तु वह संसार

नहीं है। संसार विकृत अवस्था है। आहाहा! वह शुभ और अशुभभाव दोनों संसार है।

यहाँ कहते हैं कि यह पर्याय संसार है, इसे नहीं मानता, यह बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो निर्मल पर्याय की बात ली है न? भाई! निर्मल। **उछलती हुई निर्मल चैतन्य परिणति से भिन्न कुछ चाहता है...** चैतन्य की परिणति निर्मल, आनन्द और शान्ति आदि की पर्याय, उससे अज्ञानी भिन्न चाहता है कि यह नहीं, यह नहीं, यह नहीं। यह तो पर्याय है, वस्तु नित्य है। परन्तु वह पर्याय को नहीं मानता। समझ में आया? आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बातें। एक पक्ष को माननेवाला। एकान्तवादी अर्थात् एक ही पक्ष माननेवाला। नित्य ही हूँ, मैं नित्य ही हूँ, ऐसा माननेवाला अनित्य को नहीं मानता। अनित्य क्या है?

सर्वथा एकाकार-नित्य प्राप्त करने की वाँछा से,.. ध्रुव नित्य को प्राप्त करने की वांछा से पर्याय को ही उड़ा देता है। पर्याय है नहीं। समझ में आया? इस वांछा से **उत्पन्न होनेवाली...** कौन? आत्मा में अनन्त पर्यायें समय-समय में उत्पन्न होती है। एक समय में यह चौदह भंग हैं। क्या कहा? यह चौदह भंग जो है, वे एक समय में हैं। समझाने के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार से समझाते हैं, परन्तु है तो एक समय में चौदह भंगस्वरूप। आहाहा! ऐसे आत्मा को एकान्त नित्य मानने की इच्छा से जो निर्मल पर्याय उत्पन्न होती है, उस पर लक्ष्य नहीं देता। मुझे पर्याय नहीं चाहिए, पर्याय नहीं, अकेला सामान्य द्रव्य चाहिए। परन्तु अकेला सामान्य पर्याय बिना होता ही नहीं। यह कहते हैं।

नित्य प्राप्त करने की वाँछा से,.. मुझे तो अकेला नित्य चाहिए। परन्तु नित्य चाहिए, वह पर्याय है या द्रव्य नित्य है? मुझे नित्य चाहिए, यह पर्याय है या नित्य है? यह तो पर्याय है। आहाहा! अब ऐसी बातें। **नित्य प्राप्त करने की वाँछा से, उत्पन्न होनेवाली और नाश होनेवाली...** आत्मा में जो अनन्त चैतन्य परिणति समय-समय में उत्पन्न होती है, अनन्त गुण की अनन्त चैतन्य पर्यायें उत्पन्न होती हैं और वही पर्यायें दूसरे समय में नष्ट होती है। आहाहा! है?

उत्पन्न होनेवाली और नाश होनेवाली... जो एक समय में अनन्त पर्याय में उत्पन्न होता है, वह दूसरे समय में व्यय हो जाता है। क्योंकि भगवान के मुख में से ऐसी वाणी आयी है कि उत्पादव्ययध्रुवयुक्तं सत्। नयी अवस्था उत्पन्न हो, पुरानी अवस्था का

व्यय हो—अभाव (हो)। उत्पाद—भाव, व्यय—अभाव परन्तु एक समय का और त्रिकाली भाव त्रिकाल समय का। वह त्रिकाली एकान्त नित्य की वांछा करनेवाला उत्पन्न और व्यय होनेवाली पर्याय, **चैतन्यपरिणति से पृथक् कुछ ज्ञान को चाहता है;...** उस पर्याय से कुछ अलग अकेली चीज़ है, ऐसा मानता है। समझ में आया? आहाहा!

चैतन्यपरिणति से पृथक्... यह चैतन्य की अवस्था, परिणति—दशा, उससे **पृथक् कुछ ज्ञान को चाहता है;...** आत्मा को परिणति से भिन्न चाहता है। परिणति को मानता नहीं। आहाहा! परिणति और ऐसे शब्द (सुने भी नहीं हों)।

मुमुक्षु : परिणति अर्थात् पर्याय?

पूज्य गुरुदेवश्री : परिणति अर्थात् पर्याय। परिणति कहो, पर्याय कहो, अवस्था कहो, दशा कहो, हालत कहो। आहाहा! विशेष कहो। त्रिकाली सामान्य ध्रुव है और पर्याय विशेष है। त्रिकाली अवस्थायी, वह वस्तु और वर्तमान अवस्था। वर्तमान पर्याय अवस्था, त्रिकाली अवस्थायी। वर्तमान पर्याय, पर्याय; त्रिकाली पर्यायवान द्रव्य। अभ्यास किया नहीं किया। यह तो बहुत सादी भाषा है।

उत्पन्न होनेवाली और नाश होनेवाली चैतन्यपरिणति से पृथक् कुछ ज्ञान को चाहता है;... अज्ञानी। इस परिणति से भिन्न अकेला सामान्य चाहता है। परन्तु अकेला सामान्य होता ही नहीं। तीन काल में तीन लोक में पर्याय बिना का द्रव्य नहीं होता। विशेष बिना सामान्य नहीं होता। अवस्था बिना अवस्थायी नहीं होता। दशा बिना दशावान आत्मा नहीं होता। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि **उत्पन्न होनेवाली और नाश होनेवाली चैतन्यपरिणति से...** परिणति अर्थात् पर्याय—अवस्था। उससे **पृथक् कुछ ज्ञान को चाहता है;...** उससे भिन्न अकेले आत्मा को चाहता है कि आत्मा पृथक् (चाहिए)। परन्तु पृथक् है ही कहाँ? क्यों? **परिणाम के अतिरिक्त कोई पृथक् परिणामी तो नहीं होता।** यह सिद्धान्त है। क्या कहा? परिणाम कहो, पर्याय कहो, अवस्था कहो। **परिणाम के अतिरिक्त...** परिणाम के सिवाय, परिणाम के अलावा, परिणाम से भिन्न **कोई पृथक् परिणामी तो नहीं होता।** पर्याय से पृथक् कोई द्रव्य तो होता नहीं। यहाँ तो पर से पृथक् करना है, हों! बाकी पर्याय से द्रव्य भिन्न है और द्रव्य से पर्याय भिन्न है। यह यहाँ सिद्ध नहीं करना है।

यहाँ तो अकेले अनित्य को न माने। अनित्य वस्तु? बदले क्षण-क्षण में? वह वस्तु नहीं। ऐसा माननेवाला एकान्त मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! जैन परमेश्वर, उन्होंने जो ज्ञान में तत्त्वों का, द्रव्यों का स्वभाव देखा, वैसा कहा। प्रत्येक तत्त्व कायम रहकर, नित्य रहकर पर्याय में पलटता है, बदलता है। उसे बदलता नहीं मानकर अकेला नित्य मानने जाए तो वह भ्रष्ट है। आहाहा! समझ में आया?

पहले यह आया था कि मात्र अनित्य को मानकर नित्य को नहीं मानता। पहला भंग यह आया था। आहाहा! ऐसा उपदेश। मात्र अनित्य को मानकर नित्य को नहीं मानता, वह भी मिथ्यादृष्टि है और अकेला नित्य मानता है और अनित्य को नहीं मानता, क्षण-क्षण में पर्याय नहीं मानता, वह भी मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! अरे... कुछ अभ्यास नहीं, क्या हो? परिणाम से पृथक्, पर्याय से कोई अत्यन्त भिन्न चीज़। **कोई पृथक् परिणामी तो नहीं होता।** द्रव्य। समझ में आया? पर्याय बिना की कोई चीज़ तीन काल-तीन लोक में नहीं होती। जड़ और चैतन्य, छहों द्रव्य। परिणाम—पर्याय बिना का द्रव्य नहीं होता। और अज्ञानी उस पर्याय को नहीं मानता, अकेले द्रव्य को मानता है। परन्तु अकेले द्रव्य को माननेवाली तो पर्याय है।

द्रव्य जो त्रिकाली है, दृष्टि द्रव्य, दृष्टि का विषय नित्य द्रव्य, परन्तु दृष्टि पर्याय है। उस पर्याय—अवस्था को न माने, उसने सम्यग्दर्शन, मोक्षमार्ग माना नहीं। आहाहा! अब ऐसा उपदेश। वीतराग का मार्ग कोई अलग प्रकार है। लोक में कुछ दूसरा प्रकार हो गया है, बात कुछ दूसरी रह गयी है। मूल बात रह गयी है। आहाहा! **पृथक् परिणामी...** जुदा अर्थात् भिन्न। **कोई पृथक् परिणामी तो नहीं होता।** आहाहा!

स्याद्वादी... धर्मी जीव। स्याद्वादी अर्थात् धर्मी। एकान्ती अर्थात् अज्ञानी। एकान्तवादी पहला शब्द था, वह अज्ञानी और स्याद्वादी अर्थात् ज्ञानी। ज्ञानी तो **यह मानता है कि-यद्यपि द्रव्यापेक्षा से ज्ञान नित्य है...** वस्तु अपेक्षा से—द्रव्य अपेक्षा से आत्मा नित्य है। **तथापि क्रमशः उत्पन्न होनेवाली...** देखो! आया। आज विरोध की बड़ी चर्चा आयी है। क्रमबद्ध भाई हुकमचन्दजी ने लिखा है न? क्रमबद्ध आया न? उसमें लिखा है कि अकाल मृत्यु कोई नहीं है। जिस समय में, जिस क्षेत्र में, जिस प्रकार से

(होनेवाला है, वैसा ही होगा)। अकाल मृत्यु कहा है, वह तो कर्म की प्रकृति का फेरफार होता है, इस कारण से (कहा है)। अकाल मृत्यु होती ही नहीं। जैनदर्शन (पत्रिका) में बड़ा विरोध किया है। अभी आया है। अकाल मृत्यु का अर्थ जिस समय में मृत्यु होनेवाली है, उससे पहले मरे, उसका नाम अकाल मृत्यु। अरे रे! जैनदर्शन मासिक में बहुत आया है।

मुमुक्षु : उसका काम ही विरोध का है।

पूज्य गुरुदेवश्री : काम ही विरोध का है। जैनदर्शन... आहाहा! उसमें बहुत लिखा है कि अकाल मृत्यु है। मात्र काल में ही (मृत्यु) लो और तुम अकाल में ऐसा लो कि विषभक्षण और दूसरा (करे), इसका नाम अकाल है, ऐसा नहीं है। जिस काल में मारने का हो, उससे पहले मरे, इसका नाम अकाल मृत्यु। कहो! आहाहा! कोई एक बड़ा निकला है, उसने तो और (ऐसा लिखा है), यह अष्ट द्रव्य पूजा नयी है, अष्ट द्रव्य की पूजा नयी है, ऐसा लिखा है। बड़ा लेख है। यह भगवान की अष्ट द्रव्य से पूजा करते हैं न? यह नयी है, पहले से नहीं है। उसके विरोध में भी कोई लिखा है। नहीं, यह बात अनादि की है। ऐसे झगड़े... झगड़े... झगड़े... अरे! भाई! अष्ट द्रव्य की पूजा तो एक शुभभाव है। शुभभाव होता है परन्तु वह शुभभाव धर्म है, ऐसा नहीं है। तथा शुभभाव नहीं आता, ऐसा भी नहीं है। भगवान की प्रतिमा, मन्दिर के दर्शन ऐसे शुभभाव आये बिना नहीं रहते। ये एकावतारी इन्द्र भी शुभभाव-भक्ति करते हैं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, एकान्त नित्य को माननेवाला, अनित्य पर्याय को नहीं मानता, वह मिथ्यादृष्टि है। धर्मीजीव तो ऐसा मानता है कि **द्रव्यापेक्षा से ज्ञान नित्य है...** वस्तु अपेक्षा से नित्य है। उसकी सत्ता है... है... अनादि सत्ता है। द्रव्य अर्थात् पदार्थ। **ज्ञान नित्य है, तथापि क्रमशः उत्पन्न होनेवाली...** क्रम-क्रम से उत्पन्न होनेवाली। देखो! यहाँ भी क्रम आया। टीका में भी क्रम आया था और यहाँ भावार्थ में आया। क्रमशः—क्रम-क्रम से उत्पन्न होनेवाली। प्रत्येक द्रव्य में क्रम-क्रम से उत्पन्न होनेवाली। जिस समय में जो पर्याय उत्पन्न होती है, उस समय में होगी। दूसरे समय में जो होगी, वह होगी। ऐसे क्रमसर... आहाहा! यह टिकिट नहीं लेते? टिकिट लेने के लिये पच्चीस-पचास लोग

इकट्ठे होते हैं न? मुम्बई की या कहीं की, तो एकदम लाईन खड़ी हो। एक के बाद एक टिकिट ले। वह टिकिट तो ठीक परन्तु यह फिल्म... मुम्बई में और अहमदाबाद में ऐसे देखते हैं, लोग ऐसे ढ़ेरों खड़े हों। एक के बाद एक, एक के बाद एक... फिल्म, हों! वैसे आत्मा में एक के बाद एक पर्याय होती है। वह क्रमसर पच्चीस-पचास, सौ-दा सौ लोग (खड़े हों)। पहला हो पहले उसे देते हैं, दूसरे को बाद में, तीसरे को बाद में। हमारे पालेज में स्टेशन है न? हमारी दुकान नजदीक ही थी तो वहाँ बहुत लोग हों तो लाईन बँधे। परन्तु हम जायें तो हमें तो मुख्य... पहिचाने सही न! हम तो अन्दर स्टेशन में जहाँ मास्टर हो, वहाँ घुस जायें। वह हमको पहिचाने। दे, पहली टिकिट हमको दे।

हमारा बड़ा केस वड़ोदरा में चला था, (संवत्) १९६३ के वर्ष। स्टेशन के जो बड़े प्रमुख मास्टर थे, वे सब मदद में—सहायता में थे। वे कहे—नहीं, ये लोग व्यापारी हैं। व्यापारी कोई ऐसा नहीं करता। मुम्बई से सब माल डिब्बे के डिब्बे आते हैं, लेते हैं, देते हैं, कहीं कोई विरोध नहीं करते। मास्टर बड़ा पारसी था। वह भी वहाँ मदद के लिये आया था। आहाहा! साक्षी। साक्षी।

यहाँ कहते हैं कि परिणाम है, वह साक्षी है और त्रिकाली वस्तु है, वह ध्रुव है। साक्षी पर्याय में होती है, द्रव्य में साक्षी होगी? द्रव्य तो द्रव्य है, ध्रुव है। आहाहा! समझ में आया? **स्याद्वादी तो यह मानता है कि-यद्यपि द्रव्यापेक्षा से ज्ञान नित्य है, तथापि क्रमशः उत्पन्न होनेवाली...** पर्याय—अवस्था तो प्रत्येक द्रव्य में क्रम से उत्पन्न होती है। एक के बाद एक, एक के बाद एक, एक के बाद एक। आगे-पीछे भी नहीं तथा पर्याय बिना द्रव्य है नहीं। आहाहा! **क्रमशः उत्पन्न होनेवाली और नष्ट होनेवाली...** उत्पाद और व्यय। उपजती अर्थात् क्रम से उत्पन्न होनेवाली और क्रम से नष्ट होनेवाली। **चैतन्यपरिणति के क्रम के कारण...** चैतन्यपरिणति के क्रम के कारण **ज्ञान अनित्य भी है;...** आत्मा अनित्य भी है। एकान्त नित्य है, ऐसा है नहीं। आहाहा!

चैतन्यपरिणति के क्रम के कारण... क्रम के कारण, देखो! क्रमसर आया। इससे इनकार करते हैं, क्रमबद्ध नहीं। हुकमचन्दजी ने जब क्रमबद्ध का नाम मेरे पास जहाँ पहला सुना, वहाँ तो उन्हें विस्मय हो गया और अन्दर एकदम गुलांट खा गया। आहाहा!

यह बात! क्रमबद्ध होती है? किसी की पर्याय को मैं करता नहीं परन्तु मेरी पर्याय भी आगे-पीछे नहीं होती। मैं तो ज्ञाता-दृष्टा आत्मा हूँ। इस ज्ञाता-दृष्टा की पर्याय भी क्रमसर होती है। आहाहा! मार्ग बहुत सूक्ष्म, प्रभु!

यह यहाँ कहते हैं, क्रमशः उत्पन्न होनेवाली और क्रमशः नष्ट होनेवाली, ऐसा लेना। अन्तिम पंक्ति है न? **चैतन्यपरिणति के क्रम के कारण...** चैतन्य की परिणति अर्थात् पर्याय। उसके क्रम के कारण ज्ञान अनित्य भी है। आत्मा अनित्य भी है। पर्याय की अपेक्षा से अनित्य भी है। त्रिकाल की अपेक्षा से नित्य भी है। आहाहा! अरे रे! ऐसी बातें। कुछ करने का कहते हों कि दो घण्टे या घण्टे भर माला फेरना। चन्दुभाई नहीं? राजकोट के डॉक्टर, आज आयेंगे। चार-चार घण्टे हमेशा वाँचन करते हैं। बड़ी दुकान (दवाखाना) है परन्तु चार-चार घण्टे! और बीच में समय मिले तो भी वाँचन करते हैं। चन्दुभाई (को) बहुत अभ्यास, उनका वाँचन बहुत है। सब शास्त्र बहुत बार...

यहाँ कहते हैं कि **चैतन्यपरिणति के क्रम के कारण ज्ञान अनित्य भी है;...** अनित्य भी है, ऐसा कहा न? अर्थात् नित्य तो है परन्तु पर्याय से अनित्य भी है। आहाहा! **ऐसा ही वस्तुस्वभाव है।** आया? **ऐसा ही वस्तुस्वभाव है।** ..ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है। यह किसी ने बनाया नहीं। भगवान ने कहीं बनाया नहीं। भगवान ने तो (जैसा) था उसे जाना और जाना वैसा कहा। **इस प्रकार अनित्यत्व का भंग कहा गया।** २६१। **इस प्रकार अनित्यत्व का भंग कहा गया।**

'पूर्वोक्त प्रकार से अनेकान्त, अज्ञान से मूढ़ हुए जीवों को... देखो! अज्ञान से मूढ़ हुए जीवों को **ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व प्रसिद्ध कर देता है-समझा देता है' इस अर्थ का काव्य कहा जाता है-** २६२।

कलश - २६२

'पूर्वोक्त प्रकार से अनेकान्त, अज्ञान से मूढ़ हुए जीवों को ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व प्रसिद्ध कर देता है-समझा देता है' इस अर्थ का काव्य कहा जाता है-

(अनुष्टुप्)

इत्यज्ञान-विमूढानां ज्ञान-मात्रं प्रसाधयन्।
आत्म-तत्त्व-मनेकान्तः स्वय-मेवानुभूयते।।२६२।।

श्लोकार्थ : [इति] इस प्रकार [अनेकान्तः] अनेकान्त अर्थात् स्याद्वाद [अज्ञान-विमूढानां ज्ञानमात्रं आत्मतत्त्वम् प्रसाधयन्] अज्ञानमूढ़ प्राणियों को ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व प्रसिद्ध करता हुआ [स्वयमेव अनुभूयते] स्वयमेव अनुभव में आता है।

भावार्थ : ज्ञानमात्र आत्मवस्तु अनेकान्तमय है। परन्तु अनादि काल से प्राणी अपने आप अथवा एकान्तवाद का उपदेश सुनकर ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व सम्बन्धी अनेक प्रकार से पक्षपात करके ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व का नाश करते हैं। उनको (अज्ञानी जीवों को) स्याद्वाद ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व का अनेकान्तस्वरूपपना प्रगट करता है-समझाता है। यदि अपने आत्मा की ओर दृष्टिपात करके-अनुभव करके देखा जाए तो (स्याद्वाद के उपदेशानुसार) ज्ञानमात्र आत्मवस्तु अपने आप अनेक धर्मयुक्त प्रत्यक्ष अनुभवगोचर होती है। इसलिए हे प्रवीण पुरुषों! तुम ज्ञान को तत्स्वरूप, अतत्स्वरूप, एकस्वरूप, अनेकस्वरूप, अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से सत्स्वरूप, पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से असत्स्वरूप, नित्यस्वरूप, अनित्यस्वरूप इत्यादि अनेक धर्मस्वरूप प्रत्यक्ष अनुभवगोचर करके प्रतीति में लाओ। यही सम्यग्ज्ञान है। सर्वथा एकान्त मानना वह मिथ्याज्ञान है।२६२।

कलश-२६२ पर प्रवचन

इत्यज्ञान-विमूढानां ज्ञान-मात्रं प्रसाधयन्।
आत्म-तत्त्व-मनेकान्तः स्वय-मेवानुभूयते।।२६२।।

२६२ श्लोक है न? नीचे अर्थ।

श्लोकार्थ – इस प्रकार अनेकान्त अर्थात् स्याद्वाद... अर्थात्? कि जो तत् है, वही अतत् है। इसका नाम स्याद्वाद और अनेकान्त है। जो आत्मा तत् है, वही अतत् अर्थात् ज्ञेय से नहीं। अतत् अर्थात् ज्ञेय, तत् अर्थात् ज्ञाता। ज्ञाता तत् से है, अतत् से नहीं। यह एक समय में है। ज्ञाता वस्तुस्वरूप से एकरूप है, वही गुण-पर्याय से अनेक है, यह एक समय में है। तत्-अतत् के समय में भी यह है। आहाहा! **अनेकान्त अर्थात् स्याद्वाद अज्ञानमूढ़ प्राणियों को ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व प्रसिद्ध करता हुआ स्वयमेव अनुभव में आता है।**

भावार्थ – ज्ञानमात्र आत्मवस्तु अनेकान्तमय है। परन्तु अनादि काल से प्राणी अपने आप अथवा एकान्तवाद का उपदेश सुनकर... अज्ञानी का, **ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व सम्बन्धी अनेक प्रकार से पक्षपात करके ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व का नाश करते हैं।** आहाहा! जिस प्रकार आत्मतत्त्व है, भगवान ने किसी को किया नहीं, किसी तत्त्व को किया नहीं। निश्चय से तो भगवान के द्रव्य ने पर्याय को भी किया नहीं। आहाहा! भगवान ने अपने द्रव्य की दृष्टि की अपेक्षा से केवलज्ञान की पर्याय का भी द्रव्य कर्ता नहीं। आहाहा! केवलज्ञान भी अपनी पर्याय से तीन काल-तीन लोक को जानता है, यह भी व्यवहार है। अपनी पर्याय में ही इतना जानने का स्वभाव प्रगट हो गया। आहाहा! कठिन बात है। अभ्यास करना चाहिए, भाई! दिन में दो-चार घण्टे लेना चाहिए। एकाध घण्टा ले, उसमें कुछ खबर नहीं पड़ती। आहाहा! दिन चले जाते हैं। आहाहा! दिन में, रात्रि में दो-चार घण्टे तो अभ्यास के लिये देना ही चाहिए। इसके बिना यह तत्त्व नहीं समझ में आयेगा। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं, **ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व सम्बन्धी अनेक प्रकार से पक्षपात करके ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व का नाश करते हैं। उनको (अज्ञानी जीवों को) स्याद्वाद ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व का अनेकान्तस्वरूपपना प्रगट करता है-समझाता है।** ज्ञानी, अज्ञानी को समझाते हैं। **यदि अपने आत्मा की ओर दृष्टिपात करके-अनुभव करके देखा जाए...** क्या कहते हैं? देखो! **यदि अपने आत्मा की ओर दृष्टिपात करके-(आत्मा का) अनुभव करके देखा जाए तो (स्याद्वाद के उपदेशानुसार) ज्ञानमात्र**

आत्मवस्तु अपने आप अनेक धर्मयुक्त प्रत्यक्ष अनुभवगोचर होती है। आहाहा! आत्मतत्त्व के ऊपर दृष्टि करने से आत्मा में अनन्त धर्म हैं, वे इसे प्रत्यक्ष ख्याल में आ जाते हैं। आहाहा! सब तो प्रत्यक्ष नहीं होते परन्तु वेदन की अपेक्षा से प्रत्यक्ष कहा जाता है और व्यवहार से परोक्ष जो है, वह निश्चय से परोक्ष को भी व्यवहार से प्रत्यक्ष कहा जाता है। आहाहा!

प्रत्यक्ष अनुभवगोचर होती है। इसलिए हे प्रवीण पुरुषों! इसलिए हे प्रवीण पुरुषों! इसलिए हे चतुर पुरुषों! आहाहा! पुरुषों में स्त्री नहीं आयी? सभी आत्मा, पुरुषों अर्थात् आत्मा। हे आत्माओं! आहाहा! **तुम ज्ञान को...** अर्थात् आत्मा को **तत्स्वरूप,...** जानो। अपने से तत् है, ऐसा जानो और पर से अतत् है, ऐसा जानो। आहाहा! एक ही समय में, हों! आहाहा! इसमें किसे फुरसत है? ऐसा धर्म करने जायें, फिर हमारे कमाना कब? स्त्री, पुत्र को पोषण करने को, पैसा... अब मर गया कर-करके।

श्रीमद् ने बहुत लिखा है, अनेक बार शास्त्र अभ्यास किया, अनेक बार तप, त्याग किये परन्तु वास्तविक तत्त्व को समझे बिना तेरा सब निरर्थक गया। श्रीमद् राजचन्द्र, इस पुस्तक में लिखा है। एक पुण्यविजय नाम के श्वेताम्बर साधु थे। यहाँ रहते थे। पश्चात् वे ववाणिया रहते थे। उन्होंने यह बनाया। पुण्यविजय श्वेताम्बर साधु मूल वढवाण के थे कुटुम्बी, उन्होंने उसमें से बनाया है। सबकी पुस्तकें देखी हैं।

यहाँ कहते हैं, जो ज्ञान को तत्स्वरूप—आत्मा को तत्स्वरूप (जाने)। अपने स्वरूप से ज्ञान है और अतत्स्वरूप अपने स्वरूप से वह अतत्स्वरूप है। आहाहा! एक ही समय में है न दोनों? तत्स्वरूप भी है और उसी समय में ज्ञेय से अतत्स्वरूप है। परज्ञेय से अतत् है। अपने ज्ञान से तत् है। अपने ज्ञान से है और परज्ञेय जितने—भगवान, देव-गुरु-शास्त्र, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार—सबसे अतत् है। वह भी अपने में एक समय में है। आहाहा! समझ में आया? एक समय में तत् है, उसी समय में अतत् है।

एकस्वरूप,... जिस समय में तत्-अतत् है, उसी समय में एकस्वरूप है। वस्तुरूप से एकस्वरूप है। आहाहा! यह चौदह भंग कहीं आत्मा में क्रम-क्रम से पड़े हैं, ऐसा नहीं है। पहले तत्-अतत् है, पश्चात् एक-अनेक है—ऐसा नहीं है। चिमनभाई! एक ही समय में आत्मा में यह चौदह भंग है। आहाहा!

जो तत् है, वही पर से अतत् है, एक समय में। जो तत्-अतत् है, वही अपने स्वरूप से त्रिकाल की अपेक्षा से एकस्वरूप है और उसी समय में गुण-पर्याय की अपेक्षा से अनेकस्वरूप है। वह भी एक समय में है। समय भिन्न नहीं है। आहाहा! भोगीभाई! ऐसा कब तुम्हारे वहाँ सुना था? आहाहा! ऐसी बातें हैं। उस समय और यहाँ लाभ लिया। पन्द्रह दिन से रहे हैं। आहाहा! अरे रे! यह चीज़...

यह कहा था न? लड़का मर जाए, पत्नी मर जाए तो उसकी सुविधा के कारण रोता है परन्तु वह पुत्र और पुत्री मरकर गये... आहाहा! वे भाई आये थे गये? उनका इकलौता पुत्र सोलह वर्ष की उम्र का था। आये थे। भाई है न? भाई है। इकलौता पुत्र सोलह वर्ष का। उसमें-झपट में आ गया। समाप्त हो गया। यह स्थिति ही इतनी थी। आहाहा! और वह भी उसकी स्थिति के कारण से, इसके कारण से नहीं कि अपने उसे (वहाँ) जाने नहीं देते तो रह जाता। वह तत्त्व उस समय में ज्ञेय से अतत्त्व है तो ज्ञेय से पृथक् पड़ गया। आहाहा! और वस्तुस्वरूप से एक है, वही वस्तुस्वरूप से अनेक भी है। गुण और पर्याय से अनेक है, द्रव्य से एक है। समय एक है। एक समय में एक है, दूसरे समय में अनेक है-ऐसा नहीं। आहाहा!

अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से सत्स्वरूप,... है। समय एक। जिस समय में तत् है, उसी समय में अतत् है। जिस समय में एक है, उसी समय में अनेक है। जिस समय में अपने द्रव्य से है, क्षेत्र से है, अपनी पर्याय से है और अपने भाव से है, वह सत्स्वरूप है। क्या (कहा)? **अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से सत्स्वरूप,...** है। समय तो वही है। **पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से असत्स्वरूप,...** है। आत्मा परद्रव्य भगवान आदि से भी असत्स्वरूप है। आहाहा! अपने स्वरूप से सत् है। द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से। द्रव्य अर्थात् वस्तु; क्षेत्र अर्थात् प्रदेश; काल अर्थात् समय—अवस्था; भाव अर्थात् त्रिकाली गुण। इन त्रिकाली की अपेक्षा से द्रव्य-गुण और शक्ति की अपेक्षा से नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है। परन्तु अपने द्रव्य से है, परद्रव्य-क्षेत्र-काल (भाव) से नहीं। तीर्थंकर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से भी आत्मा नहीं है। आहाहा! समय एक है।

जिस समय में अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से है, उसी समय परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से नहीं है। आहाहा! गजब बात! अमृतचन्द्राचार्य ने चौदह भंग में सूक्ष्म (कहा है)। लगता वह का वह है परन्तु वह का वह नहीं है। प्रत्येक भंग-भंग में अलग-अलग चीज़ है। आहाहा! और परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से असत्स्वरूप है। उसी समय में, हों! जिस समय में अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से है, उसी समय में परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से नहीं है। उसी समय में एक-अनेक, तत्-अतत्स्वरूप है। आहाहा! एक समय में यह चौदह भंग है। आहाहा!

नित्यस्वरूप है, अनित्यस्वरूप है... है? उसी समय में त्रिकाल की अपेक्षा से नित्यस्वरूप है और उसी समय में पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है। यह चौदह बोल एक समय में हैं। आहाहा! ऐसी बात है। पढ़नेवाले पढ़ें परन्तु दृष्टि बिना, समझ बिना क्या पढ़े? अपनी कल्पना से अर्थ करे। यह चीज़....

मुमुक्षु : समझे बिना पकड़ में किस प्रकार आये?

पूज्य गुरुदेवश्री : समझे बिना अपनी कल्पना से वाँचन करे। सत्समागम से लक्ष्य, दृष्टि और ज्ञान का क्या होना चाहिए, यह पहले समझे बिना शास्त्र की समझ नहीं होती।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। यहाँ तो एक समय में अपने से चौदह भंग हैं। पर के चौदह भंग पर में है। पर के चौदह भंग अपने में नहीं। आहाहा! समझ में आया? शरीर के एक-एक रजकण और कर्म या राग का अंश निश्चय से तो वह अपने में है ही नहीं। स्वरूप से है और राग से नहीं। आहाहा! काल में तो रागादि लिये हैं। परन्तु यहाँ तो नित्य-अनित्य में तो राग लिया ही नहीं। अनित्य में निर्मल (पर्याय) ली न? भाई! अज्ञानी **उछलती हुई निर्मल चैतन्यपरिणति से पृथक् कोई (आत्मतत्त्व को) (अज्ञानी) इच्छता है**... पर्याय से भिन्न द्रव्य अज्ञानी चाहता है। निर्मल पर्याय, हों! सम्यग्दर्शन की पर्याय है, उससे भिन्न द्रव्य चाहता है। परन्तु भिन्न है कहाँ? सम्यग्दर्शन की पर्याय वह परिणामी की है। उस द्रव्य की वह पर्याय है। वह पर से उत्पन्न नहीं होती। आहाहा!

अनन्त गुण की एक समय में अनन्त पर्याय स्वयं से उत्पन्न होती है, पर से नहीं। इसमें यह चौदह भंग एक समय में एक साथ अपने में है, पर के कारण से नहीं। पर के

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का अभाव है। परन्तु वह अभाव तो यहाँ है। भाव भी यहाँ है और अभाव भी यहाँ है। ४७ शक्तियाँ ली हैं न? भावशक्ति, अभावशक्ति। पीछे ४७ शक्तियाँ हैं। अपने भाव से है और पर से नहीं, ऐसा अभाव अपना गुण है। पर के कारण से अभाव है, ऐसा नहीं। आहाहा!

अपने भाव से है, परभाव से नहीं। परभाव—भगवान के ज्ञान से ही यह आत्मा नहीं है। आहाहा! परभाव में रंग, रूप, गन्ध, शब्द, स्पर्श और दूसरे जीव के ज्ञान, दर्शन आदि गुण—भाव (आते हैं)। यह ज्ञानादि भाव स्वयं से है, परभाव से नहीं। यह एक समय में हैं। दोनों एक समय में हैं, चौदह एक समय में है। आहाहा! ऐसी बात है।

इत्यादि अनेक धर्मस्वरूप... है? इत्यादि अनेक धर्म अर्थात् स्वभाव। देखो! यहाँ अनित्य को भी धर्म कहा। धर्म अर्थात् स्वभाव। अनित्य को भी धर्म कहा। **इत्यादि अनेक धर्मस्वरूप...** ऐसा कहा न, भाई! अनित्य को भी धर्म (कहा)। धर्म अर्थात् अपना पर्याय का स्वभाव। धर्म अर्थात् मोक्षमार्ग, यह बात यहाँ अभी बात नहीं है। अभी तो यह चौदह धर्म अर्थात् अपने स्वभाव है। अर्थात् आत्मा ने धार रखे हुए भाव हैं, उसका नाम यहाँ धर्म कहने में आता है। आहाहा!

इत्यादि अनेक धर्मस्वरूप... तत्-अतत् दोनों भी धर्म कहे, एक-अनेक भी धर्म कहे, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव अपने ये धर्म; पर के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का अभाव, यह धर्म; नित्य भी धर्म; अनित्य भी धर्म। धर्म अर्थात् स्वभाव। अपना अपने से है। समझ में आया? पुस्तक सामने है न? आहाहा! **अनेक धर्मस्वरूप प्रत्यक्ष अनुभवगोचर करके...** आहाहा! ऐसे-ऐसे चौदह (कहे) परन्तु ऐसे अनन्त धर्म हैं। आत्मा में ऐसे अनन्त गुण हैं। ऐसा **प्रत्यक्ष अनुभवगोचर करके...** आहाहा! विकल्प से भी नहीं। पहले विकल्प से आता है।

बहिन के शब्द में सवेरे आया था। पहले ज्ञायक का ऊपर-ऊपर से निर्णय करे, पश्चात् विकल्प छोड़कर अन्दर में जाये। सवेरे आया था। आहाहा! इसी प्रकार इस चीज़ को पहले विकल्प से, पहले ऊपर-ऊपर से निर्णय करे, पश्चात् उसे छोड़कर अन्दर अनुभव में जाये। आहाहा! परन्तु इस मूल चीज़ में ही भूल हो, वह अन्दर में नहीं जा

सकता। समझ में आया? चौदह भंग में से कोई भी भंग आत्मा में नहीं, ऐसा माननेवाला अन्तर में नहीं जा सकेगा, सम्यग्दर्शन नहीं पा सकेगा। चेतनजी! ऐसे चौदह बोल एक समय में! ऐसे अनन्त धर्म एक समय में हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द, वीर्य... आहाहा!

धीरे से शान्ति से वीतराग क्या कहना चाहते हैं और वस्तु का स्वभाव भगवान कहते हैं, भगवान कहीं अपनी कल्पना से नहीं कहते। भगवान का ज्ञान जानता है परन्तु बोल नहीं सकता। वह तो वाणी कहती है। आहाहा! परन्तु उस वाणी में केवलज्ञान और योग निमित्त है। योग। सिद्ध को तो वाणी नहीं। णमो लोए सव्व सिद्धाणं। चौबीस तीर्थंकर हो गये, वे तो अभी णमो लोए सिद्धाणं में गये। णमो लोए सव्व अरिहंताणं। अरिहन्त विराजते हैं, यह उसमें आते हैं। वाणी तो अरिहन्त को है, सिद्ध को तो वाणी नहीं। आहाहा! परन्तु वह वाणी भी उनकी नहीं। वाणी में ऐसा स्व-पर स्याद्वाद कहने का (सामर्थ्य है)। निमित्तरूप से ज्ञान और योग निमित्त है। उस वाणी में स्व-पर कहने की ताकत है और आत्मा में स्व-पर जानने की ताकत है। दोनों चीज़ एक साथ है। भगवान आत्मा और वाणी। आत्मा में स्व-पर जानने की ताकत है, स्व-पर कहने की ताकत नहीं। वाणी में स्व-पर कहने की ताकत है। वाणी में स्व-पर जानने की ताकत नहीं है। आहाहा!

ऐसी बात वीतराग की वाणी में। कहते हैं कि उस वाणी में परमाणु की पर्याय क्रमसर में वे परमाणु वहाँ आये, पूरी दिव्यध्वनि भाषावर्गणा से उत्पन्न हुई है। आहाहा! आत्मा से नहीं। आत्मा और वाणी तो अत्यन्त भिन्न है। वाणी जड़ है, भगवान चैतन्य है। आहाहा! वाणी में यह आया, उसका नाम शास्त्र। वाणी में यह आया। ज्ञान में यह आया था कि वस्तु का ऐसा स्वभाव है, एक समय में ऐसा है, तो वाणी ने ऐसा कहा। आहाहा! भगवान ने कहा, ऐसा नहीं। भगवान तो ज्ञानस्वरूप है। आहाहा! वाणी जड़ है परन्तु वह भी ऐसी ताकत रखती है... आहाहा! कि सर्वज्ञ को भी कथन से बतलावे और अपने को जाने (कहे)। स्व-पर कथन करने की ताकत है। आत्मा में स्व-पर जानने की ताकत है। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं। **अनेक धर्मस्वरूप प्रत्यक्ष अनुभवगोचर करके प्रतीति में लाओ। यही सम्यग्ज्ञान है। सर्वथा एकान्त मानना...** चौदह बोल में एक बोल भी

अपना नहीं मानना, वह मिथ्यात्व है, **मिथ्याज्ञान है।** है न? आहाहा! **पूर्वोक्त प्रकार से...** पूर्व-उक्त प्रकार से **वस्तु का स्वरूप अनेकान्तमय होने से अनेकान्त...** अनेक धर्म, अनेक अन्त अर्थात् धर्म; धर्म अर्थात् उसके स्वभाव, गुण-पर्याय, दोनों को धर्म कहा जाता है। **अनेकान्तमय होने से अनेकान्त अर्थात् स्याद्वाद सिद्ध हुआ' इस अर्थ का काव्य अब कहा जाता है:-** आहाहा! २६३ है न?

कलश - २६३

'पूर्वोक्त प्रकार से वस्तु का स्वरूप अनेकान्तमय होने से अनेकान्त अर्थात् स्याद्वाद सिद्ध हुआ' इस अर्थ का काव्य अब कहा जाता है:-

(अनुष्टुप्)

एवं तत्त्वव्यवस्थित्या स्वं व्यवस्थापयन् स्वयम्।
अलङ्घ्यं शासनं जैनमनेकान्तो व्यवस्थितः।।२६३।।

श्लोकार्थ : [एवं] इस प्रकार [अनेकान्तः] अनेकान्त-[जैनम् अलंघ्यं शासनम्] कि जो जिनदेव का अलंघ्य (किसी से तोड़ा न जाये ऐसा) शासन है वह- [तत्त्व-व्यवस्थित्या] वस्तु के यथार्थ स्वरूप की व्यवस्थिति (व्यवस्था) द्वारा [स्वयम् स्वं व्यवस्थापयन्] स्वयं अपने आपको स्थापित करता हुआ [व्यवस्थितः] स्थित हुआ-निश्चित हुआ-सिद्ध हुआ।

भावार्थ : अनेकान्त अर्थात् स्याद्वाद, वस्तुस्वरूप को यथावत् स्थापित करता हुआ, स्वतः सिद्ध हो गया। वह अनेकान्त ही निर्बाध जिनमत है और यथार्थ वस्तुस्थिति को कहनेवाला है। कहीं किसी ने असत् कल्पना से वचनमात्र प्रलाप नहीं किया है। इसलिए हे निपुण पुरुषों! भलीभाँति विचार करके प्रत्यक्ष अनुमान-प्रमाण से अनुभव कर देखो।।२६३।।

कलश-२६३ पर प्रवचन

एवं तत्त्वव्यवस्थित्या स्वं व्यवस्थापयन् स्वयम्।
अलङ्घ्यं शासनं जैनमनेकान्तो व्यवस्थितः ।।२६३।।

श्लोकार्थ – इस प्रकार अनेकान्त... अनेकान्त, वे चौदह बोल कहे वे। एक स्वरूप से नहीं परन्तु अनेक स्वरूप से है, वह अनेकान्त। अनेक-अन्त अर्थात् धर्म। जिसमें अनेक योग्यता की शक्ति है, धर्म है, वह अनेकान्त है। आहाहा!

श्रीमद् का एक वाक्य है, उसके ऊपर एक घण्टे व्याख्यान दिया था। ववाणिया। पुस्तक बाहर प्रसिद्ध हो गया है। एक वाक्य। कौन सा वाक्य है ? अनेकान्त भी सम्यक् एकान्त ऐसे निजपद की प्राप्ति के अतिरिक्त अन्य हेतु से उपकारी नहीं है। उसमें कहीं है, इसमें कहीं है अवश्य। किस पृष्ठ पर होगा, क्या खबर पड़े ? ऐसा पाठ अन्दर है। अनेकान्त भी... ऐसी एक पंक्ति है। अनेकान्त अर्थात् अनेक धर्म होने पर भी सम्यक् एकान्त ऐसे आत्मा की अन्तर्दृष्टि किये बिना सम्यग्ज्ञान और धर्म नहीं होता। अनेकान्त होने पर भी सम्यक् एकान्त की ओर दृष्टि किये बिना... यह चौदह धर्म हैं, ऐसे अनन्त धर्म हैं परन्तु अन्दर द्रव्य पर, एकान्त निश्चयनय होकर, परन्तु सम्यक् एकान्त। अनन्त धर्म है, वे जाने, परन्तु उनमें से सम्यक् एकान्त आत्मा की ओर झुके बिना सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान नहीं होता। उसमें है। यहाँ बहुत बार कहा था। ववाणिया उनके गाँव में गये थे, तब इस एक पंक्ति पर एक घण्टे व्याख्यान चला था।

देखो! अनेकान्त भी सम्यक् एकान्त अर्थात् अन्दर में निश्चयनय में ढलना, इसके बिना अनेकान्त भी हित का कारण नहीं है। सम्यक् एकान्त की ओर (झुकना), वह हित का कारण है। आहाहा! अकेला ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... परन्तु वह ज्ञानस्वरूप ही है न, प्रभु! अनुभव भी ज्ञान, द्रव्य भी ज्ञान, ज्ञान भी ज्ञान गुण, अनुभव भी ज्ञान अर्थात् पर्याय। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई!

इस प्रकार अनेकान्त–कि जो जिनदेव का अलंघ्य (किसी से तोड़ा न जाये ऐसा) शासन है... है ? श्लोकार्थ है ? आहाहा! **इस प्रकार अनेकान्त...** अनेक धर्म।

नित्य भी धर्म है, अनित्य भी धर्म है। धर्म अर्थात् ? स्वभाव। एक भी स्वभाव है और अनेक भी स्वभाव है। आहाहा! **इस प्रकार अनेकान्त...** अनेक अन्त अर्थात् धर्म। **'जैनम् अलंघ्यं शासनम्' कि जो जिनदेव का अलंघ्य (किसी से तोड़ा न जाये ऐसा) शासन है...** जैन का शासन यह है। आहाहा! है ? **वह-वस्तु के यथार्थ स्वरूप की व्यवस्थिति (व्यवस्था) द्वारा...** भगवान का शासन तीर्थंकरदेव त्रिलोकनाथ अनन्त तीर्थंकर...

षट्खण्डागम में तो णमोकार में तो ऐसा लिया है, णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती अरिहंताणं। ऐसा पाठ लिया है। णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती अरिहंताणं। णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती सिद्धाणं, णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती आयरियाणं, णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती उव्वज्झायाणं, णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती, भविष्य में भी होनेवाले त्रिकालवर्ती को नमस्कार है। आहाहा! षट्खण्डागम में है। वैसे तो णमो लोए सव्व साहूणं तो है। णमो लोए सव्व साहूणं। यह शब्द पाँचों में लागू पड़ता है। णमो लोए सव्व अरिहंताणं, णमो लोए सव्व सिद्धाणं। तदुपरान्त त्रिकालवर्ती, षट्खण्डागम में डाला है। णमो लोए सव्व साहूणं तो अन्त्य दीपक है। णमो लोए सव्व अरिहंताणं, णमो लोए सव्व सिद्धाणं तो पाँचों में आ गया। परन्तु तदुपरान्त त्रिकालवर्ती, णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती अरिहंताणं। आहाहा! यह जैन का शासन उन्होंने बताया। आहाहा!

अरिहन्त थोड़े होते हैं, सिद्ध तो बहुत होते हैं। अरिहन्त तो मनुष्यरूप से होते हैं न ? तो थोड़े होते हैं। सिद्ध अनन्त होते हैं, तथापि अरिहन्त को नमस्कार (पहले किया जाता है)। रात्रि में कहा था। पहले अरिहन्त क्यों लिये ? सिद्ध तो अनन्त हैं और अरिहन्त को तो अभी चार कर्म बाकी है। सिद्ध को एक भी कर्म बाकी नहीं तो इनको क्यों (पहले) लिया ? कि इनको पहले लेने का कारण यह है कि इनके शरीर है और वाणी है। वाणी में तत्त्व आता है तो पहला उपकार इनका है। सिद्ध को तो वाणी है नहीं, इसलिए सिद्ध बाद में लिये हैं। आहाहा! जिनकी वाणी सुनकर उपकार हुआ है, उपकार होता है, निमित्त से...

मुमुक्षु : आप तो उपकार की ना करते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह निमित्त से बात है। यह समझने में निमित्त है, इस अपेक्षा से

कहा गया है। परन्तु उस समय समझे तो अपनी पर्याय से समझता है, निमित्त से नहीं। परन्तु बाहर में निमित्त वाणी है, ऐसा ज्ञान कराने के लिये यह कहा गया है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, यह जैनशासन अलंघ्य है। किसी से लाँघा नहीं जा सकता, तोड़ा नहीं जा सकता। **वह—वस्तु के यथार्थ स्वरूप की व्यवस्थिति (व्यवस्था) द्वारा स्वयं अपने आपको...** **'स्वयम् स्वं'** ऐसे दो शब्द हैं। **'स्वयम् स्वं'** यह वस्तु ही स्वयं अपने आपको **स्थापित करता हुआ...** आहाहा! **स्थित हुआ—निश्चित हुआ—सिद्ध हुआ।** यह वस्तु ही स्वयं ऐसा कहती है। भगवान ने कहा, इसलिए नहीं; वस्तु ही ऐसी है। आहाहा! है? **वस्तु के यथार्थ स्वरूप की व्यवस्थिति (व्यवस्था) द्वारा स्वयं अपने आपको स्थापित करता हुआ...** जैनशासन। इस प्रकार अनेकान्त निश्चित सिद्ध हुआ। ऐसा जानने के पश्चात् त्रिकाली द्रव्य पर दृष्टि देना, तब सम्यग्दर्शन होता है, पश्चात् स्थिरता होती है, तब चारित्र होता है, तब मुक्ति होती है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४७९, श्लोक-२६३ शनिवार, भाद्र कृष्ण ११
दिनांक - ०४-१०-१९८०

२६३ कलश, इसका भावार्थ। कलश का अर्थ आ गया है। सूक्ष्म बात है। **अनेकान्त अर्थात् स्याद्वाद,...** २६३ (कलश का) भावार्थ। **वस्तुस्वरूप को यथावत् स्थापित करता हुआ,...** अब अनेकान्त की व्याख्या क्या? यह इसमें अपने पहले आ गयी है। भाई! यह मुद्दे की रकम है। अनेकान्त जैनदर्शन वह क्या है? (हिन्दी समयसार) पृष्ठ ५७१, गुजराती में समयसार के ६०९ पृष्ठ पर है। यह अमृतचन्द्राचार्य के शब्द हैं, महासिद्धान्त। **एक वस्तु में वस्तुत्व को निपजानेवाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकान्त है।** आहाहा! इस अनेकान्त में पूरा विवाद उठा है न! परिशिष्ट में शुरुआत में है। है? क्या है? अनेकान्त किसे कहते हैं? जैनदर्शन का रहस्य। पहली लाईन। **ऐसे एक वस्तु में...** है? मनसुखभाई! आ गया?

अमृतचन्द्राचार्य का यह सिद्धान्त। सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ परमात्मा अरिहन्त का जैनशासन कैसा है? कि वह अनेकान्त है। वह अनेकान्त किसे कहते हैं? **एक वस्तु में वस्तुत्व को निपजानेवाली...** एक वस्तु में वस्तु को निपजानेवाली **परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों...** यह सिद्धान्त। नित्य है, वह अनित्य है; एक है, वह अनेक है; अभेद है, वह भेद है। एक वस्तु में वस्तुत्व को निपजानेवाली—उपजानेवाली परस्पर—परस्पर दो शक्तियाँ... यह महासिद्धान्त। **प्रकाशित होना, वह अनेकान्त है।** यह अपने यहाँ चलता है। भावार्थ आया? २६३ का भावार्थ।

अनेकान्त अर्थात् स्याद्वाद,... है? **वस्तुस्वरूप को यथावत् स्थापित करता हुआ,...** अब यह कभी सुना न हो। अनेकान्त शब्द अमृतचन्द्राचार्य का है और कलश में एक अनेकान्त की व्याख्या है। अनेकान्त किसे कहना? आहाहा! यहाँ कहा है कि अनेकान्त, स्याद्वाद। देखो! अपने आया न? स्याद्वाद, यह शब्द है। उसमय वही स्वरूप है जिसका ऐसी है। सर्वज्ञ की वाणी—दिव्यध्वनि। इस अवसर पर आशंका उपजती है कि कोई जानेगा कि अनेकान्त तो संशय है। एक भी है, अनेक भी है। नित्य भी है, अनित्य भी है। इसमें कहीं निर्धार कहाँ रहा? ऐसी शिष्य की शंका है। अनेकान्त संशय है। संशय मिथ्यात्व है।

उसका ऐसे समाधान करना कि अनेकान्त तो संशय का दूरीकरणशील है। आहाहा! अब इसकी व्याख्या करेंगे। वस्तु का स्वरूप का साधनशील है। यह अनेकान्त वस्तु के स्वरूप को साधन—सिद्ध स्वभाव है। वस्तु को सिद्ध करता है। सर्वज्ञ के अतिरिक्त यह बात कहीं नहीं है। उसका विवरण। जो कोई सत्तास्वरूप वस्तु है, वह द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक है। जो कोई सत्तास्वरूप वस्तु है, वह द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक है। उसमें जो सत्ता है, अभेदरूप से द्रव्यरूप कही जाती है। इसमें नहीं है, इसमें यह शब्द नहीं है। यह तो दूसरे का (कलश टीका का) आधार दिया जाता है।

एक आधार तो पहला यह अमृतचन्द्राचार्य का दिया। परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना, वह अनेकान्त है। अब यहाँ यह कहते हैं, जो सत्ता अभेदरूप से द्रव्यरूप कही जाती है, वही सत्ता भेदरूप से गुणरूप कही जाती है। इसका नाम अनेकान्त है। आहाहा! ऐसा है। जो सत्ता, आत्मा और आत्मा की सत्ता, वह सत्ता है, इसे अभेदरूप से कहें तो वह निश्चय और भेदरूप से कहें तो वह व्यवहार। यह अनेकान्त है। उस सत्ता को अभेद और भेदरूप कहना, इसका नाम अनेकान्त है। अरे रे! अब ऐसी बातें। कभी सुना नहीं। वस्तु में यह घोटाला उठा है न अभी? इससे होता है, इससे होता है, इससे होता है। परन्तु यहाँ तो कहते हैं, एक ही वस्तु में सत्ता है, उसे अभेदरूप से कहें तो निश्चय है, भेदरूप से कहें तो व्यवहार है। परन्तु उसी और उसी में। पर के कारण कुछ सम्बन्ध नहीं है। बात समझ में आती है? आहाहा!

अमृतचन्द्राचार्य ने यह कहा, एक वस्तु में वस्तुत्व को निपजानेवाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना, वह अनेकान्त है। परस्पर विरुद्ध दो शक्तियाँ। जो नित्य हैं, वह अनित्य है। आहाहा! कायम का त्रिकाली नित्य है, वही अनित्य है। अनित्य है, वही नित्य है। आहाहा! एक है, वही अनेक है। यह अनेक है, वही एक है। आहाहा! ऐसा जो वस्तु को प्रकाशित करता है, वह जैनशासन का मूल रहस्य है। यह समझे बिना शास्त्र के अर्थ करे तो गड़बड़ किये बिना नहीं रहेगा। विपरीत (अर्थ) करे। यह सिद्धान्त है। यह कलश टीका है। कलश टीका है।

सत्ता अभेदरूप से द्रव्यरूप कही जाती है, वही सत्ता भेदरूप से गुणरूप कही जाती है, इसका नाम अनेकान्त है। यहाँ अमृतचन्द्राचार्य ने अनेकान्त की व्याख्या यह की

है कि एक-एक तत्त्व में, उसी और उसी में विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना, वह अनेकान्त है। अब ऐसी बात! एक-एक तत्त्व को दूसरे तत्त्व के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। एक ही तत्त्व में विरुद्ध दो शक्तियाँ, जैसे कि नित्य और अनित्य, अभेद और भेद, एक और अनेक। आहाहा! स्व-रूप से है और पररूप से नहीं। आहाहा! ऐसी विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना, वह जैनदर्शन का रहस्य है। आहाहा! किसे पड़ी है? आहाहा!

कल कहा नहीं? पारसी... सेठ! कल एक पारसी देखने आया। वृद्ध था, ८५ होगा या ९० का होगा। नरम व्यक्ति था। गत वर्ष भी आया था। एक पाई भी नहीं लेता। नरम बहुत। बहुत देखा। देखकर फिर स्वयं कहता है कि कुछ है नहीं, दूसरा कुछ है नहीं उसमें कहे, बाहर निकलकर जरा लोगों के साथ बात की। वृद्ध है। भाई! हमारे गुरुदेव की पाई नहीं ली जाती। हमें तो देखना था। परन्तु गुरुदेव के निकट ऐसी याचना करो कि हम तड़प-तड़पकर न मरें। ऐई! सेठ! वह पारसी। ८५ या ९० वर्ष होगा। तड़प-तड़पकर। रिबाई समझे? बहुत दुःख में। पैर टूटे, टुकड़े हो, गला पकड़ जाये, दुःख में पीड़ा में मर जाये।

यह नानचन्दभाई खारा के यहाँ गये थे। उन्हें उसमें केंसर है। वह केंसर अब सर्वत्र व्याप्त हो गया है। कल गये थे। कहा, यहाँ आये हैं और माँग की थी। लड़के लगन बिना के, बिल्कुल धर्म कुछ नहीं। गये तो बेचारे रोने लगे। फिर तो... आहाहा! अरे रे! यह स्थिति है। 'खारा' है न? बहिन—शान्ताबहिन है न? उनके काका होते हैं। शान्ताबेन के भाई मुकुन्दभाई ने नया मकान लिया। चौदह लाख का। नया मकान चौदह लाख का लिया। उसमें चरण करने का कहते थे तो गये थे। परन्तु शरीर का अब बहुत... परन्तु लोगों की खींच... तीन जगह गये थे। परन्तु वह पारसी ऐसा बोला। आहाहा! हम दुःख में दुःखी होकर—दुःखी होकर न मरें। यह लोग दुःखी होकर तड़पकर मरते हैं। ऐसा महाराज से आशीर्वाद दो।

मुमुक्षु : गुरुदेव से पैसा नहीं चाहिए परन्तु गुरुदेव से आशीष चाहिए है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह चाहिए है। पैसा नहीं। पहले एक पारसी आया था। डेढ़ सौ रुपये... एक घण्टे का डेढ़ सौ आया, इसके बिना आवे नहीं। कल पारेख के यहाँ पाँच सौ रुपये का फोटो लिया। एक घण्टे का पाँच सौ। आहाहा! इसने पाई नहीं ली। मैं कुछ लूँगा नहीं परन्तु मुझे एक यह... दुःखी हो-होकर लोग मरते हैं। शरीर सड़ जाये, गला सड़ जाये, पेट सड़ जाये, पूरे शरीर में केंसर व्यापे और दुःखी हो-होकर (मरे)। रिबाई की हिन्दी

भाषा क्या होगी? रिबाई अर्थात् दु:खी होकर, बहुत दु:खी होकर। आक्रन्द करते हुए। इस प्रकार न मरें, ऐसा आशीर्वाद दो। उस व्यक्ति को कहा, हमारे पास नहीं कहा। आहाहा! डर लगता है। क्योंकि वृद्धावस्था हो गयी है। देह छूटना है और उसमें यदि कुछ दु:खी और आक्रन्द और ऐसा होगा तो... हाय... हाय...! महाराज से यह आशीर्वाद लो। आहाहा! इतना भी पारसी मछली खाय, माँस खाये, उसे भव का-मरने का डर लगा। आहाहा! अरे रे! दु:खी होकर मरने का।

यहाँ कहते हैं, **अनेकान्त...** भावार्थ है न? **अर्थात् स्याद्वाद,...** यह चलता अधिकार। इस अनेकान्त के दो अर्थ किये। परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना—यह अमृतचन्द्राचार्य का कथन और यह राजमल कलशटीका का कथन—आत्मा और गुण—सत्ता। यह सत्ता इस आत्मा की है, यह अभेद और यह सत्ता वह गुणभेद, इसका नाम अनेकान्त। आहाहा! कहना क्या है? यहाँ एक ही चीज़ की अन्दर की बात है। दूसरी चीज़ का कुछ नहीं। अनेकान्त ऐसा नहीं कि नित्य अपने से हो, अनित्य पर से हो, ऐसा नहीं है। द्रव्य अपने से होता है, पर्याय पर से होती है, ऐसा नहीं है। यह महासिद्धान्त है। अमृतचन्द्राचार्य।

अनेकान्त शक्ति एक वस्तु में विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना, वह अनेकान्त। आहाहा! जो यह आत्मा त्रिकाल नित्य है, वही पर्याय से अनित्य है। द्रव्य से नित्य है, पर्याय से अनित्य है। आहाहा! द्रव्य से एकरूप है, गुण से अनेकरूप है। आहाहा! समझ में आया? इसका नाम अनेकान्त कहा जाता है। जरा सूक्ष्म बात है, बापू! यह ऊपर आ गया है। आहाहा! यह जैनशासन का रहस्य है। यह ऊपर आ गया न? देखो न! **इस प्रकार अनेकान्त-कि जो जिनदेव का अलंघ्य (किसी से तोड़ा न जाये ऐसा) शासन है...** यह भावार्थ के ऊपर। आहाहा! क्या कहना है इसमें? चन्दुभाई!

एक ही चीज़ के अन्दर में अनेकान्त है। अनेकान्त (अर्थात्) इससे भी होता है और दूसरे से भी होता है, उसे वीतराग की वाणी, वीतराग और वीतराग के सन्त उसे अज्ञानी सिद्ध करते हैं। एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य से कुछ होता है और नहीं भी होता, इसका नाम अनेकान्त—ऐसा नहीं है। आहाहा!

यह **अनेकान्त अर्थात् स्याद्वाद,...** चलता विषय। **वस्तुस्वरूप को यथावत्**

स्थापित करता हुआ,... वस्तुस्वरूप को भलीभाँति स्थापित करता हुआ। आहाहा! यह कथा, वार्ता नहीं है। यह तो जैनदर्शन का मक्खन है, जैनदर्शन का रहस्य है। आहाहा! ओहोहो! जो सत्ता—चैतन्य की सत्ता अभेदरूप से कहना, एक गुण—एक शक्ति, और उसे भेदरूप से कहना, दूसरी शक्ति। ऐसी दो विरुद्ध शक्तियों का प्रकाशित होना, वह अनेकान्त है। आहाहा! ऐसा लगे, भाषा सादी परन्तु बहुत रहस्य है। दूसरे सभी पदार्थों को उड़ा दिया। देव-गुरु-शास्त्र से भी आत्मा में कुछ होता है, यह बात नहीं है। जैनशासन में यह नहीं है। आहाहा!

यह **अनेकान्त अर्थात् स्याद्वाद,...** अर्थात् अपेक्षा से कथन। **वस्तुस्वरूप को यथावत् स्थापित करता हुआ,...** वस्तु का स्वरूप जैसा है, वैसा कहता हुआ स्थापित करता हुआ। **स्वतः सिद्ध हो गया।** यह अनेकान्त ही स्वत:सिद्ध हो गया। अपने से है और पर से नहीं। इसमें आ गया न? भाई! द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से है, अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से है, पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नहीं। ऐसा आ गया।

सैंतालीस शक्तियों में यह है कि अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से है, पर की पर्याय से भी यहाँ कुछ नहीं। आहाहा! वस्तु स्वतन्त्र है। उसी और उसी में अमृतचन्द्राचार्य का महासिद्धान्त लेख। आहाहा! अनेकान्त—अनेक—अन्त अर्थात् धर्म अर्थात् स्वभाव। अर्थात्? कि एक ही तत्त्व में स्वरूप से है, पररूप से नहीं। वह तत्‌रूप से है और ज्ञेयरूप से नहीं। वह द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप से है, परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप से नहीं। आहाहा! अपनेरूप से भी है और पर के किसी भी अंशरूप भी है, यह अनेकान्त नहीं; एकान्त मिथ्यात्व है। आहाहा! कहो, प्राणभाई! ऐसी सूक्ष्म बात है। यह तो एक अनेकान्त का इतना अर्थ है। यह पूरा जैनदर्शन है। ऊपर आया न? ऊपर। भावार्थ के ऊपर, नहीं? अनेकान्त कि जो **जो जिनदेव का अलंघ्य (किसी से तोड़ा न जाये ऐसा) शासन है..** यह भावार्थ के ऊपर है। आहाहा!

अनेकान्त, यह जिनदेव का अलंघ्य—तोड़ा न जा सके ऐसा शासन है। **वस्तु के यथार्थ स्वरूप की व्यवस्थिति (व्यवस्था) द्वारा...** क्या कहते हैं? वस्तु की व्यवस्था वस्तु करती है। वस्तु की व्यवस्था दूसरा कहे कि मैं करता हूँ, यह मिथ्याभ्रान्ति अज्ञानी मूढ़ है। आहाहा! दुकान का धन्धा, माल आदि पैसा उगाहना, लेना-देना आदि, व्यवस्थापक...

यहाँ यह कहते हैं, **वस्तु के यथार्थ स्वरूप की व्यवस्थिति (व्यवस्था) द्वारा स्वयं अपने आपको स्थापित करता हुआ स्थित हुआ–निश्चित हुआ–सिद्ध हुआ।** आहाहा! गजब बात है। एक आत्मा अपने में ही द्रव्य से एकपना और गुण–पर्याय से अनेकपना है। यह अपने आ गया है। उछलती, नहीं? अनित्य में। उछलती हुई अनेक पर्याय क्रमवर्ती। क्रम से... क्रम से। यह अपने इसमें आ गया है। **उछलती निर्मल चैतन्यपरिणति से पृथक् कुछ चाहता है...** अज्ञानी परिणति—पर्याय से कुछ भिन्न द्रव्य चाहता है कि अकेला द्रव्य है। आहाहा! यह बात आ गयी है। **(परन्तु ऐसा कोई आत्मतत्त्व नहीं है)...** आहाहा! **चैतन्यवस्तु की वृत्ति के (–परिणति के, पर्याय के) क्रम द्वारा उसकी अनित्यता को अनुभवता हुआ, नित्य ऐसे ज्ञान को अनित्यता से व्याप्त...** नित्य वस्तु होने पर भी अनित्यता से व्याप्त है। यह उस ओर है। २६१ (कलश है)। यह तो खोजने में देरी लगती है। आहाहा!

यहाँ वजन क्या देना है? कि प्रत्येक अनन्त वस्तु है... मनसुखभाई को बराबर नहीं आता। यह कुछ का कुछ... आया? बहु भी बहुत समय से आया। पहले नहीं आया। यहाँ से कहा, ऐसे तुरन्त ध्यान रखना चाहिए। समझ में आया? आहाहा!

अब अपने यहाँ भावार्थ है, **अनेकान्त अर्थात् स्याद्वाद, वस्तुस्वरूप को यथावत् स्थापित करता हुआ, स्वतः सिद्ध हो गया। वह अनेकान्त ही निर्बाध जिनमत है और यथार्थ वस्तुस्थिति को कहनेवाला है। कहीं किसी ने असत् कल्पना से वचनमात्र प्रलाप नहीं किया है। इसलिए हे निपुण पुरुषों!** आहाहा! है? हे चतुर पुरुषों! ऐसा तो अमृतचन्द्राचार्य बोलते हैं, यह तो अर्थ करनेवाले हैं। परन्तु पाठ में आया है न? स्वयं अपने आप को स्थापित करता हुआ। आहाहा! **हे निपुण पुरुषों! भलीभाँति विचार करके...** आहाहा! भलीभाँति विचार करके **प्रत्यक्ष अनुमान...** दो। प्रत्यक्ष— सीधा जो आत्मा नित्य है, वह पर्याय में अनित्य है, ऐसा सीधा प्रत्यक्ष कर और या अनुमान से करे कि यह पर्याय बदलती है, वह द्रव्य नहीं और जो द्रव्य है, वह बदलता है, वह नहीं। आहाहा! अब ऐसी बातें। इसमें क्या करना?

एक वस्तु में... गजब बात की है। वस्तुत्व को निपजानेवाली व्यवस्थित विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना, वह अनेकान्त है। यह जैनशासन का मूल है। आहाहा! कठिन

पड़ता है। अनजाने व्यक्ति को बाहर का कुछ करना है। इसमें कुछ करना नहीं। यहाँ तो एक तत्त्व है, वह स्वरूप से है, पररूप से नहीं। पश्चात् पररूप से नहीं तो पर का करना, यह प्रश्न रहा ही कहाँ ? और पररूप से नहीं तो पर तुझमें कुछ करे, यह रहा ही कहाँ ? और वह तुझरूप नहीं तो तू उसका कर सके, यह रहा कहाँ ? तू पर का कुछ कर सकता है तो तू पररूप है, ऐसा हो गया। आहाहा ! पर का कुछ कर सकता है, इस शरीर को ऐसे हिला सके तो आत्मा पररूप हो गया। आहाहा !

मुमुक्षु : सब व्यापारी तो पर का करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी (करता नहीं), अभिमान मिथ्यात्व करता है। पूरे दिन मिथ्यात्व का सेवन करता है। मैंने इसे यह दिया और मैंने यह व्यापार किया और इसमें यह लाभ मिला। दुकान में बैठा हो और उसमें निकले हों तो कहे, माँ ! आओ... आओ... क्या लेना है ? ऐसा करता है न ? माल बेचने के लिये (ऐसा करता है)। हमारी दुकान में थे, तब वे लोग करते थे। मैं नहीं करता था। मैं तो भगत। अपने दुकान में माल लेने आवे, उसे देता था। वहाँ तो हमारे बड़ी दुकान थी न ? माँ ! क्या लेना है ? आओ... आओ... आहाहा ! यह क्रिया आत्मा नहीं कर सकता। क्यों ? कि एक चीज़ में उस चीज़ में विरुद्ध शक्ति का प्रकाशित होना, वह अनेकान्त है। उसी शक्ति को पर से कुछ हो और स्व से भी हो, ऐसा अनेकान्त नहीं है है, परन्तु वह एकान्त है। आहाहा ! गजब बात है। हिम्मत ! वह लिख लेना। बोल है न ? यह माल का बोल है।

मुमुक्षु : सब सिद्धान्त लिखे हैं, उसमें एक और सिद्धान्त।

पूज्य गुरुदेवश्री : सिद्धान्त लिखे हैं। आहाहा !

जिनदेव का अलंघ्य शासन—तीन काल में कोई तोड़ नहीं सके, ऐसा शासन। क्या ? एक तत्त्व है, वह अपनी व्यवस्था करने में वही तत्त्व व्यवस्थित है। उसकी पर्याय की व्यवस्था करनेवाला वही तत्त्व है। दूसरा तत्त्व पर्याय की व्यवस्था करता है, यह जैनशासन नहीं है। आहाहा ! ऐसी बात अब सुनी न हो और बाहर में रुका (रहे)। आहाहा ! वह पारसी जैसा डर गया। वृद्धावस्था हो गयी, यह देह कब छूटेगी ? किस प्रकार छूटेगी ? आहाहा ! दु:खी होकर न मरूँ, ऐसे महाराज के आशीर्वाद मिले। आहाहा ! ऐसा कहा।

अभी नानचन्दभाई को पूरे (शरीर में) यहाँ और पीछे सर्वत्र व्याप्त हो गया है। है पैसा, एक हजार रखे। सोनगढ़ खाते एक हजार। शान्ताबेन के भाई के यहाँ गये थे। उसने चौदह लाख का नया मकान लिया है।

मुमुक्षु : अभी तो अठारह बोला जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अठारह बोला जाता है। चौदह लाख के मकान के अभी अठारह लाख मिलते हैं। वहाँ चरण करने गये थे। महाराज! नया मकान है। उसने एक हजार रुपये रखे। यहाँ ज्ञान खाते। शास्त्र की (कीमत) घटाने के लिये... मैंने जहाँ निवास किया था...

मुमुक्षु : वहाँ अच्छी शान्ति मिलती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में शान्ति नहीं। पैसा में शान्ति है? मकान में शान्ति है? दोपहर में लोग वे लोग... कहीं समाते नहीं, कहीं समाते नहीं इतने लोग। अन्त में आगे खड़े-खड़े सुनते हैं। परन्तु क्या करे? व्याख्यान नहीं, चर्चा... चर्चा... डॉक्टर प्रश्न करे।

यहाँ तो अभी अनेकान्त में पूरा जैनशासन भर जाए ऐसा है। आहाहा! और उस अनेकान्त की व्याख्या दूसरे ऐसा करते हैं कि, निश्चय से भी होता है, व्यवहार से भी होता है। उपादान से भी होता है, निमित्त से भी होता है। स्व से भी होता है, पर से भी होता है, इसका नाम अनेकान्त। यहाँ अनेकान्त की व्याख्या—आहाहा! तीन लोक के नाथ के श्रीमुख से निकली हुई वाणी। एक तत्त्व के अन्दर भेदरूप से कहें तो सत्ता को व्यवहार कहते हैं, और उस सत्ता से अभेद है, ऐसा कहें तो निश्चय है। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई अनेकान्त नहीं है। वह की वह चीज़ में भेद और अभेद, एक और अनेक, नित्य और अनित्य। उसी और उसी के स्वभाव में है, यही जैनशासन की व्यवस्था की व्यवस्था है। आहाहा! अभी तो गड़बड़ चलती है और इन सेठियों को कुछ खबर नहीं होती, जय नारायण करके... सेठ! उलहाना दिया... तुम एक क्या सब ऐसे हैं।

वहाँ कहा था, बेचारा स्थानकवासी आता था। नरेश। ग्यारह हजार की उसके पिता ने पच्चीस वर्ष पहले जमीन ली थी, उसके डेढ़ करोड़ पैदा हुए। डेढ़ करोड़! और अभी उसके पास आठ-दस करोड़ है। स्थानकवासी, परन्तु हमारे प्रति उसका प्रेम है। बुलाये आया था। महाराज! दशमी को हमारा मुहूर्त है। कितने ही लोग यहाँ तक कहते थे, ऐसा

दिगम्बर मन्दिर बनाना है, ऐसा मन्दिर बनाना है कि कहीं न हो, ऐसा बनाना है। नन्दीश्वर द्वीप बनाना है, बावन जिनालय।

मुमुक्षु : करोड़ का खर्च भले हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, ऐसा कहते थे, लो! परन्तु यह मैं नहीं बोला। क्योंकि मेरे ख्याल में है। एक करोड़ खर्च हो तो भी दिगम्बर मन्दिर बराबर कान्दीवली में बनाना है। ऐसा स्थानकवासी जैन (बोले)। भगवान! यहाँ तो प्रभु का मार्ग है, बापू! तुम्हें जँचे, न जँचे परन्तु वस्तुस्थिति यही है।

यहाँ ऊपर कहा न? आहाहा! **वस्तु के यथार्थ स्वरूप की व्यवस्थिति...** व्यवस्था द्वारा। आहाहा! एक-एक शब्द में... जितने अनन्त द्रव्य हैं, अनन्त आत्मायें, अनन्त परमाणु, असंख्य कालाणु, एक धर्मास्ति, एक अधर्मास्ति, एक आकाश। भगवान ने-परमात्मा ने जिनदेव त्रिलोकनाथ तीर्थंकर ने छह द्रव्य जाति से देखे हैं। संख्या से अनन्त हैं। वे अनन्त-अनन्तरूप से कब रहे? कि स्वरूप से हो और पररूप से न हो, तब अनन्तरूप से रहे। आहाहा! जिसे पर से भी होता है और स्व से होता है, उसे अनन्तपना नहीं रहता। व्यवहार से भी होता है और निश्चय से भी होता है तो व्यवहार, वह वास्तव में जड़ है। आहाहा! दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि... दूसरी चीज़ में है नहीं और दूसरी चीज़ से कुछ हो, ऐसा नहीं है। देव-गुरु और शास्त्र की पुस्तकें—पृष्ठ से आत्मा में धर्म का लाभ किंचित् हो, ऐसा नहीं है। ऐसा एक बार अनुमान से कर और फिर प्रत्यक्ष कर। दोनों प्रमाण लिये हैं न? आहाहा!

प्रत्यक्ष अर्थात? यह चैतन्य चैतन्यरूप है; यह रागरूप-पररूप नहीं, ऐसा अनुभव (होना), उसका नाम प्रत्यक्ष। अनेकान्त को प्रत्यक्षरूप से अथवा अनुमानरूप से निर्णय कर। आहाहा! अरे रे! वहाँ भी मुम्बई में भी इतने लोग, बात तो आयी थी। अधिक तो इसमें अनेकान्त में मजा क्या है? कि वह की वह चीज़ में और चीज़ में भेद और अभेद विरुद्ध दो शक्तियाँ। एक चीज़ में विरुद्ध दो शक्तियाँ। नित्य और अनित्य दो विरुद्ध शक्तियाँ, उनका प्रकाशित होना, वह अनेकान्त है। वह एक चीज़ स्वयं नित्य रहती है और उसकी पर्याय—अवस्था दूसरी चीज़ बदलावे, यह अनेकान्त नहीं है, एकान्त है। मिथ्यादृष्टि एकान्त जैनदर्शन से विरुद्ध है। आहाहा! ऐसा मार्ग? मार्ग तो ऐसा है, बापू!

अपने यह पहले आ गया है। अनित्य में आ गया था। २६१ में आ गया था। **उछलती निर्मल चैतन्यपरिणति से पृथक् कुछ (आत्मतत्त्व को) चाहता है...** अकेले सामान्य को चाहता है। **(परन्तु ऐसा आत्मतत्त्व है नहीं)...** अज्ञानी ऐसी इच्छा करता है कि पर्याय-फर्याय आत्मा में है नहीं। आहाहा! पर्यायें अनित्य है, पर्याय तो बदलती है, नाशवान है। आहाहा! उस अविनाशी चीज़ में नाशवान पदार्थ? अविनाशी में नहीं, प्रभु! अविनाशी तो नित्य है परन्तु विनाशीक है, नाशवान तो पर्याय है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बात है। कितने ही कहते हैं, नया निकाला है? नया कहाँ? यह शास्त्र में पड़ा है। यह क्या है? सेठ! इस शास्त्र में क्या पड़ा है?

एक सिद्धान्त। एक वस्तु दूसरी वस्तु को स्पर्श नहीं करती। क्रमबद्ध होता है। उत्पाद को उपजाने में दूसरे की या अपने ध्रुव की अपेक्षा नहीं है। आहाहा! यह यहाँ सिद्ध हुआ कि उत्पाद और व्यय जो पर्याय है और ध्रुव है, वे दोनों परस्पर विरुद्ध शक्तियाँ हैं। परस्पर विरुद्ध शक्ति का प्रकाशित होना, वही वसतु है। यह कैसे बदलती है? कि यह वाणी कान में पड़ी, इसलिए वहाँ पर्याय बदलती है, ऐसा नहीं है। गजब बात है। आहाहा!

यह कथन वाँचते हैं, इसलिए यहाँ ज्ञान की पर्याय होती है, ऐसा नहीं है। क्योंकि स्वयं नित्य और अनित्य है। नित्य अर्थात् कायम रहनेवाला, अनित्य अर्थात् बदलती दशा। बाहर दूसरी ज्ञान की पर्याय थी और यहाँ ज्ञान की पर्याय सुनने में दूसरी आयी, इसलिए सुनने से यहाँ आयी है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

परस्पर विरुद्ध शक्ति का प्रकाशित होना। परस्पर। एक तत्त्व को दूसरे तत्त्व के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! स्त्री का, परिवार का, व्यापारी की जीव कोई व्यवस्था कर सके... शिवलालभाई! वहाँ कपास की गाड़ियाँ तो बहुत लेते थे। आहाहा! यदि वीतराग का एक भी सिद्धान्त भलीभाँति जँचे तो इसे सब न्याय जँच जाये। ऐसा यह अनेकान्त है। आहाहा! यह पहले आ गया न?

वस्तु में वस्तुपने को निपजानेवाली। वस्तु है, उसे वस्तुपने को निपजानेवाली विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना, वह अनेकान्त है। यह गजब बात है। अमृतचन्द्राचार्य कोई परमेश्वर में से बोलते हैं कि क्या यह! आहाहा! वे यहाँ कहते हैं, आहाहा! एकान्तवादी... आहाहा! आ गया? हाँ, आ गया। **भलीभाँति विचार करके प्रत्यक्ष अनुमान-प्रमाण से अनुभव कर देखो।**

नन्वनेकान्तमयस्यापि किमर्थमत्रात्मनो ज्ञानमात्रतया व्यपदेशः ? लक्षणप्रसिद्ध्या लक्ष्यप्रसिद्ध-र्थ्यर्थम्। आत्मनो हि ज्ञानं लक्षणं, तदसाधारणगुणत्वात्। तेन ज्ञानप्रसिद्ध्या तल्लक्ष्यस्यात्मनः प्रसिद्धिः।

ननु किमनया लक्षणप्रसिद्ध्या, लक्ष्यमेव प्रसाधनीयम्। नाप्रसिद्धलक्षणस्य लक्ष्यप्रसिद्धिः, प्रसिद्धलक्षणस्यैव तत्प्रसिद्धेः।

ननु किं तल्लक्ष्यं यज्ज्ञानप्रसिद्ध्या ततो भिन्नं प्रसिध्यति ?

न ज्ञानाद्भिन्नं लक्ष्यं, ज्ञानात्मनोर्द्रव्यत्वेनाभेदात्।

तर्हि किं कृतो लक्ष्यलक्षणविभागः ?

प्रसिद्धप्रसाध्यमानत्वात् कृतः। प्रसिद्धं हि ज्ञानं, ज्ञानमात्रस्य स्वसम्वेदनसिद्धत्वात्; तेन प्रसिद्धेन प्रसाध्यमानस्तदविनाभूतानन्तधर्मसमुदयमूर्तिरात्मा। ततो ज्ञानमात्राचलितनिखातया दृष्ट्या क्रमाक्रमप्रवृत्तं तदविनाभूतं अनन्तधर्मजातं यद्यावल्लक्ष्यते तत्तावत्समस्तमेवैकः खल्वात्मा। एतदर्थमेवात्रास्यज्ञानमात्रतया व्यपदेशः।

ननु क्रमाक्रमप्रवृत्तानन्तधर्ममयस्यात्मनः कथं ज्ञानमात्रत्वं ?

परस्परव्यतिरिक्तानन्तधर्मसमुदायपरिणतैकज्ञप्तिमात्रभावरूपेण स्वयमेव भवनात्। अत एवास्य ज्ञानमात्रैकभावान्तःपातिन्योऽनन्ताः शक्तयः उत्प्लवन्ते।

(यहाँ आचार्यदेव अनेकान्त के सम्बन्ध में विशेष चर्चा करते हैं-)

(प्रश्न-) आत्मा अनेकान्तमय है फिर भी यहाँ उसका ज्ञानमात्रता से क्यों व्यपदेश (कथन, नाम) किया जाता है? (यद्यपि आत्मा अनन्त धर्मयुक्त है तथापि उसे ज्ञानमात्ररूप से क्यों कहा जाता है? ज्ञानमात्र कहने से तो अन्यधर्मों का निषेध समझा जाता है।)

(उत्तर-) लक्षण की प्रसिद्धि के द्वारा लक्ष्य की प्रसिद्धि करने के लिए आत्मा का ज्ञानमात्ररूप से व्यपदेश किया जाता है। आत्मा का ज्ञान लक्षण है, क्योंकि ज्ञान आत्मा का असाधारण गुण है (-अन्य द्रव्यों में ज्ञानगुण नहीं है)। इसलिए ज्ञान की प्रसिद्धि के द्वारा उसके लक्ष्य की-आत्मा की-प्रसिद्धि होती है।

प्रश्न - इस लक्षण की प्रसिद्धि से क्या प्रयोजन है? मात्र लक्ष्य ही प्रसाध्य अर्थात् प्रसिद्धि करनेयोग्य है। (इसलिए लक्षण को प्रसिद्ध किये बिना मात्र लक्ष्य को ही-आत्मा को ही-प्रसिद्ध क्यों नहीं करते?)

(उत्तर –) जिसे लक्षण अप्रसिद्ध हो उसे (अर्थात् जो लक्षण को नहीं जानता, ऐसे अज्ञानी जन को) लक्ष्य की प्रसिद्धि नहीं होती। जिसे लक्षण प्रसिद्ध होता है, उसी को लक्ष्य की प्रसिद्धि होती है। (इसलिए आनी को पहले लक्षण बतलाते हैं, उसके बाद वह लक्ष्य को ग्रहण कर सकता है।)

(प्रश्न–) ऐसा कौन सा लक्ष्य है कि जो ज्ञान की प्रसिद्धि के द्वारा उससे (–ज्ञान से) भिन्न प्रसिद्ध होता है?

(उत्तर–) ज्ञान से भिन्न लक्ष्य नहीं है, क्योंकि ज्ञान और आत्मा में द्रव्यपने से अभेद है।

(प्रश्न–) तब फिर लक्षण और लक्ष्य का विभाग किसलिए किया गया है?

(उत्तर–) प्रसिद्धत्व और *प्रसाध्यमानत्व के कारण लक्षण और लक्ष्य का विभाग किया गया है। ज्ञान प्रसिद्ध है, क्योंकि ज्ञानमात्र को स्वसंवेदन से सिद्धपना है (अर्थात् ज्ञान सर्व प्राणियों को स्वसंवेदनरूप अनुभव में आता है); वह प्रसिद्ध ऐसे ज्ञान के द्वारा प्रसाध्यमान, तद्–अविनाभूत (–ज्ञान के साथ अविनाभावी सम्बन्धवाला) अनन्त धर्मों का समुदायरूप मूर्ति आत्मा है। (ज्ञान प्रसिद्ध है; और ज्ञान के साथ जिनका अविनाभावी सम्बन्ध है, ऐसे अनन्त धर्मों का समुदायस्वरूप आत्मा उस ज्ञान के द्वारा प्रसाध्यमान है।) इसलिए ज्ञानमात्र में अचलितपने से स्थापित दृष्टि के द्वारा, क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवर्तमान, तद्–अविनाभूत (–ज्ञान के साथ अविनाभावी सम्बन्धवाला) अनन्त धर्मसमूह जो कुछ जितना लक्षित होता है, वह सब वास्तव में एक आत्मा है।

इसी कारण से यहाँ आत्मा का ज्ञानमात्रता से व्यपदेश है।

(प्रश्न–) जिसमें क्रम और अक्रम से प्रवर्तमान अनन्त धर्म हैं, ऐसे आत्मा के ज्ञानमात्रता किस प्रकार है?

(उत्तर–) परस्पर भिन्न ऐसे अनन्त धर्मों के समुदायरूप से परिणत एक ज्ञप्तिमात्र भावरूप से स्वयं ही है, इसलिए (अर्थात् परस्पर भिन्न ऐसे अनन्त धर्मों के समुदायरूप

---

* प्रसाध्यमान=जो प्रसिद्ध किया जाता हो। (ज्ञान प्रसिद्ध है और आत्मा प्रसाध्यमान है।)

से परिणमित जो एक जाननक्रिया है, उस जाननकियामात्र भावरूप से स्वयं ही है इसलिए) आत्मा के ज्ञानमात्रता है। इसीलिए उसके ज्ञानमात्र एकभाव की अन्त:पातिनी (-ज्ञानमात्र एक भाव के भीतर आ जानेवाली-) अनन्त शक्तियाँ उछलती हैं। (आत्मा के जितने धर्म हैं उन सबको, लक्षणभेद से भेद होने पर भी, प्रदेशभेद नहीं है; आत्मा के एक परिणाम में सभी धर्मों का परिणमन रहता है। इसलिए आत्मा के एक ज्ञानमात्र भाव के भीतर अनन्त शक्तियाँ रहती हैं। इसलिए ज्ञानमात्र भाव में-ज्ञानमात्र भावस्वरूप आत्मा में-अनन्त शक्तियाँ उछलती हैं।) उनमें से कितनी ही शक्तियाँ निम्न प्रकार हैं-

---

(यहाँ आचार्यदेव अनेकान्त के सम्बन्ध में विशेष चर्चा करते हैं-)

(प्रश्न-) आत्मा अनेकान्तमय... है। अब शिष्य प्रश्न करता है। प्रभु! आप किसलिए कहते हो? परन्तु अनेकान्तमय तो वस्तु है। आप किसलिए उपदेश देते हो? आहाहा! है? आत्मा अनेकान्तमय है ही, विरुद्ध शक्तिवाला है। नित्य है, वह अनित्य है। अनित्य है, वह नित्य है, एक है, वह अनेक है; अनेक है, वह एक है, स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से है, वह परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नहीं। यह आत्मा अनेकान्तमय है। **फिर भी यहाँ उसका ज्ञानमात्रता से क्यों व्यपदेश किया जाता है?** यह तो वस्तु का स्वरूप है। फिर आत्मा ज्ञानमात्र है, ऐसा आप उपदेश करते हो। शिष्य का प्रश्न है। आहाहा!

ज्ञानमात्र कहने से तो अन्यधर्मों का निषेध समझा जाता है। शिष्य प्रश्न करता है कि अनेकान्त तो इस वस्तु का स्वरूप ही प्रकाशित करता है और आप ज्ञानमात्र कहना चाहते हो तो वहाँ अन्य धर्म है, उनका निषेध हो जाता है। अनन्त धर्म हैं, उसमें तो वस्तु की स्थिति है और आप यह ज्ञानमात्र कहते हो, उसमें अन्य धर्मों का निषेध समझ में आता है। मानो कि दूसरे दर्शन, आनन्द आदि अनन्त गुण हैं ही नहीं। आहाहा!

प्रश्न समझ में आया? अभी प्रश्न। प्रश्न में क्या है? प्रश्न का रूप भी समझना चाहिए। वस्तु तो अनेकान्तमय है, ऐसा तुम कहते हो। क्योंकि विरुद्ध शक्ति का प्रकाशित होना, वह अनेकान्त है। तो विरुद्ध शक्ति का प्रकाशित होना, वह अनेकान्त तो है ही। तो

फिर यहाँ ज्ञानमात्र से कैसे कथन किया जाता है? यद्यपि आत्मा अनन्त धर्मयुक्त है। ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि अनन्त धर्म है। **तथापि उसे ज्ञानमात्ररूप से क्यों कहा जाता है?** शिष्य प्रश्न करता है। **ज्ञानमात्र कहने से तो अन्यधर्मों का निषेध समझा जाता है।** अनेकान्त कहाँ रहा? अनेकान्त है परन्तु तुम तो ज्ञानमात्र कहते हो। वस्तु में तो अनन्त धर्म है और तुम कहते हो एक ज्ञानमात्र आत्मा है। इसमें दूसरे धर्मों का निषेध हो जाता है। प्रश्नकार कहता है। आहाहा! ऐसे तो बहुत मर्म की बातें हैं, बापू! आहाहा!

(उत्तर–) लक्षण की प्रसिद्धि के द्वारा... क्या कहते हैं? यह ज्ञान, वह लक्षण है। आत्मा, वह लक्ष्य है। इस **लक्षण की प्रसिद्धि के द्वारा लक्ष्य की प्रसिद्धि करने के लिए...** लक्षण जो ज्ञान है, उस लक्षण की प्रसिद्धि द्वारा लक्ष्य को प्रसिद्ध करने के लिये, आहाहा! **आत्मा का ज्ञानमात्ररूप से व्यपदेश किया जाता है।** आहाहा! समझ में आया? शिष्य ने प्रश्न किया कि प्रभु! आप कहना चाहते हो कि वस्तु तो अनेकान्तमय है। वह वस्तु स्वयं ही विरुद्ध शक्ति की धरनेवाली है, तथापि और आप उपदेश किसलिए देते हो? क्योंकि ज्ञानमात्र कहने से दूसरे धर्मों का निषेध हो जाता है। दूसरे गुण अन्दर हैं।

(उत्तर–) लक्षण की प्रसिद्धि के द्वारा... आत्मा का लक्षण ज्ञान है। उससे **लक्ष्य की प्रसिद्धि...** लक्ष्य अर्थात् द्रव्य। द्रव्य की प्रसिद्धि करने के लिये **आत्मा का ज्ञानमात्ररूप से व्यपदेश किया जाता है।** आहाहा! पूरी पुस्तक मानो पढ़ जाते हों, ऐसे समयसार पढ़ जाये। एक व्यक्ति कहता था, महाराज! आप इतनी अधिक महिमा करते हो, मैं तो पन्द्रह दिन में पढ़ गया।

मुमुक्षु : समझ गया, ऐसा उसने कहाँ कहा?

पूज्य गुरुदेवश्री : पढ़ गया। आप तो कहते हो, बहुत गूढ़ है, बहुत गूढ़ है। 'वाँचे पण नहीं करे विचार, वह समझे नहीं सघणो सार।' यह तो हमारे ८० वर्ष पहले स्कूल में आता था, दलपतराम... दलपतराम। 'वाँचे पण नहीं करे विचार, वह समझे नहीं सघणो सार।' सार कुछ समझे नहीं। आहाहा! पढ़ डाला... पढ़ डाला। आहाहा!

लक्षण की प्रसिद्धि के द्वारा लक्ष्य की प्रसिद्धि करने के लिए आत्मा का ज्ञानमात्ररूप से व्यपदेश किया जाता है। उत्तर देते हैं। **आत्मा का ज्ञान लक्षण है,**

क्योंकि ज्ञान आत्मा का असाधारण गुण है... यह क्या कहते हैं ? आत्मा में अनन्त गुण हैं, परन्तु ज्ञान असाधारण है। उसके जैसा दूसरा कोई गुण नहीं है। ज्ञान चीज़ ऐसी है कि ज्ञानमात्र आत्मा कहते हैं तो आत्मा को कह दे। क्योंकि उसका असाधारण स्वरूप है। असाधारण अर्थात ? उसके जैसा दूसरा कोई गुण नहीं है।

(–अन्य द्रव्यों में ज्ञानगुण नहीं है)। इसलिए... आत्मा के अतिरिक्त परमाणु— इस जड़-मिट्टी में कहीं ज्ञानगुण नहीं है। **इसलिए ज्ञान की प्रसिद्धि के द्वारा...** ज्ञान की प्रसिद्धि द्वारा **उसके लक्ष्य की–आत्मा की–प्रसिद्धि होती है।** आहाहा! ऐसा कि पर के साथ तो कुछ सम्बन्ध नहीं और तुम तो अनेकान्त एक ही चीज़ में कहना चाहते हो। वह वस्तु अनेकान्तमय है, तथापि तुम दो भाग क्यों करते हो ? तो कहते हैं, सुन! **लक्षण द्वारा लक्ष्य की...** परन्तु उसी और उसी में। ज्ञान, वह लक्षण है; वस्तु, लक्ष्य है। आहाहा! लक्षण द्वारा लक्ष्य की प्रसिद्धि के लिये ज्ञानमात्र असाधारण लक्षण से वर्णन किया जाता है। आहाहा! ऐसा धर्म। वह तो व्रत पालना, अपवास करना, ब्रह्मचर्य पालना, यह करना और वह करना... अरे! भाई! मूल चीज़ जिस प्रकार से है, उस प्रकार से दृष्टि में न आवे और कुछ भी अन्तर वह करे तो समाप्त... मिथ्यात्व है। आहाहा! क्या कहा ?

नित्य और अनित्य दो वस्तुपने की निपजानेवाली दो विरुद्ध शक्तियाँ हैं। नित्य भी है और अनित्य भी है। यदि तू अकेला नित्य करने जाये तो अनित्य द्वारा नित्य का निर्णय होता है। नित्य द्वारा कहीं नित्य का निर्णय नहीं होता। ऐसा कहीं मिलता है ? वीतराग की बात बहुत कठिन है। आहाहा!

आत्मा का ज्ञान लक्षण है, क्योंकि ज्ञान आत्मा का असाधारण गुण है (–अन्य द्रव्यों में ज्ञानगुण नहीं है)। इसलिए ज्ञान की प्रसिद्धि के द्वारा उसके लक्ष्य की–आत्मा की–प्रसिद्धि होती है। यह जानता है... जानता है... जानता है... वह आत्मा। जानता है, वह लक्षण और उसके द्वारा यह आत्मा लक्ष्य है। इसलिए लक्षण द्वारा लक्ष्य को प्रसिद्ध करने के लिये हम ज्ञानमात्र आत्मा को कहना चाहते हैं। आहाहा! गजब बात है। परद्रव्य के कारण कुछ नहीं ? देव-गुरु-शास्त्र के कारण, उनकी वाणी के कारण...

मुमुक्षु : अत्यन्त अभाव है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अत्यन्त अभाव है। आहाहा! यह वस्तु ही स्वयं दो विरुद्ध शक्ति की धरनेवाली है। स्वरूप से है और पररूप से नहीं, कायम रहनेवाली है और पलटती भी है। ऐसी दो प्रकार की, विरुद्ध शक्ति का धारक आत्मा है। ऐसे प्रत्येक तत्त्व ऐसा है। आहाहा! **इसलिए ज्ञान की प्रसिद्धि के द्वारा उसके लक्ष्य की–आत्मा की–प्रसिद्धि होती है।**

(प्रश्न –) इस लक्षण की प्रसिद्धि से क्या प्रयोजन है? आपको क्या कहना है? ज्ञान आत्मा, ज्ञान आत्मा, ज्ञान आत्मा बारम्बार कहते हो। ज्ञानरूपी आत्मा। **इस लक्षण की प्रसिद्धि से क्या प्रयोजन है? मात्र लक्ष्य ही प्रसाध्य अर्थात् प्रसिद्धि करनेयोग्य है।** आत्मा ही प्रसिद्ध करनेयोग्य है। आत्मा का ज्ञान लक्षण प्रसिद्ध करनेयोग्य है? शिष्य ऐसा पूछता है। आहाहा! क्या पूछता है, समझ में आया? कि आत्मा है, वह लक्ष्य है। उसे प्रसिद्ध करो न! उसका और ज्ञानलक्षण है, उसकी प्रसिद्धि? यह शिष्य का प्रश्न है। आहाहा!

(उत्तर –) जिसे लक्षण अप्रसिद्ध हो... भाई! जिसे लक्षण की खबर नहीं, भगवान आत्मा ज्ञान लक्षण से लक्षित है, ऐसे ज्ञान के लक्षण की उसे खबर नहीं। वह मानो कि राग से होता है, दया, दान से और भक्ति, पूजा से (होगा)। यह उसका लक्षण ही नहीं है। आहाहा! **जिसे लक्षण अप्रसिद्ध हो उसे (अर्थात् जो लक्षण को नहीं जानता ऐसे अज्ञानी जन को)...** लो, यहाँ तो भाई! अज्ञानी आया। वह कहता है कि यह समयसार साधु के लिये ही है। जहाँ ज्ञानी आवे, वहाँ मुनि लेना। यहाँ तो अज्ञानी की बात है। आहाहा! अरे रे! पक्षपात!

(अज्ञानी जन को) लक्ष्य की प्रसिद्धि नहीं होती। जिसे लक्षण की अप्रसिद्धि हो, उसे लक्ष्य की—द्रव्य की प्रसिद्धि नहीं होती। उसके ज्ञान लक्षण की जिसे प्रसिद्धि नहीं, उसे लक्ष्य द्रव्य की प्रसिद्धि नहीं होती। **जिसे लक्षण प्रसिद्ध होता है,...** जिसे लक्षण प्रसिद्ध होती है, जिसे ज्ञान की प्रसिद्धि होती है, **उसी को लक्ष्य की प्रसिद्धि होती है।** आहाहा! ज्ञान लक्षण है, उसकी जिसे प्रसिद्धि है, उसे लक्ष्य की प्रसिद्धि है परन्तु ज्ञान लक्षण की खबर नहीं, हम तो यह राग करते हैं, दया पालें, व्रत करें, भक्ति करें, पूजा करें,

यह तो लक्षणसे बाहर है। आहाहा! उसे समझाने के लिये लक्षण की प्रसिद्धि करके लक्ष्य की प्रसिद्धि करानी है परन्तु उसे और उसे। दो शक्तियाँ, परन्तु उसी और उसी में। आहाहा! ऐसा जैनधर्म।

उसी को लक्ष्य की प्रसिद्धि होती है। (इसलिए अज्ञानी को पहले लक्षण बतलाते हैं, उसके बाद वह लक्ष्य को ग्रहण कर सकता है।) आहाहा! है? अज्ञानी को पहले ज्ञान बताते हैं कि देखो! जानन... जानन... जानन... जानन जो लक्षण है, वह आत्मा का लक्षण है। वह जानन लक्षण दूसरी किसी चीज़ में है ही नहीं। वह लक्षण उस चीज़—लक्ष्य द्रव्य का है। अज्ञानी लक्ष्य को जानता नहीं, उसे लक्षण द्वारा लक्ष्य को प्रसिद्ध कराने के लिये लक्षण द्वारा प्रसिद्ध कराते हैं। सीधा लक्ष्य जो न जान सके, इसलिए उसे लक्षण बतलाकर लक्षण से लक्ष्य की सिद्धि कराते हैं। आहाहा! ऐसी बात। फिर लोग कहे न, एकान्त है, एकान्त है, एकान्त है। दूसरे द्रव्य से कुछ होता है, यह तो बात ही नहीं करते। परन्तु प्रभु! तू जैनशासन...

अनादि तीर्थंकर, अनन्त तीर्थंकर, अनन्त केवली, अनन्त मुनि अनेकान्त कहते आये हैं। उस अनेकान्त का अर्थ यह। उस-उस तत्त्व में विरुद्ध शक्तियों का प्रकाशित होना, वह अनेकान्त, ऐसा अनन्त तीर्थंकर कहते आये हैं, और तू दूसरे द्रव्य के साथ सम्बन्ध लगाकर अनेकान्त करने जाता है। आहाहा! अब लोग विचारते हैं, सुनते हैं। कल कितने लोग थे, परसों! दो बार। पहले दिन तो यहाँ अन्दर में बैठे थे। लोग समावे नहीं। दूसरे चले जाओ, बैठे हों, वे चले जाओ, नये आने दो, बैठे हों वे चले जाओ, नये आने दो। कमरा छोटा। ढाई सो लोग मुश्किल से समावे और लोग बहुत। आहाहा! परन्तु अब सुनते हैं कि कुछ कहते हैं। ४५ वर्ष से यह चलता है। आहाहा! क्या आज का विषय! आज तो बहुत गजब आया।

लक्षण और लक्ष्य, जिसे लक्षण से लक्ष्य की प्रसिद्धि नहीं, उसे लक्षण से लक्ष्य की प्रसिद्धि भेद पाड़कर की जाती है। है तो इसी और इसी की शक्ति, परन्तु भेद पाड़कर ज्ञान वह आत्मा, ज्ञान वह आत्मा, जानपना, वह आत्मा, जानपना वह सर्वज्ञ शक्तिवान प्रभु, ऐसी ज्ञान की प्रसिद्धि द्वारा आत्मा जो लक्ष्य है, उसकी प्रसिद्धि कराने को कहा जाता है। आहाहा! समय हो गया, समय हो गया...　　　　　　(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४८०, परिशिष्ट रविवार, भाद्र कृष्ण १२
दिनांक - ०५-१०-१९८०

कौन सा प्रश्न आया ? तीसरा ? एक प्रश्न और उत्तर आ गया, दूसरा प्रश्न और उत्तर आ गया। तीसरा प्रश्न। सूक्ष्म बात है।

(प्रश्न–) ऐसा कौन सा लक्ष्य है... शिष्य पूछता है कि इस आत्मा को जानने के लिये आत्मा लक्ष्य है, वह कौन है ? वह कौन सा लक्ष्य है ? आहाहा ! यहाँ तो मूल की बात है। मूल बात समझे नहीं, तब तक सब थोथा है। क्या कहा ? **ऐसा कौन सा लक्ष्य है कि जो ज्ञान की प्रसिद्धि के द्वारा...** ज्ञान लक्षण, ज्ञान प्रसिद्ध और लक्ष्य प्रसाध्यमान। लक्षण से लक्ष्य की प्रसिद्धि के लिये लक्षण कहा जाता है।

ज्ञानलक्षण। आहाहा ! अब ज्ञान लक्षण, वह ज्ञान कौन सा ? पर का ज्ञान नहीं। अन्तर भगवान आत्मा अनन्त गुण में मुख्य प्रधान ज्ञान लक्षण है। उस ज्ञान लक्षण से भिन्न लक्ष्य नहीं है। प्रश्न तो ये किया है कि **ऐसा कौन सा लक्ष्य है कि जो ज्ञान की प्रसिद्धि के द्वारा...** ज्ञान की प्रसिद्धि जानन... जानन... वह जानन अन्तर में ले जाने से **प्रसिद्धि के द्वारा उससे (–ज्ञान से) भिन्न...** ज्ञान से भिन्न लक्ष्य कौन है ? शिष्य का प्रश्न है। समझ में आया ?

आपने कहा कि, ज्ञान लक्षण से आत्मा लक्ष्य हो जाता है। यह पहली बात है। धर्म की शुरुआत, सम्यग्दर्शन की, अनुभूति की। श्रद्धा भ्रष्ट है, वह ज्ञान और चारित्र से भ्रष्ट है, ऐसा कहा है। जो श्रद्धा में भ्रष्ट है, वह ज्ञान और चारित्र में भ्रष्ट है। श्रद्धा किसकी करना ? और वह श्रद्धा करने में आत्मा का लक्षण क्या ? श्रद्धा उसका लक्षण नहीं। क्योंकि श्रद्धा तो अकेली निर्विकल्प है और ज्ञान अपने को जानता है तथा आत्मा को जानता है। आहाहा !

ऐसा कौन सा लक्ष्य है कि जो ज्ञान की प्रसिद्धि के द्वारा... आहाहा ! ज्ञान जानन... जानन... जानन... जो स्वभाव है न ? उस ज्ञान की प्रसिद्धि द्वारा... आहाहा ! **(–ज्ञान से) भिन्न...** शिष्य का प्रश्न है। ज्ञान से भिन्न वह कौन सी चीज़ है ? कौन सी

प्रसिद्ध चीज़ है ? **(-ज्ञान से) भिन्न प्रसिद्ध होता है?** कौन है ? पहले प्रश्न का रूप समझ में आया ? ऐसा कौन सा लक्ष्य... लक्ष्य... द्रव्य है ? (कि जो) **ज्ञान की प्रसिद्धि के द्वारा...** ज्ञान की प्रसिद्धि—ज्ञान, वह आत्मा, ऐसी प्रसिद्धि द्वारा **उससे (-ज्ञान से) भिन्न प्रसिद्ध होता है?** वह कौन है ? शिष्य का प्रश्न है। प्रश्न सच्चा नहीं। प्रश्न तो शंका है। देह नहीं, वाणी नहीं, दया, दान, पुण्य-पाप, काम, क्रोध, यात्रा, भक्ति का राग, वह कोई चीज़ नहीं। वह कोई आत्मा का लक्षण नहीं। उसका लक्षण ज्ञान है तो ज्ञान से भिन्न ऐसी लक्ष्य कौन सी चीज़ है ? ज्ञान से भिन्न लक्ष्य—चीज़ कौन सी है कि जो ज्ञान के लक्षण द्वारा लक्ष्य कराते हैं ? आहाहा ! समझ में आया ? यह कला की बात है। सेठ को आया ?

(उत्तर-) ज्ञान से भिन्न लक्ष्य नहीं है,... ज्ञान से भिन्न लक्ष्य नहीं है। ज्ञान लक्षण, आत्मा लक्ष्य। यह लक्षण लक्ष्य को बताता है परन्तु यह ज्ञान से भिन्न नहीं है। आहाहा ! लक्षण से लक्ष्य चीज़ भिन्न नहीं है। बहुत सूक्ष्म बात। आहाहा ! अन्त में मक्खन निकाला है। अकेले बारह अंग का रहस्य है कि जो जैन सर्वज्ञ के अतिरिक्त कहीं है नहीं। उनके सम्प्रदाय में भी अभी तो नहीं है। अभी तो यह क्रियाकाण्ड और यह करो, देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा है, तुम्हें देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा है। अब व्रत करो, तप करो, भक्ति करो, बस ! यहाँ तो कहते हैं, तेरी मूल में ही भूल है। आहाहा ! छोटाभाई !

यहाँ तो अभी लक्ष्य-लक्षण में शंका उठे। यह जानन... जानन... जानता है न ? यह जानना लक्षण और इसका लक्ष्य द्रव्य। तो शिष्य का प्रश्न यह था कि लक्षण से लक्ष्य, ज्ञान से भिन्न वह चीज़ कौन है ? समझ में आया ? लक्षण से लक्ष्य द्रव्य, लक्षण ज्ञान, राग नहीं, विकल्प नहीं, कोई नहीं। यह ज्ञान लक्षण, वस्तु लक्ष्य। इस ज्ञान के लक्षण से लक्ष्य जो चीज़ है, वह ज्ञान से भिन्न कौन सी चीज़ है ? यह तो प्रश्नकार का प्रश्न है। समझ में आया ? भिन्न-भिन्न है नहीं परन्तु प्रश्न उठा न ? लक्षण से लक्ष्य, ऐसा आया न ? तो मानो दोनों भिन्न हों। लक्षण और लक्ष्य दो चीज़ मानो भिन्न हों, ऐसा शिष्य का प्रश्न हुआ। समझ में आया ? यह कहाँ इसमें निवृत्ति है ? आहाहा ! तीन लोक के नाथ सर्वज्ञ भगवान के श्रीमुख से निकली हुई वाणी का रहस्य सन्त बतलाते हैं। दिगम्बर सन्त के अतिरिक्त ऐसी बात कहीं स्पष्ट नहीं है। आहाहा !

मुमुक्षु : सोनगढ़ के अतिरिक्त कहीं नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान के अतिरिक्त कहीं नहीं है। तुम भगवान हो न! भगवानदास सेठ। भगवानदास सेठ यह। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात। शान्ति से दो बार, तीन बार बात करते हैं, बापू!

पहले शिष्य के प्रश्न का रूप क्या है? कि जब ऐसा कहने में आया कि ज्ञान लक्षण है और उसके द्वारा द्रव्य लक्ष्य हो सकता है। राग द्वारा, पुण्य द्वारा दया, दान द्वारा, देव-गुरु-शास्त्र द्वारा लक्ष्य नहीं हो सकता, द्रव्य का लक्ष्य—ज्ञान नहीं हो सकता, द्रव्य का ज्ञान नहीं हो सकता। आहाहा! मात्र ज्ञान जानन जो पर्याय में लक्षण है, उस लक्षण से लक्ष्य जो वस्तु पूरी अखण्ड प्रभु लक्ष्य में आती है। तब शिष्य का प्रश्न हुआ। दो आये न? लक्षण और लक्ष्य दो आये तो शिष्य का प्रश्न है कि ज्ञान से भिन्न ऐसा कौन सा लक्ष्य है कि जो ज्ञान की प्रसिद्धि द्वारा ज्ञान से भिन्न प्रसिद्ध होता है? ऐसी कौन सी चीज़ है? समझ में आया? आहाहा! भाषा तो सादी है, प्रभु! मार्ग तो कोई ऐसा है। आहाहा!

शिष्य का अभी प्रश्न है, उसका अभी रूप बँधता है। शिष्य भी इस प्रकार से जानकार हुआ। गुरु ने कहा कि जानन जो ज्ञान अन्दर है, जानने की जो सत्ता है, वह ज्ञान लक्षण से लक्ष्य जो द्रव्य अनन्त गुणस्वरूप है, अनन्त गुणस्वरूप, वह ज्ञान लक्षण से लक्षित होता है, ऐसा गुरु ने कहा। दूसरे किसी कारण से लक्ष्य नहीं होता। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, लाखों, करोड़ों रुपये के मन्दिर और करोड़ों रुपये के दान या करोड़ों-अरबों रुपये की पुस्तकें बनावे, उससे आत्मा का लक्ष्य होता है, ऐसा नहीं है।

आत्मा का लक्ष्य—ध्येय, ध्यान में ध्येय लक्ष्य जिसके ऊपर दृष्टि करनी है, पर्याय ज्ञान लक्षण और उसकी दृष्टि करनी है लक्ष्य के ऊपर। इस लक्षण से लक्ष्य जब गुरु ने कहा तो शिष्य को प्रश्न उठा कि इस लक्षण से लक्ष्य भिन्न चीज़ कौन है? आपने दो बातें की है कि लक्षण से लक्ष्य होता है। तो इस ज्ञान से भिन्न चीज़ कौन है? ज्ञान लक्षण ने बताया कि यह लक्ष्य द्रव्य है। आपने जब दो कहे तो मैं प्रश्न करता हूँ कि इस ज्ञान से लक्ष्य बताया तो इस ज्ञान से भिन्न कौन है? ज्ञान से (लक्षित) जो लक्ष्य कहा तो इस ज्ञान से भिन्न कौन है कि जिसका लक्ष्य करता है? आहाहा! सेठ! ऐसी बात है। बहुत सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा!

उत्तर– ज्ञान से भिन्न लक्ष्य नहीं है,... है ? ज्ञान से भिन्न कोई लक्ष्य नहीं है। यह तो समझाने के लिये कहा। ज्ञान जानन, उससे लक्ष्य द्रव्य अलग नहीं है। आहाहा! अब यह करना और यह करना, यह तो कहीं पड़ा रहा। आहाहा! ज्ञान से भिन्न कोई लक्ष्य नहीं है, लक्ष्य कोई अलग नहीं है। **क्योंकि ज्ञान और आत्मा में द्रव्यपने से अभेद है।** आहाहा! गजब बात की है। बारह अंग का रहस्य रखा है।

जब आपने ज्ञान लक्षण (कहा)... राग, दया, दान, पुण्य, विकल्प, देव-गुरु-शास्त्र नहीं। आहाहा! उसका लक्षण जिससे लक्ष्य हो, जो चीज़ लक्षण से लक्षित हो, ऐसा ज्ञान लक्षण, उससे लक्ष्य में आता है। तो शिष्य को ऐसा प्रश्न उठा कि ज्ञान से भिन्न ऐसी लक्ष्य चीज़ कौन है कि ज्ञान लक्षण से दूसरी चीज़ लक्ष्य में आती है ज्ञान से भिन्न, वह है कौन ? तो उत्तर में कहा कि प्रभु! सुन! आहाहा! **ज्ञान से भिन्न लक्ष्य नहीं है,...** आहाहा! यह तो सादी भाषा है, सेठ! परन्तु है वस्तु। यह सुनने के लिये लोग इकट्ठे नहीं होते, रस नहीं पड़ता। यह तो और सेठ जैसे वहाँ से आते हैं। आहाहा! क्या कहा ?

यह शास्त्र स्वाध्याय कर-करके ग्यारह अंग अनन्त बार पढ़ा। देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा भी अनन्त बार की और महाव्रत और व्रत, तप आदि अनन्त बार किये। वह कहीं लक्षण नहीं है। अर्थात् उससे आत्मा लक्ष्य में आवे, उससे आत्मा का ज्ञान हो—ऐसी वह कोई चीज़ नहीं है। आहाहा! तो क्या चीज़ है ? कि अन्दर जो ज्ञानपर्याय में जो ज्ञान ज्ञात होता है, उस ज्ञान लक्षण से यह आत्मा प्रसिद्ध—लक्ष्य होता है। ज्ञान लक्षण से लक्ष्य जो द्रव्य, अनन्त गुण का एकरूप, उस लक्षण से लक्ष्य ज्ञात होता है। आहाहा! तब शिष्य का प्रश्न हुआ कि ज्ञान से भिन्न वह चीज़ है कौन ? ज्ञान लक्षण और लक्ष्य (कौन सी चीज़) ? लक्षण से लक्ष्य कराते हैं तो वह भिन्न चीज़ है कौन ? प्रभु! भिन्न कोई नहीं है। वह तो ज्ञान... देखो!

ज्ञान से भिन्न लक्ष्य नहीं है, क्योंकि ज्ञान और आत्मा में द्रव्यपने से अभेद है। देखो! यहाँ। आहाहा! ज्ञान अर्थात् जानना। पर का जानना, वह नहीं। जानना... जानना... जानना... जानना... इस ज्ञान से लक्ष्य होता है तो इस ज्ञान से लक्ष्य कोई भिन्न चीज़ नहीं है। वह तो द्रव्यरूप से अभेद है। ज्ञान, यह शास्त्र का ज्ञान, ज्ञान नहीं। आहाहा! अन्तर का

ज्ञान, इस ज्ञान से लक्ष्य भिन्न नहीं है। अभेद चीज़ है। ज्ञान और आत्मा अभेद है, कोई भिन्न चीज़ नहीं है। जैसे राग और पुण्य-पाप भिन्न चीज़ है... आहाहा! ऐसी भिन्न चीज़ नहीं है। शिष्य का प्रश्न ऐसा हुआ कि तुम दो कहते हो तो और भिन्न कौन सी चीज़ है? दो कहा, सुन तो सही।

शक्कर मीठी है। गळी कहते हैं? मीठी। मीठी शक्कर है परन्तु उस शक्कर से मिठास अलग नहीं है। उसी प्रकार ज्ञानलक्षण से आत्मा का लक्ष्य कराते हैं, तब ज्ञान से आत्मा भिन्न नहीं है। आहाहा! अब ऐसी बात। **ज्ञान और आत्मा में द्रव्यपने से अभेद है।** ज्ञान है न? ज्ञान कौन? यह शास्त्रज्ञान नहीं, स्वाध्याय ज्ञान नहीं। अन्तर का ज्ञान। आहाहा! इस ज्ञान लक्षण से लक्ष्य द्रव्य, द्रव्य से अभेद है। वस्तुरूप से अभेद है। भले ज्ञान एक गुण है और धर्मी अनन्त गुणवान है, तथापि द्रव्यरूप से ज्ञान अभेद है। यह वस्तु और ज्ञान कोई अलग चीज़ नहीं है। आहाहा!

ऐसा कहने में तो यह भी आया कि... बहुत गूढ़! कि शास्त्रज्ञान, वह ज्ञान नहीं है। वह लक्षण नहीं है और उससे आत्मा लक्ष्य होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! देव-गुरु और धर्म की श्रद्धा तथा देव-गुरु और धर्म का ज्ञान, वह ज्ञान लक्षण और आत्मा लक्ष्य, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। लोग इतने भाग्यशाली हैं कि सुनने आते हैं। नहीं तो यह चीज़ बहुत कठिन बात है। मुम्बई में तो इतने लोग... इतने लोग... ओहोहो! पहले दिन तो २५० लोगों का कमरा। उसमें बैठे। अनेक हजारों लोग। कमरे में पहले आये हों, वे उठ जाओ। नयों को आने दो। वे बैठकर उठ जाओ, दूसरे को आने दो। थे या नहीं? फिर दूसरे दिन तो नीचे मण्डप बँधाया। तो मण्डप में समावे नहीं। इतने लोग... इतने लोग... यह दरवाजा है न? इस दरवाजे से भी आगे दूर... दूर... दूर... इतना बड़ा मण्डप। सुनते हैं, लोग कहते हैं कि ४५-४६ वर्ष से बात चलती है तो यह है क्या? आहाहा! और दुनिया से अलग प्रकार लगता है तो है क्या? आहाहा!

कहते हैं, **ज्ञान और आत्मा में द्रव्यपने से अभेद है।** जानन... जानन स्वभाव और आत्मा एकमेक अभेद है। यह ज्ञान शास्त्रज्ञान नहीं। आहाहा! सुनने में आया, वह ज्ञान नहीं। अन्दर ज्ञान लक्षण एकदम राग से भिन्न, उस ज्ञान लक्षण से आत्मा लक्षित होता है,

वह अभेद है। वस्तुरूप से ज्ञान लक्षण, द्रव्य लक्ष्य वस्तु अभेद है, एक है। समझ में आया? आहाहा!

फिर से प्रश्न (करते हैं), **तब फिर लक्षण और लक्ष्य का विभाग किसलिए किया गया है?** और, तुम कहते हो कि अभेद है। ज्ञान और त्रिकाली आत्मा अभेद है। ज्ञान लक्षण और वस्तु लक्ष्य दोनों अभेद है, एक है, **तब फिर लक्षण और लक्ष्य का विभाग किसलिए किया गया है?** ज्ञान लक्षण और आत्मा लक्ष्य, ऐसे दो विभाग क्यों किये? क्योंकि तुम तो कहते हो कि ज्ञान और आत्मा अभेद है, ज्ञान और आत्मा एक है। एक है तो फिर दो भाग क्यों किये? आहाहा! समझ में आया? धीरे से, धीरे से (समझना)। यह तो अन्तर का मार्ग है। वीतराग परमात्मा तीन लोक के नाथ का भरतक्षेत्र में विरह पड़ा। आहाहा! केवली रहे नहीं, परमात्मा रहे नहीं, ऐसी कोई अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान की लब्धि भी रही नहीं। उसमें ऐसी बात करना... आहाहा! सूक्ष्म बात है, छोटाभाई! भगवान! परन्तु तेरे घर की बात है, न! नाथ! बाहर का लक्ष्य छोड़ दे, प्रभु! लक्ष्य भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ है, वहाँ ज्ञान के लक्षण द्वारा लक्ष्य कर। लक्षण और लक्ष्य दोनों अभेद है। वह लक्षण भिन्न अलग है और लक्ष्य अलग चीज़ है, ऐसी चीज़ नहीं है। आहाहा!

तब फिर लक्षण और लक्ष्य का विभाग किसलिए किया गया है? एक ओर ऐसा कहते हो कि लक्षण से लक्ष्य ख्याल में आता है, दूसरा ओर कहते हो कि लक्षण और लक्ष्य दोनों एक है। तो मैं प्रश्न करता हूँ कि तो फिर दो भाग क्यों करते हो? आहाहा! यह वाँचन करे तो बैठे ऐसा नहीं, सेठ! अपने आप वाँचन करे तो (समझ में आये ऐसा नहीं है)।

मुमुक्षु : स्वयं अकेला पढ़े तो भाव नहीं निकलते।

पूज्य गुरुदेवश्री : भाव नहीं निकलते। ऐसा का ऐसा पढ़ जाये कि कुछ है। आहाहा! सवेरे भी सूक्ष्म बात थी, कल दोपहर को भी ऐसी बात थी। आज भी ऐसी। क्या कहा?

जब मिठास और शक्कर दोनों एक ही है तो मिठास लक्षण और शक्कर लक्ष्य है, ऐसा भेद क्यों किया? इसी प्रकार ज्ञान लक्षण और आत्मा लक्ष्य, दोनों चीज़ एक ही है तो फिर भेद क्यों किया? आहाहा! समझ में आया? आहाहा! गजब बात है।

(उत्तर–) प्रसिद्धत्व... शास्त्र की भाषा... **प्रसिद्धत्व...** ज्ञान प्रसिद्ध है। जानना... जानना... जानना... यह तो सब जाने, कहते हैं, कि मैं जानता हूँ, मैं जानता हूँ, मैं जानता हूँ... भले चाहे जो जानो। अज्ञान में भी जानना तो है न? तो ज्ञान वह प्रसिद्धत्व है और प्रसाध्यमान, ज्ञान लक्षण से प्रसाध्यमान आत्मा प्रसिद्ध किया जाता है। इस ज्ञान लक्षण से भगवान प्रसिद्ध किया जाता है। आहाहा! इसलिए दो भाग किये गये हैं। दो भाग है तो अभेद, परन्तु ज्ञान प्रसिद्ध है, सब जीवों को संवेदन में आता है। सब जीवों को, ऐसा कहे कि मैं हूँ नहीं। मैं नहीं, परन्तु किसमें निर्णय किया? यह ज्ञान में निर्णय किया, यह ज्ञान की सत्ता में निर्णय किया, मैं नहीं। मैं नहीं, वहाँ मैं हूँ—ऐसा आ गया। आहाहा!

मैं नहीं। वहाँ मैं नहीं, यह मैं में निर्णय किया। मैं नहीं तो मैं में निर्णय किया। वहाँ मैं हूँ ऐसा आ गया। परन्तु यह विचार करने का अवसर कहाँ है? अरे रे! बहुत कठिन बात है। जन्म-मरण रहित होने की यह (चीज़ है)। उस पारसी ने कहा नहीं? बेचारा वृद्ध नरम है। बाहर निकलकर कहे, महाराज से मुझे आशीर्वाद दो। यह देह छूटने के अवसर पर दुःखी-दुःखी होकर न मरें। रिबाई समझे? दुःखी... दुःखी... (तड़प-तड़पकर)।

हमने देखा है न! (संवत्) १९७६ में एक भाई थे। १९७६, ध्रांगध्रा। उसे हार्ट अटैक आया। परन्तु दुःख वह दुःख। खाट पर सो सके नहीं। नीचे बिस्तर किया। बिस्तर में सो सके नहीं। मैं गया। महाराज को बुलाओ, मांगलिक सुनावे। वहाँ अन्दर में पीड़ा... पीड़ा... पीड़ा... नीचे बिस्तर में भी बैठ नहीं सके। ऐसे नीचे भटके, ऐसे भटके, ऐसे भटके। प्रभु! मांगलिक तो सुनो। परन्तु उसे इतना दुःख...

एक बार 'दादभा' में, वढवाण, जिसे कामधेनु गाय थी। चौबीसों घण्टे दूध दे ऐसी उसके गाय थी। कामधेनु। उसके वहाँ कोई कुटुम्बी बीमार थे। यह (संवत्) १९८२ के वर्ष की बात है। पहली बात वह १९७६। आहाहा! मैं गया, परिवार इकट्ठा हुआ था। सब लाखोंपति सेठ लोग थे परन्तु वह व्यक्ति सहारे से बैठ सके नहीं, काम हो सके नहीं। आहाहा! भाई! जरा मांगलिक सुनो। आहाहा! वह अन्दर की पीड़ा... क्योंकि वह हार्ट अटेक, हार्ट का अटेक। इसका अर्थ क्या है? यह खून है, उसका उस समय चक्का हो जाता है। चोसला समझे? पिण्ड हो जाता है, जम जाता है। तो श्वास ले सके नहीं, ऐसा

जम जाता है। आहाहा! यह दु:ख... इससे अनन्त गुना दु:ख तो नरक के पहले नरक में। आहाहा! दस हजार वर्ष की जघन्य छोटी में छोटी स्थिति। पहला रत्नप्रभा (नरक)। नरक का नाम रत्नप्रभा। यह कहा था न एक बार?

एक साधु ने एक महिला की मजाक की। महिला होगी (उससे पूछा), क्यों बहिन! रत्नप्रभा जाना है? रत्नप्रभा नाम सही न? क्यों बहिन रत्नप्रभा जाना है? अरे! महाराज! रत्नप्रभा हमारे जैसे जायें? आप जैसे जाते हैं। वह मानो, रत्नप्रभा अर्थात् क्या होगा? वह तो पहले नरक का नाम है। सात नरक हैं। उसमें पहला रत्नप्रभा है। वहाँ के दु:ख... आहाहा! सुने जाए नहीं। उन्हें सुनकर रुदन आवे। ऐसे दु:ख पहले नरक में और पहले पासड़े में हैं। ऐसे एक क्षण नहीं परन्तु तैंतीस-तैंतीस सागरोपम भोगे हैं, प्रभु! एक सागर के दस क्रोड़ाक्रोड़ी पल्योपम और एक पल्य के असंख्य भाग में असंख्य अरब वर्ष। ऐसे अनन्त बार तैंतीस सागर। प्रभु! उससे छूटना हो तो यह उपाय है। आहाहा!

इस दु:ख से छूटना हो तो ज्ञान लक्षण से आत्मा को पकड़ लेना। आहाहा! यह दो नहीं है। ज्ञान और आत्मा दोनों एक ही है। **तब फिर लक्षण और लक्ष्य का विभाग किसलिए किया गया है? प्रसिद्धत्व और प्रसाध्यमानत्व के कारण...** ज्ञान लक्षण है, वह प्रसिद्ध है। लोगों को ख्याल में आता है। जानना... जानना... जानना तो ख्याल में आता है न? (इस प्रकार लक्षण) **लक्ष्य का विभाग किया गया है।** लक्ष्य अर्थात् द्रव्य। लक्षण अर्थात् ज्ञान लक्षण। यह लक्षण और लक्ष्य का विभाग किया गया है। क्योंकि प्रसिद्धत्व ज्ञान है और प्रसाध्यमान साधन करना है, ऐसा ध्येय। ध्येय बनाना है आत्मा। आहाहा! प्रसिद्ध ऐसे ज्ञान लक्षण से प्रसाध्यमान बनाना है आत्मा प्रसाध्य—ध्येय। आहाहा! यह सूझ पड़े नहीं, इसलिए बेचारा बाहर में मिथ्या प्रयास करता है। अरे! बापू! घर में अन्दर चीज़ पड़ी है, भाई! तेरा परमात्मा अन्दर विराजता है, भाई! तुझे खबर नहीं। आहाहा! तुझे उसकी महिमा नहीं आती, प्रभु!

यहाँ कहते हैं कि दो भाग कैसे किये? लक्षण और लक्ष्य ऐसे दो भाग क्यों किये? वस्तु तो एक है, तो एक में दो भाग क्यों किये? ऐसा शिष्य ने प्रश्न किया। तो कहते हैं कि प्रसिद्ध... ज्ञान का प्रसिद्धपना है। जानन... जानन... जानन। और प्रसाध्यमान—ज्ञान से

साबित—सिद्ध करना है द्रव्य, ध्रुव। ध्रुव अनन्त गुण का पिण्ड। इस ज्ञानलक्षण से लक्षित उसे प्रसाध्यमान करना है। इस कारण से लक्षण और लक्ष्य का विभाग किया गया है। आहाहा! बात तो ऐसी ऊँची है। अब यह बाहर में माथाकूट करके व्रत करो और स्वाध्याय करो और अमुक करो, यह करो, माला गिनो। अनन्त बार गिनी, बापू! जन्म-मरण नहीं मिटता, बापू! आहाहा! यह देह छूटकर अन्यत्र चला जाएगा। आहाहा! जैसे परिणाम किये होंगे, वैसे परिणामी पदार्थ, वहाँ जाकर अवतरेगा। आहाहा!

यहाँ कहा, प्रसिद्धत्व—ज्ञान और प्रसाध्यमान—आत्मा। प्रसिद्धत्व लक्षण, प्रसाध्यमान आत्मा, लक्ष्य। यह लक्षण और लक्ष्य का विभाग इस कारण से किया गया है। ज्ञान प्रसिद्ध है। ज्ञान लोगों को ख्याल में आता है। तेरी सत्ता में जानने में आता है, वह कौन है? तू पर को जानने जाता है परन्तु जानने में तो तेरी सत्ता में ज्ञान है। पर को जानने में भी तेरी सत्ता में ज्ञान है। वह ज्ञान पर से नहीं है। आहाहा! ऐसा लॉजिक। वीतराग के कायदे कठिन, प्रभु! स्थूल बुद्धि और यह दुनिया चली जाती है। करोड़ोंपति, अरबोंपति देखे हैं न! आहाहा! मजदूर की भाँति, गधे की भाँति पूरे दिन मजदूरी करे। राग और द्वेष, राग और द्वेष। क्रिया नहीं, वह पर की क्रिया कुछ कर नहीं सकता। राग, यह किया, यह किया, इसको दिया, यह लाये, इतना लाये... आहाहा! पच्चीस लाख थे और पाँच लाख पैदा किये तो तीस लाख इकट्ठे हुए। आहाहा! क्या है प्रभु! बड़ा मजदूर है। विकार का मजदूर। आहाहा! मजदूर को क्या कहते हैं? मजदूर ही कहते हैं? आहाहा!

भगवान तो वरांका कहते हैं, पाठ है। वरांका अर्थात् भिखारी। भीख माँगता है। यह बहिन में आ गया। चक्रवर्ती राजा भीख माँगे। किसी समय चक्रवर्ती राजा, कोई वाघरण (हीन जाति की स्त्री) हो, वाघरण—दाँतुन देनेवाली, क्या कहते हैं? वाघरी... वाघरी। वाघरी नहीं होता? वाघरी कहते हैं न? वह वाघरण चक्रवर्ती के घर में गयी, परन्तु उसे आदत है न? तो हमेशा रोटी रखे और एक... क्या कहलाता है? गोखला। उस गोखला में रोटी रखे और दाँतुन दे। उसमें से रोटी ले और दाँतुन दे। चक्रवर्ती के घर में रही हुई महिला... आहाहा! दाँतुन देकर गोखला में से रोटी ले। गोखला कहते हैं न? गोखला नहीं होता। गोख खाली पड़ा हो, उसमें रोटी रखे, रोटी ले। इसी प्रकार तीन लोक का नाथ

अतीन्द्रिय आनन्द के लक्षण से लक्ष्य—ज्ञात हो ऐसा... अरे रे! वह एक दया, दान और व्रत के परिणाम में भिखारी की भाँति भीख माँगता है। इसमें से मुझे लाभ होगा, इसमें से मुझे लाभ होगा। मुझे इसमें से लाभ होगा। परन्तु यहाँ कहते हैं कि ऐसा नहीं है।

ज्ञान प्रसिद्ध है, क्योंकि ज्ञानमात्र को स्वसंवेदन से सिद्धपना है... देखो! ज्ञानमात्र को स्वसंवेदन... सबको। स्वसंवेदन **(अर्थात् ज्ञान सर्व प्राणियों को स्वसंवेदनरूप अनुभव में आता है);...** ज्ञान तो सबको होता है या नहीं? ख्याल में आता है या नहीं? आहाहा! **वह प्रसिद्ध ऐसे ज्ञान के द्वारा...** वह ज्ञान—स्वसंवेदन सर्व प्राणियों को होता है, इसलिए उस प्रसिद्ध ऐसे ज्ञान द्वारा प्रसाध्यमान—जो सिद्ध करना है, ध्येय करना है, लक्ष्य करना है **तद्-अविनाभूत (-ज्ञान के साथ अविनाभावी सम्बन्धवाला)** ज्ञान से पृथक् द्रव्य नहीं है। आहाहा!

यह ज्ञान जो जानने में आता है, वह ज्ञान आत्मा से पृथक् नहीं है। तथापि... आहाहा! तो भी, **(-ज्ञान के साथ अविनाभावी सम्बन्धवाला) अनन्त धर्मों का समुदायरूप मूर्ति आत्मा है।** क्या कहा? ज्ञान प्रसिद्ध है और ज्ञान के साथ जिसका अविनाभावी सम्बन्ध है। ज्ञान के साथ द्रव्य का सम्बन्ध है। वस्तु जो भगवान आत्मा; शक्कर में भले मिठास, सफेदाई, सुगन्ध, वजन हो परन्तु उस मिठास को शक्कर के साथ अविनाभावी सम्बन्ध है। इसी प्रकार ज्ञान लक्षण से अन्तर अनन्त गुण को धरनेवाले द्रव्य आत्मा के साथ सम्बन्ध है। आहाहा! ऐसा उपदेश! घर से कोई आया न हो और पूछे कि तुम क्या सुनकर आये? तो कहे, कुछ कहते थे। प्रसिद्ध और प्रसाध्यमान, लक्षण और लक्ष्य। अरे रे! तीन लोक के नाथ ने आत्मतत्त्व को ऐसी सादी भाषा में सन्तों ने जगत को प्रसिद्ध किया है। प्रभु! तू प्रसिद्ध हो। तू तेरे नाथ को गोपनकर पड़ा है। आहाहा! गोपन करके अन्दर पड़ा है, वह अब प्रसिद्ध हो। किस प्रकार प्रसिद्ध हो? ज्ञान लक्षण से प्रसिद्ध होता है। दूसरा कोई उपाय नहीं है। आहाहा! भाषा तो सादी है। भाव जरा सूक्ष्म है। आहाहा! यह कहा, देखो!

ज्ञान प्रसिद्ध है;... प्रत्येक प्राणी को वेदन में ज्ञान तो आता है। ज्ञान—जानपना। और **ज्ञान के साथ जिनका अविनाभावी...** अर्थात् ज्ञान बिना आत्मा नहीं और आत्मा

बिना ज्ञान नहीं, ऐसा अविनाभावी सम्बन्ध है। ऐसे **अनन्त धर्मों का समुदाय...** स्वरूप आत्मा। अनन्त धर्मों का समुदाय ऐसा भगवान। वह ज्ञान द्वारा प्रसाध्यमान है। वह ज्ञान द्वारा ज्ञात होता है। ज्ञान द्वारा सिद्ध—साबित किया जाता है। प्रसाध्यमान ध्येय बनाया जाता है। ज्ञान द्वारा ध्येय बनाया जाता है। आहाहा!

वर्तमान जो पर्याय—विशेष प्रगट है, उस विशेष ज्ञान द्वारा सामान्य सिद्ध किया जाता है। यह आत्मा है, ऐसा अनुभव में आता है। आहाहा! यह सब बड़ी-बड़ी बातें करते हो परन्तु करना क्या हमारे? यह तो कहते हैं कि ज्ञान लक्षण करे क्या? ज्ञान जाने। क्या कहा?

मुमुक्षु : ज्ञान द्वारा आत्मा को पकड़ना।

पूज्य गुरुदेवश्री : और ज्ञान करे क्या? जाने। पर को भी करे नहीं और पर से कुछ ले नहीं। ज्ञान पर का कुछ करे नहीं और वह ज्ञान पर में से कुछ ले नहीं। क्योंकि वह ज्ञान अपना लक्षण है। आहाहा! ऐसी बात।

(अनन्त धर्मों का समुदायस्वरूप आत्मा उस ज्ञान के द्वारा प्रसाध्यमान है।) अर्थात् प्रगट किया जाता है। **इसलिए ज्ञानमात्र में अचलितपने से स्थापित दृष्टि के द्वारा,...** आहाहा! ज्ञानमात्र। राग, पुण्य आदि नहीं। उस **ज्ञानमात्र में अचलितपने से...** उस ज्ञानमात्र में अचलितरूप से—चलित न हो ऐसी **स्थापित दृष्टि के द्वारा, क्रमरूप और अक्रमरूप...** अब आया। यह क्रमरूप विकार नहीं। इसमें क्रम में विकार नहीं। क्योंकि यहाँ शक्ति का वर्णन लेना है तो क्रम में भी निर्मल पर्याय और अक्रम में भी निर्मल गुण। आहाहा! व्याख्यान तो हो गये हैं अठारह बार। यह तो उन्नीसवीं बार चलता है। शक्ति का तो बीसवीं बार चलेगा। पूरा शास्त्र उन्नीसवीं बार। क्या कहा?

क्रम और अक्रम। क्या कहते हैं? क्रम अर्थात् पर्याय। ज्ञान की उत्पाद-व्यय की पर्याय और अनन्त गुण की। एक समय में अनन्त गुण की क्रम पर्याय हुए बिना अकेला सामान्य कभी होता ही नहीं। आहाहा! यह क्रमरूप। आत्मा में जो अनन्त गुण हैं, उनकी जो पर्याय—अवस्था है, वह एक के बाद एक, एक के बाद एक निर्मल होती है। उसे क्रम कहते हैं। क्रमसर एक के बाद एक। आहाहा! यह क्रमरूप और अक्रमरूप वह गुण। क्रमरूप पर्याय है, अक्रमरूप गुण है। आहाहा!

क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवर्तमान, (वर्तते हुए) तद्-अविनाभूत (-ज्ञान के साथ अविनाभावी सम्बन्धवाला)... ज्ञान के साथ उस द्रव्य का अविनाभावी सम्बन्ध है। आहाहा! जहाँ ज्ञान प्रगट होता है, वहाँ साथ में अनन्त गुण पर्याय में प्रगट होते हैं। क्योंकि ज्ञान और अनन्त गुण अन्दर एकसाथ इकट्ठे हैं। ज्ञान का भान होता है तो अनन्त गुण की पर्याय ज्ञान के साथ उत्पन्न होती है। आहाहा! **(अविनाभावी सम्बन्धवाला) अनन्त धर्मसमूह जो कुछ जितना...** अनन्त गुणसमूह **जो कुछ जितना लक्षित होता है, वह सब वास्तव में एक आत्मा है।** क्या कहा?

प्रसिद्ध जो संवेदन में आनेवाला ज्ञान, उस ज्ञान लक्षण से लक्ष्य में आता है, वह सब पूर्ण जो कुछ अनन्त गुण का पिण्ड लक्ष्य में आता है, वह अनुभव में, दृष्टि में आता है। आहाहा! एक घण्टे में ऐसी बातें। प्रत्येक सूक्ष्म बातें। बापू! मार्ग... मौके से यह वस्तु ही आयी है। अन्त में परिशिष्ट नाम है न? परिशिष्ट है। परिशिष्ट अर्थात् कहा हुआ कहना और नहीं कहा हुआ भी कहना और थोड़े में सब कहना, इसका नाम परिशिष्ट। आहाहा!

शिष्य का प्रश्न था कि लक्षण और लक्ष्य ऐसे दो भाग तो आपने किये। दो भाग नहीं, प्रभु! ज्ञान लक्षण के साथ द्रव्य को अविनाभावी सम्बन्ध है। जहाँ द्रव्य है, वहाँ ज्ञान है, जहाँ ज्ञान है, वहाँ द्रव्य—वस्तु है। द्रव्य अर्थात् वस्तु आत्मा। आहाहा! **अनन्त धर्मसमूह जो कुछ...** जितने अनन्त-अनन्त गुण का समूह, **जितना लक्षित होता है,...** ज्ञान में। पर्याय में अनन्त गुण लक्षित होते हैं। आहाहा! एक समय की पर्याय में सब अनन्त गुण लक्षित होते हैं। आहाहा! धीरे से तो कहा जाता है, भाई! परन्तु अब जो बात सन्तों ने दिगम्बर मुनियों ने करुणा करके... आहाहा! ऐसी बात जगत को प्रसिद्ध की है, वह जगत के हित के लिये है, जगत के हित के लिये है। बाकी दुनिया थोथा... थोथा है। आहाहा! वह पारसी ऐसा बोल गया, लो! नरम व्यक्ति है। दो बार—गत वर्ष भी आया था और इस वर्ष भी आया। एक पाई नहीं ली। अरे! गुरुदेव का लिया जाये? परन्तु इतनी प्रार्थना करता हूँ कि दुःखी-दुःखी होकर नहीं मरूँ, यह आशीष दो। बस! तड़पकर अर्थात् दुःखी हो-होकर। आहाहा! पीड़ा भोगकर लो, यह भाषा है। पीड़ा भोग-भोगकर न मरूँ। आहाहा! ऐसा बेचारा। अवस्था हो गयी थी।

आज एक बहिन आयी है न? छोटाभाई रायचन्द की सासु। सौ वर्ष की उम्र। अभी अन्दर आयी थी। छोटाभाई रायचन्द। नवीना बा है। सौ वर्ष की उम्र, सौ। जीर्ण हो गया। यह देह की स्थिति है। देह की स्थिति छूट जायेगी, भगवान तो अनादि-अनन्त है। आहाहा! यह भव छोड़कर दूसरे भव में कहीं अवतरित होगा, प्रभु! दुनिया की सिफारिश... सिफारिश को क्या कहते हैं? सिफारिश कुछ काम नहीं आयेगी। डॉक्टर की दवा काम नहीं आयेगी, डॉक्टर काम नहीं आयेगा। लाख डॉक्टर उतारो, ऊपर से इन्द्र उतारो तो कुछ नहीं कर सकता। आहाहा! इस दु:ख से मुक्त होने का उपाय हो तो यह एक है। आहाहा! क्या?

ज्ञान जो लक्षण है, उसके द्वारा द्रव्य को पकड़ना, ध्रुव। लक्षण द्वारा लक्ष्य को पकड़ना। उसमें अतीन्द्रिय आनन्द आता है और अनन्त गुण की पर्यायें प्रगट होती हैं, इसका नाम धर्म कहा जाता है। यह धर्म जन्म-मरणरहित होने का उपाय है। आहाहा! यह सब भी पूरे दिन भाषण करना और प्रोफेसर बड़े पाँच-पाँच हजार के वेतनदार। लाख-लाख लोगों के बीच भाषण (करे)। ऊँचा ऐसा... क्या कहलाता है? मंच... मंच बाँधे, ऊपर बैठे, ऐसे। अरे! प्रभु! कोई शरण नहीं है। यह सब चीज़ जड़ की है। प्रभु ! तेरा नाथ अन्तर के ज्ञान स्वभाव... यह (बाहर का) ज्ञान नहीं। यह प्रेसिडेन्ट...

मैंने कहा था न? (संवत्) १९६३ के वर्ष। वडोदरा में हमारा अफीम का केस चलता था। एकदम झूठ। तब एक महीने के तीन हजार का वेतन। आहाहा! उस दिन और अभी तीस गुणा अन्तर। परन्तु ऐसा शान्त मनुष्य। कोर्ट में जहाँ हम अन्दर गये, यह कौन? यह अफीम के चोर? अफीम की डली ली न... कौन कहता है यह? बाहर खड़े रहो। क्या कहलाता है लकड़ी का। कठघरा। कठघरे में नहीं। ऐसे लोग। और उसका कारकून था वह ऐसा व्यक्ति। वह अन्दर लकड़ी में, हों! वह अन्दर रहा, क्योंकि कोई आकर विरोध न करे। आहाहा! परन्तु वह चीज़ दूसरी, यह चीज़ दूसरी। आहाहा!

यहाँ तो भगवान ऐसा कहते हैं, प्रभु! तू एक बार सब छोड़कर एक बार लक्ष्य में ले कि यह जो जानन—जो ज्ञान लक्षण है, वह पर का ज्ञान नहीं। अपना ज्ञान इस लक्षण से आत्मा लक्ष्य में आता है। वह द्रव्य का लक्ष्य, दृष्टि हुई। ज्ञान अपने ध्रुव की दृष्टि में गया

तो द्रव्यदृष्टि हुई, धर्म—समकित हुआ। उसमें अनन्त गुण की पर्याय का वेदन (हुआ)। आहाहा! वह धर्म। वीतराग जैनदर्शन अलंघ्य शासन, जिस शासन को कोई तोड़ नहीं सकता, यह अपने पहले आ गया है। आहाहा! वह यह चीज़ है। आहाहा!

वह सब वास्तव में एक आत्मा है। आया न? क्या? ज्ञान लक्षण और आत्मद्रव्य लक्ष्य, दोनों आत्मा ही है। आत्मा से कोई भिन्न चीज़ नहीं है। आहाहा! है? **वह सब वास्तव में एक आत्मा है।** एक आत्मा है। ज्ञान लक्षण और उससे लक्ष्य हुआ, वह दो नहीं है। वह एक ही है आत्मा है। आहाहा! क्या टीका! दिगम्बर सन्तों की करुणा... ऐसी बात जगत के पास प्रसिद्ध करने का विकल्प उठा, परन्तु जाना कि यह विकल्प दुःखरूप है। प्रभु! मुझे हित नहीं है। आहाहा! परन्तु कमजोरी से मन में इसकी टीका करूँ, इसकी टीका करूँ... नियमसार में आता है न? भाई! नियमसार में पद्मप्रभमलधारिदेव (कहते हैं) इस शास्त्र की टीका तो गणधर से चली आयी है। मैं पामर करनेवाला कौन? परन्तु मुझे ऐसा विकल्प रहा करता है कि इसकी टीका हो, इसकी टीका हो—ऐसा विकल्प रहा करता है तो यह टीका बन जाती है। मैं टीका का करनेवाला नहीं। आहाहा! ज्ञान लक्षण है, वह क्या पर का करे? ज्ञान लक्षण है, वह तो स्व का लक्ष्य करे। आहाहा! पर का लक्ष्य करे, वह ज्ञान लक्षण ही नहीं है। आहाहा!

इसी कारण से यहाँ आत्मा का ज्ञानमात्रता से व्यपदेश है। है? इस कारण से। इस कारण से अर्थात्? कि ज्ञान और आत्मा दोनों अभेद हैं। भले लक्षण और लक्ष्य ऐसे दो भेद डालकर समझाते हैं, तथापि वस्तु एक ही है। **इसी कारण से यहाँ आत्मा का ज्ञानमात्रता से व्यपदेश है।** विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४८१, परिशिष्ट सोमवार, भाद्र कृष्ण १३
दिनांक - ०६-१०-१९८०

समयसार, प्रश्न। सेठ! अन्तिम प्रश्न है। प्रश्न क्यों उठा? कि आचार्य महाराज ने ऐसा कहा कि यह आत्मा ज्ञानमात्र है, तो कहते हैं कि ज्ञानमात्र कहने से तो अनेकान्त नहीं आया, उसमें अनन्त धर्म नहीं आये। ज्ञानमात्र कहने से अनन्त धर्म तो आये नहीं। तो कहते हैं, ज्ञानमात्र कहने से अविनाभावीरूप से अनन्त धर्म आ गये। जहाँ ज्ञान है, वहाँ आनन्दादि हैं। अनन्त धर्म अविनाभावीरूप से आ गये। अनन्त धर्म बिना ज्ञान नहीं और ज्ञान बिना अनन्त धर्म नहीं। धर्म अर्थात् स्वभाव। आहाहा! इस कारण से ज्ञानमात्र कहने से भी उसमें अनन्त धर्म आ गये। अकेला ज्ञानमात्र है, ऐसा नहीं है। तब प्रश्न उठा।

जिसमें क्रम... जिसमें अर्थात्? ज्ञानमात्र अनुभव करने से, जानन... जानन... जानन... जानन... जाननक्रिया का अनुभव करने से। जिसमें अर्थात् वह अनुभव करने से **क्रम और अक्रम से प्रवर्तमान...** पर्याय से क्रम है। यह क्रम निर्मल लेना। मलिन पर्याय का क्रम यहाँ नहीं। यहाँ शक्ति का वर्णन है। अनन्त निर्मल पर्यायें क्रमसर होती हैं। वह और अक्रम अनन्त गुण। क्रमसर होनेवाली पर्याय और अक्रम से रहनेवाले गुण। इन **क्रम और अक्रम से प्रवर्तमान अनन्त धर्म हैं, ऐसे आत्मा के ज्ञानमात्रता किस प्रकार है?** प्रश्न समझ में आया?

आत्मा में अनन्त निर्मल पर्याय का क्रम है। क्रमसर निर्मल पर्याय उत्पन्न होती है और निर्मल अक्रम गुण एक साथ अनन्त हैं। ऐसा होने पर भी ज्ञानमात्र आत्मा आप किस प्रकार कहते हो? आहाहा! समझ में आया? यह बहुत सूक्ष्म बात, भाई! यहाँ तो ज्ञाता-दृष्टा सिद्ध करना है। यह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। नहीं राग, नहीं पुण्य, नहीं दया आदि कुछ नहीं। आहाहा! जो ज्ञाता-दृष्टा है परन्तु ज्ञान और दर्शन अकेले है नहीं। उस ज्ञान और दर्शन के साथ अनन्त धर्म साथ में हैं। अनन्त धर्म अर्थात् गुण। अनन्त गुण बिना ज्ञान नहीं और ज्ञान बिना अनन्त गुण नहीं। समझ में आया? आहाहा! यहाँ तो शुभ-अशुभभाव की तो बात ही नहीं। क्योंकि वह आत्मा में है ही नहीं, वह आत्मा की चीज़ ही नहीं। आहाहा!

आत्मा ज्ञानमात्र कहने से अनन्त गुण और अनन्त क्रमसर पर्याय, ज्ञानमात्र कहने से किस प्रकार आ जाते हैं? ऐसा प्रश्न है। है न? **जिसमें क्रम और अक्रम से प्रवर्तमान...** देखा? प्रवर्तमान। क्रम-क्रम से अनन्त पर्याय क्रमसर होती है और अनन्त गुण अक्रम से **प्रवर्तमान अनन्त धर्म हैं...** गुण। आहाहा! यहाँ तो भाई! क्रम और अक्रम दोनों को धर्म कहा है। धर्म—धार रखा हुआ। भगवान आत्मा ने अनन्त गुण धार रखे हैं। ऐसे अनन्त गुण की अनन्त पर्याय भी धार रखी है। धार रखी है। धार रखी है, समझते हो? वह धर्म। इसलिए उसे धर्म कहते हैं। आहाहा!

जिसमें... आहाहा! ज्ञानमात्र भाव में **क्रम और अक्रम से प्रवर्तमान अनन्त धर्म हैं, ऐसे आत्मा के...** ऐसे अनन्त धर्म तो हैं, अनन्त गुण हैं, अनन्त पर्याय हैं, **ऐसे आत्मा के ज्ञानमात्रता किस प्रकार है?** पहले प्रश्न समझ में आया? आहाहा! ऐसा धर्म। ज्ञाता-दृष्टा वस्तु है। वह तो जानन-देखने की क्रिया का कर्ता है। दूसरे राग, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, का इन किसी चीज़ को स्पर्श नहीं करता। आहाहा!

यहाँ तो ज्ञानमात्र आत्मा है, ऐसा जब आचार्य ने कहा तो शिष्य कहता है कि प्रभु! अकेला ज्ञानमात्र नहीं है। उसमें अनन्त निर्मल पर्याय भी क्रमसर उत्पन्न होती है और अनन्त अक्रम गुण भी साथ में है। ऐसे अनन्त धर्म तो है, तो उसे ज्ञानमात्र किस प्रकार कहा? समझ में आया? आहाहा! ऐसा धर्म। अन्तर चीज़ की... यह तो जैनधर्म का मूल है। मूलिया है मूल। यह मूल समझे बिना सब थोथा है। आहाहा! इस प्रश्न का रूप समझे? प्रश्न... प्रश्न।

यह भगवान आत्मा... यह देह तो जड़ मिट्टी-धूल है। अन्दर दया, दान, काम, क्रोध के परिणाम होते हैं, वे दुःखरूप हैं। आहाहा! अरे रे! कभी सुना नहीं। करने का अवसर आया तो किसी में अटककर चला गया। ओहोहो! एक सेठिया था, कहा न। गाँव का सेठिया। गाँव के काम पड़े, वहाँ जाता था। जाये वहाँ काम का निपटारा कर दे। उसका वचन तोड़े नहीं, मुसलमान भी तोड़े नहीं। मुसलमान में भी, दामनगर... दामनगर। यहाँ जबुभाई रहते थे, उनके पिता खुशालभाई थे। एक आँख नहीं थी, एक आँख थी। परन्तु जहाँ-जहाँ जाये, वहाँ विवाद मिटा दे। उनका वचन कोई मुसलमान आदि भी तोड़े नहीं।

वह मरण के समय सेठिया देखने आये। दामोदर सेठ गाँव में गृहस्थ व्यक्ति, सब देखने आये, आँख में आँसू बहते जाते हैं। अरे रे! मैं गाँव की पंचायत में पड़ा, मैं गाँव की पंचायत की। मैंने मेरा कुछ नहीं किया। अरे! मेरा क्या होगा ? आँख में से आँसू... मरते हुए रोवे। आहाहा! मैंने मेरा कुछ नहीं किया और मैं गाँव की पंचायत... पंचायत कहते हैं न ? उस सब बात में पड़कर सबका समाधान किया। आहाहा! सेठ! यह बनी हुई बात है। दामनगर में चौमासा किया था। जबुभाई वहाँ रहते थे, उनके पिता। सेठ होशियार, बुद्धिवाला परन्तु लौकिक। लौकिक में होशियार। कोई भी गाँव का झंझट हो, मुसलमान लोटिया, व्होरा (हो) परन्तु उनकी जाति का कोई विवाद हो परन्तु खुशालभाई जाकर खड़े हों, वे कहें, फिर निपटारा कर दे। पूरे गाँव की पंचायत निपटारा कर दे। वह भाई मरते हुए... आहाहा! अरे रे! मैंने मेरा कुछ नहीं किया। अरे रे! जिन्दगी ऐसी की ऐसी चली गयी। अकस्मात् ऐसा रोग आया कि अब देह छूट जायेगी और मैंने पंचायत के कारण कुछ नहीं किया। करने का क्या ? कि मैं ज्ञायकस्वरूप हूँ। यह ज्ञायक जाननक्रिया, इसमें अनन्त धर्म की पर्याय भी आती है और यह जाननक्रिया अनन्त धर्मों को भी जानती है। आहाहा! ऐसा करना है, वह किया नहीं। यह सुनना चाहिए, वह सुना नहीं। आहाहा! है ?

(उत्तर–) अब इसका उत्तर देते हैं। आहाहा! **परस्पर भिन्न...** आत्मा में ज्ञान, दर्शन, आनन्द, अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, ऐसे अनन्त गुण हैं, अनन्त गुण हैं परन्तु **परस्पर भिन्न...** प्रत्येक गुण परस्पर भिन्न है। कोई गुण दूसरे गुण में एकमेक नहीं हो जाता। आहाहा! **परस्पर...** परस्पर एक-दूसरे **भिन्न ऐसे अनन्त धर्मों के...** ऐसे अनन्त धर्म अर्थात् गुण और पर्याय। धर्म अर्थात् अनन्त गुण और अनन्त पर्याय। उसके **समुदायरूप...** अनन्त धर्मों के एकरूप से **परिणत...** पर्याय ली है। आहाहा! मैं ज्ञानमात्र लक्षण से लक्षित हूँ, ऐसी जहाँ दृष्टि हुई तो ज्ञानमात्र की पर्याय से जहाँ लक्ष्य हुआ, वहाँ अनन्त धर्म की परिणति ज्ञान की पर्याय के साथ आ गयी। आहाहा! ऐसी पुस्तकें तो अभी लाखों बाहर आ गयी हैं। तीस लाख पुस्तकें तो यहाँ से प्रकाशित हुई हैं। अरे! उसकी एक-एक लाईन, एक-एक पंक्ति अमृत की धारा बहती है।

त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि सन्तों ने शब्दों में करुणा करके रचना की। आहाहा! यह कहते हैं कि, तूने कहा कि ज्ञानमात्र हम कहते हैं तो ज्ञानमात्र में अनन्त गुण

और अनन्त पर्याय कहाँ से आयी ? वस्तु तो ज्ञानमात्र के साथ अनन्त गुण और अनन्त निर्मल पर्याय है। तो कहते हैं कि **परस्पर भिन्न ऐसे अनन्त धर्मों के...** अर्थात् गुण और पर्याय के **समुदायरूप से परिणत...** आहाहा! आत्मा में जितने गुण हैं, अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... वह ज्ञानमात्र आत्मा जहाँ जानने में आया, वहाँ **अनन्त धर्मों के समुदायरूप से परिणत...** अनन्त गुण की पर्याय में दशा हुई।

एक ज्ञप्तिमात्र भावरूप... आहाहा! उसमें जाननशक्ति की पर्याय, जानन की पर्याय **परिणत एक ज्ञप्तिमात्र...** जानन पर्याय में भावरूप **भावरूप से स्वयं ही है,...** अनन्त भिन्न-भिन्न धर्मों में परिणत ज्ञान की एक ज्ञप्तिक्रिया भावरूप स्वयं ही है। आहाहा! ऐसा कभी पढ़ा भी नहीं होगा। आहाहा! यह तो वीतराग त्रिलोकनाथ सीमन्धर भगवान की दिव्यध्वनि! आहाहा!

शिष्य को उत्तर देते हैं, प्रभु! सुन! अनन्त गुण है तो प्रत्येक गुण भिन्न-भिन्न है। भिन्न-भिन्न होने पर भी समुदाय है और उनकी अनन्त क्रमसर निर्मल आनन्द और वीतरागी पर्याय होती है, वे सभी पर्यायें और सभी गुण, उन सबके समुदायरूप **एक ज्ञप्तिमात्र भाव...** जानने की ज्ञप्ति पर्याय में, एक जानने की पर्याय में सभी पर्याय का ज्ञान आया और सभी गुण का भी ज्ञान आ गया। है या नहीं अन्दर ? देखो न! अरे रे! मूल बात को कभी स्पर्शा नहीं, किया नहीं। जिन्दगी चली जाती है। दुनिया क्या करती है, यह दुनिया की आलोचना करके क्या काम है ? प्रभु! अब तेरी बात करते है न! आहाहा! एक-एक पंक्ति में कितना भरा है!

अनन्त गुण है परन्तु भिन्न-भिन्न शक्ति है। एक गुण दूसरे गुणरूप नहीं होता। भले अनन्त गुण का एक-एक गुण में रूप हो, तथापि समुदायरूप से एक है, पूरे पिण्डरूप से एक है और उसके जो अनन्त गुण हैं, उनकी ज्ञप्ति ज्ञानलक्षण से चैतन्य का लक्ष्य किया, ध्येय बनाया, वहाँ ज्ञप्ति—जाननक्रिया जो पर्याय उत्पन्न हुई, उसमें सभी गुण की और पर्याय की परिणति साथ में उत्पन्न हुई है। समझ में आया ? आहाहा! यह तो अभी एक-एक लाईन... आहाहा! बहियाँ फिरा-फिरा कर कितना फिराया होगा ? सेठ! परन्तु यह समयसार फिराया एक पृष्ठ, एक लाईन, एक पंक्ति... आहाहा! एक-एक पंक्ति में बारह अंग भर दिये! आहाहा!

प्रभु! तुझे करना हो तो यह है। भले हमने ज्ञानमात्र कहा, प्रभु चैतन्य प्रज्ञाब्रह्म। प्रज्ञाब्रह्म चैतन्य, ऐसा हमने कहा, तथापि उसमें अनन्त धर्म है, अनन्त गुण है, वे साथ में आ जाते हैं और अनन्त गुण की पर्याय जब द्रव्य की दृष्टि–ज्ञान से हुई तो ज्ञान की पर्याय में भी अनन्त गुण की पर्याय एकसाथ क्रमसर उत्पन्न होती है। आहाहा! है या नहीं ब्रह्मचारीजी? ऐसी बात है परन्तु क्या हो? फिर लोग ऐसा कहे, एकान्त है... एकान्त है। बापू! यह एकान्त ही है।

श्रीमद् कहते हैं, श्रीमद् की एक लाईन, एक लाईन है, ***अनेकान्त भी सम्यक् एकान्त ऐसे निजपद की प्राप्ति सिवाय अन्य हेतु से उपकारी नहीं है।*** भले अनन्त गुण और अनन्त पर्यायें हैं परन्तु सम्यक् एकान्त; सम्यक् एकान्त अर्थात् ज्ञायकस्वभाव की ओर झुकना, वह नय है, सम्यक् एकान्त नय है। उस सम्यक् एकान्त नय की जो परिणति हुई, ज्ञान की क्रिया (हुई), परिणति जो ज्ञान की क्रिया हुई, उसमें अनन्त धर्म जो गुण हैं, अनन्त पर्याय हैं, वे इस पर्याय में आ जाती है। धर्म का ज्ञान और पर्याय का ज्ञान, इस ज्ञप्तिक्रिया में सबका ज्ञान आ जाता है। आहाहा! यह कथा नहीं, प्रभु! कि एक राजा था और रानी थी। रानी कुपित हुई और राजा मनाने गया। घर में हो इसलिए ऐसी बातें सुने। राजा को ऐसे मारा था और उसको ऐसे मारा। अरे! प्रभु! सुन तो सही। आहाहा!

मुमुक्षु : चेतन राजा की कथा...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह चेतन राजा की कथा है। आहाहा! ठीक आये हैं। टाईमसर आये हैं। आहाहा!

शिष्य का प्रश्न है, उसका उत्तर दिया। शिष्य का प्रश्न था कि आप ज्ञानमात्र कहते हो तो हम तो जानते हैं कि अनन्त गुण है और ज्ञान की पर्याय के साथ अनन्त गुण की क्रमसर पर्याय भी उत्पन्न होती है तो आप ज्ञानमात्र कैसे कहते हो? सुन प्रभु! हम ज्ञानमात्र कहते हैं, वह ज्ञान की क्रिया जब उत्पन्न हुई तो उस ज्ञान में अनन्त गुण का भी ज्ञान हुआ और अनन्त पर्याय जो क्रमसर उत्पन्न हुई तो साथ में अनन्त पर्याय है। अनन्त धर्म साथ में है, ऐसी अनन्त पर्याय एक समय में साथ में है। शिवलालभाई! ऐसी बातें हैं। आहाहा! पर्याय बिना का अकेला सामान्य कभी नहीं हो सकता। यह कहते हैं, देखो!

समुदायरूप से परिणत एक ज्ञप्तिमात्र भाव... जानन... जानन... जानन... जानन... जानन की पर्याय जो प्रगट पर्याय, उस पर्याय का लक्ष्य द्रव्य पर होने से अनन्त गुण का भी ज्ञान हुआ और अनन्त गुण की पर्याय भी साथ में परिणत हुई। **भावरूप से स्वयं ही है,...** क्या कहते हैं? यह अनन्त धर्म—गुण और अनन्त पर्याय, यह ज्ञप्तिक्रिया वह स्वयं ही है। उसे किसी की अपेक्षा नहीं है। आहाहा! **स्वयं ही है,...** ऐसा लिया है। है? यह क्या कहा?

जो जानन लक्षण है... राग, पुण्य, दया, दान वह कुछ नहीं। अन्दर जो जाननक्रिया है, वह जाननक्रिया द्रव्य का लक्ष्य करती है, जब त्रिकाली को ज्ञान पकड़ता है, तब उस ज्ञान में अनन्त धर्म भी ज्ञान जानता है और अनन्त धर्म की अर्थात् गुण की क्रमसर पर्याय होती है, उस ज्ञान की पर्याय के साथ, ज्ञप्तिक्रिया के साथ अनन्त गुण की पर्याय भी साथ में स्वयं ही है। है? **ज्ञप्तिमात्र भावरूप से स्वयं ही है,...** आहाहा! ऐसा मार्ग। अनन्त काल व्यतीत हुआ परन्तु यह चीज़ क्या है? सामान्य और विशेष। विशेष आया न? परिणत अर्थात् विशेष। **समुदायरूप से परिणत...** आहाहा!

अव्यक्त में आया है न? भाई! चैतन्यसामान्य की सर्व व्यक्तियाँ अन्दर है, इसलिए अव्यक्त है। अव्यक्त है, उसका ज्ञान हुआ न? भाई! अव्यक्त है न? तो अव्यक्त का ज्ञान हुआ न? वह पर्याय हुई। आहाहा! सामान्यरूप त्रिकाली वस्तु, वह यहाँ कहते हैं कि त्रिकाली सामान्य धर्म अनन्त हैं और उनकी अनन्त धर्म की परिणति एक समय में साथ में है। आहाहा! ऐसी बात।

एक ज्ञप्तिमात्र भाव... आहाहा! भले एक जाननमात्र। वह जाननमात्र होने पर भी अनन्त गुण और अनन्त पर्याय का ज्ञान उसमें ज्ञप्तिरूप से—जाननरूप से आ जाता है। आहाहा! कहो! ऐसी बात है। सूक्ष्म पड़े। अन्दर मार्ग ऐसा है। शिष्य का प्रश्न है। शिष्य ने भी इतना तो पकड़ लिया। सुनकर इतना तो पकड़ लिया, ऐसा का ऐसा निकाल नहीं दिया। आहाहा! सुनकर इतना पकड़ा कि प्रभु! आप तो ज्ञानमात्र की क्रिया पर वजन देते हो और आत्मा तो अनन्त गुण का पिण्ड है और अनन्त गुण की परिणति भी पर्याय में है, तो ज्ञप्ति—अकेली ज्ञानमात्र क्रिया पर वजन क्यों देते हो?

कहते हैं, प्रभु! सुन! इस ज्ञानमात्र क्रिया में जो अनन्त सामान्य धर्म हैं, उनका भी ज्ञान आता है और जो ज्ञप्तिक्रिया में अनन्त परिणति, अनन्त गुण की पर्याय क्रमसर साथ में हुई, वह भी ज्ञप्तिक्रिया में साथ परिणत हुई है। आहाहा! भगवान की वाणी की गम्भीरता का पार नहीं होता। आहाहा! एक-एक कड़ी और एक-एक वाणी... बाहर में तो देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा अपने को है, अब व्रत, नियम और तप करो। अरे प्रभु! जन्म-मरण का नाश नहीं होगा, नाथ! यह चौरासी के अवतार... आहाहा! यह जन्म-मरण कर-करके कौवे के, कुत्ते के, सूकर के, नरक के, कंथवा के, लट के... आहाहा!

भाई! एक बार देखा था। डोरे जैसा कीड़ा होता है। डोरा होता है न? सूत का डोरा। इतना लम्बा कीड़ा। ईयल समझे? कीड़ा। डोरे जैसी पतली लम्बा ऐसी एक हाथ लम्बा। उसमें थोड़े भाग में उसके ऊपर पत्थर गिरा। आहाहा! अब वह उसमें से निकल नहीं सकता। बहुत ऐसा करे। ईयल होती है, कीड़ा। डोरा जैसी, सूत का डोरा होता है न? डोरा कहते हैं न? धागा। पतला डोरा। ऐसी पतली लम्बा ईयल-कीड़ा होता है। हाथ-हाथ, डेढ़-डेढ़ हाथ की लम्बा। आहाहा! छोटी-छोटी तो बहुत देखते हैं। उसमें कोई पत्थर ऊपर पड़ा। अब! आठ-दस अंगुल तो पकड़ा गया, दूसरा शरीर पृथक् रहा। निकलना किस प्रकार? शक्ति कहाँ? ऐसा पाँच सेर पत्थर ऊपर पड़ा हो। आहाहा! वहाँ की वहाँ सूखकर मर जाये। आहाहा! प्रभु! इस दुःख को जहाँ याद (करे), इस दुःख का यथार्थपने का स्मरण करने से... आहाहा! कहीं इसकी नजरें दुःख... चीज़ पर पड़ती है। दुःख की जहाँ विचारणा चलती है... आहाहा! ऐसे दुःख! उस दुःख की विचारणा में दृष्टि द्रव्य पर पड़ती है। आहाहा! और रास्ते में तो देखते हैं न, रास्ता में कुत्ते मर गये हों, बिल्ली, नोल, कोल, रास्ते में कुचल जाये, कुचल जाये। आहाहा! प्रभु! यह दुःख तूने भोगें हैं। आहाहा! इन दुःखों को याद करते... कहते हैं न? वादिराज।

वादीराज मुनि को शरीर में कोढ था। भगवान की स्तुति करते-करते (कहते हैं), प्रभु! भूतकाल में मैंने दुःख भोगे, उन्हें मैं स्मरण—याद करता हूँ तो अन्दर में चोट लगती है। आहाहा! ऐसे दुःख किस प्रकार भोगे? उन दुःखों को मिटाने की यह चीज़ है।

जिस ज्ञान की पर्याय ज्ञायक त्रिकाली पर दृष्टि पड़ने से जितने धर्म अर्थात् गुण हैं,

उन सब गुणों की पर्याय—परिणति अन्दर ज्ञान की पर्याय के साथ सब गुण की पर्याय, अनन्त-अनन्त पर्याय, अनन्त गुणों का भी ज्ञान और अनन्त गुणों की पर्याय प्रगट साथ में परिणमन (होता है)। आहाहा! ऐसे भावरूप से **एक ज्ञप्तिमात्र भावरूप से...** भाषा कैसी है? इन सबका परिणमन भी एकरूप, ऐसा लिया; अनन्तरूप नहीं। आहाहा! क्या कहा, समझ में आया? ज्ञप्तिक्रिया भी एकरूप, भेद नहीं। ज्ञप्तिक्रिया में अनन्त गुण का परिणमन साथ में है, भेद नहीं। **एक ज्ञप्तिमात्र भावरूप से स्वयं ही है,...** आहाहा! ऐसी बात सुनी नहीं, प्रभु! आहाहा! और निश्चय की सत्य बात जहाँ आवे, वहाँ यह तो सब निश्चय... निश्चय... निश्चय है। हमें कैसे करना, यह बात तो (करते नहीं)। प्रभु! आहाहा!

बड़ी टीका (आलोचना) आयी है। वह एक विद्यासागर है न? उन्होंने समयसार का अर्थ किया। जहाँ-जहाँ ज्ञानी आवे, वहाँ-वहाँ मुनि ले लिया है। अप्रतिबुद्ध अज्ञानी भी आया न? अज्ञानी को समझाने के लिये ज्ञान लक्षण से लक्षित आपने कैसे कहा? प्रसिद्ध तो ज्ञान है, तथापि यह कैसे कहा? प्रसिद्ध है परन्तु अज्ञानी को प्रसिद्ध नहीं। ज्ञान की प्रसिद्धि अज्ञानी को नहीं है। इसलिए ज्ञान लक्षण से आत्मा लक्षित कराया है। यह बात डाली है। अजमेर का कोई सुजानमल है, उसने विद्यासागर की भूल निकाली है। साधु जवान, क्रिया करते हैं, नग्न मुनि जंगल में रहे और बाहर बैठे वहाँ लोग दो-दो हजार, पाँच-पाँच हजार इकट्ठे हों और ओहो... ओहो! अरे प्रभु!

मुमुक्षु : यह सब बाहर की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सब बाहर की बातें, प्रभु! आहाहा!

यह अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु, इस ज्ञान लक्षण से लक्षित किया तो इस ज्ञान लक्षण से जहाँ द्रव्य की पकड़ की तो ज्ञान की पर्याय में अनन्त गुण का भी ज्ञान हुआ और इन अनन्त गुण की पर्याय का परिणमन ज्ञप्ति—ज्ञान की पर्याय में, ज्ञप्तिक्रिया में अनन्त गुण का साथ में भेद बिना एक ज्ञप्तिमात्र भाव स्वयं ही है। आहाहा! पहली दो लाईनें। आहाहा!

प्रभु! तू अन्दर कौन है? आहाहा! कोष्ठक में **(अर्थात् परस्पर भिन्न ऐसे अनन्त धर्मों के समुदायरूप से...)** भले परस्पर भिन्न है। ज्ञान, दर्शन नहीं; दर्शन, ज्ञान नहीं—

ऐसे अनन्त (गुण) भिन्न-भिन्न हैं। **(अनन्त धर्मों के समुदायरूप से परिणमित जो एक जाननक्रिया है,...)** आहाहा! **(परिणमित जो एक जाननक्रिया है,...)** सामान्य में जितने गुण हैं, उन सब गुण की एक समय की पर्याय में जाननक्रिया में सबका परिणमन साथ में हो गया। आहाहा! इस प्रकार अन्दर में पड़े तो भेदज्ञान हुए बिना नहीं रहे। आहाहा! और भेदज्ञान बिना चाहे जितने व्रत और तप की क्रिया करे, एक भव घटेगा नहीं। मरकर कौआ, कुत्ता, सुअर होनेवाला है। आहाहा! क्या करे ? क्या कहा ?

(परस्पर भिन्न ऐसे अनन्त धर्मों के...) धर्म अर्थात् गुण और पर्याय। **(समुदायरूप से परिणमित...)** उन अनन्त गुण का परिणमन। एक समय में अनन्त पर्याय हुई। आहाहा! अनन्त गुण की एक समय में अनन्त पर्याय हुई। वह **(परिणमित जो एक जाननक्रिया है,...)** आहाहा! परन्तु इन सबका नाम एक जाननक्रिया कहा जाता है। वह जाननक्रिया अनन्त गुण की परिणति साथ में है, परन्तु जाननक्रिया में अनन्त पर्याय ज्ञेय है और स्वयं ज्ञान है, परन्तु अभेद है। आहाहा! पकड़ में आये उतना पड़कना, प्रभु!

मुमुक्षु : यह द्रव्यदृष्टि का विषय है या प्रमाण का ?

पूज्य गुरुदेवश्री : दृष्टि का विषय। यह तो ज्ञान का विषय बनाया। ज्ञान से बात करते हैं। आहाहा! करना तो मूल यह है। प्रभु का तो यहाँ विरह पड़ा। भगवान तो महाविदेह में रह गये। यहाँ केवलज्ञान उत्पन्न हो, ऐसी ताकत रही नहीं। आहाहा!

एक ज्ञानपर्याय में... लक्षण क्यों कहा ? और लक्षण से आत्मा कैसे लक्षित होता है ? कि ज्ञान लक्षण और लक्ष्य अभेद है। ज्ञान लक्षण और लक्ष्य द्रव्य अभेद है, तो उस पर दृष्टि पड़ने से ज्ञान में अनन्त धर्म—गुण और अनन्त पर्याय एक समय में एकरूप ज्ञप्तिक्रिया में सब आ जाते हैं। आहाहा! है ? **(परिणमित जो एक जाननक्रिया है, उस जाननकियामात्र...)** क्रिया अर्थात् परिणति—पर्याय।

यह तो सवेरे कहा था। एक निष्क्रिय नाम का आत्मा में गुण है, भाई! निष्क्रिय। आत्मा में वह निष्क्रिय गुण है, वह पर से भिन्न और राग से भी भिन्न, ऐसी एक निष्क्रिय नाम की शक्ति है। उसकी परिणति में—निष्क्रिय शक्ति की परिणति होती है, वह सक्रिय हो गयी, इस अपेक्षा से। आहाहा! और द्रव्य की अपेक्षा से वह सक्रिय है, राग की अपेक्षा से अक्रिय है। पर्याय, हों! आहाहा!

(जाननकियामात्र भावरूप से स्वयं ही है इसलिए) आत्मा के ज्ञानमात्रता है। इस कारण से आत्मा को ज्ञानमात्रता है। आत्मा को ज्ञानमात्र क्यों कहा? कि, ज्ञान लक्षण से जहाँ द्रव्य को पकड़ा तो उस ज्ञानमात्र में अनन्त गुण के धर्म की प्रतीति आ गयी और अनन्त गुण की क्रमसर निर्मल पर्याय, हों! राग नहीं; उस ज्ञप्तिक्रिया में निर्मल पर्याय भी साथ में आ गयी। इस कारण से... आहाहा! **इसीलिए उसके ज्ञानमात्र एकभाव की अन्त:पातिनी...** आहाहा! **इसीलिए उसके ज्ञानमात्र एकभाव की अन्त:पातिनी...** यह क्या कहते हैं? कि वह जानन जहाँ जानन (क्रिया) परिणमी, त्रिकाली को जाना... आहाहा! उस जाननक्रिया में, आहाहा! **ज्ञानमात्र एकभाव की अन्त:पातिनी...** इस ज्ञान की पर्याय में द्रव्य को पकड़कर जो ज्ञान हुआ, उस ज्ञानमात्र में एक भाव के अन्दर आ जानेवाली। क्या कहते हैं?

ज्ञानमात्र एकभाव की अन्त:पातिनी... इस ज्ञान में दूसरी सब पर्याय भी आती है। जितने गुण हैं, उसमें ज्ञानमात्र की पर्याय में सभी गुण आ जाते हैं। सभी गुण की पर्याय (आ जाती है)। आहाहा! एक-एक पंक्ति... आहाहा! पूरे बारह अंग का सार है। क्या कहा? जानन... जानन... जानन लक्षण कहा, उससे जहाँ लक्ष्य पकड़ में आया, वहाँ ज्ञान की जो सम्यक् क्रिया उत्पन्न हुई, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र आदि अनन्त गुण की पर्याय प्रगट हुई, इसमें अन्त:पातिनी। उस ज्ञान की पर्याय में अनन्त पर्याय आ जाती है। ज्ञान की पर्याय में अनन्त गुण की पर्याय अन्त:पातिनी—अन्दर में आ जाती है। आहाहा! युवकों को यह समझ में आता है? आहाहा! ऐसी बाते हैं।

मुमुक्षु : यह द्रव्य और पर्याय इकट्ठे लिये, तथापि प्रमाण नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ तो जाननक्रिया पर्याय में सब आ जाता है, इतना (कहना है)। आहाहा! इस क्रिया का ज्ञान और द्रव्य का ज्ञान, भले निर्विकल्प प्रमाण कहो परन्तु यह बात अभी नहीं है। यहाँ तो जानन... जानन... जानन, ज्ञान की पर्याय भगवान प्रज्ञाब्रह्म स्वरूप है, ज्ञान का पिण्ड भगवान और आनन्द का सागर आत्मा है, वह जहाँ ज्ञान लक्षण से लक्षित हुआ तो ज्ञान की एकरूप पर्याय में अनन्त गुण की पर्याय आ गयी। आहाहा! अनन्त गुण की पर्याय उसमें आ गयी। आहाहा!

जाननकियामात्र भावरूप से स्वयं ही है... है? **इसीलिए उसके ज्ञानमात्र एकभाव की अन्त:पातिनी...** ज्ञान की पर्याय से जहाँ आत्मा का लक्ष्य (किया), दृष्टि की, वहाँ ज्ञान की पर्याय में अन्त:पातिनी—अन्दर में अनन्त गुण की पर्याय आ जाती है। एक समय की पर्याय में, ज्ञान की पर्याय में अनन्त गुण की पर्याय अन्त:पातिनी—एक समय की ज्ञान की पर्याय में अनन्त धर्म की पर्याय आ जाती है। आहाहा! ऐसा है। तो भी लोगों का इतना भाग्य है कि सुनते हैं। नहीं तो यह बात सुनने इकट्ठे नहीं हों। क्या लगायी है यह तुमने? यह हम करते हैं उसमें कहीं बाहर का उद्धार होता है, ऐसा तो कहो। स्त्री, पुत्र और परिवार, धन्धा करें, वह पाप कुछ कम करें... आहाहा! प्रभु! वह तो कम क्या? वह तो कोई आत्मा में है ही नहीं। उसका तो भेदज्ञान कराया। ज्ञान, वह आत्मा, (ऐसा कहा) तो पर की बात से तो भेदज्ञान कराया। पूरे लोकालोक की क्रिया में ज्ञान की पर्याय से भिन्न है। परन्तु अपनी ज्ञान की क्रिया में अनन्त गुण और अनन्त गुण की पर्याय अन्त:पातिनी, एक समय की पर्याय में यह सब आता है। लोक और विकल्प वह सब नहीं आता। आहाहा! समझ में आया?

अब गुण का वर्णन करेंगे। इस शक्ति के वर्णन का यह उपोद्घात है। आत्मा में अनन्त शक्तियाँ है, उनमें से ४७ लेंगे। अनन्त कहाँ कही जा सके? आहाहा! इसका यह उपोद्घात—प्रथम शीर्षक बाँधते हैं। सैंतालीस शक्ति कहने से पहले उसका शीर्षक बाँधते हैं। आहाहा! जैसे इस वृक्ष में पहले पत्थर की पीठिका बाँधते हैं न? पश्चात वृक्ष उगता है न? उसी प्रकार यह पहले पीठिका बाँधते हैं। आहाहा! अरे रे! निज के सम्मुख कभी देखा नहीं। जहाँ लक्ष्मी पड़ी है, जहाँ महा भगवान अन्दर विराजता है, उसके सन्मुख नजर नहीं की। निधान में नजरें नहीं की और पामर की नजर में रुक गया, अटक गया। आहाहा!

(ज्ञानमात्र एक भाव के भीतर आ जानेवाली-)... अनन्त शक्तियाँ उछलती हैं। भाषा देखो! पहले अपने आ गया है। पहले (२६१ श्लोक में) आया था न? उछलती है। **उछलती हुई निर्मल...** यह क्या कहते हैं? अज्ञानी पर्याय को नहीं मानता। वह **उछलती हुई निर्मल चैतन्यपरिणति से भिन्न कुछ (आत्मतत्त्व को) चाहता है...** पर्याय बिना का आत्मतत्त्व चाहता है, वह अज्ञानी है। आहाहा! आया न? आहाहा! अन्दर

में जो अनन्त पर्यायें उछलती हैं, वह पर्याय बिना का अकेला सामान्य अज्ञानी चाहता है, परन्तु ऐसी कोई चीज़ है नहीं। आहाहा! गजब बात है।

अव्यक्त कहा न? भाई! चैतन्य सामान्य में चैतन्य की विशेष शक्तियाँ अन्तर्लीन है, इसलिए वह अव्यक्त है, परन्तु अव्यक्त का ज्ञान किया न? वह तो पर्याय में ज्ञान हुआ। आहाहा! अव्यक्त के छह बोल हैं, बहुत सूक्ष्म... बहुत सूक्ष्म... ४९ गाथा। सब व्याख्यान तो १९ बार हो गये हैं।

यहाँ यह कहते हैं कि, यह उछलती कहा न? **उछलती हुई निर्मल चैतन्यपरिणति से भिन्न कुछ चाहता है...** अज्ञानी पर्याय से कोई भिन्न द्रव्य चाहता है, परन्तु ऐसी कोई चीज़ नहीं है। यहाँ यह कहते हैं कि, अन्तर पर्याय जो है, इसमें अनन्त गुण की पर्याय परिणत होती है और ज्ञप्तिक्रिया में जो अनन्त गुण हैं, उनका भी ज्ञान आ गया। आहाहा! **इसीलिए उसके ज्ञानमात्र एकभाव की अन्त:पातिनी (–ज्ञानमात्र एक भाव के भीतर आ जानेवाली–) अनन्त शक्तियाँ उछलती हैं।** क्या कहा? भगवान आत्मा अनन्त गुण का पिण्ड, वह जहाँ ज्ञानमात्र से ज्ञात हुआ, वहाँ ज्ञान की पर्याय के साथ अनन्त शक्तियाँ उछलती हैं। अनन्त गुण की पर्याय उछलती है अर्थात् प्रगट होती है। आहाहा! यह शब्द, सेठ! पैसे के कारण... आहाहा! अकेला मक्खन है। यह किया और यह किया... निश्चय की बात में तो निश्चय में ऐसा आये बिना वास्तविक निश्चय नहीं कहलाता है। आहाहा!

कैलाशचन्दजी है न? एक बात, दो बातें रखी है, वह तो मजाक के लिये हो। पहली बात सोनगढ़वाले निमित्त को नहीं मानते, ऐसा नहीं परन्तु निमित्त से होता नहीं, ऐसा मानते हैं। यह तो बराबर है। अभी एक आया है, सोनगढ़ का मार्ग निश्चयतम है। अकेला निश्चय नहीं, निश्चयतर नहीं, निश्चयतम है। मजाक के लिये अनादर किया हो, जिसने उसका वह जाने। है तो ऐसा। निश्चयतम है।

मुमुक्षु : तम शब्द रखा इसका हेतु क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या खबर। बहुत सूक्ष्म-सूक्ष्म करे न? एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। एक द्रव्य की एक क्रिया गुण की क्रम-क्रम से होती है। आहाहा! उसमें यहाँ तो विकार भी नहीं। आहाहा! और विकार होता है, वह कर्म से नहीं। इन सबकी

मान्यता यह है (कर्म से विकार होता है)। और विकार से रहित होने की अन्दर शक्ति है। चैतन्यप्रभु, जिसे चैतन्य भगवान की दृष्टि हुई, आहाहा! उसमें विकाररहितपने का ही परिणमन हुआ। विकार से रहित का ही परिणमन हुआ। इसलिए यहाँ क्रम में निर्मल पर्याय ली है। आहाहा! कितना याद रखना? कितना नहीं, प्रभु! अन्दर भगवान भरा है। अन्दर चैतन्य प्रभु (भरपूर है)। आहाहा! यह तो हड्डियाँ, चमड़ी, मास श्मशान में राख होगा। राख-भस्म होगी। अन्दर भगवान चैतन्य अनादि सत्ता अनादि नित्य प्रभु को ज्ञान के लक्षण से लक्षित करना, यह बात चलती है। लक्षित होने से अकेला ज्ञान ही आया, ऐसा नहीं। ज्ञान में अनन्त गुण का पिण्ड द्रव्य भी आया और अनन्त गुण की पर्याय भी अन्त:पातिनी में आ गयी। आहाहा! थोड़ा न समझ में आये, उसे रात्रि में पूछना। मीठालालजी! भाषा तो सादी आती है, प्रभु! परन्तु क्या करे?

अन्त:पातिनी अनन्त शक्तियाँ उछलती हैं। क्या कहा? ज्ञान, वह आत्मा—ऐसा जहाँ निश्चय अनुभव हुआ, उस ज्ञान की पर्याय में अनन्त गुण की पर्याय साथ में उछलती है। आहाहा! कोई गुण सामान्य में रहे और विशेष न हो, ऐसा कोई गुण नहीं है। आहाहा! इसलिए कहा है न? **अनन्त शक्तियाँ उछलती हैं।** पर्याय। **(आत्मा के जितने धर्म हैं उन सबको, लक्षणभेद से भेद होने पर भी,...)** लक्षणभेद से भेद है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र (आदि)। **प्रदेशभेद नहीं है;...** यहाँ यह लेना है। **आत्मा के एक परिणाम में सभी धर्मों का परिणमन रहता है।** आत्मा के एक परिणाम में, एक परिणाम में... आहाहा! परिणामी त्रिकाली वस्तु। परिणामी परिणाम बिना नहीं होता और उस एक परिणाम में सब धर्मों का परिणमन रहता है। आहाहा! ऐसा कहाँ पकड़ना?

इसलिए आत्मा के एक ज्ञानमात्र भाव के भीतर... आत्मा के एक जानन... जानन... जानन... जानन... जानन, ऐसे जाननमात्र भाव के अन्दर अनन्त शक्तियाँ रहती हैं। उछलती का अर्थ यह—रहती है। ज्ञान की एक समय की पर्याय से जहाँ अन्दर भगवान को दृष्टि में देखा, वहाँ एक समय की पर्याय में अनन्त शक्ति की पर्याय रहती है। आहाहा! है? अनन्त शक्तियाँ रहती हैं। **एक ज्ञानमात्र भाव के भीतर अनन्त शक्तियाँ रहती हैं।** आहाहा! अनन्त शक्ति की अन्दर में एकरूप दृष्टि हुई तो ज्ञानमात्र भाव में, ज्ञानमात्र

भावस्वरूप आत्मा में। ऐसा इसका अर्थ किया। ज्ञानमात्र भाव में अर्थात्? **ज्ञानमात्र भावस्वरूप आत्मा में–अनन्त शक्तियाँ उछलती हैं।** आहाहा! एक ज्ञान की पर्याय जहाँ द्रव्य सन्मुख लक्ष्य करके (परिणमित हुई), अन्तर में चैतन्य भगवान पूर्णानन्द का नाथ, उस ज्ञान के लक्षण से लक्षित करता है तो एक समय की पर्याय में, साथ में अनन्त शक्ति की पर्यायें उछलती हैं। आहाहा! भाषा तो सादी है, प्रभु! भाव गम्भीर है। आहाहा!

ज्ञानमात्र भाव मे अर्थात् ज्ञानमात्र भावस्वरूप आत्मा में–अनन्त शक्तियाँ उछलती हैं।) उनमें से कितनी ही शक्तियाँ निम्न प्रकार हैं– सब शक्तियों का वर्णन तो नहीं हो सकता। अनन्त –अनन्त धर्म—गुण अन्दर आत्मा में है। संख्या से अनन्त-अनन्त गुण हैं तो उन अनन्त की व्याख्या नहीं की जा सकती। आहाहा! **उनमें से कितनी ही शक्तियाँ...** है न? **कितनी ही शक्तियाँ निम्न प्रकार हैं–** नीचे कहते हैं तद्नुसार है। विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४८२, शक्ति १, २, ३ मंगलवार, भाद्र कृष्ण १४
दिनांक - ०७-१०-१९८०

आत्मद्रव्यहेतुभूतचैतन्यमात्रभावधारणलक्षणा जीवत्वशक्तिः।

आत्मद्रव्य के कारणभूत ऐसे चैतन्यमात्र भाव का धारण जिसका लक्षण अर्थात् स्वरूप है, ऐसी जीवत्वशक्ति। (आत्मद्रव्य के कारणभूत ऐसे चैतन्यमात्रभावरूपी भावप्राण का धारण करना जिसका लक्षण है, ऐसी जीवत्व नामक शक्ति ज्ञानमात्र भाव में-आत्मा में उछलती है)।१।

समयसार, शक्ति का वर्णन है। सैंतालीस शक्ति है न? है तो अनन्त। यह आत्मा जो है, आत्मा, उसमें गुण कहो, शक्ति कहो, उसका स्वभाव कहो, वह अनन्त है। अनन्त शक्तियाँ कैसी हैं? और वह शक्तिवान—शक्ति के धारक की दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन होता है। आहाहा! प्रथम में प्रथम यह चीज़ है। यहाँ आया है।

आत्मद्रव्य के कारणभूत... पैराग्राफ। जरा सूक्ष्म बात है शक्ति। आत्मद्रव्य। यह आत्मा जो पदार्थ है, द्रव्य के कारणभूत। द्रव्य का कारण क्या? उसकी जो शक्ति है, गुण है, वह आत्मद्रव्य का कारण कहा गया है। बाकी गुण और द्रव्य अभेद है। यहाँ तो शक्ति का वर्णन है, गुण का वर्णन है। आत्मद्रव्य। आहाहा! उसके कारणभूत। आत्मद्रव्य के कारणरूप। **ऐसे चैतन्यमात्र भाव का धारण...** आहाहा!

मुमुक्षु : आत्मद्रव्य वह कार्य है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह यहाँ अभेद कहा, पहले कहा न? बात ली है कारण (रूप से) परन्तु है तो अभेद। पहले कहा था।

यहाँ तो त्रिकाल वस्तु है, उसमें यह शक्ति है, वह भी त्रिकाल है। शक्ति और द्रव्य कोई भिन्न नहीं परन्तु द्रव्य में शक्ति है, वह शक्ति द्रव्य का कारण कही गयी है। क्योंकि शक्ति से ही द्रव्य है। पर्याय से द्रव्य है, यह नहीं। समझ में आया? पर्याय से द्रव्य नहीं परन्तु शक्ति से द्रव्य है। आहाहा! सूक्ष्म बात है। द्रव्य, गुण और पर्याय तीन है तो तीन में

पर्याय के कारण से द्रव्य है, ऐसा नहीं है। परन्तु गुण के कारण से द्रव्य है, वह तो अभेद है। आहाहा!

जिसे आत्मदृष्टि करनी हो तो आत्मा में जो शक्तियाँ हैं, उनका ज्ञान करना पड़ेगा और ज्ञान होने के पश्चात् शक्तिवान जो द्रव्य है, उसकी दृष्टि करना, वह सम्यग्दर्शन—धर्म की पहली सीढ़ी, पहला सोपान, तब धर्म होता है। आहाहा! यहाँ यह शब्द है। यह तो तर्क मस्तिष्क में उठा था। चिह्न भी किया है। आत्मद्रव्य को और कारण कौन? द्रव्य तो त्रिकाल है। उसका कारण उस द्रव्य में जो शक्ति है, गुण है, वह द्रव्य का कारण है। क्योंकि गुण और द्रव्य अभेद है। पर्याय, वह अभेद नहीं। द्रव्य की कारण पर्याय नहीं है। आहाहा! तथा उस आत्मद्रव्य का कारण राग, दया, दान भी नहीं है। यह तो उसकी शक्ति गुण स्वभाव है।

कहते हैं, **आत्मद्रव्य के कारणभूत...** अर्थात् कि आत्मद्रव्य में रहनेवाली। **ऐसे चैतन्यमात्र भाव...** जाननमात्र भाव। आहाहा! यह उसमें शक्ति है। वह जाननभाव किसी का करता नहीं, किसी से वह जाननभाव रहता नहीं। आहाहा! समझ में आया? **चैतन्यमात्र...** मात्र लिया है न? चैतन्यमात्र (कहा, परन्तु) है तो अनन्त शक्तियाँ, परन्तु यह जो कहना है, उस **चैतन्यमात्र भाव का धारण...** चैतन्यमात्र भाव, उसका धारण करना। आहाहा! **जिसका लक्षण अर्थात् स्वरूप है... चैतन्यमात्र भाव का धारण जिसका लक्षण अर्थात् स्वरूप है...** आहाहा! **ऐसी जीवत्वशक्ति।** प्रथम में प्रथम यह ली है।

जीवत्वशक्ति—जीवपना, जीवद्रव्य। यह जीवपना, जीव सत् और जीवत्वशक्ति सत्पना, भाव। वह तो एक ही वस्तु है। समझ में आया? आहाहा! यह शक्ति का वर्णन अन्यत्र कहीं नहीं है। श्वेताम्बर में भी एक देवचन्दजी हुए, उन्होंने यह शक्तियाँ पढ़ी, पढ़कर थोड़ी शक्ति श्वेताम्बर की शैली से करने लगे, पाँच-सात शक्तियाँ की परन्तु फिर बराबर कर नहीं सके। यह पढ़ी। यह तो मुनियों के अन्तर के हृदय हैं। सर्वज्ञ ने जो अन्तर से कहा है, वह बात यहाँ कहते हैं। इसमें व्यवहार और निमित्त तो कहीं उड़ गये।

जीव का टिकना, उसके कारणभूत **ऐसे चैतन्यमात्र भाव का धारण...** चैतन्यमात्र भाव का धारण। आहाहा! **जिसका लक्षण अर्थात् स्वरूप है, ऐसी जीवत्वशक्ति।** यह (शक्ति) कहाँ से निकाली है? कुन्दकुन्दाचार्य की दूसरी गाथा है। **'जीवो चरित्तदंसण–**

णाणठिदो' पहली गाथा ऐसी आयी कि '**वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गदिं पत्ते। वोच्छामि समयपाहुड**' मैं समयसार शास्त्र कहूँगा। उसमें पहला ही शब्द '**जीवो**' आया है। दूसरी गाथा है। '**जीवो**' तो अमृतचन्द्राचार्य ने इस जीव में से जीवत्वशक्ति निकाली। कुन्दकुन्दाचार्य महाराज ने जीव अर्थात् आत्मा (कहा)। उसमें से शक्ति निकाली, जीवत्व नाम की शक्ति (निकाली)। आहाहा! जीवत्व अर्थात् क्या? समझे? जीवपना। जीव, उसकी जीवत्वशक्ति, वह जीवपना, जीव का सत्त्व ही यह है। आहाहा! सूक्ष्म बात है। यह तो सेठ ने कहा, हमारे दो दिन रहना है। माणेकचन्दजी को पूछा तो कहे चार दिन रहना है। समझ में आया? आहाहा! यह तो आलौकिक मार्ग है।

जीवत्व का कारण ऐसे चैतन्यमात्र भाव का धारण। है ही। अनादि से धारा हुआ है। जिसका स्वरूप है। यह धारण, वह उसका स्वरूप ही है। यह जीवत्वशक्ति—जीवपना। जीवत्व लिया है न? जीवपना। कोई भी चीज़ है, उसका पना अर्थात् उसका भाव। आत्मवस्तु। वस्तु सत्, सत् का सत्पना। ऐसा जीव है, उसका जीवपना। आहाहा! वह जीवत्व नाम की शक्तिरूप से है। उस जीवत्वशक्ति की दृष्टि करने से, द्रव्य की दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन होता है। बाकी सब थोथा, बातें हैं। जितनी बातें बाहर से की जावे, (वे व्यर्थ हैं)। आहाहा!

अमृतचन्द्राचार्य ने पहला ही यह जीव का बोल लिया। आत्म-अधिकार है न? जीव कहो या आत्मा कहो। अन्यमति कहते हैं कि जीव अलग है, आत्मा अलग है, ऐसा कहते हैं। आत्मा व्यापक है और जीव तो मन और रागसहित है तथा जीव भिन्न है। ऐसा कुछ नहीं है। यहाँ तो आत्मद्रव्य... आहाहा! उसका जीवत्व, ऐसी भाषा ली है। बात समझ में आयी? नहीं तो आत्मद्रव्य, उसका कारण आत्मपना, आत्मपना, भाई! आहाहा! परन्तु दोनों समाहित कर दिये। आत्मद्रव्य भी समाहित किया और उसकापना, वह जीवत्व। जीव अलग और आत्मा अलग, ऐसी कोई चीज़ नहीं है। आहाहा!

यह पहले में पहली शक्ति मांगलिक में मांगलिक है। कुन्दकुन्दाचार्य ने दूसरी गाथा में मांगलिक किया। '**जीवो चरित्तदंसणणाणठिदो**' इस जीवों में से जीवत्वशक्ति निकाली। और कुन्दकुन्दाचार्य ने भी आत्मा (शब्द) प्रयोग न करके जीव शब्द प्रयोग

किया है। दूसरी गाथा। समझ में आया? यह जीव कहो या आत्मा कहो, दोनों एक ही है। अन्यमति जीव और आत्मा भिन्न कहते हैं, ऐसा नहीं है। आहाहा!

कोष्ठक में **आत्मद्रव्य के कारणभूत...** कोष्ठक... कोष्ठक। **ऐसे चैतन्यमात्र-भावरूपी...** चैतन्यमात्रभावरूपी। चैतन्यमात्रभाव। जानने-देखनेमात्र भावस्वरूप आत्मा है। यह जीवत्वशक्ति **चैतन्यमात्रभावरूपी भावप्राण का धारण करना...** भावप्राण। आहाहा! यह जीवत्वशक्ति भावप्राण को धारण करनेवाली है। आहाहा! ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि भावप्राण से जीव का जीवन है। यह शरीर के प्राण, पाँच इन्द्रिय, मन, वचन और काया—आठ, आयुष्य और श्वास ऐसे दस प्राण हैं। पाँच इन्द्रिय, मन, वचन, काया, श्वासोच्छ्वासा, आयुष्य ये दस प्राण हैं। परन्तु ये दस प्राण जड़ के हैं। चैतन्य के प्राण यह है। जीव के प्राण चैतन्य प्राण जीव के हैं। उससे जीव का जीवपना टिक रहा है। आहाहा! इसमें धर्म क्या होगा? भाई! एक भी शक्ति इसके लक्ष्य में आवे तो शक्तिवान लक्ष्य में आये बिना रहे नहीं। क्योंकि शक्ति और शक्तिवान दोनों एक ही वस्तु है। द्रव्य का कारण और दूसरा है, ऐसा कुछ है नहीं। आहाहा!

चैतन्यमात्रभावरूपी भावप्राण... देखो! मन-वचन-काया, पाँच इन्द्रिय ये द्रव्यप्राण। यह तो जड़ को, शरीर को धारण करते हैं। ये आत्मा को धारण नहीं करते। **भावप्राण का धारण करना...** आहाहा! **जिसका लक्षण है...** अर्थात् जिसका स्वरूप है। जीवत्वशक्ति का स्वरूप भावप्राण का धारण करना (यह है)। ज्ञान, दर्शन, आनन्द यह भावप्राण है, जड़ प्राण नहीं। मन-वचन-काया, आयुष्य, ये सब जड़ प्राण हैं। वे इसे कुछ नहीं हैं, इसे लागू नहीं पड़ते। **ऐसी...** आहाहा! **भावप्राण का धारण करना...** वह कौन? जीवत्वशक्ति। भावप्राण का धारण करना, उसका स्वरूप है। आहाहा!

ऐसी जीवत्व नामक शक्ति... जीवत्व नाम की शक्ति **ज्ञानमात्र भाव में-आत्मा में उछलती है।** यह क्या कहते हैं? कि ज्ञान लक्षण है और लक्षण से आत्मा का लक्ष्य करने जाता है, वहाँ पर्याय में ज्ञान सम्यक् प्रगट होता है। उसमें जीवत्वशक्ति की पर्याय भी उछलती है, आती है। अरे! ऐसी बात। इस सेठ को थोड़ा रहना है, फिर कहा, लो यह। आहाहा! सुने तो सही कि यह कुछ अन्दर रह जाता है। आहाहा! अभी इस भरतक्षेत्र में ४७ शक्ति किसी स्थान में, किसी जगह नहीं है। आहाहा!

और यह शक्ति स्वयं आत्मा है। आत्मा—आत्मापना। लोग नहीं कहते ? तेरापना। तेरी शक्ति का तूने क्या किया ? तूने तेरापना कहाँ रखा ? यहाँ कहते हैं कि जीव का जीवत्वपना, जीव का जीवत्वपना चैतन्यभावप्राण—जानन-देखनभावप्राण धारण करना, वह जीव की जीवत्वशक्ति का स्वरूप है। उसमें नहीं राग, नहीं दया, नहीं दान, नहीं व्रत, नहीं देव-गुरु-शास्त्र बिल्कुल नहीं। आहाहा! उसमें नहीं स्वाध्याय, उसमें नहीं माला गणना, उसमें नहीं कोई यात्रा (करना), उसमें नहीं शास्त्र, शास्त्र को वन्दन करना वह उसमें नहीं। आहाहा! कठिन बात है, प्रभु! यह १९बार वाँचन हो गया है। शास्त्र १८ बार वाँचन हुआ और यह (शक्ति) तो एक बार हो गयी है। ऊपर से पूरी ली थी। वे व्याख्यान प्रकाशित होंगे, मुम्बई की ओर से। सात लाख रुपये वहाँ मुम्बई में इकट्ठे किये थे। उसमें से दो पुस्तकें बाहर आयी हैं। शक्ति, नय आदि का सब वर्णन चार महीने किया था। वह सब आयेगा। इसका पार नहीं होता, बापू! एक शक्ति... आहाहा!

कहते हैं कि तेरा तेरापन क्या ? तेरापन—सत्त्व क्या ? तेरा सत्त्व... तू सत् है तो सत् का सत्त्वपना क्या ? आहाहा! जीवत्वशक्ति वह उसका सत्त्वपना है। आहाहा! और जो जीवत्वशक्ति है, वह चैतन्यमात्र... चैतन्यमात्र... आहाहा! उसमें कोई राग की गन्ध नहीं। जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव चैतन्यमात्र शक्ति में नहीं है। आहाहा! यह तो अलौकिक वर्णन है। कहा नहीं ? श्वेताम्बर में देवचन्दजी हैं। बहुत पुस्तकें बनायी। आगमसार और चौबीस तीर्थंकर की स्तुति। बहुत वर्णन किया है। उनमें—श्वेताम्बर में पण्डित गिने जाते हैं। वे यह शक्ति लिखने गये थे, परन्तु यह जीवत्वशक्ति पहली नहीं आयी थी। पाँच, सात नाम दिये परन्तु नाम अपनी कल्पना से (दिये)। यह तो मुद्दे की रकम की पहली बात है। यह बात तो उन्हें याद भी नहीं होगी। आहाहा! लिखने गये परन्तु पहली जीवत्वशक्ति नहीं रखी। पाँच, सात की है, फिर छोड़ दी। बन नहीं सकी। यह तो मुनि तो केवलज्ञान के पुत्र हैं। 'गौतम' भगवान के पुत्र हैं। गणधर, वह पुत्र है। आहाहा! शास्त्र में पाठ है। सर्वज्ञपुत्र। सर्वज्ञ के पुत्र। आहाहा! कि जो सर्वज्ञ की ऋद्धि उत्तराधिकार सब रखा। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं, **भावप्राण का धारण करना जिसका लक्षण है, ऐसी जीवत्व नामक शक्ति ज्ञानमात्र भाव में-आत्मा में उछलती है।** यह क्या कहा ? कि

यह जो ज्ञान है न? ज्ञान लक्षण, तो ज्ञान, वह आत्मा—ऐसा कहा था। ज्ञान, वह आत्मा कहा था, तो क्या ज्ञान अकेला है?—कि, नहीं। ज्ञानमात्र आत्मा ऐसा जहाँ अनुभव हुआ, वहाँ ज्ञानमात्र में यह जीवत्वशक्ति की पर्याय भी उछलती है। जैसे ज्ञान की पर्याय द्रव्यस्वभाव पर दृष्टि देने से, त्रिकाली पर दृष्टि देने से, ज्ञायक पर दृष्टि देने से जैसे ज्ञान परिणति—पर्याय उत्पन्न होती है, उसके साथ जीवत्वशक्ति उछलती है। उसके साथ जीवशक्ति भी पर्यायरूप से प्रगट होती है। आहाहा! अपने आप पढ़े तो कहीं समझ में आये, ऐसा नहीं है। सेठिया!

मुमुक्षु : १९६२ में यह शक्ति सुनी हुई है।

पूज्य गुरुदेवश्री : चली थी। यह शक्ति तो बीसवीं बार वाँचन होती है। १९ बार वाँचन हो गया है। आहाहा! अरे! मुद्दे की रकम है।

एक जरा विकार दूसरा आया कि यह जो जीवत्वशक्ति है, भावप्राण, तो यह उस शरीर में रहता है, वह आयुष्य के कारण से नहीं है। उसमें रहने की योग्यता से चैतन्यभावप्राण की पर्याय जितनी यहाँ रहने के योग्य है, उतनी शरीर में आयुष्य बिना अपने कारण से रहता है। भावप्राण के कारण से यहाँ रहता है। द्रव्यप्राण के कारण से शरीर में आत्मा नहीं रहता। आहाहा! अरे! मुनि ऐसी वस्तु रख गये हैं, उत्तराधिकार छोड़ गये हैं। इसे पढ़ना भी नहीं, विचारना भी नहीं... (यह बहुत खेद की बात है)। आहाहा!

ज्ञानमात्र भाव में... ऐसा कहा न? ज्ञान लिया था न? ज्ञान लक्षण और आत्मा लक्ष्य, ऐसा लिया था। ज्ञान लक्षण और आत्मा लक्ष्य। लक्षण से लक्ष्य पकड़ में आया। पकड़ में आता है तो साथ में जीवत्वशक्ति का परिणमन भी आया। ज्ञान का परिणमन हुआ, ज्ञान लक्षण से लक्षिण द्रव्य का लक्ष्य किया तो ज्ञान अर्थात् सम्यग्ज्ञान, चैतन्य की परिणति हुई, उसके साथ जीवत्वशक्ति की परिणति भी उछलती है अर्थात् उत्पन्न होती है। आहाहा! एक लाईन में कितना भरा है! आहाहा! यह बनिया चक्रवर्ती ब्याज निकाला हो तो निकले। चक्रवर्ती ब्याज समझे? पाँच लाख रुपये दिये हों, आठ आने(ब्याज के) दिये हों, पहले तो आठ आने (ब्याज) था, अभी डेढ़ प्रतिशत (हो गया)। वह आठ आनेरूप से एक-एक दिन का ब्याज लेकर, दूसरे दिन का ब्याज मिलाकर उसका ब्याज गिने। ऐसे

चक्रवर्ती ब्याज बारह महीने तक का (निकाले)। यह सब बनिये को करना आता है। आहाहा! यह तो आत्म-राज है, वह चक्रवर्ती राज है, यह आत्म-राज है। आहाहा!

भगवान आत्मा... ज्ञान लक्षण से लक्षित कहा तो अकेले ज्ञान का ही परिणमन होता है, ऐसा नहीं है और आत्मा अकेला ज्ञानमात्र ही है, ऐसा भी नहीं। ज्ञानमात्र कहने से रागादि भी नहीं, ऐसा कहने के लिये ज्ञानमात्र कहा था। परन्तु ज्ञानमात्र में दूसरे अनन्त गुण नहीं हैं, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

ज्ञानमात्र भाव में अर्थात् जीवत्व नाम की शक्ति... जाननशक्ति से जहाँ भगवान को पकड़ा; राग से पकड़ में नहीं आता, निमित्त से पकड़ में नहीं आता, देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति से तीन काल में पकड़ में नहीं आता। वह तो अपनी जीवत्वशक्ति से अथवा ज्ञान लक्षण से पकड़ में आता है। जब ज्ञान लक्षण से... पर्याय में, ज्ञान लक्षण अवस्था। इस लक्षण की पर्याय से जब आत्मा पकड़ में आया तो वह जो सम्यग्ज्ञान का परिणमन हुआ, उस सम्यग्ज्ञान का नाम यहाँ ज्ञानमात्र भाव (कहा)। अर्थात् आत्मा में। ऐसा लिया। ज्ञानमात्र भाव अर्थात् अकेला ज्ञान नहीं। आत्मा साथ में लिया। ज्ञानमात्र भाव में पूरा आत्मा आ जाता है। आहाहा! ओहोहो! ऐसी बातें। आहाहा!

ज्ञानमात्र भाव में अर्थात् आत्मा में ज्ञान लक्षण से जो आत्मा लक्ष्य में लिया तो ज्ञान की परिणति हुई तो साथ में जीवत्वशक्ति का परिणमन साथ में आया। ज्ञान की पर्याय में जीवत्वशक्ति का परिणमन भी साथ में आया। परिणमन, हों! पर्याय। जाननशक्ति से आत्मा ज्ञात हुआ तो उस ज्ञान की सम्यक् परिणति हुई, उस ज्ञान के साथ जीवत्वशक्ति साथ में आती है। जीवत्वशक्ति भी साथ में आती है। आहाहा! यह एक बोल हुआ। आधा घण्टा हुआ। एक शक्ति में आधा घण्टा हुआ। आहाहा! पार नहीं है, अन्दर गम्भीरता का पार नहीं है। आहाहा!

आत्मा का कारण कहा तो आत्मा कार्य और यह कारण, ऐसा है? ऐसा नहीं है। यह तो बताते हैं कि आत्मा में जीवत्वशक्ति है, यह त्रिकाली आत्मा जैसा है, वैसी जीवत्वशक्ति त्रिकाली है। इस ज्ञान से जब द्रव्य पकड़ में आया तो वह जीवत्वशक्ति जो शक्तिरूप थी, भावप्राणरूप शक्तिरूप थी, उस ज्ञान की परिणति में उसकी परिणति उछलती है। जीवत्वशक्ति की पर्याय उछलती अर्थात् उत्पन्न होती है। आहाहा! कभी सुना नहीं। ऐई सेठ! '...'

आहाहा! धन्धा... धन्धा... धन्धा... और उसमें बाहर में घण्टे भर जाये तो भक्ति करे या भगवान की पूजा करे या माला गिने। आहाहा! यह माला गिन, प्रभु!

चैतन्य भगवान ज्ञानस्वभाव से ज्ञात हो, ऐसा जब ज्ञान की पर्याय में ज्ञात हुआ तो अकेली ज्ञान की पर्याय नहीं परिणमी, अकेली ज्ञान की पर्याय नहीं हुई। आहाहा! उसके साथ जीवत्वशक्ति भी उछलती है। आत्मा में कहो या ज्ञानमात्र भाव में कहो। वह जीवत्वशक्ति उछलती है। भाषा देखो! आहाहा! यह दूध है न? दूध। दूध में जब ऊफान आता है, नीचे अग्नि रखो तो ऊफान आता है परन्तु वह दूध पोला है। वह दूध बढ़ता नहीं, दूध तो पाँच सेर है, वह है। ऊफान आया तो भी पाँच सेर रहा। यह ऊफान आया तो मजबूत हुआ, ऐसा कहते हैं। आहाहा! जीवत्वशक्ति का अन्दर से ऊफान आया, उछली। ज्ञान लक्षण से जहाँ आत्मा को लक्षित किया, वहाँ जीवत्वशक्ति उछली, ऊफान आया। (दूध का) ऊफान पोला है, यह मजबूत है। आहाहा! एक शक्ति हुई। दूसरी।

अजडत्वात्मिका चितिशक्तिः।२।

अजड़त्वस्वरूप चितिशक्ति (अजड़त्व अर्थात् चेतनत्व जिसका स्वरूप है, ऐसी चितिशक्ति।)।२।

अजड़त्वस्वरूप चितिशक्ति। प्रत्येक में ज्ञान तो साथ में है। ज्ञानलक्षण से लक्षित हुआ तो साथ में अजड़त्वस्वरूप। **अजड़त्व अर्थात् चेतनत्व जिसका स्वरूप है...** उसमें जड़पना बिल्कुल नहीं है। शरीर, वाणी, मन तो जड़ है परन्तु दया, दान, भक्ति, पूजा, व्रत आदि के परिणाम भी जड़ हैं। ७२ गाथा में आ गया है, जड़ है। यहाँ अजड़त्वशक्ति। आहाहा! रागपने की शक्ति उसमें नहीं है। वह तो जड़ है। व्रत, नियम आदि जो शुभ परिणाम, वे जड़ हैं। वह जड़ आत्मा में नहीं है। आत्मा में तो अजड़त्वस्वरूप चिति— जाननशक्ति है। आहाहा!

पहले में भी ज्ञान तो आया था। जीवत्वशक्ति में ज्ञान, दर्शन प्राण आये थे। ज्ञान लक्षण से लक्षित में भी आया और इसमें भी ज्ञान आया। आहाहा! अजड़त्वस्वरूप

चितिशक्ति। **अजड़त्व अर्थात् चेतनत्व जिसका स्वरूप है...** चेतन, इसकी शक्ति है। आहाहा! चिति—चेतन। चिति—चेतन जिसकी शक्ति है, ऐसी दूसरी चितिशक्ति है। वह चितिशक्ति भी ज्ञान लक्षण से जहाँ द्रव्य का लक्ष्य किया तो चितिशक्ति भी ज्ञान की पर्याय में उछलती है। चितिशक्ति भी ज्ञान पर्याय में साथ में उत्पन्न होती है। आहाहा! ऐसी बात है। साधारण को बैठे नहीं, इसीलिए हो... हा... हो...हा... करे। गजरथ निकालना और शोभायात्रा निकालना, शोभायात्रा में दस-दस लाख खर्च करे तो ओहोहो! ऐसे हाथी और ऊपर राजकुमार बैठावे, भगवान के परिक्रमा करे और मेरुपर्वत बनावे, ऐसा दिखाई दे परन्तु वह सब क्रिया मैं करता हूँ, यह मान्यता मिथ्यात्व है। आहाहा! यह तो ठीक परन्तु उसमें जो शुभभाव होता है, वह चैतन्यशक्ति के साथ नहीं उछलता। उसमें है नहीं न! आहाहा! समझ में आया?

अजड़त्वस्वरूप चितिशक्ति। आहाहा! जाननशक्ति जो त्रिकाली है, और दर्शन साथ में, हों! चिति में दोनों लेना, ज्ञान और दर्शन दोनों लेना। इन दोनों शक्तिरूप एक चितिशक्ति है। ज्ञान से जहाँ आत्मा ज्ञात होता है; राग से, निमित्त से, संयोग से (ज्ञात) नहीं होता, तब उस ज्ञान की सम्यक् परिणति हुई, उसके साथ चितिशक्ति भी उछलती है, पर्याय में चितिशक्ति भी प्रगट होती है। पर्याय में, हों! शक्ति तो गुण है। शक्ति तो त्रिकाली ध्रुव गुण है। परन्तु ज्ञान में जहाँ अन्तर द्रव्य को पकड़ा तो सर्व अनन्त गुण को पकड़ा। इस कारण चितिशक्ति ज्ञान की शक्ति की परिणति के साथ चितिशक्ति उछलती है। आहाहा! पर्याय में आती है। शक्ति तो शक्ति है। चितिशक्ति उछलती है, ऐसा सबमें लेना। आहाहा! अब ऐसा व्याख्यान। बाहर का जितना कुछ करने का हो, उसमें की तो इसमें कुछ बात आती नहीं, अपितु निषेध आता है। निषेध अर्थात् वह तो होता है उसके कारण से, तेरे कारण से नहीं। आहाहा! तेरे कारण से होवे तो यह (होता है)। आहाहा!

ज्ञान की परिणति की पर्याय के साथ... आहाहा! जीवत्वशक्ति भी पर्याय में उत्पन्न होती है। पर्याय में, हों! और चितिशक्ति भी पर्याय में उछलती है, उत्पन्न होती है। आहाहा! अमृतचन्द्राचार्य ने गजब काम किया है। आहाहा! ऐसे शब्द और ऐसे भाव गजब बात है। इसकी गहराई का कहीं पता नहीं खाता, इतनी इसमें गम्भीरता भरी है।

मुमुक्षु : वे तो लिख गये थे, प्रगट तो आपने किया।

पूज्य गुरुदेवश्री : वे प्रगट कर गये हैं। आहाहा! समझ में आया?

तीन बातें आयीं। कौन सी तीन? शक्ति तो दो थी परन्तु तीन बातें कौन सी आयी? ज्ञान की पर्याय द्वारा जहाँ द्रव्य पकड़ में आया, वहाँ द्रव्य में रही हुई शक्तियाँ उछलती है तो द्रव्य, गुण और पर्याय तीनों आ गये। आहाहा! समझ में आया? द्रव्य अर्थात् वस्तु—आत्मा, यह शक्ति अर्थात् उसका सत्त्व—गुण, सत् का सत्त्व—कस... कस। आहाहा! क्या कहलाती है वह लकड़ी? ऊँची लकड़ी होती है न? नाम भी भूल जाते हैं। शीशम। उस शीशम की लकड़ी में ऊपर पोला होता है और अन्दर कठिन होता है, बहुत कठिन होता है। चिकनाहट से भरा हुआ। अकेला माल। ऊपर लकड़ी सामान्य हो, अन्दर भरपूर हो। उसी प्रकार यह ऊपर में रागादि हैं, वह दूसरी चीज़ है, अन्दर में शीशम है। आहाहा! यह चितिशक्ति।

नाम भले दो दिये परन्तु दोनों एक ही समय में हैं, समय भिन्न नहीं है। एक समय में ज्ञान का परिणमन हुआ—धर्म; सम्यग्दर्शनपूर्वक ही सम्यग्ज्ञान होता है। इस शक्ति में सम्यग्दर्शन और चारित्रशक्ति नहीं आती। क्यों? कि वह शक्ति सुखशक्ति में समाहित कर दी है। आनन्दशक्ति में सम्यग्दर्शन और चारित्र (दोनों समाहित हैं)। क्योंकि दोनों आनन्द है। (द्रव्य) पर दृष्टि जाने से जब आनन्द नाम का गुण उछलता है तो साथ में ज्ञान, आनन्द और समकित की पर्याय उत्पन्न होती है। आहाहा! चितिशक्ति, दो (शक्तियाँ) हुई।

अनाकारोपयोगमयी दृशिशक्तिः।३।

अनाकार उपयोगमयी दृशिशक्ति। (जिसमें ज्ञेयरूप आकार अर्थात् विशेष नहीं है ऐसे दर्शनोपयोगी–सत्तामात्र पदार्थ में उपयुक्त होनेरूप–दृशिशक्ति अर्थात् दर्शनक्रियारूप शक्ति।)।३।

तीसरी। **अनाकार उपयोगमयी दृशिशक्ति।** क्या कहते हैं? आत्मा में एक ऐसा दर्शन गुण है। दर्शन गुण; समकित नहीं। दर्शन गुण। कि त्रिकाल निराकार—अनाकार है। यह शक्ति किसी चीज़ को भेद पाड़कर नहीं जानती। अनाकार—आकार नहीं—भेद

नहीं—विशेषता नहीं। पूरी दुनिया लोकालोक 'है', बस! अनाकार, आकार बिना। यह जीव है और यह जड़ है और यह गुण-ऐसा कुछ नहीं। एक ऐसी अनाकार उपयोगमयी शक्ति आत्मा में है। आहाहा! अनाकार अर्थात् आकार नहीं, आकार नहीं अर्थात् भिन्नता नहीं, भिन्न-भिन्न नहीं। आहाहा! **उपयोगमयी...** एक स्वरूप में उपयोगमयी सत्ता है। बस! इसका लक्षण 'है' इतना दर्शन उपयोग का कार्य है। आहाहा! जिस समय ज्ञान की परिणति हुई, उस समय चिति की हुई, उस समय अनाकार दर्शन की भी परिणति हुई।

अनाकार उपयोगमयी दृशिशक्ति। देखा? दृशिशक्ति। आहाहा! दर्शनक्रियारूप शक्ति, ऐसा कहते हैं। परिणति लेनी है न? दर्शनक्रियारूपशक्ति। आहाहा! है तो त्रिकाल परन्तु यह निराकार अर्थात् किसी चीज़ को भेद पाड़कर जानना, यह उसका स्वभाव नहीं है। यह तो सत्ता—महासत्ता जैसी, 'है' बस! इतना देखना। यह अनाकार उपयोगमयी (दृशिशक्ति)। आहाहा! है?

(जिसमें ज्ञेयरूप आकार अर्थात् विशेष नहीं है...) क्या कहते हैं? अन्दर ऐसी एक शक्ति है, अनाकार उपयोग कि जिसमें ज्ञेय कि यह देव है और यह कुदेव है और यह जड़ है और यह चैतन्य है, ऐसे **ज्ञेयरूप आकार...** जाननेयोग्य चीज़ के आकार अर्थात् विशेष—भेद नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है। क्या कहा?

ज्ञान की परिणति के साथ ऐसी एक परिणति उत्पन्न होती है, शक्ति तो त्रिकाल है, परन्तु वह शक्ति भी ज्ञान की शक्ति जहाँ द्रव्य का लक्ष्य करके परिणमति है तो वह अनाकार उपयोगमयी... अनाकार अर्थात् विशेष कुछ नहीं। यह जीव है और यह जीव का गुण है और यह जड़ है, ऐसे विशेष कुछ नहीं। आहाहा! है? **ज्ञेयरूप आकार अर्थात् विशेष नहीं है...** ज्ञेय को 'है' ऐसा मानती है परन्तु विशेष नहीं कि यह भगवान है और यह निगोद का जीव है और यह त्रस है, ऐसे भेद नहीं। आहाहा! यह तो सेठ के कारण यह थोड़ा लेना पड़ा कि थोड़ा ले जाये। नहीं तो अभी तो बहिन का (बहिनश्री के वचनामृत) वाँचते थे न! आहाहा!

जो कुछ जगत में जाननेयोग्य अनन्त चीज़ें हैं, उन अनन्त चीज़ों में अनाकार उपयोग में कोई विशेष नहीं, कोई भेद नहीं कि यह सिद्ध है और यह निगोद है, ऐसे भेद

नहीं। पूरा लोकालोक है। वह लोकालोक है, ऐसा भी नहीं। आहाहा! 'है'—ऐसी सत्ता अनाकार उपयोगमयी है। आहाहा! गजब बात है।

अध्यात्म पंच संग्रह में दीपचन्दजी ने लिया है। जिन्होंने यह चिद्विलास, अनुभवप्रकाश आदि बनाये। एक समय में सर्वदर्शीशक्ति भेद पाड़े बिना (परिणमति है)। मैं जीव हूँ, यह जड़ है, ऐसा भी नहीं, 'है' ऐसा उस शक्ति का परिणमन भी है ऐसी शक्ति का परिणमन है। और उसके साथ ज्ञानशक्ति जो है, वह सबको भेद पाड़-पाड़कर जानती है। यह जीव है, यह जड़ है, यह जीव का गुण है, जीव की पर्याय है, जड़ का गुण है। सब भेद पाड़कर (जानती है)। एक समय में दो पर्याय—एक दर्शनपर्याय और एक ज्ञानपर्याय। एक अनाकार और एक आकार। आहाहा! वहाँ तो उन्होंने यह डाला है—अद्भुत रस, अद्भुत रस। आहाहा! ख्याल में आना मुश्किल पड़े। क्या कहते हैं?

ऐसी एक शक्ति है कि कोई भी गुण और कोई भी द्रव्य का भेद नहीं करती, भिन्नता नहीं करती, विशेष नहीं करती। ऐसी एक शक्ति, अनाकार उपयोग अर्थात् विशेष बिना का उपयोग, अनाकार अर्थात् विशेष बिना का एक उपयोग, ऐसी अनाकार उपयोगमयी शक्ति। आहाहा! गजब है न! **ज्ञेयरूप आकार अर्थात् विशेष नहीं है...** छह द्रव्य है और यह जीवद्रव्य है और दूसरे पाँच जड़ हैं, ऐसा भेद नहीं। ऐसी यह दर्शनशक्ति भगवान आत्मा में जीव में जीवपना... जीव का जीवपना। आहाहा! लोगों में कहते हैं न? तुझमें हो उतना बल प्रयोग कर ले। तुझमें जितना जोर हो वह कर ले। इसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि आत्मा में इतना जोर है। आहाहा! ऐसी बातें।

आकार अर्थात् विशेष नहीं है... अर्थात् क्या? अनाकार उपयोग में छह द्रव्य में विशेष नहीं। अनाकार अर्थात् विशेष बिना की एक सत्ता। 'है', ऐसी सत्ता नाम का एक गुण है। आहाहा! आहाहा! **ऐसे दर्शनोपयोगी...** दर्शन उपयोगमयी **सत्तामात्र पदार्थ में...** सत्ता मात्र—है, इतना मात्र **सत्तामात्र पदार्थ में उपयुक्त...** अर्थात् उपयोग होनेवाली **दृशिशक्ति...** आहाहा! **अर्थात् दर्शनक्रियारूप शक्ति।** भाषा देखो! अन्दर दर्शनक्रिया-रूप शक्ति, हों! आहाहा! आत्मा में यह दर्शनक्रियारूपशक्ति एक अन्दर है। वह जब ज्ञान की परिणति—पर्याय जब सम्यग्दर्शन हुआ, स्वदर्शन स्व की दृष्टि से (हुआ), उसके साथ

अनाकार उपयोगमयी पर्याय, ज्ञान की पर्याय साथ में उछलती है। जैसा सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ, वहाँ अनन्त गुण की अनन्त पर्याय उछलती है, उत्पन्न होती है। उत्पन्न होती है, उसे पर्याय कहते हैं। गुण और द्रव्य उत्पन्न नहीं होते। समझ में आया?

द्रव्य और गुण तो त्रिकाल रहते हैं परन्तु जहाँ ज्ञान ने अन्दर में ज्ञायक को पकड़ा, उसका तल ज्ञान ने पकड़ा। अपने स्वभाव का तल पकड़ा तो उस पर्याय में सम्यग्ज्ञान हुआ, वह अकेली सम्यग्ज्ञान की पर्याय नहीं है, उसके साथ अनन्त पर्यायें उछलती हैं। उसमें यह चितिशक्ति भी उछलती है। आहाहा! है तो दर्शनक्रियारूपशक्ति, दर्शनक्रियारूपशक्ति। परिणति नहीं, हों! शक्ति त्रिकाल। आहाहा!

एक क्रिया गुण कहा है न? भाई! सैंतालीस में। जो पर्याय में विपाक—कर्म की विकृत दशा होती है, उससे रहित अकेली निर्मल परिणति उत्पन्न होती है, ऐसी एक क्रिया नाम की शक्ति है। क्या कहा? आत्मा में एक क्रिया नाम की शक्ति है। आगे आयेगा। जिस शक्ति से अकेली निर्मल परिणति उत्पन्न होती है। आहाहा! वह क्रियाशक्ति, दृशिशक्ति की क्रिया शक्ति, इन सबका पिण्ड प्रभु आत्मा है। उस आत्मा को पकड़कर जहाँ आत्मा का स्वीकार हुआ और आत्मा का दर्शन हुआ... आहाहा! तब इस अनाकार उपयोग का भी पर्याय में परिणमन, ज्ञान की पर्याय के साथ इसका भी परिणमन उत्पन्न होता है। आहाहा!

फिर भाषा कैसी है? दृशिशक्ति शब्द है न? दृशिशक्ति। दर्शन स्वभाव ऐसा नहीं लिया, दर्शन स्वभाव—ऐसा नहीं लिया। भाई! दृशिशक्ति। इसलिए दृशिशक्ति में क्रिया आ गयी। आहाहा! दर्शनशक्ति, ऐसा नहीं लिया। समझ में आया? दृशिशक्ति। आहाहा! दृशिशक्ति अर्थात् दर्शनक्रियारूपशक्ति। आहाहा! त्रिकाल, हों! ऐसी अन्दर आत्मा में शक्ति है, त्रिकाल दर्शनमयी क्रियाशक्ति कि जिसका, ज्ञान लक्षण से लक्षित, लक्षण ने जहाँ द्रव्य का लक्ष्य किया तो वह अनाकार उपयोगमयी परिणति भी ज्ञान की परिणति के साथ उछलती है, उत्पन्न होती है। वह एक ही गुण की पर्याय उत्पन्न होती है, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी दर्शनक्रियारूप शक्ति। तीन हुई न? जीवत्वशक्ति, चितिशक्ति, दृशिशक्ति—तीन हुई। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४८३, शक्ति ३, ४, ५ मंगलवार, भाद्र कृष्ण १४
दिनांक - ०७-१०-१९८०

समयसार, शक्ति का अधिकार है। तीन शक्तियाँ हुईं। उसका तात्पर्य क्या है? यह शक्तियाँ जो है, वह आत्मा में गुणरूप शक्ति है। वह कोई नयी उत्पन्न हुई है, ऐसा नहीं है। अनादि आत्मा में अनन्त शक्ति का भण्डार भगवान है परन्तु उसका लक्ष्य, दृष्टि करने के लिये यह शक्ति का वर्णन है। अन्दर भगवान में निधान भरा है तो बाहर की दृष्टि छोड़, प्रभु! अन्दर में दृष्टि लगा दे तो तुझे आनन्द और शान्ति मिलेगी। आहाहा! यह शक्ति का वर्णन करने का हेतु यह है। अन्दर शक्ति का निधान भरा है, उस ओर तो तेरी नजर नहीं है। आहाहा! उस ओर की तेरी चिन्ता नहीं है।

एक बार कबीर, हम तो दुकान पर समाचार पत्र मँगवाते थे। तब, हों! संवत् १९६३, १९६४, १९६५ दुकान पर (मँगवाते थे)। कबीर की पुस्तक (आयी थी)। वाडीलाल मोतीलाल स्थानकवासी थे न, इसलिए उन्हें कबीर की पुस्तक भेंट दी। मासिक मँगावे न? उसमें एक लाईन लिखी थी, कबीर... कबीर... 'सुखिया सब संसार खा-पीकर सोवे, दु:खिया दास कबीर जब जागे तब रोवे।' क्या कहा? 'सुखिया सब संसार' आहाहा! खा-पीकर निश्चिन्तता से नींद में सोता है। चिन्ता नहीं कि मेरा क्या होगा? आहाहा! भवभय से डर नहीं। खा-पीकर स्त्री, विषय आदि (भोगे)।'सुखिया सब संसार' ऐसा लिखा था। सुखिया।

मुमुक्षु : आप कहते हो कि दु:खिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह भी मश्करी करते हैं। एक सुखिया कहकर उपहास करते हैं। दुनिया सुख मानकर, अपनी चिन्ता छोड़कर पर की चिन्ता में लवलीन है। 'दास कबीरो...' आहाहा! 'सुखिया सब संसार, खा-पीकर सोवे, दु:खिया दास कबीर' मैं दु:खी हूँ। निद्रा दो-चार-छह घण्टे निद्रा आती है। अरे रे! मेरी निद्रा में मेरी आत्मा की चिन्ता गयी। मैंने आत्मा की चिन्ता छोड़कर निद्रा ले ली। 'दु:खियो...' मैं दु:खी हूँ। आहाहा! मेरी चिन्ता छोड़कर मैं निद्रा में आ गया। आहाहा! उस समय (संवत्) १९६४ या १९६५ के वर्ष की बात है। कबीर की पुस्तक भेंट आया था। सब पढ़ते थे। उस समय

उसमें यह आया था। वह वाडीलाल मोतीलाल स्थानकवासी थे न, तो उन्होंने यह डाला। प्रतिमा पूजे, मूर्ति पूजे तो... आहाहा! भगवान मिले तो मैं पूजूँ बड़ा पहाड़। स्थानकवासी थे न! यह १९६४ के वर्ष की (बात है)। 'मूर्ति पूजे हरि मिले तो मैं पूजूँ मोटा पहाड़' आहाहा! यह वीतरागमार्ग तो कोई दूसरी चीज़ है। आहाहा! वीतरागमार्ग में तो यह शुभभाव आता है। मूर्तिपूजा के, भक्ति के भाव अशुभ से बचने के लिये आते हैं, धर्म नहीं है। आहाहा! एकान्त नहीं। अनेकान्त यह कहता है कि शुभभाव होते हैं परन्तु वह धर्म नहीं है, यह अनेकान्त है। आहाहा!

इस शक्ति के वर्णन में यह आया। पहली शक्ति जीवत्वशक्ति कही। अपना जीवनपना तो अन्तर में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द प्राण से जीव जीता है, वह अपना जीवन है। आहाहा! अपने स्वरूप के जीवन से जीना, यह धर्मी का जीवन सफल है और अपने आनन्द और ज्ञानस्वरूप जीवत्व—जीवपना, अन्दर अनन्त गुण का जीवपना, आनन्द, ज्ञान से जो जीता नहीं... आहाहा! वह तो मुर्दा है।

अष्टपाहुड़ में कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है, अष्टपाहुड़ है न? उसमें कहा है। जिसे इस देह में भगवान विराजता है, उसकी जिसे खबर नहीं, ज्ञान नहीं, पहिचान नहीं, अनुभव नहीं... कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं। भगवान के पास गये थे, दिव्यध्वनि सुनी थी, वे कहते हैं। आहाहा! कि इस भगवान आत्मा को जो जानते नहीं, पहिचानते नहीं, वे चलते शव हैं। मुर्दे को तो दूसरे उठाते हैं, ये चलते मुर्दे हैं। आहाहा! जिसने इस देह में भगवान अनन्त शक्ति के पिण्ड की पहिचान नहीं की, उसकी दरकार नहीं, चिन्ता नहीं... अरे! मेरी अनादि सत्ता है। मैं कहाँ रहूँगा? ऐसी चिन्तावाले को यह बात कहते हैं। एक जीवत्वशक्ति कही।

दूसरी, अजड़त्वरूप चितिशक्ति। आहाहा! चैतन्यशक्ति अनादि से आत्मा में है। उस शक्ति के लिये, उसके ज्ञान के लिये बाहर के पुस्तक के पृष्ठों की आवश्यकता नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! पुस्तक वापस रखना पड़े। आहाहा! समय में आया? आहाहा! निमित्त तो है परन्तु उस निमित्त से होता नहीं। आहाहा!

चितिशक्ति, चिति गुण, चैतन्यस्वभाव ऐसा अपने स्वभाव से आत्मा त्रिकाल टिक रहा है। धर्मी जीव को चितिशक्ति का धारक प्रभु चैतन्य में दृष्टि देना, उसका स्वीकार करना, उसका सत्कार करना और उसका अनुभव करना, उसके लिये यह कहा जाता है।

अभी तो बाहर की धमाल (चलती है)। आहाहा! अभी यह बाहुबली का होनेवाला है न? हजार वर्ष (हुए)। ओहोहो! एक मंगल कलश निकालनेवाले हैं। मंगल कलश गाँव-गाँव में घुमाकर, लाखों लोग धमाधम (करेंगे)। क्या कहलाता है? पहले कुछ निकाला था न? धर्मचक्र। सेठ! तुम्हारे यहाँ आया था। डालचन्दजी की बहू ने... धर्मचक्र खबर है? अखबार में आया था। डालचन्दजी की बहू ने पच्चीस हजार दिये थे। खबर है। अखबार में आता है न! धर्मचक्र। यह मंगल कलश देश में घुमायेंगे। सब उसकी पूजा करेंगे और पैसे देंगे और फिर हो..हा... हो..हा... हो..हा... सब सेठिया ऐसा मानेंगे, हमने धर्म किया, हमने धर्म किया, धर्म किया। आहाहा!

प्रभु! तू तो चितिशक्ति का धारक है न! तो तू तो जो कुछ होता है, उसका जानने-देखनेवाला है न! आहाहा! इसका करनेवाला या भोगनेवाला या रखनेवाला तू नहीं है। आहाहा! यह चिति (शक्ति)।

तीसरी (शक्ति)। अनाकार उपयोगमयी। तुझमें एक शक्ति—गुण ऐसी है कि जो पर के आकार अर्थात् विशेष बिना, आकार अर्थात् विशेष बिना, सामान्यरूप से निराकाररूप श्रद्धे। निराकाररूप श्रद्धे, माने, जाने, इसका नाम अनाकार उपयोगमयी शक्ति आत्मा में है। आहाहा! समझ में आया? यह (समयसार) तो अभी सवेरे-दोपहर दोनों समय (वाँचने का) रखा है। सेठ के कारण, हों! आहाहा!

अनाकार उपयोग इस आत्मा में अनादि अनन्त है। अर्थात् जो शक्ति अनन्त पदार्थ के भेद न पाड़े। अनन्त पदार्थ में विशेषरूप न करे। 'है', अनन्त है, ऐसी अनाकार अर्थात् आकार बिना की, आकार अर्थात् विशेष बिना का। प्रत्येक पदार्थ के भेद बिना का। अभेद सत्ता का स्वीकार जिसे अन्दर है, वह अनाकार उपयोगमयी शक्ति, गुण कहा जाता है। अरे! ऐसी बातें।

वह बात नहीं आती? चक्रवर्ती। राम और लक्ष्मण। एक बाई नहीं थी? क्या नाम? विशल्या। वह विशल्या को पूर्वभव में कोई विद्याधर ने उठाकर जंगल में छोड़ दिया। जंगल में राजकन्या। जंगल में अकेली, कोई नहीं। आहाहा! अभी एक आया था। प्लेन टूट गया। प्लेन में सब लोग मर गये। एक अठारह वर्ष की लड़की असाध्य हो गयी। बाकी सब प्लेन गिरा तो मर गये। वह जंगल में असाध्य हो गयी। जंगल में चारों ओर बाघ,

सिंह। ऐसे जहाँ आँख खोली... आहाहा! यह क्या है ? ऐसा करते बारह दिन गये। वह क्या खाती होगी ? क्या पीती होगी ? वहाँ मेंढ़क... देढका को क्या कहते हैं ? मेंढ़क। वहाँ जहरीले मेंढ़क रहते थे। समाचार-पत्र में आया है। बेचारी बारह दिन तक भटकी, कुछ खाने का नहीं। ऊपर आकाश और नीचे यह। कोई ठिकाना नहीं। उसमें बारह दिन में उस जंगल में शिकार करनेवाले लोग थे, उनकी एक झोंपड़ी थी। मढुडी समझे ? झोंपड़ी। शिकार करनेवाले (उसमें रहते थे)। वह वहाँ पहुँची उसमें शिकार करनेवाले आये। उससे कहे, अरे! माता! माँ! बहिन! यह क्या ? यहाँ कहाँ ? इस जंगल में कुछ नहीं मिलता। अरे! प्लेन टूट गया है, उसमें से मैं एक बच गयी। आहाहा! उस समय क्या होता होगा ? उस समय अन्दर चिन्ता होती होगी। आहाहा!

उस राजकुमारी विशल्या को भी जंगल में छोड़ दिया। जंगल में छोड़ा, उसमें अजगर था। अजगर—अज अर्थात् बकरा और गर अर्थात् बकरे को निगले, भेंड़ को निगल जाए, उसका नाम अजगर है। बड़ा अजगर, बाई को निगल गया। उसका पिता खोजते-खोजते आया। अरे! मेरी पुत्री कहाँ है ? मेरी पुत्री कहाँ है ? अन्दर इतना (शरीर) और बाकी का बाहर। बाकी सब अजगर के पेट में। उसका पिता अजगर को मारने को तैयार हुआ। वह कहे, पिताजी! मारना नहीं। मैंने अनशन किया है, मैं जीऊँगी तो भी आहार करनेवाली नहीं। मैं तो अभी समाप्त हो जाऊँगी, मुझे अन्दर ले लेगा। आहाहा!

इसी प्रकार संसाररूपी अजगर में अनादि से घुस गया है। धर्मपिता तीर्थंकरदेव आये, उन्होंने पुकार किया कि अरे! प्रभु! तू कहाँ है ? आहाहा! तुझमें कितनी शक्ति पड़ी है! तू कौन है ? आहाहा! उस अजगर में निकल जा। अजगर समझे ? अजगर का मूल अर्थ तो ऐसा है कि अज अर्थात् बकरा और गर अर्थात् पूरा बकरा निगल जावे, इसलिए अजगर नाम पड़ा। बड़ा अजगर। यह संसार मिथ्यात्वरूपी बड़ा अजगर है। आहाहा! यह निगल गया है। यह शक्ति और शक्तिवान की दृष्टि करे तो भवभय से रहित हो सके ऐसा है। इसके अतिरिक्त उसका दूसरा कोई उपाय नहीं। बाहर की धमाल, करोड़ों रुपये खर्च करे और... यह करे... कलश (घुमाते हैं) तो अखबार में ऐसा है, सेठिया प्रसन्न-प्रसन्न, चारों ओर। प्रमुख और बड़े ऐसा करो, ऐसा करो, ऐसा करो, धर्म की प्रभावना करो। अरे! धर्म की प्रभावना प्रभु! अन्दर में होती होगी या बाहर में होती होगी ? आहाहा! बाहर में कोई

ऐसा भाव होवे तो वह शुभ है, पुण्य है और वह भी पुण्य में और पाप में अन्तर माने तो मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व है तो अनन्त संसार नरक और निगोद है। आहाहा! तीन बोल कहे।

साकारोपयोगमयी ज्ञानशक्तिः ।४।

साकार उपयोगमयी ज्ञानशक्ति। (जो ज्ञेय पदार्थों के विशेषरूप आकारों में उपयुक्त होती है, ऐसी ज्ञानोपयोगमयी ज्ञानशक्ति।)।४।

चौथा बोल। **साकार उपयोगमयी...** है? तीन के पश्चात्, चौथी शक्ति। **साकार उपयोगमयी ज्ञानशक्ति।** अर्थात्? **(जो ज्ञेय पदार्थों के विशेषरूप आकारों में उपयुक्त होती है...)** ज्ञान का व्यापार जो ज्ञेय है, स्व और पर, उसे जानने के उपयोगमय परिणमे, उसका नाम साकार ज्ञानोपयोग कहते हैं। साकार का अर्थ—सभी चीज़ को जाने। भेद कर-करके जाने, इसलिए साकार (कहा है)। अनाकार में भेद बिना जाने, देखे उसका नाम दर्शन है। आहाहा! ऐसी शक्ति का वर्णन है। यह तो बीसवीं बार चलता है, हों! उन्नीस बार तो सब शक्तियों का वर्णन अक्षर-अक्षर हो गया है। ४६ चौमासा जंगल में (आये और हुए)। वहाँ भैंसे बैठते थे।

यहाँ कहते हैं, **साकार उपयोग...** साकार समझे? सविकल्प। ज्ञान सविकल्प ही है। सविकल्प कहो या साकार (कहो)। अर्थात् स्व और पर को दोनों को जाने, इसका नाम साकार कहा जाता है। सबको एक साथ 'है' ऐसा भेद किये बिना देखे, उसका नाम अनाकार उपयोगमयी दर्शनशक्ति कहते हैं। आहाहा! यह ज्ञानोपयोगमयीशक्ति। एक-एक अरिहन्त को, सिद्ध को, केवली को, निगोद के जीव के अनन्त गुण आदि सबको भिन्न-भिन्न जाने। साकार अर्थात् विशेष। उसका आकार अर्थात् जो भिन्न है, उन सबको भिन्नरूप से जाने। जाने परन्तु वह अपने उपयोगमयी है। किसी को करे, पर की दया पाले... आहाहा! ऐसा आत्मा में कोई गुण नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें... अरे रे!

'भवभय से डर चित्त' जिसे भव का भय लगे। अरे रे! यहाँ से कहाँ जाऊँगा? यहाँ एक मनुष्य का वियोग पड़े, वहाँ चिल्लाहट करता है। पहले तो यह बिजली थी नहीं। दीपक थे। मिट्टी का वह होता है, उसमें दीपक रखते थे। मिट्टी के (कोडिया में) दीपक

रखते थे। खाट बिछाकर रखे। नौ खाट हों, उनमें सब सो रहे हों और एक खाली हो तो, यह भाई क्यों नहीं आये ? यह खाट खाली क्यों है ? आहाहा ! उसे खोजने जाये। वह कहाँ खो गया ? गया कहाँ ? नौ खाट भरी है, सब सो रहे हैं। परन्तु यह अनन्त काल से सो रहा है, उसे खोजता नहीं। आहाहा !

यह कहते हैं, साकार। तेरा स्वभाव ही साकार है। साकार अर्थात् सबको जानना। साकार अर्थात् विशेषरूप से स्व को और पर को जानना, ऐसे साकार उपयोगमयी। उपयोग, वह परिणति है, पर्याय है। त्रिकाल उपयोग, वह शक्ति है परन्तु फिर परिणति में उपयोग आता है, वह पर्याय है। वह साकार उपयोगमयी है, वह तो त्रिकाल है। आहाहा ! **साकार उपयोगमयी...** भाषा क्या है ? देखो ! उपयोगवाला, ऐसा नहीं लिया, उपयोगवाला ऐसा कहने में भेद पड़ जाता है। उपयोगमयी में अभेद होता है। एक-एक शब्द में महा गम्भीरता भरी है। ओहो ! अमृतचन्द्राचार्य इस भरतक्षेत्र के सूर्य ! आहाहा ! धर्म के सूर्य ! जिन्होंने धर्म का प्रकाश... आहाहा ! चुन-चुनकर शक्तियाँ निकाली हैं। आहाहा !

प्रभु ! तुझमें एक अनाकार उपयोगमयी शक्ति है और एक साकार उपयोगमयी शक्ति है। ओहोहो ! दो तो विरुद्ध हुई। एक शक्ति दूसरी चीज़ के कुछ भी भेद किये बिना देखे और एक शक्ति प्रत्येक के भेद (करके जाने)। अनन्त आत्मा / जीव, जड़, चैतन्य, गुण, पर्याय (सबको जाने)। एक ही समय में दोनों विरुद्ध शक्तियाँ हैं। आहाहा ! तथापि स्वभाव में विरोध नहीं है, स्वभाव दोनों हैं। आहाहा !

यह शक्ति का वर्णन है। जरा सूक्ष्म तो है न ! भाई ! आहाहा ! ऐसी शक्ति का वर्णन दिगम्बर में भी कहीं नहीं है। इस समयसार के अतिरिक्त ४७ शक्तियों का वर्णन कहीं नहीं है। इसमें से फिर वर्णन किया है। चिद्विलास, अध्यात्म पंच संग्रह दीपचन्दजी ने बनाये हैं। उसमें थोड़ी बहुत डाली है। आहाहा ! दीपचन्दजी ने तो बहुत डाला है।

एक आत्मा में अनन्त गुण हैं। उन अनन्त गुणों की एक-एक गुण की अनन्त त्रिकाली पर्याय। एक-एक पर्याय अनन्त-अनन्त द्रव्य को जाने। एक पर्याय में अनन्त-अनन्त त्रिकाली को जाने, इतनी सत्ता और एक पर्याय में अनन्त को जाने तो उसके अनन्त गुण और उसकी अनन्त पर्याय के भेद जाने। आहाहा ! बहुत लिया है। गुण की पर्याय में

तीन काल-तीन लोक जाने, ऐसा ठठ है। ऐसे भाव का ठठ है। ठठ है, नृत्य है, कला है, रस है, प्रभाव है। ऐसा बहुत लिया है। बात जरा सूक्ष्म पड़े। आहाहा! समझ में आया? अध्यात्म पंच संग्रह में सवैया में पाठ लिया है। यहाँ नहीं न वह? पंच संग्रह है? नहीं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि एक ज्ञानमयी उपयोग में अनन्त शक्ति। एक शक्ति में एक में अनन्तरूप। एक ज्ञानशक्ति दर्शन को देखे, सबको देखे उसमें तीन काल तीन-लोक को जाने। आहाहा! करने का कुछ नहीं और जानने का पूरा-पूरा। आहाहा! ज्ञानशक्ति का स्वरूप एक रजकण या पर की दया पालने का नहीं है। (दया पालना) ऐसा उसका स्वरूप ही नहीं है। और कोई चीज़ बाकी रखे बिना पूर्ण जाने, ऐसा उसका स्वभाव है। आहाहा! अरे रे! बाहर से यह ठाठबाठ से मिले, ऐसा नहीं। बाहुबली को एक हजार वर्ष हाते हैं। लाखों लोग इकट्ठे होनेवाले हैं। लाखो! यह मंगल कलश गाँव-गाँव में निकालते हैं मानो ओहोहो! धर्म हो गया, मानो धर्म हो गया। अभी तो अन्दर शुभभाव का भी ठिकाना न हो। कोई मान के लिये, सन्मान के लिये (करते हों)। हम सेठिया हैं और इतना न करें तो ठीक न रहे। इस कारण से कुछ करना भी पड़े। आहाहा!

इस आत्मा में साकार। किसी भी चीज़ के जितने प्रकार—भेद हैं, उन सबको एक समय में जाने—ऐसी उसकी शक्ति है। आहाहा! समझ में आया? लक्षण भी दो प्रकार के कहे, भाई! एक आत्मा में अन्दर ज्ञानलक्षण शक्ति त्रिकाल, वह भी लक्षण; और एक पर्याय से ज्ञात होता है, वह लक्षण। नियमसार में लिया है। एक ध्रुव लक्षण, एक पर्याय लक्षण ज्ञान का। यहाँ यह बात चलती है न? कि ज्ञान लक्षण है, उस ज्ञान से द्रव्य को पकड़ा तो यह अनन्त शक्तियाँ सभी साथ में उछली। जो शक्तियाँ हैं, उनका जहाँ स्वीकार किया तो ज्ञान की पर्याय में सब शक्तियाँ प्रगट हो गयीं। आहाहा! ज्ञान में लक्षण लिया। जानने की पर्याय लक्षण और त्रिकाली लक्ष्य। परन्तु ध्रुव जो शक्ति है, उसे भी वहाँ लक्षण कहा है, भाई! आहाहा! ध्रुव जानता नहीं, जानने की शक्ति है।

यहाँ तो उपयोगमयी, ऐसा जहाँ अन्दर लगा, यह शक्ति ज्ञानमयी साकार है—ऐसी दृष्टि हुई तो पर्याय में निर्मलता और अतीन्द्रिय आनन्द का उफान आया। उभरो अर्थात्

उफान। आहाहा! ऐसा धर्म? प्रभु! है तो ऐसा मार्ग। दूसरे को एकान्त लगे। यह खबर नहीं न। बहुत एकान्त कहकर सोनगढ़ का विरोध करते हैं।

मुमुक्षु : इतनी अधिक शक्तियाँ कही फिर एकान्त कहाँ रहा?

पूज्य गुरुदेवश्री : एकान्त इसलिए कहते हैं कि तुम व्यवहार को धर्म का कारण नहीं मानते। निमित्त को नहीं मानते, निमित्त से होता है—ऐसा नहीं मानते और राग, दया, दान, व्रत, भक्ति से कल्याण होगा, (ऐसा नहीं मानते), ऐसा वे कहते हैं। सब खबर है, क्या कहते हैं। अरे रे! ऐसी बातें आयी नहीं। आहाहा!

यहाँ क्या कहते हैं? साकारमयी। आहाहा! साकार अर्थात् विशेष। उपयोग अर्थात् अन्दर जानना त्रिकाल। ऐसी शक्ति, ज्ञानशक्ति। ऐसा जहाँ निर्णय हुआ, तब तो पर्याय में भी जानने की शक्ति प्रगट हुई। है न? **(जो ज्ञेय पदार्थों के विशेषरूप आकारों में...)** ज्ञेय अर्थात् जितने ज्ञेय, पंच परमेष्ठी भी ज्ञेय। आहाहा! अनन्त सिद्ध भी ज्ञेय। उन **(ज्ञेय पदार्थों के विशेषरूप...)** विशेष अर्थात् भेदरूप जो भाव। भिन्न-भिन्न गुण, भिन्न द्रव्य सबके **(आकारों में उपयुक्त होती है...)** सबके विशेष में ज्ञान उपयोग—व्यापार होता है। यह तो शक्ति है परन्तु उसका लक्ष्य करे, तब ऐसी शक्ति का निर्णय हुआ कहलाये न? आहाहा! **(ऐसी ज्ञानोपयोगमयी ज्ञानशक्ति।)** आहाहा! एक-एक शक्ति में निहाल कर डाला है!

तुझमें एक साकार ज्ञानशक्ति ऐसी है कि तेरे क्षेत्र में रहकर परक्षेत्र में रही हुई सब चीज़ों को एक समय में जाने, ऐसी तू वस्तु है। समझ में आया? यह साकार ज्ञान उपयोग अपने क्षेत्र में, अपने भाव में यहाँ रहकर अनन्त-अनन्त आकाश का पार नहीं, उसे भी यहाँ अपने क्षेत्र में रहकर जानने की शक्ति है। आहाहा!

उपयोगमयी जो ज्ञान है, वह अपने में यहाँ रहकर अपने द्रव्य, गुण को, अनन्त शक्तियों को तो जाने परन्तु परपदार्थ जो अपने क्षेत्र में नहीं, अपना क्षेत्र अर्थात् अपनी सत्ता में वह सत्ता नहीं है। उस सब सत्ता का, उस सत्ता की ओर लक्ष्य किये बिना, निज स्वरूप का—शक्तिवान का उपयोग करके स्व-पर को पूर्ण जाने, इसका नाम साकार उपयोगमयी ज्ञानशक्ति कही जाती है। आहाहा! छोटाभाई! ऐसी बातें हैं, भगवान! आहाहा! बहुत सूक्ष्म बातें। यह भी दिगम्बर दर्शन के अतिरिक्त कहीं है नहीं। आहाहा! परन्तु सम्प्रदाय में पड़े

हैं, उन्हें कहाँ दरकार है ? ख्याल भी नहीं कि क्या है। आहाहा! अरे रे! ऐसे ही अनन्त काल गँवाया है, भाई! एक-एक पल...

श्रीमद् कहते हैं, मनुष्य का एक पल कौस्तुभमणि की कीमत से भी विशेष कीमती है। आहाहा! मणि की कीमत क्या ? धूल की। इस एक मनुष्यभव का एक समय, एक पल में ध्यान करे तो अन्दर केवलज्ञान हो जाए। ऐसी एक समय की मनुष्यपने की शक्ति! मनुष्य, यह तो निमित्त से कथन (कहा है)। इस मनुष्यपने के एक समय में ऐसी अनन्त शक्ति की ओर ध्यान देने से, बराबर स्थिर होने से एक समय में केवलज्ञान प्राप्त होता है, ऐसी शक्ति है। आहाहा! यह चार (शक्तियाँ) हुईं।

अनाकुलत्वलक्षणा सुखशक्तिः ।५।
अनाकुलता जिसका लक्षण अर्थात् स्वरूप है ऐसी सुखशक्ति।५।

पाँचवीं, सुखशक्ति। आहाहा! कैसा है सुख ? **अनाकुलता जिसका लक्षण...** जिसमें आकुलता नहीं, दु:ख नहीं। आनन्द जिसका लक्षण है। आहाहा! **अनाकुलता जिसका लक्षण...** जिसका अर्थात् ? सुख का। सुख नाम का गुण अन्दर है। आनन्द, सुख कि जिसका लक्षण अनाकुल लक्षण है, उसमें आकुलता है नहीं। आहाहा! चाहे जो प्रसंग, अनन्त प्रतिकूल प्रसंग आ जाये, अरे! मुनि को उठाकर, सच्चे भावलिंगी सन्त को उनके शत्रु उन्हें उठाकर समुद्र में डाल दे। समुद्र में! वे अन्दर डूबते-डूबते ध्यान स्थिर होकर केवलज्ञान प्राप्त कर वहाँ से मोक्ष चले जाते हैं। समुद्र में से मोक्ष चले जाते हैं। अनन्त (गये हैं)।

यह बात तो सुनी है या नहीं ? कि ढाई द्वीप में मनुष्य है, वहाँ कोई स्थान खाली नहीं कि जहाँ अनन्त सिद्ध न हों और सिद्ध होते हैं, वे सीधे जाते हैं। यहाँ हो और मोक्ष में जायें, वे सीधे जाते हैं। यहाँ से भी अनन्त सिद्ध हुए हैं। आहाहा! पैंतालीस लाख योजन में सिद्ध भगवान विराजते हैं तो वहाँ एक अँगुल का असंख्यवाँ भाग भी खाली नहीं है। अनन्त-अनन्त सिद्ध विराजते हैं और वे सब सिद्ध हुए, पैंतालीस लाख योजन में, वे सब यहाँ से

हुए हैं। आहाहा! उस समुद्र में मुनि को डालकर वहाँ से केवलज्ञान पाकर सिद्ध हो गये। समुद्र में भी एक बिन्दु खाली नहीं कि जहाँ से सिद्ध न हुए हों। आहाहा!

मुमुक्षु : उनकी छत्रछाया में ही हम हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : छत्रछाया... यह प्रश्न बरवालावाले एक स्थानकवासी ने पूछा था, ऐसे तो बेचारे को गहरे-गहरे प्रेम सही परन्तु सम्प्रदाय छोड़ा नहीं जाये। फिर यात्रा करने निकले थे न हम? मुम्बई। जब पहली बार सम्मेदशिखर (गये थे)। उस स्थानकवासी ने पूछा कि यह यात्रा और यह सब क्या है? प्रभु! कहा, सुनो! जिस स्थान में से यह आत्मा मुक्ति प्राप्त हुए हैं, उस स्थान में जाकर उन्हें याद करना, वह यात्रा है। है शुभभाव, धर्म नहीं। परन्तु उस स्थान में जाकर... यह शत्रुंजय जाते हैं तो वहाँ से पाण्डव सीधे मोक्ष में गये हैं। वहाँ के क्षेत्र में से पाण्डव सीधे मोक्ष में गये हैं। तो वहाँ उस क्षेत्र में जाकर याद करना कि यहाँ ऊपर सिद्ध भगवान हैं, पाण्डव के जीव यहाँ सिद्ध हैं, ऊपर। था स्थानकवासी (वह कहे), बात भारी ऐसी, भाई! यात्रा का हेतु यह है, कहा। जिस स्थान से मुक्ति में गये, उस स्थान में जाकर याद करना कि यहाँ ऊपर सिद्ध भगवान विराजते हैं। आहाहा! बरवाला के थे। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि **अनाकुलता जिसका लक्षण अर्थात् स्वरूप है, ऐसी सुखशक्ति।** प्रभु! आनन्द तो तेरे आत्मा में शक्ति पड़ी है न! प्रभु! आहाहा! मृग की नाभि में कस्तूरी, मृग को कस्तूरी की कीमत नहीं। इसी प्रकार आत्मा में सुख-आनन्द अन्दर पड़ा है। यह मृग जैसे मनुष्य को इसकी कीमत नहीं। आहाहा! सर्वांग आनन्द भरा है। सर्वांग शब्द समझे? यह सभी शक्तियाँ सर्वांग है। प्रत्येक शक्ति पूरे आत्मा में सर्वांग भरी है। देह से, वाणी से, विकल्प से भिन्न पूरे असंख्य प्रदेश में पूरे आत्मा में आनन्द भरा है। पूरे आत्मा में अनाकार उपयोग दर्शन भरा है। पूरे आत्मा में ज्ञान उपयोग भरा है। पूरे आत्मा में जीवत्व शक्ति भरी है। आहाहा! और पूरे आत्मा में चितिशक्ति भरी है। अरे रे! आहाहा! यह तो शब्द थोड़े हैं परन्तु बहुत गहरी गम्भीरता बताते हैं। आहाहा! अमृतचन्द्राचार्य और वे भी यहाँ मुक्ति में गये, उनका स्मरण करना, वह तो शुभभाव है, धर्म नहीं, परन्तु मुक्तस्वरूप यह भगवान है। शास्त्र में—कलश में पाठ है, 'मुक्त एव'। प्रभु! तू अन्दर से मुक्त है, निराला है। आहाहा! उसमें यह सुखशक्ति पड़ी है। वह आनन्द पर से निराला है। आहाहा!

भिखारी! अपने में आनन्द है, वहाँ दृष्टि नहीं करता और यहाँ पैसे में आनन्द है, स्त्री में आनन्द है, पुत्र में आनन्द है, इज्जत में आनन्द है, मकान में आनन्द है... आहाहा! अरे रे! प्रभु! क्या करता है तू? आनन्द की खान—निधान तो प्रभु! तुझमें सर्वांग भरा है। असंख्य प्रदेश में... चैन होती है न? चैन में कड़ी होती है न? कड़ी सोने की १००-२०० (होते हैं)। उसी प्रकार आत्मा चैन है, उसमें असंख्य प्रदेश की कड़ी है। आहाहा! उस प्रत्येक कड़ी में सोना है। उसी प्रकार यहाँ प्रत्येक प्रदेश में अनन्त गुण हैं। भले गुण का अंश है। पूरे असंख्य प्रदेश में अनन्त गुण सर्वांग व्याप्त होकर भरे पड़े हैं। आहाहा!

ऐसा सुनना मुश्किल पड़े। यहाँ एक बीड़ी में प्रसन्न हो जाये। आहाहा! एक उड़द की दाल बराबर समरस हो तो प्रसन्न-प्रसन्न हो जाये और समरस न हो तो... यह किसने बनायी? उड़द... उड़द। उड़द की दाल बनाते हैं न? छाछ के साथ एकमेक समरस हो जाए तो सदड़ी कहलाती है और एकमेक हुए बिना छूटे पानी जैसी लगती है, दाना बराबर सीझा न हो... आहाहा! और उसमें लड़की का सत्ताप्रिय ससुर आया हो और उस दिन उड़द की दाल बिगड़ गयी हो, भाई का पित्त फट जाये। किसने यह किया? यह दाल बिगाड़ी। महिलायें कहे, बोलना नहीं, पित्त फट गया है (बहुत क्रोधित हैं)। आहाहा!

मुमुक्षु : दृष्टान्त समझे नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : पुत्री का ससुर घर में आवे न? उस समय चूरमा बनाया हो और उड़द की दाल बनायी हो परन्तु वह दाल सरीखी एकरूप न हुई हो तो भोजन के समय सत्ताप्रिय ससुर हो, इसलिए उसके कारण घर के व्यक्ति का पित्त फट जाए। किसने बनाया यह? घर में बहुएँ चार-पाँच हों, सासु हो, वह कहे, बोलना नहीं। आहाहा! दुनिया के सब नाच देखे हैं, सेठ! दुनिया के एक-एक नाच देखे हैं, नाच किये नहीं परन्तु नाच सब देखे हैं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, प्रभु! तेरे तुझमें सर्वांग आनन्द भरा है न! भिखारी! तू सुख के लिये कहाँ भटकता है? जहाँ एक बीड़ी पीवे ऐसे करके-ऐसे करके पीता होगा। क्या कहलाता है? सिगरेट। प्रभु! यह क्या है? प्रभु! तुझमें आनन्द भरा है और यह भिखारीपना? यह रंकाई तूने कहाँ से निकाली? प्रभु! अभी आयेगा। तुझमें प्रभुत्व नाम का गुण है। अभी

आयेगा। प्रभुत्व नाम का गुण है, तूने रंकाई कहाँ से निकाली ? ऐसी विपरीतता कर-करके भटक मरा है। आहाहा!

कहते हैं कि **अनाकुलता जिसका लक्षण...** सुख का लक्षण अनाकुलता— जिसमें बिल्कुल आकुलता नहीं। यहाँ विवाह प्रसंग में पाँच-पच्चीस लाख खर्च करे, उसमें सुख माने परन्तु वह तो आकुलता है, वह तो अकेली आकुलता है। आहाहा! यह जलेबी और लड्डू और लड़के का विवाह होता हो, जाति में पाँच-छह घर हों तो प्रत्येक घर कलश... क्या कहलाता है वह ? भेंट देते हैं। विवाह प्रसंग में जाति में भेंट देते हैं। मुम्बई में बना था। उसके पिता ने कलश की भेंट दी थी। बेडु समझे ? आहाहा! पानी का हंडा। वह तो मिट्टी धूल है। भोग में से सुख लेना ? स्त्री के शरीर के अवयव को कभी स्पर्श नहीं करता। तुझे कहाँ सुख लेना है ? तू कल्पना से मानता है कि मुझे ठीक है। बाकी शरीर के अवयव दूसरे शरीर के अवयव को तीन काल में कभी स्पर्श नहीं करते। आहाहा! ऐसी बात!

सुख की व्याख्या चलती है। प्रभु! तुझमें सर्वांग में सुख भरा है। असंख्य प्रदेश में आनन्द... आनन्द... आनन्द... आनन्द... आनन्द... आनन्द ठसाठस भरा है। आहाहा! यह तो शक्ति का वर्णन तुम्हारे कारण चलाया। सवेरे और दोपहर में भी। आहाहा! ऐसी बात! आहाहा! यह सुखशक्ति आत्मा में है तो आत्मा के अतिरिक्त दूसरे किसी भी पदार्थ में यह सुख नहीं है। सिद्ध में सुख है, वह यह सुख नहीं है। उनका सुख उनमें है, तेरा सुख तुझमें है। सिद्ध के सुख के कारण तुझमें सुख है, ऐसा नहीं। समझ में आया ? अरिहन्त को अनन्त आनन्द है तो अरिहन्त के स्मरण करनेवाले को जरा भी आनन्द आता है, बिल्कुल नहीं। वह तो शुभराग है, दुःख है। परद्रव्य का स्मरण तो राग और दुःख है। आहाहा!

अनाकुल सुख तो यहाँ है। मृग की नाभि में कस्तूरी, उस कस्तूरी की गन्ध वन में खोजता है। वन में घूमते-घूमते खोजता है। उसी प्रकार मृग जैसे मनुष्य अन्तर में आनन्द है, अनाकुल जिसका लक्षण है, सर्वांग असंख्य प्रदेश में भरा है, त्रिलोकनाथ परमात्मा का पुकार है, वह सुख यहाँ न खोजकर बाहर में कुछ ठीक लगे, इससे ठीक है। ठीक, विस्मय आत्मा के सुख के अतिरिक्त दूसरी चीज़ में कुछ भी अधिकता (लगे)। आहाहा!

समयसार ३१वीं गाथा में तो ऐसा कहा है, **'णाणसहावाधियं मुणदि'** तेरा आत्मा सुख और ज्ञान से (भरपूर और) पर से भिन्न है और जड़ इन्द्रिय, भावेन्द्रिय—जिस-जिस इन्द्रिय से जानने में आता है, वह भावेन्द्रिय और भावेन्द्रिय में जो देव, गुरु, शास्त्र ज्ञात होते हैं, समवसरण, प्रतिमा, शास्त्र, पुस्तक, स्त्री, कुटुम्ब जो ज्ञान में ज्ञात होते हैं, वे इन्द्रिय है। आहाहा! गजब बात है। तीन लोक के नाथ को इन्द्रिय कहते हैं, इस अतीन्द्रिय आत्मा की अपेक्षा। अतीन्द्रिय आनन्द यहाँ है। आहाहा! ३१ गाथा। **'णाणसहावाधियं मुणदि आदं'** यह पाठ। धर्मी जीव अपने ज्ञान से अधिक, पर चीज़ से ज्ञान अधिक—भिन्न है। सुख से अभिन्न, पर से भिन्न है। विकल्प से लेकर अनन्त सिद्ध भी इन्द्रिय में आते हैं। क्योंकि सिद्ध के ऊपर लक्ष्य जाता है तो राग उत्पन्न होता है। राग उत्पन्न होता है, वह इन्द्रिय का विषय हुआ। आहाहा! ऐसी बात है, भाई! यह तो खजाना खोल दिया है, ताला खोल दिया है! भोंयरा में माल पड़ा हो और अलमारी को ताला लगाया हो। उस अलमारी को खोले और अन्दर से निधान निकले। आहाहा!

अनाकुलता जिसका लक्षण... लक्षण अर्थात् स्वरूप। **अनाकुलता जिसका लक्षण अर्थात् स्वरूप है, ऐसी सुखशक्ति** आत्मा में है। वह सुख कहीं नहीं है। चूरमा के लड्डू में सुख नहीं, मैसूर में सुख नहीं, शक्करपारा में सुख नहीं। शक्करपारा समझते हो? एक सेर चने का आटा और चार सेर घी पिलाकर मैसूर बनाते हैं। गेहूँ का एक सेर आटा और चार सेर घी पिलावे, उसका नाम शक्करपारा होता है। हमने तो सब खाया है और सब देखा है। सब चीज़ें देखी हैं। ९१ वर्ष हुए। निवृत्ति... निवृत्ति... निवृत्ति... नाचनेवाले को नाचते देखा है। गढडा में बनाया था। (संवत्) १९८१ में गढडा में चौमासा था। संघ को शक्करपारा का भोजन। १९८१। कितने वर्ष हुए? ५५ वर्ष पहले की बात है। बोटादवाले सब दर्शन करने आये थे। गढडा में चातुर्मास था तो शक्करपारे का जीमन किया था। लोग तो आहाहा! आज तो शक्करपारा खाये। क्या परन्तु शक्करपारा? शक्करपारा तो यहाँ है। वह सुख—शक्करपारा यहाँ है। आहाहा! पूरी जाति को जिमाया था। लाठीवाले पैसेवाले थे। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, प्रभु! तेरे अतिरिक्त किस चीज़ में आनन्द है? तेरे अतिरिक्त किस चीज़ में विस्मयता है? तेरी चीज़ के अतिरिक्त किस चीज़ में तुझे आश्चर्य लगता है?

आहाहा! तेरे अतिरिक्त पर चीज़ में आश्चर्य लगे, विस्मयता लगे, उससे अधिक—भिन्न वस्तु विशेष लगे। आहाहा! उसने आत्मा को बिगाड़ डाला है। उसने आत्मा का अनादर किया है। आहाहा! अपनी चीज़ के अतिरिक्त कोई चीज़, सुन्दर कपड़े पाँच-पाँच हजार, दस-दस हजार के होते हैं न? स्त्री के कपड़े, लाखों रुपये के कपड़े, एक-एक कपड़ा लाख रुपये का। पल्लू होता है न पल्लू? पल्लू में सोने के रखते हैं। लाख-लाख रुपये के पल्लू। वह फिर पल्लू पर हाथ रखे। यहाँ नहीं। पल्लू होता है न? वह दूसरे को बतलाना होता है न? ऐसे रखे। आहाहा! उसमें जिसकी बहू वह पहनकर निकली हो, उसे लोग उसके ऊपर नजर करे, भले नजर दूसरी हो, परन्तु वह सेठ प्रसन्न होता है... आहाहा! मेरे लड़के को मैंने दस हजार, पन्द्रह हजार की साड़ी करायी, वह बाहर प्रसिद्ध है, मैं बाहर प्रसिद्ध होता हूँ, मेरी इज्जत बढ़ती है। आहाहा! अरे रे! तूने कितना भिखारीपन किया? प्रभु! उस भिखारीपन की तुझे खबर नहीं। तूने कभी सुना नहीं। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं, प्रभु! **अनाकुलता जिसका लक्षण अर्थात् स्वरूप है...** ऐसा सुख तो कहीं अन्तर में—आत्मा में है। तीन काल-तीन लोक में कहीं किसी चीज़ में तेरा यह सुख नहीं है। आहाहा! अमेरिका में १३५ मंजिल का मकान है। तीस-तीस, पैंतीस-चालीस मंजिल के मकान तो मुम्बई में है। हम उतरे थे, वहाँ तीस मंजिल का मकान था। आहाहा! यहाँ कहते थे कि अमेरिका में १३५ मंजिल। आहाहा! ऊपर अन्त में रहे उसे हवा, पानी... आहाहा! धूल भी नहीं, भगवान! उसमें यदि नीचे से कुछ सुलगा... यह भी देखा है। मुम्बई में हम एक बार बाहर निकले थे तो दूसरी मंजिल में सुलगा तो तीसरी मंजिल, चौथी मंजिल लपटें गयी थीं। देखा है, नजरों से देखा है। जंगल जाकर मोटर में आते थे। दूसरे माले में कुछ सुलगा उसकी लपटें तीसरे, चौथे (माले में पहुँची)। सब हड.... हड... हड... हड... सुलगे। उसमें १३५ माले में पहले से सुलगा हो तो... जाये। आहाहा!

यह अनन्त-अनन्त माल का खजाना है। अनाकुल आनन्द तुझमें पड़ा है। ऐसी सुखशक्ति है। तेरी नजर वहाँ जाये तो ज्ञान की पर्याय जैसे ज्ञान लक्षण से आत्मा को जानती है तो ज्ञप्तिक्रिया उत्पन्न हुई, उसके साथ सब गुणों की पर्याय अन्दर उछलती उत्पन्न होती है और तुझे आनन्द आता है। वह यह वस्तु कहने में आती है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४८४, शक्ति ६, ७ बुधवार, भाद्र कृष्ण १५
दिनांक - ०८-१०-१९८०

स्वरूपनिर्वर्तनसामर्थ्यरूपा वीर्यशक्तिः।

स्वरूप की (-आत्मस्वरूप की) रचना की सामर्थ्यरूप वीर्यशक्ति।६।

समयसार, शक्ति का अधिकार है। पाँच शक्तियाँ चल गयी हैं। छठी। शक्ति अर्थात् क्या? शक्तिवान आत्मा, उसकी शक्ति—गुण, वह शक्ति। शक्तिवान का गुण, वह शक्ति। गुणवान का गुण, वह शक्ति। स्वभाववान का स्वभाव, वह शक्ति। आहाहा! 'वीर्य' जगत को सूक्ष्म पड़े, क्या हो? भाई! अभी वहाँ इन्दौर में विरोध हुआ था। फूलचन्दजी गये थे। फूलचन्दजी कहे, यहाँ कितनी ही बात तो उन्हें बैठी है। वह भाषण करने लगे। दिगम्बर साधु बैठे थे। वे कहे, यह सोनगढ़ की बात है। अरे प्रभु! तब इनसे बोला गया, क्या कहते हो तुम? इसलिए मुनिभक्त उछल गये। और कहे, पर का अकिंचित्कर कहाँ है? पर का कुछ कर नहीं सकता, ऐसा कहाँ है? कहो, सेठ! पर का कुछ कर नहीं सकता, ऐसा कहाँ है? बड़ा विवाद उठा है। इन्दौर... इन्दौर फूलचन्दजी गये थे। २६७ गाथा निकालो, २६७। बड़ी चिल्लाहट मचायी। लोगों को कुछ खबर नहीं होती। क्या हो?

बन्ध अधिकार २६७ गाथा की टीका है। २६७ की टीका है न? २६७ की टीका, इस टीका के अन्तिम से तीसरी लाईन। **इसलिए पर में अकिंचित्कर होने से...** है? क्या कहते हैं? आहाहा! ऐसे सिद्धान्त भरे हैं। आत्मा एक रजकण आत्मा का कुछ कर सके नहीं। है? **इसलिए पर में अकिंचित्कर होने से (अर्थात् कुछ नहीं कर सकता होने से) यह अध्यवसान अपनी अर्थक्रिया करनेवाला नहीं है...** अर्थात् मैं पर को जिला सकता हूँ, मार सकता हूँ, मदद कर सकता हूँ, सहायता कर सकता हूँ, पैसे दे सकता हूँ, ऐसा जो अध्यवसाय, वह मिथ्यात्व है। आहाहा! ऐसी बात स्पष्ट पड़ी है, तो भी प्रश्न चला है। अखबार में आया है। साधु ने पूछा, पर का कुछ नहीं कर सकता, अकिंचित्कर—कुछ नहीं कर सकता, ऐसा कहाँ शास्त्र में लिखा है? जवाब दिया नहीं। यहाँ तो अपने...

आहाहा! है सेठ! मकान-बकान का कुछ कर नहीं सकता। डालचन्दजी का कुछ कर नहीं सकता है।

मुमुक्षु : सोनगढ़ में तो ऐसा ही बताते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : शास्त्र तुम्हारा है या नहीं? दिगम्बर का शास्त्र है, शास्त्र तो दिगम्बर का है, टीका दिगम्बर की है, अमृतचन्द्राचार्य की है। टीका है न? यह टीका है। यह तो अनादि से चला आता है। यह पाठ टीका में है। अमृतचन्द्राचार्य की टीका। है? **'ततः परत्राकिंचित्कर'** संस्कृत की चौथी लाईन है। अकिंचित्कर—कुछ कर नहीं सकता। एक अँगुली हिला नहीं सकता, प्रभु! क्या हो? आहाहा! जीव पर की दया पाल नहीं सकता। चिल्लाहट मचाये। है? छोटाभाई, है? पर में कुछ कर नहीं सकता।

यहाँ तो इससे विशेष बात तीसरी गाथा में बतायी है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को कभी स्पर्श नहीं करता। आहाहा! प्रभु! तेरी प्रभुता तुझे सन्त बताते हैं। अनादर होता है, नाथ! आहाहा! तेरी प्रभुता में यह वीर्य... वीर्य पड़ा है। यह वीर्यशक्ति चलती है न? प्रभु! तुझमें वीर्यशक्ति पड़ी है। वह वीर्य तेरे अतिरिक्त पर का कुछ कर नहीं सकता। आहाहा! अब अपने वीर्यशक्ति। बन्ध अधिकार में यह आया—अकिंचित्कर। आहाहा! अरे! एक चश्मा ऊपर चढ़ाना, उसे आत्मा कर नहीं सकता। प्रभु! गजब बात है, भाई! जिनदेव का मार्ग, वीतराग रह गये (वहाँ)। सीमन्धरस्वामी महाविदेह में रह गये। मार्ग यह है। अरे! इसकी निन्दा करता है। प्रभु! तू सुन तो सही, नाथ! प्रभु! तू भगवान है न!

मुमुक्षु : भगवान भूला है।

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान भूल गया, प्रभु! तुझमें वीर्यशक्ति है। यह चलता है न?

छठवीं शक्ति। **स्वरूप की (-आत्मस्वरूप की) रचना की सामर्थ्यरूप वीर्यशक्ति।** यह क्या कहते हैं? इतने में तो कितना भरा है। आहाहा! प्रभु! तुझमें एक वीर्य नाम का गुण है। भाई! पुरुषार्थ गुण नहीं लिया। पुरुषार्थ शब्द नहीं लिया, वीर्य लिया। आहाहा! आत्मा में एक वीर्य नाम का अरूपी गुण है। यह वीर्य अर्थात् रेत नहीं। जिसके लड़के-लड़की हों, वह रेत तो धूल-मिट्टी है। उसका तो आत्मा कर नहीं सकता। नियमसार में आता है न? भाई! **'जिनं वीरं'** पहली गाथा में। वीर्य ते पराक्रमते इति वीर्य।

संस्कृत टीका में है। तीन-चार अर्थ किये हैं। नियमसार। आहाहा!

यहाँ प्रभु ऐसा कहते हैं, प्रभु! तुझमें एक वीर्यशक्ति है। शक्तिवान वीर्यशक्ति से तू शक्तिवान है, परन्तु ये करे क्या? आहाहा! क्या पर की दया की रचना करे? पैसे इकट्ठे करे? गिने? ब्याज उपजावे? दुकान चलावे? आहाहा! यह कुछ नहीं कर सकता, प्रभु! ऐसा वीतराग मार्ग। अरे रे!

यहाँ तो कहते हैं, 'वीर्य' स्वरूप की रचना के सामर्थ्यरूप वीर्य। अपने आनन्द और ज्ञानादि शुद्ध चैतन्य, ऐसी पवित्र शक्तियाँ, उनकी पर्याय में रचना करे, उसका नाम वीर्य कहते हैं। आहाहा! भाषा तो सादी है, प्रभु! मार्ग तो यह है। भले थोड़े न माने, निन्दा करे, विरोध करे। आहाहा!

यहाँ तो परमात्मा की दिव्यध्वनि द्वारा यह आया कि वीर्य उसे कहते हैं... आहाहा! पुरुषार्थ अन्दर करता है तो यह पुरुषार्थ उसे कहते हैं कि अपने में जो शुद्ध चैतन्य आदि अनन्त गुण है, चैतन्य, आनन्द, शान्ति, वीरता, वीतरागता, यह स्वरूप की पर्याय में रचना करे, उसका नाम जैनदर्शन (कहते हैं)। त्रिलोकनाथ की वाणी में यह ध्वनि आयी है। आहाहा! एक अँगुली ऐसे घुमावे नहीं। ऐसा मार्ग है। लोगों के लगे, अनजाने लोग, कुछ सुना नहीं, आहाहा! पूर्वापर मेल किया नहीं। २६७ गाथा देखी। अकिंचित्कर—अकिंचित्कर। किंचित्कर नहीं। एक अँगुली को हिलाना या इस लकड़ी को ऐसे हिलाना... अरे! दाल, सब्जी, रोटी खाता है तो दाढ़ को हिलाना, प्रभु! यह नहीं कर सकता। अरे रे! किसे जँचे? वीतराग तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव का यह हुकम है। आहाहा!

इसलिए सवेरे लिया था। 'चरित् भट्ठा सिझंति, श्रद्धा भट्ठा न सिझंति' जो श्रद्धा से भ्रष्ट हैं, वह तो नरक-निगोद में भटकनेवाले हैं परन्तु श्रद्धा में समकित सहित में दोष हो—चारित्रदोष हो, वासना-राग आ जाये, परन्तु वह 'चरित्त भट्ठा सिझंति' पाठ सवेरे आ गया है। क्योंकि उसके ख्याल में है कि यह दोष है, राग है। वह दूसरे समय में, दूसरे क्षण में उसका नाश कर देता है। आहाहा! अन्दर वासना आ गयी। आहाहा! परन्तु चारित्र का दोष, वह चारित्रवन्त, दोषवन्त सीझता है। क्योंकि उसके ख्याल में है कि यह मेरा दोष है। वह सिंझति, चरित्त भट्ठा सिझंति, सवेरे आया था। अष्टपाहुड़ न? उसमें है अष्टपाहुड़? नहीं होगा।

देखो ! **'दंसणभट्ठा भट्ठा दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं।'** तीसरी गाथा है। सवेरे स्वाध्याय हो गयी। जिसे श्रद्धा में अन्तर है, मैं पर का कुछ भी कर सकता हूँ, पर को मदद कर सकता हूँ, अभी साधु का पुकार यह है। विद्यानन्दजी और वे सब। दूसरे का ऐसा करो, मदद करो, सहायता करो... दुनिया को... बनियों को खबर नहीं होती, धन्धे में तल्लीन। आहाहा ! यहाँ परमात्मा ऐसा कहते हैं, **'दंसणभट्ठा भट्ठा'** सम्यक्श्रद्धा से भ्रष्ट, वह भ्रष्ट है। **'दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं। सिज्झंति चरियभट्ठा।'** आहाहा ! चारित्र के दोष में (है), सीझेगा। इसके ख्याल में है, मुझे राग आया और वासना आ गयी। तथापि उसके ख्याल में है, वह दूसरे क्षण में तोड़ सकेगा। आहाहा ! क्योंकि दर्शन का जोर है। चारित्र का दोष है, वह ख्याल है। समझ में आया ? परन्तु श्रद्धा का जो दोष है, वह तो कभी सीझेगा नहीं।

भरत वैभव। क्या नाम ? भरतेश वैभव पुस्तक है। सब देखा है। उसमें ऐसा लिखा है, छियानवें हजार स्त्रियाँ। उस स्त्री का विषय ले तब राग है। परन्तु जहाँ विषय पूरा हुआ, नीचे उतरा, बैठा... उसमें भरतेश वैभव में पाठ है कि वह चारित्रदोष है परन्तु नीचे उतरकर ध्यान में बैठे, वहाँ निर्विकल्प हो जाता है। आहाहा ! ऐ..ई.. ! कोई बात सुनी न हो, प्रभु ! अरे रे ! तीन लोक के नाथ केवली का मार्ग यह है, उसकी सत्यता जहाँ बाहर आयी तो लोग निन्दा करे, विरोध करे। प्रभु ! प्रभु ! तेरा मार्ग यह है न, भाई ! आहाहा !

यहाँ कहते हैं, वीर्य उसे कहते हैं कि पर को मदद करे और पर का उद्धार करे, उसका नाम वीर्य कहें, ऐसा यहाँ नहीं कहा। आहाहा ! और यह सेठ जैसे बड़े-बड़े व्यापार करे, इसलिए यह वीर्य है, ऐसा यहाँ नहीं कहा। सेठ ! सेठ के ऊपर डाला। बड़े को सामने (किया)। आहाहा ! वीर्य तो उसे कहते हैं... परमात्मा तीन लोक के नाथ, जिनेश्वरदेव का फरमान यह है कि वीर्य उसे कहते हैं कि **स्वरूप की रचना की सामर्थ्यरूप वीर्य...** आहाहा ! यह तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्द की रचना करे, उसे वीर्य कहते हैं। प्रभु ! आहाहा ! राग की रचना करे, उसे वीर्य नहीं कहा, प्रभु ! यह क्या कहा ? अपने अतिरिक्त परमाणु या दूसरे आत्मा का तो कुछ कर नहीं सकता। यह बालक का पोषण करना और यह बड़ा करना और कुछ कर नहीं सकता। यह क्रिया होती है, वहाँ निमित्तरूप से मैं करता हूँ, ऐसा अभिमान मिथ्यात्व है। आहाहा !

यहाँ तो यह कहते हैं, स्वरूप... पर रजकण, पर का तो कर नहीं सकता परन्तु दया,

दान के राग को भी करे, वह वीर्य नहीं, वह नपुंसक है। आहाहा! पहले आ गया है। देखना है? ४३ गाथा में आ गया है। ४३ है न? आहाहा! ४३ गाथा की टीका। **इस जगत में आत्मा का असाधारण लक्षण नहीं जानने के कारण नपुंसकता से अत्यन्त विमूढ़ होते हुए...** आहाहा! प्रभु! तुझे शरमाना पड़े ऐसा है। आहाहा! टीका की पहली लाईन। है? क्या है? देखो! **जगत में आत्मा का असाधारण लक्षण...** आत्मा कौन है? ज्ञान है, आनन्द है, वीर्य है। उसे नहीं जाननेवाले **नपुंसकता से अत्यन्त विमूढ़ होते हुए, तात्त्विक (परमार्थभूत) आत्मा को नहीं जानते, ऐसे बहुत से अज्ञानीजन बहुत प्रकार से पर को भी आत्मा कहते हैं...** आहाहा! इतने पाठ भरे हैं। 'ग्रन्थाधिराज तारामां भावो ब्रह्मांडना भर्या' आहाहा! क्या कहा?

परमात्मा तीन लोक के नाथ, आत्मा शक्तिवान में वीर्यशक्ति उसे कहते हैं कि अपनी शुद्धता, पवित्रता, अनन्त गुण की शुद्धता की रचना करे, उसे भगवान वीर्य कहते हैं। और जो वीर्य दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम को करे, उस वीर्य को नपुंसक कहते हैं। आहाहा! 'नागा बादशाह से आघा' नग्न मुनियों को जगत की कहाँ पड़ी है? कि मैं यह कहूँगा तो दुनिया को कैसे (रहेगा)? वे तो नागा बादशाह से आघा है। सेठियों को, अरबोंपति को नपुंसक कह दिया।

मुमुक्षु : आप सबको ढोर में भेजते हो न!

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो स्थिति ऐसी। बनिये माँस आदि न खाये और धर्म— समकित तो है नहीं और पुण्य के परिणाम भी चार-चार, पाँच-पाँच घण्टे सत्समागम नहीं, प्रभु! उसका फल दूसरा क्या होगा? भाई!

यह तो (संवत्) १९६४ के वर्ष, तुम्हारे जन्म से पहले... आहाहा! अन्तर से पूर्व की बात आती थी न! भगवान के पास थे। वहाँ बात सुनी है। भगवान त्रिलोकनाथ विराजते हैं। यह संवत् १९६४ के वर्ष में कहा, बनिये माँस खाते नहीं, शराब पीते नहीं, अण्डा खाते नहीं, इसलिए नरक में नहीं जायेंगे। परन्तु धर्म नहीं और पुण्य भी नहीं। समकित तो नहीं परन्तु चार-चार घण्टे अत्यन्त निवृत्ति लेकर शास्त्र वाँचन, सत्समागम मिलता नहीं। आहाहा!

मैंने तो मेरे भाई को कहा था, बुआ का पुत्र भागीदार (था)। कुँवरजी जादवजी बड़ी दुकान है, अभी है। बड़ा पाटिया 'कुँवरजी जादवजी' चार भाई इकट्ठे थे तब तो चालीस लाख रुपये थे। चार लाख की आमदनी। अभी तो तीनों अलग हो गये हैं। 'कुँवरजी जादवजी' दुकान का ऐसा बड़ा पाटिया है। इतना बड़ा... बड़ी दुकान पालेज में है। मैंने तो स्पष्ट कहा, बापू! मुझे तो ऐसा लगता है, भाई! वीतराग तीन लोक के नाथ... तब भी शास्त्र तो पढ़े थे न! भाई! आहाहा! यह शक्ति आयी है, बहुत अच्छी आयी है, तुम्हारी उपस्थिति में। माणेकचन्दजी! आहाहा! धीरे से समझना, प्रभु!

तेरा आत्मा अन्दर है, वह राग और द्वेष के विकल्प से रहित है। उसमें एक वीर्य नाम की शक्ति है। उस शक्ति का कार्य क्या? परमात्मा त्रिलोकनाथ फरमाते हैं, यह नग्न दिगम्बर मुनि अमृतचन्द्राचार्य जगत के समक्ष प्रसिद्ध करके ढिंढ़ोरा पीटते हैं, आहाहा! ढ़िंढोरा पीटते है, प्रभु! तेरा वीर्य उसे कहते हैं, प्रभु! तेरा बल उसे कहते हैं कि तेरी निर्मल परिणति जो अनन्त गुण हैं, उसकी पर्याय में रचना करे, प्रगट करे, उसका नाम वीर्य है। नटुलालजी! यह भाषा तो सादी है, प्रभु! भाषा तो सादी है परन्तु कभी किया नहीं। यह तो नयी बात है न, भगवान! शास्त्र में इतनी बातें पड़ी हैं... ओहोहो! ढ़ेर पड़ी हैं, परन्तु कभी विचार किया नहीं। मेरा हित कैसे हो? अरे रे! देह छूटकर मैं कहाँ जाऊँगा? कोई साथ आता नहीं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि वीर्य उसे कहते हैं, पराक्रम उसे कहते हैं, पराक्रमी, वीरता, पराक्रमी उसे कहते हैं कि जो अपने अनन्त गुण निर्मल हैं, उनकी पर्याय में शुद्धता रचे, उसका नाम पराक्रमी और वीर कहते हैं। शुभराग को रचे, पर को तो रचे नहीं। तीन बातें। आत्मा के अतिरिक्त रजकण और परस्त्री, आत्मा या दूसरा शरीर, जड़ का तो कुछ कर नहीं सकता—एक बात। अब अन्दर पुण्य और पाप के भाव, वह करे। परन्तु उस वीर्य को नपुंसक कहा जाता है। क्यों? कि नपुंसक को वीर्य नहीं होता, इसलिए उसे पुत्र नहीं होता। पावैया, हीजड़ा को। हीजड़ा, पावैया होते हैं न? हमारे तो सब अनुभव (हो गया है)। हमारी दुकान पर लेने आवे न! वे हीजड़े माँगने निकले। एक बार चार-पाँच हीजड़े दुकान पर चढ़ गये और वे तो बेशर्म होते हैं न? देरी लगे तो कपड़ा ऊँचा करे, नंगे हो, बतावे। अर..र..र..! ऐसे ढोल बजावे। लाओ, चार पैसा लाओ, दो आना लाओ, चार आना लाओ।

यहाँ कहते हैं कि प्रभु! पर का तो कुछ कर नहीं सकता। हीजड़ा, नुपंसकता भी शुभ और अशुभभाव करे, उसका नाम नपुंसकता। पर का तो करे नहीं, वहाँ प्रश्न क्या? पर का करे, यह मान्यता मिथ्यात्व है और शुभाशुभभाव करे, वह भाव नपुंसक है। ये शुभाशुभ मेरे हैं, यह मिथ्यात्व है। आहाहा! गजब बात है। तीन बातें हुईं।

तीसरी (बात)। अन्दर शुद्ध स्वरूप जो भगवान, अनन्त प्रभुता, अनन्त शान्ति और अनन्त आनन्द, अनन्त स्वच्छता, जिसके विशाल गुण का पार नहीं होता, जिसमें एक-एक गुण में अनन्त गुण का रूप है... आहाहा! उन अनन्त गुण की वर्तमान दशा में जो अन्तर्दृष्टि करने से जिस निर्मलता की रचना होती है, वह वीर्य से होती है। आहाहा! समझ में आता है न? सेठ! भाषा तो सादी है, भाव तो है वह है, परन्तु अब दूसरा क्या हो? अरे रे! जिस कुल में जन्मा और जिसका परिचय रहा, बस! उसमें से छूटना कठिन पड़े। प्रभु! आहाहा!

तीन बोल आये। आत्मा का वीर्य रजकण का और दूसरे आत्मा का कुछ कर नहीं सकता। एक बात। और पुण्य-पाप को रचे तो वह वीर्य आत्मा का नहीं। वह तो नपुंसक वीर्य है। आहाहा! जो वीर्य आत्मा की सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, आनन्द, शुद्धता के स्वभाव की रचना करे, उसका नाम वीर्य कहते हैं। ऐसा तो सीधा है, भगवान! आहाहा! अब वे कहते हैं, अकिंचित्कर कहाँ कहा है? अर.. र.. र..! दिगम्बर के साधु थे। फूलचन्दजी को मिथ्या सिद्ध करने को (ऐसा कहे)। फूलचन्दजी यहाँ की बात करे, यहाँ की कहाँ है? बात तो जो सच्ची है, वह उन्होंने पकड़ी थी। फूलचन्दजी को यह बात बैठ गयी है। फूलचन्दजी, यह हुकमचन्दजी। हुकमचन्दजी को तो और उनसे निर्मल... बैठी है। आहाहा!

मुमुक्षु : अध्यात्म की बात करे, इसलिए सोनगढ़ की छाप लगा दी।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बात सत्य है। सेठ कहता है, वह बराबर है। अध्यात्म की बात कहे तो यह सोनगढ़ की आ गयी। अरे भगवान! प्रभु! तू कौन है? प्रभु! तुझे खबर नहीं। आहाहा!

'स्वयं ज्योति सुखधाम'—श्रीमद् ने आत्मसिद्धि में कहा। 'शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन'

शुद्ध पवित्र, बुद्ध अर्थात् ज्ञानपिण्ड, 'शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन' असंख्य प्रदेशी पिण्ड। 'शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन, स्वयं ज्योति...' चैतन्य ज्योति स्वयं अनादि-अनन्त सत्ता स्वयंसिद्ध है। 'स्वयं ज्योति सुखधाम' आनन्द का स्थान—धाम आत्मा है। 'दूसरा कितना कहें कर विचार तो पाम।' आहाहा! 'शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन...' आहाहा! 'शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन...' फिर क्या है ? आहाहा! 'स्वयं ज्योति सुखधाम।' स्वयं चैतन्य ज्योति जलहलती है। अन्दर आनन्द का नाथ 'स्वयं ज्योति सुखधाम, दूसरा कितना कहें...' प्रभु! तुझे क्या कहें ? कितना कहें ? 'कर विचार तो पाम।' अन्तर्मुख जा तो पा सके, बापू! दूसरा तो कोई पन्थ नहीं, भाई! यह सोनगढ़ का पन्थ नहीं। यह सोनगढ़ की बात नहीं, यह तो तीन लोक के नाथ की बात है। आहाहा! इस एक शब्द में इतना (भरा है)। आहाहा!

स्वरूप की रचना, ऐसा है न ? सेठ! स्वरूप की रचना, शब्द है—वीर्य स्वरूप की रचना करता है। आहाहा! यह छठवीं वीर्यशक्ति चलती है। कल दो चली थी, परसों तीन चली थी। यह छठवीं चलती है। इसमें तो छठ्ठी का लेख है। आहाहा! मर जाने के बाद नहीं कहते ? छठी का लेख। वह तो लिखाकर आया है, अब क्या लिखे ? वह तो लिखकर ही आया है। पूर्व का करके आया है। नये लेख कहाँ कागज में लिखता है ? छठी के लेख लिखे न ? छठवें दिन। सब उल्टा है। लेख लिखकर आया है। यह छठी का लेख। आहाहा!

तेरे अतिरिक्त कोई रजकण और किसी आत्मा का कुछ भी कर सके, मदद कर सके या पर की मदद ले सके, पर आत्मा से मदद ले सके... आहाहा! प्रभु! यह तुझमें है नहीं, हों! यह तो नहीं परन्तु दया, दान और व्रत, भक्ति तथा काम, क्रोध के परिणाम रचे, प्रभु! वह तेरा गुण नहीं। आहाहा! वह तेरी शक्ति नहीं, तेरा सामर्थ्य नहीं, तेरा वीर्य नहीं। छोटाभाई! ऐसा है, भगवान! आहाहा! अरे रे! अध्यात्म की बात आवे, तब कहा कि, नाम सोनगढ़ का पड़े। परन्तु सोनगढ़ का कहाँ है ? प्रभु! यह तो भगवान का है, बापू! आहाहा!

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। तीसरी गाथा। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को चूमता नहीं। आहाहा! और एक द्रव्य की पर्याय दूसरे द्रव्य को नहीं करती। इस द्रव्य की पर्याय को, वह द्रव्य—ध्रुव करता नहीं। यह वह गजब बात! इस पर्याय को ध्रुव की अपेक्षा नहीं। आहाहा! यह प्रवचनसार, सब ख्याल है, बताने जायें तो देर लगे। आहाहा! यह

शक्ति तो गजब है। जिसे यह वीर्यशक्तिवान, वीर्यशक्तिवान अर्थात् वीर्यशक्ति का स्वरूप। वान कहते हैं न ? यह अमुक वान है, शरीर का वान है, काला वान है, सफेद वान है। वैसे यह स्वरूप का वीर्यवान। वीर्य जिसका स्वरूप है। आहाहा ! यह वीर्य निर्मल शुद्ध धर्म की परिणति, वीतरागता की रचना करे, उसे वीर्य कहते हैं। राग को रचे, उसे नपुंसक कहते हैं। पर को रचे, ऐसा माने, उसे मिथ्यादृष्टि कहते हैं। आहाहा ! यशपालजी ! ऐसी बातें हैं। आहाहा ! सोनगढ़ के नाम से लोग भड़क जाते हैं।

मुमुक्षु : यह बात आगे चलती नहीं थी, इसलिए लोग भड़कते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसलिए भड़कते हैं। वे आत्मा हैं। उसे अच्छा करने का भाव तो है न ? दुःखी होने का भाव तो उसका भी नहीं है, परन्तु मिलता नहीं, सत्य मिला नहीं। अरे रे ! दूसरे रास्ते चढ़ गये परन्तु सिद्ध का पन्थ कौन सा है, इसकी खबर नहीं होती। आहाहा ! इतनी निवृत्ति कहाँ है ? महिलायें भी पूरे दिन पकाना और साफ करना। गेहूँ और चावल साफ करना, दाल ऐसे करना, अमुक ऐसा करना, सेव बनाना... वह क्या कहलाता है ? वड़ी... वड़ी बनाना.. उसी और उसी में रुक जाती हैं। अरे रे ! प्रभु ! तेरा समय जाता है न !

तुझे तेरा, तू और तू कब कहलाये ? तू तेरा कब कहलाये ? तू तेरा कब कहलाये ?— कि पवित्रता को पर्याय में रचे तब तू तेरा कहलाये। आहाहा ! मीठी मधुर बात है, भाई ! आहाहा ! यह बात तो संवत् १९७२ के साल से बात चलती है। गुरु थे, वे तो नरम थे, सज्जन (थे) परन्तु गुरुभाई थे, जरा प्रकृति कठोर और अभिमानी थे। वे कहे, भगवान ने देखा होगा, अपन क्या पुरुषार्थ करें ? पुरुषार्थ को उड़ाते थे। १९७२ के वर्ष। एक बार १९७२ के फाल्गुन महीने में कहा, तुम यह क्या कहते हो ? पहले दो वर्ष नहीं बोला। नवदीक्षित था। १९७० में दीक्षा ली। ६६ वर्ष हुए। दो वर्ष बाद १९७२ में यह बात निकली। भगवान ने देखा होगा वह होगा, अपन क्या करें ? प्रभु ! तुम यह क्या कहते हो ? पुरुषार्थ उड़ाते हो ? परन्तु भगवान जिसे बैठे... आहाहा ! जिसे एक समय का ज्ञान तीन काल-तीन लोक को जाने, ऐसी पर्याय की सत्ता जगत में है, जगत में विराजमान है, ऐसे अनन्त केवली सिद्ध विराजमान हैं, लाखों केवली मनुष्यरूप से विराजमान हैं। उन

केवलज्ञानी प्रभु की श्रद्धा हो... आहाहा! और उनकी श्रद्धा कब हो? कि परसन्मुख देखकर श्रद्धा नहीं होती। अन्दर में जिसमें वस्तु है, उसमें स्वसन्मुख हो, उसमें यह श्रद्धा होती है। तो यह पुरुषार्थ करने का इसमें ही आ गया। भगवान है, उन्होंने देखा होगा, वैसा माननेवाले को केवलज्ञान की सत्ता का स्वीकार स्वसन्मुख होकर हो, उसका नाम पुरुषार्थ कहा जाता है। आहाहा! यह तो कभी जिसने सुना न हो... वह बारोट आता है न? बारोट को क्या कहते हैं? बारोट होता है न? चारण कहते हैं? कुटुम्ब का बारोट आकर बात सुनावे। सातवीं पीढ़ी में तुम्हारे बापू ने ऐसा किया था, पाँच लाख खर्च किये थे। वहाँ प्रसन्न-प्रसन्न हो जाये। परन्तु क्या है?

यह तीन लोक के नाथ बारोट हैं। केवलज्ञानी बारोट है। तेरा इतिहास तुझे कहते हैं। आहाहा! गजब रचना है। अमृतचन्द्राचार्य ने अमृत प्रवाहित किया है। आहाहा!

जो स्वरूप समझे बिना पाया दुःख अनन्त,
समझाया उन पद नमूँ श्री सद्गुरु भगवन्त रे,
गुणवन्ता रे ज्ञानी अमृत वरस्या रे पंचम काल में।

अमृतचन्द्राचार्य ने अमृत बरसाया है। आहाहा! अरे..रे..! पिता मर जाये, उसका उत्तराधिकार लेने तैयार (होता है)। जहाँ मर गया हो, वहाँ तैयार। बापू की चाबी दो। चाबी कहाँ है? आहाहा! तीन लोक के नाथ यह उत्तराधिकार छोड़ गये।

मुमुक्षु : पुस्तकें देखता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : सामने देखता नहीं। आहाहा! इन्दौर जैसे शहर में कितनी आबादी और राजकुमारसिंह को कमजोरी आ गयी। अब उन्हें ठीक है, कहते हैं। परन्तु कोई निर्णय करनेवाला (नहीं होता)। यहाँ तो ऐसा लिखा है, गत वर्ष विद्यानन्दजी थे। इस वर्ष यह रहे, सोनगढ़ के भक्तों का यहाँ शून्य हो गया। ऐसा लिखा है। सोनगढ़ की श्रद्धा बदल गयी। आहाहा! अरे! सोनगढ़ का कहाँ है, प्रभु! यह सब इतने शब्दों की बात चलती है।

स्वरूप की अर्थात् कि... कोष्ठक में है न? **(-आत्मस्वरूप की) रचना की सामर्थ्यरूप...** आत्मस्वरूप की रचना करना, परिणति करना पुरुषार्थ से, उसे यहाँ

वीर्यशक्ति, सामर्थ्यरूप वीर्यशक्ति—पुरुषार्थ कहा जाता है। आहाहा! एक शक्ति ने गजब काम कर डाला है! पौन घण्टा तो एक में चला। आहाहा! बाहर की सब चमक, शरीर की सुन्दरता और रूपवान (शरीर), उसमें कीड़े पड़ेंगे, जीवांत पड़ेगी। एक बहिन को तो ऐसा करे वहाँ कितने ही जीव... क्या कहा जाता है उसे? कीड़ा... कीड़ा। ऐसा करे वहाँ कीड़ा पड़े। कीड़ा पड़े सिर में। आहाहा!

कहा था न? एक बहिन को शीतला निकली। शीतला कहते हैं न? दाने-दाने में कीड़े, दाने-दाने में कीड़े। लाठी में। है कोई लाठीवाला? वहाँ आगे 'धीरुभाई का डेला' है न? उसके अन्दर आगे-आगे रहते थे। अठारह वर्ष की उम्र की लड़की थी। उसके पति ने दूसरा विवाह किया था। उसमें उसे यह शीतला रोग हुआ। दाने-दाने में कीड़े पड़े। ऐसा बोली, माँ! मैंने ऐसे पाप इस भव में किये नहीं। मुझसे सहा नहीं जाता। सर्वत्र बटका (भरे)। पूरे शरीर में कीड़े। आहाहा! यहाँ वह भावसार ललिताबेन है न? कितने वर्ष से पूरे शरीर में अग्नि जलती है। यहाँ है। मोतीबेन चाकरी करती है। पूरे शरीर में अग्नि जलती है। आहाहा!

प्रभु! तेरा पुरुषार्थ, अन्तर में देख तो तेरी पुरुषार्थ की क्रिया होगी। उसका नाम वीर्य कहा जाता है। बाहर के वीर्य से बहुत पराक्रमी है और शूरवीर है (ऐसा नहीं है)। यहाँ तो अष्टपाहुड़ आदि में कहते हैं कि वह शूरवीर और पण्डित और वीर तो उसे कहते हैं कि जो आत्मसन्मुख होकर सम्यक्त्व प्रगट करे, उसे वीर कहते हैं। वह वीर, वह शूरवीर, वह पराक्रमी है। आहाहा! अभी उसमें पार नहीं, बापू! इतने शब्द के अन्दर तो पार नहीं। आहाहा! एक तो आत्मा, दूसरा उसका स्वरूप, तीसरी उसकी रचना। तीन आये—द्रव्य, गुण और पर्याय। क्या आया?

आत्मा वह द्रव्य—वस्तु है। अब उसका जो स्व-रूप है अनन्त शक्तियाँ, वे गुण हैं, उसमें वीर्य नाम का गुण है। वह गुण अनन्त गुण की शुद्धता को रचे, वह पर्याय है। आहाहा! कितना आया! रचे, वह पर्याय है। गुण रचा नहीं जाता, गुण तो त्रिकाल है। आहाहा! द्रव्य और गुण तो ध्रुव त्रिकाल है। परन्तु उसमें वीर्य नाम का गुण है तो द्रव्य का जहाँ स्वीकार हो तो अनन्त गुण का स्वरूप है, उसकी पर्याय में अनन्त निर्मल परिणति की

रचना होती है। आहाहा! छोटाभाई! ऐसा है, भगवान! क्या हो? प्रभु!

दुनिया स्वतन्त्र है। कोई किसी को समझा सके, ऐसी ताकत नहीं है। यह इसमें आ गया या नहीं? कोई किसी को समझा सके, ऐसी ताकत नहीं है। आहाहा! स्वयं अपने स्वरूप की रचना करने में ताकतवाला है। आहाहा! पूरा-पूरा ताकतवाला है। पर को समझा सके, (ऐसा नहीं) यह तो नियमसार में कुन्दकुन्दाचार्य ने लिया है, प्रभु! तू किसके साथ वाद-विवाद करेगा? ऐसा सूक्ष्म विषय। किसी के साथ करना नहीं। यह नाना जीवा, नाना कम्मा, नाना लब्धि, ऐसा नियमसार में पाठ है। अनेक प्रकार के जीव, अनेक प्रकार के कर्म, अनेक प्रकार का उनका उघाड़; तू किसके साथ वाद-विवाद करेगा? बापू! इसलिए स्वसमय अर्थात् जैनदर्शन के अन्दर भी चर्चा करना नहीं, विवाद करना नहीं। आहाहा! और अन्य के साथ भी विवाद करना नहीं। नियमसार। आहाहा!

स्वरूप की (-आत्मस्वरूप की) रचना की सामर्थ्यरूप रचना के सामर्थ्यरूप वीर्यशक्ति। आहाहा! गजब बात है न! यह छठवीं शक्ति हुई।

अखण्डितप्रतापस्वातन्त्र्यशालित्वलक्षणा प्रभुत्वशक्तिः।७।

जिसका प्रताप अखण्डित है अर्थात् किसी से खण्डित की नहीं जा सकती ऐसे स्वातंत्र्य से (-स्वाधीनता से) शोभायमानपना जिसका लक्षण है ऐसे प्रभुत्वशक्ति।७।

सातवीं। **जिसका प्रताप अखण्डित है...** आहाहा! अब सातवीं प्रभुत्वशक्ति। भगवान! तुझमें परमेश्वर होने की एक शक्ति है। आहाहा! प्रभुत्वशक्ति। कैसी शक्ति है? **जिसका प्रताप अखण्डित है अर्थात् किसी से खण्डित की नहीं जा सकती...** आहाहा! कर्म से मुझमें यह हुआ और कर्म से मुझमें यह हुआ और कर्म ने मुझे बहुत नुकसान (किया)। प्रभु! ऐसा नहीं है। तुझमें ऐसी शक्ति है, प्रभुत्व नाम की ऐसी शक्ति है कि किसी से खण्डित हो और तू किसी से पराधीन हो, ऐसी तुझमें शक्ति नहीं है। यह स्वतन्त्र शक्ति है। आहाहा!

यह एक शक्ति प्रत्येक शक्ति में व्यापक है। वीर्यशक्ति में प्रभुत्वशक्ति व्यापक है और प्रभुत्वशक्ति में वीर्यशक्ति व्यापक है। आहाहा! ऐसा उपदेश। इसमें कहीं वह नहीं आया कि यह करना। एकेन्द्रिया, द्वीन्द्रिया, त्रीन्द्रिया, गिरनार की, सम्मेदशिखर की यात्रा करना... होता है वह, अशुभ से बचने के लिये शुभभाव आता है, होता है, परन्तु है हेय; धर्म नहीं। वह अशुभ से बचने के लिये आता है। आहाहा!

प्रभुत्व। **जिसका प्रताप अखण्डित है अर्थात् किसी से खण्डित की नहीं जा सकती...** आहाहा! किसी परद्रव्य से तेरी शक्ति खण्डित हो जाये, ऐसा नहीं है। परद्रव्य तुझे स्पर्श नहीं करते। आहाहा! ऐसा कठिन लगे। **किसी से खण्डित की नहीं जा सकती...** कर्म से खण्डित नहीं किया जा सकता। आहाहा! तुझमें प्रभुत्व नाम की शक्ति—गुण है। अरे! परमेश्वर होने का तुझमें गुण है। प्रभुत्व अर्थात् यह। आहाहा! **किसी से खण्डित की नहीं जा सकती...** भाषा... **किसी से खण्डित की नहीं जा सकती ऐसे स्वातंत्र्य से...** यह भाषा दूसरी आयी वापस। स्वतन्त्र... स्वतन्त्र। अपनी प्रभुता करने में किसी की मदद नहीं। स्वतन्त्र उसे कहते हैं, कर्ता स्वतन्त्ररूप से करे, वह कर्ता। जो कर्ता पर की आशा रखे, वह स्वतन्त्ररूप से कर्ता नहीं है। आहाहा! एक व्याख्यान भी ऐसा सूक्ष्म।

एक तो मानो पर्याय में वीर्यहीन और गुलामीवृत्ति, भिखारीवृत्ति। इसलिए दूसरे ऐसा कहें, हमसे तुझे ऐसा होगा, हमसे तुझे ऐसा होगा। इसलिए मानो कि हाश! अपने दूसरे से कुछ अच्छा होगा। आहाहा! ऐसी दृष्टि और ऐसा सुने उसे दूसरे से अच्छा लगे। यहाँ तो कहते हैं कि तीन लोक के नाथ आवे तो भी उनसे तुझे लाभ नहीं है। क्योंकि तुझमें प्रभुता अखण्डित भरी है। स्वतन्त्र शोभायमान ऐसी चीज़ तुझमें भरी है। आहाहा! है या नहीं अन्दर? आहाहा!

जिसका प्रताप अखण्डित है... यह प्रत्येक गुण का प्रताप अखण्डित है, हों! प्रभुत्व नाम का गुण अनन्त गुण में है। ज्ञानगुण भी अखण्डित प्रताप है। ज्ञानावरणीय उसे घात सके (ऐसा) तीन काल में नहीं है। आहाहा! दर्शन को दर्शनावरणीय घात सके, ऐसा तीन काल में नहीं है। मोहनीय कर्म आत्मा के सम्यग्दर्शन को घाते, यह तीन काल में नहीं

है। आहाहा! अन्तराय कर्म दान, लाभ में अन्तराय करे, ऐसा तीन काल में नहीं है। आहाहा! उतरता है इसमें ? उतरता है न (रिकॉर्डिंग होता है) ? आहाहा!

जिसका प्रताप अखण्डित है... अनन्त गुण में यह प्रभुत्व नाम का गुण है कि जो गुण अनन्त गुण में व्याप्त है। व्याप्त अर्थात् उसका रूप है। इसलिए किसी भी गुण को कोई दूसरा खण्डित करे, ज्ञानावरणीय का जोर आया, इसलिए ज्ञान आवृत हुआ, नहीं... नहीं... तेरी हीन दशा करनेवाला तू तुझसे है। ज्ञान का विकास नहीं... भाषा आवे कि ज्ञानावरणीय से ज्ञान रुकता है। यह तो निमित्त के कथन हैं। संक्षिप्त भाषा करने के लिये (ऐसे कथन हैं)। बाकी अपनी पर्याय अपने से हीन होती है। ज्ञानावरणीय कर्म से हीन कभी नहीं होती। परद्रव्य से परद्रव्य में कभी भी खण्डित नहीं होता। आहाहा! ऐसी बातें हैं। जीवराजभाई! बोटाद।

मुमुक्षु : यह समझने जैसी बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बात है, बापू! बोटाद में कितने चौमासे किये ? चार। एक शब्द बात नहीं थी। आहाहा! यह कोई वाड़ा नहीं, यह कोई पक्ष नहीं। यह तो तीन लोक के नाथ ने जो देखा, वह जाना, वह वस्तु यह है। आहाहा!

जिसका प्रताप अखण्डित है... प्रत्येक गुण में भी जिसका प्रताप अखण्डित है। आहाहा! **किसी से खण्डित की नहीं जा सकती...** किसी से, बैरी से भी तेरी पर्याय में खण्ड हो जाये, ऐसा तीन काल में नहीं है। जगत में कोई बैरी है ही नहीं, सब ज्ञेय हैं। ज्ञेय हैं, उनसे तुझमें लाभ-नुकसान नहीं होता। वे ज्ञेय हैं, उनका ज्ञान भी उनके कारण से नहीं होता। क्या कहा ? पंच परमेष्ठी ज्ञेय हैं, ज्ञान में जाननेयोग्य है। परन्तु उनके कारण उनका ज्ञान नहीं होता। अपने के कारण उनका ज्ञान होता है। आहाहा! ऐसी स्वतन्त्र ज्ञानशक्ति, दर्शनशक्ति, आनन्दशक्ति, जिसका प्रताप अखण्डित और स्वतन्त्र शोभायमान है। आहाहा! **शोभायमानपना जिसका लक्षण है ऐसे प्रभुत्वशक्ति।** यह सातवीं विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४८५, शक्ति ६, ७, ८ गुरुवार, आसोज शुक्ल १
दिनांक - ०९-१०-१९८०

समयसार, शक्ति का वर्णन है, शक्ति का वर्णन चलता है। सातवीं आयी न? छठी शक्ति आयी न? स्वरूप की रचना के सामर्थ्यरूप वीर्यशक्ति। पहली बात यह है कि किसे यह होती है? वीर्यशक्ति अपने स्वरूप की रचना करे परन्तु वह किसे? जो यह द्रव्य स्वभाव दृष्टि में माने उसे। समझ में आया? क्या कहा? जिसे यह आत्मा वीर्य आदि अनन्त गुण का पिण्ड है, ऐसी स्वसन्मुख दृष्टि करता है, उसे स्वरूप की रचना होती है। जगत में ऐसा एक आत्मा है, ऐसा धारणा में मान ले कि आत्मा है, ऐसा नहीं। थोड़ी सूक्ष्म बात है।

यहाँ तो आत्मा शब्द आया न? स्वरूप अर्थात् आत्मस्वरूप की रचना। परन्तु स्वरूप की रचना करे, ऐसा सामर्थ्य, ऐसी एक वीर्यशक्ति है, परन्तु किसे? आहाहा! जिसने अपने स्वरूप में यह वीर्य आदि अनन्त शक्तियों का समुद्र, सागर ऐसे आत्मा पर दृष्टि पड़ी हो तो आत्मा में वीर्य नाम की शक्ति है, उससे आत्मा की शान्ति, आनन्द अनन्त गुण की वर्तमान प्रगट पर्याय की रचना करे, ऐसा स्वरूप है। समझ में आया? यह शक्ति... शक्ति... शक्ति परन्तु यह है क्या? सुनकर सुन लेना, ऐसा नहीं।

शक्तिवान आत्मा है, ऐसी अन्तर में जिसे दृष्टि हुई, उसे उसका वीर्यगुण अपने अनन्त गुण की निर्मलपर्याय प्रगट करके रचना करे, वह उसका स्वभाव है। दूसरे प्रकार से कहें तो द्रव्य और गुण की जिसे प्रतीति होती है, द्रव्य वस्तु और गुण अनन्त, ऐसी जिसे प्रतीति होती है, उसे अनन्त गुण की निर्मल पर्याय की रचना हुए बिना नहीं रहती। समझ में आया? आहाहा!

एक बार कहा था न? त्रिभुवन वारिया ने प्रश्न किया था। महाराज! कारणपरमात्मा, कारणपरमात्मा बहुत बार कहते हो और है। अन्दर कारणपरमात्मा भगवान है तो कारण है तो कार्य तो आना चाहिए। बात सत्य, भाई! परन्तु किसे? यह कारणपरमात्मा जैसा है, वैसा स्वीकार करे उसे। समझ में आया? सूक्ष्म बात है। कल तो प्रभुत्वशक्ति चली न, बहुत सूक्ष्म था। आहाहा!

स्वरूप की अर्थात् आत्मस्वरूप जिसे दृष्टि में बैठा... आहाहा! जिसने आत्मस्वरूप

का अन्तर्मुख होकर स्वीकार किया, आत्मा के अतिरिक्त सर्व बहिर्मुख (भाव), भगवान की भक्ति के विकल्प से लेकर पूरी दुनिया, उस ओर की उपेक्षा करके अपना त्रिकाली अनन्त शक्तिवन्त जो प्रभु है, उसके सन्मुख होने से अनन्त गुण की निर्मल पर्याय की रचना वीर्य करे, वह किये बिना रहे नहीं। आहाहा! समझ में आया? यह शक्ति तो आ गयी है। फिर से विस्तार (करते हैं)। यहाँ तो पार नहीं होता। आहाहा! इतनी (शक्ति) भरी है।

ऐसे लो तो एक-एक शक्ति है... यह दीपचन्दजी ने लिया है, दीपचन्दजी ने चिद्विलास, आत्मावलोकन बनाया है न? वे तो अन्तर में... आहाहा! देखो! आत्मा में यह एक वीर्यशक्ति है। यहाँ कहते हैं, ***'गुण एक एक जाके पर्याय अनन्त करे, गुण एक, उसकी पर्याय अनन्त, गुण एक एक जाके पर्याय अनन्त करे, परजाय में अनन्त नट'*** आहाहा! उस पर्याय में अनन्त द्रव्य ज्ञात होते हैं, ऐसा नृत्य—नाच होता है। आहाहा! पर्याय में, हों! आहाहा! ***'अनन्त नृत्य नाना विस्तर्यो है, नृत्य में अनन्त थट'*** पर्याय में अनन्त द्रव्य, गुण जाने वे द्रव्य, गुण, पर्याय के थट सब दृष्टि में आये हैं। पर्याय में, यह पर्याय का थट है। नृत्य है, थट है, अनन्त कला है। एक-एक पर्याय में अनन्त कला है। गुण की तो बात क्या करना, गुण तो पहले कहा, ***'एक एक गुण में जाके पर्याय अनन्त'*** अनन्त पर्यायें होती हैं। आहाहा! यह तो अनन्त अनन्त... पूर्व में कभी सुना नहीं, कभी अनन्त काल में। समवसरण में भगवान के पास गया, तब सुना था, अनन्त बार वहाँ महाविदेह में अवतरित हुआ है परन्तु वह क्या है, उनका हृदय जो था, वह नहीं किया। आहाहा!

मैं आत्मा, उसमें अनन्त गुण और एक-एक गुण में अनन्त पर्यायें। एक-एक पर्याय में अनन्त द्रव्य, अनन्त सिद्ध और अनन्त केवली ज्ञात हों। इसलिए इतने अनन्त थट भरे हैं। एक पर्याय में अनन्त थट! आहाहा! पश्चात् अनन्त कला। उस एक-एक पर्याय में जो अनन्त सिद्ध, केवली दिखाई दिये वे अनन्त। फिर उसकी अनन्त कला। उस पर्याय में अनन्त कला है। आहाहा! यह अधिकार थोड़ा सा चिद्विलास में लिया है और थोड़ा बनारसीदास ने समयसार नाटक में लिया है। बहुत विस्तार लिया है, यह तो इतना श्लोक बोलते हैं।

'अनन्त कला, अखण्डित अनन्त रूप...' अनन्त कला में अनन्त रूप। एक-

एक पर्याय में अनन्त कला में अनन्त रूप धारता है। आहाहा! क्योंकि अनन्त द्रव्य, गुण, पर्याय ज्ञात हुए हैं, प्रतीति में आये हैं। आहाहा! उस पर्याय में अनन्त-अनन्त रूप धरा है। रूप में अनन्त सत्ता है। एक पर्याय में अनन्त रूप हो, ऐसी अनन्त सत्ता सिद्ध हुई। अरे... अरे..! ऐसी बातें। लोगों को बाहर से कुछ ले लेना है। वस्तु अन्दर है, उसकी खबर नहीं। आहाहा!

ऐसे अनन्त गुणों से... यह तो एक गुण की एक पर्याय की बात आती है। ऐसे अनन्त गुणों की अनन्त पर्यायें। आहाहा! उनकी जो सत्ता, उस सत्ता में अनन्त भाव, एक पर्याय में अनन्त पर्याय की सत्ता, उसके अनन्त भाव। **'भाव को लखके अनन्त रस भर्यो।'** उस भाव में अनन्त रस है। आहाहा! ***'रस के स्वभाव में प्रभाव'*** है। रस के स्वभाव में अनन्त प्रभाव है। आहाहा! ***'अनन्त अनन्त ... लह्यो है'*** आहाहा! बहुत विस्तार किया है। यह तो एक कडी पढ़ी। वापस एक-एक कडी का विस्तार बहुत है। आहाहा!

यह तो क्या विचार आया था? कि आत्मा में अपने स्वरूप की रचना करे, वह किसे? जिसे आत्मा अनन्त-अनन्त गुण और एक-एक गुण की अनन्त पर्यायें, एक-एक पर्याय में अनन्त सिद्ध जानने की ताकत की सत्ता (ज्ञात हुई), ऐसे आत्मा की जिसे अनुभव में प्रतीति हुई, उसके आत्मा में जो वीर्य नाम का गुण है, वह अनन्त गुण की रचना करता है। पर्याय में अनन्त गुण की पर्याय की निर्मल धारा बहती है। आहाहा! पर्याय में अनन्त शान्ति, आनन्द, स्वच्छता, प्रभुता ऐसी अनन्त गुण की पर्याय में धारा बहती है। आहाहा! अरे! ऐसा आत्मा... यहाँ तो एक जरा पाँच-पच्चीस रुपये एक मिनिट में मिले, वस्त्र का धन्धा हो, वहाँ प्रसन्न-प्रसन्न हो जाये। आहाहा! आज ग्राहक आ गया। अरे! प्रभु! तू कहाँ जाता है? आहाहा! तेरी ऋद्धि, तेरा बादशाह, तेरी बादशाही में इस दुनिया में किसी के साथ तुलना करे, ऐसी कोई चीज़ नहीं है। तुझसे कोई भी चीज़ अधिक, विस्मय, आश्चर्यकारी तीन काल में नहीं है। आहाहा! यह आत्मा अपने स्वरूप की रचना करे। आहाहा! यह छठवीं शक्ति हुई।

सातवीं। **जिसका प्रताप अखण्डित है...** यह भी एक-एक गुण में प्रभुत्व नाम

का रूप है। आहाहा! एक-एक गुण में अनन्त पर्याय है। प्रत्येक में प्रभुत्व की पर्याय पड़ी है। परन्तु किसे? जिसने अनन्त गुणस्वरूप भगवान आत्मा का स्वीकार, अन्तर अनुभव किया, उसकी प्रभुता... आहाहा! **अखण्डित...** है? **जिसका प्रताप अखण्डित...** जिसने आत्मा को जाना, उसे अखण्डित प्रताप है। बाकी तो रंक की तरह अनादि से घूमता है। भिखारी की तरह जहाँ-तहाँ माँगता है, इज्जत दो, पैसा दो, लक्ष्मी दो, भोग दो, विषय दो, बड़ा मान दो, अभिनन्दन के पूँछड़े रखो, अभिनन्दन... अभिनन्दन... अरे! तेरा अभिनन्दन... आहाहा!

यहाँ भगवान आत्मा प्रभुत्व नाम का परमेश्वर नाम का एक गुण है। आहाहा! कि जो परमेश्वर भगवान पूर्णानन्द का नाथ, उसका स्वीकार अन्दर सन्मुख होकर किया और विकल्प से लेकर पूरे लोकालोक से विमुख होकर, अरे! पंच परमेष्ठी से भी विमुख होकर, और पंच परमेष्ठी की वाणी से भी विमुख होकर, क्योंकि वह परद्रव्य है। आहाहा!

जिसका प्रताप... है? **अखण्डित है...** आहाहा! जिसने अन्दर आत्मा को जाना, अनन्त गुण के रूप में प्रभुत्व का रूप पड़ा है तो एक-एक गुण की जो पर्याय है, उसका कोई खण्ड करे, खण्डित हो, कोई हीन बनावे, ऐसी किसी की ताकत नहीं है। समझ में आया? ज्ञानावरणीय कर्म से ज्ञान हीन पड़ता है, ऐसा लोग कहते हैं? इस अज्ञानी को ज्ञानावरणीय कर्म के ऊपर लक्ष्य है। इसलिए वह कर्म के निमित्त से अपने अपराध से ज्ञान की हीन दशा करता है, कर्म से नहीं। आहाहा! अपना निरपराधी भगवान... आहाहा! अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द सर्वांग भरा है, अतीन्द्रिय वीर्य सर्वांग भरा है अतीन्द्रिय ज्ञान सर्वांग भरा है, अतीन्द्रिय शान्ति, शान्ति, शान्ति... शान्ति अर्थात् वीतरागभाव, वीतरागभाव शान्तभाव, जिसमें भरचक भरा है, ऐसा तो एक गुण। ऐसे अनन्त गुण का एकरूप आत्मा। उस आत्मा का जिसे स्वसन्मुख होकर स्वीकार हुआ, उसे अनन्त गुण की पर्याय प्रगट हुई। उसे कोई खण्डित करे, विघ्न करे, हीन बनावे, ऐसी किसी की ताकत दुनिया में नहीं है। आहाहा! अरे! ऐसा आत्मा इसने सुना नहीं।

आत्मा के एक-एक गुण अनन्त पर्याय से भरपूर है। एक-एक पर्याय अनन्त सिद्ध आदि को जानने की ताकतवाली पर्याय... आहाहा! ऐसा जो भगवान आत्मा, अपने

अतिरिक्त सबकी पामरता नहीं लेकर, अपना आत्मा अधिकरूप, पर्याय से भी अधिक— भिन्न; जाननेवाली पर्याय है, राग नहीं, परन्तु उस पर्याय से भी अधिक द्रव्य है। क्योंकि ऐसी-ऐसी अनन्त पर्याय का पिण्ड एक गुण है। ऐसे अनन्त गुण का पिण्ड एक द्रव्य है। आहाहा!

क्या कहते हैं यह? रावण को नौ सिर कहते हैं न? कितने कहते हैं। दसहरा। दस सिर नहीं थे। हार था, हार। उसके कारण मस्तक दस दिखाई दे। वह लक्ष्मण ने... परन्तु यह तो सब उत्तम पुरुष। लक्ष्मण ने मारा, काट डाला और जब जलाने के लिये श्मशान में ले गये तो पहले तो वे लक्ष्मण और राम उसकी पत्नी के पास गये। माँ! हम वासुदेव, बलदेव हैं। हमारी पदवी यह है। माता! हमारी पदवी प्रमाण हुआ। हमें कोई विरोध नहीं। आहाहा! हमें किसी व्यक्ति के प्रति विरोध नहीं। हमारी वासुदेव और बलदेव की पदवी है। माता! आहाहा! वह मानो कि यह तो शत्रु आये। माता! शत्रु नहीं। हम तो तुम्हारे पिता हैं, तुम्हारे पिता हैं। आहाहा! ऐई! सेठ!

मुमुक्षु : आपने क्या फरमाया, वह हिन्दी में कहो।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह हिन्दी में नहीं आया। भूल गये। रावण को मारकर लक्ष्मण और राम रावण की पत्नी के पास घर गये और जाकर कहते हैं, माता! मैंने यह किया, हमारी पदवी ऐसी है। पदवी प्रमाण हुआ, माता! हमें किसी के प्रति विरोध नहीं है। आहाहा! समझ में आया? और जब उसकी—रावण की श्मशान यात्रा निकली तो राम और लक्ष्मण जाते हैं। श्मशान में जलाते थे, वहाँ तालाब था, तालाब। उस तालाब की पाल पर बैठे। आहाहा! उत्तम पुरुष हैं। पदवीधर हैं, वासुदेव, बलदेव। आहाहा! तीर्थंकर की तो क्या बात करना परन्तु यह वासुदेव और बलदेव। मार डाला और जलाने में साथ रहे। तालाब की पाल पर बैठे। राजकुमार थे। पूरा होने के बाद गये। आहाहा!

इतनी महत्ता तो एक पदवीधर है, उसमें आती है। तो अन्दर जब तीर्थंकर को केवलज्ञान हो... आहाहा! तो यह जो अनन्त गुण हैं... अरे! सम्यग्दर्शन होता है, वहाँ जो अनन्त गुण हैं, उसमें प्रभुत्व नाम का गुण पड़ा है तो उस द्रव्य का स्वीकार करने से... आहाहा! प्रभुत्वशक्ति का भगवान अनन्त गुण का ऐसा भण्डार। वह प्रभुत्वशक्ति प्रत्येक

गुण में पड़ी है। एक गुण तो है परन्तु उसमें ज्ञानप्रभु, दर्शनप्रभु, वीर्यप्रभु, सब में प्रभुता भरी है। आहाहा! यह तो गजब बात है। इतनी गम्भीरता भरी है, पारावार भरी है। एक-एक शब्द में इतनी-इतनी गम्भीरता है। क्या कहा?

जिसका प्रताप अखण्डित है... किसे? प्रभुत्वगुण का स्वीकार किया उसे। प्रभुत्वगुण का स्वीकार किसने किया? जिसमें—आत्मा में प्रभुत्व है, उस आत्मा का स्वीकार करनेवाले ने। आहाहा! यह भाषा तो सादी है। प्रभुत्व का पार नहीं, प्रभु! क्या कहें? आहाहा! अभी बहुत गड़बड़ (हो गयी है)। यह करो और यह करो, यह करो और यह करो... दो-पाँच लाख पैसा खर्च करे... आहाहा! ऐसा है।

मुमुक्षु : आपने गड़बड़ बचायी।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। यह वहाँ का पत्र आया था न मुम्बई का।

मुमुक्षु : सीधा गाडा चला जाता था, उसे आपने रोका।

पूज्य गुरुदेवश्री : सत्य बात है। कल पत्र आया है। है न नरेश? आठ-दस करोड़ रुपये, स्थानकवासी है। उसने ५० × ५० जमीन दी। यहाँ आने के बाद ४० × ४० दी थी। ढाई लाख रुपये दिये। कल पत्र आया है, दूसरे इक्यावन हजार देता हूँ। बाईस हजार का यह... विश्रांतिगृह के मकान में एक बाईस हजार रुपये। ग्यारह हजार रुपये बहिन के चित्र में। वहाँ पाँच-पाँच हजार लोगों को जिमाने के लिये बड़ा मण्डप बनाते हैं। मांगलिक कराना है कि महाराज पधारो। नवमी... नवमी के सवेरे (जाना है)। ग्यारस से वापस आ जाना है। दो दिन है। आहाहा! परन्तु यह सब बाहर की चमक है। पानी की तरह पैसा खर्च करे। दस लाख रुपये। साधारण स्थानकवासी है। आहाहा! अरे रे!

प्रभु! तू कौन है? यह पैसा तो तेरी पर्याय में उस ओर का लक्ष्य किये बिना ज्ञान करने की ताकत तुझमें है और उस पर्याय का भी अखण्डित प्रताप है। आहाहा! रावण का जो मकान-रहने का स्थान था, वह स्फटिकमणि का था। स्फटिकमणि। यह टाईल्स नहीं। इसकी सीड़ियाँ भी स्फटिक की। दादरो समझे? क्या कहते हैं? सीढ़ी। देखने की मुश्किल पड़े। चढ़े ऐसे तो नीचे दिखे। इसलिए फिर ध्यान रखना पड़े। स्फटिकमणि के मकान में रहनेवाले मरकर अभी नरक में गये हैं। आहाहा! तीर्थंकर होनेवाले हैं, हों!

सीताजी का हरण किया था। अभी के परिणाम जरा ऐसे थे। भविष्य में तीर्थंकर होगा और सीताजी गणधर होंगे। आहाहा! आत्मा के पुरुषार्थ से, आत्मा का वीर्य स्फुरित करे तो चाहे जो कर सकता है। आहाहा! यहाँ सीताजी को लाया और उसे (रावण को) मार डाला। वह भविष्य में तीर्थंकर होगा और सीताजी गणधर होंगे। आहाहा! आत्मा की ताकत की बात है, भाई!

यहाँ कहते हैं, **जिसका प्रताप अखण्डित है...** आहाहा! मुझे तो यह विचार आया कि जिसे आत्मा का ज्ञान हुआ, वह ज्ञान की पर्याय अब अखण्डित रहनेवाली है, भाई! यह विचार आया था। अप्रतिहत। आहाहा! जो ज्ञान का कण अन्दर में अंश जगा, सम्यक् चैतन्य अनुभव (कण जगा), वह अखण्डित (रहेगा)। अब खण्ड हो वापस गिरे, यह वस्तु के स्वरूप में नहीं है। आहाहा! अन्दर क्या चीज़ है, यह खबर नहीं। बाहर में यह फर्नीचर और... कहा नहीं था? मणिभाई है न? मुम्बई में। पाँच-छह करोड़ रुपये हैं। आहार करने गये थे। आहार करने के लिये विनती की थी। दूर था परन्तु गये थे। उनके मकान में इतने कमरे... जहाँ-जहाँ उस मकान में चरण कराये, वहाँ सर्वत्र मखमल के (गलीचे)। पाँच-छह करोड़ रुपये। इन शान्ताबेन के नन्दोई। ऐसे ठाठ देखो...! है नरम व्यक्ति। अभी गये तब आये थे, यहाँ आये थे। फर्नीचर, पाँच लाख रुपये का तो फर्नीचर होगा अकेले कपड़े का। पाँच लाख। घरबखरो समझे? फर्नीचर। आहाहा! परन्तु उसी और उसी में... विचार तो ऐसा आया, अरे रे! इसमें से निकलना मुश्किल पड़ेगा। देह छूटकर यह सब छोड़कर जाना। परन्तु इसकी दरकार, कुछ भी अपेक्षा नहीं, उपेक्षा करे और भगवान की अपेक्षा करे। आहाहा!

जिसके ज्ञान की पर्याय प्रगट हुई, प्रभु! अब खण्डित नहीं होगी, हों! आहाहा! जिसकी आत्मा के प्रताप से जो सम्यग्दर्शन पर्याय प्रगट हुई, वह पर्याय खण्डित नहीं होगी। आहाहा! जो शान्ति प्रगट हुई, वह शान्ति अब खण्डित नहीं होगी। आहाहा! जो वीर्य प्रगट हुआ, वह वीर्य खण्डित नहीं होगा। आहाहा! जो स्वच्छता प्रगट हुई, उसमें स्वच्छता गुण है, स्वच्छता प्रगट हुई, उस स्वच्छता का खण्डितपना नहीं होगा। आहाहा! एक बात।

जिसका प्रताप अखण्डित है... अनन्त गुण का, हों! अनन्त गुण की पर्याय में

जिसका प्रताप अखण्ड है। आहाहा! सबके ऊपर से दृष्टि उठाकर आत्मा के ऊपर दृष्टि करने से यह ऋद्धि प्रगट होती है कि जिस ऋद्धि के समक्ष चक्रवर्ती के राज और इन्द्र के इन्द्रासन सड़े हुए तिनकेवत् हैं। समझ में अउया ? उसमें है या नहीं ? **जिसका प्रताप अखण्डित है...** आहाहा!

दूसरी बात, **किसी से खण्डित की नहीं जा सकती...** आहाहा! वह प्रभु अन्दर में से जगा सो जगा। वह जागृत हुआ ऊंघे या घट जाए, ऐसा कभी नहीं होता। वह तो परमात्मा ही होगा। आहाहा! केवलज्ञान लेकर सिद्ध होगा। ऐसी उसमें प्रभुत्व नाम की शक्ति कि प्रभु बन जायेगा। पर्याय में प्रभु बन जायेगा। आहाहा! अरे! इस एक शक्ति का वर्णन...

दूसरी बात, **ऐसे स्वातंत्र्य से (-स्वाधीनता से) शोभायमान...** अनन्त गुण की पर्याय प्रगट हुई, वह उसकी स्वतन्त्रता है। स्वतन्त्र उसे कहते कि जिसका कोई कर्ता नहीं। स्वतन्त्ररूप से पर्याय कर्ता होती है, वह स्वतन्त्र है। आहाहा! किसे ? जिसने स्वतन्त्र भगवान आत्मा, अनन्त गुण का पिण्ड है, उस आत्मा का अन्दर स्वीकार किया, उसके अनन्त गुण की पर्याय प्रगट हुई, वह स्वतन्त्रता से शोभित है। स्वतन्त्रता से शोभित का अर्थ, वह प्रगट हुई, वह अब अशोभित नहीं होगी। शोभित श्रृंगार प्रगट हुआ, वह प्रगट हुअ। आहाहा! ऐसा आत्मा सुना नहीं। यह करो... यह करो... यह करो... यह करो... हमारे नाम की पट्टी लगाओ। दस लाख दिये हैं तो अमुक नाम की (पट्टी लगाओ)। उसमें वापस चार-पाँच नाम दे। अमुक... अमुक ऐसा। ऐसा डाले। कहाँ जाना है ? प्रभु! तुझे क्या करना है ? तू कौन है और क्या कर रहा है, नाथ! आहाहा!

जिसकी स्वतन्त्रता, कहते हैं, कि जिसने इस प्रभुत्वगुण से भरपूर भगवान और एक-एक गुण में सब में प्रभुत्व है तो सभी गुण की जो पर्याय प्रगट हुई, वह स्वतन्त्रता से शोभायमान है। अब परतन्त्रता से अशोभायमान नहीं होता। आहाहा! ऐसा उपदेश है। आहाहा! वीतराग का मार्ग...

मुमुक्षु : पैसा से सब साधन होते हैं, यह धर्म क्यों नहीं होता ?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी साधन नहीं होता। पैसा मिले और साधन आकर खड़े

हो जाते हैं। पैसा क्या करे? उसका आना-जाना स्वतन्त्र है। आना, रहना, जाना स्वतन्त्र है। आहाहा!

एक गुण ने गजब किया है। एक तो अखण्डित प्रताप और स्वतन्त्रता से शोभायमान। यह चार शब्द। आहाहा! अन्दर भगवान आत्मा प्रभु, परमेश्वर के सन्मुख दृष्टि हुई... आहाहा! अरे! अन्दर की श्रद्धा हुई, वहाँ अनन्त गुण की पर्याय जो प्रगट होती है, वह पर्याय अखण्डित स्वतन्त्र शोभित है। वह स्वयं से शोभित है, पर के कारण से नहीं। एक-एक पर्याय स्वयं अपने से शोभित है, दूसरी पर्याय के कारण से नहीं। आहाहा! इस शक्ति का तो बड़ा भण्डार भरा है।

स्वातंत्र्य से (-स्वाधीनता से) शोभायमानपना... जो द्रव्य की—वस्तु भगवान की दृष्टि हुई, उस भगवान को जिसने स्वीकार किया, उसकी पर्याय में स्वतन्त्रता से अखण्डित प्रताप से शोभित, सब पर्याय शोभित होगीं। किसी पर्याय में कलंक लगे... आहाहा! या कोई पर्याय हीन हो जाए या कोई पर्याय वापस गिर जाये, ऐसा वस्तु के स्वरूप में नहीं है। आहाहा! इसमें है या नहीं? आहाहा! यह भगवान अमृतचन्द्राचार्य दिगम्बर मुनि जंगल में बसनेवाले, सिंह और बाघ की दहाड़ चारों ओर पड़ती हो। अन्दर में उतर जाये, बाहर में... सिंह और बाघ। बड़ा सिंह स्वयं... आहाहा! पराक्रमी सिंह अन्दर से जगा और जगकर अन्दर में समाया... आहाहा! उसकी शोभा और अखण्डता के प्रताप की क्या बात करना! आहाहा!

लोग ऐसा कहते हैं कि यह सब सोनगढ़वाले एक निश्चय की बात करते हैं। अरे प्रभु! निश्चय अर्थात् सत्य, प्रभु! व्यवहार तो जहाँ निश्चय हो, वहाँ कोई व्यवहार आवे तो उसे उपचार से व्यवहार कहने में आता है। मूल तो परम सत्य तो यह है। आहाहा! यह हो, वहाँ देव, गुरु, धर्म की श्रद्धा, भक्ति आवे परन्तु यह चीज़ होवे तो उसे व्यवहार कहते हैं। समझ में आया? थैला है, उसमें माल है परन्तु वह माल होवे तो थैला को माल का थैला कहा जाता है। चावल का थैला कहा जाता है? क्या कहा जाता है? बोरी। चावल की खाली बोरी। दाल की बोरी। परन्तु माल की बोरी न? उसी प्रकार यह माल हो तो फिर मन्द रागादि और भगवान की भक्ति आदि हो तो व्यवहार कहने में आता है। थैला समान

है। आहाहा! ऐसा आत्मा। कभी सुना नहीं, सेठ! माणेकचन्दजी! आहाहा! गजब है। इसमें दो बोल...

अखण्डित प्रताप और स्वतन्त्रता से शोभायमान। आहाहा! एक तो अखण्डित प्रताप और स्वतन्त्रता से शोभायमान। आहाहा! है? **जिसका प्रताप अखण्डित है अर्थात् किसी से खण्डित की नहीं जा सकती...** आहाहा! आत्मा का स्वीकार हुआ, वह परमात्मा हुए बिना नहीं रहता। आहाहा! निश्चय से मिथ्यात्व, वह संसार है। संसार कोई स्त्री, कुटुम्ब, पैसा, लक्ष्मी, वह कोई संसार नहीं, वह तो सब परचीज़ है। वहाँ संसार कहाँ है? संसार तो 'पर मेरे और मैं नहीं', ऐसी जो मिथ्यात्व मान्यता है, वह संसार है। आहाहा! उस संसार का तो यहाँ भुक्का उड़ गया। आहाहा! मेरा क्या होगा? मैं कहाँ जाऊँगा? जाना कहाँ है? है वहाँ रह न! जाये कहाँ? आवे कहाँ? आहाहा! अनन्त गुण का धनी नाथ! अखण्ड प्रताप से स्वतन्त्रता से शोभता है, वहाँ रह न! आहाहा! यह सातवीं (शक्ति) हुई। यह दो वाँचन हो गयी थी परन्तु विस्तार से ली है।

सर्वभावव्यापकैकभावरूपा विभुत्वशक्तिः।८।

सर्व भावों में व्यापक ऐसे एक भावरूप विभुत्वशक्ति। (जैसे, ज्ञानरूपी एक भाव सर्व भावों में व्याप्त होता है।)।८।

आठवीं। **सर्व भावों में व्यापक ऐसे एक भावरूप विभुत्वशक्ति।** क्या कहते हैं? एक शक्ति सर्व शक्तियों में व्यापक, ऐसी एक विभुत्वशक्ति है। विभु—व्यापक। अन्यमति कहते हैं न, हमारे प्रभु विभु हैं। विभु—सर्व व्यापक हैं, सर्व व्यापक लोकालोक। यह विभु है। आहाहा! है? विभु उसे कहते हैं कि अपने अनन्त गुण में वह व्यापक है। ज्ञानविभु, दर्शनविभु, चारित्रविभु, आनन्दविभु, अस्तित्वविभु, वस्तुत्वविभु, आहाहा! प्रभुत्वविभु, वीर्यविभु.... आहाहा! गजब काम किया है, प्रभु! आहाहा! इस पंचम काल में यह अमृतचन्द्राचार्य कहाँ से जगे? आहाहा! और यह क्या रचा है! आहाहा! यह तो अन्दर में जाननेवाला जाने। आहाहा!

सर्व भावों में व्यापक... देखो! व्यापक कहा न? वेदान्ती व्यापक कहते हैं न? एक ही आत्मा व्यापक है। एक बौद्ध है, वह ऐसा कहता है विज्ञान व्यापक है। विज्ञान है, वह ज्ञान सर्व व्यापक है, दूसरी कोई चीज़ ही नहीं है। विज्ञान गुण व्यापक रहता है। यह वेदान्त फिर आत्मा व्यापक कहता है। आहाहा! समझ में आया? यहाँ कहते हैं कि यह आत्मा व्यापक है। उसमें एक गुण है कि जो सर्व गुण में व्यापक है। आहाहा!

सर्व भावों में... जितने गुण हैं, जितने भाव हैं। भाववान आत्मा और जितने उसके गुण हैं, उन्हें भाव कहते हैं, उन **सर्व भावों में...** आहाहा! **व्यापक...** पसर रहा हुआ, विस्तार प्राप्त, पसर गया हुआ। आहाहा! **ऐसे एक भावरूप...** क्या कहते हैं? कि अनन्त गुण में विभुत्व व्यापक है, तथापि वह वस्तु एक है। आहाहा! **सर्व भावों में...** सर्व भाव में कोई बाकी नहीं। आत्मा के अनन्त गुण (आ गये)। यह वीर्यशक्ति भी सर्व गुणों में व्यापक है। प्रभुत्वशक्ति भी सर्व गुणों में व्यापक है। ज्ञानगुण भी सर्व गुणों में व्यापक है। दर्शन गुण भी सर्व गुणों में व्यापक है। आहाहा!

सर्व भावों में व्यापक... पसरा हुआ... पसरा हुआ। **ऐसे एक भावरूप...** सर्व भाव में पसरते हुए अनेकरूप नहीं हुआ, ऐसा कहते हैं। सर्व भावों में पसरने पर भी रूप तो एक है। विभु नाम का एक गुण। आहाहा! फिर लोग कहे न, सोनगढ़ का ऐसा है। अभी यह बाहुबली भगवान का... आहाहा! मंगल कलश (घुमाते हैं)। पहले धर्मचक्र निकला था न? क्या कहा? धर्मचक्र। अभी तो मंगल (कलश घुमाते हैं)। बाहुबली की प्रतिमा को एक हजार वर्ष हुए। ओहोहो! मानो धर्म होगा, धर्म होगा... व्रत के और अमुक और अमुक... बाहुबल तो प्रभु तू है। आहाहा! तुझमें जो बल और जो शक्ति भरी है, वह दूसरे में कहीं नहीं है। यह है नहीं। भगवान में है, वह तो भगवान की शक्ति है। आहाहा!

सर्व भावों में व्यापक... पसरा हुआ, विस्तार प्राप्त **ऐसे एक भावरूप...** सर्व में व्यापक, तथापि वस्तु एक। विभु है न? गुण है न? एक गुण। एक गुण सर्व में व्यापक, तथापि गुण एक। अब ऐसी व्याख्या। कभी निवृत्त नहीं, सुनी न हो। अरे रे! जिन्दगी पशु की तरह जाती है। जैसे पशु घास चरे, आहाहा! वैसे अज्ञानी राग और द्वेष करे और जिन्दगी चली जाती है। आहाहा! अन्दर भगवान चैतन्यप्रभु, जिसमें विभु अर्थात् सर्व व्यापक। ऐसे

सर्व व्यापक नहीं, क्षेत्र से सर्व व्यापक नहीं। वह तो अपने में सर्व गुण में सर्व व्यापक है।

सर्व भावों में व्यापक ऐसे एक भावरूप... ओहोहो! विभुत्वशक्ति। **(जैसे, ज्ञानरूपी एक भाव सर्व भावों में व्याप्त होता है।)** ज्ञान है, सबको जानता है न? जानने की अपेक्षा व्यापक है। पर में प्रविष्ट नहीं होता। ज्ञान पर को जाने, परन्तु पर में प्रविष्ट नहीं होता किन्तु पर को—सबको स्पर्श किये बिना, पर को स्पर्श किये बिना, अपने ज्ञान में सबको जानता है। ऐसा ज्ञान का व्यापक स्वभाव है। आहाहा! **सर्व भावों में व्यापक ऐसे एक भावरूप विभुत्वशक्ति। (जैसे, ज्ञानरूपी एक भाव सर्व भावों में व्याप्त होता है।)** ज्ञान सर्व असंख्य प्रदेश में व्यापक है। वैसे दर्शन, वैसे आनन्द... अतीन्द्रिय आनन्द असंख्य प्रदेश में व्यापक है। यह विभुत्वशक्ति है, उसका रूप उसमें है। आनन्द में भी इस विभु का रूप। विभुत्वशक्ति जो है, वह गुण तो भिन्न है, आनन्द गुण भिन्न है, परन्तु विभुत्वशक्ति जो है... आहाहा! उसका रूप, आत्मा के एक-एक गुण में प्रत्येक गुण का रूप है। एक गुण में अनन्त गुण का रूप है। आहाहा!

ज्ञान में विभुत्व नाम के गुण का (रूप है)। विभुत्व जैसे सर्व में व्यापक है, वैसे ज्ञान भी सर्व असंख्य प्रदेश में व्यापक है। आनन्द सर्व व्यापक, स्वच्छता सर्व व्यापक, समकित भी सर्व व्यापक है। आहाहा! चारित्र भी सर्व व्यापक। आहाहा! अरे रे! चारित्र किसे कहना, बापू! इस चारित्र का मुँह बड़ा, बापू! आहाहा! इस चारित्रवन्त को देखना, वह महाभाग्य हो, उसे दिखता है। वह चारित्र कोई बाह्य क्रियाकाण्ड नहीं है। अनन्त आनन्द का नाथ अन्दर सर्व गुण में व्यापक, इसमें चारित्र भी सर्व गुण में व्यापक है। आहाहा!

इसमें चारित्र और समकित दो नहीं लिये। अपने सुख आ गया न? सुखगुण आया न? सुख। अनाकुलपना। अनाकुल लक्षण सुख। यह आनन्द नाम का गुण आत्मा में है, इसमें सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र समाहित हो गये। पृथक् नहीं लिये। ४७ (शक्तियों) में उन्हें पृथक् नहीं लिये। क्यों? कि भगवान आत्मा जहाँ अन्तर में अनुभव होकर सम्यग्दर्शन होता है, तो साथ में आनन्द भी आता है और चारित्र होता है तो प्रचुर आनन्द होता है। आहाहा! पाँचवीं गाथा में है। इस सुखगुण में समकित और चारित्र दोनों समाहित

कर दिये हैं। पृथक् नहीं किये। मैंने कहा, दो चीज़ क्यों पृथक् नहीं की ? ४७ शक्ति के वर्णन में समकित और चारित्र के नाम नहीं हैं। समझ में आया ? आहाहा ! उसका कारण यह है कि आनन्दरूप समकित और आनन्दरूप चारित्र है। आहाहा ! चारित्र कोई क्रिया नहीं, पंच महाव्रत नहीं, नग्नपना, वह कोई चारित्र नहीं। रस का त्याग करना, एक ही रस लेना और एक ही रोटी लेना, वह कोई चारित्र नहीं। आहाहा !

यहाँ तो कहते हैं, चारित्र और सम्यग्दर्शन अतीन्द्रिय आनन्द में समाहित हो जाता है। अतीन्द्रिय आनन्द... आहाहा ! (उसमें) दर्शन और चारित्र है। अतीन्द्रिय आनन्द में समकित और चारित्र का समावेश होता है। दोनों आनन्दरूप है। आहाहा ! लोग कहीं का कहीं चारित्र खताते हैं। बाहर की क्रिया स्वयं नहीं कर सकता और परिषह सहे, नग्नपना रखे, वस्त्र छोड़ दे, सर्दी की ठण्डी हवा, गर्मी की धूप सहन करे। स्वयं सहन कर सके नहीं, पूरे दिन गद्दी में बैठना हो, इसलिए जय भगवान ! आहाहा ! भारी त्यागी ! अरे ! बापू ! वीतराग का कहा हुआ समकित और वीतराग का कहा हुआ चारित्र, बापू ! वह कोई अलौकिक चीज़ है, भाई ! आहाहा ! उस चीज़ को हल्की कर डाली। परन्तु हल्की करने से हल्की होती नहीं। यह तो कहा न ? खण्डित नहीं होता। उसका स्वरूप तो है, वह ही है। आहाहा ! भले नीचा बनाया, एक पंच महाव्रत की क्रिया है, वहाँ चारित्र है। है पंच महाव्रत का भाव राग, राग तो दुःख है। दुःख चारित्र है ? लो, यह आया, भाई !

राग, वह दुःख है तो चारित्र, वह आनन्द है। दया, दान, व्रत, क्रियाकाण्ड के भाव... अरे रे ! महीने-महीने के अपवास के भाव, वह शुभभाव है। वह दुःख है। शुभभाव, वह राग है। राग, वह दुःख है। इसलिए इसमें समकित और चारित्र समाहित नहीं हो सकते। आहाहा ! क्या शैली इनकी ! गजब प्रभु ! परमेश्वर की भाँति विचरते होंगे यहाँ हजार वर्ष पहले अमृतचन्द्राचार्य (विक्रम की १३वीं शताब्दी में) पद्मप्रभमलधारिदेव, सबकी गजब बातें ! एक-एक सन्त की। एक-एक शब्द में और एक-एक गाथा में गजब बाते हैं। आहाहा !

यहाँ कहते हैं कि **सर्व भावों में व्यापक, ऐसे एक भावरूप विभुत्वशक्ति। (जैसे, ज्ञानरूपी एक भाव सर्व भावों में व्याप्त होता है।)** असंख्य प्रदेश में ज्ञान

व्यापक है न? तो असंख्य प्रदेश में अनन्त गुण हैं, उनमें ज्ञान व्यापक है, दर्शन व्यापक है, चारित्र व्यापक है। आहाहा! असंख्य प्रदेश में अनन्त गुण, उसमें चारित्र—रमणता व्यापक है, रमणता व्यापक है। वह चारित्र है। आहाहा! चारित्र में भी विभुत्वशक्ति है। विभु प्रभु। यह चारित्र असंख्य प्रदेश में व्यापक है। आहाहा! धन्य दिन! धन्य अवतार! आहाहा! यह चारित्र। यहाँ तो एक जरा सा वस्त्र छोड़े, स्त्री-पुत्र छोड़े, हो गये त्यागी, हो गया चारित्र। अरे! भगवान! बापू! तेरे घर की बातें हैं। तुझे हल्का बताने के लिये नहीं, प्रभु! तू भगवान है परन्तु ऐसी हल्की बात में तू चारित्र मानता है, प्रभु! यह तुझे अशोभा है, प्रभु! तुझे अशोभा है, प्रभु! तुझे दुःख होगा। आहाहा! किसी को दुःख न होओ, सब भगवान होओ, ज्ञानी की तो यह भावना होती है। कोई प्राणी वैरी है नहीं। सब भगवान है। आहाहा!

जिसमें एक-एक गुण... आहाहा! असंख्य प्रदेश में व्यापक है। एक प्रदेश में एक गुण नहीं रह सकता, असंख्य प्रदेश में गुण व्यापक है। यह समझ में आया? पूरी चैन है, चैन, एक कड़ी में नहीं आ सकती। इस प्रकार असंख्य प्रदेश में आत्मा है। उन असंख्य प्रदेश में गुण व्यापक है। एक-एक प्रदेश में भिन्न-भिन्न, ऐसा नहीं। है? विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४८६, शक्ति ९, १० गुरुवार, आसोज शुक्ल १
दिनांक - ०९-१०-१९८०

समयसार, शक्ति का अधिकार है। शक्ति कहो या गुण कहो। आत्मा अनादि सत् वस्तु है, उस सत् का सत्त्व, उसका कस। सत्त्व, वह गुण। जब द्रव्य को सामान्य कहते हैं, तब गुण को—शक्ति को विशेष कहा जाता है। परन्तु जब गुण को सामान्य कहा जाता है, तब पर्याय को विशेष कहा जाता है। जब गुण को सामान्य कहते हैं, तब पर्याय को विशेष कहते हैं और द्रव्य को सामान्य कहते हैं, तब गुण को विशेष कहते हैं। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात है। यह तो साधारण... दीपचन्दजी ने तो इतना वर्णन किया है, पंचसंग्रह में बहुत-बहुत (वर्णन किया है)।

आत्मा वस्तु है, वह अनन्त शक्ति का भण्डार है। उसमें—अपनी शक्ति में बाहर से कुछ लाना है या बाहर की कोई मदद, सहायता मिले तो वह पूर्ण रहे, ऐसी वह चीज़ नहीं है। वह पूर्ण स्वरूप है। आहाहा! पहले दृष्टि में उसे लेना चाहिए, फिर दूसरी बात। आहाहा! यहाँ पहले कहा था न सातवें बोल में? प्रभुत्वशक्ति। सातवाँ बोल आया न? एक-एक गुण में प्रभुत्वशक्ति का रूप है। आहाहा! क्या कहते हैं? प्रभुत्व नाम की शक्ति जो अखण्ड प्रताप से स्वतन्त्ररूप से शोभायमान है, ऐसा प्रभुत्व नाम का गुण है, उस गुण का रूप अनन्त गुण में है। आहाहा! क्या कहा?

ज्ञानगुण जो है, उसमें भी प्रभुत्व का रूप है। वह ज्ञान भी अखण्ड प्रताप से स्वतन्त्रता से शोभायमान पर्याय प्रगट कर सके, ऐसी उसकी ताकत है। सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा!

सर्व भावों में व्यापक... है? **ऐसे एक भावरूप...** आहाहा! अनन्त-अनन्त गुण, तीन काल के समय, एक सेकेण्ड में असंख्य समय जाते हैं। 'क' बोले, इसमें असंख्य समय जाते हैं। ऐसे-ऐसे तीन काल के समय, उनसे अनन्तगुणे एक जीव में गुण हैं। आहाहा! अरे! यहाँ तो पाँच-पच्चीस करोड़, अरब। दो-पाँच, दस करोड़ हो तो रुपये-संख्या अभी प्रारब्ध तक चलता है। हमारे स्कूल में चलती थी, तब प्रारब्ध तक चलता। प्रारब्ध, सौ अरब का एक खर्ब। सौ करोड़ का एक अरब, ऐसे सौ अरब का एक खर्ब।

ऐसा तब आता था। अस्सी वर्ष पहले की बात है। खर्ब, निखर्ब, सौ खर्ब का एक निखर्ब, ऐसे खर, निखर्ब, मध्यम, जघन्य, अन्तर, मध्यम, और प्रारब्ध प्रत्येक में सौ-सौ गुणा करके प्रारब्ध तक ले जाते हैं। परन्तु यह संख्या अल्प है। आहाहा! यह तो अनन्त संख्या। तीन काल के समय से अनन्तगुणे गुण आत्मा में हैं। आहाहा! प्रत्येक गुण में प्रभुत्व नाम के गुण का रूप है। ज्ञानप्रभु, दर्शनप्रभु, आनन्दप्रभु, अस्तित्वप्रभु, वस्तुत्वप्रभु, प्रमेयत्वप्रभु, प्रत्येक गुण में प्रभुत्वशक्ति का रूप है। आहाहा!

मुमुक्षु : शक्ति का गोदाम भरा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उस गोदाम में गिनती कहाँ? यह तीन लोक के कहे न? एक जीव की जितनी संख्या है, अनन्त जीव हैं। उनसे अनन्तगुणे परमाणु हैं। अनन्त जीव हैं। उनसे अनन्तगुणे परमाणु हैं। उनसे अनन्तगुणे तीन काल के समय हैं। आहाहा! उनसे अनन्तगुणे आकाश के प्रदेश हैं। चारों ओर आकाश का कहीं अन्त नहीं है। आहाहा! उससे अनन्तगुणे एक जीव के गुण हैं। इतने गुण! आहाहा! अरे रे! इसे अपने में कितनी सम्पत्ति और ऋद्धि भरी है, आहा! उसकी इसे खबर नहीं और संसार के चतुर, दुनिया के चतुर। उसकी बात करने जाये वहाँ बड़ा... ओहोहो!

यहाँ परमात्मा कहते हैं कि आत्मा में एक विभु नाम का गुण है, वह अनन्त गुण में व्यापक है। अनन्त गुण में उसका रूप है। आहाहा! यह तो अपने आठवीं (शक्ति) आ गयी। आज नौवीं शक्ति।

विश्वविश्वसामान्यभावपरिणतात्मदर्शनमयीसर्वदर्शित्वशक्तिः।९।

समस्त विश्व के सामान्य भाव को देखनेरूप से (अर्थात् सर्व पदार्थों के समूहरूप लोकालोक को सत्तामात्र ग्रहण करनेरूप से) परिणमित ऐसे आत्मदर्शनमयी सर्वदर्शित्वशक्ति।९।

समस्त विश्व के सामान्य भाव को देखनेरूप से... क्या कहा? समस्त विश्व, पूरा लोकालोक। विश्व शब्द से जगत, अकेला लोक नहीं। पूरा लोकालोक। समस्त

विश्व के सामान्य भाव। सर्वदर्शिशक्ति बताते हैं। भेद किये बिना सब पदार्थों को... आहाहा! ग्रहण करे, देखे, उसका नाम यहाँ सर्वदर्शिशक्ति है। आहाहा! सूक्ष्म बहुत, भाई! है? यहाँ सामान्य किसे कहा? गुण को यहाँ सामान्य कहा और उसकी पर्याय को विशेष कहते हैं। तीन काल-तीन लोक को देखे, वह उसकी पर्याय है। कोई द्रव्य सामान्य-विशेष बिना नहीं, उसका कोई गुण सामान्य-विशेष बिना नहीं। आहाहा! यह यहाँ कहते हैं।

समस्त विश्व के सामान्य... आहाहा! लोगों को बैठना कठिन। आत्मा में सर्व जगत, लोकालोक का भाव—सामान्य भाव... सामान्य अर्थात्? भेद किये बिना देखना, इसका नाम सामान्य, उसे देखनेरूप। सामान्यरूप से देखनेरूप। शक्ति तो ऐसी है। यहाँ तो वापस परिणमन लेना है। आहाहा! सर्वदर्शिशक्ति है। **देखनेरूप से (अर्थात् सर्व पदार्थों के समूहरूप लोकालोक को सत्तामात्र...)** है। **(सर्व पदार्थों के समूहरूप लोकालोक को सत्तामात्र ग्रहण करनेरूप से)...** सत्तामात्र—अकेला 'है', बस! यह जीव और यह अजीव और यह सिद्ध तथा यह निगोद—ऐसा नहीं। आहाहा! ऐसा जो गुण, **सामान्य भाव को देखनेरूप से (अर्थात् सर्व पदार्थों के समूहरूप लोकालोक को सत्तामात्र ग्रहण करनेरूप से)...** देखनेरूप **परिणमित ऐसे...** आहाहा! गजब बात है।

यह क्या कहते हैं? कि सर्वदर्शिशक्ति है परन्तु उसका परिणमन आया नहीं कि यह सर्वदर्शिशक्ति है। भले सर्वदर्शिशक्ति का पूर्ण परिणमन न हो। पूर्ण परिणमन हो जाये वह तो उसका स्वभाव है। परन्तु सर्वदर्शिशक्ति आत्मा में त्रिकाल है और उस सर्वदर्शिशक्ति का रूप अनन्त गुणों में है, ऐसी जहाँ अन्तर में दृष्टि करने से जब पर्याय में परिणमन होता है... आहाहा! पर्याय में परिणमन होता है, तब सर्वदर्शिशक्ति को देखा, ऐसा कहने में आता है। तब सर्वदर्शिशक्ति का धारक आत्मा है, उसे माना तब कहलाता है। समझ में आया? आहाहा! अभी तो कुछ का कुछ चलता है, मार्ग कहीं रह गया। आहाहा! कितना समाहित किया है! इसमें तो अपार... अपार (भरा है)। क्या कहते हैं? देखो!

समस्त विश्व के सामान्य भाव को... भाव—द्रव्य, गुण, पर्याय सामान्य भाव में आ गये। अन्दर सामान्य भाव में द्रव्य, गुण, पर्याय का भाव आ गया। सर्व भाव को देखनेरूप **(अर्थात् सर्व पदार्थों के समूहरूप लोकालोक को सत्तामात्र ग्रहण**

करनेरूप से)... देखनेरूप। ग्रहण करनेरूप कहा परन्तु वह वस्तु ग्रहण नहीं होती। है, सर्वदर्शिशक्ति है। देखने में आयी और परिणमित होने से। आहाहा! गजब बात है। भले पूर्ण परिणमित न हुई हो परन्तु यह आत्मा सर्वदर्शिशक्तिवान है, ऐसा वर्तमान में सम्यग्दर्शन आदि का परिणमन हो, तब सर्वदर्शिशक्ति का धारक आत्मा है, उसकी प्रतीति की। अरे रे! ऐसा मार्ग। मार्ग बहुत सूक्ष्म, भाई! ओहोहो!

सर्वदर्शिशक्ति कब मानी कहलाये? ...आहा! सर्वदर्शिशक्ति भगवान आत्मा में है, वह कब मानी कहलाये? आहाहा! गजब बात है। अपनी पर्याय में उसका परिणमन हो। उस सर्वदर्शिशक्ति का धारक आत्मा है, उस पर दृष्टि हो और परिणमन हो, तब सर्वदर्शिशक्ति के धारक को माना, ऐसा कहने में आता है। परिणमन हुए बिना की बात नहीं है। सर्वदर्शिशक्ति धारक आत्मा है, ऐसा अकेला कहे परन्तु अन्दर जो वस्तु है, उसे देखी नहीं। गधे के सींग। समयसार १७वीं गाथा में दृष्टान्त दिया है। प्रथम क्या करना? ऐसा वहाँ प्रश्न है। १७ गाथा, समयसार। पहले क्या करना? कि पहले आत्मा को जानना—ऐसा कहा है। सब बात बाद में। आहाहा! पहले राजा का दृष्टान्त लिया है। १७ गाथा, एक और सात। टीका। उसकी टीका।

निश्चय से जैसे कोई धन का अर्थी... पैसे का अर्थी। **पुरुष बहुत उद्यम से प्रथम तो राजा को जाने कि यह राजा है, पश्चात् उसका ही श्रद्धान करे कि यह अवश्य राजा ही है, उसका सेवन करने से अवश्य धन की प्राप्ति होगी और तत्पश्चात् उसका ही अनुचरण करे, सेवा करे, आज्ञा में रहे, उसे प्रसन्न करे; उसी प्रकार...** यह दृष्टान्त हुआ। **मोक्षार्थी पुरुष को...** जिसे मोक्ष की इच्छा है, उस पुरुष को। है? **मोक्षार्थी पुरुष को प्रथम तो आत्मा को जानना चाहिए...** सब बात छोड़कर पहले आत्मा को जानना चाहिए। आहाहा! है सेठ? **मोक्षार्थी पुरुष को प्रथम तो आत्मा को जानना चाहिए, पश्चात् उसका श्रद्धान करना चाहिए...** आहाहा! पहले आत्मा को जानना। आहाहा!

इसी प्रकार यहाँ सर्वदर्शिशक्ति आत्मा में है, ऐसी प्रतीति कब आती है? आहाहा! कि आत्मा अनन्त गुण का पिण्ड की ओर लक्ष्य करके परिणमन होना, पर्याय में अनन्त

गुण का परिणमन एकसाथ होना, उस परिणमन में सर्वदर्शिशक्ति का भी अंशरूप परिणमन होना। उस परिणमन में यह सर्वदर्शिशक्ति धारक आत्मा है, ऐसी प्रतीति आती है। ऐसा मार्ग। आहाहा! वहाँ ऐसा कहा कि, पहले आत्मा को जानना। पहले देव और गुरु को जानना, नव तत्त्व को जानना, ऐसा नहीं कहा। आहाहा! इसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि सर्वदर्शिशक्ति जिसे माननी हो, उसे उस शक्ति के धारक आत्मा को प्रथम जानना। आहाहा! ऐसी बात है।

समस्त विश्व के सामान्य भाव को देखनेरूप से... इसका अर्थ ग्रहणरूप किया है। **अर्थात् सर्व पदार्थों के समूहरूप लोकालोक को सत्तामात्र ग्रहण करनेरूप से) परिणमित ऐसे आत्मदर्शनमयी...** परिणमते ऐसे आत्मदर्शनमयी। आहाहा! सर्वदर्शी का पूर्णरूप प्रगट हो, ऐसा पहले जाने। सर्वदर्शिशक्ति का पूर्णरूप तो सर्वज्ञ में है। परन्तु यह सर्वदर्शी है, उसका धारक आत्मा है, यह आत्मा द्रव्य हुआ। सर्वदर्शी गुण हुआ। द्रव्य, गुण की श्रद्धा कब होती है? कि उसकी परिणति, पर्याय हो तब। आहाहा! यह आत्मा है, ऐसा श्रद्धा में देखने में पूरी सत्ता को ग्रहण किया। ऐसा परिणमन हुआ, पर्याय में उसकी ताकत का अंशरूप परिणमन आया, तब सर्वदर्शिशक्ति के धारक आत्मा की श्रद्धा हुई। आहाहा! कठिन काम है।

परिणमित... है न? सर्वदर्शी का परिणमन तो केवली को होता है। यहाँ उस सर्वदर्शी का धारक आत्मा जो है, उसका पर्याय में परिणमन होना, विशेष पर्यायरूप होना। क्योंकि कोई द्रव्य सामान्य-विशेष बिना नहीं है। तथा कोई गुण सामान्य-विशेष बिना नहीं है। समझ में आया? तो कहते हैं कि सामान्य गुण का ग्रहण कब होता है? कि जब उसका परिणमन करे, तब होता है। आहाहा! अब ऐसा मार्ग। इसकी अपेक्षा एकेन्द्रिया, द्वीन्द्रिया, त्रीइन्द्रिया, चौइन्द्रिया, सामायिक करे। प्रतिक्रमण करे, रात्रि में चतुर्विध आहार त्याग करे, छह परवी पाले, दूज, अष्टमी, ब्रह्मचर्य पालन करे, कन्दमूल न खाये। अरे! भाई! यह सब बातें... यह सब क्रियायें हैं। कदाचित् राग मन्द हो तो शुभ है, धर्म नहीं।

जिसकी पर्याय में सर्वदर्शिशक्ति का धारक आत्मा है, ऐसा यदि दृष्टि में आया नहीं, ज्ञान में आया नहीं, तब तक उसका परिणमन नहीं होता। परिणमन बिना उसकी प्रतीति नहीं होती। कठिन काम है।

(अर्थात् सर्व पदार्थों के समूहरूप लोकालोक को सत्तामात्र ग्रहण करनेरूप से) परिणमित ऐसे आत्मदर्शनमयी सर्वदर्शित्वशक्ति। आहाहा! आत्मा एक, ऐसे अनन्त आत्मा। ऐसे एक आत्मा में सर्व आत्मा और सर्व लोकालोक देखने में आता है, ऐसी शक्ति मुझमें है, तब उसकी परिणति में सम्यग्दर्शन, ज्ञान आदि परिणति हो जाती है। आहाहा! ऐसी बात है। **परिणमित...** कहा न? **परिणमित ऐसे आत्मदर्शनमयी...** परिणमते ऐसे आत्मदर्शनमयी। पण्डितजी! सर्वदर्शी का परिणमन तो तेरहवें गुणस्थान में पूर्ण होगा, परन्तु यहाँ तो निचले दर्जे में... आहाहा! यह शक्ति तीन काल—तीन लोक, अनन्त सिद्ध, अनन्त केवली, तीन काल के अनन्त तीर्थंकर जो पर्याय में सर्वदर्शी की प्रतीति करे, तब सर्वदर्शी में वे आ जाते हैं। सर्वदर्शी तीन काल—तीन लोक की सत्ता को देखने की सत्ता को ग्रहण करने का स्वभाव है। उसकी दृष्टि हुई, तब सर्वदर्शिशक्ति के धारक आत्मा का परिणमन और श्रद्धा हुई। पहले-पहले यह करना है, बाकी सब बातें हैं। आहाहा! जन्म-मरण का अन्त लाने की यह चीज़ है। लोगों को यह बैठता नहीं। इसलिए फिर इसका साधन? इसका साधन देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा करना, व्रत पालना, ये सब साधन। (ऐसा वे कहते है)।

दीपचन्दजी एक जगह लिखते हैं कि ऐसे साधन करने से परम्परा से प्राप्त होगा, ऐसा जो मानता है, वह मूढ़ जीव चार गति में भटकेगा। समझ में आया? अध्यात्म पंच संग्रह में है। यह राग की मन्दता की क्रिया करने से परम्परा... प्रवचनसार में परम्परा शब्द है। शुभभाव परम्परा कारण है। परन्तु परम्परा का अर्थ क्या? वह कारण नहीं परन्तु पहले अशुभ टला है, पश्चात् इसे टालकर अन्दर स्थिर हो जायेगा, इसका नाम परम्परा कारण है। आहाहा! इसमें है कहीं। सब कहीं याद रहता है? ख्याल में रहता। हजारों पुस्तकें... आहाहा!

एक शक्ति लोकालोक भेद पाड़े बिना देखती है और उस देखने में उसके धारक द्रव्य को देखे। आहाहा! उस धारक को देखने से पर्याय में देखने की पर्याय परिणमित हो, तब सर्वदर्शिशक्ति मानी, ऐसा कहने में आता है। यशपालजी! ऐसी बात है, भाई! आहाहा! सामान्य को माने बिना विशेष माने, वह यथार्थ नहीं है। आहाहा! सामान्य जो त्रिकाली (सर्व) दर्शी को विशेषरूप से परिणमन में माने बिना, इसे सामान्य की श्रद्धा यथार्थ नहीं है। आहाहा! बहुत भरा है। यह नौवीं शक्ति हुई।

सर्वदर्शित्व आया न? कुछ बाकी नहीं। अनन्त सिद्ध, अनन्त केवली सर्वदर्शी में दिखते हैं। आहाहा! दिखते हैं तो भेद पाड़े बिना, हों! यह सिद्ध है, ऐसा नहीं। 'है', लोकालोक है। ऐसी सत्ता की श्रद्धा, शक्ति की प्रतीति परिणमन करके होती है। आहाहा! आत्मा में सर्वदर्शिशक्ति है, शक्ति है—ऐसी धारणा कर ले तो ग्यारह अंग में तो अनन्त बार धार लिया है। ग्यारह अंग अनन्त बार धारण किये। यह शक्कर है, शक्कर है, शक्कर है—ऐसा धार लिया, उससे कहीं शक्कर की मिठास आती है? और मिठास बिना शक्कर है, ऐसी प्रतीति होगी किस प्रकार? आहाहा! नौवीं हुई न? नौ शक्तियाँ हुई।

विश्वविश्वविशेषभावपरिणतात्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्वशक्तिः।१०।

समस्त विश्व के विशेष भावों को जाननेरूप से परिणमित ऐसे आत्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्वशक्ति।१०।

दसवीं। **समस्त विश्व के विशेष भावों को...** पहले सामान्य भाव कहा था। समस्त विश्व के सामान्य भाव को। है इतना। सब है। इसमें तो **समस्त विश्व के विशेष भावों को...** एक-एक पृथक्-पृथक् जाने। एक-एक आत्मा, एक-एक परमाणु, एक-एक गुण, एक-एक पर्याय (पृथक् जाने)। आहाहा! ऐसे **समस्त विश्व के विशेष भावों को जाननेरूप से परिणमित...** वजन यहाँ है। जाननेरूप परिणमित। अकेले केवलज्ञानी हैं, केवलज्ञानी हैं, ऐसा नहीं। आहाहा! केवलज्ञान अन्दर है, समस्त लोक को प्रत्यक्ष भिन्न करके विशेषरूप से जानता है। आहाहा! **विशेष भावों को जाननेरूप से परिणमित ऐसे आत्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्वशक्ति।** यह क्या कहा? आहाहा! पहले आत्मदर्शनमयी सर्वदर्शिशक्ति था, यहाँ आत्मज्ञानमयी सर्वज्ञशक्ति कहा। आहाहा! आत्मा में सर्वज्ञशक्ति है। आहाहा! उसकी ओर, उसके सन्मुख होकर उसकी प्रतीति, विकल्प बिना, राग के आश्रय बिना अन्दर परिणमन (होता है, तब उसे यथार्थ परिणमन कहा जाता है)।

श्रीमद् ने २८वें वर्ष में कहा है न? जिसके वचन से विचारयोग से केवलज्ञान श्रद्धा

से प्रगट हुआ है। केवलज्ञान श्रद्धा से प्रगट हुआ है। २८वें वर्ष में है। पुस्तक है? जिसके वचन के योग से, तीन लोक के नाथ, दिव्यध्वनि के विचार में अन्तर में... आहाहा! केवलज्ञानमयी हूँ, ऐसी श्रद्धा प्रगट हुई। केवलज्ञानमयी हूँ, ऐसी श्रद्धा हुई। आहाहा! श्रद्धा अपेक्षा से केवलज्ञान हुआ, विचार अपेक्षा से सर्वज्ञ हुआ, इच्छा अपेक्षा से सर्वज्ञ हुआ। आहाहा! इच्छा सर्वज्ञ की है न? आहाहा! उसमें पुस्तक नहीं? यह बात दो-तीन दिन पहले हुई।

तीन लोक के नाथ सर्वज्ञ परमात्मा तीर्थंकरदेव की दिव्यध्वनि, 'ॐकार ध्वनि सुणी अर्थ गणधर विचारे, रचि आगम उपदेश भविक जीव संशय निवारे।' इन वचन के योग से, ऐसा लिया है। निमित्त है। समझे, तब वचन को निमित्त कहा जाता है। आहाहा! केवलज्ञान श्रद्धा में प्रगट हुआ। केवलज्ञान है, ऐसी अनन्त काल में श्रद्धा नहीं की, उस श्रद्धा से केवलज्ञान प्रगट हुआ। मैं केवलज्ञानमयी आत्मा हूँ। विचारदशा से केवलज्ञान प्रगट हुआ। यह केवलज्ञान है, ऐसी विचारदशा प्रगट हुई। इच्छा दशा से प्रगट हुआ। आहाहा! और अमुक गुण की अपेक्षा से वर्तमान वर्तता है। निश्चयनय की अपेक्षा से सर्वज्ञपना अन्दर है, वह वर्तमान ही है। आहाहा!

समस्त विश्व के विशेष भावों को जाननेरूप से परिणमित... वजन यहाँ है। सर्वज्ञ है, सर्वज्ञ है—ऐसा नहीं। यह तो कहा था न? संवत् १९७२ के वर्ष। साधु—गुरुभाई लोग ऐसा कहते थे, केवलज्ञानी ने जैसा देखा है, वैसा होगा अपन पुरुषार्थ क्या करें? ऐसा बारम्बार कहे, केवलज्ञानी ने देखा है, वैसा होगा हम क्या पुरुषार्थ करें? दो वर्ष तो सुना। १९७०-१९७१ नव दीक्षित थे। संवत् १९७२ के फाल्गुन माह में कहा, यह क्या कहते हो? भगवान ने देखा, तब पुरुषार्थ करूँगा। परन्तु भगवान जगत में है या नहीं? है, ऐसी श्रद्धा है या नहीं? यह कहते हैं। सर्वज्ञ तो परिणमित है। सर्वज्ञ है, अपने स्वभाव में सर्वज्ञ है, सर्वज्ञस्वभावी आत्मा है। आहाहा! समझ में आया? यह तो १९७२ के वर्ष की बात। बहुत वर्ष हुए।

यहाँ यह कहते हैं। आहाहा! सर्वज्ञ जगत में हैं, जिनकी एक समय की पर्याय तीन काल, तीन लोक को देखे, ऐसी श्रद्धा है और उसकी श्रद्धा कब होगी? कि अपनी पर्याय

ज्ञायकस्वरूप त्रिकाल है... इतना अधिक नहीं कहा था, इतना कहा था कि ज्ञानस्वरूप में दृष्टि जाये, तब केवलज्ञान की यथार्थ श्रद्धा होती है। तब उसके भव भगवान ने देखे नहीं। वे ऐसा कहते थे कि भगवान ने अनन्त भव देखे होंगे तो क्या करें? समझ में आया?

यहाँ यह कहते हैं, परिणमित कहा न? पण्डितजी! मात्र ऐसे का ऐसा मानना, ऐसा नहीं। वह माना हुआ नहीं कहलाता। आहाहा! सर्वज्ञ, सर्वदर्शिशक्ति आत्मा में है। आहाहा! ऐसे आत्मा की प्रतीति कब होगी? परिणमन कब होगा? कि अनन्त-अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु, उसमें सर्वज्ञ सर्वदर्शिशक्ति की ओर झुकने से पर्याय में जब सम्यग्ज्ञान का परिणमन होगा और सम्यग्दर्शन का परिणमन पर्याय में हुआ, दशा हुई, यदि दशा न हो तो धारणा ज्ञान किया, वह कोई चीज़ नहीं है। आहाहा! यह दशा हुई। **ऐसे आत्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्वशक्ति।** आहाहा! आत्मज्ञानमयी, आत्मदर्शनमयी। सर्व को देखे, इसलिए सर्वदर्शनमयी—ऐसा नहीं। सर्व को जाने, इसलिए सर्वज्ञ—ऐसा नहीं लिया। है? **आत्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्वशक्ति।** ऐसा लिया है। आहाहा! बहुत अन्तर है। ऐसा नहीं लिया कि सर्वज्ञशक्ति की श्रद्धा। आत्मज्ञानमयी सर्वज्ञशक्ति। आत्मा ज्ञानमूर्ति है, सर्वज्ञस्वरूपी है, ऐसी अन्दर परिणति, प्रतीति श्रद्धा में हो, तब वह शक्ति और शक्तिवान की प्रतीति कहने में आती है। आहाहा! ऐसी बात कठिन पड़े, इसलिए सोनगढ़वालों को ऐसा कहे न? यह एकान्त है, निश्चय-निश्चय की बात करते हैं, व्यवहार साधन है, ऐसा नहीं कहते। आहाहा! भाई! व्यवहार साधन तब कहलाता है कि निश्चय प्रगट करे, तब साधन का आरोप किया जाता है। वह साधन-फाधन है नहीं। आहाहा!

दूसरी बात। एक समय में सर्वदर्शी और सर्वज्ञशक्ति की जब प्रगट पर्याय होती है, एक पर्याय सर्व सामान्यपने देखे और एक पर्याय विशेष भिन्न-भिन्न देखे। आहाहा! ऐसी उसमें ताकत है। यह अद्भुत रस है, ऐसा लिया है। अध्यात्म पंच संग्रह, दीपचन्दजी। एक समय में सर्वदर्शिशक्ति सर्व को एकरूप देखती है। 'है', बस। और दूसरी पर्याय सर्व को भिन्न-भिन्न करके देखती है। यह वह क्या चीज़ है! आहाहा! समझ में आया? देखो न! पुस्तक है? इस ओर है। अद्भुत शक्ति का वर्णन है।

समस्त विश्व के विशेष भावों को जाननेरूप से परिणमित ऐसे आत्मज्ञानमयी... आत्मज्ञानमयी, वापस ऐसा (कहा)। आत्मज्ञानवाला, ऐसा भी नहीं

कहा। आत्मज्ञानवाला में भेद हो जाता है। आत्मज्ञानमयी, आत्मज्ञानमयी। आहाहा!

मुमुक्षु : यह नयी पद्धति है।

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान के घर की यह पद्धति है। भगवान के दास होना हो तो यह रीति है। आहाहा! अनादि से अनन्त तीर्थंकर, अनन्त केवली ऐसा कहते आये हैं। आहाहा!

सर्वज्ञशक्ति। उसमें लिया है, अद्भुतरस, अद्भुतरस। नव रस है न? शृंगाररस, शान्तरस, ऐसे नव रस हैं। इस एक समय की पर्याय में, एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में सर्व लोकालोक को देखता है, बस। है इतना। भिन्न-भिन्न नहीं। और दूसरी सर्वज्ञ की पर्याय सर्व को भिन्न-भिन्न करके देखती है। एक समय में दो पर्यायें। एक पर्याय सर्व को एकरूप सामान्य देखती है। दूसरी ज्ञान की पर्याय भिन्न-भिन्न करके देखती है। आत्मा भिन्न, गुण भिन्न, गुण की पर्याय भिन्न, पर्याय के अविभाग प्रतिच्छेद भिन्न सबको देखे। आहाहा! अद्भुत रस है। उसे वहाँ अद्भुत रस कहा है। है? ऊपर में है।...

मुमुक्षु : आपकी आवाज बैठ गयी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आवाज बैठी है। पूरा लूखा हो गया है, पूरा मुँह लूखा-लूखा हो गया है।

यह सर्वज्ञशक्ति। पौन घण्टा हुआ।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४८७, शक्ति ११ गुरुवार, आसोज कृष्ण १४
दिनांक - ०६-११-१९८०

नीरूपात्मप्रदेशप्रकाशमानलोकालोकाकारमेचकोपयोगलक्षणा स्वच्छत्वशक्तिः।

अमूर्तिक आत्मप्रदेशों में प्रकाशमान लोकालोक के आकारों से मेचक (अर्थात् अनेक-आकाररूप) ऐसा उपयोग जिसका लक्षण है ऐसी स्वच्छत्वशक्ति। (जैसे दर्पण की स्वच्छत्वशक्ति से उसकी पर्याय में घटपटादि प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार आत्मा की स्वच्छत्वशक्ति से उसके उपयोग में लोकालोक के आकार प्रकाशित होते हैं।)।११।

समयसार, शक्ति अधिकार। यह आत्मा जो देह से भिन्न है, इसमें अनन्त शक्तियाँ हैं। ११वीं, ११वीं शक्ति।

मुमुक्षु : बराबर दो ऐकड़ा आये हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : बराबर आये हैं। **अमूर्तिक आत्मप्रदेशों में प्रकाशमान लोकालोक के आकारों से मेचक (अर्थात् अनेक-आकाररूप) ऐसा उपयोग जिसका लक्षण है, ऐसी स्वच्छत्वशक्ति।** रात्रि में जरा कहा गया था। जरा बहिनें सुनें कि आत्मा में अनन्त गुण हैं, उसमें कोई गुण विकार करे, ऐसा गुण नहीं है—एक बात। उसकी पर्याय में विकार होता है। वह तो अंश पर दृष्टि है, उसे विकार और संसार और परिभ्रमण है। वस्तु के स्वभाव में अनन्त गुण हैं, उन अनन्त-अनन्त गुण की संख्या में कोई गुण विकार करे, ऐसा कोई स्वभाव नहीं है। भाई! रात्रि में आया था न? एक बात। दो ओर से, कर्म जो वस्तु जड़ परमाणु है, उसमें विकार करे, ऐसा कोई गुण उसमें नहीं है। गुण होवे तो कायम विकार रहना चाहिए। इसी प्रकार आत्मा में यदि विकार होने का गुण होवे तो कायम विकार रहकर संसार में परिभ्रमण रहना चाहिए। न्याय समझ में आता है?

आत्मा में गुण जो स्वच्छ है, वह स्वच्छत्वशक्ति अनन्त गुण में व्याप्त है। अनन्त गुण

में यह स्वच्छत्वशक्ति व्याप्त है। इसलिए कोई गुण अस्वच्छ हो, ऐसा स्वभाव नहीं है। आहाहा! मात्र इसकी पर्याय में विकृत होता है, वह तो अंश दृष्टि करता है, उसे (होता है)। अनादि से अंश दृष्टि होने से यह परिभ्रमण कर रहा है। वस्तु में अंशपना नहीं, वस्तु में विकार होने की कोई शक्ति—गुण नहीं, तथा कर्म में भी कर्म की विकारी पर्याय हो, ऐसा कर्म में—परमाणु में भी गुण नहीं है। समझ में आया? दोनों ओर द्रव्य में विकार होने की कोई शक्ति नहीं आत्मा में, नहीं आत्मा के गुण में, नहीं परमाणु में। परमाणु में विकार होने की शक्ति नहीं है, यदि परमाणु में विकार होने की शक्ति होवे तो परमाणु विकाररूप हमेशा रहे। आहाहा! समझ में आया?

स्वच्छत्वशक्ति **अमूर्तिक आत्मप्रदेशों में प्रकाशमान...** यह तो प्रकाशमान, प्रकाश शुद्ध चैतन्यशक्ति है। वह कभी अशुद्ध हो, ऐसा कोई उसमें गुण है ही नहीं। स्वच्छत्वशक्ति अनन्त गुण में स्वच्छत्वशक्ति व्याप्त है। स्वच्छत्वशक्ति नहीं परन्तु स्वच्छत्वशक्ति का रूप; अनन्त गुणों में स्वच्छत्वशक्ति का रूप है। उसे आत्मा स्वयं आप विकाररूप परिणमे, ऐसा उसमें कोई गुण-शक्ति नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

तथा परमाणु-रजकण भी विकाररूप कर्मरूप परिणमे, ऐसा परमाणु में गुण नहीं है। जैसे इस द्रव्य में अशुद्ध होने का कोई गुण नहीं, वैसे परमाणु में विकार होने का गुण नहीं है। विकार होता है पर्याय में, परमाणु में भी होता है, जीव में भी होता है परन्तु वह पर्याय में होता है। आहाहा! जिसने यह अंश दृष्टि छोड़ी, क्योंकि गुण में, द्रव्य में दोष नहीं है। अत: जिसने इस अंश में—पर्याय में विकार होने की योग्यता है, वह दृष्टि छोड़ी और स्वच्छत्वशक्ति का धारक ऐसा आत्मा, उसकी जिसने दृष्टि की है कि विकार होने का गुण नहीं परन्तु पवित्र होने का उसमें गुण है, तो वह पवित्र होकर रहेगा। जैसे इस दृष्टि में, अंश दृष्टि में विकार है। यह दृष्टि, अंशदृष्टि छूटी, दूसरी भाषा से कहें तो पर्यायदृष्टि, परन्तु पर्याय में तो निर्मल और अनिर्मल दोनों आते हैं। यहाँ अपने दोष की बात लेनी है। आहाहा! दोष जो पर्याय में होते हैं, उस समय भी सभी अनन्त-अनन्त पर्यायों में भी नहीं। जितने गुण हैं, उतनी पर्यायें विकारी नहीं। समझ में आया? अल्प विकारी पर्याय, वह पर्याय—अवस्था—एक अंश। आहाहा!

यहाँ स्वच्छत्वशक्ति। अमूर्तिक आत्मप्रदेश। उसमें रंग, गन्ध, रस, स्पर्श तो नहीं

परन्तु जिसमें राग और द्वेष, पुण्य-पाप, विकारभाव नहीं। ऐसे **अमूर्तिक आत्मप्रदेशों में प्रकाशमान...** प्रकाशमान, सदा प्रकाशमान। आहाहा! ११वीं शक्ति आयी है। आहाहा! यह आत्मप्रदेश अमूर्तिक, इसके प्रदेशों में प्रकाशमान, यह प्रकाशमान है, ऐसे अनन्त गुणों के प्रदेशों में, अनन्त अमूर्तिक आत्मप्रदेशों में, अनन्त गुणों में प्रकाशमान। आहाहा! **लोकालोक के आकारों से मेचक...** लोकालोक को मेचक अर्थात् अनेक प्रकार से, जो है अनेक प्रकार। वास्तव में तो लोकालोक है, उसका यहाँ पर्याय में ज्ञान वर्ते, ऐसा पर्याय का स्वभाव है। पर्याय में लोकालोक से विकार हो, ऐसा उसका स्वभाव नहीं। तथा गुण और द्रव्य से विकार हो, ऐसा कोई स्वभाव नहीं। आहाहा! समझ में आया?

परद्रव्य से आत्मा में विकार हो, ऐसा कोई गुण नहीं। तथा स्वद्रव्य से विकार हो, ऐसा कोई गुण नहीं। आहाहा! मात्र विकार पर्याय में अंशबुद्धि अनादि के कारण है, अनादि की पर्यायबुद्धि के कारण विकार है। वह अंशबुद्धि छोड़कर स्वच्छत्वशक्ति का धारक ऐसा जो भगवान आत्मा, अनन्त स्वच्छत्वशक्ति, एक नहीं। अनन्त स्वच्छत्वशक्ति। वास्तव में तो द्रव्य, गुण कोई विकार करे, ऐसा नहीं है; इसलिए विकार करे और कर्ता हो, वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! क्योंकि वस्तु में नहीं, वस्तु का अनादर करता है। समझ में आया? वस्तु में कोई दोष नहीं और पर्याय में दोष खड़ा करता है, वह त्रिकाली द्रव्य और गुण का अनादर करता है। आहाहा!

इसमें क्या करना? करना यह कि **आत्मप्रदेशों में प्रकाशमान लोकालोक के...** लोकालोक को प्रकाशित करता है। **(अनेक-आकाररूप) ऐसा उपयोग जिसका लक्षण है...** उसके कारण नहीं, लोकालोक के कारण नहीं। उसे जानने का स्वरूप ऐसा इसका लक्षण है। चन्दुभाई! लोकालोक के कारण नहीं, लोकालोक को जानने का जिसका उपयोग लक्षण है। आहाहा! गजब बात। किसी का करना या पर की दया (पालना), उस पर की दया में जो पर्याय वहाँ होनेवाली है, वह आयुष्य के कारण भी नहीं। उसमें रहने की योग्यता है, वहाँ तक है, उसका नाम दूसरे ने दया पाली, ऐसा कहे। वह मिथ्यात्व भाव है। उसकी योग्यता से वहाँ रहा है, कर्म के कारण भी नहीं, तेरे कारण भी नहीं। आहाहा! कर्म के कारण भी वहाँ रहा है, ऐसा नहीं। तथा उसकी दया में तेरे कारण वह वहाँ रहा, दया पड़ी रही, जीव वहाँ टिका रहा आयुष्य से, तेरे कारण, तूने दया पाली

इसलिए... आहाहा! ऐसा भी नहीं। क्योंकि दया के परिणाम जो हैं, ऐसा कोई गुण नहीं कि दया के परिणाम जीव करे। ऐसा होगा? अहिंसा परमो धर्म है न! यह अहिंसा पर की नहीं। राग की उत्पत्ति न होना, ऐसा स्वरूप ही है।

यह यहाँ कहते हैं न? स्वच्छत्व ऐसी शक्ति ही इसकी है, एक नहीं। आहाहा! ऐसी स्वच्छत्वशक्ति अनन्त गुणों में व्याप्त है। कोई गुण पर की दया पाले, ऐसा भाव अन्दर किसी गुण में नहीं है। तथा सामनेवाले जीव की दया की पर्याय दूसरे से हो, ऐसा उसमें गुण नहीं है, उसमें शक्ति नहीं है। आहाहा! अब ऐसा यहाँ तक पहुँचना। यहाँ तो कर्ता... कर्ता... कर्ता... कर्ता... इसका यह कर्ता और इसका यह कर्ता।

दोनों द्रव्य, वास्तव में छहों द्रव्य गुण से ही भरपूर है। छहों द्रव्यों में कहीं विकार है नहीं। मात्र दो द्रव्यों में पर्याय में विकृति करता है। वह विकृत गुण नहीं। आहाहा! पर्याय में विकार होता है, वह पर्यायदृष्टि छोड़। पर्याय समझाने में कहीं पर्याय रखने के लिये नहीं समझाते। क्या कहा यह? कि तुझमें कोई विकार होने का गुण नहीं, पर्याय में विकार होता है। कर्म में भी कर्मरूप होना ऐसा गुण नहीं है। वह पर्याय में ही सीधा, सीधा, सीधे ही कर्म की पर्याय होती है, कर्म का द्रव्य में गुण न होने पर भी, ऐसा कहकर वह रखने के लिये है, ऐसा नहीं तथा जानने के लिये है, इसलिए नहीं। छोड़ने के लिये है।

मुमुक्षु : राग छोड़े, ऐसी शक्ति तो है न आत्मा में?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह भी नहीं। राग करने की (शक्ति) नहीं तो छोड़ने की कहाँ से आवे? छोड़ना, वह नाममात्र है। यह ३४ गाथा में आ गया है, ३४ गाथा। आत्मा परभाव का त्याग करता है, यह नाममात्र है। परभाव अर्थात्? शरीर, वाणी, मन यह नहीं। इस पर का तो ग्रहण-त्याग आत्मा में है ही नहीं। आहार, पानी, रस, शरीर, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, पैसा, लक्ष्मी का ग्रहण और उनका त्याग, यह तो आत्मा में है ही नहीं। इसकी पर्याय में भी हो, ऐसा इसमें स्वभाव नहीं। आहाहा! मानता है।

यहाँ तो अन्दर में विकार हो, उसके ग्रहण-त्याग की बात है। क्योंकि वह पर्याय में होता है, द्रव्य-गुण में नहीं। आहाहा! इसलिए द्रव्य, गुण को देखे तो पर्याय निर्मल ही हो। इससे द्रव्य, गुण की पर्याय निर्मल होने के कारण राग का त्याग, वह भी नाम और

कथनमात्र है। आहाहा! समझ में आया? राग का त्याग, दया के परिणाम अहिंसा या शुभ के परिणाम का त्याग, वह भी नाममात्र है। पर के त्याग-ग्रहण की बात ही नहीं परन्तु यह त्याग कहाँ इसने ग्रहण किया है, वह त्याग करे? गुण ने कहाँ ग्रहण किया है राग को? वह पर्याय में था। वह यह लक्ष्य जहाँ द्रव्य का किया तो, वह उत्पन्न नहीं हुआ, उस पर्याय ने उसे छोड़ा ऐसा कहने में आता है। चन्दुभाई! ऐसी बात है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

सब भगवान है। उसमें विकार होने का गुण नहीं। विकार यदि गुण हो तो त्रिकाल रहे, तो शान्ति कभी आवे नहीं, आनन्द कभी हो नहीं, वास्तविक तत्त्व प्रगटे नहीं। वास्तविक तत्त्व जो पवित्र है, वह यदि विकारी गुण उसमें होवे तो कभी वास्तविक तत्त्व प्राप्त नहीं हो। प्राप्त की प्राप्ति हुई, वह बने नहीं। आहाहा! ब्रह्मचारीजी! ऐसी बात है, सूक्ष्म बात। एक शक्ति में कितना निकला!

स्वच्छत्वशक्ति। दर्पण में जैसे, दृष्टान्त दिया है न? **ऐसा उपयोग जिसका लक्षण...** लोकालोक को जानना, ऐसा भी नहीं, लोकालोक को जानना, यह लोक—ऐसा नहीं। लोकालोक को,... आहाहा! **लोकालोक के आकारों से मेचक ऐसा उपयोग...** लालचन्दभाई! क्या कहा यह? इसका उपयोग ही ऐसा है। लोकालोक को जाने तो लोकालोक को जानता है, ऐसा भी नहीं। इसका उपयोग ही ऐसा है कि लोकालोक सम्बन्धी का ज्ञान अपने से अपने में परिणमे, ऐसा ही इसका स्वभाव है। आहाहा! समझ में आया? प्रियंकरजी! ऐसी बात है।

अभी तो यह क्रमबद्ध मानने में लोगों को मुश्किल पड़ती है। उसमें ऐसी बात। इसका अर्थ ही यह हुआ कि क्रमबद्ध का निर्णय करने जाता है, वहाँ अंशबुद्धि छूट जाती है। क्योंकि उसका निर्णय ज्ञायक के आश्रय से होता है; और ज्ञायक के आश्रय से (निर्णय) होने से रागबुद्धि छूट जाती है। छूट जाती है, छोड़ता नहीं। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! वीतराग दर्शन, जैनदर्शन अलौकिक है। क्रमबद्ध तो है परन्तु यहाँ लोकालोक को जानता है तो लोकालोक को छूता है, स्पर्श करता है, चूमता है-ऐसा नहीं है। समझ में आया? भाषा तो देखो!

अमूर्तिक आत्मप्रदेशों में प्रकाशमान लोकालोक के आकारों से मेचक (अर्थात् अनेक–आकाररूप)... मेचक अर्थात् अनेक आकार, **ऐसा उपयोग**... ऐसा उपयोग। उसके कारण से नहीं—लोकालोक के कारण से नहीं, इसका उपयोग ऐसा स्वभाव है। समझ में आया? **ऐसा उपयोग जिसका लक्षण है**... आहाहा!

क्या कहते हैं? कि आत्मा में यह स्वच्छत्वशक्ति अनन्त गुण में व्याप्त है, (अर्थात् कि) अनन्त गुण में इसका रूप है। तो वास्तव में तो यह आत्मा का जो उपयोग है कि जो लोकालोक को जानने की ताकतवाला स्वयं; उसकी (लोकालोक की) अस्ति के कारण से नहीं। अपनी अस्ति के कारण उपयोग जिसका लक्षण है। ऐसी स्वच्छत्व शक्ति। स्वच्छत्वशक्ति का स्वभाव। लोकालोक को जाने, ऐसा जो उपयोग, ऐसा उपयोग जिसका लक्षण है, लक्ष्य स्वयं शक्ति और लोकालोक को जाने, लोकालोक के कारण नहीं। आत्म प्रदेश में लोकालोक को जाने, वह स्वत: स्वभाव उपयोग जिसका लक्षण है। आहाहा! सूक्ष्म बात है। बात समझ में आती है?

अमूर्तिक आत्मप्रदेशों में... ऐसा क्यों कहा? कि लोकालोक में तो अनन्त मूर्त पदार्थ भी है। मूर्त पदार्थ परमाणु अनन्त है। तथापि यहाँ उस सम्बन्धी का अपना उपयोग अपने से होता हुआ हो, ऐसा जो उपयोग जिसका लक्षण है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! यह शक्ति, अनन्त शक्ति.... यह ज्ञान उपयोग भी लोकालोक को जाने, ऐसा उपयोग जिसका लक्षण है। दर्शन भी लोकालोक को जाने (देखे), ऐसी दर्शनशक्ति भी उपयोग जिसका लक्षण है। आहाहा! लोकालोक को जाने, ऐसा वीर्य नाम का शक्ति का भाव, स्वभाव भी वह उसका लक्षण है। समझ में आया? आहाहा! ऐसी बात है।

पर के साथ तो कुछ सम्बन्ध नहीं है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को छूता नहीं करता। आहाहा! पूरे दिन धन्धा करना, यह करना... यह करना... यह करना... यह करना... दवा और इंजेक्शन को स्पर्श नहीं करता, कहते हैं। अरे! उसे तो स्पर्श नहीं करता परन्तु इसमें हुआ राग जो है, उसे यह ज्ञायकस्वरूप स्पर्श नहीं करता। सूक्ष्म बात है, भाई! दस शक्ति वाँचन हो गयी है, यह तो ग्यारहवीं आयी।

अमूर्तिक आत्मप्रदेशों में प्रकाशमान... अमूर्तिक आत्मप्रदेशों में प्रकाशमान।

पर के कारण से नहीं और पर में नहीं तथा पर के कारण नहीं। पर में नहीं, पर के कारण से नहीं। आहाहा! **अमूर्तिक आत्मप्रदेशों में...** एक बात। दूसरा, 'प्रदेशों' कहकर क्षेत्र बताया। समझ में आया? (यह बात) सर्वज्ञ के अतिरिक्त कहीं नहीं है। असंख्य प्रदेशी आत्मा, यह सर्वज्ञ के अतिरिक्त कहीं नहीं है। चन्दुभाई! इसलिए डाला कि अमूर्तिक आत्मप्रदेश। आत्मप्रदेश कहा। अखण्ड वस्तु एक ही है, ऐसा नहीं। यद्यपि असंख्य प्रदेश हैं, ऐसा एक प्रदेश भी कहा है, अखण्ड की अपेक्षा से। पंचास्तिकाय में, पंचास्तिकाय (में कहा है)।

यहाँ तो सीधी बात कही। अमूर्तिक एक शब्द लिया अर्थात् कि मूर्त को स्पर्श नहीं करता और मूर्त को जानने का उपयोग जिसका स्वभाव है। मूर्त को स्पर्श नहीं करता और मूर्त की अस्ति है, इसलिए यहाँ उसे जानने का उपयोग है, ऐसा नहीं है। वह जीव का ही यह उपयोग अपना स्वत: सिद्ध है। आहाहा! एक बात भी बैठे तो उसे दूसरे भाव बैठना अनुकूल पड़ जाये। यहाँ से अभी हटता नहीं।

एक तो अमूर्तिक कहा और आत्मप्रदेश कहे अर्थात् क्षेत्र कहा। अमूर्तिक कहकर द्रव्य कहा, प्रदेश कहकर क्षेत्र कहा। आहाहा! प्रकाशमान कहकर, आहाहा! उपयोग को गुण कहा। **प्रकाशमान लोकालोक के आकारों से (मेचक) ऐसा उपयोग जिसका लक्षण है...** आहाहा! गुण और पर्याय दोनों यह कहे। क्या कहा? एक तो वस्तु अमूर्तिक, उसके आत्मप्रदेश, परमाणु के प्रदेश और वे नहीं, अपने प्रदेश। ऐसी बात सर्वज्ञ के अतिरिक्त कहीं है? **अमूर्तिक आत्मप्रदेशों में प्रकाशमान...** आत्मप्रदेशों में प्रकाशमान। आहाहा! लोकालोक के कारण से प्रकाशमान, ऐसा नहीं। आत्मप्रदेश में प्रकाशमान। लोकालोक में प्रकाशमान, लोकालोक के कारण प्रकाशमान—ऐसा नहीं। आहाहा! आचार्य गजब बात करते हैं! एक-एक शक्ति। आहाहा! इसे ऐसे सिद्धान्त कहा जाता है। जिसमें अनन्त-अनन्त रहस्य भरा है। प्रियंकरजी! आहाहा!

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता, इसलिए आत्मप्रदेशों में लोकालोक को स्वत: जानने का (स्वभाव है)। उसे स्पर्श किये बिना, उसकी ओर लक्ष्य किये बिना, उसकी अस्ति के स्वीकार बिना यह एक स्वीकार किया। आहाहा! सूक्ष्म बात आ गयी है। क्योंकि परमाणु में और आत्मा में कोई गुण, विकार हो, ऐसा कोई गुण नहीं है। चार द्रव्य

में तो गुण है ही नहीं। धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश और काल में तो कोई दोष हो ऐसा गुण है ही नहीं। यह दो द्रव्य जो है जीव और परमाणु द्रव्य, इनमें भी कोई द्रव्य और द्रव्य का गुण... आहाहा! विकार हो, ऐसा जिसका कोई स्वभाव ही नहीं। इसलिए उस असंख्य प्रदेश में लोकालोक जितना... अलोक भी लिया, हों! आहाहा! आकाश का अन्त नहीं, उसे भी यह उपयोग जानने का स्वभाव यहाँ पड़ा है।

आत्मप्रदेशों में प्रकाशमान... क्या प्रकाशमान? उपयोग। यह गुण और पर्याय ली, वास्तव में तो यह पर्याय है। भाई! क्योंकि जानना है न? शक्ति है, उस शक्ति की स्वीकृति हो, तब तो यह पर्याय हुई। स्वच्छत्वशक्ति है, आत्मा में स्वच्छत्वशक्ति है। वह स्वच्छत्वशक्ति स्वीकार नहीं करती, वह तो गुण है।

मुमुक्षु : पर्याय स्वीकार करती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ..हाँ..! यह तो पर्याय में... यह उपयोग वह पर्याय है। उपयोग जिसका लक्षण, ऐसी यह (स्वच्छत्वशक्ति) समझ में आया? आहाहा! सूक्ष्म आया। एक महीने आसोज शुक्ल एकम को वाँचन किया था।

मुमुक्षु : अवसर किसका आनेवाला?

पूज्य : भाई! वह चन्दुभाई का विचार था। आने के बाद क्या कहते हैं वे? वे कहते हैं पढ़ो परन्तु आज ऐसी शक्ति नहीं है। पूरी रात नींद नहीं।

मुमुक्षु : आज नींद आ जायेगी।

पूज्य गुरुदेवश्री : उससे क्या? शरीर का स्वभाव... आहाहा! तथापि, आहाहा!

लोकालोक के अनेक प्रकार। अनेक प्रकार क्यों कहे? लोकालोक एक ही चीज़ नहीं है। उसमें अनन्त द्रव्य, अनन्त गुण, अनन्त पर्याय, अनन्त पर्याय के अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद। आहाहा! ऐसे वे अनेक आकार अर्थात् उनका स्वरूप। आमने-सामने। उसमें यहाँ यह ज्ञात होता है। यहाँ ज्ञात होता है, ऐसा उपयोग जिसका लक्षण है, ऐसी स्वच्छत्वशक्ति। आहाहा! गजब किया है। एक शक्ति में भगवन्त...!

(जैसे दर्पण की स्वच्छत्वशक्ति से...) दृष्टान्त दिया है, लोगों को ख्याल में

आवे। **(जैसे दर्पण की स्वच्छत्वशक्ति से उसकी पर्याय में...)** आहाहा! **(घटपटादि प्रकाशित होते हैं,...)** है? **(दर्पण की स्वच्छत्वशक्ति से उसकी पर्याय में...)** स्वच्छत्वशक्ति की पर्याय में। देखा? वह उपयोग पर्याय है। स्वच्छत्वशक्ति त्रिकाल है। स्वच्छत्वशक्ति का धारक भगवान द्रव्य। यह अंश दृष्टि छोड़कर अंशी दृष्टि हुई, वहाँ पर्याय में उपयोग शुद्ध हुआ। वह यहाँ बात है। तब शुद्ध उपयोग होता है, तब इसे धर्म होता है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म।

मुमुक्षु : आत्मा सूक्ष्म है तो उसकी बात सूक्ष्म ही होगी न!

पूज्य गुरुदेवश्री : है, सब में भगवान आत्मा विराजता है। परन्तु वह जो चीज़ है, उसके ऊपर अनादि से लक्ष्य नहीं, इसलिए उसका—स्वच्छत्वगुण का धारक द्रव्य... अकेले स्वच्छत्वगुण पर लक्ष्य नहीं। यहाँ तो मात्र ज्ञान की पर्याय उत्पन्न होती है। किसके लक्ष्य से? उसमें अनन्त पर्याय उछलती है, यह बात सिद्ध करते हैं। क्या कहा, समझ में आया? चैतन्य द्रव्य का उपयोग लक्षण जहाँ ख्याल में आने पर ज्ञान की सम्यक् पर्याय उत्पन्न होती है, उस पर्याय में अनन्त गुणों की पर्याय उछलती है। पर्याय उछलती है, गुण तो गुण हैं। लालचन्दभाई! आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! वीतरागमार्ग ऐसा सूक्ष्म है। बाहर के क्रियाकाण्ड में लोगों को...

कहा था न? ३१वीं गाथा। **'जो इंदिये जिणित्ता'** इन्द्रिय को जीतना। इन्द्रिय शब्द से आत्मा के अतिरिक्त दूसरी सब चीज़ें। भगवान भी इन्द्रिय में जाते हैं, भगवान की वाणी इन्द्रिय में जाती है। उस द्रव्य को जीतकर; और यही बात ९६ गाथा में कही कि मन का विषय ऐसे छह द्रव्य, उनमें भगवान आ गये, परमेश्वर सर्वज्ञ आ गये। मन का विषय सर्वज्ञ परमात्मा, वह आत्मा का विषय नहीं और इन्द्रिय का विषय रूपी। मन का विषय छह द्रव्य, उनके ऊपर लक्ष्य होने से... आहाहा! शक्ति रुकी हुई है। ९६ गाथा में आया, रात्रि में कहा था। आहाहा! मन का विषय भगवान पंच परमेष्ठी और छह द्रव्य, उनमें यह ज्ञान रुका हुआ होने से, अपने को नहीं जान सकता। आहाहा! और इन्द्रिय का विषय, उससे... आहाहा! क्या कहा उसमें? ढँका हुआ कहा। उसमें रुका हुआ कहा। रूपी देह इन्द्रिय के विषय में ढँका हुआ कहा। आहाहा! वहाँ रुकने से आत्मा की दृष्टि नहीं होती, उसे आत्मदर्शन नहीं होता। विशेष कहेंगे... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)